मार्क्स और गांधी का साम्य-दर्शन

लेखक

नारायणसिह, बी० ए०, एल-एल० बी०

शक सवत् १८८५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
श्री गोपालचन्द्र सिंह
सचिव
प्रथम शासन निकाय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

प्रथम संस्करण
१८८५ शकाब्द
मूल्य १५ ००

मुद्रक
श्री रामप्रताप त्रिपाठी
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

मार्क्स और गान्धी का साम्य-दर्शन तीन भागो मे विभक्त है। प्रथम भाग मे उन पृष्ठ-भूमियो का वर्गीकरण है, जिनके परिप्रेक्ष्य मे युग-परिवर्तनकारी विभूतियाँ उत्पन्न होकर मानव-समाज को सुसगठित कर एकता के रूप मे बाँधती हैं। इस भाग के चार अध्यायो मे सामाजिक परिवेश मे सुख की खोज, इस सार्वजनीन मानवीय आकाक्षा का विश्लेषण सामाजिक एव वैज्ञानिक स्तर पर किया गया है। साथ ही मार्क्स और गान्धी के जीवन-सूत्रो को सँजो कर उनके जीवन-दर्शन की व्याख्या की गई है।

दूसरे भाग मे वाद, प्रयोग और आचार के परिप्रेक्ष्य मे गान्धीवाद एव मार्क्सवाद, समाजवादी और आध्यात्मवादी विश्लेषण पाँच अध्यायो मे किया गया है।

तीसरे भाग मे व्यावहारिक साधनाओ की पृष्ठभूमि मे जातिगत, समाजगत मान्यताओ तथा सामाजिक और व्यक्तिगत सिद्धान्तो के रचनात्मक प्रयोगो की विशद व्याख्या, तेरह अध्यायो मे, प्रमाणो और तर्कों द्वारा प्रस्तुत की गई है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ इस शताब्दी के दो महान् और विश्वव्यापी—मार्क्स एव गान्धी—सिद्धान्तो का भाष्य बन गया है। कई अनिवार्य कारणो से इसका प्रकाशन विलम्ब से हो रहा है। फिर भी हमे आशा है कि मार्क्स और गाधी के जीवन-दर्शन का अध्ययन करने की रुचि रखने वालो को इसमे पर्याप्त नवीनता मिलेगी।

वसत पचमी | गोपालचन्द्र सिह
१८८५ शकाब्द | सचिव

पूर्वकथन

'मार्क्स और गाधी का साम्यदर्शन'—इस कथन मे यद्यपि विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु यदि मार्क्सवाद और गाधीवाद का—इनके प्रवर्त्तको के जीवन-चक्रो, उनकी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक परिस्थितियो तथा मूल्यो के प्रकाश मे—व्यापक दृष्टि से वि लेषण और अध्ययन किया जाय, तो उक्त कथन असम्बद्ध नही प्रतीत होगा। मार्क्स और गाधी तथा उनकी विचार-धाराओ पर विपुल साहित्य का निर्माण हुआ है तथा हो रहा है। इससे उनके जीवन-दर्शन को समझने तथा सर्वतोमुखी मानव-समाज की स्थापना मे सहायता मिलनी चाहिए, पर कदाचित् इस साहित्य की विपुलता तथा जनसाधारण के लिये इसकी सुलभता और समय के अभाव ने भ्रम-वृद्धि ही की है। ऐसी स्थिति मे एक ऐसे ग्रथ की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था, जिसमे मार्क्स और गाधी के जीवन-दर्शनो का निचोड तथा तुलनात्मक विवेचन हो और पाठको को क्रमबद्ध तथा सारभूत समग्र सामग्री मिल जाय। 'मार्क्स और गाधी का साम्यदर्शन' इसी आवश्यकता की पूर्ति का एक प्रयास है।

मतभेद के कारण

मानव की समस्त अत प्रेरणाओ और उसके कार्य-कलापो का चरम लक्ष्य सुख उपलब्ध करना है। साधारणत इस लक्ष्य के सम्बन्ध मे कोई विवाद नही हो सकता है, पर इस लक्ष्य के फलितार्थो और इसकी पूर्ति के साधनो के सम्बन्ध मे न केवल तीव्र मतभेद, बल्कि तीव्र सघर्ष तक है। वस्तुत इन मतभेदो और सघर्षो के तीन मूल कारण है—

सुख, जीवन और समाज के सकुचित और व्यापक अर्थो को लेकर मतभेद और सघर्ष खडे होते है। जीवन के दो पहलू होते है—बाह्य और आतरिक। तदनुसार सुख की दो भावनाएं होती है। इसी प्रकार समाज का अर्थ कोई व्यापक रूप मे सर्व मानव-समाज तथा प्राणी-समाज लगाते है। इनका क्षेत्र विस्तृत ही होता जाता है। वैज्ञानिक अनुसधान भी इसमे अपना योग दे रहे है। नोबेल-पुरस्कार-विजेता जगत्-प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डाक्टर सी० वी० रमन ने हाल ही मे प्रकट किया है कि रवो के अणुओ में गति होती है, नर्तन होता है। उन्होने कहा है—"प्रत्येक ज्ञात ठोस पदार्थ रवा ही है। रवे का सार उसकी आतरिक

व्यवस्था है, जो नियम तथा व्यवस्था का सर्वोच्च प्रतिनिधित्व करती है।" डाक्टर रमन के इस कथन से यही सिद्ध होता है कि सृष्टि का कण-कण सजीव है, पर कोई समाज के अतर्गत केवल मानव-समाज ही लेते है। उसमे भी कोई स्थान विशेष या जाति-विशेष को ही समाज समझकर कार्य करते है, जो दु ख परिणामी होते हैं। यही कारण है कि मार्क्स के साम्य (कम्युनिजम) और गाधी के साम्य (सर्वोदय) विषयक विचारधारा मे भेद है।

इतिहास के दो ध्रुव

मार्क्स और गाधी इस इतिहास के दो ऐसे सीमा-चिह्न हैं, जो न केवल युगीन बहुमुखी परिस्थितियो की उपज है, वल्कि युगीन समस्याओ और आकाक्षाओ की पूर्ति के निराले दिशा-दर्शक भी हैं। मार्क्स का जन्म जर्मनी मे ऐसे समय मे हुआ, जब प्रचलित आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यो और व्यवस्थाओ का सतुलन भग हो गया था। आर्थिक मूल्य जीवन के अन्य मूल्यो पर हावी हो गये थे। इस क्रिया की प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। और यह मार्क्स की विचारधारा के रूप मे हुई। मार्क्स ने अपने कम्युनिस्ट घोषणापत्र मे ही घोषित किया—"श्रमजीवी क्रमश पूजीपतियो की कुल पूजी छीनने के लिये, उत्पत्ति के समस्त साधन राज्य के हाथ मे, उस राज्य के हाथ मे, जहाँ श्रमिक शासक के रूप मे व्यवस्थित हो गये हो, केन्द्रित करने के लिये और समस्त औत्पत्तिक शक्तियो की शीघ्र से शीघ्र वृद्धि करने के लिये अपने राजनीतिक आधिपत्य का उपयोग करेगे।"

"इसमे सदेह नही कि प्रारम्भ मे, जब तक साम्पत्तिक स्वत्वो एव पूजीपतियो की उत्पादक व्यवस्थाओ पर निष्ठुर आक्रामक उपाय न किये जायँगे, तब तक यह फल प्राप्त न हो सकेगा। ये आक्रमणकारी उपाय आर्थिक दृष्टि से, (पहले तो) अपूर्ण और असगत प्रतीत होगे, परन्तु कार्य-सचालन की प्रगति के समय वे अपने-आप ही पीछे रहते जायँगे, और पूर्वस्थित सामाजिक व्यवस्था पर उनसे भी अधिक ऐसे आक्रमणो की आवश्यकता होती जायगी, जो उत्पादक पद्धति का सम्पूर्णत परिवर्तन करने के लिये नितान्त जरूरी होने के कारण त्याज्य नही हो सकते।"

"ये उपाय निस्सदेह, भिन्न देशो मे भिन्न होगे।"

मार्क्स की यह मान्यता थी कि आर्थिक साम्य स्थापित होने से मानव-समाज मे सहज ही राजनीतिक और सामाजिक सतुलन स्थापित हो जायगा। इससे सामाजिक न्याय के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार हो जायगी। यह उल्लेखनीय

है कि मार्क्स ने चूँकि आर्थिक समता पर अधिक जोर दिया, उससे उनके अन्य विचार और उनके परस्पर सम्बन्ध गौण रहे। ऐसी स्थिति मे तत्कालीन परिस्थितियो का खयाल किये विना, जव भी उनकी विचारधारा परखी जायगी, तब उनके सम्बन्ध मे भ्रम पैदा होना स्वाभाविक है।

इसी प्रकार गाधीजी का जन्म भारत मे ऐसी परिस्थितियो मे हुआ, जव भारत का आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक सतुलन बुरी तरह विगडा हुआ था। इन परिस्थितियो की भी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। यह प्रतिक्रिया गाधीजी की विचारधारा के रूप मे हुई। जिस प्रकार गाधीजी का जीवन तात्कालिक वहुमुखी परिस्थितियो से प्रभावित था, उसी प्रकार उनकी विचारधारा भी प्राचीन भारतीय सास्कृतिक मूल्यो से प्रभावित हुई। गाधीजी भारतीय उपनिषदो, विशेषत गीता से वहुत प्रभावित थे। उन्होने अपनी आत्मकथा मे कहा है—"मेरे लिये तो गीता आचार की एक प्रौढ मार्गदर्शिका वन गई है। अपरिचित अग्रेजी शब्द के हिज्जे या अर्थ को देखने के लिये जिस तरह अग्रेजी कोश को खोलता हूँ, उसी तरह आचार-सम्वन्वी कठिनाइयो और उसकी अटपटी गुत्थियो को गीताजी के द्वारा सुलझाता हूँ। उसके **अपरिग्रह, समभाव** इत्यादि शब्दो ने मुझे गिरफतार कर लिया। यही धुन रहने लगी कि **समभाव** कैसे प्राप्त करूँ, कैसे उसका पालन करूँ? जो अधिकारी हमारा अपमान करे, जो रिश्वतखोर है, रास्ते चलते जो विरोध करते है, जो कल के साथी है, उनमे और उन सज्जनो मे जिन्होने हम पर भारी उपकार किया है, क्या कुछ भेद नही है? अपरिग्रह का पालन किस तरह मुमकिन है? क्या यह देह ही हमारे लिये कम परिग्रह है? स्त्री-पुत्र आदि यदि परिग्रह नही तो क्या है? क्या पुस्तको से भरी इन अलमारियो मे आग लगा दूं? यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ। अन्दर से तुरत उत्तर मिला—हाँ, घर वार को खाक किये विना तीर्थ नही किया जा सकता। —**अपरिग्रही होने के लिए, समभाव रखने के लिए, हेतु का और हृदय का परिवर्तन** आवश्यक है, यह वात मुझे दीपक की भाँति स्पष्ट दिखाई देने लगी।"

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जव कोई धर्म-प्रवर्तक या क्रातिकारी महात्मा समाज मे पुरानी कुसस्कृतियो का विनाश कर नवीन व्यवस्था लाना चाहता है, तव वह समाज के एक अग को नही पकडता। वह चारो ओर से उसके उत्थान का विचार करता है। वह किसी एक खास अग को सूर्य-जैसा केन्द्र-सा वना लेता है, जिसके आस-पास अन्यान्य अग ग्रह-उपग्रहो से समान चक्कर लगाया करते हैं। गाधी का अहिंसावाद, मार्क्स का कम्युनिज्म, गीतान्वित कृष्ण अथवा व्यास का अनासक्ति योग इसके उदाहरण है। ऐसे लोग समाजोपयोगी हर विषयाग को

चर्चा करत है, पर घूमघाम कर अपने उसी केन्द्रीय विषय पर आ जाते हैं।

अत मानव-सृष्टि और मानव-आकाक्षाओ के चरम लक्ष्य के मार्ग मे व्याप्त भ्रमोत्पादक अधकार तथा तद्‌जन्य सघर्षो के ऊहापोह के निवारण के लिये यह 'मार्क्स और गाधी का साम्यदर्शन' वैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार करने का एक यत्न है।

मेरा यह प्रयास

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मार्क्सवाद और गाधीवाद इन दो विचार-धाराओ के मध्य रहते हुए मानव-समाज मे उतना स्पन्दन-कम्पन नही है, जितना मक्कारवाद के चक्कर मे पडकर आन्दोलित हो रहा है। परिणाम यह है कि वह न तो मार्क्सवाद के मर्म को समझ पाता है और न गाधीवाद के मर्म को पहचान सकता है। सशय और अज्ञान ने आधुनिक मानव-समाज को बुरी तरह से जकड रखा है।

जहा सशय और अज्ञान हो, वहाँ विनाशकारी भय, उद्दण्डता और आचारहीनता आ जाएँ, तो क्या आश्चर्य। मानव-जगत् की नाट्य-शाला मे बाजीगर का यह खिलवाड मुझे पैशाचिक साम्प्रदायिकता की बगल मे, भारतीय स्वतन्त्रता-दिवस, १५ अगस्त, सन् १९४७ के इर्द-गिर्द दिखाई दिया। अन्त प्रेरणा हुई कि उक्त दोनो वादो की विचार-धाराओ को इस प्रकार लिपि-बद्ध किया जाय कि जिज्ञासु उन्हे एक ही स्थान पर पा सकें और सोच-विचार के पश्चात् स्वय अपना मार्ग निश्चित कर सकें।

इस पुस्तक के लिखने मे यह नितान्त आवश्यक था कि मार्क्स और गाधी, दोनो के कहे हुए वाक्यो का ही यथासम्भव आश्रय लिया जाय, ताकि दो मे से किसी के भाव या मत पर जान-बूझकर कोई निरर्थक आघात न पहुँच सके। इसलिये जहाँ-जहाँ मैं उनके वाक्यो का उद्धरण और सकलन किया गया है, उन सब लेखको का मैं कृतज्ञ हूँ। मैं उन सब पुस्तको, पत्र-पत्रिकाओ का भी कृतज्ञ हूँ, जिनकी सहायता इस पुस्तक के लिखने मे मुझे प्राप्त हो सकी है।

पुस्तक की शुद्ध लिपि तैयार करने मे मेरे मित्र शोभारामजी श्रीवास्तव ने जो सहायता मुझे दी है, उनके प्रति आभार-प्रदर्शन करना भी मेरा कर्तव्य है।

गाडरवारा

—नारायणसिंह

विषय-सूची

भाग १—पृष्ठ-भूमियाँ

भाग २—सिद्धान्त-दर्पण

भाग ३—व्यावहारिक साधनाएँ

भाग ४—भविष्य-दर्शन और परिशिष्ट

परिशिष्ट

सहायक ग्रंथ

नोट—(१) जिन पुस्तको के नाम पर* इस प्रकार का चिन्ह लगा है, वे मैने स्वय नही पढी। उनका उल्लेख दूसरी पुस्तको मे आया है और वही आधार लेकर मैंने उनका उल्लेख किया है।

(२) किसी-किसी पुस्तक का सक्षिप्त नाम भी उसी के पूर्ण नाम के साथ दे दिया है।

(३) हरिजन और यग इडिया के बहुत कुछ उद्धरण अन्य स्थानो से लिये गये है।

(४) पुस्तको आदि का उल्लेख फुट नोटो मे कही देवनागरी लिपि मे और कही अग्रेजी लिपि मे किया हुआ मिलेगा।

शब्द-कोष

(१) English Dictionary by C Annandale
(२) English-Sanskrit Dictionary by V S Apte
(३) Sanskrit-English Dictionary by V V Bhide
(४) शब्दार्थ पारिजात (हिन्दी), चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा कृत

पत्र-पत्रिकाएँ

(१) हिन्दी मासिक पत्रिका, कल्याण (गोरखपुर)
(२) " " " सर्वोदय (वर्धा)
(३) " " " सरस्वती (प्रयाग)
(४) हिन्दी साप्ताहिक पत्र हरिजन सेवक
(५) " " " हरिजन बन्धु
(६) " " " नवजीवन
(७) अग्रेजी साप्ताहिक पत्र Vigil (New Delhi)
(८) " " " Young India
(९) " " " Harijan
(१०) " " " Bharat Jyoti
(११) हिन्दी दैनिक पत्र, नवभारत (जबलपुर)
(१२) अग्रेजी दैनिक पत्र Amrit Bazar Patrika (Allahabad)
(१३) " " " Hitvada (Nagpur)

(१४) " " " Nagpur Times (Nagpur)
(१५) " " " Free Press Journal (Bombay)

ग्रन्थ सस्कृत-हिन्दी

(१) अथववेद
(२) अर्थशास्त्र (ले० वालकृष्ण शर्मा)
(३) आत्मकथा (ले० मो० क० गान्धी)
(४) ईशावास्योपनिषद् (ईशा० उप०)
(५) कठोपनिषद् (कठ० उप०)
(६) गाधीवाद समाजवाद (लेख-सग्रह नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर)
(७) गाधी और स्टालिन (हिन्दी अनुवाद), लुई फिशर
(८) गीता
(९) गीता रहस्य (ले० लो०वालगगाघर तिलक)
*(१०) घेरण्ड सहिता
(११) तत्त्व-दर्शन (ले० शिवानन्द ब्रह्मचारी, सण्डवा)
(१२) दिल्ली-डायरी (१०-९-४७ से ३०-१-४८ तक प्रार्थना-प्रवचनो का सग्रह),(मोहनदास कमचन्द गाधी)
(१३) धर्म-विज्ञान (ले० स्वामी दयानन्द)
(१४) भारत-भारती (ले० मैथिलीशरण गुप्त)
(१५) भारत मे अग्रेज़ी राज्य (ले० सुन्दरलाल)
(१६) मनुस्मृति
(१७) यजुर्वेद
(१८) याज्ञवल्क्य स्मृति
(१९) योग-दर्शन (पतञ्जलि)
(२०) राम नाम (गाधी) (नवजीवन-प्रकाशन, अहमदावाद)
(२१) रामराज्य की कथा (ले० यशपाल)
(२२) रामायण (तुलसीकृत)
(२३) विवेक चूणामणि (शकराचार्यकृत)
(२४) वृहदारण्यकोपनिषद् (वृह० उप०)
(२५) श्वेताश्वतर उपनिषद् (श्वे० उप०)
(२६) साम्यवाद ही क्यो ?—ले० राहुल साकृत्यायन
(२७) साख्य-दर्शन (कपिलमुनि)

(२८) हठयोग, सचित्र, (ले० स्वामी शिवानन्द सरस्वती)
(२९) हमारा धर्म और उसकी वैज्ञानिक रूपरेखा (ले० नारायणसिंह)
(३०) हिन्दू धर्म (गांधी) (नवजीवन-प्रकाशन, अहमदाबाद)

अंग्रेजी पुस्तक

(३१) Anarchism or Socialism, by J Stalin (from Collected Works Pt. I)
(३२) Autobiography, (Gandhi)
*(३३) Bapu's letters to Mira
(३४) Beads of Wisdom, Gandhi's, (Edited by Devan Ram Prakash)
(३५) Bible.
(३६) The Bible in India by M Luis Jacobat, (Eng translation from Portuguese)
(३७) Capital (Das Kapital), (Eng translation by Eden and Paul).
(३८) Conquest of Violence by Bart D Litt
(३९) Christ a myth by Thakur Kanhan Singh.
*(४०) Diary
(४१) The Economic History of India by R C Dutta
(४२) The Gospel of Selfless action or The Gita according to Gandhi by Mahadeo Desai
(४३) Hind Swaraj or Indian Home Rule by M K Gandhi.
(४४) History of Europe by Thatcher and Schwill
*(४५) History of the World, by Hamsworth.
(४६) Holy Koran, (Eng. translation by M. Mohammad Ali).
(४७) Indian Economics, studies of by P Banerjee
(४८) International Law by L Openhaim.
(४९) Karl Marx by Lenin
(५०) Mahatma Gandhi, (Edited by Radhakrishnan)

*(५१) Mahatma Gandhi's ideas, by C F Andrews

*(५२) M K Gandhi, an Indian Patriot, (Notes on) by Rev J J Dok

*(५३) Mahatma Gandh—His own story by C F Andrews

(५४) Mahatma Gandhi by Polak, Brailsford and Pethick-Lawerence

(५५) The Managerial Revolution by James Burnham

(५६) *Manifesto of the Communist party* by Marx and Engels (Communist Manifesto, or Manifesto)

(५७) Marxism and the Nationalisation by J Stalin

(५८) The Materialist Conception of history by G V Plekhanov, (Translated by A Finebery)

†(५९) Mira's Gleanings

(६०) My Early Life, (Abridged edition of Gandhi's autobiography)

*(६१) Nation's Voice

*(६२) New Horizan of Khadi work

(६३) Non-violent Socialism (Gandhi),(Navjiwan, Ahmadabad, Publisher)

(६४) Om Allah by Nawab Ashgar Husain

*(६५) Origin of the famitage, Private Property and the State, by Fredrick Engels

(६६) Penal Code (Indian)

(६७) Political Philosophy of Mahatma Gandhi, by G Dhawan, (Political philosophy or Pol Phil)

(६८) Principles of Political Economy, by Gide (Political economy)

(६९) Sanskrit-Teacher by Trivedi

(७०) Scope and Method of Political Economy by Keynes.

(७१) Socialism and the Individual by M D. Kamman.

(७२) Soviet Philosophy by John Somerville.

*(७३) Speeches.

(७४) Speeches and writings of M K Gandhi (Nateson & Co)

(७५) Studies in Gandhism by N K Bose

(७६) Wake up India by Annie Vesant

*(७७) A Week with Gandhi, by Louis Fisher

(७८) What Next ? by K F Nariman

(७९) Works of Swami Vivekananda, Complete

*(८०) From Yervada Mandir by Gandhi

(८१) The Yoga Body by M R Jambunathan

भाग १

पृष्ठ-भूमियाँ

भाग १

पृष्ठ-भूमियाँ

१
विषय-प्रवेश

मार्क्स और गाधी पर लेखक की कल्पना

आधुनिक समय मे जिन दो महान्-विभूतियो के सिद्धान्त और कृतियो पर हमे इस पुस्तक मे विचार करना है, उनके नाम है—कार्ल मार्क्स और मोहनदास कर्मचन्द गाधी। इनमे से प्रथम महानुभाव मार्क्स नाम से विख्यात है, और दूसरे महात्मा गाधी या गाधीजी के नाम मे। अत हमने भी इस पुस्तक मे उन्ही सक्षिप्त नामो का प्रयोग किया है। उन दोनो महानुभावो ने विश्व-कल्याण के हेतु सुख-साम्राज्य की स्थापना के लिये अपने अपने दृष्टिकोण से जन-समाज के सम्मुख दो भिन्न-भिन्न मार्ग उपस्थित किये है। यद्यपि दोनो का ध्येय अथवा आदर्श एक ही है, तथापि उस ध्येय-प्राप्ति के लिये दोनो के बताये हुए साधनो मे उतना ही अन्तर है जितना कि पूर्व और पश्चिम मे। पूर्व सूर्योदय का स्थान होने के कारण सदैव से तमोनाशक, तेज और प्रकाशमय ज्ञान का द्योतक रहा है, और पश्चिम, उसके विपरीत, सन्ध्याकाल की लालिमा तक को अन्धकार मे विलीन कर देने वाले अज्ञान का। यह प्रकृति की ही खूबी है, कि जिस पूर्वार्द्ध ने मानव-सृष्टि को हिला देने वाले महान् आत्माओ, गौतमबुद्ध, यीशुमसीह तथा मुहम्मद पैगम्बर को जन्म दिया था, उसी ने गाधीजी को भी भारतवर्ष मे जन्म दिया। एक ओर गाधी जी उसी पूर्व मे सन् १८६९ ई० मे उत्पन्न हुए, तो दूसरी ओर मार्क्स उसके विरुद्ध सयोगवश पश्चिम (जर्मनी) मे सन् १८१८ ई० मे पैदा हुए। परन्तु इसका यही कदापि तात्पर्य नही कि हम मार्क्स की महानता को किसी प्रकार मे ठेस पहुँचाना चाहते है। आखिर रात्रि ही तो है, जो अनेक छोटे-बडे चमकते हुए तारागणो को अपने गर्भ मे धारण कर, सूर्य की अनुपस्थिति मे, जन-समाज की मार्गदर्शनी बन, भूले-भटको का उद्धार करती है, भले ही वह उद्धार सकीर्णता से युक्त हो। यही इस पुस्तक के अगले पृष्ठो मे दिखाने का हमारा अल्प-बौद्धिक प्रयास रहेगा।

क्रान्तिकारी विभूतियो की उत्पत्ति

विश्व-सुख-भावना से प्रेरित होकर समाज-सेवा करने के लिये कार्य-क्षेत्र मे

आ उतरने का काम केवल मार्क्स और गान्धी ने ही किया हो, सो बात नही है। इतिहास से पता चलता है कि जब कभी समाज मे दूषणो की भरमार होने के कारण दुःख की बाढ आती और समाज मे विषमता का अत्यन्त प्रसार होता जाता है, तब कोई न कोई क्रान्तिकारी-महान् पुरुष दशा-देश-काल के अनुसार उनका नाश करने के लिये उद्यत हुए बिना नही रहता। अतीतकालीन इसी ऐतिहासिक सत्य के आधार पर गीता, रामायण आदि ग्रन्थो मे सिद्धान्त रूप से यह दर्शाया गया है कि जब जब धर्म की हानि या ग्लानि होकर अधर्म बढ जाता है, असुर-अधम-अभिमानियो की सख्या अधिक हो जाती है, और साधु-चित्त सीधी-सादी भोली जनता अतिशय सताई जाने लगती है, तब तब परमात्मा अपने आशिक रूप से शरीर धारणकर साधुओ की रक्षा करने एव दुष्कृत्यो का नाश कर धर्मस्थापना के हेतु अवतरित होते है।[1]

परन्तु 'धर्म' शब्द की व्यापकता, 'शरीर' शब्द की व्याख्या, पौराणिक 'अवतार' शब्द की व्युत्पत्ति न जानने के कारण, अथवा यह कहिये, भाषा-शब्द-विज्ञान का तथा वाचक-वाच्य, अथवा व्यक्त-अव्यक्त-सम्बन्ध का ज्ञान न होने के कारण, एक ओर तो, कई लोग धर्म, अवतारादि शब्दो को सुनते ही चिढ उठते और उक्त-सिद्धान्त को रूढिवादी धार्मिक (dogmatic religious minded) पुरुषो की कल्पना-मात्र कहते हुए पाये जाते है, और दूसरी ओर, कई एक अन्ध-विश्वासी उसके अन्तर्निहित मूलार्थ तक ही नही पहुच पाते। 'धर्म' एक व्यापक शब्द है, और बहुधा कर्म-शब्द का पर्यायवाची होता है। जब किसी शुभ-कर्म-क्षेत्र का वर्णन करना होता है तब तदर्थीय शब्द को धर्म शब्द के पहले जोड देते है, जो विशेषण का काम करने लगता है, जैसे जाति-धर्म, कुल-धर्म, सेवा-धर्म, राष्ट्र-धर्म इत्यादि। इसी प्रकार शरीर, अवतार, जन्म, उत्पत्ति आदि शब्दो के मूल भावो को समझ लेने पर, जिनका यहा समझाना विषयान्तर होगा, यह सहज ही विदित हो जाता है कि उक्त सिद्धान्त अटल है—अमर है—अमिट है। यदि

---

१ "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवतिभारत।
सम्भवामि युगे युगे॥"
गीता ४।७—८॥

"जब जब होय धर्म की हानी। बाढहि असुर अधम अभिमानी॥
× × × × × ×
तब तब प्रभु धरि त्रिविध शरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा।"
तुलसीकृत रामायण (बालकाण्ड)

ईश्वरावतार कहने मे चिढ आती है, यदि जीव-सज्ञा और अवतार-सज्ञा मे भेद नही प्रतीत होता है, और यदि पैगम्बर, ईश्वर-पुत्र, महात्मा, अथवा महान् नेता ही कहने मे प्रसन्नता होती है, तो वही कहिये। भापा-भेद के कारण अर्थ-भेद नही हो सकता, क्योकि तात्पर्य विभूति-युक्त, श्रीमान, प्रभावशाली, महानात्माओ से ही है।'[1]

मनुष्य-वर्ग मे ऐक्य-स्थापना की भावना

इन महान पुरुषो के मूल सिद्धान्त मे कोई भेद नही रहा, चाहे उनका कार्य-क्षेत्र कितने ही दूरस्थ देश मे, कितने ही कालान्तर से, और कितनी ही भिन्न परि-स्थितियो मे क्यो न रहा हो। वह सिद्धान्त है मनुष्य-समाज मे ऐक्य-स्थापन कर सुख-वृद्धि करना। अत इस दृष्टि से उनमे कोई नूतनता नही आती। नूतनता रहती है, तो समयानुसार उनकी कार्य-शैली मे, और इस कार्य-शैली मे भिन्नता आ जाने का कारण रहता है, उनकी वह दर्शन-दृष्टि, जिसके द्वारा वे सृष्टि को देखते है। अपने द्वारा निर्धारित की हुई कार्य-शैली की सफलता के लिये उन्हे कुछ उप-सिद्धान्तो का भी निर्माण करना पडता है। इसलिये उनमे भी भेद उपस्थित हो जाता है। परन्तु वह उप-सैद्धान्तिक भेद यथार्थत कार्य-शैली का ही समझना चाहिये। आधुनिककालीन महान् तत्त्ववेत्ता श्री अरविंद घोप का कथन है कि "समस्त तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध दो वस्तुओ के परस्पर नाते से बधा रहता है—एक तो, जीवन का मूलाधार सत् है, और दूसरा है, जीवन के रूप जिनको हम प्रत्यक्ष अनुभव करते है। फिर हमारा आदर्श क्या हो ? वह हो आन्त-रिक ऐक्य के आधार पर, न कि केवल वाह्य लाभ-समुच्चय अथवा वाह्य हित-समुच्चय के आधार पर मनुष्य-वर्ग मे ऐक्य स्थापित करना।"[2] अरविन्द घोप

---

१ जीव-अवतार-भेद, शरीर-भेद, उत्पत्ति-जन्म-प्रकट आदि के भाषार्थ एव भाव के विषय मे अनेक ज्ञातव्य बातें जानने के लिये पाठक, यदि चाहे तो लेखक की पुस्तक "हमारा धर्म और उसकी वैज्ञानिक रूप-रेखा" (हि० सा० स०, प्रयाग से प्रकाशित) को पढें।

२. "All philosophy is concerned with the relations between two things, the fundamental truth of existence and the forms in which existence presents itself to our experience What then shall be our ideal ? Unity for the human race by an inner oneness and not only by an external association of interests" From the 'Arya' published in A B Patrika (English Daily, Allahabad, dated 17-4-1951)

की यह कोई नई खोज नही है। अतीतकाल मे कई लोग यही कहते आ रहे हैं। भारतीय साहित्य मे तो प्राचीन काल से ही नाम और रूपवाले व्यक्त ममार का अस्तित्व स्वतत्र कभी नही माना गया। अव्यक्त और व्यक्त दोनो के एकत्व का प्रतिपादन आदि-ग्रन्थ वेदो से लेकर आज तक बराबर किया जाता रहा है।[१] कही इस नाम-रूप वाले मसार को असत् कहा है (सतश्चयोनिमसतश्च),[२] कही उसे उपाधि कहा है (नाम-रूप दोउ ईस-उपाधी),[३] कही पर सगुण कहा गया है (अगुण-सगुण विच नाम सुसाखी),[४] कही मिथ्या बताया है (मृषा गुणादिवत्),[५] कही माया कहकर सम्बोधित किया है (Know Nature to be Maya and the Ruler of this Maya is the Lord Himself),[६] और कही उसे अविद्या या प्रकृति ही कहा है। इसलिए यह आदेश भी दिया गया है कि मनुष्य को आन्तरिक जगत् और बाह्य जगत्, अर्थात् विद्या और अविद्या दोनो को एक साथ समझकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये ताकि वह आसानी से मृत्यु को पार कर सके और जीवन-अमृतत्व का लाभ उठा सके।[७] बस ! यही इस पुस्तक का विषय है। इसमे यही बताने का प्रयत्न किया गया है कि तात्त्विक और व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से मार्क्स और गाधी मे क्या नूतनता है, क्या समानता है, और क्या तथा कहा उनमे भेद पड गया है। पाठको को यह जानकर आश्चर्य होगा कि मार्क्स और गाधी के कई एक उप-सिद्धान्तो मे भी समानता है—केवल उनकी भावनाएँ भिन्न भिन्न हो गई है, दृष्टान्तस्वरूप मे दोनो का एक यह उप-सिद्धान्त था कि पूजीवाद का अन्त कर दिया जाय।

---

१ "एकस्थ जगत्कृत्स्न" (गीता ११।७), "एकाशेन स्थितोजगत" (गीता १०।४२)।

२ यजुर्वेद अ० १३, मन्त्र ३।

३ तुलसीकृत रामायण (बालकाण्ड)।

४ तुलसीकृत रामायण (बालकाण्ड)।

५ शकराचार्य कृत विवेक चूडामणि, श्लोक २३७।

६ Quotation from श्वेताश्वतर उपनिषद् by Swami Vivekanand in his lecture on "Maya and Illusion" delivered in London (Complete Works of Swami Vivekanand)

७ ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र ११।

२

विश्व की झलक और उसमें मनुष्य की स्थिति

विश्व-दर्शन की आवश्यकता

भावनाये ही कार्य-क्षेत्र की निर्मात्री और विधात्री होती है । अत मार्क्स और गाधी के कार्य-क्षेत्रा का निरीक्षण करने से पूर्व उनकी विश्व-सुख-भावनाओ पर प्रकाश डालना होगा, जो हमने आगे तीसरे अध्याय मे किया हे। विश्व-सुख-सिद्धान्त के विवरण के पहले यह आवश्यक है कि इस अध्याय मे हम एक चलती नजर से यह देख ले कि विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और गति ही क्या हे क्योकि उसी के आधार पर तो उन दोनो ने अपने अपने ध्येयो का निरूपण किया, और वही से उनके मतभेद का श्रीगणेश भी हो गया।

विश्व-दर्शन कठिन है

विश्व एक बडी कठिन पहेली हे, विशेपकर इसलिए कि उसके द्रष्टा बहुधा स्थूलदर्शी ही होते है। उसकी आन्तरिक सूक्ष्मदशाओ का दर्शन विरला कोई एकाध ही करने का प्रयत्न करता है। स्थूल ज्ञानेन्द्रिया स्थूल पदार्थो का ही ज्ञान करा सकती हें। आधुनिक वैज्ञानिक यान्त्रिक आविष्कारो की उत्तरोत्तर वृद्धि को देखते हुए यह सहज ही समझ मे आ जाता हे कि जब भौतिक सूक्ष्म क्षेत्रो के सूक्ष्म-पदार्थो का ज्ञान स्थूल ज्ञानेन्द्रियो द्वारा नही हो सकता तब हमे किन्ही सूक्ष्म-शीघ्र-चेतन (Sensitive) यत्रो की सहायता लेना पडती है, जैसे दूरदर्शी-यत्र, सूक्ष्म दर्शी यत्र, टेलीपेथी, टेलीविजन, रेडियो आदि। ज्यो ज्यो हम सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और सूदमतर से सूक्ष्मतम क्षेत्रो मे प्रवेश करते है, त्यो त्यो हमे अपने इन सूक्ष्म-शीघ्र-चेतन यत्रो को अधिक से अधिकतर और अधिकतर से अधिकतम शीघ्र-चेतन-गुणकारी बनाना पडता है। परन्तु एक समय ऐसा आता है जब कि हमारे बाह्य यत्र काम नही दे सकते। तब हमे अपनी बुद्धि, ध्यान-योग आदि आन्तरिक यत्रो द्वारा काम लेना पडता हे। विश्व के इन महीनातिमहीन क्षेत्रो का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये बुद्धि को भी उसी प्रकार कुशाग्र और निर्मल बनाकर रखना पडता हे जिस प्रकार कि एक वैज्ञानिक या यत्रकार को अपने यत्र को उपयोगी

बनाये रखने के लिये उसे साफ-सुथरा, तेज, पैना, शीघ्रवेधी आदि रखना आवश्यक होता है। सच पूछा जाय तो अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व का ज्ञान तभी हो सकता है जब द्रष्टा मे उसी तत्त्व मे इस प्रकार तल्लीन होने की शक्ति आ जाय जैसे कि पानी दूध मे मिलकर अपने निजी अस्तित्व को मिटाकर दूध के साथ एक रस हो जाता है, अथवा यह कहिए कि जैसे बहता हुआ पानी समुद्र के गहरे-स्थिर-विस्तृत-स्वरूप पानी मे मिल जाता है।

विश्व-दर्शन की काल्पनिक झलक

विश्वदर्शन के लिये कल्पना कीजिए कि एक अत्यन्त सूक्ष्मतम शून्यस्वरूप वस्तु ढुलकी और कपडे की गेंद के समान तहो पर तहे लिपटाती गई। इन तहो मे गेंद की तहो की अपेक्षा निम्न भिन्नताओ की भी कल्पना कीजिए।

(१) इनकी स्थूलता या सूक्ष्मता कपडे की तहो के समान सब जगह एक ही सी नही होती। शून्याकार स्थिति से लेकर स्थूलतम स्थिति तक क्रमबद्धता ही इनका प्रधान लक्षण है।

(२) ये एक दूसरे से इतनी क्रम-बद्ध रहती हैं कि कही भी किसी समय या स्थान पर हम उन्हे भिन्न नही कर सकते और न उन्हे भिन्न ही कह सकते है।

(३) ये सजीव और सचेतन है, और इस कारण प्रत्येक तह के हर स्थान पर हर समय अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न शक्तिधारी जड-चेतन पदार्थ बनते मिटते रहते हैं। जिस तह के जिस स्थान का जो पदार्थ होता है वह सारी सृष्टि अपने ही निवास स्थान को समझता है। उस स्थान के अतिरिक्त जो दूसरी तहे हैं उनका ज्ञान उसको नही रहता।

(४) कल्पना कीजिए कि गेद का वृत्ताकार पूरा बन चुका है। उसकी अन्तिम वाह्यतम तह पर एक चेतन पदार्थ ऐसा है जो यदि यत्न करे तो धीरे-धीरे वाहर की तह मे होता हुआ भीतर की तहो की ओर जा सकता है और अन्त मे उसी शून्य स्वरूप के पास पहुच सकता है जहा से गेंद ढुलकना अर्थात् बनना आरम्भ हुआ था। इस यत्नशील चेतन को ही हम पूर्ण ज्ञानी कहेगे क्योकि उसे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का ज्ञान हो जाता है। परन्तु इस चेतन वर्ग के अनेक व्यक्ति अपने ही तह के कार्यो मे रत रहते है और वही की चीज-वस्तुओ की धरा-मेली मे अपनी वुद्धि, शक्ति आदि लगाने मे व्यस्त रहते है।

विश्व-दर्शन की यथार्थ झलक

अब समझ लीजिये यह काल्पनिक गेंद ही विश्व है। उसकी भिन्न-भिन्न तहे ही

विश्व के भिन्न भिन्न क्षेत्र या लोक है, जिनमे उनकी गति-विधि के अनुसार नाना विधि, प्रकार, वर्ण, आकृति आदि वाले निर्जीव-सजीव अर्थात् जड-चेतन पदार्थ हैं। उसकी सवसे ऊपर की तह ही जो अन्य और तहो की अपेक्षा अत्यन्त स्थूल है, मानो ससार का वर्तमान प्रत्यक्ष स्वरूप है। आकाश मे जितने तारागण छोटे-वडे स्थित हे वे सव इसी वाह्यक्षेत्र के स्थूल दृश्य स्वरूप है। नक्षत्र विद्या (Astronomy) के जाननेवालो ने सिद्ध किया है कि आकाश मे हमारे सूर्य सरीखे तथा उससे भी वडे, अनेको नक्षत्र या तारागण है। अभी हाल की ताजी खवर है कि व्रिटिश कोलम्विया के डाक्टर जोसेफ पियर्स ने यह खोज की है कि एक तारा सूर्य से ८ गुना वडा हैं जिसकी गृह पथ पर घूमने की गति प्रति सेकन्ड १२२ मील है और दूसरा तारा सूर्य से १३ गुना वडा है और उसकी गति १९० मील प्रति सेकन्ड है।[1] हमारी पृथ्वी भी इन्ही असख्य नक्षत्रो मे से एक है जो अत्यन्त लघु है। हमने विद्यार्थी जीवन मे पढा है कि जिस सूर्य को हम देख रहे है, उसके आस पास घूमनेवाले हमारी पृथ्वी समेत अन्य और असख्य तारागण (नक्षत्र) घूमा करते है। इन सवको मिलाकर सौरमण्डल कहते है। नक्षत्र-विद्या-विशारदो का कथन है कि विश्व मे ऐसे कई सूर्य है और कई सौरमण्डल। हमे यह भी पढाया गया है कि हमारी पृथ्वी गोल हे, सूर्य गोल है, चन्द्रमा गोल हे और अन्य तारागण भी गोलाकार हे—गेद के समान नही वल्कि अण्डाकृति के समान। इसलिये धर्म-शास्त्रो मे यह लिखा मिलता है कि विश्व के गर्भ मे अनेको असख्य अण्ड है, और इन अण्डो मे से असख्य असख्य अण्डो के समृह को एक एक व्रह्माण्ड कहते है। विश्व मे इस प्रकार के कई व्रह्माण्ड है। इनका यदि कुछ अन्दाज लगाना हो तो कृष्ण पक्ष की रात्रि मे आकाश की ओर नेत्र कर लेट जाइये और चक्षु इन्द्रिय को स्थिर करके देखिये तो अनेक असख्य तारागण (अण्ड) अनन्त दिशाओ मे फैले हुए दिखाई देगे। व्रह्माण्डो के इन प्रत्येक अण्ड या पिण्ड मे अनकूते प्रकारादि के जड-चेतन पदार्थ हे। हमारी पृथ्वी तो इन कई एक अण्डो की आकृति की दृष्टि से इतनी छोटी है कि जैसे एक कटहल फल के सामने राई का दाना हो। इस राई वरावर पृथ्वी पर हम देखते हे, वेशुमार छोटे-वडे दृश्य-अदृश्य जड और चेतन पदार्थ वनते-मिटते रहते है। उनमे से मनुष्य भी एक हे। जरा विचारिये? इस महान् विश्व मे मनुष्य सरीखे एक जन्तु का क्या स्थान हो सकता हे। फिर भी अभी तक जो कुछ कहा गया है वह केवल अण्डादि की स्थूल आकृतियो एव सख्याओ के विपय

---

१ हिन्दी दैनिक 'नवभारत' (जवलपुर ता० २-१-१९५३), (डाक सस्करण ता० ३-१-१९५३)।

मे ही तो कहा गया है। अब विचार कीजिये कि इनमे से कई एक ऐसे है जो एक दूसरे से कोटियो मील दूरी पर है जिनका प्रकाश एक दूसरे के पास कई सैकडो वर्षों मे पहुच पाता है, जिनके बनने-मिटने अथवा जिनकी उत्पत्ति-लय की क्रियाओ की पूर्ति के लिये सहस्रो युग व्यतीत हो जाते है, जो आकर्षण एव गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण अपनी अपनी कीलो पर घन-मन घन-मन घूमते-घूमते अपने अपने सूर्य के आस पास नित्य-प्रति अपने अपने निश्चित मार्ग पर बिना टकराये, बिना मार्ग-च्युत हुए, सलग्न है। इस प्रकार विचार आने पर आश्चर्य और विस्मय से शरीर के रोगटे खडे हो जाते है, और शरीर मे सिहरन और कम्पन उठने लगते हैं। यही विश्व का विराट रूप है, और वह भी केवल बाह्यरूप, आन्तरिक सूक्ष्म नही। इस विश्वरूप को देखकर यह विचार आये बिना नही रहता कि इसको नियत्रण करनेवाली कोई न कोई शक्ति अवश्य होनी चाहिए। यदि यह कहा जाय कि समस्त विश्व इस शक्ति रूप भगवान के उदर मे अथवा गर्भ मे या मुख मे स्थित है, जैसा कि धर्म-ग्रन्थो मे बहुधा कथा-वार्ताओ के रूप मे लिखा हुआ मिलता है, तो क्या हानि है! बालक राम ने हँसते हँसते अपने मुख मे कौआ को तथा कृष्ण ने अपने उदर मे अर्जुन को इसी महान् विश्व का दर्शन कराया था। कौआ की दृष्टि तीक्ष्ण होती है, और अर्जुन को दिव्य चक्षु दिये गये थे। जिनमे देखने की शक्ति है वे ही इस विराट विश्व की झाँकी देख सकते है। यही रहस्य है इन धार्मिक कथाओ मे। इसी विश्व-दर्शन मे आप देखेंगे गाधी का आत्म-समर्पण अथवा शून्य (zero) का सिद्धान्त निहित है।

विश्व मे मनुष्य की स्थिति

जब इस महान् असीम विश्व का दृश्य हमारी आन्तरिक दृष्टि के सम्मुख समूचे रूप से झलक उठता है, तब मालूम पडता है कि मनुष्य वर्ग की स्थिति उसके बीच मे इतनी ना कुछ के बराबर है जितनी कि हिमालय पर्वत के बीच मे एक कण की, महासागर के अन्तरगत पानी के एक बूद की, अथवा एक भारी तूफान मे एक तिनके की होती है। विश्व को नियन्त्रित रूप से धारण करने और उसकी गति-विधि को नियमित रूप से चलाने वाली शक्ति के कुछ स्वाभाविक नियमो के हाथ की वह एक कठपुतली मात्र है जिनके अनुसार उसे परवश चलना ही पडता है।

विश्व-सम्बन्धी दो विचारधाराएँ

इन स्वाभाविक नियमो मे से एक नियम यह भी है, कि मनुष्य अपनी मानसिक एव बौद्धिक शक्ति के कारण बिना सकल्प-विकल्प के नही रह सकता। सोचना

विचारना उसका स्वभाव है। इसीलिये जब उसने अपनी स्थिति विश्व मे देखी तो उसके मन मे विचार उठा कि यह विश्व क्यो हुआ, कब हुआ, कैसे हुआ, कब तक रहेगा और कौन इसे धारण किये है, और उसकी इसमे क्या स्थिति है तथा कैसी होनी चाहिये। विश्व कब हुआ और कब तक रहेगा इन दो के विषय मे तो तत्त्ववेत्ताओ मे कोई मतभेद नही है क्योकि सभी उसे अनादि और अनन्त मानते है। परन्तु अन्य प्रश्नो के उत्तर ढूंढने के लिये दो विभिन्न विचार-धाराये प्राचीन काल से ही वहती आ रही है। एक है आधिभौतिक विचारधारा (Materialism) और दूसरी है आध्यात्मिक विचारधारा (Spiritualism)[१]। पहले वर्ग के तत्त्ववेत्ता विश्व के स्थूल स्वरूप मे ही उलझकर रह जाते है, और दूसरे वर्ग के उस स्थूलता के परे उसके आदि स्वरूप तक पहुँचते है जिसे वे आत्मा (Spirit or Soul) कहते है। यद्यपि प्राचीन काल से ही पूर्वीय और पश्चिमीय दोनो गोलार्द्धो के देशो मे दोनो प्रकार की विचारधाराओ के तत्त्ववेत्ता समय समय पर विद्यमान रहते आये है, तथापि साधारणत यह सर्वमान्य है कि पूर्व मे अध्यात्मवाद की प्रधानता रही है और पश्चिम मे भौतिकवाद की। फिर भी जब से पूर्वीय देशो पर पाश्चात्य राज्याधिकारियो का आधिपत्य प्रारम्भ हुआ तब से पूर्वदेशीय प्रजाओ पर पाश्चात्य भौतिक शिक्षा एव सस्कृति का इतना अधिक प्रभाव पडता गया कि वहा का शिक्षित कहलाने वाला प्राय सर्व समाज अपनी प्राचीन शिक्षा-प्रणालियो एव आचार-विचारो को भुला बैठा, और पार्थिव पराधीनता के साथ ही साथ न केवल मानसिक वरन् आत्मिक पराधीनता की भी बेडियो से जकड गया। फलत समाज की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक तीनो वृत्तिया अधोगति को प्राप्त होती गई। इस दुर्धर्ष दुर्गति का प्रखर प्रमाण भारतवर्ष मे विद्यमान था। वह अपनी पूर्व सस्कृति को खो चुका था, और बची-खुची खोता जा रहा था। अपने राज्य-स्वामियो की नकल कर भौतिक-वाद मे उसकी रुचि बढती जा रही थी। इस तरह दोनो पश्चिम और पूर्व के साहित्यिक एव व्यावहारिक दोनो क्षेत्रो मे भौतिकवाद का पूर्ण आतक फैल रहा था। जहा कही साहित्य क्षेत्र से आध्यात्मिक ध्वनि उठती थी, तो व्यावहारिक दुनिया की धीगा-धीगी के बीच वह डूबी हुई ही थी।

---

१ एक अधिदैवत पक्ष और है, परन्तु उसका अस्तित्व इन्हीं दो मे आ जाता है, जैसा कि, तिलक जी ने गीता-रहस्य मे बताया है।

२

विश्व-सुख-भावना की पृष्ठ-भूमि

जीव-मात्र में सुख की आकांक्षा

किसी भी मनुष्य के पास पहुँच कर उससे पूछिए कि तुझे जो कुछ सर्वाधिक प्रिय लगे वह माग, तो आपको दो उत्तरों में से एक उत्तर मिलेगा, तीसरा नहीं। या तो वह कहेगा कि मुझे सुख चाहिये, या वह किसी ऐसी वस्तु का नाम बतायेगा, जिसके प्राप्त होने से वह सुख-लाभ प्राप्त करने की इच्छा करता है। मानसिक या आध्यात्मिक चाहनाओं में भी उक्त वस्तु, सज्ञा के अन्तर्गत आ जाती है। गरज यह कि प्रत्येक मनुष्य को चाहे वह धनी हो या गरीब, बूढा हो या जवान, पुरुष हो या स्त्री या नपुसक सुखाकाक्षा सबको रहती है। सुख ही उसके जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य रहता है। चराचर सभी प्राणधारी सुख चाहते है, जैसा कि अभी कुछ काल पहले सर जगदीशचन्द्र बोस ने अपनी रासायनिक और वैज्ञानिक परीक्षाओं के द्वारा सिद्ध करके वैज्ञानिक क्षेत्र में उथल-पुथल मचा दी थी। मेरा निजी अनुमान तो यहा तक है कि पत्थर-मिट्टी आदि सरीखे जड़ कहे जाने वाले पदार्थों को भी अपने अपने ढग से सुख-दुःख की अनुभूति होती है। सम्भव है, भविष्य में सर बोस सरीखे कोई पदार्थ-विज्ञानी इस बात को अपने यत्रों द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध करके दिखा सके। भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी में यथा विधि अन्य सयोगो के मिलने पर भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न, वनस्पति या जीव-जन्तु पैदा करने के गुण होते है, यह अभी भी मालूम है। यदि उसमें सजीवता न होती तो उत्पादन कहा से होता ?[1] हमारा तात्पर्य

---

१ प्राणि-समाज का क्षेत्र विस्तृत ही होता जाता है। वैज्ञानिक अनुसधान भी इसमें अपना योग दे रहे हैं। नोबेल पुरस्कार विजेता जगत् प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डाक्टर सी० वी० रमन ने हाल में प्रकट किया है कि रवो के अणुओ में गति होती और नर्तन होता है। उन्होने कहा—"प्रत्येक ज्ञात ठोस पदार्थ रवा (crystal) ही है। रवे का सार उसकी आन्तरिक व्यवस्था है, जो कि नियम और व्यवस्था का सर्वोच्च प्रतिनिधित्व करती है।" (देखो 'भारत ज्योति' बम्बई, दि० १-२-१९५३ का)। डाक्टर रमन के इस कथन से यही सिद्ध होता है कि सृष्टि का कण कण

केवल इतना ही है कि विज्ञान का काम ही यह होता है कि एक समय की असम्भव और हास्यास्पद प्रतीत होनेवाली वात को वह दूसरे समय मे प्रामाणिक सिद्ध करके दिखा देता हे। अभी ४०-५० वर्ष पहले की वात है कि रामायण मे वर्णित पुष्पक विमान का उडना, हनूमान का आकाश मार्ग से आना-जाना, आकाश मे युद्ध करना, आकाश से अग्नि-धुआ आदि वरसाकर शत्रुसेना को परेशान करना इत्यादि इत्यादि वाते निरी गप्पे समझी जाती थी। परन्तु वे ही सब वाते आधुनिक आविष्कारो के कारण आज हमारे सामने रोजमर्रा की सत्यता दिखाई देने लगीं। इसी तरह जव हम यह सुनते-पढते थे कि प्राचीन योगी और ऋषि अपने योग-वल के द्वारा अत्यन्त दूर की वार्ता को सुन लिया करते थे, एव दृश्यो को देख लिया करते थे, तव हमे विश्वास नही होता था ,परन्तु आज जव रेडियो और टेलीविजन आ गये तो हमारा विश्वास उन पूर्व वार्ताओ मे हो उठा। साराश यह कि विश्व मे—सारे जड-चेतन रूपी विश्व मे—सुख-दु ख रूपी द्वन्द का सर्वव्यापी नियम है। यदि जड कहे जानेवाले पदार्थ नही, तो कम से कम समस्त चेतन पदार्थ दुख से मुक्त होकर सुख-भोगी वनने के लिये लालायित रहते है। अध्यात्म-वल वाले महात्मा जन समस्त जड-चेतनमय विश्व के कल्याण की कामना से प्रेरित होकर अपने कर्मो का निर्धारण करते ह। परन्तु वहुधा देखने मे यह आता हे कि अधिकाश महापुरुषो का ध्येय केवल मनुष्य-समाज को सुखी बनाने का रहता है। यह एक दूसरी वात भले ही हो जाय कि उन्हे मनुष्य-सुख की कामना को सिद्ध करने के अभिप्राय से किसी दूसरे प्राणियो आदि का भी हित-चिन्तन करना पडे। ऐसी

सजीव है। उनका उक्त कथन इस पुस्तक के लेखन के वाद प्राप्त हुआ। इससे इसका फुटनोट मे उल्लेख किया जा रहा हे।

Dr C V Raman, Nobel Laureate in Physics, told a students' gathering here last evening that he was now studying the dance of atoms in crystals and trying to find the rates of their movement

Dr Raman, who was delivering the valedictory address of the Mathematics and Science Association of St Joseph's College, said the study of crystallography was a very interesting and inexhaustible one "Every known solid was a crystal The essence of the crystal was its internal order which was the supermost representation of law and order", he said —PTI

दशा मे अन्य प्राणियो को सुख पहुँचाने का कार्य प्रधान नही, गौण रहता है। मार्क्स और गाधी की विश्व-कल्याण की भावनाये भी मनुष्य-समाज से सीमित हैं। मनुष्य-समाज ही उनका विश्व है, हालांकि सारे विश्व के मुकाबले मे उसका अस्तित्व इतना छोटा है जैसे समुद्र मे जल-बिन्दु। परन्तु इस सम्बन्ध मे गाधी का दृष्टिकोण मार्क्स के दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अध्यात्मवादी होने के कारण उनका लक्ष्य मनुष्य-समाज के घेरे से भी कही कुछ बाहर निकल आया है। अत अब हमे भी अपना दृष्टिकोण केवल मनुष्य-समाज से सम्बन्धित रखकर विचारना चाहिये कि अपनी इस पृथ्वी पर सुख-भावनाओ का कब कैसा प्रचार रहा, उन्होने मनुष्य-जीवन को किस भाति प्रभावित किया तथा मार्क्स व गाधी ने तत्सम्बन्धी किन भूमिकाओ को अपनाया।

ऐतिहासिक दृष्टि से सुख-प्रसार की झलक

इतिहासवेत्ताओ का कहना है कि अत्यन्त प्राचीनकाल मे मनुष्य अन्य पशुओ की भाति जगलादि मे अकेला विचरता था। इस दृष्टि से मनुष्य की प्राथमिक सुख-भावना पशुओ के समान केवल इन्द्रिय-विषय-भोग के लिये सकुचित रूप मे ही रही होगी। मानुषिक सुख-भावना का यथार्थ रूप उस समय से प्रारम्भ होना समझना चाहिये जब से प्रेम-वश पुरुष-स्त्री ने एक सग रहना प्रारम्भ किया। उसी समय से पशुवत् स्वसुख के साथ परसुख का मिश्रण होने लगा। तत्पश्चात् सन्तानोत्पत्ति, कौटुम्बिक वृद्धि, सघ-जीवन, कौमी सगठन, राष्ट्र-राज्य स्थापन एव राष्ट्र परराष्ट्र-सम्बन्ध जिस-जिस क्रम से प्रसारित होते रहे उस उस क्रम से स्वसुख और परसुख का सम्बन्ध निश्चित होता रहा।

व्यक्तिगत और सामाजिक सुख का सम्बन्ध

उपर्युक्त ऐतिहासिक कथन तथा वर्तमान प्रत्यक्ष स्थिति के अवलोकन से यह विदित हो जाता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व समाज के नानात्व मे मिश्रित है। अत व्यक्तिगत सुख-भाव सामाजिक सुख-भाव से विलग नही रह सकता। उनका पारस्परिक सम्बन्ध इतना बढ गया है कि एक दूसरे के द्वारा किसी भी दशा मे त्याज्य या तिरस्कृत नही हो सकता। फिर भी देखने मे यह आता है कि असीम कालान्तर के होने पर भी व्यक्तिगत स्वार्थमय पाशविक सुख समय समय पर अपने विरुद्ध उठे हुए भयकर से भयकर विरोधो का सामना करता हुआ अभी भी समाज में टाँग अडाये जा रहा है, और एक गाधी या मार्क्स क्या, अनेक गाधी और मार्क्स के होने पर भी, हमारा विश्वास है, भविष्य मे किसी न किसी रूप मे जब तक ससार

कायम है, टाँग अडाये रहेगा। यद्यपि सार्वलौकिक सग्रह (World Federation) की चर्चा से, देश मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना से, राष्ट्रो की सयुक्त व्यवस्था (United Nations Organization) से, एव भिन्न भिन्न नाम की, भिन्न-भिन्न देशो मे, भिन्न-भिन्न समय पर अन्तर्राष्ट्रीय परिपदो या सम्मेलनो के होने से कई एक आशावादी सर्व-सुख-साम्राज्य की आशा बाधते हुए पाये जाते है, तथापि स्वार्थ महाराज भीतर ही भीतर अनेक भेष धारणकर सुख की भावी आकाक्षाओ पर प्राय पानी-सा फेरते हुए अपनी मस्तानी चाल से चलने मे नही चूकते।

आधिभौतिक सुख

इसका कारण क्या है। स्वसुख। स्वसुख खुद कुछ बुरा नही है। बुरा यदि है तो 'स्व' अर्थात् खुदपन, अपना पन, मैं पन, ममत्व (मेरा पन) या अहकारत्व, जिसमे सुख ने अपना गहरा स्थान बना लिया है। जब तक यह स्व (मैं पन) शरीर से बधा हुआ रहता है, जब तक वह शरीर को अपना सर्वस्व समझता है अथवा जब तक वह स्थूल क्षेत्र को पार करके अन्त करण रूपी सूक्ष्म क्षेत्र तक नही पहुँच जाता, बल्कि यह कहिये कि जब तक वह अहकारत्व को परत्व मे नही मिला लेता तब तक द्विधा शारीरिक सुख की भावना बनी ही रहती है। तब तक यह भावना बनी रहती है कि यह मेरा सुख है यह तेरा सुख है। इस प्रकार का सुख क्या है मानो खुदगर्जी है। इसके धर्म-शास्त्रो मे कई नाम मिलते है, जैसे मोह, लौकिक या ऐहिक सुख, बाह्य सुख, विपय-वासनाये, इन्द्रिय-सुख, स्वार्थसुख, भौतिक या आधिभौतिक सुख इत्यादि।

सुख-विभाग का सक्षिप्त दृश्य

सुख की समीक्षा विभिन्न दृष्टिकोणो से की जाती है। जिस दृष्टिकोण से उसे देखते है उसी के अनुकूल उसका नाम दिया जाता है। मूलत वह दो दृष्टिकोणो से देखा जाता है, एक व्यक्तित्व की दृष्टि से और दूसरा समाज की दृष्टि से। व्यक्तित्व की दृष्टि से जब विचार करते है तो प्रधानत दो लक्ष्य रहते है। एक लक्ष्य के अनुसार उसे लौकिक सुख और पारलौकिक सुख मे विभक्त कर लेते है। दूसरे लक्ष्य के अनुसार उसे तीन विभागो मे विभक्त कर लेते है, यथा—भौतिक सुख, मानसिक सुख और आत्मिक सुख। इन तीनो को कोई कोई क्रमश आधि-भौतिक, बौद्धिक ओर आध्यात्मिक, सुख भी कहते है। कोई कोई इनके साथ एक और चौथा सुख जोड देते हे जिसे आधिदैविक सुख कहते है, अर्थात् वह सुख जिसे

आजकल के निरीश्वरवादी लोग आकस्मिक सुख कहना पसन्द करेंगे। भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने इस दृष्टि से कि सुख शब्द भ्रमोत्पादक न हो—उसे दो भिन्न संज्ञाएँ दी। उन्होंने पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक सुख को उच्चकोटि में रखा और उसे ही यथार्थ सुख (bliss) या स्वर्गीय सुख (heavenly happiness) आदि कहकर पुकारा। बाकी अन्य सब सुखों को जो लोक, भूत, शरीर, इन्द्रिय अर्थात् विषयों से सम्बन्ध रखता है उसे 'मोह' नाम दिया। बौद्धिक सुख के विषय में यह कहा जाता है कि बुद्धि की तामसिकता और सात्त्विकता के अनुरूप ही उसके द्वारा प्राप्त सुख क्रमशः 'मोह' और 'सुख' संज्ञा को प्राप्त करनेवाला होता है।

अब जब हम सुख का निरीक्षण समाज के दृष्टिकोण से करते हैं तो सुख विभाग दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो जब हम निखिल समाज को एक व्यक्ति (entity or individual) के रूप में मान लेते हैं, और दूसरा वह जब हम व्यक्ति-विशेष के व्यक्तित्व को समाज के व्यक्तित्व से भिन्न मान लेते हैं। पहली दृष्टि से सामाजिक सुख की समीक्षा भी उपर्युक्त व्यक्तिगत सुख-समीक्षा की विधि में की जाती है। परन्तु दूसरी दृष्टि से जब समाज के अस्तित्व पर विचार करते हैं तो तीन प्रकार से सुख-विभाग हो जाता है। ये विभाग उस नीति पर आधारित रहते हैं जो व्यक्तियों को समाज के प्रति उनके कर्तव्यों का स्मरण दिलाती है। इस कर्तव्य नीति के अनुसार देखे जाने पर कुछ सुख ऐसे दिखाई देते हैं जिनमें केवल स्वार्थ पर विचार रहता है, कुछ ऐसे होते हैं जिनमें केवल परार्थ पर विचार रखा जाता है और कुछ ऐसे होते हैं जिस में अपना और पराया दोनों के सुख का विचार रखते हैं। इन भेदों के अनुसार ये सुख स्वार्थ सुख, परार्थ सुख और स्वार्थ-परार्थ सुख कहलावेंगे।

कोई कोई सुख-समीक्षक अध्यात्मवादी होने के कारण समस्त संसार को एकमयी समझकर सबके सुख को ही सुख समझते हैं। इस प्रकार के लोग 'स्व' का अर्थ तीन प्रकार से लगाते हैं। एक वह निम्नतम कोटिका शारीरिक 'स्व' जिसके अनुसार मनुष्य में केवल लौकिक खुदगर्जी भरी रहती है। ऐसा मनुष्य अपने ऐहिक सुख के लिये अधम से अधम काम करने में नहीं चूकता। दूसरा वह बौद्धिक या मानसिक 'स्व' जिसके अनुसार मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर अपने और पराये सुख का ख्याल करके लोक-नीति को निबाहता है। और तीसरा वह 'स्व' जिसके अनुसार सर्व संसार एकमय हो जाता है तब यह छोटा 'स्व' (self) बृहत् 'स्व' (Self) हो जाता है। यह बृहत् 'स्व' प्रकृति को आश्रित रखने वाला वह 'अहं' हो जाता है जिसका आरोप कृष्ण ने अपने ऊपर करके अर्जुन को अनेक पदों द्वारा गीता में समझाया है जैसे "अहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितोजगत्" (१०।४२) या

"अह कृत्स्नस्यजगत प्रभव" (७।६) इत्यादि। इस तरह 'स्व' की मूल व्याख्या, जहा तक हमे स्मरण है, हमने भूतपूर्व थियासाफिस्ट एफ, टी, ब्रूक्स की पुस्तक दी गासपिल आफ लाइफ (The Gospel of Life) अर्थात् जीवन का सन्देश भाग १ मे, जो गीता पर आधारित थी, लगभग ४० वर्ष पहले उस समय पढी थी जब हम विक्टोरिया कालेज ग्वालियर के विद्यार्थी थे। पुस्तक तो किसी पुस्तक प्रेमी ने अपनी सन्दूक मे रख ली, पर वह हमारी स्मृति को अपने पास न ले जा सके। अत उसी स्मृति का आश्रय लेकर हमने यह लिखा है, क्योकि वाद मे हमे दूसरी पुस्तक प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न हो सकी। 'स्व' का यह विभाग श्री लोकमान्य बाल गगाधर तिलक के उस विभाग से भिन्न है जो उन्होने अपने अनुपम ग्रन्थ गीता रहस्य मे बताया है, क्योंकि उन्होने नैतिक दृष्टि से आधिभौतिक सुखवादियो के विभाग किये है न कि अध्यात्म की दृष्टि से। तिलक द्वारा किये विभागो का उल्लेख आप को आगे मिलेगा।

सामाजिक दृष्टि से सुख-नीति का विकास

अभी हम कह चुके है कि यदि समाज व्यक्ति के रूप मे देखा जाय तो उसके सुख की समीक्षा शारीरिक या भौतिक, मानसिक या बौद्धिक, एव आध्यात्मिक दृष्टि से की जा सकती है, और यदि उसका अस्तित्व व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित रूप से देखा जाय, तो उस सुख की समीक्षा स्वार्थ, स्वार्थ-परार्थ, और परार्थ दृष्टि से की जायगी। चूकि विषय विभाग विषय-ज्ञान को सरल बनाने का साधन मात्र होता है न कि उसका सम्पूर्णत पृथक्करण करने का, इसलिये पाठक हमारे दिये हुए विभागो को पढते समय यथास्थान पर उनके पारस्परिक सम्बन्ध का भी ध्यान रखे वा विचारे।

(१) भौतिक सुख की प्राथमिक स्थिति

नीति (ethics, or morals) शब्द कहने से एक से अधिक व्यक्तियो के अस्तित्व का भाव आता है। एक का दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य हो और एक दूसरे के साथ मे रहकर कैसे सुख प्राप्त करे, यही नीति का विषय है। यह हम पहिले कह चुके है कि प्राथमिक काल मे मनुष्य पशुवत् जगलो मे रहा करता था। उस समय उसे एक दूसरे के सग रहने की आवश्यकता नही थी। सग रहने की प्रथम सीढी पुरुष-स्त्री सयोग हुआ। तभी से हमारी समझ मे नीति का बीज पडा, जो बाद मे गर्भ के बालक के समान अदृश्य रूप होकर वृद्ध होता गया तथा कुछ काल पश्चात् दृश्यमान हुआ। दृश्यमान होने पर ही लोगो ने समझा कि अब नीति का उद्भव

हुआ, और यह उद्भव उस समय का बताते हैं जब लोगों में समाज के प्रति परार्थ की भावनाये उठने लगी। स्वार्थ-भावनाओ मे इन परार्थ-भावनाओ का विकास क्रमश किस प्रकार हुआ वही हम देखेंगे।

(२) स्वार्थ-प्रधान भौतिक सुख-नीति

सर्वप्रथम मानुषिक जीवन भौतिक ही था, यह इतिहास, विज्ञान, तर्क और विवेक से सिद्ध होता है। इस भौतिक जीवन की सब से प्रथम सीढी स्वार्थ थी। इसलिये लो० मा० तिलक ने आधिभौतिकवादियो को तीन विभागो मे विभक्त किया है—(१) केवल स्वार्थी, (२) दूरदर्शी स्वार्थी और (३) उभयवादी अर्थात् उच्च-स्वार्थी। बात ऐसी नही है कि उक्त तीन प्रकार की नीति-भावनाओ के लोग किन्ही काल-विशेषो मे ही पाये जाते थे। सच बात यह है कि अभी भी उक्त भावनाओ के प्रतिपादक कम अधिक मात्रा मे पाये जाते है। फिर भी उनकी प्रधानता और न्यूनता के अनुसार उनका काल-निर्माण भी किया जा सकता है।

(अ) केवल या निरा स्वार्थ

सबसे पहले वर्ग मे उन लोगो का समावेश हो जाता है जिनका मत प्राचीन-कालीन भारतीय अर्थात् आर्यखण्ड निवासी चार्वाक, आभाणक एव वाममार्गियो के मत से थोडे-बहुत हेर-फेर से मिलता-जुलता है। चार्वाक के नाम पर एक कहावत मशहूर है "ऋण कृत्वा घृत पिबेत" अर्थात् "ऋण लेकर भी घी पिया जाय"। इस कहावत का तात्पर्य यह है कि चार्वाक के मत मे यह पचभूतात्मक शरीर ही सब कुछ है। इसके परे आत्मा जैसी कोई चीज नही। उसका कहना था कि "जब पञ्च-महाभूत एकत्र होते है तब उनके मिलाप से आत्मा नाम का एक गुण उत्पन्न हो जाता है, और देह के जलने पर उसके साथ-साथ वह भी जल जाता है, इसलिए विद्वानो का कर्त्तव्य है कि आत्म-विचार के झझट मे न पडे"[1] इस मत के लोगो की दृष्टि मे न आत्मा है न ईश्वर। जो कुछ है वह इस देह के रहते-रहते तक ही है। इसलिये येन-केन प्रकारेण जीवन भर मजा-मौज उडाते रहना चाहिये। उनके जीवन-सिद्धान्त का सूत्र निम्नपक्तियो मे *व्यक्त किया हुआ पाया जाता है।*

यावज्जीव सुख जीवेन्नाऽस्तिमृत्योरगोचर । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ।।

(यावज्जीव सुख जीवेत्) जब तक जीव है तब तक सुख मे जियो (मजा-मौज उडाओ) क्योकि उसका अन्त देह के साथ ही हो जाता है।

---

१ गीता रहस्य, पृष्ठ ७६।

इस मत से मिलता-जुलता पश्चिमी गोलार्द्ध के देशो मे भी एक इपीक्यूरियन्स के नाम से प्रसिद्ध मत था, जिसका उद्देश्य भी यही था 'खाओ, पिओ और मौज उडाओ' (Eat, drink and be merry)। तत्त्ववेत्ता इपीक्यूरस के अनुयायी इपीक्यूरियन्स कहलाते थे। अगले अध्याय मे आपको मिलेगा कि इसी इपीक्यूरस के तत्त्वज्ञान मे मार्क्स ने डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की थी।

इसी के अनुरूप हमे महाभारतान्तर्गत पाराशर गीता मे यह लिखा मिलता है, "यदिष्ट तत्सुख प्राहु द्वेष्य दु खमिहेष्यते"। अर्थात् जो कुछ हमे इष्ट है वही सुख है, जिसका हम द्वेप करते है वही दु ख है।[1]

इसी तरह नैय्यायिको ने सुख-दु ख की व्याख्या 'वेदना' कहकर इस प्रकार की है "अनुकूल वेदनीय सुख" और "प्रतिकूल वेदनीय दु ख"। अर्थात् जो वेदना हमारे अनुकूल है वह सुख है, और जो वेदना हमारे प्रतिकूल है वह दु ख है।

तिलक जी ने "यदिष्टतत्सुख " की आलोचना करते हुए लिखा है कि "उसे शास्त्र की दृष्टि से पूर्ण निर्दोप नही कह सकते, क्योकि इस व्याख्या के अनुसार 'इप्ट' शव्द का अर्थ इप्ट वस्तु या पदार्थ भी हो सकता है और इस अर्थ को मानने से इप्ट पदार्थ को ही सुख कहना पडेगा। उदाहरणार्थ, प्यास लगने पर पानी इप्ट होना हे परन्तु इस वाह्य पदार्थ 'पानी' को सुख नही कहते।" नैय्यायिको की व्याख्या के विषय मे तिलक जी ने लिखा है कि उनकी "उक्त व्यारया से वढकर सुख-दु ख का अधिक उत्तम लक्षण वतलाया नही जा सकता, क्योकि ये वेदनाएँ जन्मसिद्ध अर्थात् मूल की और अनुभवगम्य है।"[2]

उक्त आलोचनाओ को देखने से यह ज्ञात होता है कि तिलक जी ने प्रथम सिद्धान्त की केवल भापा पर विचार किया हे, और दूसरे सिद्धान्त के केवल भाव पर विचार रखा है। हमारी समझ मे सिद्धान्त की जाँच के लिए सर्वप्रथम सिद्धान्ती का भाव देखना चाहिए, और फिर यह भी देखना चाहिए कि वह भाव सही सही भापा के द्वारा व्यक्त किया गया है या नही। चूंकि श्रेष्ठ जनो के शव्द जन-साधारण के लिए अनुकरणीय होते है इसलिए यह परमावश्यक होता है कि अनुकरणीय भाव अनुकरणीय भापा मे ही व्यक्त किया जाय। दूसरे शव्दो मे, भाव-प्रदर्शन करने-वाली भाषा एक तो इतनी सूत्ररूपी हो कि भावी सन्तान उसे आसानी से स्मरण रख सके, और इतनी सरल-सीधी हो कि उसके एक मे अधिक अर्थ न हो सके।

---

१ गीता रहस्य, पृष्ठ ९४–९५।

२. गीता रहस्य, पृष्ठ ९४–९५।

उससे केवल एक ही अर्थ निकले, और वह अर्थ भी केवल सिद्धान्ती का भाव-सूचक हो। इस कसौटी पर कसने से उपर्युक्त सभी सिद्धान्त, हमारी अल्पमति के अनुसार अनुपयुक्त है। आज यदि कोई अध्यात्मवादी यह न कहे कि 'सुख-दुःख मे सम रहकर जीवनानन्द करो' और केवल इतना ही कहे कि 'जीवनानन्द करो' तो उसके सिद्धान्त मे कोई हानि नही होगी, पर यह भी निश्चय है कि कालान्तर मे उसका अनय किया जाने लगेगा, क्योकि वह द्विअर्थवाची है। इपीक्यूरियन्स, महाभारतान्तर्गत् पराशर, तथा नैय्यायिको के सिद्धान्तो मे हमे यही दोष दिखाई देता है। जब यह देखा गया कि 'इष्ट' अथवा 'अनुकूल वेदना' आदि की तृप्ति करनेवाली क्रिया का सुख-सज्ञा दी जाने से विषय-वासना की वृद्धि होती है और परार्थ का त्याग किया जाता है, तो कुछ लोगो ने उनके प्रत्यक्ष अर्थ की तोड-मरोड करना शुरू की। वे 'इष्ट' वा अनुकूल 'वेदना' का आरोप प्रतिपक्षी पर करके अर्थ समझाने लगे और कहने लगे कि "जो कुछ तू चाहता है कि दूसरे मनुष्य तेरे साथ करे, वही तू उनके प्रति कर, क्योकि यही नियम है और भविष्यवाणी भी।"[1] उदाहरणार्थ 'अ' 'ब' को मारकर सुख चाहता था। उसने 'ब' को मारा। उक्त सिद्धान्तो के प्रत्यक्ष अर्थ के अनुसार 'अ' को सुख हुआ। परन्तु उक्त अर्थ-कर्ताओ के अनुसार वह सुख नही कहा गया। क्योकि 'मारा जाना' 'ब' के लिए न तो 'इष्ट' हो सकता है, और न 'अनुकूल वेदना' ही। गरज यह कि सिद्धान्त स्पष्ट भाषा मे एकार्थवाची ही हो। भाषा-दोष जब इतना अनर्थकारी हो सकता है, तब भाव-दोष पर जो कुछ कहा जाय वह सब थोडा ही होगा। यह भाव-दोष उन सब लोगो के सिद्धान्तो मे रहता है जो केवल आधिभौतिक वादी होते है, क्योकि वे जीवन-ऐक्य पर ध्यान नहीं खीचते, केवल जीवन-खण्ड को पूर्ण-जीवन कहकर दर्शाते है। इस प्रकार के लोगो को गीता मे बारबार सग्रहकारी न कहकर विग्रहकारी बताया है। ये विद्वत्तापूर्ण लच्छेदार बात करने मे बडे निपुण (वेदवादरता पुष्पिता वाच वदन्ति)[2] लोग कहा करते हैं कि यहाँ के सिवाय और कुछ है ही नही (नान्यदस्तीतिवादिन)। जगत् उनकी दृष्टि मे निराश्रय, असत्य एव निरीश्वरी है। ये रात-दिन अपने कामोपभोगो की चिन्ता मे लगे रहते है, जो कभी पूरे ही नही हो पाते। आशा-पाशो मे बँधे रहते हैं, जिनसे कभी मुक्त नही हो पाते। यह लिया, वह लूंगा, इसे मार गिराया, उसे मारना बाकी है इत्यादि इत्यादि बातो के पीछे जीवन बरबाद करते रहते है। इस तरह ये अपने निरा-स्वार्थ मे लगे रहकर अभिमान-दम्भ-पाखण्ड के राग अलापते

१ Bible, S Mathew 7/12 (Sermons on the Mount)
२. गीता २।४२।

हुए कामरूपी तृष्णा मे फँसे असफलताओ पर निराशा और क्रोधाग्नि मे जलते-भुंजते नष्ट-बुद्धि जगत् के अत्यन्त अहितकारी होते है।[1]

आज भी इन निराठ स्वार्थियो की भरमार है। विद्वत्तापूर्ण लम्बे लम्बे व्याख्यानो के अन्दर ढोल की पोल रहती है। कनक-घटो मे विष-रस सा भरा रहता है। आज भी स्वार्थमयी "आप भला तो जग भला" तथा "पुण्य अपने घर से ही प्रारम्भ होता है" (Charity begins at home) इत्यादि लोकोक्तियाँ जहाँ-तहाँ कही-सुनी जाती है।

(व) परार्थ का उद्भव और स्वार्थ की प्रधानता

परन्तु समाज-सम्बन्ध इतना बढा कि वह निराट स्वार्थ परार्थ की अवहेलना न कर सका। इन निराट स्वार्थियो को यह प्रतीत होने लगा कि उनके कई प्रकार के स्वार्थ उस समय तक सिद्ध नही होते जब तक कि परार्थ न किया जाय। इसलिए दूरदर्शिता ने उन्हे परोपकार अर्थात् पर सुख के लिए बाध्य किया। तिलक जी का कथन है कि "परलोक के विषय मे आधिभौतिकवादी उदासीन रहा करते है, परन्तु इसका यह मतलब नही है कि इस पन्थ के सब विद्वान् लोग स्वार्थ-साधक, अपस्वार्थी, अथवा अनीतिमान हुआ करते है। यदि इन लोगो मे पारलौकिक दृष्टि नही है तो न सही। ये मनुष्य के कर्तव्य के विषय मे यही कहते है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी ऐहिक दृष्टि ही को जितनी बन सके उतनी व्यापक बनाकर समूचे जगत् के कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। कॉण्ट, मिल, स्पेन्सर आदि सात्विक वृत्ति के अनेक पण्डित इस पन्थ मे है।[2] इस श्रेणी के पण्डितो का, जिसमे तिलक जी ने इग्लैण्ड के हाब्स और फ्रास के हेल्वेशियस के नाम भी अकित किये है, कहना है कि "यद्यपि आधिभौतिक विषय-सुख प्रत्येक को इष्ट होता है तथापि जब हमारा सुख अन्य लोगो के सुखोपभोग मे बाधा डालता है तब वे लोग बिना विघ्न किये नही रहते। (इसलिए) सब लोगो को अपने ही समान रियायत दिये बिना सुख का मिलना सम्भव नही है, इसलिए अपने सुख के लिए ही दूरदर्शिता के साथ अन्य लोगो के सुख की ओर भी ध्यान देना चाहिए। इन आधिभौतिकवादियो की गणना हम दूसरे वर्ग मे करते है।" इनका तर्क यह है कि "परोपकार, उदारता, दया, ममता, कृतज्ञता, नम्रता, मित्रता इत्यादि जो गुण लोगो के सुख के लिए आवश्यक मालूम होते है वे सब यदि उनका मूल स्वरूप देखा जाय तो——अपने ही दुःख

---

१ देखो गीता, अ० १६।

२, गीता रहस्य, पृष्ठ ७६।

निवारणार्थ है। कोई किसी की सहायता करता है या कोई किसी को दान देता है, क्यों? इसीलिए न, कि जब हम पर बीतेगी तब ये हमारी सहायता करेंगे "और कुछ नहीं तो हमारे मन में अच्छा कहलाने का स्वार्थमूलक हेतु अवश्य रहता है।"[1] इसी प्रकार ये लोग यह कहकर कि "यदि मैं लोगों को मारूँगा तो वे मुझे भी मार डालेंगे, और फिर मुझे अपने सुखों से हाथ धोना पड़ेगा" अहिंसा धर्म की उपपत्ति बतलाते हैं। अतः अब हमें यह ज्ञात हो गया कि पहिले वर्ग के सम्मुख जो निरा स्वार्थी है, नीति (ethics or morals) का कोई स्थान नहीं, और दूसरे वर्ग के सन्मुख नैतिक गुण वर्तने की आवश्यकता है क्योंकि उसे समाज में रहना पड़ता है, हालाँकि वह उन्हें अपनी निजी स्वार्थ-वृत्ति के कारण से ही वर्तता है। इस तरह तिलक जी ने बताया है कि 'नीति की आधिभौतिक उपपत्ति का यथार्थ आरम्भ यहीं से होता है।"[2]

(स) परार्थ की वृद्धि, परन्तु स्वार्थ का पल्ला फिर भी भारी

"परन्तु इस मत के अनुयायी अब न तो इंग्लैण्ड में ही और न कहीं बाहर ही अधिक मिलेंगे। बटलर सरीखे विद्वानों ने उसका खण्डन करके सिद्ध किया कि मनुष्य-स्वभाव केवल स्वार्थी नहीं है, स्वार्थ के समान ही उसमें जन्म से ही भूत-दया, प्रेम, कृतज्ञता आदि सद्गुण भी कुछ अंश में रहते हैं। जब हम देखते हैं कि व्याघ्र सरीखे क्रूर जानवर भी अपने बच्चों की रक्षा के लिए प्राण देने को तैयार हो जाते हैं, तब हम यह कभी नहीं कह सकते कि मनुष्य के हृदय में प्रेम और परोपकार-बुद्धि जैसे सद्गुण केवल स्वार्थ ही से उत्पन्न हुए हैं।" स्वार्थ और परार्थ ये दोनों मनुष्य के स्वाभाविक गुण हैं। इसलिए धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य की परीक्षा इन्हीं दोनों की कसौटी पर कसकर करना चाहिए न केवल उपर्युक्त द्वितीय वर्ग के सिद्धान्त दूरदर्शी स्वार्थ पर। "यही आधिभौतिकवादियों का तीसरा वर्ग है।" इस पक्ष में भी यह आधिभौतिक मत मान्य है कि स्वार्थ और परार्थ दोनों सांसारिक सुखवाचक हैं, सांसारिक सुख के परे कुछ भी नहीं है। सामान्यतः स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न नहीं होता, इसलिए मनुष्य जो कुछ करता है वह सब प्रायः समाज के भी हित का होता है। (परन्तु) जब स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न होता है तब इस प्रश्न का निर्णय करते समय बहुधा मनुष्य स्वार्थ ही की ओर झुक

---

१ गीता रहस्य, पृष्ठ ७८।
२ गीता रहस्य, पृष्ठ ७९।

जाता है कि लोक-सुख के लिए अपने कितने सुख का त्याग करना चाहिए।"[1] इन लोगो की दृष्टि मे सत्य, अहिंसा आदि धर्म-लक्षणो की रक्षा के हेतु प्राण तक न्योछावर कर देने की बात तो दूर रही, द्रव्यादि का त्यागना तक कठिन होता है। फिर भी वे लोग अपने मार्ग को 'उदात्त' या 'उच्च' स्वार्थ (enlightened-self-interest) कहने का दावा करते है, क्योकि "ये समझते है कि हम स्वार्थ ओर परार्थ को तराजू मे तोलकर उनके तारतम्य अर्थात् उनकी न्यूनाधिकता का विचार करके बडी चतुराई से अपने स्वार्थ का निर्णय किया करते है।[2] पर तिलक जी के शब्दो मे, यह है तो स्वार्थ ही।

(३) परार्थ प्रधान भौतिक सुख-नीति

अब हमे परार्थमूलक आधिभौतिक सुखवाद की ओर दृष्टिपात करना चाहिए। इस मत के लोगो का सिद्धान्त है कि मनुष्य दूसरो के अर्थ, उपकार, सुख, हित या कल्याण की ही भावना से प्रेरित होकर अपने कर्म करे। यदि स्वार्थ ओर परार्थ मे विरोध हो तो परार्थ को ही प्रधानता दी जावे। "परोपकार पुण्याय पापाय पर-पीडनम्"[3] तथा "परहित सरिस धरम नही भाई, पर पीडा सम नहि अधमाई"[4] इत्यादि इन सारगर्भित शब्दो से स्पष्ट है कि धर्म-लक्षणो मे परहित को सर्वश्रेष्ठ मान दिया गया है। सामाजिक जीवन मे पर-हित-नीति का पालन दो प्रकार से किया जाना आवश्यक होता है, एक वह जो व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति हो, और दूसरा यह जो व्यक्ति का समाज के प्रति हो। परहित की पहिचान साधारणत सभी को हर समय विदित रहती है। परन्तु कई अवसर ऐसे आते है जब उनका निर्णय करना कठिन होता है। फिर भी यह जानने के लिए कि एक व्यक्ति मे दूसरे व्यक्ति के प्रति पर-हित-भावना किस हद तक हो, सिद्धान्तियो ने सिद्धान्त का निर्माण कर दिया है। वह सिद्धान्त है कि दुश्मन का भी हित करो। जैसे किसी कवि ने कहा है, "जो तोको काँटा बुवे, ताहि बोउ तू फूल।" यीशू ने भी यही बात कही है कि "जो तेरे दाऍं गाल पर तमाचा मारे, उसकी ओर तू बायाँ गाल भी कर दे" एव "अपने

---

१ गीता रहस्य, पृष्ठ ८१ (निम्नांकित रेखा मेरी है)।

२. गीता रहस्य, पृष्ठ ८२।

३ अष्टादश पुराणाना सार सारं समुद्धृतम्।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

४ तुलसीकृत रामायण (उत्तरकाण्ड)।

दुश्मन को प्यार कर और जो तुझे बददुआ देते हैं, उन्हीं को तू आशीर्वाद दे।"[1] व्यक्तिगत परहित-भावना बहुधा दुष्टता-क्रूरता-दुर्व्यवहारादि रूप में व्यक्त हुई भी पायी जाती है। सर्जन की चीर-फाड, शिक्षक की ताडना, माता-पिता के कठोर व्यवहार, न्यायपूर्ण राजदण्ड, सामाजिक बहिष्कार इत्यादि इसके दृष्टान्त है। व्यक्ति की व्यक्ति के प्रति क्या कर्तव्य-नीति हो इसका जानना उतना कठिन नही, जितना कि समाज के प्रति की नीति का होता है, इसलिए कुछ लोगो ने—पाश्चात्य नीति-शास्त्रज्ञो ने—एक सिद्धान्त निर्धारित किया। वह है "अधिकांश का अधिकतम भला (या सुख)।" (Greatest good of the greatest number)। जब लोगो ने यह देखा कि इस सिद्धान्त के आधार पर बहुसंख्यक (majority) दल अल्पसंख्यक (minority) दलो की अवहेलना करते ह, तब उक्त नैतिक नियम के स्थान मे अब हम कुछेक काल से "सबका अधिकतम भला (या सुख)" (Greatest good of all) वाले सिद्धान्त का प्रयोग देखने लगे है। भारतीय नीति-शास्त्रो मे यह सिद्धान्त प्राचीन काल मे ही इससे अधिक सारगर्भित व्यापक उत्कृष्ट भाषा मे व्यक्त किया हुआ चला आता है। यह सिद्धान्त है "वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् सारा जगत् ही कुटुम्ब है। इस पद मे जो 'कुटुम्ब' शब्द आया है, वह बडे महत्त्व का है, जैसा कि आपको आगामी पृष्ठो मे यथास्थान पर मिलेगा। इसमे परस्पर प्रेम और सेवा-भाव की प्रधानता है। उपकार और प्रति-उपकार का भाव कुटुम्बियो मे नही रहता। इसलिए यह सिद्धान्त "सबका अधिकतम भला (या सुख)" वाले उपरोक्त सिद्धान्त से श्रेष्ठ है, क्योकि इसमे प्रेम और सेवा के भाव मे प्रेरित होकर जगत् को सुखी बनाने की भावना है न कि पुण्य या परोपकार की भावना मे जैसा कि "सबका अधिकतम भला" वाले सिद्धान्त मे आने की सम्भावना है। पुण्य या परोपकार दोनो शब्दो मे, प्रतिफल-प्राप्ति की आकांक्षा का भी आना स्वाभाविक है। परन्तु जो परार्थ प्रति उपकार की दृष्टि से किया जाता है वह नीति-शास्त्र मे निम्न श्रेणी का माना गया है। इसलिए उपकार-प्रति उपकार की निम्नता मे बचने की दृष्टि से 'वसुधैवकुटुम्बकम्' वाला सिद्धान्त अधिक मान्य है।

इसी से मिलता-जुलता एक सिद्धान्त और है, जो भारतीय साहित्य मे प्राचीन काल मे विद्यमान है। वह है—"सर्वभूतहितेरता" जिसका उल्लेख गीता मे मिलता है।[2] इसका अर्थ होता है "सब भूतो के हितो में रत हो जाने वाले।" पश्चिमी

---

१ Bible (S Mathew) 5/39, and 44.

२ गीता ५।२५, १२।४।

विद्वानो के द्वारा प्रणीत किये हुए उक्त दोनो सिद्धान्तो मे न तो कार्य क्षेत्र की उतनी विस्तीर्णता अथवा व्यापकता है और न कर्तव्य की उतनी सलग्नता, जितनी कि गीतोक्त इस सिद्धान्त मे पायी जाती है। 'भूत' शब्द का अर्थ साधारणत प्राणी मात्र का लिया जाता है, परन्तु उसका यथार्थ अर्थ 'भू' धातु के अर्थ जानने पर ही विदित हो सकता है। 'भू' (भव) का अर्थ होता है 'होना', इसलिए जो कुछ हुआ अर्थात् जगत् स्वरूप समस्त जड-चेतन-समुदाय 'भूत' शब्द के अन्तर्गत समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त 'रत' शब्द 'रम्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है 'किसी कार्य मे हर्षपूर्वक रँग जाना अथवा मस्त हो जाना। जब तक कार्य विशेष के करने के लिए म न मे प्रसन्नता तथा उत्कण्ठा नही उठती तब तक मनुष्य उस कार्य मे अपने आपको रँग नही सकता। अपने अस्तित्व को अपने कार्य मे विलीन कर देनेवाला ही उसमे रँगा हुआ, मस्ताना, पागल, रत आदि शब्दो से सम्बोधित किया जाता है। तात्पर्य यह है कि उक्त सिद्धान्त का अर्थ होता है—'समस्त जगत् के हित मे रम जाने वाले।' यह एक ओर तो केवल मनुष्य-समाज के सकीर्ण क्षेत्र से निकालकर सब जगत् के क्षेत्र तक—और नही तो, सम्पूर्ण प्राणी—जगत् के क्षेत्र तक—ले जाता है, और दूसरी ओर शुष्क नैतिक नियम-बन्ध से मुक्त कर हृदय की प्रेम-मय हर्ष-तरगो मे बहाता हुआ निश्चित किये हुए कर्म मे तल्लीन हो जाने के लिये आमन्त्रित करता है। हमारी समझ मे 'सर्वभूत हिते रता', यह पद गीता-काल के पहिले से सैद्धान्तिक रूप मे प्रचलित रहा होगा। तभी उसका प्रयोग उन्ही शब्दो मे गीता मे दो स्थानो पर मिलता है। इस सिद्धान्त के निर्माताओ ने खूब सोच समझकर ही 'सर्वभूत' और 'रत' शब्दो का प्रयोग किया है, क्योकि जब तक कल्याण-भावना सर्वदेशीय-सर्वाङ्गीण न हो, और जब तक वह हृदय से न उठे, तब तक विश्व-कल्याण मे बाधाये उपस्थित होना अवश्यभावी है। केवल मनुष्य-वर्ग की कल्याण-भावना से जो कार्य किये जाते है वे एकागी होने के कारण यथार्थ सुखदायी नही हो सकते। मनुष्य अन्य भूतो से इस प्रकार सम्बन्धित है कि उसे सब ओर से सुखी बनाये रखने के लिए उनका रक्षण करना भी आवश्यक होता है। यदि हिन्दुस्थान जैसे देश मे गो-वध इसलिए किया जाने लग जाय कि कुछ लोगो को गो-मास खाने मे सुख होता है, तो इसका परिणाम यह होगा कि कुछ काल पर्यन्त न तो दूध-घी खाने को मिलेगा, और न खेती-किसानी करने को बैल मिलेंगे। इस प्रकार की परिस्थिति आ जाने पर मनुष्य का वह स्वाद-विषयक सुख ही मिट जावेगा, तथा घी-दूध-अन्न आदि की कमी हो जाने से उसे दुखानुभव भी भोगना पडेगा।

'सर्व भूत हिते रता' के समानान्तर एक दूसरा सिद्धान्त और है, जिसे भारत

के आधुनिक साहित्य में गांधी जी ने उपस्थित किया है। वह है 'जग भला तो आप भला।' इसकी भाषा इतनी सीधी-सरल है कि जन-साधारण उसे सहज ही समझ सकते हैं। वह स्मरण भी आसानी से रखा जा सकता है। इसमें जो भाव है उसे समझाने की भी जरूरत नहीं है, और न इसका एक अर्थ छोड़ कोई दूसरा अर्थ लगाया जा सकता है। गरज यह कि पूर्व में बताई हुई हमारी कसौटी पर, अथवा अन्य किसी दूसरी कसौटी पर चाहे जिस प्रकार इसे कसकर देख लीजिए वह खरा-चोखा ही पाया जावेगा। पूर्वोक्त सभी सिद्धान्तों में से इसमें एक विशिष्टता हमें दिखाई देती है। अन्य सिद्धान्तों में—'सर्व भूत हिते रता' में भी—मेरे-तेरे का भाव बना रहता है, जो अध्यात्मवादी की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं होता। उसे तो चाहिये आत्म समानता अथवा एकात्मीयता, और यह एकात्मीयता, हमारी समझ में, इस 'जग भला तो आप भला' वाले सिद्धान्त में भरा है। इसमें 'जग' और 'आप' दो शब्द आये हैं। इन्हें देखकर कोई कदाचित् यह कहे कि यह भी द्वयात्मक है, एकात्मक नहीं। सर्व भूतों के हित में रत जाने वाला भी एकात्मक हो जाता है, यह तर्क भी उठाया जा सकता है। परन्तु थोड़ा गहरा विचार करने पर शंका का समाधान हो जाता है। जो रमनेवाला है उसे आखिरकार दूसरे की स्थिति को स्वीकार करना ही पड़ता है। तभी तो वह कह सकता है कि मैं अमुक वस्तु में रम गया हूँ या स्थिर हो गया हूँ। इसके विपरीत 'जग भला तो आप भला' में आप पहले ही से जग में इस प्रकार मौजूद है जैसे जलकण समुद्र में रहता है। वह जल-कण जो समस्त जल से अभिन्न है, केवल बुरे-भले उन सब परिणामों या प्रभावों की अनुभूति करता रहता है जो समुद्र-जल पर होते रहते हैं। आगे चलकर आपको मालूम होगा कि मार्क्स और गांधी का मत-भेद प्रारम्भ ही से उठ खड़ा हुआ। एक ने कहा कि मैं तो 'अधिकांश का अधिकतम भला' वाले सिद्धान्त को ही मानूँगा, जो मेरे पश्चिमार्द्ध में प्रचलित है, और दूसरे ने कहा कि मैं तो मेरे पूर्वार्द्ध में प्राचीन काल से कथित एकात्मीयता वाले 'जग भला तो आप भला' सिद्धान्त ही का उपासक बनकर कार्य-क्षेत्र में उतरूँगा।

एक और सिद्धान्त है, जिसका निर्माण पश्चिम और पूर्व दोनों दुनिया के विद्वानों ने उपकार-प्रति उपकार की भावनाओं का निराकरण करने के लिए किया। वह इस प्रकार है—बाह्य सुख, जिसे कभी शारीरिक सुख, कभी इन्द्रिय सुख, कभी विषय सुख, कभी लौकिक या सांसारिक सुख और कभी भौतिक या आधिभौतिक सुख कहते हैं, अस्थायी और दुष्परिणामी होता है। इसे अपनाने से दूसरों के प्रति किये गये हित के बदले में प्रतिफल प्राप्त करने की आकांक्षा बढ़ती है। इसलिए इन दोषों से मुक्त करने के अभिप्राय से कुछ नीति-विशेषज्ञों ने यह सिद्धान्त निकाला

कि प्रत्येक कर्तव्य कर्तव्य की भावना (Duty for duty's sake), अथवा कार्य-कार्य की भावना (Action for action's sake) ही से किया जाय। वह स्वार्थ से प्रेरित न हो और न उसमे फल-प्राप्ति की आकाक्षा हो। सत्व-रज-तम अथवा उत्तम-मध्यम-निकृष्ट इन त्रिगुणात्मक भेद-दृष्टि से इस प्रकार के कर्तव्य या कार्य को सात्विक अथवा उत्तम सज्ञा दी गई है। गीता मे यज्ञ-दान-तपादि कर्मो को, अनासक्त होकर विना फलाकाक्षा के, केवल कर्तव्य ही समझकर करने के लिए अत्यन्त विशद रूप मे भिन्न भिन्न स्थानो पर आदेश दिया है।[1] किसी कार्य को कार्य ही की भावना से अथवा कार्य ही के हेतु करना वडी टेढी खीर है। जितना वह कहने-सुनने मे सरल है उतना ही करने मे कठिन है। कर्म की उच्चतम भावना इसी सिद्धान्त मे व्यक्त की गई है। स्वार्थ की पूर्णाहुति हो जाने पर ही मनुष्य इस श्रेय का अधिकारी वन सकता है। न तो स्वार्थ-प्रेरणा उसे उत्पन्न करती, न स्वार्थ-भावनाये सिचन कर उसका प्रतिपालन करती, ओर न स्वार्थ-सिद्धि का आकाक्षा रूपी फल ही उसमे लगने दिया जाता है। वह उस आदर्शनीय कर्म का द्योतक है, जिसे कोई

---

१ (१) अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधि दृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मन समाधाय स सात्विक ॥१७।११ (यज्ञ के विषय मे)।

(२) श्रद्धया परया तप्त तपस्तत्त्रिविधनरैं।
अफलाकाक्षिभिर्युक्तै सात्विक परिचक्षते॥१७।१७ (तप के विषय मे)।

(३) दातव्यमिति यद्दान दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दान सात्विक विदु ॥ १७।१९ (दान के विषय मे)।

(४) एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चित मतमुत्तमम्॥१८।६॥

अर्थात्, इन (यज्ञ, दान, तप) कर्मो को भी कर्मासक्ति और कर्मफल को त्याग अपना कर्तव्य समझकर ही करना चाहिए ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत है।

(५) कार्यमित्येव यत्कर्म नियत क्रियतेऽर्जुन।
सङ्ग त्यक्त्वा फल चैव स त्याग सात्त्विको मत ॥१८।९।

अर्थात्, हे अर्जुन ! जव (शास्त्र-विधि से) नियत किया हुआ कर्म, अपना कर्तव्य है ऐसा समझकर, सङ्ग ओर फल को त्याग करके किया जाता है वही त्याग मेरे मत मे सात्विक त्याग है।

ईश्वरीय और कोई स्वाभाविक (Natural) कार्य कहते है। पर इस सिद्धान्त मे दोष भी बडा भारी है। जिसकी जैसी प्रेरणा या भावना रहती है उसी के अनुरूप कर्म करना वह कर्तव्य समझने लगता है। भावनाएँ यदि विषयो के कारण कुत्सित या मलीन हुई तो कार्य भी अहितकर होते है। इसलिए हम रोजमर्रा देखते है और इतिहास भी हमे पग पग पर बताता है कि लोग अधम से अधम कर्म को अपना कर्तव्य मान बैठते हैं। उदाहरणार्थ गोडसे की दुर्भावना को लीजिए जिसके फलस्वरूप उसने गांधी को मार डालना अपना श्रेष्ठ कर्तव्य समझा। इसलिए यदि इस सिद्धान्त के महत्व को कायम रखना है तो यह आवश्यक है कि उसमे निर्मल भावना की पुट दिया जाय। परन्तु निर्मल शब्द भी तोड-मरोडवाले अर्थ वा भ्रम से न बचा सकेगा। ऐसी दशा मे यदि उसे आदर्शनीय, ईश्वरीय अथवा कल्याणकारी कर्तव्य वाला सिद्धान्त बनाकर विषयासक्ति और साम्प्रदायिकता से बचाना हो तो उसे 'सर्वैक्य' अथवा 'एकात्मक' भाव को सम्बोधन करने वाले किसी न किसी विशेषण शब्द या पद से सयुक्त करना ही चाहिए।

मानसिक या बौद्धिक सुख-सिद्धान्त

शारीरिक प्रवृत्तियो के कारण अच्छे से अच्छे नैतिक सिद्धान्तो को भी व्यावहारिक सृष्टि मे बहुधा असफल ही होते हुए पाकर विशेषज्ञो ने उस असफलता से होने वाले दु ख का कारण ढूँढा। उन्होने देखा कि शारीरिक अर्थात् इन्द्रिय सुख केवल बाह्य प्रतिमा रूप होता है। अह युक्त शरीर रूपी मुद्रणालय मे इन्द्रियाँ रूपी मशीने मुद्रण करने मे लगी है। उनका कार्य है चेतन अथवा चित्तमय अहकार रूपी कागज पर छपाई करते जाना। परन्तु वे अपने आप चलने मे असमर्थ है। मन रूपी यन्त्र-चालक मुद्रणालय मे रहकर उन्हे चलाने मे व्यस्त है। वह स्वाभाविकत अत्यन्त चचल है, अपनी चचलता के कारण वह शरीरान्तर्गत समस्त इन्द्रियो को अनियन्त्रित ढग से गडबडाता रहता है। फलत मन के कार्यानुरूप ही इन्द्रियो के कार्य सुख-दु ख के रूप मे प्रकाशित हो जाया करते है, और अह रूपी शरीर-स्वामी उन्ही प्रकाशित प्रतिमाओ मे उलझकर सुख-दु ख का अनुभव करता रहता है। साराश यह है कि ऐहिक प्रवृत्तियाँ मानसिक प्रवृत्तियो के आधार पर ही अवलम्बित रहती है। इसलिए जब तक मन की चचलता-पूर्ण स्थिति नियन्त्रित न की जाय तब तक इन्द्रिय-सुख भी चचल अथवा अस्थिर रहेगा। दु खो की अनुभूति मन की विकारमय चच-लता के ही कारण होती है। उसकी नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ बुद्धि रूपी प्रकाश-ज्योति को वायु-वेग के झकोरो के समान विचलित करती रहती है। इसलिए कुछ तत्त्ववेत्ता नीतिमान पुरुषो ने व्यक्ति तथा समाज की सुख-साधना के हेतु मानसिक

चचलता को नियन्त्रित करने की प्रधानता बतलाई, क्योकि उसके बिना निर्णयात्मक बुद्धि-शक्ति प्रखर और शुद्ध नही हो सकती। कृष्ण ने अर्जुन के प्रश्न करने पर मन की चचलता को रोकने के दो साधन बताये, अभ्यास और वैराग्य। पातजलि आदि योग-विज्ञो ने इसी हेतु आसन, प्राणायाम, यम, नियमादि का निर्माण और सकलन किया। दर्पण रूपी बुद्धि तत्त्व की निर्मलता जिसको प्राप्त हो जाती है उसे ही यथार्थ सुख का दर्शन हो पाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मानसिक मलो को धोये बिना बुद्धि मे निर्मलत्व नही आ सकता। इसलिए इन नीतिमानो के मत मे मन का सयम करना आवश्यक होता है तब कही सुख-प्राप्ति हो सकती है। इन लोगो को मानसिक सुखवादी कहते है। मानसिक सुखवादी न कहकर उन्हे बौद्धिक सुखवादी कहना अधिक उपयुक्त है। "प्लेटो नाम के प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता ने भी यह प्रतिपादन किया है कि शारीरिक सुख की अपेक्षा मन का सुख श्रेष्ठ है और मन के सुखो से भी बुद्धिग्राह्य सुख अत्यन्त श्रेष्ठ है।"[1] गीता को भी यही 'सुख-मात्यन्तिक बुद्धि ग्राह्यम्' वाला सिद्धान्त मान्य है।[2]

अध्यात्म सुख-सिद्धान्त

परन्तु बौद्धिक सुखवादियो के अतिरिक्त एक और उससे अधिक उत्कृष्ट सुख-वाद है, जिसे अध्यात्म सुखवाद कहते है। इस वाद के माननेवालो के मत मे मन-बुद्धि-चित्त-अहकार—अन्त चतुष्टय के परे एक और तत्त्व रहता है—अथवा उसे तत्त्व न कहकर सत् ही कहिये—जिसे आत्मा (Soul) कहते है। यह आत्मा प्रत्येक मनुष्य मे समान रूप से रहती है, जिसको व्यक्तित्व की दृष्टि से जीवात्मा कहते है। घटाकाश एव समुद्र-जल की लहरो या फेन आदि की उपमा देकर वेदान्तियो ने अनेक जीवात्माओ वाले सिद्धान्त की आलोचना कर यह सिद्ध किया है कि समस्त विश्व मे केवल एक सत् है, जो परमात्मा आदि कई सज्ञाओ के द्वारा जाना जाता है। यह सत् केवल अज्ञान अथवा मोहवश छिन्न भिन्न रूप से स्थित हुआ प्रतीत होता है, पर है वह एक ही, जो विश्व के समस्त व्यक्तियो मे—चाहे वे जड रूप हो या चेतन रूप—मणियो अथवा पुष्पो की माला के सूत्र के समान पिरोया हुआ रहता है। इसलिए उपनिषद्-गीतादि मे यह निर्देश किया है कि मनुष्य-मनुष्य मे कोई भेद नही है। जब भेद नही—सब एक ही है—तो फिर भला परस्पर द्वेष-भावना कहाँ से आवेगी, शोक और दुःख कैसे होगा, और कौन किसका

---

१. गीता रहस्य, पृष्ठ ११६।

२. गीता ६।२१॥

नाश कर सकेगा।[1] इस वाद के अनुसार 'मैं-तू' का द्वन्द्व मिटकर बुद्धि और आत्मा एकरस हो जाते है। मैंने बुद्धि के द्वारा आत्म-दर्शन किया, यह द्वन्द्व स्थिति मिटकर यह कहा जाने लगता है कि मैंने आत्मा मे आत्मा को आत्मा के द्वारा जाना।[2] मैं सब मे और सब मुझ मे है। सब भूतो की आत्मा मे मेरी ही आत्मा तथा मेरी आत्मा मे सब भूतो की आत्मा है, मेरा-तेरा ही नही, सर्वत्र आत्मा ही आत्मा।

वेदान्त दर्शन के अतिरिक्त हमारी समझ मे अन्य कोई दूसरा दर्शन ऐसा नही है जो इस एक-भाव का इस प्रकार प्रतिपादक हो। अन्यत्र जहां कही ऐक्य की शिक्षा पाई जाती है वहां बहुधा यह कहा जाता है कि हम सब एक समान है, भाई भाई है—एक ही कुटुम्ब के है—एक ही पिता (ईश्वर) की सन्तान है। कुछ समाजवादी जो ईश्वरवाद को नही मानते, इसको भी कहने मे हिचकते है कि हम सब एक ही पिता की सन्तान होने के कारण भाई भाई हैं। आधिभौतिक दृष्टिकोण होने के कारण, वे यदि भाई भाई कहते है तो केवल इसलिए कि समाज मे रहने के कारण सबके पारस्परिक सम्बन्धो का इतना अधिक गठबन्धन हो जाता है कि एक दूसरे को वही भाई-चारे का नाता मानना पडता है जो हम प्रत्यक्षत एक कुटुम्ब के लोगो

---

१ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते॥ ईशावास्योपनिषद् मन्त्र ६।

अर्थ—जो सम्पूर्ण भूतो को आत्मा मे ही देखता और सब भूतो मे भी आत्मा ही को देखता है तब फिर उसे (किसी के प्रति) घृणा नहीं होती।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥ ई० मन्त्र ७।

अर्थ—जिस समय मनुष्य यह जान लेता है कि सम्पूर्ण भूत अपनी आत्मा ही है तब फिर एकमय देखते हुए मोह और शोक भला कैसे किसको हो सकता है।

यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥गीता ६।३०॥

अर्थ—जो मुझको सब मे देखता है और सबको मुझमे देखता है, उसका न तो म ही नाश कर सकता (अथवा बिगाड सकता) हूँ, और न वह ही मेरा कुछ बिगाड सकता है, (अर्थात् एकीभाव से स्थित होने के कारण जब दो है हो नहीं तब द्वेष ही कहाँ रहेगा)।

२ "ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मान आत्मना" गीता १३।२४ (और भी) "आत्मन्येव आत्मना तुष्ट" गीता २।२५, इत्यादि।

मे पाते है। वेदान्त-दर्शी की दृष्टि मे भिन्नता सूचक जो कुछ दिखाई देता हे वह एक ही के गुण मात्र है, जैसे तेज और प्रकाश नाम का गुण सूर्य-वस्तु की अनिवार्य प्रतीति है, अथवा वह एक ही के अग मात्र है जैसे कि एक ही शरीर के अनेक अग या अवयव होते है। इसी सिद्धान्त का कारण है, कि भारतीय धर्म-शास्त्र एव भारतीय समाज-शास्त्र मे पुरुष-स्त्री को अर्द्धाग-अर्द्धागिनी कहा गया है।

आत्मा को आत्मा के द्वारा देखना अथवा आत्मा को आत्मा मे देखना इस प्रकार के वाक्यो मे 'देखना' आदि शब्दो के आने से स्वय विरोधाभास प्रतीत होता हे। जब सर्वत्र एक ही आत्मा हे तब फिर कौन किसको देखे और कैसे देखे! एक के अतिरिक्त अन्य भाव रह ही नही जाता। धार्मिक उच्च सिद्धान्तो के शब्दो या कथनो मे जो प्रत्यक्ष विरोधाभास कभी कभी दिखाई देता है वह वाणी की शिथिलता का दोष हे, क्योकि जब कभी वह अकथनीय विषय पर बोलने लगती हे तब इधर-उधर की लौकिक उपमाओ के आधार पर आन्तरिक भाव प्रदर्शन करने के प्रयास मे वह थर्राने लगती और परस्पर विरोध-सूचक शब्दो द्वारा अपने भाव को व्यक्त करने लगती हे। यह शास्त्र-सम्मत और अनुभव सिद्ध बात हे। फिर भी उक्त भाव को समझने के अभिप्राय से कल्पना कीजिये कि आप एक समुद्र के किनारे खडे हैं। उसमे स्थित एक जल-कण से यदि पूछा जाय कि तू क्या देखता है तो वह यही कहेगा कि जब मैं हू-ही नही तो देखूगा क्या! हा मैं अपने आपको इस सबमे व्याप्त हुआ अनुभव कर रहा हू और यह सब भी मुझसे भिन्न नही हैं।

पूर्व पाठ का सिहावलोकन

अब हम एक ऐसे मजिल पर पहुँच चुके हे, जहा से गत विवेचन का सिहावलोकन कर लेना हितकर होगा। धर्मप्रवर्तक, जिन्हे आधुनिक काल मे लोग समाज-सशोधक (Reformers) ही कहना पसद करते हे, बहुधा मनुष्य-समाज ही को अपना कर्त्तव्य-क्षेत्र बनाते है। मनुष्य समाज ही उनका विश्व हे और उसी विश्व की सुख-भावना से प्रेरित हो वे अपने विचार-तर्क-कार्यादि को निर्धारित करते है। उनकी सुख भावना का स्वरूप उसी ढग का होता है जिस ढग से वे सृष्टि को देखते है। सृष्टि के केवल बाह्य अथवा शारीरिक रूप वा नाम के दृष्ट आधिभौतिक सुखवादी होते हे अर्थात उनके मतानुसार इन्द्रिय सुख ही प्राप्त करना मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है। परन्तु बौद्धिक सुखवादी इन्द्रिय-सुख को अनित्य और दुष्परिणामी सिद्ध करके मन और इन्द्रियो को सयमित एव निरुद्ध करने पर अधिक जोर देते है, ताकि बुद्धिका निर्मलत्व बढे, क्योकि बुद्धिरूपी दर्पण जिस अश मे निर्मल होता है उसी के अनुसार शुद्ध सुख प्राप्त होता है। निर्मलता प्राप्त

बुद्धि के द्वारा 'आत्यन्तिक' सुख मिलता है, अर्थात् वह सुख जो इन्द्रिय-विषयो के परे रहता है और जो इन्द्रियों के द्वारा मिल भी नही सकता, जैसा कि गीता में कहा है "सुखमात्यन्तिक यत्तद बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्"।[1] जो लोग शास्त्र-कथित तथा शिष्ट जनो के द्वारा बताये हुए अथवा अपने निजी अनुभव-सिद्ध अभ्यास और वैराग्य के विधानो का प्रतिपालन कर अपनी बुद्धि को शुद्ध नही करते, वे यथार्थत बुद्धिहीन ही हैं। ऐसे बुद्धिहीन केवल व्यक्त ससार को ही सर्वस्व जानते है, जैसा गीता मे कहा है "अव्यक्त व्यक्तमापन्न मन्यन्ते मामबुद्धय"[2] अर्थात अबुद्ध लोग मुझ अव्यक्त के केवल व्यक्त भाव का ही विचार करते हैं। व्यक्त ससार को सर्वस्व समझने वाला अबुद्ध मनुष्य ज्यो ज्यो अपनी बुद्धि को शुद्ध करता जाता है त्यो त्यो उसे उज्ज्वल शुद्ध सुख मिलता जाता है, और अन्त मे जब उसकी बुद्धि बिल्कुल स्वच्छ हो जाती है तब वह आत्यन्तिक (अति—अतिक—सब से अन्तवाला अर्थात् सर्वोच्च शिखर के पास वाला) सुख के पास पहुँच जाता है।[3] इस आत्यन्तिक सुख से खिसकने का कोई अवकाश ही न रहे और इसमे भी उच्चतम कोटिके सुख की अनुभूति हो, इस दृष्टि से अध्यात्मसुखवादियो ने एकत्व भाव के द्वारा 'एकान्तिक सुख' (जिसके सिवाय कोई दूसरा सुख न हो अर्थात जो अपरतर सुख हो) का निर्देश किया। अध्यात्मवाद मे जो एकान्तिक सुख की भावना है वही सुख की चरम-सीमा है। यह एकान्तिक सुख क्या है? वह है उस ब्राह्मीस्थिति मे तन्मय या तल्लीन हो जाना, जो सत-रज-तम तीनो गुणो से अतीत होती है।[4] इसे प्राप्त कर लेने वाले को भिन्नत्व अथवा भेद-भाव नही सता पाता।

यह सुख-व्याख्या हुई केवल मनुष्य और केवल समाज के व्यक्तित्व (individuality) की दृष्टि से इसके आगे जब मनुष्य और समाज दोनो के परस्पर-सम्बन्ध की दृष्टि से सुख-व्याख्या की जाती है तब वह सुख-नीति कहलाने लगती

---

१. गीता ६।२१।

२ गीता ७।२४।

३ 'अन्तिक' विशेषण है, और 'अन्तिक' सज्ञा। विद्याधर वामन भिडे के सस्कृत-अग्रेजी कोष मे इनका अर्थ लिखा है 'समीप' 'समीपस्थ' (neighbouring, neighbourhood)। इस दृष्टि से 'अत्यन्तिक' का अर्थ हुआ वह सुख जो 'पूर्णसुख' के समीपस्थ हो। यह बौद्धिक सुख कहलाता है, क्योकि इसमे दृष्टा और दृश्य इन दो का अन्त नहीं हो पाता। जब ये दोनो एक हो जाते हैं तब एकत्व भाववाला 'एकान्तिक सुख' कहाता है।

४ गीता १४।२७।

है। विकासवादियो का ख्याल है कि इस सुख-नीति का विकास स्वार्थ से परार्थ और परार्थ से एकार्थ की ओर बढता हुआ दिखाई देता है, हालाकि व्यवहार मे स्वार्थ, गुप्त या प्रकट रूप से, स्वार्थ-परार्थ-एकार्थ के त्रियात्मक सघर्ष मे, जो अगण्य काल से चला आ रहा है, अभी भी अपने विरोधियो, परार्थ वा एकार्थ को बता बताता जा रहा है।

यह हुई विश्व-सुख-भावना की वह पृष्ठभूमि जिस पर मार्क्स और गाधी ने ५१ वर्ष की जिठाई-लहुराई से दो भिन्न स्थानो मे जन्म लिया। और फिर प्रौढावस्था आने पर दोनो ने अपने निर्देश की ओर अपने अपने अनुकूल मार्गो पर प्रस्थान किया। मार्क्स ने एक राह पकडी भौतिकवाद की, और गाधी ने दूसरी राह पकडी, अध्यात्मवाद की। मार्ग-भेद उत्पन्न होने के साथ ही साथ दोनो मे सुख-विषयक भेद भी उठ खडा हुआ। मार्क्स ने कहा "अधिकाश का अधिकतम सुख ही मेरी सम्मति मे विश्व-सुख है और इसी को प्राप्त करने के लिये मैं अपने मार्ग पर चल निकला हू, परन्तु गाधी ने कहा कि मेरा विश्व-सुख इस सकीर्ण भाव से बहुत आगे है। मैं तो चाहता हू कि मनुष्य समाज का एक एक व्यक्ति अभी से पूर्ण-पूर्ण सुखी हो। सर्व का सर्व सुख प्राप्त करने के लिये मैने अपना दूसरा मार्ग पकड रखा है।

४
सामाजिक पृष्ठभूमियाँ और जीवन वृत्तान्त

जीवन और परिस्थितियो का सम्बन्ध

परिस्थितियाँ मनुष्य को बनाती हैं। और मनुष्य परिस्थितियो को प्रभावित करता है, ऐसा बहुधा कहा-सुना जाता है, और वह है भी अधिकाशत सत्य अत. यदि मानव जीवन की सक्षिप्त परिभाषा करने के लिये कहा जाए तो हम यह कहेंगे कि सस्कार-समुच्चय को ही मानव जीवन कहते है। अथवा नैय्यायिको के शब्दो मे यह कहेंगे कि मानव जीवन कार्य-कारण-सम्बद्ध व्यक्तित्व के नाम को कहते हैं। जब हम किसी महापुरुष के आचार-विचार अथवा मत की चर्चा करते है, तो हमारे मन मे सर्वप्रथम यह जानने की उत्कण्ठा होती है कि उस महापुरुष का जन्म कब, कहा और किन स्थितियो मे हुआ, किस ढग से वह पाला-पोसा गया, कितनी-क्या उसकी शिक्षा थी, कितना किस प्रकार उसने अपने कर्तव्य को निवाहा और मन-वच-कर्म (Thoughts-Word-Deed) तीनो मे कहा-कितना उसने मेल रखा, तथा कहा-कितना अनमेल इत्यादि। यदि इन बातो का आवश्यक ज्ञान न हो तो उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नही हो सकती। जब श्रद्धा नही, तो प्रेम नही, और जब प्रेम नही, तो भक्ति नही अर्थात् उसके बताये हुए मार्ग का अनुशीलन नही हो सकता। अत हमारा कर्त्तव्य यह हो जाता है कि मार्क्स और गाधी के बताये हुए मार्गो मे प्रवेश करने के पूर्व हम इस अध्याय मे उनके जन्म, तथा जन्म होने के पूर्व, एव पश्चात् की स्थितियो पर कुछ थोडा सा प्रकाश डाले, जिससे हमे यह मालूम हो जाय कि कार्य-क्षेत्र मे उतरने से पहिले उक्त महापुरुषो के जीवन-पटो पर परिस्थितियो का अकन किस प्रकार होता रहा होगा, और कार्य-क्षेत्र मे उतरने के बाद उनके प्रधान कार्य क्या रहे।

मार्क्स का जीवन-काल

ता० ५-५-१८१८ ई० से १४-३-१८८३ ई० तक, आयु ६४ वर्ष

यूरोपीय त्रिविध परिस्थितियाँ

मार्क्स आर्थिक समाज-सुधारक था, इसलिये सम्भव है कि कुछ पाठक यह

कहने लगे कि हमे उपर्युक्तकालीन राज्य-व्यवस्थाओ, धर्म-संस्थाओ, एव सामाजिक अन्य पद्धतियों से क्या प्रयोजन ? परन्तु यह भूल है। एकागी होने पर भी समाज-सुधारक को समाज के प्राय सभी अगो पर ध्यान रखना पडता है। अन्य अगो को मार्क्स ने कहाँ तक छुआ या नही यह अभी हमारा प्रसग नही है। हमारा प्रसग है, उन सभी सामाजिक परिस्थितियो पर प्रकाश डालना, जो यूरोप मे, मार्क्स के जन्म के पूर्व से लेकर उसकी प्रौढावस्था तक फैली हुई थी। उन्हे ठीक प्रकार से समझने के लिए हमारे दृष्टिकोण तीन होने चाहिये। एक तो यह कि उस समय की राज्य-व्यवस्थायें कैसी थी और राज्य-प्रजा का कैसा सम्बन्ध था, दूसरा यह कि तत्कालीन धर्म-व्यवस्था का प्रभाव कहा-कितना था, और तीसरा यह कि समाज की अर्थ-शास्त्रिक अथवा साम्पत्तिक व्यवस्था किस ढग की थी तथा सामाजिक वर्गीकरण कैसा था। आगे जब आप मार्क्स के सिद्धान्तो को देखेंगे तो पता चल जायगा कि उनका कार्य-क्षेत्र जो प्रत्यक्ष मे केवल पूजीपति और श्रमिक को एक श्रेणी मे करने का था, उपर्युक्त स्थितियो से विलग नही रह सका।

यूरोपीय राजनैतिक स्थिति

मार्क्स के जन्म से पूर्व यूरोप के प्राय सभी देशो मे साम्राज्य का दौर-दौरा था। प्रत्येक भाग-उपभाग मे निरकुश-अनियन्त्रित (absolute) राजा-उपराजा राज्य करते थे। परन्तु दबी हुई प्रजा भी प्रत्येक स्थान मे परिस्थितियो के अनुकूल स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए छटपटाती थी। सबसे पहले फ्रान्स के लोगो ने सन् १७८९ मे इस ओर कदम उठाया, जो फ्रास के विप्लव के नाम से प्रसिद्ध है। चर्च (गिरजा) राज्य और सामाजिक असाम्य, इन तीनो के विरुद्ध उठी हुई आवाजे ज्वालावत विप्लव बनकर फैल गयी, जिसकी आच दूसरे देशो तक भी पहुंची। यह क्रान्ति-काल मार्क्स-जन्म के तीन वर्ष पूर्व सन् १८१४ तक रहा। इसके दौरान मे अवसर-प्राप्त दल एक के बाद एक उठे, अप्रबुद्ध जन (mobs) उभडे, आपस की खून-खराबियाँ हुईं, तथा प्रजा को कुछ अधिकार देने वाले विधान भी एक के बाद एक बनते मिटते गये। इसी काल मे नेपोलियन का दौर-दौरा यूरोप भर मे फैला। उसने फ्रास तथा अपने अधीनस्थ देशो मे अपने इच्छानुकूल रिपबलिकें (republics) स्थापित की। परन्तु उपयुक्त अवसर हाथ आने पर रिपबलिको को बालाये-ताक रख वह स्वय फ्रास का बादशाह और इटली का राजा बन बैठा—अन्त मे सन् १८१५ मे व्हीना (Vienna) मे सगठित किये हुए यूरोपीय राज्य-सघ के द्वारा युद्ध मे हराया गया और कैद कर लिया गया। मार्क्स की जन्म-भूमि, जर्मनी भी इस क्रान्ति की आच से नही बच सकी। परन्तु उसका एक अजीब हाल और

था। उसकी केन्द्रीय शक्ति अर्थात् रोम-बादशाहत, जिसके अधीनस्थ वह थी, मृत-प्राय हो चुकी थी। उसका इतना ह्रास हो चुका था कि जर्मनी के अन्तर्गत छोटे छोटे राज्य-उपराज्य बहुत अधिक संख्या में बढ़ गये थे। नेपोलियन आदि अन्य विदेशी लोग समय समय पर उस पर धावा करते रहे, और उन्होंने अपने अपने मतलब सिद्ध करने के लिये कभी किसी खण्ड को बढ़ाया-घटाया, तो कभी किन्हीं खण्डों को छोड़ किन्हीं दूसरों का संघ अपनी संरक्षकता में बनाया।

जर्मनी के इन विभागों में से दो विभाग बड़े बड़े थे। एक उत्तर-स्थित प्रशिया था, जहां मार्क्स का जन्म हुआ था, और दूसरा दक्षिण-स्थित, आस्ट्रिया। अन्य छोटे छोटे भागों में से कोई प्रशिया का साथी था, तो कोई आस्ट्रिया का। गरज यह कि जर्मनी का यह खण्डहर दृश्य प्रशिया के प्रधान मंत्री राजनीति-कुशल बिस्मार्क के काल तक रहा, जिसने सन् १८६६ में आस्ट्रिया को हराकर प्रेग की सन्धि के अनुसार उसका (आस्ट्रियाका) सम्बन्ध जर्मनी से विच्छेद कर दिया, और उत्तरीय राज्यों का, जो प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बी थे, प्रशिया के अधीनस्थ एक संघ (Confederation) बनाया, तथा दक्षिण के चन्द स्टेट, जो कैथोलिक मतावलम्बी थे, स्वतंत्र रखे। परन्तु वे भी सन् १८७१ में प्रशिया के साथ संयुक्त हो गये, और जर्मनी के समस्त राज्य-खण्डों का एक संयुक्त संघ बन गया जिसने प्रशिया के राजा को अपना सम्राट स्वीकार किया। इस तरह जर्मनी ने यद्यपि ऐक्य तो प्राप्त कर लिया, पर वह ऐक्य था, फौजी शक्ति की डोरी से कसा हुआ छोटे-बड़े स्वतंत्र पच्चीस खण्डों का जोड़, वह ऐक्य था साम्राज्य के बल का, न कि प्रजा-स्वातंत्र्य के प्रेम का। यह ऐक्य था साम्राज्य के अनियंत्रितत्व को कुछ हद तक सीमित कर देने वाला। सच पूछा जाय तो हमारे उपर्युक्त वृत्तान्त को सन् १८७१ तक नहीं बढ़ना था। उसे सन् १८४८ की क्रान्ति ही पर ठहर जाना चाहिये था, क्योंकि उसी साल में मार्क्स और उसके साथी फ्रेड्रिक एंगिल्स के द्वारा जगत्प्रसिद्ध कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो (Communist Manifesto) अर्थात् कम्यूनिस्टों का घोषणा पत्र तैयार किया जाकर लन्दन से प्रकाशित हुआ, जैसा कि आगे इसी अध्याय में बताया गया है। हमारे मन्तव्य में यह एक ऐसा काल-स्थान है जहां से यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के सिद्धान्तसूर्य का प्रकाश जगत् के ख्याति-गगन में प्रखर हो चला, इसलिये यदि सन् १८४८ की दृष्टि से देखा जाय तो जर्मनी की उस समय वही पूर्ववत् विच्छेद-दशा थी जैसी कि फ्रांस-क्रान्ति काल में थी। फ्रांस-क्रान्ति की सर्वव्याप्त ज्वाला समाप्त हो जाने के पश्चात् प्रजागण की छटपटाहट स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिये कम नहीं हुई। हृदय-स्थित यह चिनगारी एक बार फिर सारे यूरोप में सन् १८३० में भभक उठी। परन्तु इस बार भी प्रतिक्रिया

रूप राज्य-शासनाधिकारियो ने उसे बुझा दिया। इसी तरह सन् १८४८ की पुन उठी हुई क्रान्ति दबा दी गई। जो कुछ भली बुरी नाम-चार की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थापक सभाये अर्थात् पार्लामेण्ट आदि बीच मे बन गई थी, वे प्राय सब की सब प्राय सभी राज्यो मे भग कर दी गई और साम्राज्ञी शासनो की प्रधानता रही। प्रशिया और आस्ट्रिया मे भी यही गति रही। सारांश यह है कि एक ओर प्रजा स्वतन्त्रता के लिये तडप रही थी, और दूसरी ओर उस पर साम्राज्यवाद का घोर आतक हो रहा था।

यूरोपीय धार्मिक स्थिति

जिस प्रकार राजकीय परतन्त्रता के नरक मे पडी हुई प्रजा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए व्याकुल थी, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे भी वह अन्याय-पूर्ण पराधीनता के वश मे कल्हार रही थी। यथार्थ मे धार्मिक पराधीनता से निकल भागने के लिये जो क्रान्ति उठी, वह राजकीय क्रान्तियो के पहले की है, क्योकि जो काटा सब से अधिक कसकता है वही पहिले निकाला जाता है। बात यो थी, कि ईसाई धर्म की सस्थाओ का सगठन और कार्य क्रमश इतना बढ गया था कि उसके प्रधान अधिपति पोप का तथा उसके अधीनस्थ बिशप, क्लर्जी आदि का प्रभाव राज्याधिकारियो पर भी इतना अधिक पडता था कि इतिहासज्ञ यह कहने लगे कि "मध्य-काल की समस्त प्रकार की सस्थाओ की अपेक्षा गिरजा सस्था (Church) सबसे अधिक शक्तिशालिनी थी, क्योकि नव-अशिक्षित ससार मे वह पुरोहित और शिक्षक का काम करती थी।[1] वह सम्पत्तिशालिनी और भूमिस्वामिनी भी बन बैठी थी। यहा तक कि रोम-बादशाहत तक से टक्कर लेने लगी थी। परन्तु सदा का यह नियम है कि शक्ति थोडे ही दिनो के पश्चात् अपनी गोद मे दुराचार और भ्रष्टाचार का पालन-पोषण करने लगती है। इसी नियम के अनुसार गिरजा मे अनेक दूषण उत्पन्न हो गये यहा तक कि पापो से मुक्त करने वाले पत्र जो इन्डलजेन्सेज (Indulgences) कहे जाते थे बेचे जाने लगे, और कई प्रकार के कर वसूल किए जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि घोर विरोध उठा, और जर्मनी मे लूथर ने सन् १५१७ मे बाइबिल के सिद्धान्तो का यथार्थ भाव प्रकट कर चर्च अधिकारियो

---

१ "Of all the institutions in the Middle Age, the Church because she held the position of both priest and teacher of the young barbarian world, was by far the most powerful" T & S's History of Europe, P 238-39

की पोलें खोलनी शुरू कर दी जैसा कि मार्क्स के समकालीन आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १९वीं शताब्दी में भारत के पुजारी-पंडो की पोलें खोली थी। बस! क्रान्ति की आग भडक उठी जो धीरे धीरे यूरोप भर में किसी न किसी रूप में फैलती गई। मनुष्य-मनुष्य ही में नहीं, दल-दल में ही नहीं, वरन् राज्य-राज्य में भी लडाइया छिड गई। एक पक्ष में पुराने मत वाले और दूसरे पक्ष में जर्मन-निवासी लूथर एव जिनीभा-निवासी केलमिन[1] के अनुयायी, जिन्हे विरोध (Protest) करने के कारण प्रोटेस्टेण्ट्स (Protestants विरोधक) कहते थे, युद्ध-क्षेत्र में डट गये। यह क्रान्ति धर्म में शोधन अथवा केवल संशोधन (Reformation) के नाम से प्रसिद्ध है, और इसके हेतु जो युद्ध हुए उन्हे इतिहास में धर्मयुद्ध कहा जाता है। यह काल सन् १५१७ से प्रारम्भ होकर सन् १६४८ तक चला। सन् १६४८ मे वेस्टफेलिया की सधि हुई, जिसके फलस्वरूप नये मत के प्रति भी सहिष्णुता का बर्ताव प्रारम्भ हो गया, परन्तु यह सहनशीलता केवल उच्च और सुसंस्कृत वर्गों के बीच तक ही रही। कहाँ[2] इस काल की आगामी डेढ सौ वर्षों में विचारशील, भव्य साहित्यज्ञों के कारण इस सिद्धान्त का प्रसार समाज की निम्नश्रेणी के लोगो में भी क्रमश बढता गया, जो फ्रास के विप्लव काल में मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति बन गया। फ्रास-विप्लव का अन्त सन् १८१५ में हुआ था, यह हम अभी पहले कह चुके हैं कि किसी सिद्धान्त को मान्यता देना एक बात है, और उसी को कार्यान्वित करना बिलकुल दूसरी बात। पारस्परिक सहनशीलता का सिद्धान्त व्यक्तिगत रूप से मान्य हो जाने पर भी वह आपसी द्वेषाग्नि को नही बुझा सका। फलत सन् १८३० और सन् १८४८ की क्रान्तियो में उभय मतावलम्बी राजो के बीच यदा-कदा संघर्ष होता रहा, और लौकिक कारणो की ओट मे एक मतवाला दूसरे मतवाले के गले पर छुरी चलाने के लिये मौका-तलब बना रहा। सिद्धान्त रूप में व्यक्तिगत धार्मिक स्वतत्रता प्राप्त हो जाने पर भी एक अवाछनीय कानून बना ही रहा। प्रत्येक राजा का शासन अपने राज्य-कोष से राजपुरोहितो को वेतन देता था और गिरजा-सम्बन्धी अनेक कार्यों में दानादि भी देता था। ये राज-पुरोहित गिरजा के कार्यकर्ता रहते थे। स्वाभाविकत राजा के मतानु-

---

१ केलमिन यथार्थत फ्रान्स निवासी था। प्रोटेस्टेण्ट मत का कट्टर अनुयायी होने के कारण उसे फ्रान्स से निकाल दिया गया। देश-निकाले की हालत मे वह जर्मनी और स्विटजरलैण्ड मे रहा। बाद मे प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बी लोगो ने उसे जिनीभा मे बुला लिया।

२ T & S's History of Europe, P 364

कूल राज-पुरोहित कैथोलिक या प्रोटेस्टेण्ट रहा करते थे। राजकोष प्रजा की सम्पत्ति समझी जाने लगी थी। अत जब धर्म-सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थापना हो चुकी तो राज-कोष मे से किसी भी पोप, बिशप आदि को वेतन देना अथवा गिरजादि के लिये किसी भी रूप मे द्रव्य का व्यय करना अन्याय समझा जाने लगा। ज्यो ज्यो लोग धर्म-सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को अपनाते गये त्यो त्यो यह भावना भी बढती गई। यही, हमारी समझ मे, एक मूल कारण है, जैसा आप आगे चलकर देखेंगे कि मार्क्सवाद मे धर्म-सम्बन्ध-विच्छेद के लिए आग्रह किया जाना अनिवार्य समझा गया।

यूरोपीय आर्थिक स्थिति

राजकीय और धार्मिक व्यवस्थाओ पर विचार कर लेने के पश्चात् अब हमे उस आर्थिक व्यवस्था पर आ जाना चाहिये जो सन् १८४८ के पूर्व विद्यमान थी। मार्क्सवाद का यही प्रधान लक्ष्य है। जब से समाज मे अर्थ-सचय प्रारम्भ हुआ तभी से प्रतीत होता है, समाज पृथक्करण वर्गो के रूप मे आरम्भ हो गया। साम्पत्तिक कारणो से उत्पन्न वर्गो के बीच मे सदैव आपस मे झगडा बना रहना इतिहासज्ञो ने देखा है। मार्क्स ने स्वय यह कहा है कि न "अभी तक जो समाज स्थित है उसका इतिहास (यथार्थत) वर्ग-सघर्ष का ही इतिहास है। ये वर्ग एक दूसरे के निरन्तर प्रतिद्वन्द्वी होकर फ्रीमेन और स्लेभ, पेट्रीशियन और प्लीबियन, लार्ड और सर्फ, गिल्डमास्टर और जर्नीमेन, अथवा एक शब्द मे, पीडक और पीडित बनकर लगा-नार एक दूसरे के विरोधी बने रहे है, कभी ओट लेकर और कभी प्रकट होकर लडते रहे। परिणामस्वरूप कभी तो समाज का क्रान्तिकारी पुनर्संगठन हुआ और कभी दोनो प्रतिद्वन्द्वियो का विनाश।"[1]

सन् १८४८ मे क्या, अभी भी समाज का वर्गीकरण प्राय सब स्थानो मे अल्प दीर्घ भेद से वैसा ही है, जैसा कि माध्यमिक काल के अन्त और आधुनिक काल के प्रारम्भ मे था। फ्रेन्च क्रान्ति के समय के फ्रास के वर्गो का वर्णन करते समय थेचर और शुइल ने कहा है कि फ्रास के समाज का वर्गीकरण सम्पूर्ण यूरोप की भाति था। सामन्त काल मे दो प्रधान वर्गो का मान था, जो राज-कीय कार्यो मे भाग लेने वाले रहते थे। वे थे क्लर्जी और नोबिल्स (nobles) अर्थात् धनी-मानी कहलाने वाले लोग। क्लर्जी वर्ग के अन्तर्गत चर्च से सम्बन्धित

---

१. कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो (प्रथम खण्ड)।

प्रीस्ट (पुरोहित) आदि सभी प्रकार के कार्यकर्त्ताओं का समावेश हो जाता है। ये दोनों वर्ग के लोग केवल सम्पत्तिवान और भूमिपति ही न थे वरन् राज्य-करों से भी मुक्त थे। पद-प्राप्ति, पुरस्कार, सेना आदि के उच्च पदाधिकारी होना, इत्यादि इत्यादि के भोक्ता ये ही रहा करते थे। फ्रान्स में तो ये दोनों वर्ग फ्रांस की प्राय आधी भूमि के स्वामी भी थे। इन उच्च दो वर्गों के अतिरिक्त एक माध्यमिक वर्ग भी उन लोगों का था जिन्हें फ्रान्स में तीसरा वर्ग (Third Estate) कहते थे और जिन्होंने अन्य व्यापारों के द्वारा धन संचय कर लिया था। वे लोग धीरे धीरे अपनी कठिन कमाई के कारण निठल्ले और खर्चीले नोबल्स की अपेक्षा अधिक सम्पत्तिवान, विद्यावान तथा प्रगतिमान बन गये थे। इसी वर्ग को बुर्जुआ कहते हैं जिसकी चर्चा आपको मार्क्सवाद में बारबार मिलती है। परन्तु एक और चौथा वर्ग (Fourth Estate) था, जो बुर्जुआ वर्ग से भी निम्न श्रेणी का था। इस श्रेणी में दो प्रकार के महान् दरिद्र लोग थे। एक तो थे शहराती मजदूर जिनमें से कुछ तो दूसरों की मजदूरी करते थे, और कुछ अपना घरू टुटपुंजिया रोजगार (जैसे बढ़ई, लोहार आदि के काम) अपने हाथ से करके पेट पालते थे। इन्हें प्रोलिटेरियेट कहते थे। इनकी चर्चा भी मार्क्सवाद में हर स्थान पर मिलती है। दूसरे लोग थे देहाती किसान जो हथ-मेहनत करके कृषि से अपनी गुजर-बसर करते थे। इन्हें पेजेन्ट कहते थे इनकी दशा शहराती मजदूरों से भी गई-बीती थी। इन पर कर-बोझ इतना अधिक था कि कठिन परिश्रम से टपकता हुआ पसीना भी उन्हें तथा उनके बाल-बच्चों को भर-पेट भोजन नहीं दे सकता था। भूमिपति को कर (लगान) देना, चर्च को कर (टाइथ) देना, राजा को कर देना—जहां देखो वहां कर। इतने पर तुर्रा यह था कि सामन्त लोगों को यह अधिकार प्राप्त था कि वे बेरोक-टोक अपने दल-बल सहित शिकार खेल सकते थे। सामन्त दल के इस शौक में किसान किसी प्रकार बाधा नहीं डाल सकता था। वह न तो अपनी फसल की रक्षा बाड़ी आदि लगाकर कर सकता था और न वह शिकारियों को फसल रौंदने से रोक सकता था। यह था वह भीषण दृश्य जो फ्रान्स में विस्फोटक रूप में फूट पड़ा था। आगे चलकर समाज-व्यवस्था में अधिक अर्थसंचय के कारण बुर्जुआ वर्ग के लोग पूंजीपति (Capitalists) कहलाने लगे। नवीन आविष्कारों के द्वारा बढ़ते हुए मशीन-युग ने अर्थोत्पत्ति के साधनों में इतना अधिक परिवर्तन कर दिया कि सम्पत्ति पूंजीपतियों के हाथ में सिमटती गई, और दरिद्रता मजदूर दल के गले में चिपटती गई। इसी दयनीय दशा में मार्क्स का जन्म हुआ जो उसीने मार्क्सवाद को जन्म दिया, जिसका स्पष्टीकरण यथास्थान आगे मिलेगा।

मार्क्स के जीवन-काल की संक्षिप्त सूची

अब जब हमारे नेत्रो के सामने यूरोपीय समाज की राजकीय, धार्मिक एव आर्थिक तीनो व्यवस्थाओ का दृश्य खिच गया तब हमे मार्क्स के जन्म और जीवन-काल पर दृष्टि डाल लेना चाहिए। हमने उनके जीवन को निम्न चार विभागो मे विभक्त करना उचित समझा हे।

(१) सन् १८१८ से सन् १८४१ तक (२५ वर्ष)

जन्म-काल से शिक्षा-समाप्ति तक

मार्क्स का जन्म एक धनी अच्छे पढे-लिखे ज्यू खानदान मे सन् १८१८ ई० मे ट्रायर (रीनिस प्रशिया) मे हुआ था। उनके पिता वकील थे जिन्होने सन् १८२४ मे प्रोटेस्टेण्ट मत को स्वीकार कर लिया था। मार्क्स ट्रायर कालेज से ग्रेजुयेट हुए। तत्पश्चात् बोन (Bonn) विश्वविद्यालय मे भरती हुए और फिर वर्लिन विश्वविद्यालय से सन् १८४१ मे डाक्ट्रेट की डिग्री प्राप्त की।

(२) सन् १८४२ से सन् १८४५ तक (४ वर्ष) व्यावसायिक जीवन के प्रारम्भिक काल

पत्रकारिता और प्राथमिक लेखक जीवन—मार्क्स के पूर्व हेगल नाम का एक बडा भारी तत्त्ववेत्ता हो गया था। वह आदर्शवादी (Idealist) था। हेगल के अनुयायी दो भागो मे विभक्त हो गये थे। एक दक्षिण पक्ष वाले और दूसरे वाम पक्ष वाले। मार्क्स को वामपक्ष अच्छा लगा। वामपक्ष वालो ने हेगल के तत्वज्ञान से निरीश्वरवादी तथा क्रान्तिकारी निष्कर्ष निकाले, और दक्षिण पक्षवालो ने इसके विपरीत भावात्मक सिद्धान्त ढूढे। मार्क्स न्यायदर्शन (jurisprudence) इतिहास और तत्वज्ञान का विद्यार्थी रह चुका था, और इसीक्यूरस के तत्व-ज्ञान मे डॉक्ट्रेट की थी। इसलिये उसकी इच्छा थी कि वह बोन विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर हो जावे। परन्तु तत्कालीन प्रतिक्रियात्मक गवर्नमेण्ट के कारण उसने नौकरी नही की और सन् १८४२ मे पत्रकारिता स्वीकार की। कोलोन (Cologne) मे कुछ वाम हेगीलियन्स मतवालो ने 'रीनिशीजीटुग' नामक पत्र की जनवरी सन् १८४२ मे स्थापना की और अक्टूबर सन् १८४२ मे मार्क्स को उसका सम्पादन सौंपा गया। इसलिये वह बोन से कोलोन चला गया। परन्तु यह हम देख ही चुके है कि उस समय की गवर्नमेण्ट प्रतिक्रियात्मक साम्राज्यवादी थी इसलिए उस पत्र के सम्पादकत्व से मार्क्स को शीघ्र ही त्याग-पत्र देना पडा और पत्र

भी सन् १८४३ के मार्च मे बन्द हो गया। सन् १८४३ मे उसने अपना विवाह किया और पेरिस गया। पेरिस से उसने एक क्रान्तिकारी पत्र का प्रकाशन किया और जर्मनी मे गुप्त रूप से उसका वितरण कराया गया। परन्तु वह भी शीघ्र ही बन्द हो गया। सन् १८४४ मे उसकी फ्रेडरिक एंगिल्स से मित्रता हुई जो उसका चिरसाथी रहा। अन्त मे सन् १८४५ मे प्रशिया सरकार के आग्रह पर फ्रान्स सरकार ने उसे भयकर क्रान्तिकारी करार देकर पेरिस से निकाल दिया। इस काल मे उसने अर्थ-शास्त्र का खूब अध्ययन किया, तत्कालीन व्यवस्थाओ, विशेषकर अस्त्र-शस्त्र-युद्धो की अत्यन्त तीव्र आलोचनाये की, एव जन-साधारण और श्रमिको के हेतु आवेदनाये प्रकाशित की।

(३) सन् १८४६ से १८४९ तक (४ वर्ष) ख्याति रश्मियाँ

साम्यवादी घोषणा-पत्र और निर्वासन-काल

सन् १८४५ मे मार्क्स पेरिस से बेलजियम की राजधानी ब्रुशेल्स को चला गया। सन् १८४७ मे वह और एंगिल्स कम्यूनिस्ट लीग के सदस्य हुए, जो श्रमिको का अन्तर्राष्ट्रीय सगठन था, और जो गुप्त रूप से प्रचार का काम करता था। उसी साल मे उस लीग की द्वितीय काग्रेस का अधिवेशन लन्दन मे हुआ, जिसमे उन दोनो ने भाग लिया। उस अधिवेशन ने दोनो को यह अधिकार दिया कि वे कम्यूनिस्ट मत का एक घोषणा-पत्र लिखे ताकि उसका प्रकाशन किया जाय। इस अधिकार के अनुसार उन्होने प्रसिद्ध कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो (साम्यवादी घोषणा-पत्र) तैयार किया जो फरवरी सन् १८४८ की फ्रेन्च क्रान्ति के कुछ हफ्ते पूर्व लन्दन मे छपकर वहा से प्रकाशित किया गया।

जब सन् १८४८ की क्रान्ति उठी तो मार्क्स को बेलजियम से निर्वासित कर दिया गया। वहा से वह पुन पेरिस गया। पेरिस से फिर जर्मनी पहुँचा, फिर कोलोन जाकर वही पुराना पत्र 'न्यूरो निगजीटुग' नाम का प्रकाशन शुरू किया परन्तु सरकार की ओर से उस पर सन् १८४९ मे मुकद्दमा चलाया गया। मुकद्दमे से तो वह मुक्त कर दिया गया, पर मुक्त होते ही उसी साल मे जर्मनी मे उसका निर्वासन हो गया। तब से वह लन्दन मे रहा।

(४) सन् १८५० से मार्च सन् १८८३ तक (३३ वर्ष)

मृत्यु-पर्यन्त लन्दन-वास

इस काल मे मार्क्स ने बहुत से उपयोगी लेख और ग्रन्थ लिखकर अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन और समर्थन किया। इतना ही नही, उसे उन्हे व्यावहारिक क्षेत्र मे

कार्यान्वित करने के लिये सन् १८६४ मे लन्दन मे एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठन की स्थापना करनी पडी। उसमे फूट हो जाने के कारण सन् १८७२ मे यूरोप से हटाकर उसकी जनरल कौन्सिल को न्यूयार्क (अमेरिका) मे ले जाना पडा। यह बहुधा देखा जाता है कि जब कभी कोई क्रान्ति उठती है तो उसकी प्रतिक्रिया होना भी प्रारम्भ हो जाता है। कुछ दल ऐसे भी खडे हो जाते है जो प्रकट मे क्रान्ति को सफलीभूत बनाने मे सहायक प्रतीत होते हैं परन्तु अन्त मे यथार्थत वे बाधक रूप ही सिद्ध होते है। इसी प्रकार के बाधक मार्क्स के मार्ग मे खडे हो गये थे। उन सबके सिद्धान्तो और क्रियाओ की आलोचना करना, प्रतिक्रिया वाली सरकारो का मुकाबला करना, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिको का सगठन कर अपने कार्य को बढाना—ये सब करना अकेले मार्क्स के लिये इतना कठिन हो गया कि उनका स्वास्थ्य सहन न कर सका और अपनी पत्नी के देहान्त के चौदह माह बाद १४ मार्च सन् १८८३ मे उनका स्वर्गवास हो गया। एक धनी पिता का पुत्र, सर्व-समाज का सेवक, गरीबो का भक्त स्वदेश-निर्वासन को भोगता हुआ, भीषण निर्धनता के चगुल मे फस अपना तथा अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करने मे असमर्थ, मार्क्स ससार से तो चला गया, परन्तु वह छोड गया है अपना मत जिसकी ओर ससार दौडा जा रहा है।[1]

गाँधी का जीवन-काल १-१०-१८६९ से ३०-१-१९४८ तक (आयु ७८ वर्ष ३ माह)

भारतीय राजनैतिक स्थिति

गाधी के जन्म-देश, भारत की प्राचीनतम् सामाजिक व्यवस्था की झाकी यदि दो-चार वाक्यो के द्वारा व्यक्त की जाय तो यह कहा जा सकता है कि उसकी राजनीति और अर्थ-नीति धर्मनीति से इस चतुरता के साथ बाध कर रखी जाती थी कि कही असामजस्य न होने पावे। 'धर्म' शब्द कर्त्तव्य का पर्यायवाची था। इसलिये हम यह कह सकते है कि "प्राचीन समाज की मूलभित्ति अधिकार पर नही, किन्तु कर्त्तव्य पर थी। प्राचीन राजवर्ग भी समाज का उसी प्रकार गुलाम था जिस प्रकार साधारण मनुष्य। प्रचलित परिपाटी का अतिक्रमण-सगठन का विरोध उनके लिये

---

१ काल-विभागो को छोडकर मार्क्स-जीवन-सम्बन्धी बाकी समस्त उपरोक्त घटनाओ का उल्लेख हमने लेनिन द्वारा लिखित 'कार्ल मार्क्स' नामक पुस्तक के आधार पर किया है।

उतना ही कठिन था जितना किसी साधारण मनुष्य के लिये।"[1] यूरोप का प्रथम गुरु यूनान (ग्रीस) माना जाता है। मिस्र (इजिप्ट) तथा ईरान (परसिया) की सभ्यता भी पुरानी मानी जाती है। परन्तु इन सब पर भारत की प्राचीनतम संस्कृति की छाप लगी थी। राज्य-पद्धतियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाने वाली गणराज्य अथवा जन-तंत्रात्मक राज्य-प्रणाली यहां उस समय प्रचलित थी जब अन्य देशों का तमोयुग था।[3] विदेशी व्यापार और नाविक विद्या की दृष्टि से भी प्राचीन काल में भारतवर्ष का मान था।[4] यदि रामायण कथित और महाभारत में कही हुई बातों को काल्पनिक गाथायें कहकर न उडा दी जाय तो वायुयान विद्या, आकाश-युद्ध-नैपुण्य इत्यादि भी बूढे भारत में विद्यमान थे। परन्तु समय ने पलटा खाया। विदेशियों ने भारत पर आक्रमण किये। मुसलमान कौमों का एक के पश्चात् दूसरों का आधिपत्य जमा। कोई खून-खच्चर कर और धन दौलत लूटकर अपने घर वापिस चले गये, कोई यहां पर बस गये। प्राचीन सभ्यता-संस्कृति मिटाई जाती रही, और नवीनता का मिश्रण होता गया। इस तरह जब हम इतिहास के आधुनिक काल में प्रवेश करते है तो देखते हैं कि भारतवर्ष मुगल सम्राटों के अधीनस्थ है। हिन्दू और मुसलमान दो बडी जातियां इसके निवासी हैं। दोनों में देश के नाते भाई-चारा बरता जा रहा है। परन्तु भारतीय वैभव ने यूरोपीय जातियों की तृष्णा को भडकाया, जिसके कारण पोर्तगीज, डच, फ्रेन्च और अंग्रेज क्रमश व्यापारियों के भेष में घुसते आये, और हाथ-पैर-पसार-मुहफेर-व्योवहार करते हुए उन्होंने अपने अपने सशस्त्र व्यापारी अड्डे जमा लिये एवं फूट का बीज बोया। फिर इस फूट का लाभ उठाकर अपने अपने राज्य कायम करने के लिये आपस में लडने लगे। अन्त में अंग्रेजों ने ही विजय पाकर हिन्दुस्थान में अपना राज्य स्थापित किया। परन्तु स्वतंत्रता किसे प्रिय नहीं होती? स्वतंत्रताप्रिय भारत की कुछ जनता ने सन् १८५७ ई० में करवट बदली। पर राज्य की छल-बल-कल नीति के कारण उसे फिर सो जाना पडा। इसके पश्चात् देश के स्वतंत्र होने की दूसरी विधि सोची।

---

१ सरस्वती (मई सन् १९२२)।

२ "The Bible in India" के आधार पर।

३ देखो अथर्ववेद काण्ड ३, सूक्त ४–५ पर दामोदर सातवलेकर की टीका, पृष्ठ ४३ पर, और अथर्व० का० ७, सू० १२, मंत्र १–२।

४ देखो "Wake up India" जिसमें ऋग्वेद, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं।

नि शस्त्र कर ही दिये गये थे, 'कोई नृप होय हमे का हानी' का पाठ पढ हुए ही थे, शान्ति-अमनचैन-की गूज ने कायरता को हृदय मे ठूँस ही दिया था, और केवल वाणी-शस्त्र का प्रयोग कर वाक्य-आन्दोलन का मत्रक सिखा ही दिया था, इसलिए कुछ लोगो ने अखिल भारतीय काग्रेस की स्थापना सन् १८८५ मे की। अत भारत की राजनैतिक स्थिति यद्यपि उस भाति जटिल और मिश्रित नही थी, जैसी यूरोप की थी, जहा पर एक राज्य दूसरे राज्य से गुथा हुआ था और एक जगह की आग दूसरी जगह सहज ही मे फैल जाती थी तथापि वह दूसरे प्रकार से उससे भी अधिक जटिल और कठिन थी। एक ओर जनता कई शताब्दियो से परतन्त्रता की अफीम की गोली खाई हुई सी बेहोश पडी थी, तो दूसरी ओर वह व्यावहारिक कर्त्तव्य क्षेत्र मे मुंह मोडे हुए शाब्दिक आन्दोलन मे मुक्ति-द्वार को देख रही थी। वह सोच रही थी कि इसी वाक्-आन्दोलन से वह भाति-भाति के फूट-बीजो को उखाड फेकेगी, और पृथ्वी-तल के साम्राज्यो मे से सब से अधिक शक्तिशाली साम्राज्य की बगल से स्वतन्त्रता को छीन लेगी। गाधी के कर्तव्यारूढ होने के पूर्व की यह भारतीय राजनैतिक अवस्था का सक्षिप्त दृश्य है।

भारतीय धार्मिक स्थिति

धर्म शब्द के व्यापक और मूलभाव की अनभिज्ञता के कारण लोग केवल रूढियो को धर्म मानने लगते है। फलत साम्प्रदायिकता की वृद्धि होकर परस्पर रक्तधारें बह जाया करती है। यूरोप का सशोधन काल (Reformation Period) एक दृष्टान्त स्वरूप है। परन्तु भारतवर्ष मे धार्मिक स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से मान्य रहा है। इसलिये सम्प्रदायो तक मे सशस्त्र युद्ध कभी नही हुए। सैद्धान्तिक आग्रह ही धर्म-परिवर्तन का साधन यहा पर रहा है। फिर भी मानुषिक प्रवृत्तिया पार्थिवता की ओर ही दौडा करती है। इसलिये यहा के लोगो मे भी धर्म का रूप रूढिवाद ही बहुधा होता रहा है। गाधीजी के कार्य-क्षेत्र मे पदार्पण करने के समय पर भी सामाजिक कुछ ऐसी कुरीतिया फैल रही थी जिन्हे लोग धर्म की व्याख्या के अन्तर्गत लाते थे। इसका मूल कारण यह था कि एक ओर तो हिन्दुओ के पूर्वज तथा पूज्यवर्ग के लोग, जैसे पडित, शास्त्रज्ञ, पौराणिकादि, एव दूसरी ओर मुसलमानो के पूर्वज और उनके पूज्य, मुल्लादि साधारण जन को सकीर्णता ही का पाठ पढाते रहे। हिन्दूजाति मे छुआछूत का भूत धर्म की आड मे इतनी गहरी जड कर गया था कि उसका उखाडना हरक्यूलियन अथवा भीम-कर्म था। जिस अछूत या परिया (Pariah) की परछाई पडने से नहाना-धोना पडता था, वही यदि किसी कारणवश मुसलमान या ईसाई धर्म को अपना लेता था तो छूना

तो दूर रहा हाथ मिलाने योग्य, गले लगाने योग्य, नहीं, एक साथ खाना खाने योग्य बन जाना था। स्वाभाविक गुण-कर्म-विभाग की भित्ति पर स्थित अनुकरणीय प्राचीन वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर परम्परागत वर्णों का रूप धारण कर चुकी थी और धर्म के नाम पर अनेक जाति-उपजातियों के भेष में फैल रही थी। कट्टरता और संकीर्णता की चारदीवारियां प्रेम और विकास को पास तक नहीं फटकने देती थी। इस भीषण पतन का यदि दृष्टान्त लेना हो तो वह विद्यमान है। हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस सरीखी उच्च कोटि की संस्था के उस अध्याय में जिसने एक कुमारी (लड़की) को, जिसका नाम इस समय मुझे स्मरण नहीं पड़ रहा है, शूद्र जाति की होने के कारण वेदाध्ययन करने के लिये रोक लगाई थी। पाश्चात्य आधुनिक भौतिकवाद ने, शासक जाति की नकल करने की आदत ने, भौतिक शिक्षा-प्रचार ने, एवं शासकों द्वारा बरती जानेवाली संस्कृति-ह्रासक नीति ने भारतीयों को धर्म-मार्ग से च्युत कर रखा था। उनका विश्वास ईश्वर में उठता जा रहा था। छल, कपट, द्वेष, उनकी दिनचर्या में, विशेषकर राजनैतिक क्षेत्र में, अपरिहार्य भोजन सा हो गया था। आत्मबल के स्थान में कायरता, तथा सत्य के स्थान में असत्य का व्यापार बढ़ रहा था। इसी प्रकार धर्म का चिरसंगी नैतिक जीवन का भी पतन भारत में व्याप्त हो रहा था। धर्म की हानि से मान-मर्यादा आदि सभी कुछ देश-विदेश में खोई हुई दिखाई देती थी।

भारतीय आर्थिक स्थिति

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में भारतवर्ष (हिन्दुस्थान) की अर्थ नीति उस देश जैसी थी, जो विदेशी शासकों के हाथ में शोषण का बाजार बन गया हो। वह एक लम्बी करुण-कहानी के रूप में न कही जाकर यहाँ सूत्र-मात्र के रूप में कही जा सकती है। अंग्रेज शासकों को उनकी विदेशी (परराष्ट्र) नीति तथा गृह-नीति दोनों की रक्षार्थ फौजी-नाविक आदि सेवाओं पर अधिक खर्च करना पड़ता था। समय-समय पर उन्हें सरहदी और दूरदेशी युद्ध भी लड़ने पड़ते थे। इसलिये हिन्दुस्थान पर सेना-विभाग का खर्च बहुत ही अधिक था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने जमाने ही में भारतवर्ष के प्रख्यात प्राचीन व्यवसायों को नष्ट-भ्रष्ट कर चुकी थी, यहाँ तक कि यह बात ऐतिहासिक सत्य सिद्ध हो चुकी है कि उसके कर्मचारियों ने हिन्दुस्थान के कार्य-कुशल कलाकारों के हाथों के अंगूठे तक को कटवा कर फेंकवा दिये थे। श्री एस० मार्टिन ने कहा है कि "ढाका की महीनाति-महीन मलमल, काश्मीर के सुन्दर शाल और देहली का जरीदार रेशम, खुदावदार हाथी-दांत, कोविदार और चन्दन की लकड़ियां,

चमकती सुन्दर रंगी हुई छींट, हीरे, अनूठे ढंग से जड़े हुए मोती और बहुमूल्य पत्थर, उत्तम बेलबूटेदार दरी और चद्दर, उच्चविधि से ढली हुई फौलाद, उत्तम बर्तन और नाव सम्बन्धी पक्की कारीगरी ये सब, सदियों तक शिक्षित मनुष्य-समाज की दृष्टि में प्रशंसनीय माने जाते थे, और इतिहास में जब लन्दन का नाम तक नहीं सुना जाता था तब हिन्दुस्थान सारा पृथ्वी भर में सबसे अधिक धनी, व्यवसायों, क्रय-विक्रय का स्थान (बाजार) था।" श्री पं० बनर्जी ने अंग्रेज-अर्थशास्त्रज्ञों और हन्टर विल्सन आदि इतिहासज्ञों के उद्धरण देकर अंग्रेज सरकार की दुर्नीति का आलोचना करते हुए यह कहा है, "गत शताब्दी (उन्नीसवीं) के मध्यकाल तक यह परिणाम हो गया था कि भारतवर्ष केवल कृषि-प्रधान देश रह गया था"।

जिस देश का सब व्यवसाय चकनाचूर कर दिया गया हो और कृषि ही मूलाधार रह गया हो, उसकी प्रति मनुष्य पीछे यदि सामान्य आय केवल तीन-चार पैसे प्रतिदिन की रह गई हो तो क्या आश्चर्य? श्री बनर्जी का कहना है कि "प्रसिद्ध अंग्रेजों के लेखानुसार प्रति मनुष्य की औसत (सालाना) आय ३० रुपया (२ पौंड) है, परन्तु विलियम डिगबी और दादाभाई उससे भी कम (२० रुपया) बताते हैं।"[११] यदि राष्ट्र की समस्त आय में से धनी वर्ग के लोगों की आय को घटा कर औसत निकाली जाय तो साधारण कृषक और श्रमिक की सालाना आय केवल १८ शिलिंग अर्थात् १३ रु० के लगभग रह जाती है अर्थात् रोजाना ३ पैसे से भी कम।[१२] एक ओर ग्रामीण उद्योगों का नाश था, तो दूसरी ओर पूंजी एवं नवीन मशीनों की कमी के कारण बड़े बड़े कलागृहों की भी अत्यन्त कमी थी। सरकार स्थानीय उद्योगों की वृद्धि की ओर न केवल उदासीन ही सी रहती थी, वरन् बाधक होकर विदेशियों की सहायतार्थ गुप्त या प्रकट रूप में अड़गे की नीति बर्तती पाई जाती थी। कृषि भी जो कुछ थी, वह पुराने ढर्रे की ही थी। यह थी भारत की हर दृष्टि से-कृषि, उद्योग, व्यापार की दृष्टि से-अत्यन्त शोचनीय आर्थिक स्थिति, जिसका मुकाबला गांधी को करना था।

---

१०. श्री बनर्जी कृत "Industrial Decay of India" के पृष्ठ ९४-९७ पर श्री एम० मार्टिन कृत "Indian Empire" से उद्धरण।

११ P Banerjee's 'The Study of Indian Economics' के आधार पर।

१२. देखो नोट नं० ४६

गांधी के जीवन-काल की संक्षिप्त सूची

पूर्वोक्त परिस्थितियों को देख लेने के पश्चात् अब हमें गांधी के जीवनकाल की प्रधान घटनाओं पर विचार कर लेना चाहिये। मार्क्स के जीवन-काल को हमने चार भागों में विभक्त किया था। गांधी के जीवनकाल को भी निम्न चार विभागों में विभक्त करना अधिक उपयोगी प्रतीत होता है।

(१)

सन् १८६९ से सन् १८९१ तक (२२ वर्ष)

जन्मकाल से शिक्षा-समाप्ति तक

गांधीजी का जन्म सन् १८६९ ई० में पोरबन्दर (सुदामापुरी) काठियावाड, गुजरात में वैष्णव सम्प्रदायी वैश्य घराने में हुआ था। यद्यपि उनके पिता काका गान्धी राजकोट के राजा के प्रधान मन्त्री थे तथापि गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में अपने कुटुम्ब को गरीब (द्रव्यहीन) कहा है। पिता आपके कम पढे लिखे होने पर भी व्यवहार-कुशलता, निष्पक्षता और पवित्रता (ईमानदारी) के लिये प्रसिद्ध थे, और माता आपकी बडी धर्म-शीला तथा दृढ सामान्य बुद्धि वाली थीं। स्कूल में जब गांधी जी पढते थे तब वे बडे शर्मीले और माध्यमिक श्रेणी के विद्यार्थी थे। परन्तु सत्य-प्रियता तथा गुरु और बडों के प्रति सत्कार-भावना उनके हृदय में बाल्यकाल से ही निवास करती थी। कुछ काल के पश्चात् उनका विवाह भी हो गया। उस समय उनकी आयु केवल १३ वर्ष की थी। एक बार स्कूल में स्कूल इन्स्पेक्टर जांच के हेतु आये तो उनके शिक्षक ने उनसे एक दूसरे विद्यार्थी की नकल करने के लिये इशारा किया, परन्तु गांधी जी न तो इशारे को ही समझे और न उन्होंने कभी नकल करना ही सीखा। गांधी जी ने कहा है कि "मैं नकल करने की कला को कभी नहीं सीख सका" इस वाक्य में उनका समस्त भावी जीवन झलकता है।

स्कूल-काल में कुसंगति में फँस जाने के कारण उन्होंने मांस खाना, तमाखू पीना, चोरी करना और फलतः झूठ बोलना प्रारम्भ कर दिया था। एक बार जब उन्होंने देखा कि वे प्रकट रूप में सिगरेट नहीं पी सकते तो आत्महत्या तक करने की ठान ली, परन्तु साहस के अभाववश आत्महत्या करने से बच गये। बस! यही उनके जीवन का परिवर्तन-बिन्दु बन गया—इससे प्रेरित हो उन्होंने अपने पिता को लिखित रूप में सब अपराध प्रकट कर दिये।

जब गांधी जी की आयु १६ वर्ष की थी तब उनके पिता जी का स्वर्गवास हो गया। उसके पश्चात् सन् १८८७ ई० मे उन्होंने मेट्रीक्यूलेशन पास की। सन् १८८८ मे बैरिस्ट्री पढने के लिये विलायत गये। विलायत जाने के पूर्व जब उन्होंने शपथ ली कि मैं तीन चीजें—शराब, नारी, और मास को नही छुऊँगा, तब उनकी माताजी ने उन्हे विलायत जाने की आज्ञा दे दी। इस शपथ ने, ईश्वर-विश्वास ने, और सादे जीवन ने इनको विलायत मे अनेक दोषपूर्ण लालसाओ, जैसे नाच-गान, मास-भक्षण, कामवासना, मँहगी पोशाक आदि मे बचाकर रखा। "मैंने", गांधीजी ने कहा है "मिठाई और व्यजन खाना एव चाय व काफी भी लेना छोड दिया, अधिकतर रोटियो कोको उबली हुई सब्जी पर अपना जीवन निर्वाह करने लगा। मेरे प्रयोगो मे मुझे यह शिक्षा मिली कि स्वाद का यथार्थ स्थान मन होता है न कि जीभ।"[13] "सादेजीवन के कारण," उन्होने बताया है कि, "मेरा बहुत सा समय बच जाया करता था, जिससे मैंने अपनी परीक्षा पास कर ली।"[14] विलायत मे ही गांधी जी ने पहिले-पहल गीता को अग्रेजी अनुवाद के रूप मे पढा। वह था सर एडविन अर्नॉल्ड द्वारा लिखित काव्य, जिसका नाम है "स्वर्गीय गीत" (Song Celestial)। यहीं उन्होने बाइबिल (ईसाई धर्म-ग्रन्थ) को पढा, विशेषकर उसके उस भाग को जो बाइबिल मे "पर्वत पर दिया हुआ धर्मोपदेश" (Sermon on the Mount) कहा गया है।

ज्योंही १० जून सन् १८९० ई० मे उन्हे बैरिस्ट्री का पद प्राप्त हुआ त्योंही वे १२ जून को अपने घर के लिये रवाना हो गये।

(२)

व्यावसायिक जीवन का प्रारम्भिक काल

सन् १८९१ से अप्रैल सन् १८९३ तक (२ वर्ष)

हिन्दुस्तान मे बैरिस्ट्री

घर पहुँचने पर गांधी जी को विदित हुआ कि उनकी माताजी का स्वर्गवास हो चुका था। विलायत मे वे घबडाये नही, इससे उनके बडे भाई ने उन्हे उसकी सूचना नही दी थी। थोडे दिन अपने घर राजकोट मे ठहर कर वे बैरिस्ट्री करने बम्बई हाईकोर्ट मे गये। परन्तु चार-पाच माह ठहर कर वहाँ

---

13. "My Early Life" Chap XII
14. ,, ,, ,, ,, XI.

से राजकोट को लौट आये, क्योंकि बम्बई मे खर्च चलाने लायक ही आमदनी नही होती थी। राजकोट लौटकर उन्होंने वही अपनी वकालत का कार्य शुरू कर दिया। उस समय आवेदन-पत्रादिक लिखने का ही काम उन्हे सौंपा जाता था। फिर भी सामान्यत तीन सौ रुपया माहवारी आय हो जाया करती थी। थोड़े ही काल मे पोरबन्दर का एक धनी फर्म, दादा अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी ने अपने एक बडे दावा के मुकदमा को लडने के लिये गाधीजी को एक साल के लिये दक्षिण अफ्रीका भेजा। इसलिये वे अप्रेल सन् १८९३ मे वहाँ के लिये रवाना हो गये।

(३)

ख्याति-रश्मिया

सन् १८९३ से सन् १९१४ तक (२१ वर्ष)

दक्षिणी अफ्रीका, सत्याग्रह का प्रथम क्षेत्र

दक्षिणी अफ्रीका अग्रेजो का उपनिवेश (कालोनी) है। जब गाधीजी डरबन (नेटाल) के बन्दरगाह पर पहुँचे तो उन्हे विदित हुआ कि यूरोपनिवासी भारतवासियो को बडी गिरी नजर से देखते थे। डरबन पर उतरने के दूसरे-तीसरे दिन फर्म का मालिक अब्दुल्ला सेठ उन्हे डरबन की अदालत को दिखाने ले गया। गाधीजी सिर पर पगडी लगाये थे। मजिस्ट्रेट ने उनसे पगडी उतारने के लिये कहा। उन्होंने अस्वीकार किया और अदालत छोडकर चले आये। डरबन से वे रेल द्वारा मेरिट्जबर्ग स्टेशन पहुँचे। वहाँ एक यात्री आया। उसने इन्हे सिर से पैर तक देखा। यह काला (coloured) आदमी है, ऐसा देख उस यात्री के मन में उद्वेग उठा और बाहर जाकर एक दो अफसरो को साथ लेकर फिर आया। एक आफीसर ने गाधीजी से उस फर्स्ट क्लास के डब्बे में से, जिसमे वे बैठे थे, उतर कर दूसरे डब्बे मे जाने के लिये कहा। गाधीजी ने डब्बे से उतरना अस्वीकार कर दिया। तब फिर एक कानिस्टबिल को बुलाया गया। उसने गाधीजी का हाथ पकड वा धक्का देकर बाहर कर दिया और उनका सामान भी उतार लिया, परन्तु गाधीजी दूसरे डब्बे मे नही बैठे और रेलगाडी चली गई। गाधीजी अपना सब सामान जहाँ का तहाँ छोडकर हाथ मे केवल हैन्ड बैग लेकर मुसाफिर खाने मे चले गये। कडकडाती ठढ थी, ओवरकोट सामान मे था, गाधीजी ठिठुरते हुए कमरे मे बैठे रहे—कमरे मे कोई प्रकाश नही था। बस ! विचार-तांता लगा। सोचा कि अपने स्वत्वो के लिये लडना या हिन्दुस्थान को लौट जाना, अथवा अपमान को भुलाकर प्रिटोरिया जाकर अपने मुकदमे को

करके हिन्दुस्थान लौटूं। विचार ने शीघ्र पलटा खाया। ध्यान मे आया कि यह व्यक्तिगत अपमान और व्यक्तिगत कष्ट की बात नही है। यह है गोरे-काले रग का सामान्य विद्वेष। गाधीजी ने निश्चय किया कि इस जातीय रोग को निकालकर फेकने का प्रयत्न किया जाय और ऐसा करने मे जो कष्ट भोगना पडे वे भोगे जाय। परन्तु जिस मुकदमे के लिये गाधीजी आये थे उसको पूरा किये विना इस कार्य को हाथ मे लेना कठिन था। भाग्यवशात् मुकदमा का सन् १८९४ मे आपसी समझौता हो गया।

इस बीच गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका मे तत्कालीन प्रचलित नीति की जानकारी प्राप्त कर ली थी। उसी समय जब कि मुकदमा समाप्त हो जाने पर गाधीजी भारत को लौटने वाले थे तब मालूम हुआ कि नेटाल सरकार हिन्दुस्तानियो को मताधिकार से वचित (disfranchise) करने के लिये कानून पेश करने जा रही हे। बस! गाधीजी ने भारत आना स्थगित कर दिया, और आन्दोलन की धारणा से प्रेरित हो उसी साल सन् १८९४ ई० मे नेटाल इण्डियन काग्रेस की स्थापना की, जिसके विषय मे गाधी जी ने स्वीकार किया है कि उसके द्वारा "ईश्वर ने दक्षिण अफ्रीका मे मेरे जीवन की नीव डाल दी और राष्ट्रीय स्वाभिमान का बीज बो दिया।"[१५]

सन् १८९३ से सन् १९१४ तक के काल मे गाधीजी केवल दो बार भारत को लौटकर आये। एक बार सन् १८९६ मे अपनी पत्नी तथा बाल-बच्चो को अफ्रिका लाने के अभिप्राय से आये, क्योकि उस समय अफ्रिका मे ही रहकर बैरिस्ट्री करने का इरादा उनका हो गया था। दूसरी बार वे सन् १९०१ के लगभग आये। इस बार उनकी इच्छा बम्बई हाईकोर्ट मे वकालत करने की हुई। वहाँ पर कृत्य भी अबकी बार बहुत अच्छा चलने लगा। परन्तु शीघ्र ही दक्षिण अफ्रीका निवासी भारतीयो के बुलाये जाने पर उन्हे पुन सन् १९०४ मे अफ्रीका पहुँच जाना पडा। भारत मे इन दोनो बार का रहने का समय इतना थोडा और विशेष घटनाओ-विहीन है कि पूर्वोक्त २१ वर्षीय काल को हमने अभङ्ग ही रखा है।

गाधीजी के द्वारा जो जो प्रयोग दक्षिण अफ्रिका मे किये गये थे उनमे उनके प्राय सभी मूल सिद्धान्तो का समावेश हो जाता है, जिनका प्रखर स्वरुप सन् १९१४ के पश्चात् भारतवर्ष मे प्रकट होता गया। गाधी जी के कई वर्षो के विश्वस्त साथी ओर आत्मीय (प्राइवेट) मन्त्री, महादेव देसाई ने सन् १९३२

---

15 From "My Early Life"

मे 'माइ अर्ली लाइफ' नामक पुस्तक के प्राथमिक वक्तव्य मे लिखा है कि "सन् १९१४ के पश्चात् के भाग को छोड देने मे (गाधीजी की) 'आत्मकथा' का मूल्य वस्तुत कुछ घटता नही है। जो कुछ गाधीजी के विषय मे गत कुछ वर्षो मे सुना है वह बीज रूप से पहले ही (सन् १९१४ तक) हो चुका था।" उक्त काल मे घटित घटनाओं का दृष्टान्त अथवा वर्णन पाठको को प्रसगो के आने पर आवश्यकतानुसार आगामी पृष्ठो पर मिलेगा। यहाँ केवल उनका उल्लेख मात्र काल-क्रमानुसार कर दिया जाता है।

सन १८९३—अफ्रीका मे पहुँचना।

" १८९४—नेटाल भारतीय कांग्रेस की स्थापना करना।

" १८९६—हिन्दुस्तान वापस लौटना। वहाँ ग्रीन पेम्फलटो (हरापर्चा) का वितरण कराना और उनके द्वारा दक्षिण अफ्रीका की स्थिति की जानकारी कराना। दक्षिण अफ्रीका को पुन लौटना और वहाँ पहुँचते ही अप्रबुद्ध जनसमूह (Mob) के द्वारा घेरा जाना।

" १८९९—बोर युद्ध मे अग्रेजो को चलते-फिरते चिकित्सालय दल (Ambulance Corps) के द्वारा छ हफ्ते तक सहायता देना। अफ्रीका मे रहने वाले डच याने हालेड देश के लोग बोर कहे जाने लगे थे। यह युद्ध १८९९ से १९०२ तक चला था।

" १९०१—हिन्दुस्तान फिर लौटकर जाना। इस बार लौटते समय गाधीजी ने वह सारी सम्पत्ति जो अफ्रिकावासियो ने उन्हे उनके प्रथम बार और इस बार हिन्दुस्तान को लौटते समय भेट-स्वरूप दी थी बैक मे जन-कार्य के लिये ही जमा कर दी।

" १९०४—(क) पुन अफ्रीका आना और इन्डियन ओपीनियन (Indian Opinion) नामक साप्ताहिक पत्र का जो डरबन से प्रकाशित होता था, सम्पादन-कार्य ग्रहण करना। अफ्रीका-निवासी भारतीयों का हित-रक्षण इसका उद्देश्य था।

(ख) डरबन से कुछ दूरीपर फिनिक्स मे एक आदर्श कृषि-क्षेत्र स्थापित किया, जिसका नाम फिनिक्स सेटिलमेन्ट निवास रखा। हर निवासी को अपना काम अपने हाथ मे करने का नियम था, भाई-चारे को निवाहते हुए व्यक्तिगत श्रम तथा सहयोग के आधार पर समाज की व्यवस्था को कायम करने का यह गाधीका प्रत्यक्ष प्रथम प्रयोग था। इसके स्थापित होने पर इन्डियन ओपीनियन का प्रकाशन यही से होने लगा।

(ग) दक्षिण-अफ्रिका के कुछ मूल निवासी जुलू कहलाते थे। उन्होंने कर देने मे इन्कार कर दिया। उनका यह विरोध 'जुलू-राज-विद्रोह' के नाम से दबाया जाने लगा। गाधीजी ने इस मे भी ऐम्बूलेन्स दल के द्वारा सहायता की।

सन् १९०६—सत्याग्रह सग्राम और उसकी विजय—सन् १९०६-०७-ट्रान्सवाल सरकार की ओर से एक आज्ञापत्र प्रकाशित हुआ कि आठ वर्ष की आयु से लेकर ऊपर की आयु वाले हर भारतीय स्त्री-पुरुष को अपना नाम सरकारी दफ्तर मे रजिस्टर कराके रजिस्ट्रेशन-प्रमाणपत्र प्राप्त करना होगा, नही तो वह ट्रान्सवाल मे नही रहने पावेगा। यह ब्लेक एक्ट (काले कानून) के नाम से कहा जाने लगा। गाधी जी ने जन-सेवा हित आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने की शपथ ली और सत्याग्रह की नीव डाल दी। जन-वाणी द्वारा विरोध उठा, पिकेटिंग किया गया, और जब सरकार ने ट्रान्सवाल छोडने की आज्ञा दी तो वह भग की गई। सजाये हुई। इसी बीच सन् १९०७ ही मे ट्रान्सवाल इमीग्रेन्ट्स रेसट्रिक्सन विल (Transvaal Immigrants Restuction Bill) नाम का कानून तैयार हुआ जिसके फलस्वरूप कोई भी नया आनेवाला हिन्दुस्तानी ट्रान्सवाल मे प्रवेश नही कर सकता था।

" १९०८—इसी आन्दोलन मे आज्ञा भग करने के कारण गाधी जी को भी सन् १९०८ मे सजा हुई। जेल मे जेलयात्रियो की सख्या बढती गई। सरकार (जनरल स्मट्स) और गाधीजी के बीच सुलह हुई। सुलह के कारण बढते हुए आन्दोलन को रोक देने से कुछ लोगो के मनमे खिन्नता हुई और गाधीजी के प्रति क्रोध उठा। मीरआलम, उनके पुराने भले सायल ने लकडी से गाधी जी को खूब पीटा। सरकार ने मीरआलम और उसके साथियो पर मुकदमा चलाने के लिये तैयारी की। गाधी जी ने जीवन-घातक चोटे होने पर भी मुकदमा चलाने से रोका। परन्तु सरकार न मानी। जब सुलह की शर्तो का सरकार की ओर से पालन नही किया गया तो पुन सत्याग्रह छिडा। सरकार को आगाह कर देने के पश्चात् करीब २००० रजिस्ट्रेशन प्रमाण-पत्र एकत्र कर लोगो ने खुले मैदान मे जला दिये।

सन् १९१०—सत्याग्रह जारी रहा। सत्याग्रहियों की शिक्षा, सहायता आदि के लिये सहकारिता के आधार पर जर्मन शिल्पज्ञ, कालिनवाक के द्वारा प्रदान की हुई ११०० एकड भूमि पर जोहन्सबर्ग से २१ मील दूरी पर एक क्षेत्र (फार्म) खोला गया जो गांधी जी के आदर्श-दर्शक टॉलसटाय की स्मृति में टॉलसटाय फार्म कहलाया। वह फार्म भी फिनिक्स सेटिलमेन्ट के मूल उद्देश्यों का पूरक था।

सन् १९१२—सत्याग्रह युद्ध जारी था। भारतवर्ष से श्री गोखले समझौता कराने आये। सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया क्योंकि वे सरकार से बातचीत करके यह आश्वासन दे गये थे कि ट्रांसवाल वाला काला कानून और तीन पौण्ड वाली टैक्स जो भारतीयों से वसूल की जाती थी आगामी वर्ष में बन्द कर दी जायगी।

सन् १९१३—राजनीति-चक्र में भ्रमण करनेवाली सरकार ने अपने वचन का पालन फिर नहीं किया। अत फिर सत्याग्रह छिड गया। नेटाल से ट्रान्सवाल और ट्रान्सवाल से नेटाल आना-जाना अपराध था। इसलिये सहस्रों लोगों ने पैदल-यात्रा ट्रान्सवाल सीमा-उल्लंघन के लिये की। यह पैदल मार्च भारत की डन्डी-मार्च की तत्काल याद दिलाती है। उस बार तीन पौन्ड वाली टैक्स का भी विरोध किया गया। इस युद्ध में स्त्रियों, अन्य श्रमिकों और मार्ग के ग्राम-वासियों ने सत्याग्रहियों को सहायता दी। स्त्रियों को आगे बढ आने का एक कारण यह हो गया कि उसी समय दक्षिण अफ्रिकी सरकार में केवल वे ही विवाह नियम-सगत माने जाने लगे थे जो ईसाई पद्धति के अनुसार हुए हो या विवाह सम्बन्धी रजिस्ट्री में रजिस्ट्रार ने दर्ज किये हो। यह स्वाभाविकत हिन्दुस्तानी-स्त्रियों को दुःख पहुँचाने वाली बात थी। परिणाम यह हुआ कि सरकारी पकड-धकड और सजा का केवल एक तमाशा सा ही होता रहा।

सन् १९१४—आखिरकार हिन्दुस्थान के वायसराय लार्ड हार्डिंग ने दक्षिण अफ्रीका की नीति की खुले शब्दो मे बडी तीव्र आलोचना और निन्दा की। परिणाम यह हुआ कि एक जाच कमीशन नियुक्त किया गया। कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होते ही अफ्रीका सरकार ने एक भारतीय मुक्त-पत्र (इन्डियन रिलीफ बिल)

प्रकाशित किया जिसके फलस्वरूप ३ पोन्ड वाली टैक्स वन्द कर दी गई, अफ्रीका मे वे सव शादिया नियमानुकूल मानी जाने लगी जो हिन्दुस्तान मे न्याय-सगत मानी जा सकती थी, और अगुष्ठ-चिन्ह वाला गृहप्रमाण-पत्र (Domicile Certificate) सयुक्त अफीका मे प्रवेश करने के लिये पर्याप्त अधिकार-पत्र माना जाने लगा।

इस तरह सत्याग्रह की विजय हुई। इस सग्राम मे तामिल, तेलगू, गुजराती आदि, हिन्दू, तथा मुसलमान, पारसी आदि, सभी भारतीय प्रवासियो का सहयोग प्राप्त था। पोलक, वेस्ट, केलनवेक आदि कई यूरोपीय अधिवासियो ने भी इस पवित्र काम मे हाथ वटाया था। इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका मे कार्य समाप्त होने के उपरान्त गाधी जी ने वहाँ पर अपने कुछ ऐसे साथियो को छोड कर जो सत्याग्रह-युद्ध मे मुमास्त्हत्य हो गये थे, सन् १९१४ मे भारतवर्ष के लिये प्रस्थान किया।

(४)

भारतवर्ष सत्याग्रह का दूसरा क्षेत्र

सन् १९१४ से जनवरी सन् १९४८ तक (३३ वर्ष)

(१) सन् १९१४ से १९२१ तक

पूर्वोक्त दक्षिण-अफ्रीका-काल के समय गाधीजी हिन्दुस्तान दो वार आये, यह हम ऊपर कह आये है। इन दोनो समय पर गाँधी जी ने हिन्दुस्तान के प्रमुख नेताओ से परिचय वढाया, और हिन्दुस्तान की परिस्थितियो का अध्ययन भी घूम-फिर कर किया। वे यात्रा करते समय रेल के तीसरे दर्जे के डब्बे मे बैठा करते थे, ताकि उन्हे तीसरे दर्जे के यात्रियो की कठिनाइयो और असुविधाओ का अनुभव हो जाय। दक्षिण अफ्रीका मे सन् १९१४ तक किये गये सत्याग्रह आन्दोलन के कारण गाँधीजी की ख्याति हिन्दुस्तान मे पर्याप्त रूप से हो चुकी थी। इसलिए जव वे सन् १९१४ मे लौटकर हिन्दुस्तान मे आये तो जनता ने उनका काफी स्वागत किया। आते ही उन्होने देश-यात्रा फिर प्रारम्भ कर दी, तत्कालीन नेताओ से सम्पर्क स्थापित किया, गुरुकुल काँगडी, हरिद्वार, एव शान्तिनिकेतन (वोलपुर) को पहुँचे, और हरिद्वार के कुम्भ मेला मे पहुँचकर तथा अन्य प्रकार से जन-सेवा के कार्य प्रारम्भ कर दिये। इस काल के उनके प्रमुख कार्य ये है —

सन् १९१५—(क) अहमदाबाद के नजदीक कोचरब मे सत्याग्रह आश्रम की स्थापना। नर-नारी, लड़के-लड़कियां इसके उदस्य हो सकते थे। हर एक सदस्य को कुछ व्रत (vows) लेना पड़ता था, अथवा कुछ प्रण करना पड़ता था। इनमे से प्रधान प्रण ये है—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और स्वदेशी। कुछ दिनो के बाद हरिजन भी आश्रमवासी हुए।

(१९१७)—(ख) चम्पारन (विहार) के नील मजदूरों के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार प्राप्त किया जा सका। करीब तेरह सौ वर्ष पूर्व से प्रचलित 'तीन कठिया' की प्रथा का अंत किया गया। वहां पर एक एकड़ जमीन २० कट्ठे के बराबर होती है। उपरोक्त प्रथा के अनुसार हर किसान को अपनी जमीन $\frac{3}{20}$वें हिस्से अर्थात् प्रति २० कट्ठे मे से ३ कट्ठे जमीन को नील की खेती-जमीन के असल मालिक के लिये बोना पड़ती थी। इस सम्बन्ध मे राज्याज्ञा अहिंसात्मक विधि से भंग की गई? परिणाम-स्वरूप अहिंसात्मक विधि की हिन्दुस्तान मे यह प्रथम विजय हुई क्योंकि इस प्रथा का कायम रखने वाला कानून रद्द किया गया और उसी सिलसिले मे वहां के निवासियो के सामाजिक जीवन की शिक्षा, सफाई आदि की उन्नति के लिये आवश्यक कार्य भी अमल मे लाये गये।

(१९१८)—(ग) अहमदाबाद के मिल-मालिकों और मजदूर-दल का उनकी मांगो के सम्बन्ध मे, समझौता कराया गया। गांधी जी के उपवास की हिन्दुस्थान मे यह प्रथम विजय हुई, क्योंकि उसका प्रभाव विचलित हड़ताली मिल मजदूरो और टस से मस न होने वाले मालिकों पर पड़ा और समझौता हुआ।

(घ) खेड़ा जिला, अहमदाबाद, मे फसल की कमी के कारण लगान माफी की मांग की गई—सत्याग्रह शुरू हुआ—अन्त में सरकार को गरीब किसानो की लगान मुल्तवी करना पड़ी।

सन् १९१८-१९१९—गांधी जी जब अफ्रीका से हिन्दुस्तान आये तब यूरोपीय प्रथम महायुद्ध चल रहा था। उस युद्ध मे सरकार की सहायता के लिये गांधी जी ने लोगो से सेना मे भरती होने के लिये अपील की और रंगरूट (recruits) भी बनाये। उन्होंने जनता की राजनैतिक मांगों को भी सरकार के सामने पेश किया।

परन्तु उन मांगों की उपेक्षा की गई और उल्टा बदनाम काला कानून रौलट ऐक्ट, जनता पर लादा गया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान के पैमाने पर 'असहयोग सभा' का निर्माण हुआ और ३० मार्च से ६ अप्रैल सन् १९१९ तक सारे देश मे हड़तालें मनाई गई। तब सरकार की ज्यादती के कारण जलियावाला बाग, अमृतसर का हत्याकाण्ड हुआ और मार्शल ला (फौजी-कानून) घोषित किया गया। और साथ ही माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिफार्म्स भी आये, जिसके विरुद्ध जनता ने, अपूर्ण, असन्तोषदायक, और निराशाजनक, कहकर ध्वनि उठाई।

सन् १९१९-१९२१—उपर्युक्त घटनाओ के कारण देश भर मे हलचल मच गई। लगातार कांग्रेस के तीन अधिवेशन हुए, याने सन् १९१९ मे अमृतसर मे, सन् १९२० मे विशेषाधिवेशन कलकत्ता मे, और सन् १९२१ मे नागपुर मे हुआ। सन् १९२० मे गाधी जी ने खिलाफत के प्रश्न को हाथ मे लिया। फलत स्वतन्त्रता के हेतु शान्तियुक्त असहयोग आन्दोलन मे मुसलिम जनता का सहयोग प्राप्त हुआ। कलकत्ता अधिवेशन तक गाधी जी की राजनीति मे प्रमुखता हो गई थी। उसमे बडे महत्त्वशाली प्रस्ताव गाधी जी के सुझाव के अनुसार स्वीकार किये गये। नागपुर-अधिवेशन मे वे थोडे हेर-फेर से कायम रखे गये। स्वराज्य-प्राप्ति तक शान्ति-सत्य-युक्त अर्थात अहिंसात्मक असहयोग का प्रस्ताव, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का प्रस्ताव, अन्त्यजोद्धार का प्रस्ताव, खादी-प्रचार का प्रस्ताव, एव कांग्रेस-विधान-विषयक प्रस्ताव—ये प्रस्ताव विशेष उल्लेखनीय है। सन् १९२१ मे सर्व-देशव्यापी उपाधि-त्याग, मादक-पदार्थ-निषेध तथा तत्सबधी पिकेटिंग, खादी-प्रचार, कौन्सिल-बायकाट, विद्यालय-बायकाट, न्यायालय-बायकाट इत्यादि का बडा तीव्र आन्दोलन फैल गया था। सन् १९२१ देशव्यापी स्वराज्य आन्दोलन का प्रथम स्तम्भ कहा जाने योग्य है। इसके बाद से ही दूसरा अधिक व्यापक, व्यावहारिक, प्रभावित कार्य-क्षेत्र प्रारम्भ हुआ। गाधी जी ने अपनी आत्मकथा को समाप्त करते हुए लिखा है कि "इससे (सन् १९२१ से) आगे का मेरा जीवन इतना अधिक सार्वजनिक हो गया है, कि जनता उसके विषय मे कुछ भी न जानती हो,

यह सम्भव नहीं। महासभा के परिवर्तन के बाद का इतिहास तो अभी तैयार हो रहा है। मेरे मुख्य प्रयोग महासभा के द्वारा ही हुए है।"[१६]

(२) सन् १९२१ से १५ अगस्त सन् १९४७ तक

सन् १९२१-२३—असहयोग-आन्दोलन का प्रचार बढा। बारडोली, चौरी चौरा, गोरखपुर आदि स्थानो मे सत्याग्रहियो ने हिंसा बरती, जिसमे कांग्रेस और खिलाफत के सदस्यो का हाथ रहा—फलत सत्याग्रह आन्दोलन सन् १९२२ मे बन्द किया गया—गाधीजी को ६ साल की सजा हुई—सन् १९२२ के गया कांग्रेस अधिवेशन के समय श्री सी० आर० दास की नायकी मे स्वराज्य पार्टी का निर्माण हुआ, जिसने कौसिलो मे जाना स्वीकार किया।

सन् १९२४—गाधीजी जेल से मुक्त किये गये और बेलगाव कांग्रेस अधिवेशन के प्रधान हुए। कांग्रेस सदस्य को हाथ का कता सूत देने का प्रस्ताव स्वीकार हुआ।

सन् १९२५-१९२९—सन् १९२३ से स्वराज्य पार्टी और गाधीजी के अनुयायियो (no-changers) मे मतभेद बढता गया। सन् १९२५ मे कांग्रेस पार्टी की बाहुल्यता और गाधी का तटस्थ रहना और केवल रचनात्मक कार्य की ओर लक्ष्य रखना। अन्त मे सन् १९२९ मे लाहोर कांग्रेस अधिवेशन ने स्वतत्रता का व्रत लिया और सत्याग्रह की नायकी गाधीजी को सौंपी गई।

सन् १९३०-३४—नमक कानून भग, कर न देना, आदि। नमक-कानून का भग हजारो की संख्या मे नमक बनाने के लिये गाधीजी का डन्डी तक पैदल प्रसिद्ध प्रस्थान (डन्डी मार्च १९३१) तथा इसके कारण गिरफ्तारी। गिरफ्तारी से मुक्त—सन् १९३१ मे सरकार से समझौता, जो गाधी-इरविन सधि (Pact) नाम से प्रसिद्ध है। देश भर मे सन् १९३० और १९३१ मे सत्याग्रह का प्रसार। विलायत मे दूसरी गोलमेज कान्फ्रेन्स-कांग्रेस की ओर से गाधी जी ने उसमे प्रतिनिधित्व किया। अग्रेज सरकार से कोई समझौता नहीं हुआ।

---

१६ आत्मकथा (खण्ड २), पृष्ठ ५०५–५०६

सन् १९३२-३३—गाधी जेल मे सन् १९३२ मे—मेकडानल्ड की कम्यूनल अवार्ड के कारण गाधीजीका जेलमे आमरण उपवास। फलत हिन्दुओ की ओर से छुआ-छूत मिटाने के हेतु सर्वदा पैक्ट हुआ। सन् १९३३ मे सत्याग्रह पुन जारी।

१९३९ —दूसरा यूरोपीय महायुद्ध प्रारम्भ—सरकार से फिर भी राजनैतिक स्वत्वो पर कोई समझौता न हुआ, इसलिये सत्याग्रह आन्दोलन का फिर प्रारम्भ। युद्ध प्रारम्भ के वाद दिसम्बर सन् १९३९ मे सर स्टेफर्ड क्रिप्स व्यक्तिगत रूप मे भारत मे आये और नेताओ मे परामर्श किया।

१९४२-४५—सन् १९४२ मे सर स्टेफर्ड क्रिप्स जो उस समय विलायत के युद्ध-मण्डल के सदस्य थे, समझौता के लिये भेजे गये। क्रिप्स ने वाइसराय की कार्यकारिणी कौन्सिल (Executive Council) की वनावट तथा स्वतन्त्रता-प्रदान के वारे मे जो प्रस्ताव रखे, उनमे न तो कोई यथार्थ नवीनता थी और न कुछ असदिग्धता ही थी। "जितना अधिक उन्होने (गाधीजी ने) उन पर विचार किया उतना ही कम उनका उस ओर आकर्षण हुआ।. परन्तु सवमे अधिक खरावी तो यह थी कि ब्रिटिश सरकार ने यह पहिली ही वार सोचा कि हिन्दुस्थान एक ही स्वतत्र राज्य न रहने पावे वल्कि एक से अधिक वन जाय। इस प्रकार के अपने विचार प्रकट कर और अपने काग्रेसी साथियो से वार्तालाप कर गाधी जी नई दिल्ली से फिर अपने वर्धा-आश्रम को लौट गये।"[17] परिणाम यह हुआ कि क्रिप्स-प्रस्ताव (Cripp's Offer) को सारे देश ने अस्वीकार कर दिया, और फिर उठी इतिहास-प्रसिद्ध सन् १९४२ की देश-व्याप्त भीषण क्रान्ति की लहर। सारे देश मे गाधी जी का "करो या मरो" का सन्देश नारे के रूप मे गूज उठा। व्यक्तिगत सत्याग्रह और डिक्टेटरशिप का आदेश फैल गया। गाधी जी तथा अन्य सहस्रो का जेल भेजा जाना प्रारम्भ हो गया और

---

17 Mahatma Gandhi by Polak Brailsford and Lord Pathick Lawrence Pp 246-247.

सत्याग्रहियो के साथ सरकारी कर्मचारियो के द्वारा अनेक स्थानो पर दुर्व्यवहार किये गये।

१९४५-४७—द्वितीय महायुद्ध को समाप्ति और परिस्थितियो पर उसका प्रभाव। विलायत मे मजदूर-दल को विजय और मजदूर-दलीय सरकार (Labour Government) का वनना। सन् १९४६ मे उक्त सरकार की ओर से मन्त्रिमण्डल के तीन मन्त्रियो याने क्रिप्स, अलेक्जेन्डर और पेथिक लारेन्स का एक 'मिशन (Cabinet Mission) समझौता के लिये भेजा गया। इधर गाधी जी ने "हिन्दुस्थान छोडो" (Quit India) के भाव को जागृत किया। इसका मूलार्थ यह नही था कि ब्रिटिश लोग ही हिन्दुस्थान छोडकर चले जाय वल्कि यह था कि ब्रिटिशपने की जो स्वामित्व की बू थी और उसे कायम रखने की जो भावनाये थी उन्हे त्यागना, जैसा कि पेथिक लारेन्स ने लिखा है।[18] केविनेट मिशन ने जिन प्रस्तावो को उपस्थित किया उनमे गाधी जी को ब्रिटिश सरकार की सचाई और प्रामाणिकता दिखाई दी। परन्तु मुसलिम लीग की अडगा की नीति के कारण केविनेट मिशन भी असफल होकर लौट गया। हिन्दू और मुसलमानो के बीच जगह जगह पर दगे-फिसाद और वलवे होने लगे और लाखो के जीवन, सम्पत्ति और इज्जत वरवाद हुए। गाधी जी शान्ति-स्थापना के हेतु इधर-उधर दौडे। अन्त मे १५ अगस्त सन् १९४७ को अग्रेज सरकार ने स्वतत्रता की घोषणा की। एक अखण्ड भारत के दो खण्ड-पाकिस्तान और हिन्दुस्थान-वने, हालाकि गाधी जी ने हर प्रकार से यह चाहा कि अखण्ड भारत

---

18 "That is why he (Gandhi) had coined the phrase 'Quit India' to express, not so much the physical withdrawal of British personnel from the soil of India as the disappearance lock, stock and barrel of British overlordship (In other words), he meant not the physical departure of every Britisher, but the withdrawal of the will and the means to interfere in Indian self-rule."

(aforesaid) Mahatma Gandhi pp 260 & 290)

अखण्ड ही रहे। परन्तु काग्रेस ने खण्डित स्वतन्त्रता को ही स्वीकार कर लिया।

(३) १५-८-१९४७ से २०-१-१९४८ तक

१९४७-४८—खण्ड-स्वातंत्र्य के दुष्परिणाम—हिन्दू-मुसलिम उत्पातो की भरमार —अनगिनत मनुष्यो के समूहो के समूहो का एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रस्थान करना—पारस्परिक रक्त-प्रवाह, आततायियो का अबला-वृद्ध-बच्चों पर भीषण अमानुषीय अत्याचार, सम्पत्ति की लूट-खसोट अथवा अग्नि द्वारा भस्मसात करना—शरणार्थियो को भोजन-वस्त्र-निवास का प्रबन्ध इत्यादि—गान्धी जी की वृद्धावस्था होते हुए भी, शान्ति-स्थापना के हेतु अद्वितीय निर्भीकतापूर्ण इधर-उधर दौड-धूप—प्रार्थना-सभाओ तथा प्रेम-सम्मेलनो के द्वारा हिन्दू-मुसलमानो मे प्रेम और ऐक्य की भावनाओ को जागृत करना।

जब गान्धी जी ने देखा कि परस्पर मौतें और भर्त्सना कम नही हो रही है और नये हिन्दुस्तान अर्थात् यूनियन की राजधानी दिल्ली ही मे 'झगडा' फूट निकला है तो उन्होने उपवास करने का निश्चय किया। उन्होने कहा कि मृत्यु से, जिसके समान दूसरा मित्र नही है मुझे बचाने के लिये पुलिस या मिलिटरी के द्वारा रखी हुई शान्ति ही बस नही। कोई भी इन्सान, जो पवित्र है, अपनी जान से ज्यादा कीमती चीज कुरबान नही कर सकता।"[१९] ऐसा विचार कर उन्होंने अनिश्चित अरसा तक उपवास ता० १३-१-४८ को प्रारम्भ किया, और जब चहुँ ओर से पाकिस्तान और हिन्दुस्तानी सघ से सभी वर्गो मे दोस्ती कायम करने का विश्वास दिलाया गया तो १८ जनवरी को उपवास समाप्त कर दिया।

गाधीजी अधिकतर हिन्दू और सिक्खो के अपराधो को लक्ष्य करके प्रार्थनाओ के समय वक्तव्य दिया करते थे। इससे साम्प्रदायिक हिन्दू और सिक्खो के मन गाधी जी के प्रति भडक रहे थे। फलत ता० २०-१-१९४८ को बिडला-गृह मे प्रार्थना

१९. दिल्ली-डायरी, पृ० ३४४ ३४५

के समय एक हिन्दू नवयुवक ने वम्व फोडा। परन्तु किसी को हानि न पहुँच मकी। ३०-१-१९४८ को "गाधीजी ने प्रात काल मे अपने निजी सहगामी श्री विश्वान से कहा कि मेरे सव जरूरी जरूरी पत्र ले आओ, उनका उत्तर आज ही मुझे दे देना है, क्योकि सम्भव है कि कल मै रह ही न पाऊँ।"[20] इसके वाद उसी दिन सायकाल के पश्चात् गांधीजी विडला-गृह के वाहरी मैदान मे प्रार्थना-सभा मे जा रहे थे कि गोडसे ने अपने तमचे की तीन लगातार गोलिया गाधी जी को मारी। गाधी जी ने 'राम-राम' कहते हुए प्राण-त्याग किये।

मार्क्स और गाधी, दोनो के जीवन-काल पर एक साथ दृष्टिपात

मार्क्स और गाधी के जीवन-कालो की उपर्युक्त सक्षिप्त सूचियो पर एक साथ ध्यान देने से, सम्भव है, कुछ पाठक हम पर इस वात का दोष लगावे कि हमने मार्क्स काल का विवरण इतना लम्वा चौडा नही दिया जितना गाधी का दिया है। परन्तु यह हमने कुछ पक्षपात को लेकर नही किया। सक्षिप्तता पर ध्यान रखते हुए भी गाधी-काल के विवरण का कुछ लम्बा हो जाना हमारे लिये अनिवार्य हो गया। एक तो गाधी मार्क्स से १३ साल अधिक जीवित रहे इसलिये उनका जीवनवृत्तान्त लम्वा होना ही चाहिये, और दूसरे, गाधी की जीवनचर्य्या मार्क्स की जीवनचर्य्या से भिन्न थी। मार्क्स की जीवनी मे मुख्यत लेखनी और वाणी-व्यापार को प्रधानता रही, और गाधी की जीवनी मे प्रयोग और आचारो की। इसलिये सच पूछा जाय तो गाधी के जीवन-वृत्तान्त मे सक्षिप्तता का दोष आ गया है, न कि विस्तार का।

इन सूचियो को देखकर एक वात यह विदित हो जाती है कि गाधी मार्क्स से ५१ वर्ष पीछे उत्पन्न हुए, इसलिये इतने अरसे मे, परिस्थितियो मे कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक था। दूसरी वात हम यह देखते है कि विद्यालय सम्वन्वी दोनो की शिक्षा २२–२३ वर्ष की आयु तक समाप्त हो गई। तीसरी वात यह है कि शिक्षा समाप्त होने पर दो तीन साल तक दोनो का प्रधान लक्ष्य जीवन-निर्वाहक व्यवसाय की ओर रहा। इसलिये उस काल को हम उनका व्यावसायिक काल कह सकते हैं। इसके पश्चात् दोनो ने जन-सेवा क्षेत्रो मे पदार्पण किया और कुछ काल तक ख्याति-रश्मिया निकली। फिर वाद-वाद मे वे प्रखर हुई।

---

20 Mahatma Gandhi (afoersaid) pp 300-301

यहा पर हमारा ध्यान दो घटनाओ पर विशेष रूप मे आकर्षित होता है। एक है मार्क्स और गाधी की निर्धनता, और दूसरी है गाधी का मार्क्स की अपेक्षा दीर्घायु होना।

यद्यपि दोनो निर्धन रहे और निर्धनता की दशा ही मे दोनों का स्वर्गवास हुआ, तथापि दोनो की निर्धनता के रूप मे भेद था। मार्क्स के पास लक्ष्मी ने आना अस्वीकार किया, और गाधी के पास वह दौड-दौड कर आई। परन्तु गाधी ने उसका आलिगन करना अस्वीकार कर दिया। मार्क्स की सेवाओ का उनके जीवन-काल मे जनता के द्वारा इतना मान हुआ प्रतीत नही होता है कि जिससे उन्हे तथा उनके कुटुम्ब के जीवन-निर्वाह के लिये पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सकी हो। यदि फ्रेड्रिक ऐंगिल्सकी सहायता न मिली होती तो मार्क्स को।और क्या मुसीबतें भोगनी पडती वह ईश्वर ही जाने। इधर गाधी की सेवाओ का इतना अधिक मान हुआ, कि उन पर द्रव्य, आभूषण आदि की जनता की ओर से मानो वर्षा होती थी। यह बहुत पुरानी कहावत है कि सरस्वती और लक्ष्मी का सौतपन चला करता है। इसका अभिप्राय केवल यही है, जैसा कि आजकल भी देखा जाता है, कि लेखकों-वक्ताओं-विद्वानो, पण्डितो और धर्मज्ञो का लक्ष्य द्रव्य-सम्पादन की ओर नही रहता, और मूर्ख जनता भी उनकी आवश्यकताओ की ओर ध्यान नही देती। तब फिर प्रश्न उठता है कि गाधी के आस-पास लक्ष्मी ने क्यो चक्कर लगाये? इसका रहस्य मिलता है गाधी के प्रेममय आचार और त्याग मे जिसकी मार्क्स मे कमी थी। मार्क्स केवल मस्तिष्क और वाणी की वृत्ति मे फसे रहकर द्वन्द्वात्मक शत्रु-मित्र अथवा विरोधी-सहयोगी की भावनाओ मे उलझे रहे इसलिये जन-हृदय उनकी ओर न दौड सका। गाधी ने इसके विपरीत द्वन्द्वात्मक शत्रु-मित्र के भाव को पूर्णत त्यागकर शरीर-मन-आत्मा एव मन-वच-कर्म के सयोग बल पर आचरण रूप मे तप करके जनता के हृदय को अपनी ओर इतना अधिक आकर्षित किया कि सम्पत्तिवान और दरिद्र दोनो ने अपनी सम्पत्ति उनको समर्पण कर देने मे अहोभाग्य समझा। परन्तु जनता की सम्पत्ति को लेकर गाधी ने उसे अपने पास नही रखा, क्योंकि अपरिग्रह उनका सिद्धान्त था, जैसा आप आगे देखेंगे।

दूसरी घटना है, गाँधी के दीर्घायु होने की। यो तो सृष्टि के नियम के अनुसार एक न एक दिन सभी को मरना पडता है, फिर भी सबकी इच्छा यही रहती है कि वह अधिक से अधिक जियें। मृत्यु कभी कभी अकस्मात् भी आ जाया करती है। गाधी का देहावसान आकस्मिक घटना के कारण हुआ। यदि गोडसे ने उनकी हत्या न की होती तो सम्भव है वे नब्बे-सौ वर्ष तक पहुच जाते, हालाकि उनकी इच्छा तो सवासौ वर्ष तक जीने की थी। कहा जाता है कि मार्क्स कठिन परिश्रम के कारण

अधिक न जी सके। हमारी समझ में, यदि मनुष्य सदैव प्रसन्न-चित्त रहकर, सब को अपना आत्मीय जान, किसी से कोई द्वेष-भाव न रख, कर्मफल से विचलित न हो, शान्तिमय रहे, तो कठिन से कठिन परिश्रम करने पर भी उनकी आयु शीघ्र क्षीण नहीं होती। चिन्ता-ज्वाला न उठने के कारण उसका शरीर भस्मसात् होने से बचा रहता है। गांधी का परिश्रम और तप मार्क्स के परिश्रम और तप से कहीं अधिक था। यह किसी से छिपा नहीं है। फिर वे क्यों अधिक जिये ? उनकी दीर्घायु होने का एक प्रधान कारण हमे यही प्रतीत होता है, कि वे चिन्ताग्नि और मनोवेग को दूर रखते थे। दूसरा कारण था उनकी भोजनादिक सम्बन्धी संयमी दिनचर्या। इन्द्रिय संयम और अनुद्विग्न मन ही उन्हें अधिक काल तक जीवित रख सके और वे ही उन्हें सम्भवत शास्त्र-निर्धारित शतायु तक जीवित रखते। परन्तु जिस शैतान ने बहेलिया का रूप धारण कर कृष्णको घाव किया, यीशु मसीहको फांसी पर लटकाया, स्वामी दयानन्द सरस्वती को विष पिलाया, वह भला गांधीको शतायु तक किस प्रकार छोड सकता था।

भाग २

सिद्धान्त-दर्पण

५

वाद, प्रयोग और आचार

वाद का धात्वर्थ

'वाद' संज्ञा है, जो संस्कृत भाषा की धातु 'वद्' से बना है। 'वद्'का अर्थ होता है 'बोलना'। इसलिये 'वाद' का अर्थ हुआ 'कथन'। जब हम किसी 'कथन' की समीक्षा करते है तो हमारा ध्यान तीन बातो पर जाता है अर्थात् उस वस्तुविशेष पर जिसके विषय मे कहा जाय, दूसरे उस मनुष्य पर जो कहता है,और तीसरे उस साधन पर जिस के द्वारा कहा जाता है। शास्त्रज्ञ इन तीनो बातो को केवल तीन शब्दो मे कह डालते है, अर्थात् कथ्य, कथक और कथन। इसी दृष्टि से 'वाद' के विषय मे कहा जायगा, वाद्य वादी, और वाद, जैसा कि ज्ञान सम्बन्धमे ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञान अथवा ध्यान के सम्बन्ध मे ध्येय, ध्याता, ध्यान कहा जाता है।

यदि हम वाद तत्व पर उपर्युक्त त्रिविध दृष्टि से विचार करने लग जायँ, तो आवश्यकता से अधिक विस्तार हो जावेगा और विषयान्तर का दोष भी आ जायगा। फिर भी, जब इस पुस्तक का विषय ही यह है कि गाधी वाद, मार्क्स वाद', साम्य वाद पर विचार किया जाय, तो यह आवश्यक हो जाता है कि सर्वप्रथम हम इस 'वाद' के विषय ही मे कुछ जरूरी जानकारी कर ले।

वाद, प्रयोग और आचार

'वाद' वाणी का व्यापार है। इसी के द्वारा अपनी जानी हुई बाते दूसरे को बताई जा सकती है। यह बताने का कार्य तीन प्रकार से सम्पन्न होता है, यथा वाणी द्वारा बोलकर, हस्तादि द्वारा लिखकर या मूर्तिया आदि बनाकर,औरतीसरे शारीरिक अगो के द्वारा सकेतादि करके। इसकी उत्पत्ति होती है, एक तो उस समय जब हम किसी घटना या स्थान-विशेष का अनुभव कर उसका वर्णन करना चाहते है, और दूसरे उस समय जब हमारे भीतर उठे हुए किसी विचार या भावना को हम प्रकट करना चाहते है। घटना-स्थलादि दृश्य पदार्थो के वर्णन करने मे न तो उतनी कठिनता होती है, और न वस्तु एव वाद के बीच मे भिन्नता उपस्थित होने की उतनी सम्भावना

होती है, जितनी कि आन्तरिक भावनाओं को वाह्य 'वाद' के द्वारा व्यक्त करने में हो सकती है। जब 'यथार्थ' और 'वाद' में भिन्नता हो जाती है तो उसे 'असत्य' कहते हैं।

असत्य के कारण

असत्य कभी कभी जान बूझकर और कभी कभी विस्मृति या बुद्धिहीनता आदि के कारण अनजाने में हो जाया करता है। यथार्थ को वाह्यवाद-रूप में परिणत होने के लिये एक लम्बा-सा मार्ग पार करना पड़ता है। उस मार्ग में काम-क्रोधादि, उद्वेग-विद्वेषादि, प्रेम-मोहादि दुःख-भयादि अनेक प्रकार की मानसिक निर्बलताओं का वास रहता है। इसलिये यदि वादी में आन्तरिक निर्मलता और शुद्धता न रही तो यथार्थ जिसे सत्य कहते हैं, उपर्युक्त मलों में से ढुलकते ढुलकते वाहर आते आते तक एक अजीब, बेढंगा, कुछ-का-कुछ स्वरूप वाला बन जाता है। इतने पर भी यदि वादी की वाणी, या लेखनी या भाव-व्यक्त करने वाले शारीरिक अंगों में किसी प्रकार का दूषण हुआ, जैसे मूक होना, भाषा में दक्ष न होना इत्यादि, तो वह विगड़ा विगड़ाया वाह्य रूप और भी अधिक हास्यास्पद हो जाता है।

यह तो हुई उस एक ही मनुष्य की बात, जो स्वयं घटना-विशेष को देखता है, अथवा जिसके अन्तःकरण में भाव-विशेष उत्पन्न होता है, और वही दूसरों के सन्मुख उन्हें अपने 'वाद' के द्वारा प्रकट करता है। परन्तु जब उसकी कही हुई बातों को अर्थात् उसके कहे हुए वाद को कोई ऐसे दूसरे लोग दुहराने का प्रयत्न या दावा करते हैं, जो उपरोक्त दोषों से विहीन नहीं है तो फिर उस 'सत्य' की दशा वैसी ही समझो जैसी कि तुलसीदास जी ने निम्नांकित दोहे में व्यक्त की है —

> "ग्रह ग्रहीत पुनि वात वश, तेहि पुनि बीछी मार।
> ताहि पियाई वारुणी, कहहु कवन उपचार॥"[1]

इस दृश्य का यदि थोड़ा-बहुत नक्शा खींचना हो, तो न्यायालयों में पहुँच जाइये, और देखिये कि साक्षी देने वाले किस बुरी तरह से सत्य का गला घोटा करते हैं। कानून मनुष्य की उपर्युक्त निर्बलताओं को जानता है। इसलिये गवाह की गवाही प्रारम्भ होने के पूर्व न्यायाधीश उससे यह शपथ लेता है कि मैं ईमानसे सत्य बोलूगा। शहादत कानून (Evidence Act) ने यह भी रोक लगा रखी है कि गवाह किसी दूसरे के द्वारा कही हुई बात को सुन कर सुनी हुई बात के विषय में गवाही नहीं

---

१ रामायण, अयोध्या काण्ड, दोहा १७९।

दे सकता। सुनी हुई बात (hearsay evidencc) का न्यायालय मे दुहराना वर्जनीय है, और यदि कही भूल से दुहरा दी जाय तो वह न्यायाधीश के समक्ष निरर्थक और त्याज्य मानी जाती है। इतना ही नही, कानून ने यह भी कह रखा है कि अगर कोई गवाह झूठ बोलेगा तो वह दण्डनीय होगा। इतनी सब सावधानिया और भय होते हुए भी न्यायालयो मे असत्य का नृत्य प्रति पल हुआ ही करता है, ऐसा सभी जानते हैं।

यह तो हुआ न्यायालय का दृश्य जहाँ एक बुद्धिमान न्यायाधीश का डर, शपथ का डर, और खुद सजा पाने का डर रहते हुए भी वादरूपी जाल सत्य को ढाँक देता है। अब इससे भी अधिक भयकर एक और वाद-दृश्य को देखिये। अ और ब कानपूर शहर के वासी है। अ ने ब को मारा। अ हिन्दू है और ब मुसलमान। स और ड दर्शक है। स और ड ने अलग अलग जाकर भिन्न भिन्न स्थानो पर, भिन्न मनुष्यो से अ और ब की मार-पीट की चर्चा की। इस चर्चा का विस्तार हुआ। एक ने दूसरे से कहा, दूसरे ने तीसरे से, तीसरे ने चौथे से, इस तरह कहते सुनते चर्चा बढती गई। बढते-बढते थोडी ही देर मे वह शहर भर मे फैल गई। बस, फिर क्या है! सारे शहर के हिन्दू मुसलमानो मे काट छाट होना आरम्भ हो गया, हालाकि अ और ब की लडाई का कारण एक साधारण घरेलू बात थी, उन दोनो के बच्चो के बीच मे खेल-खेल पर से गाली-गलौज हो गया था।

परन्तु इससे भी अधिक भीषण एक वाद होता है, जिसे राज्याधिकारी एव अन्य पढे लिखे विद्वान् कहे जाने वाले व्यक्ति वक्तव्य (Statement) एव सन्देश (Communication) के नाम से प्रकट करते हैं। इस प्रकार के वक्तव्यो और सन्देशो की गणना राजनैतिक छल-छन्द मे की जाने योग्य है। जनता की आखो मे धूल झोकने वाले ये वक्तव्यादि सत्य को ऐसी बुरी तरह से हलाल करते है कि उनके वक्ताओ को छली, कपटी, धूर्त, बेईमान भी कहा जाय तो उनके प्रति कोई ज्यादती नही कही जा सकती। यदि अज्ञान कसाई अपनी मूर्खतावश जानकर या अनजान मे किसी पशु का वध करे तो वह अज्ञानता के कारण क्षम्य हो सकता है, परन्तु यदि जानने वाला विद्वान उसकी हत्या करे तो वह अक्षम्य अपराधी ही होता है। जो लोग अपने मस्तिष्क का दुरुपयोग करके सत्य की हत्या करते है वे समाज के लिये उन वेश्याओ आदि से भी बदतर है, जो अपनी अज्ञानता एव दरिद्रता के वश केवल अपना शरीर भजन ही कराती है। मस्तिष्क-भजन शरीर-भजन से अधिक पतनकारी होता है, और आत्म-भजन उससे भी अधिक। ऐसा गाधी का राजनैतिक रोग का निदान है।

इनके अतिरिक्त एक वाद और भी है जो वर्तमान समाज मे अनेको को, विशेषत

नव-समाज को कलुषित एव विनाशकारी उतरे की ओर बडी तेजी से घसीटता जा रहा है। वह है तो नव को प्रिय, और उसका नाम भी बडा मनोहर है, परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से उसका इतना दुरुपयोग किया जाता है कि वह समाज के लिये प्राय अहितकर सा ही सिद्ध हो रहा है। उसका नाम है वाक्-स्वातन्त्र्य (Freedom of Speech)। प्रत्येक देश के विधान मे उसे प्रधानता दी जाती है। प्रत्येक मनुष्य उसे प्राप्त करने के लिये विरोधिनी शक्तियो के सन्मुख अपनी जान लडाने को उद्यत रहता है। परन्तु जब उसका उपयोग किया जाता है तब देखा यह जाता है कि बहुत से लोग वाक्-स्वतन्त्रता के बहाने वाक्-स्वच्छन्दता ही बरतते है। वाक्-स्वातन्त्र्य के लक्षण देखे जाय, तो यह कह सकते है, कि सत्य उसकी आत्मा है, तो स्पष्टवादिता उसका प्राण। विनम्रता उसकी शोभा है, तो शान्ति, अहिंसा, श्रद्धा, सन्मान, सहिष्णुता उसके आभूषण। परन्तु जब उसके प्रचलित स्वरूप का निरीक्षण करते है तब चाहे हम समाचार-पत्रो को पढ ले अथवा प्लेटफार्मो पर सुन ले, या स्कूल कालेजो मे जाकर देख ले और चाहे तो घर की घरेलू बातो पर ही विचार कर ले, प्राय सब जगह मिलता है सत्य के स्थान पर असत्य, स्पष्टवाद के बहाने उद्दण्डता, उद्वेग और हठ, विनम्रता की जगह दम्भ, दर्प और अभिमान, एव शान्ति अहिंसा आभूषणो के बदले अशान्ति हिंसादि, असत्कृत्य, जगली सजावट। साराश यह है कि इस प्रकार का वाक्-स्वातन्त्र्य वे-लगाम जीभ की बिगडी हुई चाल हो रही है। कुछ लोग इस पर कानून की लगाम चढाकर सीधे मार्ग पर ले जाना चाहते है तो कुछ दूसरे यह कहकर उसका विरोध करते है कि कानून के द्वारा अवरोध करने से वाक्-स्वातन्त्र्य ही क्या रहा। जो अधिक विचारवान है, उनका आग्रह तो इस बात पर रहता है कि आत्म-नियन्त्रण रूपी लगाम चढाकर ही वाक्-स्वातन्त्र्य का उपयोग करना चाहिये। अन्य कुछ दूसरे ऐसे लोग है जो इस वाक् स्वच्छन्दता की बाढ को रोकने के लिये जन-आलोचना अथवा जन-सम्मति को दृढ और तीव्र बनाने पर जोर देते है। परन्तु समाज मे, विशेषकर आधुनिक काल के समाज मे, दलबन्दी की इतनी प्रबलता है—दल ही तो आधुनिक स्वातन्त्र्य-वाद के आधार है—कि कार्यकर्ता अप्रबुद्धजनो (masses) अथवा दल-विशेष के लोगो (Party-men) की प्रशसापूर्ण करतल ध्वनि के बहाव मे इस तेजी के साथ बहा करते है, कि जन-सम्मति की नौका उन्हे पकड कर रोक रखने मे असमर्थ हो पीछे ही रह जाती है। फिर जन-सम्मति की पहचान ही क्या ? वे इसी पक्षपात अथवा मूर्खता-पूर्ण प्रशसात्मक ध्वनि को जन-सम्मति कहकर अपना उल्लू सीधा किया करते है। गरज यह है कि जब समाज मे याथात्म्य के स्थान पर वादात्म्य की प्रधानता आ जाती है, यथार्थ के बदले आडम्बर की भेष-भूषा बट जाती है, अथवा सत्य को लम्बी-चौडी लच्छेदार तर्कादि की पोशाक पहिनाकर ढाक दिया जाता है,

तब धर्मनीति का ह्रास होकर साम्प्रदायिकता का साम्राज्य स्थापित होने लगता है।

इतिहास की साक्षी के आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है, कि 'वाद' के पीछे दौड़ने वाले सम्प्रदायों के बीच में सदैव मुठभेड़ हुआ करती है, यहां तक कि परस्पर रक्त-धारें भी बह जाया करती है।

सत्यमय वाद की प्राप्ति का साधन

परन्तु हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है, कि 'वाद' के स्थान में मौन धारण करके बैठ जाना ही श्रेयस्कर है। यद्यपि आत्मोत्कर्ष के साधनों में 'मौन' का बड़ा उच्च-स्थान है तथापि 'वाद' का स्थान भी कोई कम नहीं। यदि वाद न हो तो समाज का क्षण भर भी काम न चले। वाद सत्यपूर्ण हो, यही हमारा अभिप्राय है। यों तो यह सर्वमान्य है कि सत्य बोलने के लिए कोई चातुर्य की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि सत्य में कोई टेढ़-टाप, घूम-घुमाव नहीं रहता। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि वादी टेढ-टाप घूम-घुमाव वाला न हो, अर्थात् उसमें किसी प्रकार के मनोविकार न हो। चूंकि मनोविकार शरीर का स्वाभाविक लक्षण है, इसलिए शास्त्रों का कथन है कि वादी को विकारहीन होकर सब ओर से देखभाल कर लेने के पश्चात् कथन करना चाहिये। गीता में कहा है कि जिस मनुष्य की बुद्धि स्थिर होकर निश्चयात्मक नहीं हो जाती और इधर-उधर डावाडोल होती हुई, पत्ते-पत्ते पर भ्रमती रहती है, वह सर्वदर्शी होने के बजाय संकीर्णदर्शी (अविपश्चिता) होकर, मैं यह जानता हूं, मैं वह जानता हूँ, इस प्रकार (वेदवादरता) की डींग मारने में लगा हुआ केवल बड़ी बड़ी फुरेरी बातें (पुरिप्पता वाच) बनाया करता है (प्रवदन्ति)। इसलिए गीता का सर्व-प्रधान आदेश है कि बुद्धि की शरण में जाने के लिये हर घड़ी इच्छा करता रहे (बुद्धौ शरणमन्विच्छ) क्योंकि ऐसा करते करते मनो-विकारों के कारण उत्पन्न हुए मोहरूपी दलदल को पार कर सकोगे और तब (त्रैगुण विषया)' वेद-वाद के परे की निर्वेद स्थिति को पहुंच सकोगे, जहाँ पर श्रोतव्य (सुनने योग्य) और श्रुत (सुना हुआ) दोनों का अभाव हो जाता है। अर्थात् जहाँ पर निर्द्वन्द्व नित्य के अतिरिक्त कोई दूसरा आभास नहीं रहता। यदि हरदम बुद्धि को निर्मल बनाने के प्रयत्न में न लगे रहोगे तो बुद्धि का नाश निश्चय है, और बुद्धि के नाश होनेसे सर्वस्व क्रमश नष्ट हो जाता है (बुद्धिनाशात्प्रणश्यति)। वाद के दोषों को ही ध्यान में रख कर प्रतीत होता है कि गीता के रचयिता वेदव्यासजी ने

---

२. गीता, २।४१, ४२, ४५, ४९, ५२, ६३।

विद्वान (विद्-वान)को आदेश दिया है कि वह अपने वाद के द्वारा अज्ञानियो की बुद्धि को कभी डावाडोल, भ्रममय या विचलित न करे (न बुद्धिभेद जनयेदज्ञाना)[३] क्योंकि बुद्धि-भेद के उत्पन्न होने पर कर्मों मे आसक्त अविद्वान अपनी ही स्वार्थमय धुन मे लगे रहते है। बहुत हुआ तो पूर्वोक्त विद्वानो के द्वारा कहे गये गलत मार्गों को ही वे लोग लोक-संग्रह अथवा समाज-समन्वय के मार्ग समझने लगते हैं।

साम्प्रदायिक वाद

यो तो मूलार्थ की दृष्टि से व्यक्तिगत कथन ही वाद कहाता है, और उसी दृष्टि से न्यायालय आदि मे वाद-पत्र, प्रतिवाद-पत्र, वादी, प्रतिवादी शब्दो का प्रयोग भी होता है। परन्तु इस साधारण अर्थ के अतिरिक्त वाद एक विशेष अर्थ-सूचक भी होता है और उसी मे सम्यन्वित हमारा प्रस्तुत विषय है। यह होता है, जन-समूह विशेष का वह सैद्धान्तिक कथन जिस का आधार किसी पूर्व पुरुष के द्वारा निर्मित किया हुआ सिद्धान्त रहता है। उस पूर्व पुरुष के अनुयायियो का ही हाथ अधिकतर इस प्रकार के वादो को जन्म देने मे रहता है। यही बात आचार्य कृपलानी ने यो कही है, कि "सभी वादो का जन्म उन लोगो की प्रेरणा से नहीं होता, जिनके नाम पर कि वे स्थापित और प्रचलित किये जाते है, बल्कि मूल विचारो पर अनुयायियों द्वारा लादी जानेवाली मर्यादाओ के फलस्वरूप वे अस्तित्व मे आते है। रचनात्मक प्रतिभा के अभाव मे अनुयायी प्रणालियाँ कायम करते और सगठन बनाते है। ऐसा करते समय वे मूल सिद्धान्तो को कठोर, स्थिर, एकपक्षी और कट्टर बना देते है। उनकी प्रारम्भिक ताजगी और परिवर्तनशीलता नष्ट हो जाती है, जो कि जीवन की निशानी है।"[४]

कहावत है "यावत्कालस्तावद्वाद" अर्थात् जब तक काल है तब तक वाद का अस्तित्व नही मिटता। इसलिये जहाँ मनुष्य समाज है वहाँ वाद रहता ही है। वाद मे सबसे बडा दुर्गुण यदि है तो वह यह है कि वह हमेशा अपनी ही नाम की पुष्टि के लिये एडी से चोटी तक कोशिश करता है। सत्य का गला घुटे तो घुट जाय पर वाद अपनी ही धोकता रहता है। इसीलिये श्री मश्रुवाला ने एक प्रसग पर लिखते हुए यह कहा था कि "जिनके मत, स्वभाव, शुभाशुभ वासनायें अपक्व है, उनके विचारो मे, या मतो मे ऐसे वादो से कदाचित् परिवर्तन होगा। बहुत शास्त्रार्थ और चर्चा

---

३ गीता, ३।२६।

४ गाधीवाद समाजवाद, पृष्ठ ५० पर कृपलानीजी का लेख, 'गाधीजी का मार्ग'।

करने के वाद हरेक अपने पूर्वमत पर ही अधिक दृढ होगा।"[5] चाहे जिस तरह से हो सचाई से या झुठाई से, वृद्धि से या तर्क से, छल से या उद्दण्डता से मेरी ही वात कायम रहे दूसरे की न चलने पाये यही वाद का जीवन मूल है। विवेकहीन हठ मानो इसका प्राण होता है, और जहाँ इस प्रकार का हठ हो वहाँ कुकर्मों और दोषो का क्या ठिकाना!

साम्यवाद और साम्यवादियो की त्रुटियो पर एक दृष्टि

सामान्यत जो दोष विशेष अर्थसूचक अन्य वादो मे समय समय पर देखे गये हैं, वे किसी न किसी रूप मे साम्यवाद मे भी प्रविष्ट है। यद्यपि 'साम्य' सर्वोत्कृष्ट भाव-वाचक शब्द है, जैसा कि हम आगामी पाँचवे अध्याय मे देखेंगे, तथापि उसको प्राप्त कराने के लिये जो 'वाद' उठ खडा हुआ है, वह उल्टा असाम्य की ओर ले जानेवाला सिद्ध हो रहा है। साम्यवादी कहे जाने वाले हजारो नवयुवको, पढे-लिखे या बे-पढे-लिखे नौजवानो के पास पहुँचकर उनसे भला पूछिये तो सही कि क्या वे 'साम्य' का अर्थ समझते है, और यदि समझते है, तो क्या वे अपनी जीवनचर्या मे उसका प्रयोग करते है? वे तो 'साम्य' का अर्थ केवल यही लगाते है कि समाज मे राजा-रक, पुरुष-स्त्री, पूजीपति-श्रमिक को एक घाट उतार दिया जाय। वे कहते है कि हम स्वय श्रमजीवी तो नहीं है, परन्तु श्रमिको के नेता वन श्रमिको के द्वारा पूजीपतियो को चरपट करा देगे। इसमे हमारे व्यक्तिगत आचार से क्या मतलव? हमारे गुरु ने तो इस एक घाट उतारने की क्रिया यह वता दी है और अभी भी वही वताई जा रही है कि जो तुम से ऊँचे स्तर पर दिखाई दे—चाहे आर्थिक स्तर हो या राजनैतिक उसे पकड कर नीचे घसीट लो, उसकी सम्पत्ति छीन लो, और ऐसा करने के लिये शस्त्र-प्रहार, सग्राम आदि का प्रयोग कर खून की नदियाँ वहाने मे भी आगा-पीछा मत करो। खुद उठो न उठो, पर दूसरे को जरूर नीचे गिरा लो, भले ही ऐसा करने मे तुम्हारा आत्मिक वा नैतिक स्तर गिरता हुआ तुम्हे पशु-श्रेणी तक ले जावे। जव तुम उन्हे नीचे गिरा लोगे, तव फिर अपना नैतिक स्तर ऊँचा कर लेना।

जिस वाद के प्रणेता और और उच्च कोटि के अनुयायियो ने उसमे उक्त प्रकार के सिद्धान्त निहित कर रखे हो, उस वाद के अन्य साधारण अनुयायी यदि साम्य के स्थान मे असाम्य की ओर बढते जाय तो कोई आश्चर्य नही। एक ओर तो वाद ही दोष-युक्त, और दूसरी ओर, उसकी अनभिज्ञता। अनभिज्ञता ही नही, मक्कारी का खेल भी कुछ कम नही है। आप ऐसे सैकडो ढोगियो को देखेगे जो अपने आप को

---

५ 'सर्वोदय' (मार्च सन् १९५१), पृष्ठ ४६१।

साम्यवादी कहते है, यह है यथार्थत स्वय पूंजीपति या भूमिपति अथवा पूँजीपतिये' या भूमिपतियो के लाडले लाल या सहोदर।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि जब कोई नवीन वाद खडा होता है तब उसमे जोश रहता है—स्फूर्ति रहती है। जब इस वाद का उपदेश केवल लौकिक सुखोपयोग के लिये होता है तो वह शीघ्र और अत्यन्त सर्वलोक प्रिय बन बैठता है, क्योंकि वह मोहक होता है उसके लिये न कठिन तप की आवश्यकता और न नैतिक साधकता की ही। सुलभ शीघ्र-सुख-प्रलोभन उसका मार्ग है, और बाह्य-सुख-आशा उसका चमकता हुआ प्रकाश, जो दुख-पूर्ण अधकारमय जीवन रात्रि के समय अपनी ओर सर्व-साधारण को पतगो के समूह के समान आकृष्ट करता है।

गाधीवादियो के दोष

साम्यवाद की वर्तमान गति-विधि को देखने के पश्चात् यदि अब हम उस मार्ग की ओर जिसे लोग गाधी-वाद कहने लग गये है, दृष्टि डाले तो कहना पडता है कि उसके अनुयायी साम्यवाद के अनुयायियो की अपेक्षा अधिक दोषी कहे जाने योग्य है। गाँधी जी का मूल सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना आन्तरिक और बाह्यजीवन इस प्रकार निर्मल-स्वच्छ बनाना चाहिये जिस प्रकार मैल से लिपटे हुए सफेद कपडे को सनलाइट साबुन लगाकर साफ कर लिया जाता है। इसलिये यदि कोई मनुष्य गाधीवादी कहलाने का दावा करे अथवा गाधी नाम की दुहाई देवे, और फिर ऐसे कृत्य करता हुआ पाया जाय, जिनसे आन्तरिक जीवन मे कालिख जमे, तो वह उस मनुष्य से अधिक अपराधी समझा जावेगा जो आन्तरिक निर्मलता पर न विचार करता है और न उसकी दुहाई ही देता है। गाधी-भक्त ने, यदि जानते हुए अपने जीवन-पटल पर अनैतिक्ता की एक भी कालिमा-पूर्ण बिन्दु लगने का अवकाश दिया तो, हमारी दृष्टि मे वह छोटी सी बिन्दु विराट कालेपन से भी खराब है। इस कसौटी पर कसकर देखने से हमे यह कहते हुए दु ख होता है कि हिन्दुस्तान ही मे, जो गाधीवाद का मूल स्थान है, एक नही अनेको गाधी-भक्त कहलाने वाले सत्ता-भोगी एव सत्ताभोगियो के पिछलगुआ अपने अनैतिक छल-छन्दमय स्वार्थ के कारण निष्क-लक गाधीवाद पर छीटाकशी कर रहे है। श्री यशपाल जी ने अपनी पुस्तक 'राम-राज्य की कथा' मे इन अनुयायियो के दोषो के कारण गाधी-वाद की ही उखाड-पछाड की है। पर यह अन्याय है, क्योंकि वादियो के दूषण वाद को दूषित नही बना सकते। वाद की समालोचना तो उसके सिद्धान्त, नियमादि देख कर ही करना चाहिये, न कि गाधीवादी कहलाने वाले अयोग्य शासको के 'शासनफन्दो' को देखकर।

गाधी-दृष्टि मे वाद, प्रयोग और आचार का स्थान

गाधी जी 'वाद' के दावो को जानते थे। समाज मे 'वाद' 'वकवाद' का रूप धारण कर सब ओर मे उसे वरवाद कर रहा था। इसलिये निरे 'वाद' पर उनका कोई विश्वास नही था। वे चाहते थे कि वही कहा जाय जो मन मे हो, और वही करके वताया जाय जो कहा जावे। अर्थात् मन, वाणी और कर्म मे समानता रहे। केवल वाणी के द्वारा शिक्षा देना उन्हे कभी मान्य नही रहा। उन्हे कर्म-योग ही श्रेयस्कर था और इसीलिये वे सारे जीवन भर उन कर्मों को करते रहे जिनसे उनका जीवन-पट निखरता ही रहे। इन्ही कर्मों को उन्होने 'सत्य' के प्रयोग (Experiments with Truth) कहा है। और इसी कारण से उन्होने अपने स्वरचित जीवन वृत्तान्त को जो हिन्दी मे 'आत्म-कथा' के नाम से प्रसिद्ध है "सत्य के प्रयोग" ही नाम दिया है। सृष्टि एक विज्ञान-शाला है, अथवा एक रसायन-शाला ही कहिये। जिस प्रकार रसायन-शाला मे रसायन शास्त्र के विद्यार्थी वहा रखे हुए भिन्न-भिन्न पदार्थो एव रसो का सयोग-वियोग करते हुए 'प्रयोग' किया करते है, उसी प्रकार सृष्टि शाला मे विद्यमान सत्य वस्तुओ के योग से गाधी जी निरन्तर प्रयोग करते हुए उनके परिणामो को अपनी जीवन रूपी पुस्तक मे अकित कर छोड गये है। उन्होने यह स्पष्ट कहा है कि मेरा न कोई नया सिद्धान्त है और न कोई नया सन्देश। सिद्धान्त तो शाश्वत सनातन है, जिसे पूर्वतम काल से लेकर अभी तक अनेक द्रष्टाओ ने देखा है। मै तो, उनका कहना है, केवल एक छोटे से पथिक के रूप मे उस सनातन सत्य सिद्धान्त का अपने जीवन मे पालन करने के लिये प्रयोग करने वाला हूँ। इसीलिए उन्होने सन् १९२६ के लगभग अपनी 'आत्मकथा' की प्रस्तावना मे स्पष्ट कह दिया है कि "मै चाहता हू, मेरी विनय है, कि मेरे लेखो को कोई प्रमाणभूत न माने। उनमे प्रदर्शित प्रयोगो को उदाहरण रूप मान कर सब अपने अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करे।"[६]

इसके वाद सन् १९३६ की वात है जव गाधीवाद की आयु ४३ वर्ष की हो चुकी थी और मार्क्सवाद की प्राय सौ वर्ष की। दोनो के सिद्धान्तो की चर्चा पूर्व-पश्चिम के सभी देशो मे गाधीवाद और मार्क्स (अथवा साम्यवाद) के नाम से चल रही थी, तव गाधी जी ने कहा था कि "गाधीवाद" नामकी कोई वस्तु है ही नही, और न मै अपने पीछे कोई सम्प्रदाय छोड जाना चाहता हूँ। मेरा यह दावा भी नही है, कि मैने किसी नये तत्त्व या सिद्धान्त का आविष्कार किया है। मै ने तो सिर्फ जो शाश्वत सत्य है, उसको अपने नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नो पर अपने ढग

---

६. आत्म-कथा (खड १), प्रस्तावना, पृष्ठ ६।

मे उतारने का प्रयास मात्र किया है। जो राय मैंने कायम की है और जिन निर्णयों पर मै पहुँचा हूँ वे भी अन्तिम नहीं हैं। हो सकता है, मैं कल ही उन्हें बदल दूं। मुझे दुनिया को नई चीज नही सिखानी है। सत्य और अहिंसा अनादि काल मे चले आये है। मैंने तो जहाँ तक मैं कर सका, इन दोनो के अपने जीवन मे प्रयोग भर किये है। ऐसा करते हुए कई बार मैंने गलती भी की है, और उन गलतियों से मैंने सीखा भी है। मतलब जीवन और उसके प्रश्नो द्वारा मुझे सत्य और अहिंसा के आचरणगत प्रयोग करने का अवसर मिल गया है। स्वभाव से मैं सत्यवादी तो था, किन्तु अहिंसक न था——सत्य की उपासना करते करते ही मुझे अहिंसा भी मिली है।

"ऊपर जो कुछ मैंने कहा है उसमे मेरा सारा तत्वज्ञान, यदि मेरे विचारो को इतना बडा मान दिया जा सकता हो तो, समा जाता है। आप इसे 'गाधीवाद' न कहिये, क्योंकि उसमे 'वाद' जैसी कोई बात नही है"।[7]

परन्तु 'काग्रेस का इतिहास' पृष्ठ ४६० के आधार पर यशपाल जी लिखते हैं कि "कराची काग्रेस के मौके पर (२५-३-३१) अपने कार्यक्रम का विरोध करने वालो को उत्तर देते समय उन्होंने (गाधी जी ने) बलपूर्वक घोषणा की थी—'गाधी मर सकता है परन्तु गाधीवाद अमर रहेगा'। (इसलिए) गांधी जी की इस घोषणा के अनुसार गाधीवाद शब्द का प्रयोग गाधी जी के सिद्धान्तो के प्रति अनुचित नही समझा जा सकता।"[8] 'गाधीवाद अमर रहेगा' इन शब्दो मे आये हुए 'गांधीवाद' शब्द से यह अर्थ नही निकाला जा सकता कि गाधी जी का अभिप्राय अपने द्वारा चलाये हुए किसी सम्प्रदाय अथवा लीक-विशेष से था। गाधी जो कहता चला आ रहा है वह अमर रहेगा यह उनका अभिप्राय था। और गाधी क्या कहता चला जा रहा है? यही न कि "मुझे दुनिया को कोई नई चीज नही सिखानी है।" सिर्फ जो शाश्वत सत्य है, "सिर्फ जो सत्य और अहिंसा अनादि काल से चले आये हैं" उन्ही को तो वे दुहराते हैं। यही उसका वाद है। परन्तु जब गाधी जी ने देखा कि लोग 'शाश्वत सत्य' और 'अहिंसा' के अनुरूप कर्म तो नही करते वरन् व्यर्थ वाद-विवाद मे ही फँसे जा रहे हैं तो उन्होंने सन् १९३६ मे लोगो को आगाह कर दिया कि जो कुछ मैं कहता हूँ "उसे गाधीवाद न कहिये क्योंकि उसमे वाद जैसी कोई बात नही है।"

---

७ हरिजन बन्धु, २९-३-१९३६ (गाधीवाद . समाजवाद, पृ० १-२ पर)।

८ राम-राज्य की कथा, पृष्ठ १९।

गाधी के अनुयायियो की नाम-संबधी खोज और लेखक की सूझ

जब गाधी जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि मेरे विचारो को गाधीवाद न कहा जाय तो उनके कुछ अनुयायियो के मन मे स्वाभाविकत यह प्रश्न उठा कि यदि गाधी-वाद न कहा जाय तव फिर क्या कहा जाय। इसका एक निश्चित निर्णय वे लोग नही कर पाये। सन् १९३९ मे किशोरीलाल घनश्याम मसरूवाला ने अपने 'सर्वोदय' शीर्षक लेख मे यह लिखा था कि अगर 'वाद' के मानी ये हो कि एक निश्चित ढांचे मे तैयार किया हुआ जीवन का पूरा-पूरा नकशा, तो गाधीवाद जैसी कोई चीज नही है। अगर 'वाद' के मानी ये भी हो कि ऐमा एक पूर्ण शास्त्र, जिसे देखकर जीवन सम्बन्धी किसी भी मुआमले का जवाव हासिल कर लिया जाय, तो भी कहना होगा कि गाधीवाद जैसी कोई चीज नही है। लेकिन अगर 'वाद' के मानी हो जीवन व्यवहार के लिये कुछ मोटे नैतिक सिद्धान्तो का स्वीकार, तो मानना होगा कि गाधी-वाद नाम की एक चीज और एक व्यवहार-मार्ग उत्पन्न हो चुका है। अगर उनके लिये सूचक नाम देना हो तो क्रमश **सर्वोदयवाद** और **सत्याग्रह मार्ग** कह सकते है।"[९] इसी प्रकार काका कालेलकर ने लिखा है कि "जितने लोगोने गाधी जी की दृष्टि और उनकी कार्य-पद्धति को पहचाना है, वे सव हमेशा यह कहते आये है कि 'गाधी वाद' जैसी कोई चीज है ही नही।—गाधी-मत कहने की अपेक्षा **सर्वोदयकारी समाज-व्यवस्था** ऐसा शब्द प्रयोग करे तो शायद अच्छा होगा।"[१०] इसी तरह आचार्य कृपलानी जी ने 'गाधीवाद' के वजाय उसे 'सामाजिक और राजनैतिक समस्याओ के वारे मे गाधी जी का दृष्टिकोण' अथवा सक्षेप मे 'गाधी जी का मार्ग कहना पसन्द किया है'[११] परन्तु इसके विपरीत श्री हरिभाऊ उपाध्याय का कहना हे कि "गाधी जी को पसन्द हो या न हो हम लोगो ने तो उनके विचारो को 'गाधी वाद' नाम दे ही डाला है। अतएव हमारे लिये यही समझना वाकी रह जाता है कि 'गाधीवाद' है क्या, और गाधीवाद किस सामाजिक आदर्श को किस तरह पहुँचना चाहता हे।[१२] इसमे सन्देह नही कि गाधी जी के विरोध करने पर भी उनके वताये हुए मार्गको लोग आम तोर से हिन्दी आदि भाषा मे 'गाधीवाद' और अग्रेजी भाषा मे गाधीज्म (Gandhism) कहने लग गये है। हमारी समझ मे गाधी-वाद की अपेक्षा गाधीज्म शब्द अधिक उपयुक्त है, क्योकि उसका अर्थ 'गाधीत्व'

---

९ गाधीवाद समाजवाद, पृष्ठ २३ (निम्नाकित रेखायें मेरी है)।

१० गाधीवाद समाजवाद, पृष्ठ १८१-१८२ (निम्नाकित रेखा मेरी है)

११ गाधीवाद : समाजवाद, पृष्ठ ५० (निम्नाकित रेखा मेरी है)

१२. गाधीवाद समाजवाद, पृष्ठ ३१ (निम्नाकित रेखा मेरी है)

होता है न कि 'गांधीवाद'। 'गांधीत्व' के अन्तर्गत गांधीजी की न केवल मानसिक, बल्कि आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं का भी सार आ जाता है। कुछ भी हो जब गांधी जी ने खुले शब्दों में यह कह रखा है कि मैं अपने पीछे 'गांधी-वाद' नाम से कहलाने वाला कोई सम्प्रदाय नहीं छोड़ जाना चाहता, तब फिर उनके बनाये हुए मार्ग को 'गांधीवाद' ही कहते रहना उनकी आत्मा के प्रति अन्याय होता है। जब उन्होंने शाश्वत सत्य और अहिंसा के अपने जीवन में प्रयोग भर किये हैं और प्रयोगशाला के विद्यार्थी की तरह उन प्रयोगों को करते समय उन्होंने कई बार गलती भी की है और उन गलतियों में सीखा भी है तब बेहतर यही समझ में आता है कि हम उनके द्वारा बताये हुए मार्ग का दर्शन 'गांधी-प्रयोग' कहकर ही करें। परन्तु इनमें भी अधिक उपयुक्त नाम हमारी समझ में 'गांधी-आचार' (गान्ध्याचार) होगा, क्योंकि प्रयोग-मात्र कहने से आचरण की प्रधानता महसूस नहीं हो सकती। इसीलिये उन्होंने अपने पूर्वोक्त वक्तव्य में आगे चलकर यह स्पष्ट बता दिया है कि "मुझे सत्य और अहिंसा के आचरणगत प्रयोग करने का अवसर मिल गया है"।

'प्रयोग' शब्द का पृथक्करण

'प्रयोग' शब्द का महत्व है। वह 'प्र' उपसर्ग और 'योग' शब्द से बना है (प्रयोग)। ये दोनों खण्ड अर्थयुक्त हैं। अतः पहिले हमें 'योग' शब्द का ही महत्व जानना चाहिये।

'योग'-व्याख्या

'योग' का अर्थ साधारणतः हम सभी जानते हैं। उसका अर्थ होता है 'जोड़', अथवा बिखरी हुई चीजों का एकत्व। एकत्व में बल शक्ति होती है और भिन्नत्व में निर्बलता अथवा अशक्ति। अपने हाथ में एक लेन्स याने चश्मा या एक कांच लो। उसको सूर्य की ओर इस प्रकार करो कि जिससे सूर्य की बिखरी हुई किरणें उसे पार करती हुई एकस्थ हो जावें अर्थात् एक ही स्थान पर केन्द्रित हो जावें। किरणों के केन्द्रित स्थापन पर एक मैचस्टिक (दियासलाई की सींक) का रोगन तरफ का हिस्सा रखिये। थोड़ी देर में आप देखेंगे कि वह रोगन किरणों की एकस्थ आंच के कारण आप से आप जल उठता है। यह है योग बल का एक साधारण सा प्रत्यक्ष उदाहरण। कितनी शक्ति है उस एकत्व में, यह आपने देखा।

अब जरा अपने शरीर ही की ओर देखिए। सूर्य के समान हम शक्ति-पुञ्ज हैं। सूर्य की किरणों के समान हमारी शक्ति बंटी हुई इधर-उधर बिखर जाती है। इस

उनका अर्थ है कि हम अपने शक्ति-ह्रासक कारणों को अपने वशीभूत करके रखें, न कि वे हमें अपने वशीभूत कर लें। जिन पुस्तकों में, मनुष्य की बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करने की साधनायें अंकित की जाती हैं, अथवा नियम बताये जाते हैं उन्हें ही योगशास्त्र कहते हैं। ध्यान बंटे रहने से, शक्ति बिखरी रहने से, सिद्धियां (attainments) कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। अतः योग उन नियमों और साधनाओं के समूह को कहते हैं, जिनके अभ्यास से हमारा ध्यान, हमारी शक्ति, एक स्थान पर केन्द्रित हो सके, और फलतः हमारे कार्यों में सिद्धियां प्राप्त हो सकें। गरज यह है कि जहां कार्य करने की क्षमता, दक्षता या कुशलता है उसीका नाम योग है।[18]

व्यापक और विशेष योग

'योग' उसी प्रकार व्यापक शब्द है जैसा कि हम पहिले 'धर्म' शब्द के विषय में कह आये हैं। जब किसी कार्य-विशेष की कार्य-कुशलता के विषय में विचार प्रकट करना होता है, तब 'योग' शब्द के पहले उस कार्य-विशेष का नाम जोड़ दिया जाता है, जैसे राजयोग, ध्यानयोग, हठयोग या देहयोग, भक्तियोग इत्यादि। इसी-लिये आप देखेंगे कि गीता के अठारहों अध्यायों में वर्णित भिन्न-भिन्न विषयों को प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'योग' शब्द के साथ संकेत किया है, जैसे अर्जुन-विषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञान कार्य संन्यास योग इत्यादि। श्री एम० आर० जम्बूनाथन् ने यह कहकर कि योग अनेक प्रकार के होते हैं, दृष्टान्त स्वरूप उसके चालीस वर्गों के नाम दिये हैं, यथा, कर्मयोग, प्रेमयोग, विरहयोग, वृत्तयोग, सिद्धियोग, साम्ययोग, स्वातन्त्र्ययोग इत्यादि। भारतीय संस्कृति में न केवल पारलौकिक वरन् लौकिक जीवन की सार्थकता पर भी अधिक लक्ष्य देखा गया है। साधारण से साधारण कार्य सम्पन्न करने के हेतु 'योग' शब्द पर साहित्य और नित्यप्रति की बोल-चाल में जोर दिया हुआ पाया जाता है। जैसे उद्योग (उत्+योग), प्रयोग, अभियोग, उपयोग, प्रतियोग इत्यादि।

योग और प्रयोग में भेद

योग की अनेक परिभाषायें की जा सकती हैं। परन्तु साधारण लोगों के समझने योग्य सीधी सरल भाषा में योग का अर्थ होता है कार्य कौशल्य (efficiency in work), जैसा कि हम अभी गीता उद्धरण के आधार पर ऊपर कह आये हैं। यह

---

१८ 'योगः कर्मसु कौशलम्' (गी० २।५०)।

१९ The Yoga Body, p 1-2

कार्य-कौशल्य उस समय तक प्राप्त नही होता जब तक कि शरीर, मन और आत्मा एकीभूत न हो। इसलिये 'योग' की एक परिभाषा यह भी है कि वह शरीर, मन, एव आत्मा का एकीकरण करने वाला होता है।[२०] जब इस योग के साथ 'प्र' उपसग लगाया जाता है तब 'प्रयोग' शब्द बन जाता है। 'प्रयोग' शब्द मे 'योग' शब्द की अपेक्षा कुछ विशेषता रहती है। सस्कृत भाषा मे उपसर्गों का बडा मूल्य होता है। वे बडे सार्थक होते है।[२१] इन उपसर्गो मे से 'प्र' को ही लीजिये। 'प्र' का अर्थ होता है 'आगे बढना' (*forward*)। इसलिये 'प्र' प्रगतिसूचक उपसर्ग है। हमारी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक उन्नति के साथ साथ हमारी योग साधनाओ का समुन्नत होना भी अनिवार्य हो जाता है। आज के कार्य की दृष्टि से जो 'योग' काम मे आता है। वह कल की उन्नतावस्था मे लागू होने के लिये तदनुसार परिवर्तित रूप मे 'प्रयोग' कहा जायगा।

हमारा जीवन स्थिर (static) नही है—वह प्रगतिशील (Dynamic) है। आज का बालक कल नवयुवक होगा—आज का प्रथम वर्ग का विद्यार्थी कल मेट्रिक पास करेगा। आज की मानसिक स्थिति कल नही रह पावेगी, और आज जो आत्मज्ञान हृदय मे है वह भी भविष्य मे कुछ और स्वरूप धारण करेगा। इसलिये आज के लिये जो योग साधनाओ का उपयोग किया जाना लाभदायक है वह कल के लिये उपयोगी सिद्ध न हो सकेगी। कार्य की प्रगति के साथ साधनाओ की भी प्रगति होना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से उत्तरोत्तर बढती हुई स्थितियो के अनुसार 'योग' के स्थान मे 'प्रयोग' करना आवश्यक होता जाता है। यद्यपि योग के मूल नियमोमे कोई परिवर्तन नही होता, तो भी पात्र, दशा, देश-कालादि विशेष के अनुसार योग-क्रियाओ मे परिवर्तन कर डालना कोई अनैतिकता अथवा ढुलमुल यकीनी का चिन्ह नही कहा जा सकता बल्कि वह आवश्यक ही होता है। कभी कभी उन क्रियाओ मे भूल भी हो जाया करती है। परन्तु योगी न तो भूलो के लिये पश्चाताप करता हुआ रोता बैठता है, और न साहसहीन होकर अपने निर्दिष्ट कार्य को छोडता है। वह तो अपने निर्धारित मार्ग पर निर्भय, असशयात्मक होकर जीवन के सिद्धान्त रसो को समयोचित रूप से लेकर आत्मशुद्धि के हेतु जीवन-पर्यन्त

---

२० "Yoga is a union of your body with mind and soul" The Yoga Body, P 1

२१ "The beauty of Sanskrit grammatical terms lies in the fact that they are mostly significant" Trivedi's Sanskrit Teacher P 5

प्रयोग करता रहता है। संसार मे दो वृत्तियां– आवृत्ति और अनावृत्ति (Positive and negative forces) सदा विद्यमान रहती हैं, जिनका सामना प्रत्येक योगी को अर्थात् कर्मशील पुरुष को समय समय पर करना पड़ता है। वह न तो एक ही प्राप्ति से हुल्कुल्लाहट मे आता, और न दूसरी की प्राप्ति से मुर्दादिल होता है। वह जानता है कि जगत मे शुक्ल और कृष्ण अर्थात् भली-बुरी सुख-दुख वाली दो गतियां सदा रहती है। इसलिये यह जानकर वह कभी मोह को प्राप्त नही होता।[२२]

गांधी जी के 'प्रयोग' का यही महत्व है। यही रहस्य उसमे निहित है। इसी-लिये उन्होने कई प्रश्नकर्त्ताओं का सम्बोधन यह उत्तर देकर किया कि उनसे कभी कभी भूलें भी हुई हैं, परन्तु उन भूलो पर वे रोये नही। उनको महसूस करते हुए उन्होंने निस्संकोच अपने भावी कार्य-क्रमो को सुधारा। पूर्व-निर्धारित कार्य-क्रमो को बदल देने के कारण उन पर कई बार जान जाने तक की नौबत लोग ले आये, कई बार लोगो ने उन पर मक्कारी या भय-भीति का लाछन लगाया, परन्तु वे पीछे नही हटे। परिवर्तन होना प्रगतिशील जीवन का अमिट चिन्ह है, और अपरिवर्तन मुर्दा जीवन का, ऐसा उन्हे कई बार कहकर लोगो को समझाना पड़ा था।' 'प्रयोग' के इस 'प्र' उपसर्ग पर ध्यान रखने से आप को आगे यह सहज मे विदित हो जावेगा कि मार्क्स ने जो 'डायलेक्टिकल मेथड' (Dialectical method) का निरूपण किया है और जिनके विषय मे यह कहा जाता है कि उसके पूर्व किसी अन्य दूसरे ने उसकी खोज नहीं की थी, वह इस 'प्रयोग' शब्द से भिन्न नही है। यह बात दूसरी है कि मार्क्स ने उसको सामाजिक अर्थ-सम्बन्धी ऐतिहासिक घटनाओं मे सम्बन्धित किया हो, और गांधी ने जीवन सम्बन्धी बाह्य और आन्तरिक क्षेत्रो से। परन्तु प्रगति-युक्त सिद्धान्त की बात उसमे छिपी हुई है, इसमे कोई इन्कार नही कर सकता। अपने पवित्र सिद्धान्तो का व्यावहारिक जीवन मे यथार्थ रूप से उपयोग करना ही 'प्रयोग' कहलाता है।[२३] और यह तभी सम्भव हो सकता है जब तुम्हें उन योग-साधनाओं का ज्ञान हो जाय, जिनके द्वारा "तुम अपनी वृद्धि की अनेक श्रेणियो मे अनुकूल अपने आप को बना सको।[२४]

प्रयोग और आचरण

'प्रयोग' कोई वाणी का विषय तो है नही जो किसी को कहकर सिखाया जाय।

---

२२ गीता, ८।२६-२७।

२३ The Yoga Body, P 3

२४ The Yoga Body, P. 1

वह तो अभ्यास का विषय है, व्यवहार उसका क्षेत्र है। प्रथम तो योग-शास्त्र मे बताये हुए सिद्धान्तो को जानना चाहिए फिर उनमे अभ्यस्त होना चाहिये। अभ्यस्त होते होते तत्सम्बन्धी योग्यता प्राप्त करते हुए क्रमश अपने जीवन मे उनका प्रयोग करना आवश्यक होता है। इसलिये पहिले योगी बना जाय, और फिर सत्य-अहिंसा के प्रयोग किये जाय, अन्यथा उस अनधिकारी विद्यार्थी की सी दशा होना निश्चय रहता है, जिसने दूसरो की देखा-देखी करके एसिड को लेकर अपने हाथ-पैर कपडे आदि जला लिये और अपने साथियो को भी झुलसा डाला। प्रयोग करने वाले के लिये दो बाते करना आवश्यक होती है। एक तो उसे शिक्षा सम्बन्धी उस कोर्स (कार्य-क्रम) को पूरा करना पडता है, जो उसके शरीर और मनको अर्थात् उसकी बाह्य और आन्तरिक स्थिति को स्वस्थ बनाकर रखने मे सहायक होता है और दूसरे उसे उस कोर्स को पार करना पडता है जिसके द्वारा उसका व्यक्तित्व समाज का घनीभूत अग बनता-बनता उसी मे अन्तत लीन होता जाता है। इन दोनो प्रकार के कोर्सों को पूरा करने के लिये न तो किताबो के घोटने से काम चलता है और न मनन-मात्र से। उसमे सिद्धहस्त होने के लिये तप की आवश्यकता होती है। तप सुनने से यदि चिढ आये, तो यह कहिये कि आचरणशील होने की जरूरत रहती है। चूकि शरीर और मन का पारस्परिक सम्बन्ध है, इसलिये योग (कार्य-कौशल्य) की प्राप्ति के लिये दोनो को आचारणो की कसौटी पर कसकर रखना आवश्यक होता है। सर्वप्रथम शरीर को ही लीजिए। उसे स्वस्थ और पवित्र बनाने के हेतु अनेको क्रियाये करनी पडती हैं, जैसे नियमित समय पर सोना-जागना, नियमित ढग से शौचादि नित्य क्रियाओ को करना, चाय आदि न पीना, आसन आदि (अर्थात् शारीरिक वैज्ञानिक व्यायाम करना), प्राणायाम (अर्थात् आन्तरिक वायुओ की वैज्ञानिक ढग से क्रियाये) करना, पवित्र सात्विक भोजन करना, उपवास रखना इत्यादि। फिर, अच्छी पुस्तको को जिन्हे प्राचीन भाषा मे वेद-शास्त्रादि कहते है, पढना तथा उन पर मनन करना, सत्सगति रखना इत्यादि। इसके पश्चात् अन्य जनो के साथ व्यवहार रखना, सत्याचार, अहिंसा, प्रेम, अस्तेय आदि को बर्तना। इस प्रकार से योग-विशारदो ने योग-सिद्धि के लिये अनेक कार्य-क्रम बनाकर रखे है, जिन्हे योग-अग भी कहते है, जैसे—यम, नियम, त्याग, मौन, धारणा, दम, शम आदि। शारीरिक स्वास्थ्य आत्मोन्नति की प्रथम और आवश्यक सीढी है। परन्तु शारीरिक स्वास्थ्य को सुधारने के आधुनिक तरीको से "प्राचीन ऋषि-महर्षियो द्वारा चलाया हुआ तरीका ही सर्वोच्च और अनुपम है।..हठयोग (देहयोग) के अभ्यास से जहां शरीर मे

शक्ति आती है, उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होता है, वहाँ आध्यात्मिक उन्नति भी होती है।"[२५]

शरीर-व्याख्या और गांधी के व्यक्तिगत आचार

जहाँ शरीर स्वस्थ है, वहाँ शक्ति है, और जहाँ शक्ति है वहा बल भी है। बल कहने से हमारे मन मे पाशविक बल का विचार उठ बैठता है और सैन्डो, राममूर्ति जैसे पहलवानो का शारीरिक दृश्य सामने प्रकाशित हो उठता है। परन्तु यह सदा ध्यान मे रखना चाहिये कि शरीर केवल चर्म, मास-पेशियो, अस्थियो, नस-नाडियो आदि स्थूल दृश्य पदार्थों का ही समूह नही होता। इन स्थूल अगो के भीतर सूक्ष्म-महीन अदृश्य अग भी रहते है। इन सब सूक्ष्म-स्थूल पदार्थों के समूह को शरीर सज्ञा दी गई है जिसे क्षेत्र भी कहा जाता है।[२६] तत्त्व-ज्ञानियो ने इसके तीन और कही चार भेद करके बताये हैं, यथा, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और चौथा महा कारण शरीर। गीता मे भी शरीर को क्षेत्र कहकर क्षेत्र की सक्षिप्त व्याख्या करते समय बताया है, कि पाच महा-भूत, दशो इन्द्रिया और ग्यारहवा मन, बुद्धि, अहकार, अव्यक्त प्रकृति, इच्छा, द्वेष, सुख, दु ख, सघात, चेतना, धृति ये सब क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। यह सम्पूर्ण क्षेत्र विकारमय होता है।[२७] उन्हे विकारहीन बनाकर रखना ही स्वास्थ्य का

---

२५ स्वामी शिवानन्द सरस्वतीकृत 'सचित्र हठयोग', पृष्ठ 'थ'।

नोट—स्वामी शिवानन्द जी एम० डी० की डिग्री-प्राप्त चिकित्सा-शास्त्र मे पारंगत माने जाने योग्य हैं। उन्होने डाक्टरी भी कई दिनो तक की, जिससे उन्हे अनुभव भी पर्याप्त है। अत नव-प्रकाशके लोगो को भी उनका उपदेश मान्य होना चाहिये।

२६ "इद शरीर कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।" अर्थात् इसी शरीर को क्षेत्र कहते हैं। (गीता १३।१)

२७ "महाभूतान्यहकारो

एतत्क्षेत्र समासेन सविकारमुदाहृतम् (गीता १३।५-६)

अर्थात् महाभूतादि ये सब मिल कर ही क्षेत्र कहलाता है, जिसका सक्षिप्त ही मे (समासेन) वर्णन किया है। यह समस्त क्षेत्र विकारयुक्त होता है।

नोट—हमारी समझ मे गीता मे जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुख को क्षेत्र-सज्ञा दी गई है वह ठीक नहीं है। वे तो उस क्षेत्र मे उत्पन्न होने वाले परिणामरूप

लक्षण है, और विकारहीनता ही शक्तिदायिनी होती है। गाधी जी अपने इसी शरीर को विकारहीन बनाने के नियमो का पालन करते थे, और उसी के फल-स्वरूप वे उसे स्वस्थ एव शक्तिमय रख सकें। हर अग को सम्यक् रूप से बनाये रखना ही शक्ति का द्योतक है। उसी से मनुष्य की आयु दीर्घ होती है, जिसकी अवधि मनुष्य के लिये शास्त्रो मे कही सौ वर्ष और कही सवा सौ वर्ष बताई गई है।[२८] गाधी जी इसी शक्ति के कारण कहा करते थे कि मैं सवासौ वर्ष-या सौ वर्ष की आयु तक जिऊँगा। उनके आचरण योगी जैसे थे, क्योकि वे जानते थे कि योग जैसा कोई बल नही—योग जैसी कोई शक्ति नही (नास्तियोगात्म् बलपर)[२९] यदि वे ७८ वर्ष की आयु ही मे मूर्ख-पापात्मा गोडसे की गोली के शिकार न बने होते तो वे सौ वर्ष ही की अवधि को अथवा उसी के लगभग आयु को पा लेते, जैसा हम गताध्याय मे कह चुके है। सेन्डो, राममूर्ति आदि पहलवान अधिक आयुवान नही होते। क्योकि उनका शरीर यथोचित रूप से स्वस्थ और शक्तिवान नही होता। इसलिये हम शिवानन्द सरस्वती जी के इस कथन से सहमत नही है कि, "गाधी जी के अन्दर शारीरिक शक्ति नही है।"[३०] शिवानन्द जी का 'शक्ति' शब्द से प्रयोजन यदि पाशविक बल हो तो हम उनसे सहमत हो सकते हैं। गाधी जी के आचारो, स्फूर्ति, कार्यकारिणी शक्ति तथा आयु को देखते हुए उन्हे देह-योगी ही कहना उचित है। जम्मूनायन् ने लिखा है कि "अपने ही देश मे गाधी जी योग-शरीर के दृष्टान्त है। नियन्त्रित भोजन उनकी पाचन-व्यवस्था को समुचित रूप से बनाये रखता है। प्रति सप्ताह एक दिन मौन-व्रत की साधना से उनके शरीर को पर्याप्त विश्राम और शक्ति प्राप्त हो जाती है। प्रार्थना से उन्हे अपने समस्त आन्तरिक और बाह्य करणो (अव्ययो) के लिये शान्तिमय स्थिति मिल जाती है। चर्खा चलाकर सूत कातने से शारीरिक अव्ययो की गति को नियमित बनाये रखने के लिये उन्हे सहायता मिलती है। समय-समय पर किये गये उपवासो से शरीर मे एकत्र हुए विष का निराकरण हो जाता है। बच्चो के साथ मे वे खेलते है, मजाक करते है, मुसकराते हैं। नियमपूर्वक घूमना उनमे

विकार हैं। जिस प्रकार भूमि मे अन्न पैदा होता है उसी प्रकार ये विकार शरीर-भूमि मे पैदा होते हैं। वे स्वय भूमि नहीं कहे जा सकते।—लेखक

२८ 'जिजीविषेच्छत्ँ समा' (सौ वर्ष जीने की इच्छा कर) ईशा० उप० २।

२९ घेरड सहिता।

३० 'सचित्र हठयोग', पृष्ठ 'ण'

मुस्तैदी बनाये रखता है। वह अवयवों और शरीर में स्फूर्ति तथा प्रवनशीलता बनाये रखने में भी सहायक होता है"।"

समाज और गांधी के तत्सम्बन्धी आचार

व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन का अमिट गठबन्धन है। पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण एक की दूसरे के प्रति क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। बाल्यकाल से लेकर जीवनपर्यन्त ज्यो-ज्यो हमारी आयु, आवश्यकतायें एव अन्य सम्बन्ध बढते जाते है, त्यो-त्यो हमारा कर्म-क्षेत्र अथवा आचार-क्षेत्र परिवर्तित और विस्तीर्ण होता जाता है। हमारे आचार केवल हमारे शरीर-मन-आत्मा से सीमित होकर नहीं रह जाते। जब व्यक्तिगत सीमा का उल्लघन कर उन्हे दूसरे सामाजिक क्षेत्रों मे उतरना पडता है तब उनका नाम या रूप भी बदलता जाता है हालाकि मूलाधार मे कोई भेद नही आ पाता। गांधी जी की जीवन-चर्या आचारमय है यह हम देख चुके। परन्तु अभी तक हमने उनके व्यक्तिगत आचारो पर ही विचार किया है। अब आगे उनके सामाजिक जीवन सम्बन्धी कुछ मुख्य आचारो पर विचार करेंगे और देखेंगे कि उन्होंने 'सत्य और अहिंसा के आचरणगत प्रयोग करने में क्या और कितनी सफलता प्राप्त की।

आचार परमोधर्म

आचार यथार्थत व्यक्त सज्ञा अथवा कर्म-सज्ञा का ही दूसरा नाम या रूप है। अप्रकट अवस्था से प्रकट अवस्था मे होना ही व्यक्त अथवा कर्म अथवा आचार कहलाता है। जिस भाव मे जीवन और स्फूर्ति है और जिसने सुषुप्त अथवा लयावस्था को छोड दी है, वह किसी न किसी रूप मे कभी न कभी प्रकट हुए बिना नही रहता। कभी वह वाणी रूप के द्वारा ही प्रकट होकर रह जाता है, और कभी कर्मरूप से व्यक्त होकर सबको दिखाई देने लगता है। इस व्यक्त कर्म को ही आचार कहते हैं। यथार्थत सृष्टि नाम व्यक्त रूप का ही है। वही कर्म रूप कहलाता है और उसी को आचार रूप कहते हैं। आचार, आचरण, चर्या, चर्य, चरित या चरित्रादि ये सब शब्द 'चर' धातु के रूपान्तर हैं, जिसका अर्थ होता है 'चलना' या 'गतियुक्त होना'। अत जो आन्तरिक 'भाव' गतियुक्त होकर प्रकट रूप हो जाता है, वही 'आचार' या 'आचरण' हो गया। परन्तु हम पहले कह चुके हैं कि मानसिक कमजोरियो के कारण एक तो 'भाव' ही दूषित होते हैं और

३१ The Yoga Body P 27

दूसरे यदि शुद्ध ही हुए तो उनमे तथा तत्सम्बन्धी आचारो मे असमता उपस्थित हुई दिखाई देती है। इस प्रकार के असम और दूषित आचार न अपने ही लिये और न समाज के लिये ही कल्याणमयी होते है। जिनके भाव निर्दोष रहते हे, तथा भावो एव आचारो मे समता रहती है, वे ही श्रेष्ठ जन कहलाने के अधिकारी होते है। उन्ही का जीवन श्रेयस्कर होता है। इसी प्रकार के श्रेष्ठ पुरुषो के आचार अन्य दूसरे लोगो के लिये प्रमाण-स्वरूप हो जीवन मार्ग पर चलने वाले चिन्हो का काम करते है।[32] इसी ध्येय को सन्मुख रखकर श्रुतियो और स्मृतियो आदि अन्य ग्रन्थो मे—'आचार परमोधर्म '(आचार ही परम श्रेष्ठ धर्म है) कहा गया है। इसी को ध्यान मे रखकर यह बताया गया है कि जो इसी प्रकार से आचरण करने वाला व्यक्ति होता है वही आत्मवान हो सकता है एव आत्म-स्वरूप को पहिचान सकता है।[33] आत्म-स्वरूप को पहचानने वाला अथवा आत्मवान होने वाला ही मनुष्य-मनुष्य को अभेद भाव से देखने योग्य होता है, और तभी वह समाज का सच्चा सेवक बन सकता है। गाधीजी के आचारो का यही महत्व है।

---

३२. यद्यदा चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन.।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥गीता॥ ३।२१

इसी तरह एक अग्रेज कवि ने कहा है—

"Lives of great men all rumind us
We can make our lives sublime
And departing leave behind us
FootPrints on the sands of time"

—Longfellow

३३ आचार परमो धर्म श्रुत्युक्त स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्य स्यादात्मवान्द्विज ॥

मनुस्मृति १।१०८

इत्याचार दमाहिसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयतु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

याज्ञवल्क्य स्मृति १।८

६

दर्शन, साम्य और कम्यूनिज़म

(COMMUNISM)

'वाद' की आवश्यक आलोचना हम गत अध्याय मे देख चुके है। अव इस अध्याय मे, 'साम्य' की आलोचना करने के पूर्व, 'दर्शन' की भी आलोचना कर लेना आवश्यक है, क्योकि 'भाव' और 'वाद' को जोडने वाला वह एक मूल तत्व है।

भाव की व्युत्पत्ति और उसका विकास

'भाव' सज्ञा सस्कृत की 'भू' (भव) धातु से वनी है, जिसका अर्थ होता है 'होना' (to become)। अन्त करण मे विचार का उठना ही 'भाव' कहलाता है। स्थिति-विशेष पाकर भाव उत्पन्न होता है। विदित या अविदित, अथवा कुछ विदित और कुछ अविदित कारणो के उपस्थित होने पर 'भाव' पहले-पहल वीज रूप मे अन्त करण रूपी गर्भ मे प्रवेश करता है। वह प्राय उसी प्रकार अज्ञात रूप और अज्ञात काल मे प्रवेश करता है जिस प्रकार माता के गर्भ मे पिता के वीर्य का कीटाणु (spermatozoa) प्रवेश कर जाता है। कुछ काल तक वह मातृ-गर्भस्थ वीर्य के सदृश, अपने उसी गर्भस्थान मे क्रमश रूप वदलता रहता है। अन्त मे कुछ कालान्तर मे वह एक निश्चित सा रूप धारण कर लेता है। जव उसका यह एक निश्चितसा नकि निश्चित-रूप वन जाता है, तव वह वाह्य सृष्टि मे भाषावद्ध होकर वाद के भेष मे व्यक्त अथवा प्रकट होता है। 'भाव' का व्यक्त होना और पहले नही, तो कम से कम उस दिन अवश्य प्रारम्भ हो जाता है जिस दिन वह पहले-पहल वीज रूप मे अन्त गर्भ मे प्रवेश करता है। परन्तु सामान्यत माता के गर्भ मे स्थित वालक की नाई वह उस समय तक अदृश्य ही अव्यक्त ही समझा जाता है जव तक कि वह मातृयोनि से वाहर आकर प्रकट नही हो जाता। वाह्य सृष्टि मे प्रकट होने के पश्चात् भी उसमे उसी प्रकार परिवर्तन होते रहते हैं, जैसे कि उत्पन्न होने के वाद वालक क्रम-वद्ध वदलता रहता है। यह 'भाव' की उत्पत्ति, गति, विधि, और विकास-क्रम है। इसे यथार्थ रूप से जाने विना अनर्थ होने की भयकर सम्भावना रहती है। दार्शनिक ही अपनी दर्शन-शक्ति से

इसे भली-भाँति जानते है। ऐसे दार्शनिक धीर पुरुष ही मोह को प्राप्त नही होते और न दूसरो को मोह मे डालकर गलत मार्ग पर ले जाते है।[1] अत अब हमे 'दर्शन' पर ही दृष्टि डालना चाहिए।

'दर्शन' की व्युत्पत्ति

'दर्शन' सस्कृत की 'दृश्' धातु से बना है, जिसका साधारण अर्थ होता है, 'देखना'। चूकि हम स्थूल जगत् ही से अपना नाता जोडे हुए रहते है, इसलिये स्थूल चक्षुओ ही की बाह्य वृति मे इस 'देखने' या 'दर्शन' को सीमित कर डालते है। तब फिर पहिले इसी स्थूल 'देखने' को ले ले, और देखे कि इसमे ही कितनी भूले होने की सम्भावना रहती है।

स्थूलात्मक दर्शन के कुछ प्रधान रूप

एक मुर्दा मनुष्य पडा है। उसकी चक्षु मूर्ति पहिले-जैसी खुली हुई है। सैकडो पदार्थ उसके सामने से गुजर रहे है। क्या वह उन्हे देखता है? नही, उसमे चेतना कहा, जो वह देख सके! उसमे 'अहकार' (मैं-पन) ही नही, जो कर्ता-धर्ता-द्रष्टा का काम करने वाला होता है। अहकार के गायब रहने से वह पत्थर के समान जड है।

तब फिर चलिये इस जीवित पुरुष के पास। उसकी आंखे खुली है, पर मोतिया-बिन्द ने पुतलियो पर घना जाल बिछा रखा है—वह अन्धा है। अहकार आदि चेतना रहने पर उसके देखने का साधन बिगडा हुआ है। चक्षु मूर्ति ही उसकी खराब हो गई है।

परन्तु इस वृद्ध को देखिये। उसकी चक्षु मूर्ति मे कोई खराबी नही है, फिर भी वह देख नही सकता। क्यो? इसीलिये न कि चक्षु मूर्ति को कार्यान्वित करने वाली उसकी चक्षु-इन्द्रिय शक्ति अपने आप कालवश क्षीण हो चुकी है।

---

१. 'देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति' (गी० २।१३)

नोट—अनेक टीकाकार 'देहान्तर' का अर्थ 'मरने के बाद' अथवा 'देह-त्याग' लगाया करते हैं। परन्तु हमारी समझ मे 'देहान्तर' (देह अन्तर) में 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'आन्तरिक', 'सत्त्व' अथवा 'अव्यक्त' आदि लेना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योकि ऐसा कहने से देह-त्याग के बाद की स्थिति और देह-धारण के समय की स्थिति इन दोनो का ज्ञान हो जाता है। भिडे के सस्कृत-अंग्रेजी कोष मे 'अन्तर' के मायने 'internal', 'essence' आदि लिखा है।

तो जब इस विद्यार्थी को देखिये। एक पुस्तक खुली हुई उसके सामने रखी है, और वह सडक की ओर मुख किये हुए बैठा है। नेत्र उसके खुले हैं, उनमे कोई दोष भी नहीं है। एक दूसरा आदमी आया, और उसने विद्यार्थी से पूछा, क्यों भाई, यहाँ से राजा साहब का हाथी निकला था क्या? विद्यार्थी चौंकता पडा, और कहा, नहीं मैंने नहीं देखा। हाथी बडी सज-धज के साथ घन्टा-झालर बजाता हुआ विद्यार्थी की आंखो के सामने से निकल गया, परन्तु उसका ध्यान— उसका मन-कहीं दूसरी जगह था। वह ध्यानावस्थित था, मुद्रा मे था। आंखें खुली रहने तथा नेत्रेन्द्रिय शक्ति के बराबर काम करते रहने पर भी मन की अनुपस्थिति के कारण वह हो-हल्ला के साथ जाते हुए हाथी-जैसे स्थूल-दीर्घकाय पशु को भी न देख सका।

फिर देखिये, इधर इस मनुष्य मे चेतना है, मन भी चाहता है 'देखूं', इन्द्रिय शक्ति भी बलवती है और नेत्र-मूर्ति भी दुरुस्त है, फिर भी वह देख नहीं पाता। क्यों? इसलिये कि नेत्रेन्द्रिय शक्ति सीमित रहती है। दूर की चीज बडी रहने पर और महीन तथा सूक्ष्म चीज निकट रहने पर भी नहीं दिखाई देती। यन्त्रादि कृत्रिम उपायों द्वारा नेत्र-शक्ति बढाई जाने पर भी वह कमी पूरी नहीं हो पाती।

एक बात और विचारणीय है। साधक और साधन-अथवा यहीं कहिये, द्रष्टा और दर्शन-शक्ति ठीक-ठाक रहने पर भी परावृतस्थितियों के प्रभाव के कारण 'देखने' में त्रुटियां हो जाया करती हैं। तूफान के कारण धुन्ध छा जाने से, रात्रि के समय अंधेरे मे अथवा द्रष्टा या दृश्य की अत्यन्त वेग-पूर्ण गति के सबब स्थूल पदार्थों को समुचित रूप से न देख सकना अनेक दृष्टान्तो मे से केवल दो-चार ही हैं।

दूसरा कारण यह है कि परिस्थितियो मे हेर-फेर न होने पर भी मनुष्य पदार्थों का देखने मे भूल करता है। विरले ही पुरुष ऐसे मिलेंगे जो पदार्थ के पूर्णांगो को देखते हो। बहुत हुआ, ऊपरी मोटे-मोटे मुख्य मुख्य अंगो को देख-परख लिया। उन मोटे-मोटे अंगो के भाग-उपभागो तथा उन भाग-उपभागो की आन्तरिक तहों-दरतहों को कौन जानता है? दूर न जाइये, मनुष्य-शरीर ही को ले लीजिये, हम हाथ-पैर आदि प्रधान अंगो के दर्शन तो कर लेते हैं, पर उनके न उपांगो को जानते, और न चर्म के अन्दर छिपे हुए अस्थि, मांस, पेशियां, रक्त, कीटाणु नाडियां आदि पदार्थों को। इस प्रकार के अधूरे देखने वाले की गणना एकांगी, अर्द्धांगी या अपूर्णांगी द्रष्टा कहकर की जाती है। पूर्णांगी दर्शन का न होना बुद्धि-दोष है, मानो ही वह दोष अशिक्षा-असंस्कृति, असभ्यास आदि के कारण घर बनाये बैठा हो।

स्थूलात्मक याथात्म्य और भ्रम

साराश यह हुआ कि दृष्टि-दोष न होने पर भी, मन के कही चले जाने पर, नेत्रेन्द्रिय की स्वाभाविक एव कृत्रिम शक्ति की सीमित गति होने के सवव, परिस्थितियो के प्रभाववश, अथवा वुद्धि-दोष के कारण ही स्थूल पदार्थो का वाह्य याथात्म्य भी नजरो की ओझल हो जाता है। जैसे को तैसा देखना याथात्म्य कहलाता है। जैसे को तैसा न देखना ही मोह, अज्ञान, या भ्रम कहलाता है। इस प्रकार का भ्रम थोडे से परिश्रम से शीघ्र ही मिटाया जा सकता है। रस्सी को सर्प, या सीप को चॉदी मान वैठने का यदि भ्रम उत्पन्न हो जाय, और उस भ्रम वश यदि किसी प्रकार की जिद्दम-जिद्दी होने लग जाय, तो उन पदार्थो को प्रत्यक्ष समुचित दर्शन करा देने पर वह भ्रम, हठादि सव शीघ्र ही मिट सकते हैं। परन्तु अक्सर यह देखा जाता है कि लोग वाह्य मतभेद तक को मिटाने का प्रयत्न ही नही करना चाहते, क्योकि उन्हे तो मत-भेद वनाये रखने मे ही मजा आता है, और विद्रोहाग्नि फैलाये रखने मे भी।

स्थूलात्मक दर्शन से सूक्ष्मात्मक दर्शक की कठिनता

परन्तु यह मानी हुई वात है कि स्थूल पदार्थ सम्वन्धी वाह्य स्वरुप के दर्शन करने मे भ्रम-मोहादि के उत्पन्न होने के जो कारण उपस्थित रहते हैं उनसे कही अधिक सूक्ष्म-अदृश्य पदार्थो के दर्शन करने मे पाये जाते है। अपने अथवा दूसरो के हृदयस्थ भावो को जैसे के तैसे देखने मे जो आन्तरिक एव वाह्य कठिनाइया आडे आती है उनके विषय मे हम गत अध्याय मे प्रकाश डाल चुके है। उनको यहा दुहराना निरर्थक होगा। परन्तु विषय के तारतम्य को वनाये रखने के हेतु उनका पुन स्मरण करना पाठक के लिए हितकर होगा। जहाँ तक हमारा प्रश्न है, हमे इतना पुन कहना आवश्यक है कि, अन्तर्भाव अन्तदृष्टि से ही देखे जा सकते है, नकि वाह्य स्थूल दृष्टि से। यह अर्न्तदृष्टि वही 'वुद्धि' है जिसके विषय मे भी हम गत अध्याय मे कह चुके है। मन और वुद्धि का क्या सम्वन्ध है, उसके जानने के लिए यह एक दृष्टान्त ले लो।

मन-वुद्धि सम्वन्धी दृष्टान्त

'अ' नाम का व्यक्ति 'व' भाव का दर्शन करना चाहता है, जो ओझल मे है। 'अ' के पास उसे देखने के लिये केवल एक साधन है, और वह है उसका वुद्धि-दर्पण जिसे हम 'स' कहेगे। उसने उसे उठाया और उस पर चढे हुए विकार रूपो मलो को साफ किया। ज्योही 'म' को खोला, त्योही उस पर 'व'का प्रतिविम्व आना

आरम्भ हो गया। परन्तु अब अनुमान करो कि वह एक ऐसी डोरीमें लटका हुआ है कि फूंक जैसी हलकी सी वायु के सरकने पर वह बड़ी तेजी से और बहुत देर तक हिलता-डुलता रहता है। जब तक उस 'स' काच में सूक्ष्म से सूक्ष्म भी वेग रहता है तब तक उसमें झलकता हुआ 'व' का प्रतिविम्ब भी हिलता-डुलता दिखाई देता है, हालाकि 'व' स्वय स्थिर है। परिणाम यह होता है कि 'अ' अपने 'स' साधन के दोष को 'व' पर ही आरोपित करने लगता है। पदार्थ-विज्ञानी (Scientists) जानते हैं कि हमारी आख भी शीशे के समान पदार्थको अपने भीतरी पट पर केवल प्रतिविम्बित करती है। पदार्थ तो, जिसे विम्ब कहिये, अपने स्थान पर बना रहता है—आख के भीतर नही आ जाता। आखके दोष के कारण ही पदार्थ छोटे-बडे, टेटे-टापटे दिखाई देने लगते हैं। जिस प्रकार बाह्य दूषित दृष्टि का इलाज किया जा सकता है उसी प्रकार बुद्धिरूपी अन्तर्दृष्टि भी रोग-शून्य बनायी जा सकती है।

पूर्वोक्त दृष्टान्त द्वारा ब्राह्मी स्थिति का ज्ञान

उपर्युक्त शीशे वाले दृष्टान्त मे जो हिलने-डुलने का विकार है वही मनोविकार समझो। जब तक यह विकार अत्यन्त चचल दशामें रहता है तब तक ही मन सज्ञा रहती है। ज्यों-ज्यों यह चचलता घटती हुई स्थिरता को अपनाती जाती है त्यों-त्यों मन-सज्ञा बुद्धि-सज्ञा को ग्रहण करती जाती है। जिस अनुपात से मन की चचलता घटती जाती है उसी अनुपातमें बुद्धि निर्विकार होती हुई 'व' के याथात्म्य का शुद्ध दर्शन करती जाती है। अन्त में जब वह पूर्णत स्थिर स्थिति प्राप्त कर लेती है तब उसे 'व' के याथात्म्य का शुद्ध दर्शन हो जाता है। पूर्ण-स्थिरता-प्राप्त बुद्धि वाले को स्थित-प्रज्ञ, स्थित-धी आदि कहते हैं। स्थित-प्रज्ञ (प्रज्ञ = बुद्धि) वाले की जो स्थिति होती है वही ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। वह उस ब्रह्म पदका पानेवाला हो जाता है जो पूर्ण शान्ति और पूर्ण सुख का द्योतक होता है।[2] चिराग की उस लौ को देखिये जो वायु के वेगरहित स्थान मे विना हिले-डुले सीधी जल रही है।[3] स्थित-प्रज्ञ की बुद्धि और योगी का चित्त अडोल-स्थिर रहता है। जो इस बुद्धिरूपी साधन के द्वारा किसी दृश्य या अदृश्य पदार्थ के रहस्य अथवा अन्तंस्थिति को जैसी की तैसी देखते हैं वही सचमुच में देखते है—वही सचमुच मे दर्शन करने वाले हैं। जिन ग्रन्थो मे इस प्रकार के दर्शन का विवेक, विवरण या व्याख्यान रहता है उन्हे

---

२ गी० २।५४ से ७२ तक

३ गी० ६।१९

दर्शन-शास्त्र, और जो इस प्रकार दर्शन करने वाले होते है, उन्हे दार्शनिक कहते हैं।

तत्व-दर्शन, आत्म-दर्शन और सम-दर्शन

जिस प्रकार 'धर्म' और 'योग' शब्दो का व्यापक और विशिष्ट अर्थ मे प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार 'दर्शन' शब्द का भी प्रयोग होता है। मोटी दृष्टि से अभी तक हमने उसके दो विभाग ही करके बताये है, यथा, स्थूल-दर्शन और सूक्ष्म-दर्शन, अथवा बाह्य दर्शन और आन्तरिक दर्शन। परन्तु ग्रन्थो मे 'दर्शन' शब्द का विशिष्ट प्रयोग और भी कई प्रकार से मिलता है, उनमे से ये मुख्य हे, यथा, पदार्थ-दर्शन, तत्त्व दर्शन, आत्मदर्शन और सम-दर्शन। आर्य ग्रन्थो मे पदार्थ-दर्शन की उतनी प्रचुरता नही पाई जाती जितनी कि पाश्चात्य ग्रन्थो मे मिलती है। इसका कारण हमे जो प्रतीत होता है वह यह है कि एक तो उनका लक्ष्य पदार्थ-वाद (भौतिकवाद) पर गौण रूप से रहता है। और दूसरे उनके 'तत्त्वदर्शन' के अन्तर्गत बुद्धि के द्वारा किये गये सभी प्रकार के दर्शन आ जाते है, अर्थात् तत्त्व दर्शन कहने से पदार्थ के बाहरी-भीतरी सभी रूप के ज्ञान का समावेश हो जाता है। दर्शनशास्त्रो या धर्मग्रन्थो मे 'पदार्थ' शब्द बहुधा 'तत्त्व' का अर्थवाची होता है, क्योंकि मूल मत को छोड सभी व्यक्त स्थिति पदार्थ कही जाती है, चाहे वह अत्यन्त बाह्याकृति हो या अत्यन्त सूक्ष्म आन्तरिक आकृति।

'तत्त्व' शब्द दो पदो का सयुक्त रूप है—तद् + त्व। 'तद्' सस्कृत शब्द है जिसके माने होते है 'वह'। व्याकरणीय नियमो के अनुसार 'तद्' का 'तत्' हो जाता है। 'त्व' प्रत्यय लगाने से तत्व का अर्थ होता है 'वह सब, जो उसी के समान हो' अर्थात् 'वह सब' जो मूल से इस प्रकार क्रम-बद्ध हो कि कही भिन्नता न हो। इस प्रकार जब कोई पदार्थ, चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म—क्रम-बद्ध ओर से छोर तक देखा जाता है, तब उसे उस पदार्थ का 'तत्त्व दर्शन' कहते है। दर्शन के बिना जानकारी नही होती। जानकारी ही ज्ञान है। अत दर्शन और ज्ञान पर्यायवाची है। इसलिये 'तत्त्वदर्शन' ही 'तत्त्वज्ञान' कहलाता है। इस 'तत्त्वदर्शन' या 'तत्त्वज्ञान' के समय तीन बाते अवश्य रहती है। वे है—दृश्य, द्रष्टा और दर्शन अथवा ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान। इस कार्य मे बुद्धिरूपी साधन रहता है। बिना बुद्धि के तत्वज्ञान नही हो सकता। जब बुद्धि शुद्ध होते-होते आत्मा (soul) को पहचानने लगती है तब आत्म-दर्शन हो जाता है। परन्तु जब बुद्धि अन्त मे दृश्य मे ही, अथवा प्रेम मे ही मिल जाती है तब एकत्व स्थिति हो जाती है। उस समय आत्मानुभव की स्थिति आ जाती है। आप आप ही मे सयुक्त होकर उसी

प्रकार आनन्दमय हो जाता है जैसे नदी का दौडता हुआ पानी समुद्र के पानी मे मिलकर हिलोरे लेने लगता है। आत्मानुभव मे दो मिलकर एक वन जाता है।

आत्मदर्शन का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है—एक तो अपनी खुद की आत्मा का दर्शन करना और दूसरे अन्य की आत्मा को जानना। जव मनुष्य की वुद्धि इस पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है कि वह हर पदार्थ के सत् अर्थात् आत्मा को अपनी ही आत्मा-जैसी समझने लगता है, तव उसे समदर्शन प्राप्त हो जाता है और वह समदर्शी कहलाने लगता है। सर्वत्र समदर्शन की सिद्धि मिल जाने पर नानात्व का भेद-भाव मिटकर वही पूर्वोक्त एकत्व की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

अव यदि हम समदर्शी या आत्मदर्शी या कम से कम तत्त्वदर्शी कहलाने के अधिकारी हो गये हैं, अथवा हमे दार्शनिकों की खोज को जानने की जिज्ञासा ही है, तो, आइये, 'साम्य' का दर्शन किया जाय। ठीक ठीक दर्शन करने के पश्चात् ही हम इस योग्य हो सकते हैं कि हम अपनी वाणी उन लोगों के सामने खोलें जिन्होंने उसके दर्शन तो किये नही है, पर फिर भी उसके भक्त वन गला फाड-फाडकर अथवा डंको की चोट पर उसकी जय-जय नाद करते हुए वे वायु-शून्य आकाश को गुंजरित करते रहते है।

'साम्य' शब्द की व्युत्पत्ति

'साम्य' एक उच्चतम भाव है—उच्चकोटि का एक आदर्श है। यदि आस्तिक उसे 'ईश्वर' कह कर मानते हैं, तो नास्तिक उसे नीति का सर्वोच्च सार ही कहते हैं। वह संस्कृत के 'सम' विशेषण का, या 'साम' धातु का अथवा दोनो का अर्थ-सूचक रूपान्तर प्रतीत होता है। 'सम' से रूपवाचक समानता का वोध होता है और 'साम्' से गुण-वाचक, समानता का, क्योंकि 'साम्' का अर्थ होता है 'सान्त्व' या 'शान्त्व' (to appease)[४] । अत 'साम्य' का सीधा-सादा भाव और अर्थ हुआ वह समानता जो शांतिदायक है। चूंकि जहाँ शान्ति है वही सुख है, अर्थात् शान्ति ही सुख है, इसलिये यह कहा जा सकता है कि 'साम्य' समता की उस विशिष्ट स्थिति को कहते है, जो शान्ति और सुख की स्थापना करे।

दृष्टान्त द्वारा साम्य का काल्पनिक सरल स्थूलात्मक दर्शन

मनुष्य स्वभाव से कुछ ऐसा है कि वह वाहर की ओर दौडता है, अपने ही अन्दर का हाल नही जानता, और न उसकी उस ओर रुचि रहती है। इसलिये

---

४ देखो भिडे का संस्कृत-अंग्रेजी कोष

पहले स्थूल दृश्य का ही सरल आधार लेकर साम्य स्थिति का कुछ ज्ञानकर लिया जाय तो अधिक लाभदायक होगा। कल्पना कीजिए कि आप एक अथाह और असीम जल से परिपूर्ण तालाब के किनारे खडे है। जल के अन्दर न तो कोई पौवे-पेड आदि ही है और न कोई जल-निवासी मछली आदि जीव-जन्तु जो उसके भीतरी भाग को विचलित करते हो। फिर यह भी कल्पना कीजिए कि उस की ऊपरी सतह पर न तो कोई वगुला आदि पक्षी आकर उसे विचलित करते है, और न हवा आदि सूक्ष्म-अदृश्य पदार्थ उसको छू-छूकर भागते है। भावार्थ यह कि, न भीतर से, न वाहर से, न वाजुओ से, न इवर मे, न उधर से कोई ऐसी वस्तु है, जो उसे विचलित करती हो। तव फिर आप उसके अथाह और असीम स्वरूप को पूर्ण गाम्भीर्य मुद्रा मे नीलवर्ण सा देखते हे। वह पूर्णत स्थिर है, स्थित है, अविकृत है, निर्विकल्प है, निर्गुण है। अत वह पूर्ण शान्त है, क्योकि वह असाम्यमय नही-साम्यमय हे। विकार, विकल्प, गुण ये शब्द विकलता के पर्यायवाची है। जहाँ ये नही, वहाँ ही साम्यता रह सकती है। अव पुन एक वार यह कल्पना कीजिए कि हवा की अत्यन्त सूक्ष्म-लहर उठी और उस तालाव के जल की सतह को छूकर भाग गई। वस! उस हल्की सी ठोकर ने ऊपर से नीचे तक और एक छोर से दूसरे छोर तक जल की वह साम्य-मूर्ति, गभीर मुद्रा विकृत कर दी। वह जल निर्विकार से सविकार हो गया। निर्विकल्प से सविकल्प हो गया, निर्गुण से सगुण स्वरूप वन गया—शान्ति भग हो गई—साम्य टूट गया। अग्रेजी जानने वाले के लिये इस शान्तिमय साम्य को भग कर देनेवाली क्रिया का वोव अग्रेजी शब्द 'एजीटेशन' (agitation) कहकर कराया जा सकता है। जिसका शब्दार्थ होता है 'उद्वेग', 'उपप्लव' आदि।

यह काल्पनिक चित्र तो हुआ साम्य स्थिति से असाम्य स्थिति का। अब एक वार फिर उसी काल्पनिक तालाब के किनारे पहुँच जाइये, और कल्पना कीजिए कि उस जल के अन्दर तथा वाहर नाना प्रकार के जीव-जन्तु एव जड-चेतन हवा आदि पदार्थ आपस मे मिलते-जुलते, लडते-झगडते, इधर उधर चलते-फिरत हुए उपद्रव मचाकर उसे पूर्ण विचलित दशा मे कर रहे है। इतने मे-एक जादूगर-सा योगी प्रकट होता है। ज्योही इन सवकी उस तेजस्वी शक्तिरूप योगी पर दृष्टि पडती है, अथवा ज्योही उसकी आज्ञा होती है त्योही ये सव जहाँ के तहाँ स्थिर हो जाते है, मानो पल्टन के किसी कमान्डर ने अपने सिपाहियो को 'हाल्ट' (ठहरो) की आज्ञा दे दी हो। रामचन्द्र जी जिस समय समुद्र को पारकर अपनी सेना सहित लका को जा रहे थे, उस समय समुद्र के समस्त जीव-जन्तु उनकी प्रेममय मनोहर मूर्ति को देखकर अपने अपने व्यापार को भूल उन्ही की ओर दौडे और ऊपर उतरा कर उन्ही की ओर टकटकी लगाकर स्थिर हो गये। उस समय का जो चित्र तुलसी-

दास जी ने अपनी रामायण मे चित्रित किया है वह इसी बात का द्योतक है कि किसी चुम्बक शक्ति के प्रकट हो जाने पर मनुष्य के समस्त विकार सिमटकर स्थिर अथवा जहाँ के तहाँ स्तब्ध हो जाते है, जिसके फलस्वरूप अशान्तिमय असाम्य के स्थान मे शान्तिमय साम्य की प्राप्ति हो जाती है।[५]

मानुषिक आन्तरिक साम्य का दर्शन

अब यदि उपरोक्त सरोवर या सागर सम्बन्धी काल्पनिक चित्रो को आप अपने शरीर पर घटित करें तो तत्काल साम्य से असाम्य स्थिति पर पहुँचने का, और असाम्य से साम्य स्थिति को प्राप्त करने का दृश्य आपके सम्मुख स्पष्टत प्रकाशित हो उठेगा। आपका शरीर-चर्म ही मानो सरोवर की सीमा है। समस्त तत्त्व जिनसे शरीर बना है मानो उसका जल है। इन समस्त भूत, इन्द्रिय एव मनादि तत्त्वो से उत्पन्न नाना भाँति के असख्य विकार मानो उस जल को विचलित करने वाले छोटे-मोटे जीव-जन्तु है। जिस समय ये विकार स्थिर हो जाते है उस समय साम्यावस्था का अनुभव होता है, और जब कोई छोटा सा छोटा विकार उठ बैठता है तब साम्य की अचल-समाधि भग हो जाती है। जब अभग शान्ति या साम्य रहता है तब उसे गभीर मुद्रा, सुषुप्तावस्था, निर्विकल्प समाधि, निर्विकार या निर्गुणावस्था कहते है। इस स्थिति मे एक विस्तीर्ण गहरे से शून्य का आभास होता है, जो नीलवर्ण का सा दिखाई देता है जैसे कि आकाश। यही नील वर्ण साम्य का रूप है जिसका महत्व हिन्दुओ के धर्म-ग्रन्थो मे तथा विष्णु आदि के नील वर्णीय चित्रण मे बहुतायत से पाया जाता है, क्योकि वह पूर्ण शान्ति सूचक है। इस निर्विकल्प समाधि मे अहकार (मैं-पन) का भाव तक गायब रहता है। स्थूलेन्द्रियो से लेकर 'अह' तक समस्त तत्व एकमय होकर लयावस्था मे हो जाते है। ऐसी समाधिस्थ स्थिति मे जब यह भाव उठता है कि 'मैं हूँ' (अह ब्रह्मास्मि) तब यही मानो हवा की एक अत्यन्त उस हलकी सी फूक के समान है, जो तालाब के

---

५ सेतुबन्ध ढिग चढि रघुराई। चितव कृपालु-सिन्धु बहुताई॥
देखन कहँ प्रभु करुना कन्दा। प्रगट भये सब जलचर बृन्दा॥
मकर नक्र नाना झष व्याला। सत जोजन तनु परम बिसाला॥
ऐसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन के डर तेपि डराहीं॥
प्रभुहि बिलोकहि टरहि न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे॥
तिन्ह की ओटन देखिय बारी। मगन भये हरि रूप निहारी॥
रामायण, लकाकाण्ड (दोहा ३ और ४ के बीच)

स्थिर जल को विचलित कर देती है। वही लहर मनुष्य की निर्विकल्प समाधि को भग कर उसे सविकल्प अवस्था मे ला देती है। इसीलिये तिलक जी ने कहा है कि "साम्यावस्था मे कुछ भी हलचल नही होती, सब कुछ स्तब्ध रहता है।"[६]

साम्य और समन्वय

परन्तु तिलक जी के उपरोक्त कथन का यह तात्पर्य नही कि कर्म ही स्तब्ध हो जाते है। उन्होने तो साख्य-शास्त्र की त्रिगुणात्मक—सत्व रज और तम की —साम्य स्थिति की आलोचना करते हुए उपर्युक्त वाक्य लिखा है। उक्त साख्य मत और लोकमान्य तिलक जी के उक्त वाक्य का अभिप्राय केवल विकारो की स्तब्धता से अथवा तीनो गुणो की समान स्थिति से समझना चाहिए। तीनो गुणो की एक साथ रहने वाली स्तब्ध स्थिति को अव्यक्त प्रकृति कहते है अर्थात् उस समय प्रकृति का कार्य बन्द रहता है। लोकमान्य जी ने जब गीता रहस्य की रचना ही इसलिये की है कि लोगो को यह मालूम हो जाय कि गीता कर्म-प्रधान ग्रन्थ है, तब उनके कथन से कर्म की गौणता सिद्ध नही होती। सृष्टि ही कर्म है। इसलिये कर्म तो प्रत्येक को जब तक उसका शरीर है करने ही पडते हैं। कर्मो को त्यागकर कोई चाहे कि साम्य प्राप्त कर ले सो सम्भव नही, क्योकि काम छूट ही नही सकते। कर्म करते हुए जो अपने त्रिगुणो को समान रूप से रख सकता है, द्वन्द्वो के कारण विचलित नही हो सकता, तथा फलाफल से अनासक्त रह सकता है, वही साम्य का दर्शक हो सकता है। इस स्थिति को बहुधा समन्वय कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर कार्यान्वित रहे यही समन्वय है। व्यावहारिक क्षेत्र का समन्वय ही साम्यावस्था कहलाता है। इसका प्रमुख और आदर्श दृष्टान्त विश्व ही है। हम पहिले अध्याय मे विश्व के विस्तार, रूपादि के बारे मे कह आये हैं। उसी दृश्य को एक बार फिर अपने सामने लाइये, और देखिये किस प्रकार नियन्त्रित विधि से उसका कार्य चल रहा है। चहुँ ओर, बाहर-भीतर स्थूल-सूक्ष्म, दृश्य-अदृश्य जगत मे समन्वय व्याप्त है। इसलिये 'साम्य', 'सब धान बाइस पसेरी' को नही कहते। 'साम्य' मे उस 'टका सेर भाजी टका सेर खाजा' वाला सतुलन का नियम नही। उसमे पुरुष-स्त्री की अथवा अन्य और किसी वस्तुओ की स्वाभाविक भिन्नता मिटा डालने की आज्ञा नही। उसमे तो निहित है, वह आदर्शनीय विश्व का समन्वय जिसमे हर चीज अपने स्थान पर नियन्त्रित रूप मे कार्यान्वित रहती हुई शान्ति और सुख के प्रसार

---

६. गीता रहस्य, पृष्ठ १५७

मे योग देती है। उसमें न तो स्वार्थ ही इतना रहता है कि परार्थ पर आघात पहुँचे, और न परार्थ ही इतना होता है कि स्वार्थ का अस्तित्व ही मिटा दे। स्वार्थ और परार्थ दोनो एक माता के पुत्रों के समान एक साथ प्रेम के साथ खेला करते हैं।

अर्थ, दर्शन और अनुभूति मे भेद

लेखक, और कथक भी, केवल शब्दो और भावो के अर्थ समझा सकते हैं। वे न तो दर्शन करा सकते है और न अनुभूति ही। दर्शन करना तो दर्शक का ही काम है। यदि उसके पास वह शक्ति है जिसे शास्त्रो मे अन्तर्दृष्टि या दिव्य चक्षु कहते हैं, तो लेखक पडा की नाई कुछ बकते-झकते, कुछ कहते-सुनते सकेत करता हुआ उसको साम्य-मूर्ति के मन्दिर मे निस्सन्देह ले जाकर खडा कर सकता है। दर्शन भली-भाँति कर लेने पर ही जब दर्शक दृश्य मूर्ति से इतना मुग्ध हो जाय कि वह उसके हृदय पर अंकित हो उठे तब कहीं प्रेरित हो वह उसका अनुशीलन कर सकता है अथवा उसका भक्त बन सकता है। भक्त बने-बिना अनुभूति से उत्पन्न सुख नहीं मिल सकता। परन्तु हमे यहाँ केवल दर्शन ही करना है। इसलिये अभी अनुभूति की बात छोड दीजिये।

साम्य-दर्शन की दो क्रियायें

इस दर्शन-क्षेत्र मे साम्य के दर्शन दो प्रकार से किये जाते है। एक तो समष्टि रूप या विश्व रूप को देखकर जिसे विराट रूप भी कहते हैं; और दूसरे विश्व के पदार्थों मे से किसी एक पदार्थ को देखकर, जिसे व्यक्ति रूप अथवा व्यष्टि भी कहते हैं। चूंकि सम्पूर्ण विश्व का दर्शन करना असम्भव है, इसलिये बुद्धिमान लोग व्यक्तित्व के दर्शन कर लेने से ही विराट रूप के दर्शन की अनुभूति प्राप्त कर लेते हैं जैसे रसोइया हाँडी के एक चावल को टटोल कर पूरे चावलो के पकने न-पकने का पता लगा लेता है, अथवा वैज्ञानिक एक जल-कण को लेकर समुद्र के सम्पूर्ण जल के गुण को जान लेता है। विश्व के प्रत्येक पदार्थ मे वही समन्वय पाया जाता है जो विश्व के समष्टि रूप मे होता है। यदि यह समन्वय न रहे तो सब छितर-बितर हो जाय, सब ओर अराजकता फैल जाय, और सृष्टि ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। चूंकि सृष्टि विराट है और उसमे नाना भाँति के गुण रूप वाले दृश्य-अदृश्य पदार्थ हैं इसलिये समष्टि और व्यष्टि दोनो प्रकार के दर्शनो की सहूलियत के अभिप्राय से विज्ञानी और दार्शनिक उसे वर्गो मे विभक्त कर लेते हैं, और फिर किसी एक वर्ग के गुणो का उपरोक्त विधियो से निरीक्षण (दर्शन) करने का प्रयत्न करते

हैं। वर्गीकरण भी भिन्न भिन्न दृष्टि-कोण से कर लिया जाता है। प्रधानत दो वर्ग रहते है, जड (inanimate) और चेतन (animate) फिर उन दोनो के उपवर्ग होते है। हमारा विषय चेतन-वर्ग के केवल मनुष्य-वर्ग से सम्बन्धित है, इसलिये यहा पर इतना ही जानना काफी है कि दार्शनिक मनुष्य-विषयक गुण-रूपादि जानने के लिये उपर्युक्त समष्टि और व्यष्टि विधियो का सदा आश्रय लेते रहे है।

मनुष्य-वर्ग मे असाम्य

मनुष्य-वर्ग ही एक ऐसा वर्ग है, जिसमे साम्य के स्थान मे असाम्य की ही प्रधानता पाई जाती है। मनुष्य ने अपने आपको ससार के अन्य पदार्थो की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान मान रखा है। उसने अपने स्वार्थ को अन्य पदार्थो के स्वार्थ से ऊँचा स्थान रखा है। गरज यह कि वह अपने मुह मियामिट्ठू बन बैठा है। पर सच पूछा जाय तो जितना यह बुद्धि-शिरोमणि का दावा करने वाला वर्ग विश्व के समन्वय को आघात पहुँचाता है उतना दूसरा कोई वर्ग या पदार्थ नही पहुंचाता। विश्व मे स्थित एक वर्ग दूसरे वर्ग का भले ही घातक हो, परन्तु एक ही वर्ग का एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का इतना घातक कभी नही होता जितना मनुष्य मनुष्य का होता है। इसलिये महत्जन इस अकल्याणकारी विचलित दशा के कारणो को ढूढा करते है। इन कारणो को जो जिस प्रकार से देखता है वह उसी के अनुसार उनका उपचार या निराकरण करता है। चर्म के फोडे-फुन्सियो को देखने वाला एक डाक्टर उनका मलहम आदि के द्वारा इलाज करने लगता है, दूसरा डाक्टर उसी रोग को हटाने के लिये पेट के आन्तरिक विकारो को निकाल देने के अभिप्राय से रेचक आदि के द्वारा अन्तर्शोधन करना प्रारम्भ करता है। इसी तरह काँस नामक घास की सघनता वा बाढ के कारण ऊसर खेत को उपजाऊ करने के लिये यदि एक किसान उसे हँसिया लेकर काटने लगता है, तो दूसरा उसे कुदाली लेकर मूल सहित खोदने लगता है। मार्क्स और गाधी के दृष्टि-कोण मे भी यही भेद है।

ऋग्वेद मे साम्य

'साम्य' कोई नवीन आविष्कार नही है। वाच्य अथवा वास्तविकता की दृष्टि से वह उसी प्रकार अनादि और अनन्त है, जिस प्रकार लोग सत् और सृष्टि के विषय मे कहा करते है। वाचक अथवा वाद की दृष्टि से उसका अस्तित्व उस अतीत काल से चला आता है जब से कि लोगो मे सृष्टि तत्वो को समझने और

कहने की क्षमता आ गई थी। भावना और आकाक्षा की दृष्टि से भ। वह इतना पुराना है कि ससार के सबसे प्राचीन साहित्य ऋग्वेद सहिता के अन्त मे उसका अकित होना निम्न मत्र के रूप मे पाया जाता है।

समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तुवो मनो यथा व सुसहासति ।।

अर्थ —तुम्हारा अभिप्राय एकसमान हो, तुम्हारे अन्त करण एकसमान हो, और तुम्हारा मन एकसमान हो, जिससे तुम्हारा सुसाह्य होगा, अर्थात् सघशक्ति की दृढता होगी।[7]

साम्य के पर्यायवाची कुछ शब्द

यह प्राय सभी लोग जानते हैं कि वस्तु अथवा वाच्य एक ही होता है, पर नाम उसके एक से भी अधिक होते है अथवा हो सकते है। इसी तरह 'साम्य' वाच्य का अनेक भाषाओ मे अनेक अनेक नामो (वाचको) द्वारा वर्णन मिलता है। केवल सस्कृत एव उसकी पुत्री हिन्दी भाषा ही को देखें, तो मालूम होगा कि उसके सैकडो क्या हजारहो नाम मिलेगे, क्योकि वह ईश्वर-वाच्य का ही पर्यायवाची है। ईश्वर क्या है और उसका अस्तित्व है या नही, इस पर यथास्थान आपको आगे लिखा मिलेगा, क्योकि मार्क्सवाद और गाधीवाद मे उसके सम्बन्ध मे मतभेद है। यहा पर हमे 'साम्य' वाच्य के केवल उन्ही नामो को गिनाना है, जो समतावाची हैं और भावार्थ की दृष्टि से अभेद-सूचक है। वे हैं—सम, समता, समान, साम्य, साम, सोम, सौम्य, समन्वय आदि। धर्म-शास्त्रो मे कई स्थानो पर 'सोम' शब्द का प्रयोग किया हुआ मिलता है, और लोग उसका साधारण पदार्थान्वित अर्थ 'सोम-पीना' या 'सोम-रस' लगा लेते है। इसी प्रकार प्रश्नोत्तर के रूप मे शिक्षा देने वाले किसी किसी धर्म-ग्रन्थ मे जिज्ञासुको "हे सौम्य" अथवा केवल "सौम्य" कहकर सम्बोधित किया जाता है। वहा "सौम्य" गुणवाची नाम समझना चाहिए, न कि केवल सामान्य नाम। साम्य-गुण का सम्बोधन करने के लिये ही धर्म-प्रधान शास्त्रो मे 'सोम' और 'सौम्य' का अलकार रूप से प्रयोग किया जाता है ऐसा समझकर अध्ययन करना चाहिये।

---

७ गीता रहस्य, पृष्ठ ५०८ (निम्नाकित रेखायें मेरी हैं)

वेद, उपनिषद्, गीतादि मे साम्य का महत्व दो प्रकार से

ऊपर हम ऋग्वेद सहिता के उद्धरित मत्र से यह बता चुके है कि उस समय भी समाज-ऐक्य के लिये लोगो मे उसी प्रकार भावना और आकाक्षा रहती थी जिस प्रकार आज मौजूद है। और इस ऐक्य-प्राप्ति का साधन भी वही साम्य समझा जाता था, जिस के आज ढोल पीटे जाते है। ऋग्वेद के बाद आर्यो ने एक पूरा का पूरा वेद सामवेद नाम से ही रच डाला। इसमे उन्ही मत्रो का सकलन है जिनमे काव्य-दृष्टि से अक्षर-पदादि की निर्यात, और उच्चारण-दृष्टि से ध्वनि-सम्मेल तथा गान रस विद्यमान है जिससे करने वाले और सुनने वाले दोनो के अन्त करणो मे साम्यमय शान्ति आ जाती हे क्योकि सगीत की साम्य-ध्वनि और माधुर्य समस्त विकारो को सुला देते हे।[८] वेद काल के बाद उपनिषद् काल मे भी साम्य की उपासना का महत्व भरा पडा है। छादोग्योपनिषद् का पूरे का पूरा दूसरा अध्याय सामोपासना से भरा है जिसमे दृष्टान्तस्वरूप विविध पदार्थो के विषय मे उनकी मूल स्थिति से लेकर अन्त स्थिति तक की क्रम-बद्ध क्रियाओ के मुख्य मुख्य आस्पद (विश्रामस्थान—stages) बताते हुए साम्य का प्रतिपादन किया है।[९] सिद्धान्त रूप से उसमे यह बताया गया है कि "समस्त साम की उपासना निश्चय ही साधु हे। जो साधु होता है, उसको साम कहते हे और जो असाधु होता है, वह असाम कहलाता हे। इसे इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष 'साम साधु' है ऐसी उपासना करता है, उसके समीप साधु-धर्म शीघ्र ही आ जाते है और उसके प्रति विनम्र हो जाते हे।"[१०] उसी ग्रन्थ (छादोग्योपनिषद्) के छठे अध्याय मे एक प्रश्नोत्तर वाली आख्यायिका के रूप मे उपदेश दिया है। अरुण का पुत्र आरुणि और आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु। आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को कही "हे सौम्य" और कही केवल 'सौम्य' कहकर सम्बोधन करता

---

८ "जिनके अक्षर, पाद और समाप्ति—नियत सख्या के अनुसार होते हैं, उन मत्रो को 'ऋक्' कहते हैं, जिनके अक्षर आदि की कोई नियत सख्या या क्रम न हो, उन्हे 'यजु' कहते हैं। 'ऋक्' संज्ञक मत्रो मे ही जो गीत-प्रधान है—जो गाये जा सकते हैं, उनको 'साम' संज्ञा हैं।

कल्याण का उपनिषद् अक, पृष्ठ ४०६ (फुट नोट)

९. कल्याण के उपनिषद् अक मे प्रकाशित छादोग्योपनिषद् के द्वितीय अध्याय के आधार पर

१०. कल्याण के उपनिषद् अंक मे प्रकाशित छादोग्योपनिषद् के द्वितीय अध्याय, प्रथम खण्ड से।

है।"[११] यह सौम्य क्या है? यह है वही अविकृत शान्तिमय साम्य मनुष्य मूर्ति जिसका महत्व गीता मे भिन्न भिन्न दृष्टि से भिन्न भिन्न स्थलो पर दर्शाया गया है। गीता उपनिषदो का सार है, और उपनिषद् वेद के सार है। इसलिये गीता-आर्य-सस्कृति के सिद्धान्तो का आयना है। 'साम्य' या तदर्थ "शब्दो का प्रयोग गीता मे दो प्रकार से किया गया है। एक तो ईश्वर-उपाधि के रूप मे, और दूसरे आचरणीय शिक्षा के रूप मे। यह देखिये स्थिति, शरीर, रूप, रस, वेद, गान आदि सभी मे साम्य-रूप ईश्वर-सज्ञा का अधिष्ठान बताया गया है।[१२] (१) 'समोऽह-सर्वेषुभूतेषु' (९।२९), (२) 'सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम्' (१३।२७), (३) समवस्थितमीश्वरम् (१३।२८), (४) 'निर्दोषहि सम ब्रह्म' (५।१९), (५) सौम्य वपुर्महात्मा' (११।५०), (६) 'दृष्ट्वेद मानुष रूप तव सौम्य' (११।५१), (७) 'वेदाना सामवेदोऽस्मि' (१०।२२), (८) वृहत्साम साम्ना (१०।३५), (९) सोमोभूत्वारसात्मक (१५।१३) इत्यादि, ये ईश्वर-उपाधि के रूपो मे से कुछेक है? अब शिक्षार्थ कहे हुओ को देखिये। (१०) 'सोमपा' (९।२०), (११) सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम् य पश्यति सपश्यति (१३।२७), (१२) समपश्यन्हिसर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् याति परा 'गतिम्' (१३।२८), (१३) सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो।

---

११ अरुण, आरुणि और श्वेतकेतु गुण-सूचक नाम अलकार के रूप मे आये हैं। केतु सूर्य को कहते हैं। श्वेत का अर्थ होता है, शुद्ध, उज्ज्वल, सफेद। इसलिये श्वेतकेतु उस स्थिति का द्योतक है जब जिज्ञासु अपने पूर्व कर्मों के कारण निर्मल और तेजोमय प्रकाशवान हो गया है। यह अलकार सूर्य से लिया गया है। प्रात कालीन सूर्य की लालिमा घटते-घटते बिलकुल निकल जाती है और फिर वह सफेद दिखने लगता है। इसीलिये अरुण (लाल) पितामह, और आरुणि (कम लालिमा) पिता कहा गया है। जब तक मलरहित तेजोमय प्रकाश जिज्ञासु अन्त करण मे उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक वह गभीर आध्यात्मिक प्रश्नो पर विचार करने के लिये असमर्थ रहता है। ऐसा हमारा विचार-प्रवाह है—लेखक

१२ गीता को पढते समय पाठक एक बात अवश्य ध्यान मे रखें कि जहा कहीं कृष्ण ने 'अह' (मैं) शब्द का उपयोग अपने लिये किया है, वहा उसका प्रयोजन स्थूल-शरीर-धारी कृष्ण का नहीं समझना चाहिये, बल्कि मूल सत् को जानना चाहिये।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः। (स) स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियोनरः (१२।१८-१९)"

गीतान्वित साम्य से लौकिक सिद्धि

परन्तु मार्क्स के अनुयायी सम्भवत कह उठेंगे कि हम को 'परमगति' से क्या मतलब—हमे ब्रह्म और ईश्वर से क्या सम्बन्ध ? हम तो इस लोक की बात करते है परलोक की बातें मूर्ख लोग किया करते है। लौकिक सिद्धि की बात बताओ गीता मे कहा लिखा है ? हां, लिखा है कई स्थानो पर। गीता की यही खूबी है, कि वह लोक-परलोक दोनो को एक ही साथ साधनेवाला मार्ग बताता है। एक ही पत्थर से वह दो चिडिया मारता है। यह देखिये एक स्थान पर गीता खुलासा कहती है—

> इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
> निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५।१९॥
>
> × × ×
>
> स्थिरबुद्धिरसमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥५।२०॥
>
> × × ×
>
> स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥५।२१॥

---

१३ (१) सब भूतो मे साम्य मैं ही हूं, (२) सब भूतो मे साम्य रूप सस्थित परमेश्वर; (३) समवस्थित परमेश्वर; (४) साम्य रूप ब्रह्म ही निर्दोष या निर्दोष साम्य-रूप ब्रह्म; (५) सौम्य मूर्ति महात्मा (वपुस् शरीर); (६) यह तुम्हारा मानुषिक सौम्य रूप देख कर, (७) सब वेदो मे (ज्ञानो) मे सामवेद (साम्य-ज्ञान) मै ही हूं, (८) साम्यो का महान् साम्य (मै ही हूं), (९) रसो में सोमरस हो कर। (१०) सोम (साम्य) पीने वाले, अर्थात् साम्य-भावमे मस्त हो जाने वाले, (११) जो सब भूतो मे अधिष्ठित साम्य रूप परमेश्वर को देखता है वही यथार्थ मे देखता है; (१२) जो सर्वत्र साम्यरूप से स्थित परमेश्वर को साम्य-भाव से देखने वाला है, वही सर्वश्रेष्ठ गति को पहुच जाता है; (१३) जो शत्रु और मित्र मे, मान और अपमान मे, शीत और उष्ण मे, सुख और दु ख मे समता रखता है और अनासक्त रहता है ..ऐसा द्वन्द्वो मे स्थिरबुद्धि और भक्ति वाला मनुष्य मुझे प्रिय होता है।

अर्थात् 'जिन का मन साम्यावस्था मे स्थिर हो जाता है वे इस लोक पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं (अर्थात् लौकिक सिद्धियां भी उन्हें मिल जाया करती हैं), क्योंकि 'सम' दोष रहित होता है। चूंकि ब्रह्म सत्ता भी निर्दोष होती है, इसलिये चाहे साम्य स्थिति कह लो या ब्रह्मस्थिति, दोनों एक ही बात है। अत जिनका मन साम्यावस्था मे स्थिर हो जाता है वे यथार्थत ब्रह्मावस्था ही मे स्थिर हो जाते है। (५।१९) (इस प्रकार कौन स्थिर हो सकता है?) वही पुरुष इस स्थिति को प्राप्त कर सकता है जिसमे ये दो बातें हों (१) पहिले तो उसे 'ब्रह्मविद' होना चाहिए अर्थात् उसे अध्ययन, सगति आदि के द्वारा यह जानना चाहिए कि ब्रह्म क्या चीज है यानें उसके क्या लक्षण हैं, और फिर (२) उसको अपनी बुद्धि को स्थिर रखने का इतना अभ्यास हो जाय कि वह 'असमूट' यानें बुद्धिमान कहलाने का अधिकारी बन जाय। (५।२०) जब इस प्रकार का ब्रह्म योग सध जाय तभी वह अक्षय अथवा अमिट सुख को पा सकता है (५।२१), जिसके लिये सभी लालायित रहते हैं।

साम्यवाद कोई नवीन मत नहीं है

साम्यवाद कोई नवीन मत नही है वह बहुत प्राचीन है। हमारी इस बात को काटने के लिये एक नवयुवक साम्यवादी ने हमारे हाथ मे साम्यवाद के धुरधर प्रचारक श्री राहुल साकृत्यायन की "साम्यवाद ही क्यों?" नाम की पुस्तक रख दी, और कहा, यह देखो इनकी भूमिका मे 'मनुष्य की उत्पत्ति और विकास' का वर्णन किया है, एव उसके नीचे मनुष्य के विकास के कुछ महत्त्वपूर्ण काल की एक सूची भी दी है। यदि 'साम्यवाद' प्राचीन होता तो उसका वर्णन कहीं न कहीं प्राचीनकालीन गणना मे अवश्य आता, जबकि राहुल जी ने यह सूची दो अरब वर्ष पूर्व (पृथ्वी की उत्पत्ति) से लेकर सन् १९१७ तक की दी। इस सूची मे 'साम्यवाद' के आचार्य 'कार्ल मार्क्स' को ही स्थान दिया गया है जो सन् १८१०-८३ ई० बताया है।[१४] मैंने कहा कि यदि कोई किसी बात का वर्णन न करे तो उसका यह अर्थ नही होता कि वह बात ही गलत है। उसी सूची मे आप देखेंगे कि गौतम बुद्ध (बुद्धिवादी) ५६३-४८३ ई० पूर्व को स्थान दिया है, जो वेद-उपनिषदादि काल के बहुत पीछे का है, यह सभी जानते है। राहुलजी स्वय इस बात को स्वीकार करते है कि आर्यों के पुरातन ग्रन्थ वेद कम से कम पाच हजार वर्ष पूर्व के

---

१४ कार्ल मार्क्स का जन्म सन् १८१८ मे हुआ था, यह पाठक पहले पढ आये होंगे। इसलिये सन् १८१० या तो छापे की गलती है या लेखक की भूल।

होने चाहिये। उन्होने अपनी उपरोक्त पुस्तक की भूमिका मे ही लिखा है कि 'पाच हजार वर्ष पूर्व यह जाति किस अवस्था मे थी, इसका कुछ पता हमे भारतीय आर्यो के पुरातन ग्रन्थ वेद मे मिलता"।[15] जब हमने ऋग्वेद के उद्धरण से यह बता दिया है कि उस समय भी समाज मे साम्य-स्थापना की भावना वा आकाक्षा थी, और इस भावना वा आकाक्षा का प्रदर्शन करने वाले कोई न कोई रहे होगे, तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि कार्ल मार्क्स के पहिले साम्यवाद का कोई आचार्य ही नही था या कि सन् १८१८ के पूर्व साम्यवाद ही नही था। यदि राहुल जी ने प्राचीन साम्यवाद का कोई जिक्र नही किया तो इसका अर्थ यह नही होता कि कार्ल मार्क्स के पहिले साम्यवाद का अस्तित्व ही नही था। यदि किसी बात का अस्तित्व सिद्ध हो और फिर भी तद्विषयक किसी वक्तव्य या लेख मे वह बात छूट जाय तो उसके ये तीन ही कारण हो सकते है, यथा अज्ञान, विस्मृति अथवा स्वकीय पक्ष मे निर्बलता न आने देने की भावना। इनमे से किस कारण-वश उन्होने उसका उल्लेख नही किया इसे ढूंढने की हमे आवश्यकता नही। पर हाँ! एक बात स्पष्ट मालूम होती है। वह यह कि उनका विषय मनुष्य का आन्तरिक विकास नही है। वह है उसका केवल बाह्य विकास। किस प्रकार प्राकृतिक रद्दोबदल होते हुए मनुष्य ने वर्तमान शरीराकृति प्राप्त की, और किस प्रकार उसने अपने शरीर-भागो को बढाया, यही उनका विषय है। उनकी दृष्टि मे अथवा डार्विन आदि, खोजकारो की दृष्टि मे, जिनके आधार पर प्रतीत होता है, उन्होने अपने इस विषय का विवरण दिया है, मानव-तत्त्व का ज्ञान मनुष्य के केवल शारीरिक आगोपागो से सीमित किया हुआ हमे मालूम होता है। यह देखिये, वे कहते हैं कि "मानव-तत्त्व के पन्डितो ने भिन्न भिन्न जातियोकी शारीराकृतिकी परीक्षा कर उनमे अनेक-भेद-लक्षण या अभिव्यन्जन (Index) पाये हैं।"[16] ये अभिव्यन्जन उन्होने बताये है लम्बाई (कद), कपाल-सस्थिति, नासिका-सस्थिति शरीर-आख वालो के रग वा आकार-प्रकार इत्यादि। इसके आगे फिर वे कहते है कि अपनी वर्तमान अवस्था तक पहुँचने के लिये मनुष्य-जाति को जिन जिन मजिलो को पार करना पडा, अब भी प्रत्येक मनुष्य को गर्भाशय और शैशव मे उन्हे सभी अवस्थाओ से गुजरना पडता है। गर्भ मे वह आरम्भिक अवस्था मे मछली की तरह रहता और अन्यान्य अवस्थाओ से ४-५ मास की

---

१५ साम्यवाद ही क्यो? पृष्ठ १८

१६. साम्यवाद ही क्यो? पृष्ठ २१

अवस्था मे वह मनुष्य वानरमा होता है।"[१७] यदि वाह्याकृति के अतिरिक्त मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार-युक्त अन्तःकरण के विकास पर भी उन्होंने ध्यान दिया होता तो सम्भवतः वे कम से कम ईसा मसीह, मुहम्मद पैगम्बर तथा अन्य धर्माचार्यों को तथा उनके धार्मिक सिद्धान्तों को स्थान देना नही भूलते, क्योंकि धर्म और समाज का जोड़ा है। यदि यह कहा जाय कि उन्होंने बौद्धिक विकास पर ध्यान रखा है तभी तो उनकी सूची मे अनेक प्रकार के आविष्कारों का उल्लेख है, तो हमारा कहना यह है कि यह बौद्धिक विकास केवल वहिर्मुखी है, जो वाह्य भोग-विलास रूपी सुखों की ओर प्रवृत्त करता है। अन्तर्मुखी विकासानुसार इन मोह रूपी सुखों का निराकरण हो जाता है। यदि अन्तर्मुखी विकास पर ध्यान रखा जाता तो न केवल गौतम बुद्ध वल्कि कपिल, पातञ्जलि, वैशम्पायन (व्यास) आदि को भी स्थान दिया जाता। इस तरह हमने अपने उन नवयुवक साम्यवादी से कहा कि जो कुछ राहुल जी ने लिखा है वह केवल एकांगी विकास है, और उसको लिखते समय उनकी विचार-धारा डार्विन आदि आचार्यों के भौतिक मतों के अनुसार प्रवाहित हुई है। इसीलिये उन्होंने सम्भवतः गौतम बुद्ध को अपनी सूची मे स्थान दिया हो, क्योंकि उनके मत को लोग प्रकृतिवाद या भौतिकवाद ही कहते हैं। परन्तु गौतम बुद्ध के भौतिकवाद और आधुनिक भौतिकवाद मे भी बहुत अन्तर है। यह भी सम्भव है कि कार्लमार्क्स के पूर्वगामी अन्य साम्यवादों को केवल व्यक्तिगत, सकुचित और गौण समझकर राहुल जी ने उनकी उपेक्षा कर दी हो। परन्तु विकास का तो क्रम हुआ करता है, इसलिये उस दृष्टि से भी पूर्वगामी प्रधान स्थितियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। तब फिर यही बात रही कि उन्होंने केवल श्रमिक और पूंजीपति कहे जाने वाले वर्गों के सघर्ष से उत्पन्न होने वाली समता को ही साम्यवाद मान लिया है जिसका आचार्य कार्ल मार्क्स के पहले और कोई नही हुआ। तब तो मैंने उपर्युक्त नवयुवक मित्र से कहा कि यदि वर्गों का सघर्ष ही साम्यवाद है, और ऐतिहासिक काल के ग्रन्थ ही आपके ज्ञान के साधन हैं तो भी यह मानना पड़ेगा कि साम्यवाद प्राचीन-कालीन है क्योंकि कार्ल मार्क्स और एंगिल्स ने स्वयं कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो के सर्वप्रथम वाक्य मे इस बात को स्वीकार किया है कि समाज मे सदा से वर्ग सघर्ष चले आते हैं।[१८]

---

१७ साम्यवाद ही क्यों? पृष्ठ २४

१८ "The history of all hitherto existing society is the history of class struggle"

कम्यूनिज्म की प्राचीनता

हमारा वर्तमान 'साम्यवाद' शब्द अंग्रेजी शब्द 'कम्यूनिज्म' (Communism) का अनुवाद है। जिस 'साम्य' की व्याख्या हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे मिलती है और जिस पर हमने पूर्व पृष्ठो मे कुछ प्रकाश डाला है, वही, कितनी आश्चर्यजनक बात है, हमारे लिए मान्य नही, उसमे हमारी श्रद्धा नही और न उसमे हमारे लिये कोई महत्व ही दिखाई देता है! क्यो? इसीलिये कि विदेशी शिक्षा और सस्कृतियो से हम पूरी तरह से रग चुके है, इसीलिये कि एक लम्बे अरसे की परतंत्रता ने हमे नकलची बना दिया है। खैर! जाने दीजिये! अपने विदेशी गुरुओ को ही देखिये, वे क्या कहते है। वे भी स्वीकार करते है कि वर्तमान साम्यवाद के पूर्व मे भी साम्य का प्रचार था। वह किस प्रकार से, सो सुनिये।

फ्रेड्रिक ऐंग्लिस मार्क्स का चिर सहयोगी था। दोनो ने मिलकर सन् १८४७ मे कम्यूनिस्ट पार्टी का मेनीफेस्टो अर्थात् साम्यवादी दल का घोषणा-पत्र तैयार किया था। देश और काल को पाकर वह घोषणा-पत्र इतना लोकप्रिय होता गया कि उसके नये नये सस्करण भिन्न भिन्न देशो की भिन्न भिन्न भाषाओ मे प्रकाशित होने लगे। सन १८८८ के अंग्रेजी सस्करण की पृष्ठान्त दो टिप्पणिया, और सन् १८९० के जर्मन सस्करण की भूमिका तथा एक पृष्ठान्त नोट को, जो फ्रे० ऐंग्लिस ने लिखे है, पढने से ज्ञात हो जाता है कि इस घोषणा-पत्र के पूर्वकाल मे भी कम्युनिज्म शब्द का तथा तथ्य का प्रकारान्तर भेद से प्रचार था। उससे यह विदित होता है कि ऐतिहासिक मध्यकाल मे भी, जब कि सामन्त राज्यो की प्रधानता थी, इटली और फ्रान्स के वे उन्नत नगर अपने आपको 'कम्यून' कहते थे, जिन्होने अपने सामन्त स्वामियो से मूल्य देकर या विजय द्वारा स्थानीय स्वशासन (Local-self-government) तथा राजनैतिक स्वत्व प्राप्त कर लिये थे।[१९]

फ्रे० ऐंग्लिस का कथन है कि जब कि घोषणा-पत्र सन् १८४७ मे प्रकाशित हुआ था तब हम उसे समाजवादी घोषणा नही कह सके, क्योकि उस समय दो प्रकार के लोग पहले ही से थे जो अपने आपको समाजवादी कहते थे। वे थे, इग्लैंड के ओविनाइट्स, और फ्रान्स के फोरियारिस्टस, हालाकि उस समय उनकी स्थिति इतनी क्षीण हो चुकी थी कि वे मृतप्राय ही थे। इनके अतिरिक्त कुछ मिथ्याचारी लोग भी थे जो अपने अपने कई प्रकार के थिगरुआ उपायो से सामाजिक रोगो को दूर करना चाहते थे, हालाकि पूजी और मुनाफाखोरी को वे लेशमात्र भी आघात नही पहुचाते थे। परन्तु एक प्रकार का समुदाय श्रमजीवियो

---

१९. मेनीफेस्टो, पृष्ठ ४३ के आधार पर

का और था जो समाज की क्रान्तिकारी पुनर्रचना चाहता था। उसे यह विश्वास था कि इस प्रकार की पुनर्रचना की सिद्धि केवल राजनैतिक क्रान्तियों से नही मिल सकती। यह समुदाय अपने आपको 'कम्यूनिस्ट' कहता था। उसमे स्वाभाविक प्रेरणा तो थी, पर फिर भी वह खुरदरा-सा कटा हुआ वेढगा 'कम्यूनिज्म' (साम्य) था। वेढगे होने पर भी उसने फ्रान्स और जर्मनी मे दो भिन्न भिन्न नाम और रूप धारण कर जन्म लिया। फ्रान्स मे वह केविट का 'इकेरियन' कम्यूनिज्म (साम्य) कहलाया, और जर्मनी मे वेटलिग का।[20]

उपर्युक्त कथनों से विदित हो गया कि कम्यूनिज्म (साम्य) का प्रचार सन् १८४७ के पहले न केवल ऐतिहासिक-आधुनिक काल मे ही था वरन् मध्यकाल मे भी था। अब ऐंगिल्स ही के इस कथन को देखिये जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि कम्यूनिज्म की प्रथा मध्यकाल के पूर्व प्राचीन काल मे भी थी। उनका कहना है कि सन् १८४७ मे, जबकि मेनीफेस्टो तैयार किया गया था, यह बात बिलकुल नही मालूम थी कि लिखित इतिहास के पूर्वकाल मे समाज की क्या व्यवस्था थी। परन्तु अब सन् १८८८ तक जब कि मेनीफेस्टो का अग्रेजी सस्करण प्रकाशित हुआ, हेक्सथासिन (Haxthansen), मारेर (Maurer) और मोरगन (Morgan) के आविष्कारो से यह पता लग गया है कि रूस मे भौमिक सार्वजनिक स्वामित्व की व्यवस्था थी और उसी का प्रचार सभी टयूटानिक जातियो मे भी था। उनका कहना है कि उसका प्रसार इतना बढता गया कि धीरे धीरे हिन्दुस्तान से लेकर आयरलैण्ड तक वह ग्राम पचायतो (Village Communities) के रूप मे फैलता गया। जब मारगन ने कुटुम्ब और कौम, अथवा गोत्र और जाति (gens and tribes) के सम्बन्ध का यथार्थ स्वरूप ढूढ निकाला तब ग्राम-पचायतो की आन्तरिक व्यवस्थाओ का भी बिलकुल स्पष्टीकरण हो गया। समाज के वर्तमान विद्रोहात्मक वर्गीकरण का जन्म तो इन ग्राम-पचायतो की विग्रहात्मक क्रियाओ के साथ ही साथ होता गया है।[21]

ऐंगिल्स की बात छोड दीजिये। मार्क्स का जगत-प्रसिद्ध अनुयायी लेनिन भी उक्त मेनीफेस्टो के मुख-पृष्ठ पर अपनी सम्मति के रूप मे कहता है कि "यह घोषणा-पत्र नये साम्य-समाज का जन्मदाता है।"[22] इस तरह लेनिन

---

२० 'मेनीफेस्टो', पृष्ठ ३१ के आधार पर

२१ 'मेनीफेस्टो', पृष्ठ ४७ के आधार पर

२२ "This work The Creator of Neo Communist Society".

भी यह स्वीकार करते है कि साम्यवाद और साम्य-समाज वाली बात बहुत पुरानी है।

कम्यूनिज्म और साम्य की व्यौत्पत्तिक समता

ऊपर हम यह देख आये है कि फ्रान्स के उन्नत नगर 'कम्यून' (Commune) कहलाते थे। यह 'कम्यून' शब्द अंग्रेजी शब्द 'कामन' (Common) का पर्यायवाची है। अंग्रेजी कोश मे देखने से विदित होता है कि 'कामन' शब्द या तो फ्रेंच शब्द 'कम्यून' या लेटिन शब्द 'कम्यूनिस' से बना है। कोशकार सी० अननडेल ने लिखा है कि इस लेटिन शब्द 'कम्यूनिस' का प्रारम्भ कैसे हुआ यह संदिग्ध है, सम्भवत इस प्रकार हुआ हो—'कम' (Com)=एक साथ, और 'म्यूनिस' (munis)=सेवा करने के लिये तत्पर आभारी।[२३] चूकि अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओ की जन्मदात्री लेटिन भाषा है, इसलिये अंग्रेजी के 'कामन' और फ्रेंच के 'कम्यून' दोनो शब्दो की उत्पत्ति लेटिन शब्द 'कम्यूनिस' से सिद्ध होती है। अत अंग्रेजी 'कामन' और फ्रेंच 'कम्यून' दोनो शब्दो का एक यही अर्थ निकलता है 'परस्पर सेवा करने के लिये तत्पर रहना'। यही कारण है कि फ्रास के तत्कालीन नव-प्रगतिशील नगर स्वशासन एवं राजनैतिक स्वत्वो को प्राप्त कर अपने आपको 'कम्यून' कहने लग गये थे। 'कम' (Com) के साथ 'यूनियन' (union), 'युनिटी' (unity) या 'युनिज्म' (unism) जोड देने से 'कम्यूनियन', 'कम्यूनिटी', 'कम्यूनिज्म' शब्द बन जाते है, जिन सबसे वही संगठित पारस्परिक सेवा-भाव व्यक्त होता है। वही समतायुक्त ऐक्य अथवा समन्वय भाव प्रदर्शित होता है, जैसा कि हम 'साम्य' शब्द की व्याख्या करते समय देख चुके है। यह वही सुसाह्य है, जिसके विषय मे पूर्वोक्त ऋग्वेद मन्त्र मे हम कह चुके है। 'कम्यूनियन' शब्द का महत्त्व तो यहाँ तक होता है कि 'कम्युनियन विथ गॉड' (Communion with God) कहने से प्राकृतिक और आत्मिक—मनुष्य और ईश्वर के बीच का समन्वय या साम्य-प्रदर्शन किया जाता है। तब फिर हम यह कह सकते है कि 'कम्युनिज्म' और 'साम्य' दोनो का शाब्दिक और वास्तविक अर्थ एक-समान है।

---

२३. "Common—Fr *Commun* L *Communis*, Common origin doubtful, perhaps—*Com* together, and *minus*, ready to be of service, obliging" Eng Dictionary by C Anndale

अध्यायान्त

'वाद', 'दर्शन' और 'साम्य' इन तीनों पर पृथक् पृथक् विचार निर्धारित कर लेने के बाद हमें अब उनके संयुक्त रूप साम्यवाद और साम्य-दर्शन की ओर बढ़ना होगा। परन्तु साम्यवाद में निहित साम्य-दर्शन के पहिले साम्यवाद का ही निरीक्षण करना आवश्यक है। क्योंकि जब तक हम पहले उसके मन्त्र और तन्त्र, अथवा सिद्धान्त और कर्मों से परिचित न हो जावेंगे, तब तक यह अनुसन्धान नहीं किया जा सकेगा कि उसमें 'साम्य' किस हद तक प्रतिबिम्बित है।

(७)

समाजवाद, साम्यवाद और गांधीवाद की कुछ सम्बन्धित बातें

मनुष्य सामाजिक प्राणी है

किस विकास-क्रम से कितने काल मे मनुष्य, मनुष्य रूप और मनुष्य-गुण प्राप्त कर सका है, यह विकासज्ञो की एक लम्बी और रोचक वार्ता है। हिन्दूधर्मीय पौराणिक अवतारवाद इस विकास-क्रम का ही द्योतक है। इस विकास-क्रम मे प्रविष्ट होना हमारा विषय नही है। हमे इतना ही जानना काफी है कि मनुष्य का वर्तमान स्वरूप और प्रवृत्ति-निवृत्तिसूचक गुण अत्यन्त अतीत काल से चले आते है। सच पूछा जाय तो हमे उसके बाह्य स्वरूप—उसकी बाह्याकृति से भी कोई प्रयोजन नही। प्रयोजन है, केवल उसके गुणात्मक व्यक्तित्व से, और उसके सामाजिक सम्बन्धो से। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिये सामाजिक सुव्यवस्था बनाये रखने का सदा ही उसका लक्ष्य रहा है। वही लक्ष्य वर्तमान काल के तीन प्रचलित वादो—समाजवाद, साम्यवाद और गाधीवाद—का है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसीलिए हमे ऐतिहासिक दृष्टिसे समाज-विकास पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

समाज-विकास-क्रम

अनुमान से, तर्क से, वर्तमान कुछेक जगली जातियो के रहन-सहन को प्रत्यक्ष देखने से, एव इतिहासज्ञो की अनेक खोजो से यह सिद्ध होता है कि अत्यन्त प्राचीन प्रारम्भिक काल मे मनुष्य जगलो मे इकला, दुकला, नगे-तन, केवल कच्चा मासभक्षी वा शाकाहारी पशु की तरह अपना जीवन व्यतीत करता था। उस समय उसकी बुद्धि इतनी विकसित न हो सकती थी, कि वह एकत्र रहने, तन ढाकने, अन्न उत्पन्न करने तथा भोज्य पदार्थों को पकाकर खाने की विधि जान सके। उस समय उसकी प्रेमवृत्ति भी पशुवत् काम-वासना के ही रूप मे विद्यमान थी।

कुछ काल के उपरान्त पुरुष-स्त्री के काम-वासना-मय क्षणिक सग के स्थान मे प्रेम-मात्रा जगी, और सग-स्थिरता बढी। पुरुष और स्त्री जोडे से

विचरने लगे। जव प्रेम-गठन और स्थायित्व का महत्व प्रतीत होने लगा, तव विवाह-पद्धति का विकास हुआ। वलपूर्वक नारी-हरण, चोरी से नर-नारी का भाग जाना, स्वयम्वर आदि मे पौरुष वल, सुन्दरता आदि देख जयमाला पहिना कर कन्याके द्वारा वर का वरण करना, कन्या-वर के पारस्परिक गुणो को मिलान करके सम्वन्ध स्थापित करना इत्यादि विवाह-पद्धतियो का एक वडा रोचक, शिक्षाप्रद विकास-इतिहास है। भारतीय स्मृतिकारो ने, जो आसुर, गान्धर्व, ब्राह्म आदि आठ प्रकार की विवाह-प्रथाये वताई हैं, उनके अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि मनुष्य को धीरे धीरे यह अनुभव होता गया कि विवाह पाशविक सुख-भोग का साधन नही, वल्कि जीवन का सस्कार है। पुरुष-स्त्री की काम-वासना की तृप्ति-क्रिया के साथ ही साथ अनुमानत 'सग' और 'सघ' सज्ञाओ का जन्म हुआ होगा।

इतिहासज्ञ यह वताते है कि जव पुरुष-स्त्री के क्षणिक पाशविक समागम होने के कारण सन्तान उत्पन्न होने लगी तव मातृक कुटुम्वो का प्रादुर्भाव हुआ, जैसा कि आज पशु-पक्षियो मे तथा पुरुष-स्त्री के अनुचित सम्वन्ध से उत्पन्न सन्तति के समय अथवा वहु-पतित्व के कारण देखा जाता है। माता के सिर पर सन्तान-रक्षा का भार छोडकर पिता अलग हो जाया करता था। इस प्रकार अनेक पिताओ के द्वारा एक ही माता के गर्भ से अनेक सन्तानो का एक समूह माता के सरक्षण मे पाला-पोसा जाता था। यह है भी स्वाभाविक, आखिर माता ही तो उन्हें दूध पिलाकर पाल-पोस सकती है।

इसके पश्चात् जव पुरुष-स्त्री के वीच मे प्रेम-वृत्ति वढी और विवाहादि के द्वारा दोनो के सहयोग मे स्थिरता आई तव सन्तान के पालन-पोषण एव रक्षा का भार पिताने सम्हालना प्रारम्भ किया, तव से पैतृक कुटुम्वो का जन्म हुआ।

तदुपरान्त एक ही पूर्वज अथवा ऋषि की सन्तति के नाते एक ही नस्ल या खून के होने के कारण अनेक कुटुम्वो का मेल वढा जिनके समूहो को कही कुल, कही वर्ग, कही वर्ण और कही गोत्र (gens) सज्ञा दी जाने लगी। फिर कालान्तर से अनेक वर्ग या वर्णो के समुदाय वनने लगे जो कौम या जाति (tribes) नाम से प्रसिद्ध होते गये। कही कही एक ही स्थान के अन्यान्य वर्गीय निवासियो के समूह भी कौम या जाति कहे जाने लगे। इस प्रकार की जातियो या कौमो का नामकरण उत्पत्ति की समानता पर नही वरन् निवास-स्थान की एकता पर निर्भर रहता था। उक्त दोनो प्रकार की जातियो का कार्य-भार चलाने के लिये हर जाति का एक मुखिया रहता था। वह स्वय अपने वुद्धिवल से अथवा अपने सलाहकारो की सहायता से उनका कार्य-सचालन करता था। इन कौमो का सगठन कई एक उद्देश्यो को लेकर

प्रारम्भ होता था। कोई कौम जीवन-निर्वाह के हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान को शान्तिपूर्वक भ्रमण करती थी, कोई अन्यायपूर्ण लूट-खसोट करने के विचार से अथवा चल-अचल सम्पत्ति को अपहरण करने के उद्देश्य से अपने फौज-फाटे के साथ आक्रमण करती थी, और कुछ साम्प्रदायिक भावनाओ से प्रेरित हो अपने मतो या धर्मो के प्रचारार्थ विचरण करती थी।

राज्य-राष्ट्र-निर्माण

जब इस प्रकार की जाति-विशेष या कई जातियो का सम्मिलित समूह, अथवा अन्य कोई जनसमूह व्यवस्थित रूप से किसी एक स्थान मे स्थिर होकर वास करने लगा तो राज्य और राष्ट्र का निर्माण हुआ। राज्य (state) की परिभाषा के अन्तर्गत तीन बातो का समावेश होना नितान्त आवश्यक है, यथा—जन-समाज (people), स्थान (territory) और पूर्णाधिकार (full sovereignty) परन्तु अपूर्णाधिकारी राज्य भी रहते ह, जो राज्य-सम्बन्धी किन्ही बातो के करने के लिए स्वतत्र रहते है और किन्ही के लिये पराधीन। इस प्रकार के राज्य या तो वे होते है जो किसी दूसरे स्वतत्र पूर्णाधिकार भुक्त के सरक्षण मे हो, या जो एक दूसरे से मिलकर सघ (Union or Federation) बना ले, और अन्तर्राष्ट्रीय कुछ कार्यो के करने मे, जैसे युद्ध, सन्धि, विभाग मे, परतत्र रहे। ऐसे कार्य केन्द्रीय सस्थाके हाथ मे सर्वसम्मति से सौप दिये जाते है। परन्तु उपनिवेश (Colonies) और उपराज्य (Dominions) राज्य की परिभाषा के अन्तर्गत नही माने जाते, क्योकि वे पूर्णाधिकार-भुक्त राज्य के उपाग मात्र है।[1]

साम्यवाद और गाधीवाद मे राज्य का स्थान

कर्त्तव्य-दृष्टि से प्रत्येक राज्य के चाहे वे पूर्णाधिकार-भुक्त हो या अपूर्णाधिकार-भुक्त उपनिवेश हो या उपराज्य—दो कर्त्तव्य क्षेत्र होते हे। हर एक को अपनी निर्धारित कर्त्तव्य सीमा के भीतर वर्तते हुए राज्य का कार्य-भार चलाना पडता है। एक है राज्य की आन्तरिक व्यवस्था, जिसे गृह-व्यवस्था भी कहते है, और दूमरी है, परराष्ट्र अयवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को बनाये रखने की व्यवस्था। प्रजा सुखपूर्वक रहे

---

१ "A state proper—in contradiction to colonies and Dominion is in existence when a people is settled in a country under its own sovereign Government" एल ओपीनहीमकृत "International Law", Part I, p 114

यही इन दोनो व्यवस्थाओं का उद्देश्य रहता है। इन व्यवस्थाओ की कई शाखा-प्रशाखाएँ रहती हैं, क्योकि सुख-भोग के लिये प्रजागण की अनेक आवश्यकतायें होती हैं, जिन मे से आर्थिक आवश्यकता प्रधान मानी जाती है। कार्य-भार चलाने के लिये प्रजा की स्वतत्रता—नही, स्वच्छदता पर राज्य-शासन की ओर से कुछ नियत्रण रखना पडता है, जैसे न्यायालय, जेल का रखना एव रक्षा के लिये पुलिस या सेना का रखना ये तथा ऐसे और भी अनेक कार्य राज्य-शासको को करने पडते है जो प्रजा की स्वतत्रता मे बाधक होते है। साम्यवाद और गाधीवाद दोनो को यह बात पसन्द नही हैं। दोनो उसको मिटा देना चाहते हैं। इस पर आगे यथास्थान विचार किया जायगा। यहाँ केवल यही देखना था कि समाज का प्रारम्भ और विस्तार कब और कैसे हुआ तथा वह किस ढग से व्यवस्थित होता गया। एक मूलसूत्र जो आदि से अन्त तक पिरोया हुआ पाया जाता है वह है परस्पर प्रेम, परस्पर हेल-मेल का। वह नही तो समाज नही, सघ नही, स्टेट नही। अत उसको हानि पहुँचाने वाले कीडो को उत्पन्न न होने देना, और उत्पन्न हुओ का विनाश करते रहना यही ससार की व्यवस्थाओ, वादो या धर्मो का उद्देश्य एव प्रयत्न रहता है और रहना चाहिये। साम्यवाद और गाधीवाद भी इस बात को चाहते है। परन्तु दोनो ने दो अलग-अलग मार्ग बना रखे हैं। इस पर भी विचार बाद मे करेगे।

मार्क्सकालीन प्रगतिहीन समाजवाद के रूप

समाज व्यवस्थित होकर सुख-चैन से खाते-पीते, मेल-मिलाप से रहे, यही विश्व के समस्त साहित्य का एव कर्म-योगियो के समस्त कर्म-ज्ञान का सार है। इतिहास से यह सिद्ध है कि समाज के प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक समाजोद्धार के हेतु दशा, देशकाल के अनुसार कोई न कोई सामाजिक व्यवस्था, किसी न किसी नाम से, कोई न कोई रूप (प्रोग्राम) धारण करती हुई सदैव विद्यमान रही है। मार्क्स ने भी अपने ढग से एक नयी व्यवस्था का निर्माण किया। उसने प्रत्येक देश के इतिहास मे देखा कि समाज मे अनेक वर्ग समय समय पर रहे आये हैं। उनमे सघर्ष भी होता रहा है, और सघर्ष मे जो सबल सिद्ध हुआ वही जीवित रह सका है। इस ऐतिहासिक वर्गीकरण और वर्ग-सघर्ष के मथन से उसने एक यह निष्कर्ष निकाला कि समाज मे आर्थिक असमानता ही समाज का दुख-मूल है। यद्यपि समय समय पर देश-देश मे, भिन्न भिन्न नाम के वर्ग, भिन्न भिन्न प्रकार की शोषण विधि, और भिन्न-भिन्न प्रकार के सघर्ष-रूप रहे तथापि उन सब की तह मे आर्थिक असमानता ही कारण रूप विद्यमान रही। इस दृष्टि से हर देश के और हर समय के वर्ग-विभागो की समीक्षा करते हुए उसने समाज को केवल दो वर्गो मे विभक्त पाया—एक धनिक दूसरा गरीब

—एक पूँजीपति दूसरा श्रमिक—अथवा एक शोषक दूसरा शोषित। उसे इतिहास दर्पण मे यह भी दिखा कि हर समय हर देश मे अपने-अपने ढग से शोषितो के द्वारा शोषको के विरुद्ध आन्दोलन होते रहे। कभी कभी मध्यस्थ श्रेणी के लोग, जैसे छोटे-छोटे दूकानदार, छोटे-छोटे कारीगर, कृपक आदि ने भी अपने अपने शोषकों के विरुद्ध आवाजे उठाई और आन्दोलन भी छेड़े। परन्तु इनके सघर्ष एकदेशीय और अल्प-स्वरुपीय होने के कारण क्रातिहीन ही रहे। मार्क्स का कथन है कि निम्न माध्यमिक वर्ग, छोटे शिल्पकार, दूकानदार, कलाकार, कृपक—ये सब बुर्जुओ (पूँजीपतियो) के विरुद्ध इसलिये लडते है कि उन का अस्तित्व माध्यमिक वर्गीय क्षेत्र मे नष्ट होने से बचा रहे। इसलिये वे क्रान्तिकारी नही है, बल्कि प्रचलित व्यवस्था के पोषक हैं। इतना ही नही, वे प्रतिक्रियाकारी है, क्योकि वे इतिहास चक्र को उल्टा घुमाने का प्रयत्न करते है"[२] अपने 'मेनीफेस्टो आफ दी कम्यूनिस्ट पार्टी' के तीसरे खण्ड मे मार्क्स और एंगिल्स ने कुछ समाजवादो का वर्णन किया है जो भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न देशों मे समाजोद्धार के लिये उत्पन्न हो प्रचलित होते रहे। उनका यहा विवरण देना अनावश्यक है, क्योकि उस समय की परिस्थितियाँ आज की परिस्थितियो से बिलकुल भिन्न थी। परन्तु जिस सिद्धान्त के आधार पर उक्त विवरण दिया गया है, अथवा जो सिद्धान्त उन ऐतिहासिक तथ्यो से निकाला गया है वह आज भी कार्यान्वित हो रहा है, और सम्भवत भविष्य मे भी न मिट सकेगा। वह यह है। समाज-सुधारक तीन प्रकार के होते है, यथा, (१) क्रान्तिकारी (revolutionists), (२) प्रतिक्रियाकारी (reactionaries) और (३) प्रचलित व्यवस्था पोषक (conservatives)। यद्यपि प्रत्यक्षत ये तीनो प्रकार के समाजवादी पतित वर्गो के उद्धार करने का बीडा उठाये रहते है, तथापि उक्त दूसरे और तीसरे प्रकार के लोग यथार्थत उद्धारक नही होते। इनमे से कोई तो शोषक वर्ग मे से ही आगे बढकर लेखन और वाणी कला के द्वारा पतितो को उठाने के गीत गाने या नारे लगाने लगते है और कोई पतितो मे से ही उठ खडे होकर शोपको से ही भीख दान-सा मागने लगते है। कई एक लोग कारण-वश सम्पत्ति-विहीन हो जाने के सबब शोपक वर्ग मे से खिसक जाने वाले ही होते है जो गिरे हुओ के कधे से कधा मिला कर यश लूटने के लिए दौड पडते है, और कई एक वर्तमान स्थितियों का सैनिक के समान मुकाबला न कर भविष्य की काल्पनिक सुख-भावना से प्रेरित हो स्वर्गीय सस्थाओ के निर्माण करने मे अपना मस्तिष्क समय आदि खोया करते है। परिणाम यह होता है कि ये लोग शोषितो के यथार्थत सहायक नही होते वरन् उल्टे शोषको को बल पहुँचाते

---

२ मेनीफेस्टो, पृष्ठ ५५

हैं। यही नहीं, वे एक प्रकार से शोषितों की क्रान्तिरूपी धार को रोक रखने में रोड़े अटकाने वाले सिद्ध होते हैं। ये रोड़े जान-बूझकर भले ही न अटकाये जाते हों, पर उनके कृत्य ही अड़गा रूप बन जाया करते हैं। इस तरह मार्क्स ने सामन्त समाजवादी, गिरजाघर के सम्पत्तिवान विशिष्ट पदाधिकारयुक्त समाजवादी, बुर्जुआ (पूंजीपति) समाजवादी, और काल्पनिक स्वर्ग के पुल बाँधने वाले समाजवादी ढूंढ निकाले थे जो सचमुच में प्रतिक्रिया वाले थे। हमारे देश में भी आज यह दशा मौजूद है। कांग्रेस तथा कांग्रेस गवर्नमेन्ट की जो तीव्र आलोचना हो रही है और उनकी कार्रवाही जो हमारी नजर में आ रही है, उनसे यह स्पष्ट है कि जो लोग बड़े-बड़े सेठ साहूकार, मिल मालिक व्यापार-शिल्प-उद्योग स्वामी, सम्पत्तिवान मठाधीश, अथवा एक शब्द में, पूंजीपति हैं, वही कांग्रेस के नेता व सदस्य बन गरीब श्रमिक जनता के उद्धारक बनने का दावा करते हुए मनोहर तर्कों से युक्त लम्बी स्कीमें एवं शब्द-भार से झुके हुए विधेयक उपस्थित किया करते हैं। ये सब यद्यपि श्रमिकों के हिमायती और पूंजीपतियों के विरोधी प्रतीत होते हैं, तथापि मार्क्स की दृष्टि से ये श्रमिकों के द्वारा लाई जाने वाली सामाजिक क्रान्ति को अवरुद्ध करने वाले हैं।

मार्क्सवाद का साम्यवाद नाम क्यों

मार्क्स क्रान्तिकारी थे। वे चाहते थे विश्व में क्रांति करना। अतः उनका उद्देश्य था कि एक ओर विश्व का सारा श्रमिक वर्ग और दूसरी ओर विश्व का सारा पूंजीवान वर्ग—इन दोनों के बीच में संघर्ष हो—संग्राम हो, तब कहीं पूंजीपतियों का विनाश हो सकेगा और समाज में आर्थिक समानता आ सकेगी, और तब फिर सब लोगों के रहन-सहन, खान पान आदि जीवन-सम्बन्धी सभी क्रियाओं में समता स्थापित हो सकेगी। इस प्रक्रिया के लिये उन्होंने उपरोक्त नन्हे नन्हे, टुटपुंज अहितकर प्रगति-अवरुद्ध समाजवादों के विरुद्ध एक नये समाजवाद की ध्वनि उठाई परन्तु उसे समाजवाद न कहकर साम्यवाद (कम्यूनिज्म) कहा? साम्यवाद कहने का जो कारण था, वह ऐंजेल्स ने स्वयं अपने कथन में इस प्रकार व्यक्त किया है। "सन् १८४७ में समाजवाद बुर्जुआ अभियानों (movements) का द्योतक था, और साम्यवाद श्रमिक वर्ग की प्रक्रिया का था, उस समय जब कि समाजवाद का और कहीं नहीं तो, कम से कम यूरोप (कान्टिनेन्ट) भर में काफी मान था। साम्यवाद उल्टी नजरों से देखा जाता था। चूंकि हम लोगों का उसी समय (सन् १८४७ में) यह निश्चित मत था कि 'श्रमिकों की मुक्ति श्रमिक वर्ग के ही हाथ में होनी चाहिये' इसलिये इन दो नामों में से एक (साम्यवादी पार्टी) को चुन लेने में हमें कोई हिचकिचाहट

नही हुई। और न अभी तक कोई ऐसी बात ही उपस्थित हुई जिससे वह नाम बदला जाय।"[३]

मशीन-युग का दुष्परिणाम

साम्यवादी पार्टी का नारा था "सब देशो के श्रमजीवियो संयुक्त होओ।" और अभी भी वह चालू है।[४] श्रमजीवियो से मार्क्स का तात्पर्य उन श्रमिको से है जो अपना जीवन-निर्वाह मजदूरी से करते है। मशीन-युग, व्यावसायिक क्षेत्रो की विस्तीर्णता, आवागमन के साधनो की प्रचुरता आदि के कारण सामन्तो के स्थान मे पूजीपतियो (बुर्जुओ) का उत्थान और पूजीवाद का बोलबाला होता गया, तथा मजदूर-पेशा बढते गये। छोटे छोटे शिल्पज्ञ, कलाकार, गृह उद्योगी, जो अपने गृह धन्धो को अपने हाथो से करके जीवन-निर्वाह करते थे, पूजीवाद की बाढ मे अथवा उसकी व्यावसायिक प्रतियोगिता मे न टिक सकने के कारण मजदूर पेशा होते जाते थे। यह दशा यूरोप मे थी, और एशिया मे भी उस की लहर चल उठी थी। गरज यह कि सब जगह मजदूर-पेशा अधपेटा भूखे गरीब लोग थे, इसलिये उन्हे एकत्र कर उनमे शक्ति-सचार करने का कार्य कम्यूनिस्ट पार्टी का था। पूर्वीय देशो मे भी मशीन युग का प्रचार बढा और उस युग के आने के साथ-साथ अन्य और आर्थिक एव सामाजिक परिवर्तन उसी प्रकार होने लगे जो कुछ काल पूर्व यूरोप मे उठ खडे हुए थे, और जिनके विषय मे मार्क्स ने अपने ग्रन्थो मे लिखा था। भारतवर्ष मे भी यद्यपि वह पराधीन होने के कारण मशीन युग की आधुनिक उन्नति की दौड मे यूरोपीय देशो की अपेक्षा बहुत कुछ पिछडा हुआ था, उक्त असामञ्जस्य के चिह्न प्रकट होने लगे थे। गृह-उद्योगो का ह्रास तथा ग्रमीण जनता का शहरो मे जाकर बसना प्रारम्भ हो गया था। शहरो मे मिल-कारखाने आदि पूजीपतियो के हाथ मे सिमटने लग गये थे और गृह-उद्योग विहीन जनता वहा जाकर मजदूरी करके अपने पेट भरने लगी। गाधी जी अफ्रीका से इस फन उठाये हुए डसने वाले सर्प के बच्चे को देख रहे थे। उन्होने सन् १९०८ मे इसके फन को कुचलने के लिये आगाह किया। उन्होने कहा कि "जब मैने श्री दत्त की पुस्तक 'इकानामिक हिस्ट्री आफ इन्डिया' (अर्थात् हिन्दुस्थान का आर्थिक इतिहास) पढी तब मै रो पडा, और ज्योही मै उसके विषय मे पुन विचार करता हूँ, त्यो ही मेरा हृदय रोग-ग्रस्त हो जाता है। यही मशीनरी है, जिसने

---

३ मेनीफेस्टो (जर्मन संस्करण सन् १८९०), भूमिका, पृष्ठ ३१

४. "Workingmen of all countries unite"
मेनीफेस्टो (जर्मन संस्करण १८९०) भूमिका, पृष्ठ ३१

हिन्दुस्थान को दरिद्री वना दिया है। मशीन ने यूरोप को ऊजड (desolate) वनाना प्रारम्भ कर दिया हे (और) अव वरवादी अग्रेजो के दरवाजे को भी खटखटाने लग गई हे। आवुनिक सम्यता का मुख्य चिन्ह मशीनरी हे, (पर) वह दीर्घ पाप का द्योतक हे। यदि मशीनरी का पागलपन हिन्दुस्थान मे वढा तो वह दुख-ग्रस्त भूमि वन जायगा।[5]

मशीन-युग-वश समाज के दो खण्ड

मार्क्स युग के कुछ वर्ष ही पूर्व आवुनिक अर्थशास्त्र का उद्‌भव हुआ था। अत तत्सम्वन्वी पारिभाषिक शव्द और सिद्धान्तो मे निश्चयात्मक रूप से एक-मत की स्थापना नही हो पाई थी। मशीन युग के उद्‌भव के साथ अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो मे भी परिवतन हुआ, क्योकि सामन्त युग की सामाजिक-व्यवस्था उतनी कठिन और जटिल न थी जितनी मशीन-युग के नवीनातिनवीन यान्त्रिक अविष्कार एव मार्मिक तथा व्यावसायिक क्षेत्र-सम्वन्वी खोजो और विस्तार ने वना रखी थी। यह मानी हुई वात हे कि नवीन मत का प्रचार करना कोई गुडिया का खेल नही होता। विद्वान पडितो के वीच प्रचलित सिद्धान्तो का खण्डन कर अपने निजी सिद्धान्तो का मण्डन करना तथा साधारण जनता के सम्मुख उनकी व्यावहारिक उपयोगिता का दिग्दर्शन कराना वडी टेडी खीर होती हे। मार्क्स का कार्य-क्षेत्र समाज-शास्त्र से सम्वन्वित था। अत अर्थशास्त्र उसका प्रधान अग था। इसलिये अर्थशास्त्रीय समस्त शव्द, सिद्धान्त, रुढियो आदि का उन्हे अध्ययन करना पडा और तत्सम्वधी अनेक ग्रन्थ लिखने पडे। उन सव का विवरण इस पुस्तक मे देना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही। उनकी जो प्रवान विशेषतायें है उनपर ही कुछ प्रकाश डाला जा सकेगा, जो आगामी अध्याय मे मिलेगा। यहा केवल यह ध्यान रखना चाहिये कि मशीन-युग के पूजीपतियो को 'वुर्जुआ' और श्रमिको को 'प्रोलिटेरियेट' कहते थे। 'वुर्जुआ' कहने से उस वर्ग का तात्पर्य है जो आधुनिक पूजीपति हैं, जो सामाजिक उत्पत्ति के सावनो का स्वामी हे, और जो वैतनिक श्रम या श्रम-भृत्ति (Wage labour) का नियोजक है। 'प्रोलिटेरियट' से उस भृत्ति श्रमिक अर्थात् मजदूर-वर्ग का तात्पर्य हे, जिसे अपने जीवन-निर्वाह के हेतु अपनी श्रम-शक्ति को वेचने के अतिरिक्त कोई चारा नही रह जाता, क्योकि वह स्वकीय उत्पत्ति के साधनो से विहीन रहता हे।[6]

---

५ 'हिन्द स्वराज्य' (Indian Home Rule) अ० १९ पृष्ठ ७५-७६

६. मेनीफेस्टो (अग्रेजी सस्करण, सन् १८८८) फ्रे० ऐंगिल्स का फुट नोट, नं० १

मार्क्सवादीय समाजवाद और साम्यवाद

एक ओर श्रमिक पसीने में लथ-पथ, और दूसरी ओर पूंजीपति उन्हीं श्रमिकों की कमाई के बल पर ऐश आराम का उपभोग करे, यह एक असहनीय बात मार्क्स के लिये थी। उन्होंने सोचा कि समाज जनता का है, राज्य जनता का है, सारी सम्पत्ति जनता की है। तब फिर उनके कार्यक्रम में व्यक्तिगत सम्पत्ति को कोई स्थान नहीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति के पक्ष में जितनी दलीलें पेश हो सकती थी, उन सब का खण्डन उन्होंने सैद्धान्तिक ढंग से किया। व्यक्तिगत सम्पत्ति का मूलाघात करने वाला उनका वह सिद्धान्त है जिसके द्वारा उन्होंने 'पूंजी' की परिभाषा कर 'मूल्य' (Value) और अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) के भावों का प्रतिपादन किया है। जब व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व नहीं रहता तो सारी सम्पति जन-सम्पत्ति हो जाती है। चूंकि राज्य जनता का प्रतिनिधि कहलाता है, इसलिये वह राज्य-सम्पत्ति कही जाने लगती है। इसी भावना को व्यवहृत करने के लिये राज्य समाजवाद (State Socialism) की उत्पत्ति हुई। यथार्थ पूछा जाय तो जब राज्य प्रतिनिधित्व को भूल कर सकीर्ण अपनत्व में लिपटता हुआ निरकुश होता गया तब उसे समाजवाद की पोशाक पहिनाकर सजाया गया है। इसीलिये मार्क्स की अन्तिम भावना वहीं ठिठुरकर नहीं रुक जाती बल्कि वह उसे पार कर आगे जन-साम्य की ओर बढ़ती है, जिसे प्राप्त करने के लिये आर्थिक साम्य उनका लक्ष्य है। उनका कहना है कि जब सब में आर्थिक समानता हो जायगी तब कोई न भूखा-गरीब रहेगा और न कोई आरामतलब धनी। आर्थिक सकट न रहने से द्वेष-ईर्षा का लोप हो जावेगा, चोरी-चपाटी मिट जावेगी, स्त्री पुरुष कोई किसी के अधीन न रहेगा, अनीति के स्थान में नीति का जागरण होगा। जब नीति का साम्राज्य फैल जायगा तो समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिये कोई बाह्य शक्ति की आवश्यकता न रहेगी। इस प्रकार की स्थिति आ जाने पर राज्य-व्यवस्था की कोई जरूरत न होगी। जेल, सेना आदि सब मिट जावेगे। जब यह स्थिति सब देशों में आ जावेगी तब सारी पृथ्वी में साम्य-स्थापना हो जावेगी। यह कल्पना है मार्क्सवाद की—यह है उसका उद्देश्य।

प्रश्न स्वाभाविकत यह उठता है, कि उक्त उद्देश्य की प्राप्ति कैसे हो? यह तो सभी जानते हैं कि जब विश्वव्यापी युद्ध दो विरुद्ध शक्तियों के बीच में छिड़ता है तब भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न मोर्चे सैनिकों के तैयार रहते हैं। हर देश में एक सेनापति रहता है। सब स्थानों की सेनाओं में कुछ मूल नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है। इन मूल आज्ञाओं के अतिरिक्त हर देश का सेनानायक अपने अधीनस्थ क्षेत्र का सग्राम-कार्य चलाने के लिये परिस्थितियों के अनुसार स्वतंत्र रहता है। जिन

लोगो ने गत हिटलर-मुसोलनीशाही विश्वव्यापी युद्ध के विषय मे देखा सुना है उनकी नजरो के सामने इन भिन्न भिन्न मोर्चो का दृश्य अवश्य झलक उठेगा। बस पूंजीपतियो और श्रमिको के बीच के इस विश्वव्यापी युद्ध को लडने के लिये भी मार्क्स ने तथा उसके अनुयायियो ने युद्ध-विषयक उसी नीति को अपनाया है जिसके द्वारा अनेक सेनानायक सर्वत्र एक सामान्य (General) विजय-प्राप्ति के लक्ष्य को सन्मुख रखकर अपने अधीनस्थ क्षेत्रो को अलग अलग सम्हाला करते है। सब विश्व मे पृथ्वी को ही लोग विश्व समझा करते है—साम्य की स्थापना हो, इस लक्ष्य-वेध के लिये हर स्टेट (राज्य) मे वहॉ की दशाओ के अनुसार समाजवाद उपस्थित रहता है या उत्पन्न किया जा सकता है। हमने देखा है कि लोग साम्यवाद और समाजवाद मे क्या और कितना भेद है, नही जानते, वे एक दूसरे से किस हद तक सम्बन्धित है, उन्हे नही मालूम रहता। उनसे पूछ कर देखिये तो वे दुनिया भर का इधर उधर का सविस्तार वृतान्त तो कहने सुनने लगेगे पर मूल बात पर कुछ न कहेगे। मूल बात यह है कि राज्य-व्यवस्था को अपने हाथ मे करके राज्याधिकार के द्वारा सामाजिक व्यवस्थाओ को अपने देश की परिस्थितियो के अनुसार इस प्रकार परिवर्तित करो कि जिससे सम्मलित रूप मे सर्वदेशीय साम्य-स्थापना के हेतु क्रान्ति की ज्वाला बढती जावे। यदि हमारी बात पर विश्वास न जमे तो यह देखो, मार्क्स स्वय क्या कहते है। "साम्यवादी क्रान्ति (revolution)" उनका कथन है, "परपरागत-प्राप्त साम्पत्तिक सम्बन्धो का आत्यन्तिक रूप मे समूल विच्छेद कर देने वाला है (इसलिये) यदि उसकी वृद्धि के कारण परपरा से आये हुए भावो का समूल विच्छेद हो जावे तो क्या आश्चर्य।" × × × "हम ऊपर देख चुके है कि (इस) क्रान्ति मे श्रमिक वर्ग का सबसे पहला कदम यह है कि जनतत्र युद्ध मे विजय-प्राप्ति के हेतु श्रमिको को शासक वर्गकी स्थिति तक ऊचा उठ जाना चाहिये।

"श्रमजीवी क्रमश पूंजीपतियो की कुल पूंजी छीनने के लिये, उत्पत्ति के समस्त साधन राज्य के हाथ मे—उस राज्य के हाथ मे, जहॉ श्रमिक शासक के रूप मे व्यवस्थित हो गये है—केन्द्रित करने के लिये और समस्त औत्पत्तिक शक्तियो की शीघ्र से शीघ्र वृद्धि करने के लिये अपने राजनैतिक आधिपत्य का उपयोग करेगे।

"इसमे सन्देह नही कि प्रारम्भ मे, जब तक साम्पत्तिक स्वत्वो एव पूंजीपतियो की उत्पादक व्यवस्थाओ पर निष्ठुर आक्रमणी उपाय न किये जावेगे तब तक यह फल प्राप्त न हो सकेगा। ये आक्रमणकारी उपाय आर्थिक दृष्टि से पहले तो अपूर्ण और असगत प्रतीत होगे, परन्तु कार्य-सचालन की प्रगति के समय वे अपने आपही पीछे रहते जावेगे, और पूर्वस्थित सामाजिक व्यवस्था पर उनसे भी अधिक ऐसे आक्र-

मणो की आवश्यकता होती जावेगी, जो उत्पादक-पद्धति का सम्पूर्णत परिवर्तन करने के लिये नितान्त जरूरी होने के कारण त्याज्य नही हो सकते।

"ये उपाय निस्सन्देह, भिन्न भिन्न देशो मे भिन्न भिन्न होगे।"[७]

समाज की स्थिति सदा एक सी नही रहती। उसमे परिवर्तन हुआ करते है। इसलिये परिस्थितियो के अनुसार युक्ति-कौशल (tactics) मे भी परिवर्तन होना चाहिए। यही कारण है कि समय समय पर मार्क्स के अनुयायी, लेनिन

---

७ **मेनीफेस्टो (अंग्रेजी संस्करण, सन् १९४८), पृष्ठ ७०**

नोट—इस विचार से कि अनुवाद से मूल लेख पर कहीं आघात न पहुचा हो, हम पाठको के अवलोकनार्थ नीचे मूल लेखक को देते है।

"The Communist revolution is the most radical rupture with traditional property relations, no wonder that its development involves the most radical rupture with traditional ideas

× × × ×

We have seen above that the first step in the revolution by the working class is to raise the proletariat to the position of ruling class, to win the battle of democracy

The proletariat will use its Political Supremacy to wrest, by degrees, all capital from the bourgeoisie, to centralise all instruments of production in the hands of the State, i. e of the Proletariate organized as the ruling class, and to increase the total of productive forces as rapidly as possible

Of course in the beginning, this cannot be effected except by means of despotic inroads on the rights of property, and on the conditions of bourgeois production, by means of measures, therefore, which appear economically insufficient and untenable, but which, in the course of the movement, outstrip themselves, necessitate further inroads upon the old social order, and are unavoidable as a means of entirely revolutionizing the mode of production

These measures, will, of course, be different in different countries"

और स्टेलिन, आवश्यकतानुसार रूस-राज्य अथवा रूस-समाज में यथोचित कार्य-कौशल को परिवर्तित करते रहे हैं। श्री जानसोमरविल्लीने अपनी पुस्तक 'सोवियत् फिलॉसफी' में लिखा है कि "यद्यपि लेनिन यह जानता था कि समाजवाद की सम्भावित स्थापना के सम्बन्ध में मार्क्स के प्रारम्भिक विचार उसके (लेनिन के) समय में लागू नहीं हो सकते थे, तथापि वह मार्क्स की इस बात में सहमत था कि साम्यवाद का सिद्धान्त जो उच्चतरस्तर है, केवल सार्वभौमिक आधार को लेकर ही सम्भव हो सकता है। जिस प्रकार लेनिन ने अपने विचारों में मार्क्स के विचारों से कुछ परिवर्तन कर लिया था, बहुत कुछ उसी प्रकार सन् १९३८ तक स्टालिन के विचारों में भी लेनिन के उक्त विचारों में कुछ भिन्नता आ गई थी। उन्होंने इस सिद्धान्त की वृद्धि की कि केवल राज्य-विहीन व्यवस्था (Stateless administration) वाली बात को छोड़कर साम्यवाद के और सभी प्रधान गुण एक ही देश के अन्दर निर्मित किये जा सकते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टि से, अटूट प्रचुरता की आर्थिक नीति का प्रवर्तन हो सकता है, शहर और ग्राम के बीच में, तथा शारीरिक एवं मानसिक श्रमजीवियों के बीच में चलती हुई विरोध भावनाओं एवं हीनताओं को मिटाने के लिये बहुत कुछ किया जा सकता है, परन्तु राज्य-बल के यंत्र को, जो पुलिस थल-सेना और जल-सेना के रूप में विद्यमान है, उस समय तक कायम रखना आवश्यक होगा जब तक गहरी जड़ पकड़े हुए आर्थिक विरोध सब संसार से गायब न हो जाय"[८] यदि कोई कहे कि इस प्रकार भिन्नता-सूचक विचार प्रतिपादन में लेनिन और स्टेलिन को मार्क्स के अनुयायी होने के नाते मार्क्स मत को आघात नहीं पहुँचाना था, तो यह भूल होगी, क्योंकि इस प्रकार भिन्नता आ जाना मार्क्स की तर्कविधि (dialectical method) के अनुसार ही है, जिसके विषय में हम विस्तारपूर्वक आगे चलकर देखेंगे।

इस तरह जान लेने पर अब हमें यह समझ में आ गया कि मार्क्सवादी समाजवाद उन समाजवादों से भिन्न है, जो उन्नीसवीं सदी के मध्य में कम्युनिस्ट मेनीफैस्टो के प्रकाशन के समय तथा उसके पूर्व प्रचलित थे। वे मार्क्स के उद्देश्य, साम्यवाद, के बाधक थे, न कि साधक। वर्तमान समाजवाद साम्यवाद का एक प्रधान अंग है। इस "समाजवाद को कभी कभी साम्यवाद का प्रथम या निम्न स्तर कहते हैं।"[९]

मार्क्सवादीय समाजवाद में हिंसात्मक कार्यक्रम

आजकल जहाँ से देखो वहाँ से यह आवाज आती है कि सोवियत् रूस का वर्त-

---

८ (Soviet Philosophy, pp 40-4।

९ गान्धी और स्टालिन (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ३५

मान समाजवादी शासन मार्क्स के साम्यवादी निर्देश का सच्चा प्रतिपालक है। स्टालिन उसके प्रधान मंत्री है, वही उसके कर्णधार है। व्यक्तिगत और सामूहिक दृष्टि से वहाँ की आर्थिक, राजनैतिक एवं अन्य सामाजिक क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ के सम्बन्ध मे लिखना यहाँ असगत होगा। परन्तु किसी सस्था के कर्णधार पुरुष के चरित्रो के आधार पर यदि हम उस सस्था की नैतिकता को जान सके, तो हमे यह कहने के लिए कि मार्क्स का साम्यवाद वाछनीय नही है काफी गुजाइश है, क्योकि स्टालिन के कुछ कारनामे कत्ली, विश्वास-घातक और अति नीच कहे जाते हैं। स्टालिन इसमे सन्देह नही "एक पुष्ट, दृढइच्छा-शक्ति वाले और योग्य व्यक्ति है। उनकी गम्भीरता मे महान् शक्ति, और उनमे पूर्ण आत्म-नियत्रण है। साथ ही वे सर्वथा शान्त है।—(परन्तु) उनकी जीत का रहस्य उनका अपना सौन्दर्य या योग्यता नही। वे अपने दल के समर्थन को दृढ बनाकर षडयन्त्रो और चालबाजियो के तथा अपनी सगठन की योग्यता के बल पर चोटी पर पहुँचे है। वे अपने साथियो के शरीर पर पैर रखकर चोटी पर आये है।"[10] मार्क्स का एक अनुयायी, जो लेनिन का पक्का सहयोगी, लियोनट्राटस्की था। लेनिन का उत्तराधिकारी ट्राटस्की ही होनेवाला था। स्टालिन को यह बात पसन्द नही थी। इसलिये लेनिन के जीवन-काल से ही स्टालिन ने ट्राटस्की को नीचा करने का यत्न शुरु कर दिया, और सन् १९२४ मे जब लेनिन की मृत्यु हो गई, तब उसे येन-केन-प्रकारेण उत्तराधिकारी नही बनने दिया और उसे टर्की मे निर्वासित कर दिया। फिर स्टालिन के दबाव और षडयन्त्रो के कारण उस बेचारे को टर्की से फ्रास, फ्रास से नार्वे, और नार्वे से फिर मास्को भागना पडा तथा उसका कत्ल कर दिया गया। इतना ही नही ट्राटस्की के विनाश के बाद स्टालिन ने एक ऐसी राजनैतिक ढग के कत्ल की चाल चली कि अन्त मे स्थिति ऐसी पैदा हो गई कि जिनोवीव और कामेनेव को जिनकी सहायता से ट्राटस्की का विनाश किया था, सूली पर चढा दिये। बाद मे स्टालिन को जिनोवीव ओर कामेनेव के विरुद्ध सहायता देनेवाले टोमस्को, बुखारिन, और राइकोव मे से अन्तिम दो को भी, विख्यात मास्को के मुकदमे ही के बाद सूली पर चढा दिया गया, और टोमस्की को गिरफ्तार होने के पूर्व ही आत्मघात कर लेना पडा।"[11]

पर बात सच यह है कि किसी सस्था की अच्छाई या बुराई की जाँच के लिए उसे उसके किसी पुजारी के चरित्रो की कसौटी पर कसकर देखना न्याय-सगत

---

१०. गान्धी और स्टालिन, पृष्ठ ३५

११ 'गान्धी और स्टालिन' के तीसरे अध्याय के आधार पर

नहीं होता। इसलिए हमें स्टालिन की बात ही छोड़ देनी चाहिये, और देखना चाहिये कि मार्क्स के साम्यवाद में क्या हिंसा का निषेध है, और यदि निषेध नहीं, तो क्या आदेश है? जहाँ तक जितना हम साम्यवादियों के मूल ग्रन्थ, कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो के आधार पर ऊपर कह आये हैं, उससे तो यही ज्ञात होता है कि यद्यपि उसमें कत्ल कर डालने को खुले तौर से आज्ञा नहीं है तथापि उसमें निष्ठुर आक्रमण (despotic inroads), बलात्कार (force), अथवा हिंसा (violence) की नीति निहित है जो शस्त्रास्त्र युद्धविशारदों के लिए क्षम्य कही जाती है। इसके अतिरिक्त प्रचलन भी यही देखा जाता है कि साम्यवादी खुले तौर पर राजमर्रा यह कहते हैं कि उद्देश्य पूर्ति के लिये बुरा से बुरा साधन क्यों न अपनाया जाय वह मान्य है, वर्जनीय नहीं (end justifies the means)। लोग केवल कहते ही नहीं हैं वरन् करते भी वही हैं। तब फिर उक्त नीति के आधार पर स्टालिन भी अपने उक्त कुकृत्यों को न्यायसंगत कह सकते हैं। मार्क्स के अनुयायी इस प्रकार के समाज-गठन और शासन-व्यवस्था को भले ही न्याय कहें पर साधारणतः वह हिंस्र ही कहलाने योग्य हैं। इसलिए जो वाद हिंस्र-व्यवस्थाओं का पक्षकार हो उसे हिंसात्मक समाजवाद ही कहना उपयुक्त होगा।

राष्ट्रीय समाजवाद और उसमें हिंसा का स्थान

मार्क्स-पथ पर ले जानेवाले हिंसात्मक समाजवाद के अतिरिक्त एक समाजवाद और है जिसका प्रचार दुनिया में बहुतायत से पाया जाता है। प्रायः हर देश में उसके अनुयायी पाये जाते हैं। उसे राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) कहते हैं। उसकी उत्पत्ति राष्ट्रवाद (Nationalism) से हुई प्रतीत होती है। राष्ट्रवाद के अनुयायी अपने राष्ट्र को सर्वस्व समझकर पर-राष्ट्रों के हितों को कुचल डालने में कुछ बुराई नहीं समझते। उसके नाम पर ही हिटलर का 'नाजीज्म, और मुसोलिनी का 'फेसिज्म' बढ़ा। सच बात यह है कि जिस प्रकार राज्यवाद के जमाने में राजा लोग अपनी दुर्नीति के द्वारा साम्राज्य-प्रसार के हेतु खून-खराबियाँ करने में नहीं चूकते थे, उसी प्रकार कुछ लोगों ने राष्ट्रवाद का नकाब पहना और उसकी आड़ में अत्याचार करना शुरू किये। जब राष्ट्रवाद ने इस प्रकार के भीषण रूप धारण किये तो उसका अन्त करने के लिये दूसरे लोगों ने राष्ट्रीय समाजवाद को जन्म दिया और कहा कि राष्ट्र-हित साधन के लिए यह आवश्यक नहीं कि परराष्ट्र हिंसा का क्षेत्र हो किया जाय, क्योंकि मनुष्य समाज एक है। इस सचाई और सकारण अहिंसा की भावना को लेकर राष्ट्रीय समाजवाद उसी प्रकार प्रकट हुआ है जिस प्रकार 'राज्य' अपनी निरकुश रूप तजकर मुखाकृति

पर 'राज्य समाजवाद' (State Socialism) का पर्दा डालकर विचर रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जो कट्टरता और हिंसा मार्क्स के राज्य-समाजवाद मे बर्ती जा रही है वह राष्ट्रीय समाजवाद मे नही है। चूकि राष्ट्रीय समाजवाद का प्रवर्त्तक मार्क्स जैसा कोई व्यक्ति विशेष नही हुआ है जिससे उसके अनुयायी साम्प्रदायिक कट्टरता की लकीर के फकीर बने, इसलिए वह अहिंसा मार्ग की ओर विकसित होता जा रहा है।

यदि गान्धीवाद ने जन्म लेकर अहिंसा की परिभाषा को अत्यन्त व्यापक और आन्तरिक न कर दी होती तो इस राष्ट्रीय समाजवाद को अहिंसात्मक समाजवाद ही कहते। उसका उद्देश्य यद्यपि यह नही रहता कि ससार के श्रमिकवर्ग और पूजीपतियो के बीच सघर्ष उत्पन्न किया जाय जैसा कि उपर्युक्त मार्क्सवादीय समाजवाद का रहता है, तथापि वह सार्वभौमिक श्रमिकवर्ग का बडा हिमायती है—उसकी सहानुभौतिक दृष्टि सब ओर फैली रहती है। राष्ट्रमुक्ति उसका प्रधान ध्येय है। राष्ट्र ही उसके कार्यक्रम की सीमा है। राष्ट्र की दलित जातियो तथा श्रमिकवर्ग का उद्धार करना एव उन्हे सामाजिक सभी कार्यो मे समानाधिकार प्राप्त कराना उसका मुख्य कर्तव्य है। देश की आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था को उच्चस्तर पर ले जाने की भावनाये उसमे सदा जागृत रहती है।

राष्ट्र की जनता को अपने कार्य-क्रम की ओर आकर्षित कर उसके मत-दान को प्राप्त करना, चुनाव मे विजय प्राप्त कर लेने पर राज्य-विधान सभाओ मे जाकर समाजोद्धारक कानूनो का निर्माण करना, एव अपने दल के बहुसख्यक प्रतिनिधि पहुँचने पर राज्य शासन को अपने हाथ मे लेकर सारे राष्ट्र की हित कामना से राज्य का कार्य-भार चलाना इस समाजवाद की नीति है। पूजीपतियो का वह भी उसी प्रकार कट्टर विरोधी है जैसा मार्क्सवादीय समाजवाद है। श्रमिको का उद्धारक, पूजीपतियो का विनाशक, राष्ट्र-सम्पत्ति का प्रवर्धक, राष्ट्र-सम्मान का पोषक यह समाजवाद राज्य-कानूनो एव राज्य-शासन के द्वारा अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए दत्त-चित्त रहता है। उसका विश्वास व्यक्तिगत सम्पत्ति मे नही। वह चाहता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्थान मे देश की सारी सम्पत्ति समाज की सम्पत्ति होवे, और राष्ट्र की समस्त व्यक्तियो की आवश्यकताएँ राज्य अपनी भिन्न-भिन्न स्कीमो के द्वारा पूरी करे। गरज यह कि उसकी दृष्टि मे वर्ग-विहीन राष्ट्र ही सब कुछ है। पर इसका यह अर्थ कदापि नही कि वह निज राष्ट्र के लिये अन्य राष्ट्रो का गला घोटना अपना कर्तव्य समझे। वह चाहता है हर राष्ट्र फले फूले और उसके साथ मै भी फलू फूलूँ। उसका विकसित आदर्शनीय रूप भारत के इतिहास मे मौजूद है। उसके अधिनायक जयप्रकाश नारायण का स्थान

देश-परदेश मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गाधी जी को भी वे प्रिय थे, क्योकि कार्य सलग्नता के अलावा उनकी प्रवृत्ति शान्ति और अहिसा की ओर अधिक झुकी रहती है। अभी कुछ दिन पहले उन्होने बत्तीस राष्ट्रो की समाजवादी-अन्तर्राष्ट्रीय-सूचक विज्ञप्ति-पत्र मे यह घोषित किया था कि "स्टालिनत्व की सूक्ष्म-दृष्टि-विहीन नि.शक राजनैतिक दर्शन की भयकरताओ को सुधारने के लिए गाधीवाद ही एक उपाय है, जिसकी अवहेलना करने से समाजवादी अपने मत के मूलतत्व को ही खो बैठेंगे। प्रत्येक वैज्ञानिक समाजवादी का कर्त्तव्य है कि वह गाधीवाद को समझे और समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिए जितना उपयुक्त हो उतना उसे अपनावे।" यह बात जयप्रकाश नारायण जी ने भारत के समाजवाद के सिलसिले मे 'प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया' (पी० टी० आई०) को बताई थी। उन्होने बताया कि "गाधी जी के सिद्धातो पर आधारित 'सर्वोदय कार्यक्रम' का उद्देश्य है, जाति या वर्गविहीन अहिंसात्मक सहकारी समाज (Co-operative Society) की प्राप्ति करना, जिसमे सबके लिये एकसमान अवकाश रहेगे।" उनका कहना है कि "यदि भारतीय समाजवाद ने गाधीत्व की ओर ध्यान नही दिया तो उसे भारी हानि उठानी पडेगी।[१२]

गाधी का अहिंसात्मक समाजवाद और साम्यवाद

तब स्वाभाविकत मन मे यह जानने के लिये उत्कण्ठा उठती है कि यह गाधीत्व या गाधीवाद क्या है, जिसमे प्रतिपक्षी को भी आकर्षण करने की शक्ति है। वह जो कुछ है वह तो आगे देखने को मिलेगा। परन्तु यहाँ पर केवल इतना ही जानना है कि वह सब समाजवादो से ऊँचे दर्जे का समाजवाद है। सच पूछा जाय तो केवल वही समाजवाद अथवा साम्यवाद कहलाने का अधिकारी है अन्य नही, क्योकि उसी मे बाह्य और आन्तरिक स्थितियो मे, तथा व्यक्ति ओर समूह मे यथोचित समन्वय की स्थापना के लिए सुदूरदर्शी सैद्धातिक एव व्यावहारिक चेष्टाये है। जो लोग गाधीजी को समाजवादी या साम्यवादी नही मानते वे भयकर भूल करते है।

गाधी जी धार्मिक और साधुवृत्ति के पुरुष थे। ईश्वर मे उनकी आस्था थी। 'साम्य' ईश्वर-उपाधि है, यह हम पहले देख चुके है। जो ईश्वर का अनन्य भक्त हो वही तो 'साम्य' का सच्चा भक्त हो सकता है। और जो सच्चा भक्त है वही सच्चा वादी हो सकता है। वैज्ञानिक सत् स्वरूप ही गाधी का ईश्वर है, जिसके विषय मे हम आगे कहेंगे। फिलहाल मे ईश्वर वाली बात को जाने दीजिये, और

१२ अग्रेजी दैनिक 'हितवाद', ता० २-९-१९५१

यह देखिये उन्होने साम्यावस्था-प्राप्ति के विषय मे क्या कहा है। "मेरे लिये तो गीता आचार की एक प्रौढ मार्ग-दर्शिका बन गई है। वह मेरा धार्मिक कोश हो गई है। अपरिचित अंग्रेजी शब्द के हिज्जे या अर्थ को देखने के लिये जिस तरह अंग्रेजी कोश को खोलता उसी तरह आचार सबधी कठिनाइयो और उसकी अटपटी गुत्थियो को गीता जी के द्वारा सुलझाता हूँ। उसके **अपरिग्रह, समभाव** इत्यादि शब्दो ने मुझे गिरफ्तार कर लिया। यही धुन रहने लगी कि **समभाव** कैसे प्राप्त करूँ, कैसे उसका पालन करूँ? जो अधिकारी हमारा अपमान करे, जो रिश्वतखोर है, रास्ता-चलते जो विरोध करते हैं, जो कल के साथी है, उनमे और उन सज्जनो मे जिन्होने हम पर भारी उपकार किया है क्या कुछ भेद नही है, अपरिग्रह का पालन किस तरह सम्भव है? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है? स्त्री-पुत्र आदि का यदि परिग्रह नही है तो फिर क्या है? क्या पुस्तको से भरी इन आलमारियो मे आग लगा दू? यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ। अन्दर से तुरन्त उत्तर मिला, हाँ, घरबार को खाक किये बिना तीर्थ नही किया जा सकता। अपरिग्रही होने के लिए, **समभाव रखने के लिए, हेतु का और हृदय का परिवर्तन आवश्यक** है, यह बात मुझे दीपक की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी।"[13] इसके आगे गाधीजी ने बताया है कि उन्होने उक्त विचार को कार्य-रूप मे परिणत करने के लिए तत्काल कदम उठाना प्रारम्भ कर दिया। उपर्युक्त उद्धरण मे इस लेखक ने जो शब्द निम्नरेखाकित कर दिये है, वे महत्वपूर्ण और पारस्परिक सम्बन्धित है। गीता मे समभाव, सम्भव, साम्य आदि शब्द अनेक स्थानो पर आये है, जैसा हम पहले भी कह आये है। उनसे यह भाव व्यक्त होता है कि बाह्य दृश्य पदार्थो मे समभाव प्राप्त होने के पूर्व अन्त करणीय समता होना आवश्यक होता है। भगवान् स्वय 'सम्भव' को अपना ही अवतार कहते है—'सम्भवामि युगे युगे'। मनुष्य मनुष्य को ही नही—मनुष्य केवल विद्या-सम्पन्न ब्राह्मण और चाण्डाल को ही नही, वरन् गौ, हाथी, कुत्ते आदि अन्य जीवधारियो को भी समभाव से देखे, तब वह गीता की दृष्टि मे समदर्शी कहलाया जा सकता है।[14] परन्तु गान्धी जी का विषय था मनुष्य-समाज, इसीलिए उन्होने मनुष्य-मनुष्य मे समभाव लाने की ही बात को कही है। यह समभाव तभी आ सकता है जब स्वार्थ की भावना का त्याग हो। स्वार्थ जकडता है। जकड जाना या पकड जाना ही 'ग्रह' है। 'परि' उपसर्ग का अर्थ होता है 'चारो ओर' इसलिए 'परिग्रह' के मायने

---

१३. आत्मकथा (खंड २), पृष्ठ २५-२६ (निम्नाकित रेखायें मेरी हैं)
१४. गीता, ५।१८

होते हैं 'चारो ओर से जकड जाना'। इस चारो ओर मे जकड लेनेवाले स्वार्थ को छोड देने पर अर्थात् 'अपरिग्रह' (अ+परिग्रह) करने पर ही 'समभाव' प्राप्त हो सकता है। परन्तु बात ऐसी तो नही है कि यह चारो ओर से कसा हुआ जीवन एक मत्र-सी फूक मार देने से ही तडाक से निवृत्त हो जाय। उसके लिए प्रयत्न और साव-धानी की उसी प्रकार जरूरत है जिस प्रकार नदी की धार मे पडे हुए मनुष्य को किनारे तक पहुँचने के लिए तीरना पडता है। 'तीर्थ' शब्द का मूलार्थ तीरना ही है। वह 'तृ' धातु का रूपान्तर है, जिसका अर्थ होता है 'तीरना'। इसलिये गान्धी जी का तात्पर्य यह है कि स्वार्थ त्याग कर आत्मनिग्रह की साधना करते करते समभाव की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। इसी का नाम घरबार को जलाना या खाक करना है, क्योकि घरबार आदि स्वार्थ भावना का द्योतक हैं।

इसलिए गान्धी जी ने कहा है कि 'समभाव' रखने के लिये हेतु का और हृदय का परिवर्तन करना आवश्यक है। दूर क्यो जाते हो? यह देखिये गांधी जी ने खुले शब्दो मे अपने आप को समाजवादी होना स्वीकार किया है। एक बार समाज-वादी नेता 'जयप्रकाशनारायण' की चर्चा होते समय उन्होने कहा था कि "मैं उसके (जयप्रकाशनारायण के) पैदा होने से पूर्व से ही समाजवादी हूँ।"[१५] फिर हरिजन के १ जून सन् १९४७ के अक मे गाधीजी ने लिखा था कि 'समाजवाद' का सिद्धात मैं तभी स्वीकार कर चुका था, जब कि मै दक्षिण अफ्रीका मे ही था।[१६]

परन्तु गान्धी जी का समाजवाद उनकी 'अहिंसा' शब्द की व्यापक परिभाषा के अनुसार अतिशय अहिंसात्मक—नही आत्यन्तिक अहिंसात्मक है। इसलिये उनका अन्य समाजवादो से मतभेद होना स्वाभाविक था। इस दृष्टि से वे जयप्रकाशनारायण के समाजवाद तक से असहमत थे। लुईफिशर ने लिखा है "सन् १९४२ के असहयोग आन्दोलन के दिनो मे जयप्रकाश के नेतृत्व मे समाज-वादियो ने हिंसात्मक उपायो को अपनाया। उन्होने सरकारी सम्पत्ति नष्ट की, छिपा हुआ सगठन बनाया, पुलिस से अपने-आप को छिपाया, और अधिकारियो के काम मे जबरदस्त बाधाये पहुँचाई। ये सब बातें गाधी के अहिंसा के कानून के अन्तर्गत निषिद्ध हैं। इसलिए गान्धी की समाजवादियो से नही बनती थी। यद्यपि जहा तक समाजवादियो की राष्ट्रीय मुक्ति की भावना का सम्बन्ध है वे इसके जनक थे और उनके अतिम समाजवादी उद्देश्य मे भी उनके विचार मिलते

---

१५ गान्धी और स्टालिन, पृष्ठ २२

१६ गान्धी और स्टालिन, पृष्ठ ३१

(८)

राज्य-विहीन समाज की भावना

राजकीय कर्त्तव्य और सत्ता

गत अध्याय मे हमने ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से राज्य-निर्माण को बात जान ली। प्रेम की आकर्षण-शक्ति ने उसको जन्म दिया, और जीवन-रक्षा की आवश्यकता एव आकाक्षा ने उसे कायम रखा है। प्रधानत उसके दो प्रकार के कर्त्तव्य रहते है। एक को स्वराष्ट्र-नीति अथवा गृहनीति कहते हैं, और दूसरे को परराष्ट्रनीति अथवा वैदेशिक नीति। गृहनीति के अन्दर उन सब कार्यों का समावेश हो जाता है, जिनके द्वारा प्रजा और देश की नैतिक, आर्थिक, राजनैतिक एव सामाजिक उन्नति हो। उत्पादन, वितरण, कल-कारखाने, व्यवसाय, न्यायालय, जेल, पुलिस आदि अनेक विषय गृहनीति मे शामिल रहते है। वैदेशिक नीति का मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि निज देश और अन्य देशो के बीच व्यावसायिक एव राजनैतिक मैत्री बनी रहे, और मित्रता टूट जाने पर अपनी रक्षा करने की क्षमता रहे। इसलिए हर राज्य को सेना रखनी पडती है, जिसका उपयोग अन्य देशो से युद्ध के समय, या निज देश में उठे हुए बलवा आदि के समय करना होता है। गरज यह है कि राज्य सत्ता को कायम रखने के लिए उसमे शक्ति का होना आवश्यक होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो यह कहा जाता है—विशेपकर उन राज्यो मे जहा डेमोक्रेसी (जनतत्रात्मक पद्धति) है—कि हर राज्य के पीछे जन-शक्ति रहती है, जो उसे बलवान बनाती है और कायम रखती है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह अपनी शक्ति अथवा अपने बल का प्रयोग कानून, न्यायालय, जेल, पुलिस और सेना-विभाग के द्वारा किया करता है। यही उनके सत्तात्मक अग है। जन-शक्ति ही उन्हे बनाये रखती है। जन-शक्ति ही उनका परिवर्तन करती रहती है, और जन-शक्ति ही, अगर चाहे तो उन्हे मिटा सकती है।

राज्य-विहीन समाज की भावना

यह एक बहुत मामूली सी बात है कि जब किसी मनुष्य की स्वेच्छा मे बाधा पहुँचती है तो उसे दु ख होता है। जहा दु ख हुआ कि पूर्ण सुख के मामले मे रोडा

अटका। मार्क्स और गाधी दोनो के सम्मुख समाज मे पूर्ण सुख—आत्यान्तिक सुख—की स्थापना करने की कल्पना थी। यह कल्पना शेखचिल्ली जैसी नही, बल्कि व्यावहारिक कर्म योगी जैसी थी। दोनो को यह दिख रहा था कि जब तक राज्य-सत्ता, न्यायालय, जेल, पुलिस, सेना आदि के द्वारा मनुष्य के स्वतत्र मार्ग मे रोडे अटकाती रहेगी तब तक मनुष्य सर्वमुखी नही रह सकेगा। अत दोनो का विचार-स्वप्न था—दोनो की उत्कट भावना थी—कि समाज ऐसा हो जिसका सचालन बिना किसी राज्य-सत्ता के, बिना किसी सत्तात्मक हस्तक्षेप के—होता रहे।

यहा पर यह प्रश्न उठता है कि यदि स्वेच्छाचारिता न रोकी जायगी तो समस्त समाज मे व्यस्तता अथवा अधेर-नगरी (chaos) हो जायगी। डाकुओ, चोरो, लुटेरो, आततायियो, हत्यारो आदि का आतक फैल जायेगा। तब फिर क्या मार्क्स और गाधी राज्य-पद्धति को मिटाकर अराजकता फैलाने के पक्ष मे है? नही, दोनो का कहना है कि राज्य-पद्धति-वर्तमान दशाओ मे नही मिटाई जा सकती, केवल उस ओर कदम बढाने के हेतु समाज-जीवन मे परिवर्तन लाये जा सकते है। दोनो अपने अपने ढग से यह कहते है कि अमुक अमुक उपायो का अवलम्बन करते करते क्रमश समाज मे निर्मलता और नैतिकता इतनी बढाई जावे कि अन्त मे राज्य-व्यवस्था अपने आप जीर्ण-शीर्ण होकर सूख जाय या समाप्त हो जावे। क्योकि उस समय उसके लिये कोई कार्य-क्षेत्र ही न रह जायगा—मनुष्य समाज ही अपने आप सब कामो को मेल-मिलाप से निपटा लेगा। ऐसी स्थिति तक पहुँचते पहुँचते मनुष्य की स्वेच्छाचारिता मिट जायगी। मतलब यह है कि, जिस स्वेच्छा की रुकावट के विषय मे ऊपर कहा गया है, वह किसी अयुक्त अनियत्रित पुरुष की इच्छा नही है—वह है, युक्त नियत्रित पुरुष की इच्छा। वह है स्वतत्रतायुक्त इच्छा, न कि स्वछदतायुक्त इच्छा। वह है स्वार्थ और परार्थ की समुचित समन्वय वाली स्थिति, न कि निरी निकृष्ट स्वार्थ वृत्ति।

डेमोक्रेसी मे उक्त भावना की उत्पत्ति

उपर्युक्त स्थिति आने के पहले डेमोक्रेसी अर्थात् जनतत्रात्मक राज्य-व्यवस्था का रहना आवश्यक होता है। यदि कोई साम्राज्य काल मे, सामन्तशाही के समय अथवा पूजीपति शाहनवीसी के जमाने मे उसे प्राप्त करने की आकाक्षा करता तो यही कहा जाता कि वह हवाई महल खडा करना चाहता है, क्योकि व्यक्तिगत स्व-तत्रता, जो राज्य-विहीन समाज का मूलाधार है, उक्त कालो मे नामचार को भी नही पाई जाती थी। अत डेमोक्रेसी ही के उत्थान काल मे उक्त भावना का उठना

सम्भव हुआ। डेमोक्रेसी अथवा जन-तन्त्र शब्द यद्यपि कर्ण-सुखद वा चित्ताकर्षक होता है, तथापि वह भ्रम मे डाल देने वाला भी उसी प्रकार होता है जैसे वहेलिया की कीगडी की तान हरिण के लिये। ज्योही हमारे कान मे उसकी झनक पहुँचती है, त्योही हमे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अमुक देश मे जहा डेमोक्रेसी है वहा दर-असल जन-राज्य ही है। पर सच बात ऐसी नही है। सृष्टि मे अन्यान्य नाम जिस प्रकार मोह को उत्पन्न करने वाले होते है, उसी प्रकार यह डेमोक्रेसी नाम भी समय समय पर धोखे की टट्टी ही बनकर रहा है। स्वार्थी लोग अथवा अधिकार-भोगी अपने विरुद्ध उठी हुई आन्दोलन-प्रिय जनता की आखो मे धूल झोकने के लिये कुछ ऐसे नाम ढूढ लिया करते है जिन्हे सुनकर वह मुग्ध हो जाती है, और उसीमे स्वर्ग समझ अपने उन्ही विरोधियो की हा मे हा मिलाने लगती है। डेमो-क्रेसी शब्द भी ऐसा ही है। उसका इतिहास भी यही बतलाता है। साम्राज्य-सामन्तशाही को मिटाने के लिये जब लोगो ने कदम उठाया तब की जन-प्रतिनिधित्व पद्धति आज की जन-प्रतिनिधित्व पद्धति से बिलकुल ही अलग थी। उस समय वही प्रतिनिधित्व कर सकता था जिसके पास अमुक तादाद की सम्पत्ति या भूमि हो, और मताधिकारी (वोट देने वाला) भी वही हो सकता था जो अमुक प्रकार का सम्पत्तिवान या भूमिदार हो। स्त्रियो को तो मतदान का अधिकार ही नही था। पुरुष-स्त्री को, धनी-गरीब को, एकसमान बालिग मताधिकार प्राप्त होने तक डेमोक्रेसी को एक लम्बे अरसे तक भयकर सघर्ष-क्षेत्रो से पार होना पडा है, यह इतिहासज्ञ जानते है। फिर केवल बालिग मताधिकार से ही डेमोक्रेसी आ जाती है सो भी भूल है।" "अभी भी निःशक कहा जा सकता है कि जन-इतिहास मे डेमोक्रेसी का पूरा और पक्का रूप कही नही आया है।"[1]

उक्त भावना के हेतु मार्क्स की आर्थिक साधना

मार्क्स के समय मे डेमोक्रेसी का कही जन्म हो रहा था, और कही वह बाल्य या कौमारावस्था मे थी। सामन्तशाही के स्थान मे उपर्युक्त मत-जाल के वश राज्य-सत्ता पूजीपतियो के हाथ मे सिमट रही थी। इसी कारण से मार्क्सकालीन साहित्य पूजीपतियो की उखाड-पछाड मे और मजदूर वर्ग की उभार से भरा पडा है। दोनो वर्गो के बीच की असमानताओ की खाई को पूर कर समानता का स्तर ले आना मार्क्सवाद का काम है। मजदूर वर्ग को ऊचा उठाकर और पूजीपतियो को नीचे लाकर एकवर्गीय समाज का बना डालना मार्क्स का ध्येय था। उनका सिद्धान्त

---

१ सोवियट फिलासफी (Soviet Philosophy), पृष्ठ ४८

था कि आर्थिक समानता आ जाने से राजनैतिक समानता अपने आप आती जावेगी। आर्थिक विषमता के मिट जाने से परस्पर वैमनस्यता, कलह, विद्रोह, क्रोध, विक्षेप, मनोमालिन्य आदि अनैतिक दुर्गुण आप से आप मिट जायेंगे, और जीव भेद-भावना-युक्त नैतिकता आ जायेगी। इस बात को सिद्ध करने के लिये मार्क्स और उनके अनुयायी अपनी इसी ऐतिहासिक डायलेक्टिकल पद्धति (मेथड) का आश्रय लेते हैं, जो उनकी एक विशेष देन मानी जाती है। उनकी दृष्टि में नैतिक-क्षेत्र पार्थिव क्षेत्र से भिन्न नहीं। उनका मत है कि पार्थिव विकास (materialist evolution) के साथ साथ नैतिक विकास (ethical evolution) होना अवश्यम्भावी है। उनकी नैतिकता भौतिक है न कि आत्मीय, वह भौतिक उत्पत्ति और स्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। इसलिए उनकी आशा है कि जब मनुष्य सुख-चैन-पूर्वक आराम से रहने लगेगा तो उनकी बुद्धि भी बढ़ेगी। तब फिर सब के सब एक दूसरे से प्रेम करेंगे—हेल-मेल से रहेंगे। भूखापन मिट जाने से चोरी-चपाटी मिट जायेगी, कलह-विद्वेष मिट जाने से मार-पीट इत्यादि का नामो-निशान नहीं रहेगा। जब कोई अपराधी ही न रहेगा तो न न्यायालयों की, न जेलों की, और न पुलिस या सेना की ही जरूरत रहेगी। परिणामतः राज्य सूखे फूल की पंखुड़ियों के समान अपने आप झड़ जावेगा। यदि यह कहा जाय कि अन्य देशों से अथवा बाहरी दुश्मनों से रक्षा करने के लिये राज्य-सत्ता की फिर भी जरूरत होगी तो उसका उत्तर मार्क्सवादी यह देंगे कि राज्यान्त तो तभी हो सकता है जब पृथ्वी भर पर साम्य समाज की स्थापना हो जाय अर्थात् जब वर्गविहीन समाज का सर्वत्र प्रसार हो जावे। जब तक सर्वत्र वर्गविहीन समाज न होगा तब तक राज्य-व्यवस्था कायम रखनी पड़ेगी।

मार्क्सवादियों द्वारा डेमोक्रेसी के दो अर्थ

डेमोक्रेसी और डेमोक्रेटिक स्टेट अर्थात् जनतन्त्र और जन-तन्त्रात्मक राज्य में भेद है। लोग बहुधा इस भेद को भूल जाया करते हैं। जनतन्त्र एक सिद्धान्त है जिस में अल्पसंख्यक दल पर बहुसंख्यक दल का आधिपत्य रहता है, और जनतन्त्रात्मक राज्य उस जनतन्त्रीय सिद्धान्त का एक विशेष रूप होता है। जब मार्क्सवादी यह कहते हैं कि राज्य का अन्त हो जाय तब यह नहीं समझना चाहिये कि वे जनतन्त्र-सिद्धान्त को ही मिटा देना चाहते हैं। वे चाहते हैं, ऐसे राज्य का मिटाना जिसमें जनतन्त्र के नाम की आड़ से बहुसंख्या अल्पसंख्या पर अपने विचार वा कार्यों को जबरदस्ती

---

२. मेनीफेस्टो, पृष्ठ ६८

झूमती हो। "अमुक देश जनतन्त्रात्मक है या नहीं इस प्रश्न का ठीक-ठीक हल केवल इस बात से नहीं हो सकता कि उसके राजनैतिक स्वरूप की ही जाँच कर ली जाय। यदि हम यथार्थता पर पहुँचना चाहते हैं तो हमको यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि जनतन्त्रात्मक विचार का सम्बन्ध केवल राजनीति में ही नहीं रहता वरन् समस्त सामाजिक संस्थाओं में रहता है, और राजनैतिक बातों में भी केवल स्वरूपों के आधार पर उसका निश्चय नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, जनतन्त्र का अभिप्राय राज्य-प्रबन्ध के स्वरूप में उतना नहीं है जितना कि सिद्धान्त में है, और वह केवल राज्य-प्रबन्ध ही का सिद्धान्त नहीं है वरन् सामाजिक जीवन का सिद्धान्त है।"[१] इस भूलमें बचने के लिये ऐंगिल्स और लेनिन कई बार सचेत करते रहे हैं। लेनिन ने एक बार यह कहा था कि राज्य-सम्बन्धी बहस-मुबाहसा के वक्त लोग इस बात को हमेशा भूल जाते हैं कि राज्य विनाश का अर्थ जनतन्त्र विनाश भी होता है। राज्य-जीर्णता में जनतन्त्र-जीर्णता का भी मतलब होता है। परन्तु इस भय से कि श्रोता कहीं उपर्युक्त कथन का उलटा अर्थ न समझ बैठें, लेनिन ने यह स्पष्ट किया कि हम जनतन्त्र के सिद्धान्त को अमान्य नहीं कहते। अत उपरोक्त कथन में जनतन्त्र का अर्थ जनतन्त्रात्मक **प्रचलित राज्य-पद्धति** का लेना चाहिये जैसा कि लेनिन की निम्न परिभाषा में विदित होता है। "जनतन्त्र (Democracy) उस राज्य को कहते हैं जिसमें 'बहुसंख्याके अधीन अल्पसंख्या वाला सिद्धान्त मान्य हो, अर्थात वह संस्था जिसमें एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के प्रति, जनसंख्या के एक भाग के द्वारा दूसरे भाग के प्रति क्रमानुगत आघात (Violence) पहुँचाया जाता हो।" इसी का स्पष्टीकरण आगे चलकर लेनिन ने किया है। उनका कथन है कि "हमारा अन्तिम ध्येय है राज्य का विनाश अर्थात् सर्व-साधारण पर किये जाने वाले हर एक व्यवस्थित और क्रमबद्ध आघात-हर एक आघात के प्रयोग का नाश। हम समाज की उस व्यवस्था की आशा नहीं करते जिसमें बहुसंख्या के अधीन अल्पसंख्या वाला सिद्धान्त कार्यान्वित न हो। परन्तु समाजवादी व्यवस्था (Socialism)के लिये कोशिश करते करते, हमें विश्वास है कि वह समाज व्यवस्था साम्य व्यवस्था (Communism) में परिष्कृत हो जावेगी, और इसी के साथ ही साथ जबरन करने की एवं एक आदमी को दूसरे के वश में तथा जनसंख्या के एक भाग को दूसरे भाग के अधीन में रखने की कोई आवश्यकता ही न रह जावेगी, क्योंकि मनुष्य वर्ग सामाजिक जीवन को कायम रखने वाली मूल दशाओं का

---

१. सोवियट फिलासफी, पृष्ठ ४७

पराये बल और पराये वश के विना ही, प्रतिपालन करने मे अभ्यस्त हो जायेगा।"[4]

मार्क्सवादियो की अक्रिय अहिंसा

यह है मार्क्सवादियो का राज्यान्त का सिद्धान्त, और डेमोक्रेसी सम्वन्धी विचार-धारा। वहुमत उन्हे मान्य है परन्तु अल्पमत पर उसका जवरदस्ती ठूमा जाना उन्हे मान्य नही। आघात—हिंसा (violence) उन्हे पसन्द नही। तव फिर क्या वे अहिंसात्मक जनतन्त्र के हामी है। यदि है तो उनमे और गाधीवाद मे क्या अन्तर हुआ? अन्तर जो कुछ इस सम्वन्ध मे है उसका कुछ अधिक स्पष्टीकरण आगे इसी अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल यही जान लेना चाहिये कि लेनिन ने राज्यान्त और डेमोक्रेसी की जो व्याख्या की है वह निरी मौखिक ही है। कार्यक्षेत्र मे उसका कुछ दूसरा ही रूप दिखाई देता है। उनकी डेमोक्रेसी को वे डेमोक्रेसी न कहकर केवल सोशलिज्म (सामाजिक पद्धति) या सोशल डेमोक्रेसी (सामाजिक जनतन्त्र) कहते है और इस प्रकार की समाजवादी राज्य-पद्धति से उनका तात्पर्य रहता है, मजदूर

---

4 "Democracy is the *State* recognizing the subordination of the minority to the majority, i e , an organization for the systematic use of *Violence* by one class against the other, by one part of the population against another

"We set ourselves the ultimate aim of destroying the state i e every organized and systematic violence, every use of violence against man in general We do not expect the advent of an order of Society in which the principle of subordination of minority to majority will not be observed But, striving for Socialism, we are convinced that it will develop into Communism, that side by side with this, there will vanish all need for force for the *subjection* of one man to another, and of one part of the population to another, since people will *grow accustomed* to observing the elementary conditions of social existence *without force and without subjection*"

Quoted in Soviet Philosophy, p 43 (underlining mine)

वर्ग की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) में। यद्यपि यह तानाशाही मुसोलिनी और हिटलर की फेसिज्म और नाजीइज्म से भिन्न है, तथापि उसमे उसी प्रकार का जबरदस्तीपन—उसी प्रकार से दण्ड तथा आघात का प्रयोग—किया जाता है जैसा कि अन्य जनतन्त्रात्मक राज्यों (Democratic States) में किया जाता है। नही, उससे भी कही अधिक जैसा कि हम गत अध्याय में कह आये है।

मार्क्सवाद मे मजदूर-वर्ग की तानाशाही

'मजदूर-वर्ग की तानाशाही' कहने ही से पता चल जाता है कि व्यावहारिक क्षेत्र मे साम्यवादी बल, बलात्कार और हिंसा के पक्षकार है क्योंकि 'वर्ग' और 'तानाशाही' दोनो शब्द बलात्कार और हिंसा के प्रतीक है। यदि वे अपने बलात्कार और हिंसायुक्त तानाशाही के पक्ष का यह कहकर समर्थन करते है, जैसा जान सोमरविली ने बताया है, कि समाज की आधारभूत आर्थिक व्यवस्था को समुचित रूप से बनाये रखने के लिए भूतकाल मे राजनैतिक तानाशाही को सदा किसी न किसी रूप से कार्य करनी रही है और इसलिये मजदूर वर्ग की भी तानाशाही रखना न्यायोचित है, तो भी उनका पक्ष अपुष्ट ही रहता है। यह कहा का न्याय है कि अन्य राज्य-पद्धतियो को हिंसायुक्त कहकर आप उन्हें खराब कहे और फिर उन्हे अपने हाथ मे लेकर स्वयं बलात्कार तथा हिंसा का करने लग जाय? यदि यह कहा जाय कि उनकी तानाशाही केवल उतने ही काल तक के लिये है जितना साम्य-व्यवस्था तक प्राप्त करने मे लगेगा तो यह भी कोई न्यायोचित तर्क नही है। पहले तो यह भी पता नही कि इस प्रकार की व्यवस्था कभी आ सकेगी या नही। यदि आने की सम्भावना मान भी ली जाय, तो वहा तक पहुँचते पहुँचते अत्यन्त लम्बा काल लगेगा। इस लम्बे काल मे क्या विश्वास है, कि एक अधिकृत वर्ग या जनगण का एक शक्तिधारी भाग साम्य मकसद की ही ओर कार्य करता हुआ बढता जावेगा, यह अटल नियम है कि प्रभुता पाकर मनुष्य मे मद बढता है, जो अनर्थों के रूप मे प्रकट होता हुआ अविकारी-अकल्याणकारी बन जाता है। जिनके कानो मे आघात और हिंसा का मन्त्र फूका जाय और जिनके हिंसात्मक कार्यों को प्रोत्साहन मिलता जाय, वे क्या भला स्वप्न मे भी अहिंसात्मक समाज-व्यवस्था को देख सकते है, जागृत स्थिति की बात तो जाने दो। साम्यवादियों ने अपने मूल घोषणा-पत्र मे ही कह रखा है कि "हम खुले तौर पर ऐलान करते है कि हमारे उद्देश्य सर्व प्रकार की प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों को बलपूर्वक उखाड कर फेंके बिना पूर्ण नही हो सकते। अधिकारी वर्ग का साम्यवादी क्रान्ति से काप उठने दो। मजदूर वर्ग का इसमे क्या बिगडता है—उनकी जजीरें ही टूटेंगी। उन्हे तो ससार पर विजय

प्राप्त करना है।"[५] इतना ही नही यदि आप चाहे तो स्टालिन द्वारा लिखित 'अनारकिज्म आर सोशलिज्म' (Anarchism or Socialism)[६] नाम की पुस्तक के उस भाग को पढ जाइये, जहा पर उन्होने अनारकिस्ट लोगो की उस दलील का खण्डन किया है, जिसमे वे कहते है कि सामाजिक जनतत्र (सोशल-डेमोक्रेसी) अर्थात् साम्यवाद क्रान्तिकारी नही है—वह बन्दूक और शस्त्रो के द्वारा नही, बल्कि मत-पत्रो (बैलट पेपर्स) के द्वारा क्रान्ति लाना चाहता है। स्टालिन साहब का कहना है कि अनारकिस्ट लोगो का साम्यवाद पर इस प्रकार का लाछन लगाना मानो उनकी अज्ञानता एव साम्यवाद को बदनाम करने की व्यर्थ चेष्टा है। इसकी पुष्टि उन्होने मार्क्स और ऐंगिल्स के कतिपय कथनो से उद्धरण देकर की है, जो पठनीय है, और जिनसे यह ज्ञात हो जाता है कि साम्यवाद के गुरुओ ने यह आदेश दिया है, कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये न केवल खुल्लमखुल्ला शस्त्रास्त्र का प्रयोग ही उचित है, बल्कि आवश्यकतानुसार धूर्तता, छल, कपट तथा अन्य अमानुषिक व्यवहार भी किया जाना चाहिये। यह देखिये सन् १८५० मे मार्क्स ने जर्मन साथियो को लिखा था कि "किसी भी बहाने पर हथियार और गोला बारूद नही छोड देना (Surrender) चाहिये। श्रमिको को चाहिये कि वे स्वतत्र रूप से अपने कमान्डर आदि मुकर्रर करके श्रमिक-सरक्षक दल की व्यवस्था बना ले।" फिर सन् १८५१-५२ मे मार्क्स और ऐंगिल्स ने लिखा कि "एक बार जब बलवा प्रारम्भ कर दिया, तब फिर पक्के मनसूबे से ही काम किया जाय, और वह भी आक्रमण के रूप मे। प्रत्येक सशस्त्र बलवे के समय सरक्षण (defence) के हेतु लडना मानो मौत का ही बुलाना होता है।

जब तुम्हारे विरोधियो की शक्तियाँ बिखरी हुई हो, तभी उन पर धावा बोल दो, और कितनी भी अल्प क्यो न हो, नित नई सफलताओ की तैयारी करो अपने विरुद्ध दुश्मनो की शक्ति सग्रह होने के पहिले ही तुम उन्हे पीछे हटने के लिये मजबूर कर दो।" और देखिये पेरिस के श्रमिको से, मार्क्स ने उस समय क्या कहा था जब कि उन्होने पेरिस को हाथ मे कर लेने के बाद वरसाइल पर धावा नही किया? उन्होने कहा कि "यदि वे हारे तो केवल उनकी भलमानुषता 'भलास्वभाव' ही इसका दोषी ठहराया जा सकता है। उनको वरसाइल पर फौरन धावा कर देना था वे अपना मौका न्याय-परायण आशकाओ (Conscientious Scruples) के चक्कर मे पड जाने के कारण चूक

५ मैनीफेस्टो, पृष्ठ ९१

६ यह पुस्तक कलेक्टेड वर्क्स (Collected Works), खड १, का भाग है।

रिक अर्थात् भौतिक बल (Physical Force) होता है। और तीसरे प्रकार की डेमोक्रेसी के बहुमत का आधार शारीरिक बल के स्थान मे नैतिक बल (moral or ethical force) हो जाता है। नैतिक बल का प्राप्त कर लेना कोई सरल बात नही है। शारीरिक बल का लोप क्रमश अभ्यास करते करते हो सकता है। यह किस तरह से लोप हो सकता है, इस पर आगे यथास्थान विचार किया जायगा। यहा पर केवल यह जान लेना चाहिये कि उक्त तीनो प्रकार की डेमोक्रेसियो मे बहुमत का मान किस हद तक और किस रूप मे रहता है।

लेनिन के कथन के आधार पर हम यह देख चुके है कि साम्यवादी बहुमत के सिद्धान्त को समाज व्यवस्था मे बिल्कुल नही उडा देना चाहते। तब फिर क्या बात है कि वे बुर्जुआ डेमोक्रेसी मे बर्ते जाने वाले बहुमत का विरोध करते है ? इस डेमोक्रेसी मे हिंसात्मक बहुमत का दौर-दौरा रहता है, इसमे बहुसख्यक अल्पसख्यको पर आघातपूर्वक अपने मत को ठूसते है, यह भी हम ऊपर कह आये है। इसलिये साम्यवादियो के मन्तव्यानुसार पूजीपतियो की राज्य-पद्धति मे डेमोक्रेसी नाम की कोई चीज ही नही। वह केवल जनता को धोखे मे डाल देने वाला चक्र है। देखने मे जो बहुमत का ढकोसला रहता है वह यथार्थ मे अल्पसख्यक पूजीपतियो का अल्पमत ही है। साम्यवादियो का कहना है कि ससदो आदि सस्थाओ के लिये जो चुनाव होता है, उसमे ऐसे ही लोग पहुँचते है जो स्वय पूजीपति होते हैं, अथवा उन्ही-जैसे अन्य दूसरे व्यक्ति जिन पर उनका परोक्ष या अपरोक्ष रूप से प्रभाव रहता है। गरज यह है कि सर्व-साधारण का प्रतिनिधित्व न होकर पूजीपतियो ही का प्रतिनिधित्व होता है। हम सब यह जानते है कि प्रति देश मे जन-साधारण की श्रमिक दल की सख्या पूजीपतियो की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। ऐसी दशा मे यही कहा जा सकता है कि वह बहुमत बहुसख्यको का बहुमत नही है, बल्कि अल्पसख्यको के द्वारा गढा हुआ बहुमत है। अत साम्यवादी कहते है कि बुर्जुआ-डेमोक्रेसी मे अल्पमत बहुमत को अपने शारीरिक बल के द्वारा दबा कर रखता है। इसीलिये वे इन मुट्ठी भर पूजीपतियो की राज्य-पद्धति को बुर्जुआ-डिक्टेटरशिप अर्थात् पूजीपति-तानाशाही कहते है। यह बुर्जुआ तानाशाही गुलाम प्रथा एव साम्राज्य सामन्त-प्रथा के समय की तानाशाही के समान जनसाधारण का गला घोटा करती है। इस तानाशाही को मिटाकर उसके स्थान मे मजदूर वर्ग की तानाशाही कायम करना मार्क्सवाद का काम है, क्योकि बहुसख्यक होने के नाते मजदूर वर्ग ही प्रतिनिधित्व और राज्यभार सम्हालने का सच्चा अधिकारी हो सकता है। स्टालिन के शब्दो को ही पढ लीजिये। उनका कथन है कि "स्पष्टत दो प्रकार की तानाशाहिया होती हैं। एक तो अल्पसख्यको की तानाशाही—छोटे से समुदाय की तानाशाही

जिसका धावा जनसाधारण के विरुद्ध रहता है। इस प्रकार की तानाशाही बहुधा एक गुट्ट के हाथ मे रहती है, जो गुप्त रूप से निर्णय कर लेती है और बहुसख्यक जन के गले मे फासी को मजबूती से कसा करता है।

"मार्क्सवादी इस प्रकार की तानाशाही के शत्रु है और वे उससे बडबडाने वाले अनार्किस्ट लोगो (राज्य शून्यवादियो) की अपेक्षा अधिक दृढता एव स्वार्थ-त्याग के साथ लडते हैं।

"एक और दूसरे प्रकार की तानाशाही है, बहुसख्यक श्रमजीवियो की तानाशाही—जन-साधारणकी तानाशाही, जिसका धावा पूंजीपतियो पर, अल्पसख्यको पर, बोला जाता है। इस तानाशाही का आधिपत्य जन-साधारण के हाथ मे रहता है। यहा न तो गुट्टबाजी को स्थान रहता है और न गुप्त निर्णयो के लिये गुजाइश, यहा प्रत्येक चीज खुलासा सडको मे, सभाओ मे की जाती है—क्योकि वह तानाशाही है, सडक की जनता की, तानाशाही जो समस्त पीडको के विरुद्ध तत्पर की जाती है।

"मार्क्सवादी इस प्रकार की तानाशाही का समर्थन अपने 'दोनो हाथो से' करते हैं-और वह इसलिये कि इस प्रकार की तानाशाही विशाल सामाजिक क्रान्ति का देदीप्यमान प्रारम्भ है।"[८]

मार्क्सवादीय राज्य-विहीनता पर तुलनात्मक दृष्टि

स्टालिन के उपर्युक्त कथन से ही स्पष्ट हो जाता है कि साम्यवादी किस प्रकार के बहुमत को मान्य मानते हैं। मार्क्सवादियो का कहना है कि एक समय ऐसा आवेगा जब मजदूर वर्ग की यह तानाशाही मिट जावेगी, श्रमिक डेमाक्रेसी का अन्त होकर राज्य-विहीन स्थिति आ जावेगी। तब तक लोग इस प्रकार शिक्षित हो जावेंगे कि हर एक नैतिक आचरणो का ही प्रधान मानने लगेगा और बहुमत से जो कुछ निर्णय खुले मैदानो मे, सडको मे, सभाओ आदि मे हुआ करेंगे वे सभी निर्विरोध स्वीकार और कार्यान्वित करेंगे। भविष्य की इस राज्य-शून्य डेमोक्रेसी अथवा साम्य समाज मे विविध प्रकार की जर्मे और समाज सम्बन्धी सहकारी सस्थायें प्रचलित रहेंगी, जिनका यहा नकशा खीचना न आवश्यक है, और न सम्भव ही। वे सब साधन रूप है, और साधन दशा कालके अनुसार परिवर्तनशील हुआ करते हैं।

यह व्यवस्था सार्वभौमिक होगी, क्योकि जब सार्वभौमिक दो वर्गो के बीच मे

---

८ अनार्किजम आर सोशलिज्म, पृष्ठ १०२।

संघर्ष होना है और उसमे एक की याने मजदूर वर्ग की जीत होना है तो परिणाम भी सार्वभौमिक ही निकलेगा। यह उन राज्यशून्यवादियो (अनारकिस्टो) की काल्पनिक युटोपियन (Utopian) समाज से भिन्न होगी जो इस संघर्ष से अलग रहकर, अपने अपने मन के मुताबिक अध्यात्म के बल पर, धर्म के नाम पर, पूंजीपतियो की सहानुभूतियो के आधार पर, अथवा द्रव्य-दान बटोरकर इक्की-दुक्की छोटी-मोटी बस्तियो को बसाकर उन्हे आदर्श रूप बनाना चाहते है क्योंकि उनकी साधनाओ और मार्क्सवादियो की साधनाओ मे कौडी मुहर का हेर-फेर है। इतना ही नही, ये (अनारकिस्ट लोग) मार्क्सवाद की नाव को चलने मे लगर रूप बन बाधक बनते है।[९] यह व्यवस्था प्रारम्भिक कम्यूनो (Primitive Communisms) से भी भिन्न होगी, क्योंकि उनका क्षेत्र परिमित था और इसका सार्वभौमिक, उनकी आवश्यकताएँ एव परिस्थितियाँ सरल और सीमित थी और इसकी जटिल एव विस्तृत—उनका संघर्ष प्राकृतिक स्थितियो से ही रहता था और इसका ऐतिहासिक विकासमय परिस्थितियो से-उनमे आर्थिक चेतना सुषुप्त थी और इसमे अत्यन्त जागृत—उनमे 'मेरे-तेरे' का भाव ही उत्पन्न हुआ था और इसमे 'मेरे-तेरे' का विकराल भाव नैतिकता की थपोडियो से सुलाया हुआ रहेगा।[१०] इसीलिये ऐंग्लिस ने सन् १८८४ मे मार्क्सवाद के प्राथमिक काल ही मे यह कह दिया था कि जब समाज उत्पादको की स्वतत्र एव समान सहकारिता के आधार पर उत्पादन को व्यवस्थित कर लेगा, तब उस समय वह राज्य के सम्पूर्ण कल पुरजो को एक कोने मे एक तरफ उनके उचित स्थान पर पटक देगा—अर्थात् प्राचीन वस्तुओ के संग्रहालय मे सूत कातने के चर्खा, तथा पीतल की कढाही की बगल मे।[११] भावार्थ यह है कि उपयुक्त स्थिति आ जाने पर राज्य-पद्धति एक ऐसी अजीब

---

९ मेनीफेस्टो, पृष्ठ ८७

१० "There was a time when men fought nature collectively, on the basis of Primitive Communism at that time they drew scarcely any distinction between 'mine' and 'thine' There came a time when the distinction between 'mine' and 'thine' penetrated the process of production and property assumed a private individual character" See Anarchism or Socialism, p 34

11 Origin of the family, Private Property and the State. (अर्थात् कुटम्ब, निज सपत्ति और राज्य का मूलोद्भव)

प्राचीन वस्तु हो जायगी जैसी अजायबघर मे दर्शको के हेतु प्राचीन वस्तुयें एकत्र करके रखी जाती है। "राज्य लक्षण का लोप होकर केवल आर्थिक लक्षण रह जावेंगे, और एक विशाल सहकारी समाज की कार्य निर्वाहक सस्था (administrative council) के समान स्थिति आ जावेगी।"[12]

हिंसक मनोवृत्ति का मिटाना गाधीवाद का परम ध्येय

पूर्वोक्त स्थिति पर पहुँचने के पूर्व मार्क्सवाद के अनुसार पूंजीपतियो की तानाशाही के स्थान मे श्रमिको की तानाशाही का रहना आवश्यक है यह हम देख चुके है। परन्तु गाधीवाद को यह जवरन करने वाली बात पसन्द नही, चाहे वह पूजीपतियो की ओर से हो, या चाहे श्रमिको की ओर से हो, चाहे बहु-सख्यको की ओर से हो, चाहे अल्पसख्यको की ओर से। उसकी दृष्टि मे सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा साम्या- वस्था को भग करने वाली अथवा उसे दूर फेकने वाली सिद्ध होती है। वह बलात्कार अथवा हिंसा के बाहरी रूप को देखकर उसे ही सब कुछ नही समझ बैठता। उसकी नजरो मे वाह्य हिंसा गौण है। बाह्य अथवा व्यक्त हिंसा का आधार होता है आन्तरिक दूषित हिंसात्मक मनोवृत्ति। इसलिये जब उससे कोई कहता है कि हिंसक को शरीर दण्ड देकर उसे सुधारना चाहिए तो वह उत्तर देता है कि शरीर-दण्ड से शुद्धि नही हो सकती। मनोवृति को बदलना चाहिये। यही भेद है गाधी-वादियो की हिंसा मे और मार्क्सवादियो अथवा अन्य भौतिकवादियो की हिंसा मे। वह ससार को विजय करना चाहता है, मनुष्यमात्र की कलुषित-हिंसात्मक वृत्ति को अहिंसात्मक बनाकर न कि मनुष्य के शरीर को ठोक-पीटकर या काट-कूटकर। उसे हँसी आती है उन लोगो पर, जो दूसरो पर हिंसक होने का आरोप करते हैं और आप खुद हिंसक मनोवृत्ति को अपनाये हुए उनके प्रति हिंसा का वर्ताव करने मे नही शरमाते वरन् उल्टा उसे श्रेय समझते है। गाधीवादी कहता है कि इस प्रकार के आचरण से न तो दण्डनीय ही सुधर पाता है और न दण्ड देने वाला ही। दोनो ओर हिंसा बनी रहती है। वह हिंसा को दमन करने की नीति को उतना महत्व नही देता जितना कि उसके मूल ही को निकाल कर फेकने को, जो मनुष्य के मन मे मनुष्य के अन्त करण मे वास करता है। हिंसा से हिंसा बढती है, घटती नही। इसलिये साम्यवादियो का जो मार्ग है वह कभी भी साम्य-अवस्था तक नही पहुँच सकता बल्कि उल्टी धार ही बहाने वाला सिद्ध होगा।

---

१२ जीडकृत पोलिटिकल इकानामिक्स, पृष्ठ ३१ (फुटनोट)

जब कोई किसी राज्य-पद्धति को उसकी बलात्कार या हिंसानीति के कारण ताना-शाही कहता है तो उसे क्या अधिकार कि वह खुद ही एक नई मजदूर वर्ग की ताना-शाही समाज पर इस बहाने से लाद दे कि वह परिवर्तनकालीन क्षणभगुर (पाहुनी) है—उसके बाद एक आनन्दमय साम्यगुण स्थापित किया जायगा। यह वैसा ही तर्क हुआ जैसा कि एक डाकू कहा करता था कि मैं डाका इसलिये डाला करता हूँ कि मैं आगे चलकर इस तरह एकत्र किये हुए द्रव्य के द्वारा अनेक गरीब कन्याओ के विवाह कराने मे अथवा अनाथ विधवाओ के पालन-पोषण करने मे योग दूगा।

साम्यावस्था के लिये अहिंसात्मक मनोवृत्ति की आवश्यकता

हिंसा का नाश हिंसा से कभी नही हो सकता—अहिंसा से ही होगा, और राज्य-विहीन साम्य समाज की स्थापना तभी हो सकती है जब मनुष्य-मात्र की मनो-वृत्ति अहिंसात्मक हो जावे, यह है गाधीजी का सिद्धान्त। मार्क्सवादियो के समान उन्हे भी राज्य-पद्धतियो मे बलात्कार और हिंसा का रूप दिखाई देता था। वे भी समझते थे कि राज्य मे दण्ड-विधान, फौजदारी अदालतो, जेल, पुलिस, सेना का होना वाछनीय नहीं, क्योकि वे मनुष्य की ईश्वर-दत्त स्वतन्त्र वृत्ति के मार्ग मे बाधक होते हैं? राज्य की इन बाधक क्रियाओ को मिटाकर राज्य-पद्धति को सुखा डालने का ध्येय उनका भी था, ताकि सारा मनुष्य-समाज स्वतन्त्र रूप से रहे। प्रचलित डेमोक्रेसी अर्थात् जनतन्त्रात्मक राज्य-पद्धति मे भी उन्हे बलात्कार और हिंसा दिखाई दे रही थी और उसे मिटा डालने के लिये वे भी तत्पर थे। परन्तु उनका दृष्टिकोण दूसरा था और मार्ग भी दूसरा।

गाधीवाद मे स्वराज्य का महत्व

'राज्य' शब्द से उस व्यवस्था का ज्ञान होता है जो दूसरो का नियन्त्रण करे अथवा जो दूसरो पर अधिकार रखे। इसलिये 'स्वराज्य' का अर्थ होता है वह व्यवस्था, जो 'स्व' अर्थात् खुद को नियन्त्रण मे रखे अर्थात् जो अपने आप का अधिकारी हो या अपने आपको काबू मे रखे। गाधीजी के 'स्वराज्य' शब्द के अन्तर्गत दो भाव निहित है। एक व्यक्तिगत स्वराज्य और दूसरा सामाजिक स्वराज्य। व्यक्तिगत स्वराज्य से यह तात्पर्य है कि हर व्यक्ति को अपने आचरणो पर नियन्त्रण रखना चाहिये। सामाजिक स्वराज्य समाज की उस राजकीय व्यवस्था को कहते है जिसमे जनतन्त्रात्मक राज्य-पद्धति हो और वह इस प्रकार नियन्त्रित हो कि कोई किसी पर बल का प्रयोग न करे, बहुसख्यक अल्पसख्यक लोगो पर हिंसात्मक उपायो के द्वारा भार-स्वरूप न बने।

सन् १९०८ मे उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' अर्थात् 'इन्डियन होमरूल' मे यह बताया है कि अग्रेजो को भगाकर अग्रेज-पद्धति को स्वीकार कर लेना स्वराज्य शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत नही आता। उन्होंने कहा कि मैं इस प्रकार का स्वराज्य नहीं चाहता। यह सच्चा स्वराज्य नही है।[१३] "सच्चा स्वराज्य है आत्माधिकार या आत्म-नियत्रण"।[१४] 'स्वराज' का यह व्यापक अर्थ है। मनुष्य के या समाज के प्रत्येक कर्त्तव्य-क्षेत्र मे आत्म-नियत्रण से काम करने पर ही स्वराज्य की यथार्थ झाकी उतरेगी। आत्म-नियत्रण के कुछ अनुपान शास्त्रो मे निहित है, परन्तु गाधीजी ने सत्य और अहिंसा पर ही अधिक जोर दिया है। उन्ही दो के प्रतिपालन करने मे सब सध जाते है। बल्कि यह कहिये इन दो मे से किसी एक को ही पकड लीजिये, तो वही एक सबका साधक बन जाता है। इसीलिये गाधीजी ने कई बार यह कहा है कि "मेरे लिये तो स्वराज्य के पहले अहिंसा का ही स्थान है।"[१५] अत उनका प्रयास हर राज्य को अहिंसात्मक मार्ग पर ले जाने का था, क्योकि वे जानते थे कि 'राज्य की जडे चाहे वह अच्छे से अच्छा जनतत्रात्मक क्यो न हो, हिंसा मे गडी रहती हैं। हिंसा मे शोषण की क्रिया (exploitation) मौजूद रहती है। और हर राज्य गरीबो का शोषण करता रहता है।'[१६] सन् १९३४ मे एक मुलाकात के समय गाधी जी ने कहा था कि "राज्य" हिंसा का केन्द्रित और व्यवस्थित रूप का द्योतक है। व्यक्ति मे आत्मीयता होती है, परन्तु राज्य अनात्मीय यत्र रूप है, उसका हिंसा से कभी निराकरण नही किया जा सकता क्योकि इसीके आधार पर उसका अस्तित्व निर्भर रहता है। यदि राज्य का कायम रखना अनिवार्य हो, तो भी मैं उसका समर्थन इतना ही करूँगा कि उसमे कम से कम मात्रा मे स्वामित्व (मालकी) रहे। मैं विरोध करता हूँ ऐसी सस्था का जो बलात्कार (force) पर आधारित हो, और राज्य ऐसी ही सस्था है।"[१७] यदि राज्य बहुभुजा वाला दानव कहा जाय तो हम कह सकते है कि उसकी एक भुजा विशाल रूप मे राजनैतिक शक्ति को ग्रहण करने मे व्यस्त रहती है, जिसके बल पर वह सारे समाज-चक्र को घुमाया करता

---

१३ Indian Home-rule (Ch 4)

१४ Indian Home-rule (Ch 20) Real Home-rule is Self-rule or Self-control)

१५ Political Philosophy p 316 (citation)

१६ Political Philosophy, p 317 (citation)

१७ Studies in Gandhism, p 68 (citation)

है। उसकी यह राजनैतिक शक्ति, आजकल प्राय सभी देशों मे डेमोक्रेसी अर्थात् जनतन्त्रात्मक राज्य-पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि हम पहले भी कह आये है। विविध प्रकार के चुनावो के आधार पर जनता का प्रतिनिधित्व, राज्य का कार्य-भार सम्हालने के लिये किया जाना इस डेमोक्रेसी का मुख्य स्वाग है। मार्क्सवादी उसके स्वागो को मिटा डालने के लिये जिन उपायो का अवलम्बन करना चाहते हैं वे गाधी के उपायो से भिन्न है। गाधी जी के समाज मे व्यक्तित्व का विशेष स्थान है, पर उक्त डेमोक्रेटिक पद्धति मे व्यक्तित्व की जगह पर दल-बन्दी (पार्टीबाजी) का ही जोर रहता है इसलिये वे शुरू से ही उसके बडे कट्टर विरोधी है।

गाधी द्वारा प्रचलित जनतत्र की कडी आलोचना

बीसवी सदी के आरम्भ मे इग्लैंड की ससदीय (पार्लीमेन्टरी) पद्धति सर्वोत्तम और अन्य देशीय ससदो की जन्मदायिनी मानी जाती थी। परन्तु गाधी जी ने उसकी जो कडी आलोचना की है और उससे बचकर रहने के लिये भारतीयो को आदेश दिया है, वह सबके लिये जानने योग्य है, क्योकि आज भी सभी देशो की ससदीय व्यवस्थाओ मे उसी प्रकार के दुर्गुण पाये जाते हैं। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि वर्तमान काल मे वे और भी अधिक भीषण रूप मे जनता के गले को दबाये हुए हैं।

उदाहरणस्वरूप स्टालिन ने आस्ट्रिया की पार्लमिन्ट के विषय मे कहा है कि "राष्ट्रीय गुटो के आपसी तीव्र झगडो के कारण आस्ट्रिया का ससदीय जीवन एव विधान बहुधा ठप्प हो जाते है।[१८] इसी प्रकार अनेको ने अनेक बार ससदीय जीवन की गुट्टबाजियो आदि दोषो के बारे मे कहा है। परन्तु गाधी जी ने जिस कारण को लेकर उत्तम मानी जाने वाली इग्लैण्ड की पद्धति की जो तीव्र आलोचना की है वह अत्यन्त शिक्षाप्रद है।

सन् १९०८ मे उन्होने कहा था कि "इग्लैण्ड की दशा इस समय बडी शोचनीय है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह उस दशा मे कभी न हो। जिसे तुम ससदो की माता कहते हो, वह एक बध्या और छिनाल औरत के समान है। ये दोनो शब्द कठोर है, परन्तु मामले मे बिल्कुल ठीक बैठते है। पार्लमिन्ट ने अभी तक अपने मन से एक भी कोई बात नही की, इसलिये मैंने उसे बध्या स्त्री की उपमा दी है। उस ससद की यथार्थ (natural) गति ऐसी है कि वह

---

१८. Marxism and the National, p 44

बिना बाहरी दबाव के कुछ भी नहीं कर सकती। वह छिनाल के समान इसलिये है कि वह मंत्रियों के आधीनस्थ रहती है, जो समय समय पर बदला करते हैं। जरा और गौर से जाँच करें। ऐसा माना जाता है कि लोग उत्तम मनुष्यों का चुनाव करते हैं। सदस्य बिना वेतन के कार्य करते हैं, और, इसलिये यह मानना चाहिये, कि केवल जनता की भलाई के लिये। मत-दाता पढ़े-लिखे माने जाते हैं और इसलिये हमें यह समझना चाहिये कि वे साधारणतः चयन करने में कोई भूल नहीं करेंगे। ऐसी संसद को प्रार्थना-पत्रों या अन्य कोई प्रेरणाओं की ऐंठ लगाने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिये। उसके काम इतने स्निग्ध (सादे-सीधे-सादे) होना चाहिये कि उनके परिणाम रोजमर्रा अधिकाधिक प्रकट होते जावें। परन्तु दर असल बात यह है कि साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है कि सदस्य ढोंगी और स्वार्थी होते हैं। हर एक अपने निजी छोटे छोटे मतलब की बात सोचा करता है। भय ही उनका मार्ग-दर्शी प्रवर्तक होता है। आज जो हो गया कल वही मिटा डाला जा सकता है। यह सम्भव नहीं कि एक भी ऐसा उदाहरण याद आ जावे जिसमें उसके काम के स्थायित्व के विषय में भविष्य-वाणी की जा सके। जब बड़े से बड़े मामलों पर वादविवाद चलता है उस समय देखा गया है कि सदस्य लम्बी तान लगाते हुए ऊँघा करते हैं। कभी कभी सदस्य इतनी बातें बढ़ा देते हैं कि श्रोतागण का मन ऊब उठता है। कार्लाइल ने इसे दुनिया की गप्प-गोष्टी की दूकान कहा है। सदस्य बिना किसी विचार के अपनी पार्टी के पक्ष में मत-दान (वोट) दे देते हैं। यह उनका नियन्त्रण कहा जाता है जिससे वे बंधे रहते हैं। यदि कोई सदस्य नियम विरुद्ध होकर स्वतन्त्र राय दे दे तो लोग उसे धर्म-भ्रष्ट या पतित कहने लगते हैं। यदि जितना समय और द्रव्य संसद बरबाद करती है उतना कुछ थोड़े भले आदमियों के जिम्मे कर दिया जाय, तो अंग्रेजी राष्ट्र का मान आज से कहीं अधिक हो जाय। पार्लमेन्ट राष्ट्र का एक बड़ा महंगा खिलौना है। इन विचारों में किसी भी प्रकार से मेरी ही खासियत नहीं भरी है। कुछ महान अंग्रेज विचारवान पुरुषों ने भी यही बातें कही हैं। पार्लमेन्ट के एक सदस्य ने तो अभी हाल ही में, मुझे यहाँ तक कहा कि कोई सच्चा ईसाई उसका सदस्य भी न होगा। दूसरे ने कहा कि वह अभी भी बच्ची ही है। और सात सौ वर्षों के जीवन-काल के बाद भी अगर वह बच्ची ही बनी रही तो फिर कब बड़ी होगी? पार्लमेन्ट का कोई सच्चा धनी-धोरी (मालिक) नहीं है। प्रधानमन्त्री के नीचे, उसकी सक्रियता स्थिर नहीं रहती वह तो छिनाल के समान चपेटा-चपेटी में पड़ी रहती है। प्रधान मन्त्री को अपनी सत्ता बनाये रखने की ज्यादा परवाह रहती है बनिस्बत पार्लमेन्ट की भलाई के। उसकी

सारी शक्ति अपनी पार्टी की जीत प्राप्त करने के ही हेतु जुटी रहती हे। उसको सदा इसकी परवाह नही कि पार्लमिन्ट न्याय (उचित) ही करे। ऐसे प्रधान मन्त्री हो गये है जिन्होने पार्लमिन्ट के द्वारा केवल अपनी पार्टी के फायदो को सिद्ध किया हे। ये सब विचारणीय बाते है। वे सच्चे देश-भक्त नही कहे जा सकते। यदि वे ईमानदार समझे जाते है, तो केवल इसलिये कि वे उस चीज को नही लेते जिसे साधारणत लाच, घूस कहते है। भले ही वे ऐसे समझे जाय, परन्तु उन पर सूक्ष्म प्रभावो का असर तो पडता है। अपना मतलब गाठने के लिये वे लोगो को पदादि के द्वारा लाच तो देते है। मुझे यह कहने मे जरा भी सकोच नही कि न तो उनके पास सच्ची ईमानदारी ही है और न जीती-जागती अन्तर्सद्भावना।

अग्रेज मतदाताओ का यह हाल है कि अखबार उनकी बाइबिल है। वे अपने अखबारो से अपना मार्ग निश्चित करते है, जो बहुधा अप्रमाणिक होते है। एक ही बात का अखबारात, अपनी अपनी गुट के लाभ की दृष्टि से, जिनके हेतु उनका सम्पादन होता है, भिन्न भिन्न तरह से अर्थ प्रदर्शन करते है। यदि एक अखबार किसी एक बडे अग्रेज को ईमानदारी का आदर्श रूप मानता है, तो दूसरा उसी को बेईमान कहता है। जिन लोगों के अखबार इस तर्ज के हो उनकी भला क्या दशा होगी। ये लोग अपने विचारो को बारम्बार बदला करते है? ये विचार घडी के लटकने (पेन्डुलम) के समान झूला करते है, और कभी स्थिर नही रहते। लोग एक बडे जोरदार वक्ता या किसी ऐसे आदमी के पिछलगुआ बन जाते है, जो उन्हे सम्मान, भोज्य आदि देता है। जैसे लोग, वैसी उनकी ससद। अगर हिन्दुस्थान ने इग्लेण्ड की नकल की तो मेरा अटल विश्वास है, वह विनाश को प्राप्त हो जायगा। यह दशा अग्रेजो के कोई खास दुर्गुण के कारण से नही हे, वरन् आधुनिक सभ्यता के ही कारण है। यह सभ्यता केवल नाम-चार की है। उसके प्रभाव मे पडने के कारण यूरोप के राष्ट्र दिन प्रतिदिन अधोगति और विनाश की ओर चले जा रहे है।"[१९]

वर्तमान जनतन्त्र-पद्धति बराय नाम है

पचास वर्ष पूर्व कही हुई ये बाते इतनी ताजगी सी हुई मालूम हो रही हे, जैसे मानो आज ही की दशाओ को देखकर कही गई है। यह सहस्र-फनू नाग आज और भी अधिक व्यापक रूप से सारे ससार मे दूध-घी के दीपो से पूजा जा रहा है। हिन्दुस्थान ने उसकी इतनी नकल कर डाली है कि बावजूद गाधी-दुहाई के

---

१९. हिन्द स्वराज्य या इन्डियन होमरूल, अ० ५

वह विनाश की ओर ढुलकता जा रहा है। यदि हिन्दुस्थान अभी से सचेत नही हुआ तो गुरु-शाप-वश निश्चय ही उसे एक न एक दिन विनाश-द्वार पहुँच जाना पडेगा। 'विष रस भरा कनक घट जैसा' अथवा 'नाम बडे दर्शन थोडे' यही आज डेमोक्रेसी की मसल है। वह बराय नाम जनतन्त्रात्मक है। जनतन्त्र के नाम पर पदलोलुपता, बेईमानी, लाच, घूस, अयोग्यता, भ्रष्टाचार, स्वार्थान्धता, असीम खर्च, विष-वमन-सभाषण और लगी-लपटी अखबारबाजी, क्या क्या कहाँ तक कहा जाय, सब दुर्गुण आ घुसे है, और बचाव किया जाता है यह कहकर कि अभी तो हम जनतन्त्र-क्षेत्र के दुध-मुहे बच्चे है। गोपीनाथ धावन ने ठीक कहा है कि ऐसे ही दूषणो के कारण पश्चिम की जनतन्त्रात्मक राज्य-पद्धतिया अजनतन्त्रात्मक बन गई है। "जन-साधारण अपने आपका राज्य तो नही सम्हालते, उल्टे अधिकारी वर्ग के द्वारा चूसे जा रहे है। ससदें गुलामी की निशानी बन रही है और राष्ट्रो के महगे खिलौने भी—महँगे इसलिये कि वे व्यर्थ समय और द्रव्य बरबादी के घर है। ससदी राज्य-प्रथा कुछ काल से कडी आलोचनाओंका भाजन मान हो रही है। इस तरह चुनाव की प्रथा, मन्द चालक वृत्ति, कार्यसचय एव केन्द्रीकरण के कारण, तथा सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम मे सच्ची निर्माणक विधि न होने के कारण पद्धति की अयोग्यता, मन्त्रि-मन्डल की तानाशाही, मुस्तकिल अफसरो की बढती हुई सत्ता, राजनैतिक जीवन मे सोत्साह भाग लेने के लिये नागरिको मे तत्परता लाने की असफलता, अधिक से अधिक आर्थिक समानता लाने की परोक्षता—ये सब कमजोर बाते आलोचको के आक्रमण-स्थल बन गये है।"[२०]

गांधीवाद मे राज्य-विहीनता का आदर्श और उसकी साधना

मार्क्सवादियो की दृष्टि मे यह डेमोक्रेसी पूँजीपतियो की तानाशाही है। गांधी की दृष्टि मे वह पूंजीपतियो ही की तानाशाही क्या, हर किस्म के लुटेरो की जमात है, असत्य और हिंसा का अड्डा है। धोखेबाजी, बेईमानी, गुटबाजी। अप्रामाणिक अखबारबाजी, स्वार्थसिद्धि, असत्य व्यवहार, मन-वाणी-कर्म मे असमानता, हर किस्म का छल-छद्म, ये सब गांधी कोष मे हिंसा के रूप है। वह ऐसे राज्य को जिसमे हिंसा का व्यापार होता हो, समूल नष्ट कर देना चाहते है। उनकी नष्ट करने की क्रिया मार्क्सवादियो जैसी नही है। उनका आदर्श है ऐसा राज्य जिसमे सत्यका प्रतिपालन हो और हिंसा का नामोनिशान न हो। जन

---

२० पोलिटिकल फिलॉसफी, पृष्ठ ३३४

समाज मे सत्य और अहिंसा का वास हो जायगा तो राज्य नामकी कोई चीज न रह जावेगी। हर मनुष्य अपने आप नियन्त्रित रीति से वर्तने लगेगा। "ऐसी स्थिति मे गाधी जी ने कहा है" प्रत्येक मनुष्य अपने आपका राजा बनता है। वह अपने आप पर इस ढग से राज्य करता है कि वह अपने पडोसी के लिये कभी भी बाधक बनकर नही रहता। आदर्श समाज मे इसलिये कोई राजनैतिक सत्ता नही रहती क्योकि राज्य ही नही रहता।[21] गाधी जी के 'स्वराज' शब्द का यही अर्थ है। व्यक्तिगत आत्म-नियन्त्रण के आधार पर उनकी समाज की स्थिति है। "व्यक्ति ही अपने शासन का कलाकार है। अहिंसा के कानून का ही उस पर और उसके शासन पर आधिपत्य रहता है।"[22] परन्तु गाधी जी यह जानते थे कि इस प्रकार के आदर्श समाज की स्थापना शीघ्र नही की जा सकती। सम्भव है कि वह आदर्श कभी पूर्ण रूप से प्राप्त भी न हो सके। इसलिये गाधी जी ने आदर्श के विषय मे कहा है कि "हमे अपने आदर्श पर सन्देह नही करना चाहिये। हम उसे प्राप्त करने मे सदा असफल रहेगे, लेकिन उसे प्राप्त करने के हेतु प्रयत्न करना कभी बन्द नही करना चाहिए।"[23] "वह आदर्श आदर्श ही न रहेगा अगर उसका प्राप्त करना सम्भव हो जाय।"[24] साधना और आदर्श मे कौडी-मुहर का फेर है। साधना निरन्तर होती रहे, यह गाधी जी का सिद्धान्त है। साधनाये करते करते आदर्श के निकट पहुँच जाना सम्भव है। आप कहेगे, ऐसे आदर्श से क्या लाभ जो प्राप्त ही न किया जा सके, इससे तो बिना आदर्श के ही काम किया जाय तो अच्छा, क्योकि परिस्थितियो के अनुसार उसे बदल तो सकेगे। इस प्रकार की शकाये उत्पन्न होना अस्वाभाविक नही है। परन्तु कुछ गभीरता से विचार करने पर वे निर्मूल सिद्ध हो जाती है। गाधी जी की भावना—उसे ही आदर्श कहिये—है, ईश्वर नामी सत्। यह सत् पूर्ण, असीम और अपरिवर्तनीय है। अहिंसा उसकी चिरसाथिन है। अत वह भी पूर्ण, असीम और अपरिवर्तनीय होती है। सत् और अहिंसा पूर्ण है, और हम अपूर्ण। अपूर्ण मे पूर्ण नही भरा जा सकता, जैसे जल कण मे समुद्र नही समा सकता। सत् और अहिंसा निराकर है और हम पचतत्वो के पच्चीकरण[25] तथा अन्त चतुष्टय (अर्थात् मन-बुद्धि-चित्त-अहकार)

---

२१. Young India, २-७ १९३१, पृष्ठ १६२ पो० फि० पृष्ठ ३१८)

२२. हरिजन २६-७. १९४२, पृष्ठ २३८ (पो० फि०, पृष्ठ ३१८)

२३ Speeches, पृष्ठ ३०१ (पो० फि०, पृष्ठ १२०)

२४ हरिजन, १४-१०. १९३९, पृष्ठ ३०३ (पो० फि०, पृष्ठ १२०)

२५. पच्चीकरण पाच तत्वो के मिश्रण से बनता है। उदाहरणार्थ जिसे

के बने हुए स्थूलाकार शरीरधारी हैं। साकार निराकार को पूर्णतः नहीं पा सकता। जब तक हम अहंकार युक्त हैं तब तक हम साकार ही है, और इसलिये पूर्ण निरहंकारी नहीं हो सकते। इसीलिये गांधी जी आदर्शों को अप्राप्य कहते हैं। यदि आप अहंकार-शून्य हो सके तो आदर्श मिलने में कोई सन्देह नहीं। यद्यपि अहंकारी निराहंकारी नहीं हो सकता, तथापि उसे पूर्ण निरहंकार रूप सद्-अहिंसा की अनुभूति प्रयत्नानुसार अवश्य हो सकती है। जिस प्रकार मनुष्य उसकी अनुभूति कर सकता है, उसी प्रकार समाज भी कर सकता है। चूंकि समाज अनेक व्यक्तियों का होता है, इसलिये आदर्शप्राप्ति—आदर्श के निकटतम पहुँचने—के लिये कुछ विशेष कठिनाइयों का सामना करना आवश्यक रहता है। इन्हीं व्यक्तिगत और सामाजिक कठिनाइयों के कारण गांधी जी ने आदर्श को अप्राप्य कहना ही उचित समझा है। इसे ठीक तरह से समझने के लिये यह आवश्यक है कि पाठक गांधी जी द्वारा की गई 'शरीर' की व्याख्या को अच्छी तरह समझ लें। इस सम्बन्ध में और अधिक विवरण आगे यथास्थान पर मिलेगा। यहां इतना और कहना आवश्यक है कि सन् १९४० में एक प्रश्नकर्त्ता ने उनसे प्रश्न किया कि क्या कोई अहिंसा को जानता है? और क्या राजनीति में भी उसका प्रयोग किया जा सकता है? उन्होंने उत्तर दिया कि "अहिंसा को कोई नहीं जानता, क्योंकि कोई भी पूर्ण अहिंसा को नहीं बर्त सकता। राजनीति में भी उसका ठीक उतना ही प्रयोग किया जा सकता है, जितना कि घरेलू क्षेत्र में हो सकता है। हम लोग उसके उपयोग करने में भले ही पूर्ण न हो सके, परन्तु हम निश्चयपूर्वक हिंसा के उपयोग छोड़ते है और असफलता में सफलता की ओर बढ़ते है। पूर्ण अहिंसा के आधार पर व्यवस्थित और सचालित समाज शुद्धतम अराजकता या राज्य-विहीनता (anarchy) हो जावेगी। यह (अराजकता का आदर्श) उसी हद तक प्राप्त हो सकता है जिस हद तक कि अहिंसा का प्रतिपालन हो। वही राज्य पूर्ण और अहिंसात्मक होता है जहाँ की जनता पर कम से कम मात्रा में राज्याधिकार हो। शुद्धतम अराजकता के निकट से निकट पहुँचाने के लिये वही जनतंत्रात्मक राज्यपद्धति (डेमाक्रेसी) हो सकती है जो अहिंसा पर आधारित हो। यूरोप की डेमोक्रेसियां मेरी समझ के मुताबिक, डेमोक्रेसी भाव के विपरीत ही हैं। पूर्ण अहिंसा उस समय तक असम्भव है जब तक हम शरीर रूप में

हम जल तत्त्व कहते हैं उसमे यथार्थत पांचों तत्त्व इस तरह रहते हैं कि आधा भाग तो जल का होता है और बाकी आधे भाग मे बाकी अन्य चार तत्त्वो का सममागीय मिश्रण रहता है। विशेष जानने के लिये देखिये "हमारा धर्म"।

स्थित है, क्योंकि हमारी स्थिति के लिये कुछ न कुछ स्थान तो लगेगा ही। जब तक तुम्हारा वास शरीर मे है तब तक पूर्ण अहिंसा केवल एक सिद्धान्त ही की वात रह जाती है जैसे कि युकलिड (रेखागणित) की विन्दु या समान रेखा होती है। परन्तु हमे जीवन के प्रति क्षण मे प्रयत्न करते ही रहना चाहिये"।[२६] गाधीजी का सत्य और अहिंसा वृत्त केवल सिद्धान्त रूप मे ही सिकुड कर रहने वाला नही था। वे उसका प्रतिपालन व्यावहारिक जीवन मे भी करते थे। "यद्यपि गाधी अराजकता पर जोर देते है तो भी वे अन्य अराजकता-वादियो (Anarchists) की तरह राज्य प्रणाली के रहते रहते तक उसके प्रति उदासीन नही है। उनका व्यावहारिक स्वभाव उन्हे पूर्ण जनसत्तात्मक राज्य की ओर ले ही जाता है, किसी भी हालत मे वे सर्ववाद (totalitarianism) को वरदाश्त करने के लिये अर्थात् विरुद्ध पक्ष को हिंसात्मक तरीके से दवाने के लिये, भले ही वह सर्व-साधारण के निकटतम स्वराज के लिये ही क्यो न हो, तैयार नही है।"[२७]

उभयपक्षी राज्य-विहीनता का सतुलन

इससे यह सिद्ध हुआ कि गाधी जी भी राज्य-विहीन व्यवस्था अथवा अराजकता की भावना से प्रेरित थे जैसे कि मार्क्स थे। परन्तु मार्क्स के समान वे हिंसावादी नही थे। हिंसा वरतने के वाद उस ध्येय को भविष्य मे प्राप्त करने की सोचना उनके लिये न केवल असाननीय ही था वरन् असम्भव भी था। अत उस आदर्श स्थिति तक पहुंचने के पहले उनका कार्य आज ही से अहिंसात्मक प्रोग्राम लेकर चल निकलने वाला है। एक ओर मार्क्सवाद है, जो परिवर्तन काल मे राज्य को तानाशाही के रूप मे वलवान वनाकर जन-साधारण—मजदूर वर्ग ही उनकी जन-साधारण-सज्ञा है—के जीवन वा स्वत्वो की रक्षा हिंसा के तरीके से करना चाहता है तो दूसरी ओर, गाधीवाद अहिंसात्मक, शान्तियुक्त तरीको के द्वारा विरुद्ध पक्षवालो की कठोरता और अनैतिकता को पिघलाकर जन-साधारण की, न कि किसी वर्ग-विशेष की, रक्षा करना चाहता है। इस तरह परिवर्तन काल मे प्रेमपूर्वक सहकारिता वढाते हुए आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रो मे अहिंसात्मक जनतत्र राज्य-पद्धति गाधीवाद को मान्य है।

---

२६. हरिजन, २७-७-४०, पृष्ठ २११

२७ Studies in Gandhism, p 71

गांधीवाद मे चतुर्मुखी स्वराज्य-मूर्ति

इस प्रकार की राज्य-पद्धति को गांधी जी स्वराज्य कहते है। इस स्वराज्य मूर्ति की अर्चना के बिना विश्व-सौम्य का प्राप्त होना असम्भव है। इसके चतुर्मुख है, अथवा यह कहिये कि वह चतुर्दिकी है। यदि इन चार मे से किसी एक की भी कमी हो गई तो वह मूर्ति खंडित और अपूज्य मानी जायगी। स्वराज्य के इन चार अगो को गांधी जी के कथनानुसार हम सूत्र-रूप मे निम्न प्रकार से बताते हैं।

(१) आत्म-राज्य अथवा आत्म-नियत्रण—यही सच्चा स्वराज्य है।

(२) आत्म-शक्ति अथवा प्रेम-शक्ति—निष्क्रिय अवरोध (Passive resistance) उसे प्राप्त करने का मार्ग है। (यही निष्क्रिय अवरोध बाद मे सत्याग्रह नाम से प्रख्यात हुआ)।

(३) स्वदेशी—यह उसकी स्फूर्ति है।

(४) पद्धति-विरोध—विरोध या शत्रुता मनुष्य से नही वरन् उसकी कही जाने वाली सभ्यता या पद्धति से है। (I bear no enmity towards the English, but I do towards their civilization)[२८]

---

२८ हिन्द स्वराज्य, पृष्ठ ८६-८७ (चूंकि 'हिन्द-स्वराज्य' सन् १९०८ मे लिखी गई थी और उस समय 'सत्याग्रह' शब्द की उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसलिये 'निष्क्रिय अवरोध' (passive resistance) का उल्लेख 'हिन्द-स्वराज्य' मे आया है)।

(६)

धर्म, मत और नीति का स्थान

आदर्शवाद और नैतिकता

गत अध्याय मे मार्क्स और गाधी की वर्ग-विहीन, राज्य-शून्य, समाज-व्यवस्था की भावनाओ के विषय मे कहा जा चुका है। अब इस अध्याय मे उनके बताये हुए उन दार्शनिक और नैतिक मार्गों का निरीक्षण करेंगे, जिनके द्वारा वे वर्तमान मनुष्य समाज को अपनी उपर्युक्त कल्पनात्मक व्यवस्था तक पहुँचाना चाहते है।

कल्पना-सिद्धात-कर्म का सम्बन्ध

यह साधारणत सबको विदित है कि कल्पना का उठ-बैठना एक बहुत मामूली सी बात है। परन्तु उस कल्पना को कार्य-रूप मे परिणत करने के लिये अनुसन्धान वा सिद्धान्तो का निर्धारण करना बडी टेढी खीर होती है। फिर सिद्धान्त-निर्माण कर लेने की अपेक्षा उन्हे कार्यान्वित करना और भी कठिन होता है। अत सकल्प से सिद्धान्त निरूपण का, और सिद्धान्त निरूपण से कर्म-क्षेत्र का अधिक महत्व सदैव से माना जाता है, क्योकि सृष्टि ही कर्म रूप है।

समाज के चार दृष्टिकोण

कर्म क्षेत्र की विस्तीर्णता और जटिलता मनुष्य समाज की बढती हुई सम्पर्कता तथा घनिष्ठता पर निर्भर रहती है। यह सम्पर्कता एव घनिष्ठता मध्यकालीन आविष्कारयुक्त युग से अभी तक बढती ही चली जा रही है। मार्क्सकाल मे विश्व-सम्पर्क की जितनी मात्रा थी उससे कही अधिक गाधी-काल के अन्त तक होती गई। गत दो महान् विश्व-व्यापी युद्धो तथा नवीनतम् वैज्ञानिक आविष्कारो आदि के फलस्वरूप सामाजिक सम्बन्ध अत्यन्त विस्तृत, गभीर, सघन और उत्तर-दायित्वपूर्ण हो गये है। जहाँ विस्तार और जटिलता का प्रश्न रहता है, वहाँ कर्म-विभाग आवश्यक होता है। जिस तरह लेखक विषय-विभाग कर अपने कठिन लेख को सरल बना लेता है, पाठक अपने पाठ्य-विषय का विभाजन कर सरलता

से अभ्यस्त कर लेता है, और उद्योगी एव व्यवसायी अपने कृत्यों का विभाजन कर आसानी से सफलता प्राप्त कर लेते हैं, उसी तरह लोक नायक, समाज-सशोधक, अथवा अन्य समाज-सेवी भी समाज-सम्बन्धी समस्त कार्यों को सरलता और सफलतापूर्वक निपटाने के लिये समाज को भिन्न-भिन्न विभागों मे विभक्त कर लेते हैं। यो तो भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से समाज के अनेक कर्म-विभाग होते हैं, परन्तु सामान्यत उन्हे चार प्रधान विभागों मे ही विभक्त करते हैं, यथा (१) धार्मिक, (२) राजनैतिक, (३) आर्थिक और (४) सामाजिक (Social)

समाज-सशोधको का लक्ष्य

समाज-सशोधको का ध्यान इन चारो अगो पर रहता है। इसीलिये उनकी सशोधन-योजनायें भी चतुर्विध रूप मे चला करती है। परन्तु बहुधा देखा यह जाता है कि वे लोग उन क्षेत्रों मे से किसी एक ही को अपना प्रधान या मूल क्षेत्र बना लेते हैं, और उसी की पृष्ठ-भूमि से अन्य क्षेत्रों के कार्य भी मानते जाते हैं। समाज एक है, इसलिये उसके समस्त अग एक दूसरे से उसी प्रकार सम्बन्धित रहते हैं जैसे शरीर के अग। विभाग केवल सहूलियत के लिये निरे कृत्रिम उपाय हैं। अत यह जानकर ही कि एकक्षेत्रीय अथवा एकविभागीय कार्य अन्य क्षेत्रों को स्वाभाविकत प्रभावित करते ही हैं, समाज-सुधारक अपनी शक्ति को एकस्थकर लेता है। कर्त्ता की शक्ति एकस्थ अथवा एक स्थान मे केन्द्रित हो जाने से एक लाभ तो यह होता है कि वह प्रगाढ अविचल रूप मे कर्तव्य करता हुआ सुगमता से निर्दिष्ट फल की ओर अग्रसर हो सकता है, और दूसरा लाभ यह है कि वह अपने सन्देश-प्रसार (Mission) के हेतु जनता की दृष्टि भी सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। ऐसा भी बहुधा देखा जाता है कि सेवा सकल्प को उद्भव करने वाली ज्ञान-प्रकाश की तीव्र और प्रखर ज्योति भी उसे किसी एक विशेष भाग से ही मिलती है। प्रमाणस्वरूप मार्क्स और गाधी के ही दृष्टान्त हमारे सम्मुख हैं। एक ओर आर्थिक असमानताओ मे मार्क्स का ज्ञान सूर्य-प्रखर हुआ, तो दूसरी ओर नैतिक और धार्मिक ग्लानियो के बीच गाधी का।

भारतीय-दर्शन मे धर्म-ईश्वर-आत्मा का ऐक्य

'धर्म' शब्द की व्यापकता के विषय मे हम पूर्व मे कह आये हैं। उस दृष्टि से प्राचीन काल से ही "धर्म शब्द की अनेक परिभाषायें शास्त्रो मे दी गई हैं। इनमे धर्म का लक्षण, स्वरूप, उसके पालन की आवश्यकता, विधि और उसके प्रमाण-

अवगत होते हैं।"[1] इनमे से लक्षण वा स्वरूप की दृष्टि से कुछ ये है। (१) "धारणा-द्धर्म" अर्थात् जो धारण करे या गिरते हुए को सम्हाल ले वही धर्म है, (२) 'सुगतौधानाद्धर्म' अर्थात् जो सुगति पर धान करता है याने आरूढ करता है वह धर्म है, (३) 'धिन्वताद्धर्म', अर्थात् जो अशान्त एव दुखी ससार का धिन्वन करे याने शान्ति प्रदान करे उसका नाम धर्म है।[2] और (४) 'यतोऽभ्युदय-नि श्रेयससिद्धि सधर्म' अर्थात् जिससे अभ्युदय और मोक्ष प्राप्त हो वही धर्म है।[3] विशेष दृष्टि से 'धर्म' शब्द उस कर्त्तव्य का द्योतक होता है जो किसी विशेष कार्य-क्षेत्र के लिये न्याय तथा शास्त्र-सम्मत हो, जैसे कुलधर्म, वर्णधर्म, जातिधर्म, देशधर्म इत्यादि। परन्तु हमारी समझ मे 'धर्म' की वही परिभाषा सर्वोत्तम है, जिससे उसका मूलार्थ व्यक्त किया जा सके। 'धर्म' शब्द सस्कृत की 'धृ' धातु का रूपान्तर है, जिसका अर्थ होता है 'धारण करना'। इसलिये जो धारण करे वही धर्म है। इस परिभाषा के अन्तर्गत व्यापक और विशेष दोनो भाव व्यक्त हो जाते है। इसमे गिरते हुए को बचाने का भाव तथा स्थिर को स्थित बनाये रखने का भाव दोनो रहते है। अत 'धारणाद्धर्म' यह श्री कृष्ण द्वारा की गई 'धर्म' की व्याख्या ही सर्वोपरि है, जिसका उल्लेख महाभारत के कर्ण पर्व मे निम्न प्रकार से मिलता है।

धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजा ।
यत्स्याद्धारण सयुक्तं सधर्म इतिनिश्चय.॥

अर्थात् धारण करने से 'धर्म' कहाता है, 'धर्म ही प्रजा को धारण करता है,' जो धारण शक्ति से सयुक्त हो वही निश्चयपूर्वक 'धर्म' है।

उपर्युक्त कथन मे 'प्रजा' शब्द का प्रयोग किया गया है। साधारणत 'प्रजा' शब्द के सुनते ही हमारी दृष्टि मे एक ओर शासक या राजा का दृश्य उठ खडा होता है, और दूसरी ओर शासितो या प्रजागण का। परन्तु मूलार्थ की दृष्टि से 'प्रजा' शब्द 'प्र' उपसर्ग के साथ 'जन' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है 'जन्म होना', 'उत्पन्न होना' या 'प्रकट होना'। इसी मूलार्थ की दृष्टि से ब्रह्मा-सज्ञा को 'प्रजापति', और समस्त सृष्टि को 'प्रजा' कहा गया है। यथा "सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति" अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा ने आदिकाल मे त्याग

---

१. कल्याण, २४वा वर्ष, अंक ३, पृष्ठ १००९ (लेखक योगनाथ जी)
२. कल्याण, २४वां वर्ष, अंक ३, पृष्ठ १००९ के आधार पर
३. धर्म-विज्ञान (खड १), पृष्ठ ९।

विधि (self-sacrifice) के साथ प्रजा को रचकर कहा।[4] अब इसी तरह 'सृष्टि' शब्द का मूलार्थ देखा जाय, तो विदित होगा कि वह 'सृ' धातु का रूपान्तर है, जिसका अर्थ होता है 'सरकना' अथवा 'क्रमानुगत वर्तना'। अत तात्पर्य की दृष्टि से 'प्रजा' और 'सृष्टि' मे कोई भेद नही है। दोनो मे क्रमानुगत विकास का भाव रहता है। इसलिये यह निश्चय होता है कि जो सर्व प्रजा या सर्व सृष्टि का व्यापक और वैयक्तिक रूप मे आधार हो—स्तम्भ हो, अर्थात् जो उसे धारण करने वाला हो, वही धर्म है। सर्व-सृष्टि की यह आधार रूप-धर्म-रूप शक्ति अनेक भाव वाची शब्दो द्वारा कही जाती है, जैसे **वसु या वासुदेव** अर्थात् वह जो सब मे बसे या वास करे ('वस्' धातु का अर्थ होता है 'रहना' या 'वास करना'), **'विष्णु'** अर्थात् जो सब मे प्रवेश कर ('विश्' धातु का अर्थ होता है 'प्रवेश करना'), अथवा ईश्वर या परमेश्वर अर्थात् जो सब मे श्रेष्ठ हो ('ईश' का अर्थ होता है 'स्वामी' या 'अधिपति' और 'वर' का अर्थ है 'श्रेष्ठ'। इसी को अद्वैतवादी अभेद रूप से कही 'आत्मा' और कही 'परमात्मा' कहते हैं। उनकी दृष्टि मे सर्वत्र एक ही सत् है। जिस प्रकार आकाश तत्त्व घट मे रहने से भी अविच्छिन्न अर्थात् छिन्न-भिन्न नही होता उसी प्रकार यह सत् हर पदार्थ मे—चाहे वह जड हो या चेतन—अनविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहता है। व्यक्ति-व्यक्ति मे कोई भेद नही रहता। भिन्नता या अनेकता मे ऐक्य का ही साम्राज्य जो देखता है वही यथार्थ मे देखता है। भारतीय दर्शन मे यह सिद्धान्त इतनी बाहुल्यता से पाया जाता है कि जहाँ देखो वहाँ मत्रो मे, सूत्रो मे, आख्यानो मे, वैज्ञानिक तत्व ज्ञानो आदि मे उसी का प्रतिपादन, समर्थन आदि मिलता है, जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नही है। गरज यह कि यथार्थ मे आत्मा एक है, हालाकि भ्रमवश वह भिन्न भिन्न व अनेक रूपो मे प्रतीत होती है। यही सक्षिप्तत आत्म-स्वरूप है, जिसके विषय मे अन्यत्र आवश्यकतानुसार अधिक चर्चा करेंगे। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि भारतीय दर्शन-शास्त्र के अनुसार धर्म, ईश्वर और आत्मा पर्यायवाची शब्द है।

धर्म की मत, नीति और रिलीजन (religion) से भिन्नता

भारतीय दर्शन वा नीति-शास्त्रो मे धर्म-वृत्त, सत्य, अहिंसा आदि पर दो दृष्टियो से विचार किया हुआ पाया जाता है। एक वह रूप जो दशा-देश-काल आदि के अनुसार परिवर्तित हो जाय, अर्थात् जो परिस्थितियो आदि से अविच्छिन्न

---

४. गीता, ३।१०

या छिन्न-भिन्न हो जाय, और दूसरा वह रूप जो उससे अविच्छिन्न न होवे, अर्थात् जो सदा एकसा रहे। अविच्छिन्न होने वाले को कभी कभी नियम का अपवाद (exception) कहते है, कभी उसे 'अल्प' विशेषण से युक्त करके बोलने लगते हे, और कभी विना किसी विशेषण के ही कहते हैं। इसके विपरीत अनविच्छिन्न होने वाले को 'महा' विशेषण के साथ बोलते है, जैसे पातञ्जलि ने 'अल्पवृत्त' और 'महावृत्त' के विषय मे समझाते समय 'महावृत्त' के वारे मे कहा ह, 'जातिदेश काल समयानविच्छिन्न सार्वभौमा महावृता'।[5] कहने का तात्पर्य यह हे कि भारतीय शास्त्र-धर्म, ईश्वर, आत्मा ही को नही, वल्कि 'ब्रह्म' तक को कही कही महा, महान् या महत्, अथवा पर या परम विशेषणो से विभूपित करके सर्वसाधारण का लक्ष्य उनकी सर्वश्रेष्ठता की ओर ले जाते है। जैसे महाधर्म, परमेश्वर (परम+ईश्वर), परमात्मा (परम+आत्मा), परब्रह्म या परब्रह्म इत्यादि। यह सब एक प्रकार का शब्द-जाल ही हे, जो भाषा अपनी निर्वलता और अपूर्णता के द्वारा पूर्णता को वाघ लेने के अभिप्राय से रचा करती है। यथार्थत सत एक है, वही धर्म हे वही ईश्वर हे—वही आत्मा है। इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि "आर्य-शास्त्र मे धर्म और अधर्म के सिवाय कोई तीसरी वस्तु नही वताई गई है। यही धर्म की व्यापकता का लक्षण है। आजकल हम धर्म के इस व्यापक लक्षण को भूलकर उसे अति सकीर्ण 'रिलीजन' (religion) या 'मजहव' समझ वैठे है।"[6] जव हम धर्म को जाति-देश-दशा-कालादि से अविच्छिन्न देखते हे अर्थात् जव हम परिस्थितियो के कारण उसके शाश्वत-सनातन व्यापक सिद्धान्तो मे हेर-फेर कर उन्हे विकृत करने लगते है तव वह धर्म-सज्ञा से च्युत होकर 'मत' का रूप धारण कर लेता है। दशा, देश, कालादि के साचे मे ढला हुआ नीति समूह ही 'मत' होता है। नीति शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थो मे किया जाता है जैसे अर्थनीति, राजनीति इत्यादि। ऐसे स्थानो मे आजकल की भाषा मे हम उसका अर्थ पालसी (Policy) कहकर करते हैं। परन्तु 'मत' के अन्तर्गत जो नीति समूह निर्धारित किया जाता है उसे धर्म नीति कहते है। इसमे वैवाहिक, साम्पत्तिक, कौटुम्बिक आदि नियमो तक का सम्मिश्रण कर डाला जाता है। अग्रेजी भाषाविद इन्हे 'मॉरल्स' (morals) कहते है। इससे यह प्रकट होता हे कि धर्म और नीति मे, चाहे वह धर्म-नीति ही क्यो न कही जाय, वहुत वडा भेद हे। इसी भेद को ध्यान मे रखकर सम्भवत तर्क-शिरोमणि योगनाथ जी ने यह

---

५ योग-दर्शन, २।३१

६ धर्म-विज्ञान, पृष्ठ ७

कहा है कि वस्तुत धर्म और मत मे बडा अन्तर है।—इस रहस्य को न समझने के कारण ही आजकल मत एव धर्म के सम्बन्ध मे भ्रम चल रहा है। इसी भ्रम के कारण अनेकता का स्वभाव रखने वाले मतो का एक करने का, और एक सार्वभौम धर्म को अनेक बनाने का प्रयत्न हो रहा है। इसी भ्रम के कारण बुद्धमत, जैनमत, ईसुमत, मोहम्मद मत प्रभृति धर्म कहे जाते हैं। जो किसी एक देश-काल मे किसी एक ही प्रकार की उपासना से सम्बन्ध रखते हैं, वे धर्म नामक सब वस्तुत मत ही हैं। धर्म तो इन सब मतावलम्बियो का भी एक ही हो सकता है और है भी। अनेकता मतो मे ही हो सकती है। 'सत्यंब्रूयात्' सच बोलो—इस धर्म के लिये 'हा' अथवा 'ना' का भेद नही हो सकता।[7] 'धर्म की इस व्यापकता पर विचार कर चुकने के उपरान्त हम कह सकते है कि "रिलीजन (Religion) शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ से आर्य-शास्त्र वर्णित 'धर्म' का पूर्ण लक्षण चरितार्थ नही होता है। रिलीजन शब्द re-back, ligo—to bind, that which binds one back from doing wrong अर्थात् जो शमित मनुष्य को पाप करने से बचावे इसी भाव का द्योतक है। नैतिक जीवन को उत्तम बनाना, पश्चिमी रिलीजन शब्द से यही अर्थ निकलता है।"[8] रिलीजन सकीर्णता का द्योतक है, धर्म व्यापकता का। रिलीजन का लक्ष्य सीमित मनुष्य वर्ग और बहुत हुआ तो, मानव मात्र रहता है, परन्तु धर्म का लक्ष्य न केवल मानव ही वरन् प्राणी मात्र रहता है। रिलीजन मानुषिक नैतिकता का विचार सग्रह है, धर्म मनुष्य मात्र मे विद्यमान ईश्वरत्व का बाह्य प्रकट स्वरूप है।[9] धर्म से भिन्न रिलीजन के इस भाव को अब हम आवश्यकतानुसार धर्मवाद या धर्म-मत कहकर प्रकट करेगे।

दार्शनिको के भेद-उपभेद

(१) ईश्वरवादी

रिलीजन सकीर्ण होने पर भी दर्शन-शून्य नही। दर्शन तो उसका प्राण ही है—उसकी आत्मा ही है। सच पूछा जाय तो रिलीजन तत्कालीन दर्शन-पराकाष्ठा का प्रत्यक्ष रूप होता है। प्रत्येक रिलीजन का आधार भाव (Idea)

---

७ कल्याण, वर्ष २४, अक ३, पृष्ठ १०१०।

८. धर्म-विज्ञान, पृष्ठ ७

९ "Religion is the manifestation of the Divinity already in man" स्वामी विवेकानन्द।

या आदर्श (Ideal) रहता है। चूंकि मनुष्य त्रुटियो और कमजोरियो का घर है अथवा वह अपूर्ण है, इसलिये प्रत्येक रिलीजन एक ऐसे पूर्ण आदर्श की स्थापना करता है, जिसमे काम-क्रोध-लोभादि मानुसिक कमजोरिया नही रहती। यह आदर्श निरा काल्पनिक नही। वैज्ञानिक विधियो और साधनो को करते हुए अभ्यस्त होते होते उसकी समीपता या तदनुरूपता प्राप्त होने योग्य है। इस आदर्श को भिन्न भिन्न भाषाओ मे भिन्न भिन्न नाम देते हे। जैसे ईश्वर, गाड (God) या अल्लाह। कोई उसे गुणातीत निर्गुण मानते है, इसलिये उसे द्रष्टा-मात्र कहकर यह बताते है कि वह सृष्टि-कार्य का निमित्त कारण रूप है। कोई उसे सगुण रूप कहकर यह बताते हैं कि वही उपादान कारण रूप होकर सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्ता है। इन आदर्शवादियो को ईश्वरवादी (Theists) कहते है, और ईश्वरवाद को अग्रेजी मे थिओलाजी (Theology) कहते है। तत्त्व-ज्ञान अर्थात् दर्शनशास्त्र सामान्यत कठिन विषय होता है। इसलिये साधारण-जन के समझाने के हेतु ईश्वर सज्ञा को व्यक्तिवाचक रूप देकर सरल भाषा मे ज्ञान कराया जाता है, जैसा कि "ईसाई धर्म-पुस्तको मे वर्णन हे कि ईश्वर ने पचमहाभूतो को और जगम वर्ग के प्रत्येक प्राणी की जाति को भिन्न भिन्न समय पर पृथक पृथक और स्वतत्र निर्माण किया है।"[१०] इसी तरह भागवत-पुराणादि, हिन्दू-ग्रन्थो मे पाया जाता हे। इस व्यक्तित्व को कही कही इतना व्यावहारिक रूप दिया हुआ पाया जाता है कि ईश्वरीय कारणो का पूर्णश अथवा अशत आरोप श्रेष्ठ पुरुषो पर करके उन्हे अवतार, पैगम्बर, ईश्वर का एकमात्र पुत्र आदि कहने लगते है। फिर अज्ञात साधारण जनता शब्द-जाल मे फसकर गुरुडम या पोपलीला के चक्कर मे पडने लगती है।

एक ओर व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान का लोप होता है, तो दूसरी ओर, दार्शनिक दृष्टि से भी भ्रमोत्पादक मत-मतान्तर खडे किये जाने लगते है। भारतीय दर्शन मे इस प्रकार के मतभेद अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। उनके विषय मे सक्षेप उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। वेदान्ती अर्थात् अद्वैतवादी सर्वत्र एकत्व का प्रतिपादन करते है। वे दृश्यमान जगत को भ्रम-मात्र कहते है, और जीवात्मा और परमात्मा मे कोई भेद नही मानते। इसके विपरीत वे दार्शनिक है जो जगत् को माया (भ्रम) तो कहते है, पर उसके व्यावहारिक महत्व के कारण उसकी उपेक्षा करना उचित नही समझते, इसलिये वे विशिष्टाद्वैत (विशिष्ट-अद्वैत) कहलाये। परन्तु तीसरे वे है, जो जगत् को निरा-भ्रम नही कहते, बल्कि उसे ईश्वर (ब्रह्म) का कार्य या गुण मानकर उसके अस्तित्व

---

१०. गीता-रहस्य, पृष्ठ १७१

को सत्य मानते हैं, इसलिये वे 'द्वैतवादी' कहलाते हैं। ये लोग ईश्वर और प्रकृति दोनों को सत्य मानते है। जब द्वैत और अद्वैतवाद का बखेडा बढा तो निम्बार्काचार्य ने दोनो का समर्थन किया। उन्होने कहा यह मतभेद केवल दृष्टि-भेद का कारण है। इससे उनका मत 'द्वैताद्वैत' द्वैत+अद्वैत कहलाया।[11]

(२) जडवादी या भौतिकवादी

इस ईश्वर-वाद की सारगर्भित वैज्ञानिकता की जाच न कर सकने के कारण कुछ लोगो ने उसके विरुद्ध आवाज उठाई। परिणामस्वरूप कुछ अपने आपको नास्तिक या निरीश्वरवादी (atheists) कहने लगे, कुछ ढुलमुलयकीन अनिश्चितवादी (agnostics) हो गये, और कुछेक भौतिक उत्क्रान्तिवादी या विकासवादी (Evolutionaries) बन गये। उत्क्रान्तिवाद ने सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विशेष ख्याति प्राप्त की। आधुनिककालीन उत्क्रान्तिवादियो मे से डार्विन का नाम सब से अधिक प्रख्यात है, जिसने मनुष्य को बन्दर की सन्तति बताया है। इटली के एक प्रसिद्ध प्रोफेसर वा लेखक लेवरियोला ने, जो डारविनवाद का कट्टर विरोधी था, १९वी सदी के अन्त मे लिखा था कि "यह डार्विनवाद-राजनैतिक और सामाजिक-एक बीमारी सी हो गई है, जो कई वर्षो से कई एक विचारशील पुरुषो एव समाजवाद के अनेक पोषको और विरोधियो के मन पर आक्रमणकारी बन बैठा है। इतना ही नही, बल्कि फैशनेबिल आदत के समान व्यावहारिक राजनीतिज्ञो की भाषा तक पर उसका प्रभाव हो गया है।"[12] इस विकासवाद मे प्रकृति ही आदर्शरूप है, अर्थात् सारी सृष्टि की कर्त्री, धर्त्री, हर्त्री प्रकृति ही रहती है। इनकी समझ मे प्रकृति स्वाधीन है, पराधीन नही। वे न 'पुरुष' की स्थिति मानते है, न 'पुरुषोत्तम' की।[13] प्रकृतिरूपी 'क्षेत्र' ही सब कुछ है 'क्षेत्रज्ञ' कोई चीज नही।[14] गुणमयी प्रकृति ही सृष्टि-चक्र घुमाती रहती है, उसे बन्द कर देनेवाली 'गुणातीत' कोई दूसरी शक्ति नही।[15] इन्ही लोगो को पार्थिव, पृथ्वीवादी, भौतिकवादी, जडवादी या प्रकृतिवादी कहते हैं। अग्रेजी मे

---

११. विशेष जानने के लिये 'हमारा धर्म और उसकी वैज्ञानिक रूप-रेखा' के आठवें अध्याय मे 'ईश्वर और अनीश्वरवाद' शीर्षक विषय को पढिये।

१२ Materialist Conception of History, p 15

१३ गीता, अ० १५

१४ गीता, अ० १३

१५ गीता, अ० १४

इन्हे 'materialists' या naturalists कहते है। इन भौतिकवादियो के भी भिन्न भिन्न मत है। वे तीन प्रकार के है —

(क) अव्यक्तवादी

वे है, जो केवल अव्यक्त प्रकृति ही को मूल मे मानते है। यह अव्यक्त प्रकृति गुणमयी होती है। कपिल के साख्य मे इन गुणो को तीन विभागो मे विभक्त कर दिया है यथा, सत, रज, तम। जब ये गुण सम अर्थात् अविकृत रहते है तब साम्यावस्था कहलाती है। इन गुणो मे विकृति आना ही सृष्टि है। गुण-गुणो मे ही वर्तते रहते है। गरज यह कि इन लोगो के अनुसार केवल एक अव्यक्त प्रकृति ही सब कुछ है। तिलक ने इस मत को जडाद्वैत (जड + अद्वैत) वाद कहा है, जिसे वेदान्ती चैतन्य अद्वैतवाद से बिलकुल भिन्न समझना चाहिये। उन्होने कहा है कि "दी रिडिल आफ दी यूनीवर्स" (The riddle of the universe) के रचयिता हेकल के सदृश कुछ पडित यह मानकर कि जड पदार्थो से ही बढते-बढते आत्मा और चैतन्यता की उत्पत्ति हुई, जडाद्वैत का प्रतिपादन करते है।[१६]

(ख) व्यक्तवादी

वे है जो केवल व्यक्त अर्थात् प्रकट प्रकृति ही को सब कुछ मानते है। उनकी समझ मे, 'प्रकृति' शब्द ही इस बात का द्योतक है कि उसमे सदा 'कृति' बनी ही रहती है। जहा 'प्रकृति' है वहा भला 'अकृति' या 'निष्कृति' कैसे हो सकती है। ये दोनो विरोधात्मक बाते एक साथ नही रह सकती। अत जब ससार को हम व्यक्त देख रहे है, जो उसका स्वभाव है, तो उसे 'अव्यक्त' नही कह सकते। जो कुछ न्यायादि आदर्श रूप हमे दिखाई देते है, वे इस व्यक्त सृष्टि के परिणामस्वरूप है। उनकी दृष्टि मे भाव या आदर्श सृष्टि के पूर्वगामी नही वरन् उसके अनुगामी होते है।

(ग) व्यक्ताव्यक्तवादी

वे है जो व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति के दोनो रूपो को मानते है। उनका कहना है कि जिसमे 'कृति' का गुण है या जिसमे 'कृति' की शक्ति है उसमे 'अकृति' की शक्ति भी रहना अस्वाभाविक नही। इसलिये उनके मतानुसार जब जी चाहे तब, प्रकृति-स्थित गुण वर्तने लगते है, और जब जी चाहे तब, वे अपने आप बन्द हो जाते है। इसलिये इनकी समझ मे भाव या आदर्श से भौतिकता प्रभावित होती है, और

---

१६ गीता रहस्य, पृष्ठ १७१-१७२

भौतिकता से वे प्रभावित होते रहते है। गरज यह कि भूत और भाव एक दूसरे से सम्बन्धित रहकर एक दूसरे पर असर डालते रहते हैं, जिसके कारण उभयपक्षीय क्रियायें-इत्यादि परिवर्तित होते रहते है।

(३) आत्मवादी

ईश्वरवाद और भौतिक या जडवाद के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग दार्शनिको का और है, जो आत्म या अध्यात्मवादी कहलाता है। उसके मतानुसार जडवादी इस बात को भूल जाते हैं कि प्रकृति स्वय मशीन के अनुसार जड है। जडवादियो का यह तर्क जो ऊपर (२ ख) मे बताई गई है महत्वपूर्ण है कि जहा प्रकृति है वहा निष्कृति का कहना विरोध भावात्मक बात हो जाती है। परन्तु यह भी निश्चयपूर्वक अनुभव सिद्ध है कि मनुष्य प्राकृतिक गुणो को अपनी इच्छानुसार, भले ही वह अल्प-क्षणिक क्यो न हो बन्द कर लेता है याने रोक सकता है। यह भी अनुभव सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण है कि योग-भावनाओं के अभ्यास से उसे बन्द करने का समय बढाया जा सकता है। जब प्रकृति अपने आप निष्क्रिय नही हो सकती और फिर भी वह निष्क्रिय होती हुई पाई जाती है तब निश्चय ही उससे परे—उसके अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति उससे अधिक बलवान होना ही चाहिये जो उसे निष्क्रिय कर सकती है। इसी शक्ति का नाम है, 'चेतना' या 'चैतन्य'। प्रकृति को यदि क्षेत्र कहे, तो उसे क्षेत्रज्ञ कहेंगे, और प्रकृति को शरीर कहे तो उसे आत्मा कहेगे। यह आत्मा ही है, जो सब जड-भूतो की तह मे तेजोमय स्फुरन या स्फुल्लिग रूप से सर्वत्र प्रविष्ट है, जिन के कारण मुर्दा प्रकृति सजीवता लिये हुए छटपटाती रहती है। आत्मा को अग्रेजी भाषा मे soul या spirit कहते है, और आत्मवादी को spiritualist। आत्म या अध्यात्म शास्त्र को metaphysics कहते है, जो नैतिक शास्त्र अर्थात् moral science या ethics से भिन्न है। जब हम सृष्टि के व्यक्तित्व को छोड सर्वत्व का विचार करते है तब हमारे सामने प्रकृति और आत्मा दोनो का विश्वव्यापी रूप झलकने लगता है जिसे अग्रेजी मे क्रमश Universal Nature और Universal Spirit कहते हैं। प्राकृतिक और आत्मा के सम्बन्ध को फुटकर फुटकर पदार्थ मे न देखकर इकजाई सारे विश्व मे देखने की वैज्ञानिक क्रिया को एकीकरण-व्यापार या एकीकरण-पद्धति आदि (Synthetic Process) कहते है, जिसे गीता मे 'कृत्स्नमेकाशेन' (कृत्स्नम् + एकाशेन) अर्थात् सम्पूर्ण को एकाश के द्वारा कहा है।[17]

---

१७ गीता, १०।४२

क्षेत्र हो या कर्म-क्षेत्र, घूम-घाम कर अपने मुख्य सिद्धान्त पर आ पहुँचता है। जिस तरह गीता के रचयिता वेदव्यास गीता मे दौड-दौड कर अनासक्ति योग पर पहुँच जाते हैं, जिस तरह गाधी घूम-घाम कर सत्य और अहिंसा पर आ पहुँचते ह, उसी तरह मार्क्स दौडे-छूटे पूजीपति और मजदूर वर्ग के सघर्ष की बात करने लगते हैं। क्रान्ति की सफलता मानसिक, शाब्दिक और कार्मिक दृढता पर निर्भर रहती है। यह हमे विदित हो ही गया है कि जिस समय मार्क्सवाद की उत्पत्ति हुई उस समय मार्क्स के दृष्टिकोण से रिलीजन के नाम पर यूरोप भर मे पापाचार फैला हुआ था। वही पोप-क्लर्जी आदि आचार्य वर्ग, जो धर्म-मशाल को लेकर चलने वाले कहे जाते थे, साम्राज्यो, सामन्तो एव पूजीपतियो (बुर्जुओ) के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहायक बने हुए थे। इतना ही नही, उनमे से अनेको स्वय पूजीपति भी थे। दोनो तरह से वे गरीब मजदूर वर्ग के सहायक न बन उनके गलाघोटू का काम करते थे। अत इन शोषको के प्रति मार्क्स का स्वाभाविकत उतना ही विरोध हुआ जितना पूजीपति आदि अन्य शोषको के प्रति था। इसलिये उसने उनके विरुद्ध भी श्रमजीवियो के उठ खडे होने की बिगुल फूक दी। चर्च रिलीजन का बाह्य प्रतीक था, और उससे सम्बन्धित आचार्य वर्ग पोपादि उस धर्म-मत के ध्वजाधारी माने जाते थे। जैसा कि ससार मे प्राय सब जगह पाया जाता है, यूरोप मे भी स्वाभाविकत अपढ, अल्प शिक्षित, निर्धन, निम्नवर्ग के लोगो मे धर्म के बाह्य प्रतीक चर्च और उसके ध्वजाधारी आचार्य वर्ग मे यही आस्था और भक्ति थी। श्रमिक वर्ग के हृदय से इस श्रद्धा और भक्ति के हटाये जाने पर ही वे मार्क्स के क्रान्तिकारी दल मे सम्मिलित हो सकते थे। इसलिये, हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार मार्क्स ने उस मूलाधार को ही उखाड देना उपयुक्त समझा होगा जिस पर चर्च और इन ध्वजाधारियो का अस्तित्व ही निर्भर था। जिस प्रकार पूँजीपतियो को नेस्त-नाबूद करने के लिये उसने उनके प्राणरूप 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' (Private Property) के सिद्धान्त को ही निकाल कर फेंक देने के लिये बीडा उठाया, उसी प्रकार इस धार्मिक प्रथा और पल्टन को जीवित रखने वाले प्राणस्वरूप धर्म सिद्धान्त को भी मिटा डालना आवश्यक समझा होगा। वह धर्म-सिद्धान्त क्या था ? वही धर्म-मत (Religion), वही ईश्वरवाद (Theology), वही आत्मवाद (Spiritualism or Soulism) जिन्हें मार्क्स ने गपोडबाजी कहा है। इसके अतिरिक्त पाठको को यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मार्क्स ने सारे विश्व समाज को केवल दोवर्गीय बनाकर रखा था याने पूँजीपति और श्रमिक वर्ग, अथवा शोषक और शोषित। तृतीय वर्ग का रहना निश्चय ही उनकी द्विवर्गीय क्रान्ति मे बाधक सिद्ध होता। यह तो निश्चय था कि इस आचार्य वर्ग के सभी लोग पूजीपति नही थे अथवा सभी पूजीपतियो के सहायक

भी नही थे। तब फिर सभी को पूँजीपतियो की श्रेणी मे नहीं रखा जा सकता था। ऐसी स्थिति मे उस वर्ग के प्रति जो श्रद्धा और भक्ति थी वह पूर्णत नष्ट नही हो सकती थी। पूर्णत नष्ट न होने पर वे लोग अपने प्रति बर्ती जाने वाली श्रद्धा और भक्ति का लाभ उठाकर मजदूर या निम्न वर्ग के लोगो को अपनी ओर आकर्षित करते तथा उन्हें बहकाते रहते जिसके फलस्वरुप एक ओर तो क्रान्ति के प्रसार मे बाधा आती, और दूसरी ओर उसे लम्बे अरसे तक निर्बलता का मुकाबला करना पडता। ऐसी स्थिति मे, हमे प्रतीत होता है, मार्क्स ने उस वर्ग के मूलाधार पर कुठाराघात करना ही अनिवार्य समझा हो, क्योकि यह जगत्-प्रसिद्ध सत्योक्ति है कि 'न रहेगा बास तो न बजेगी बासुरी।'

यह हमारी सूझ है। हमारे पास सिवाय पूर्वोक्त सम्भावित तर्क के कोई दूसरे लेख का प्रमाण नही है। अत सम्भव है कि कोई मार्क्सवादी यह कह बैठे कि केवल किसी युक्ति के आधार पर मार्क्स जैसे व्यक्ति की सत्य-परक जीवनी पर लाछन लगाना न्यायोचित नही है। परन्तु यह तो हम सभी जानते है कि दुनिया के सभी वाद युक्तियो और उक्तियो पर खडे किये जाते है। उन्ही के द्वारा वे जीवित रखे जाते है। इसलिये उन्ही शस्त्रो से उस पर आक्रमण भी किया जाता है। जब पक्ष विपक्ष के बीच मे शाब्दिक तनातनी मच जाती है तभी वह वाद वाद-विवाद कहलाने लगता है। मार्क्स ने स्वय सारे मार्क्सवाद को एक उक्ति पर टागा है और वह है 'परस्पर विरोधिनी दो शक्तियो का सघर्ष—द्विवर्गीय समाज मे क्रान्ति'। अपनी इसी मूल उक्ति की पुष्टि के लिये मार्क्स ने ऐतिहासिकता की पुट दी हुई, तथा युक्तियो की ओढनी उढाई हुई, उक्तियो की ही जहा देखो वहा भरमार की है, यहा तक कि प्राचीन तथा तत्कालीन प्राय सभी समाज सम्बन्धी विचारधाराओ और सस्थाओ को उन्होने प्रतिक्रियावादी और शत्रुरुप कह कर छोडा है।

मान लो कि हमारी उपरोक्त युक्ति और उक्ति दोनो गलत है, अथवा हमे उनके उपयोग करने का अधिकार नही है, तो फिर हम यह सिद्ध करने का प्रयास करेंगे कि मार्क्सवाद का यह प्रतिपादन करना कि ईश्वर और आत्मा सज्ञा तर्क-शून्य, दर्शन-शून्य नशेडियो जैसी गपोडबाजी है, नितान्त बेसिर-पैर की बात है। मार्क्स का वह दृष्टिकोण ही काना है, जिसके आधार पर उन्होने ईश्वर और आत्मा सज्ञाओ को निराधार बताया है। उनके तर्क क्षेत्र मे 'मन' (mind), 'मस्तिष्क' (brain) और 'चेतना' (consciousness) के परे दूसरा कोई तत्व नही दिखाई देता, जब कि भारतीय दर्शन मे अत्यन्त प्राचीन काल से यह माना जा रहा है—नही, वैज्ञानिक ढग से सिद्ध किया जा रहा है—कि इन सब के मूल मे 'सत्' है। 'चित्' अर्थात् 'चेतना' तो सय 'आनन्द' के उसके अमिट लक्षण है।

अत भारतीय दर्शन मे सत्+चित+आनन्द (सच्चिदानन्द) ही सर्वोपरि कहा गया है। इस 'सत्' की चिर-स्थित प्रकृति है जो अव्यक्त और व्यक्त रूप मे जानी जाती है। 'अव्यक्त प्रकृति', और 'अहकार' आदि 'व्यक्त प्रकृति' के विषय मे तात्विक दृष्टि से आगे कहा जायगा, जहाँ यह बतावेगे कि 'मन' के पूर्व अहकारादि दूसरे तत्वो की स्थिति मे इन्कारी नही की जा सकती। यहा यदि केवल एक मोटी सी बात पर ध्यान दिया जाय तब भी मार्क्स का दृष्टिदोष—तर्कदोष—झलक उठता है। जिस ऐतिहासिक और स्वाभाविक विकास-क्रम को देखकर उन्होने अपने सिद्धान्तो का निर्धारण किया है, वह केवल बाह्य-स्थूल-कृतियो का है। जो प्रत्यक्ष है, उसका अप्रत्यक्ष रूप—उसकी अप्रत्यक्ष स्थिति अवश्य होती है इसी बात को यदि शास्त्रीय भाषा मे कहे तो यह कहा जायगा कि जहा भाव है वहा सत् अवश्य होना ही चाहिये।[१९] बिना अप्रत्यक्ष के प्रत्यक्ष नही होता। बीज मे अकुर उगने के पहले उगने की अव्यक्त शक्ति है। अकुर स्पष्ट या व्यक्त (patent) है, तो वह शक्ति गुप्त या अव्यक्त (latent) है। एक स्थूल है, तो दूसरी सूक्ष्म। यदि सूक्ष्म न हो, यदि अव्यक्त (latent) न हो, तो स्थूल, व्यक्त, या आकृति कहा से आ जाय। सच पूछा जाय तो अकुर उस अव्यक्त शक्ति की क्रमिक श्रेणी का एक अत्यन्त स्थूल व्यक्त रूप है, हालाकि हमारी स्थूल ज्ञानेन्द्रियो को वह अत्यन्त सूक्ष्म प्रथम स्वरूप प्रतीत होता है। उसके पूर्व-क्रम विकास को जानने के लिये हम साधन-हीन रहते है। ज्ञान—साधन-हीनता के कारण किसी वस्तु विशेष के अस्तित्व को अस्वीकार करना, उसकी ओर लक्ष्य न देना अथवा उसके सम्बन्ध मे दूसरो के द्वारा की गई जानकारी को अलकृत जोरदार भाषा मे दर्शन शून्य, नशेडो-जैसी गपोडबाजी कहकर टाल देना न बुद्धिमत्ता का लक्षण है और न न्यायपरकता का। यही त्रुटि मार्क्सवाद के विकासक्रम मे है। वह केवल एकतरफा-स्थूलता-प्रत्यक्षता का विचार करता है, और दूसरे तरफ की याने सूक्ष्मता-अव्यक्तता को छोड जाता है, अर्थात् वह अपूर्ण ही को पूर्ण समझ लेता है। वह भ्रमवश ठीक उसी प्रकार स्थूल से सूक्ष्म की उत्पत्ति बताता है जैसे कोई रेलगाडी वायुयान मे बैठा हुआ अपने आप को स्थिर समझे और पृथ्वी तथा उस पर स्थित पदार्थो को चलायमान। उसमे मन, मस्तिष्क और चेतना के पूर्व के विकास-क्रम को भुला दिया गया है। वह यह नही समझता कि विकास-वाद मे 'उत्पत्ति' शब्द (Production) भ्रममूलक होता है। बादलो के अन्धकार के हट जाने पर सूर्य उत्पन्न नही हुआ करता,

---

१९ गीता, २।१६ "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत" अर्थात् असत् का कहीं भाव नहीं होता, और सत् का कहीं अभाव नहीं होता।

वल्कि प्रकट (manifestation) हुआ करता है। इन्ही कारणो से उसने ईश्वर और आत्मा—सत् को उडा दिया है। फलत उसमे समाज के सर्वोपरि धर्म अग का विच्छेदन कर उसे तीन टाग का जीवधारी बना डाला है। मार्क्सवाद के दार्शनिक नैतिक क्षेत्र को धर्म-क्षेत्र से भिन्न समझना चाहिये। इसी भिन्नता को सम्भवत ध्यान मे रखने के कारण एम० एन० राय ने, जो मार्क्सवाद पर प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं, कहा है कि "जिसे हम मार्क्सवादी समाजवाद (Marxian Socialism) कहते हैं उसको तीन विभागो मे विभाजित किया जा सकता है—यद्यपि इन तीनो मे से किसी एक भाग को अन्य दो भागो से अलग नही किया जा सकता। ये तीन विभाग हैं (१) दार्शनिक जिसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) भी कहते है, (२) आर्थिक और (३) राजनैतिक"।[२०]

मार्क्सवाद मे विकास के तीन दृष्टिकोण

अव देखिये, यह है उसका विकासवाद। पहले हम प्राकृतिक विकास को ही देखेंगे, फिर आर्थिक विकास को, तत्पश्चात् ही नैतिक विकास पर दृष्टि डालना उपयुक्त होगा, क्योंकि तीनो पर एक साथ ध्यान दिये विना मार्क्सवाद को उपरोक्त कसौटी पर कसना उचित न होगा।

(१) प्राकृतिक (आकृति-विकास)

डार्विन आदि आधिभौतिक विकासवादियो का विकास सम्वन्धी विवरण ही मार्क्सवादियो को मान्य है, जो सक्षेपत मार्क्सवाद के भौतिक सिद्धान्त पर लिखे हुए प्राय सभी छोटे-वडे ग्रन्थो मे मिलता है। इस मत का साराश यह है —सूर्य-माला मे पहले कुछ एक ही सूक्ष्म द्रव्य था, उसकी गति अथवा उष्णता का परिमाण घटता गया, तव उक्त द्रव्य का अधिकाधिक सकोच होने लगा और पृथ्वी समेत सव ग्रह क्रमश उत्पन्न हुए, अन्त मे जो शेष वचा, वही सूर्य है। पृथ्वी का भी सूर्य के सदृश, पहले एक (अग्निपुञ्ज सा चमचमाता हुआ द्रव्य रूप=incandescent fiery mass)[२१] उष्ण गोला था, परन्तु ज्यो ज्यो उसकी उष्णता कम होती गई त्यो त्यो मूल द्रव्यो मे से कुछ द्रव्य पतले और कुछ घने हो गये, इस प्रकार पृथ्वी के ऊपर की हवा और पानी तथा उसके नीचे का पृथ्वी का जड गोला—ये तीन पदार्थ वने, और इसके बाद, इन तीनो के मिश्रण अथवा सयोग से सव सजीव तथा

---

२०. गाधीवाद . समाजवाद, पृष्ठ १५२

२१ Anarchism or Socialism, p 29

निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई। डार्विन प्रभृति पंडितो ने तो यह प्रतिपादन किया है, कि इसी तरह मनुष्य भी छोटे कीडे से बढते बढते अपनी वर्तमान अवस्था मे आ पहुँचा है।[२२] "इस कीट वर्ग मे एक प्रकार की बन्दर की जाति हुई और फिर उससे मनुष्य हुआ।"[२३] "यदि बन्दर सदा चारो पैरो से चलता रहता और कभी भी सीधा खडा न होता, तो उसका वंशज-मनुष्य-अपने फेफडो और वाणी-नली को स्वेच्छापूर्वक चलाने फिराने मे समर्थ न हो पाता, और बोल भी नही सकता, और इस कारण से चेतना (consciousness) की वृद्धि मे प्रधानत बाधा आ जाती। (और इसी तरह) वह ऊपर की ओर तथा आस-पास न देख सकता, और फलत उसका मस्तिष्क चौपायो के मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक उन्नत नही हो पाता।[२४] परन्तु ये सब कल्पना मात्र हैं—हमारी समझ मे ही नही, बल्कि कुछ विचारवान् भौतिकवादियो की समझ मे भी। इटली के प्रोफेसर लेवरियोला ने, जो ऐतिहासिक भौतिक सिद्धान्त (Materialist Conception of History) के सुदृढ और निष्पक्ष अनुयायी थे, स्पष्ट शब्दो मे बताया है "यद्यपि मनुष्य की उत्पत्ति निस्सन्देह पशु की समानताओ से सम्बन्धित है—उसके प्रारम्भ का कोई खास कारण नही है वह पशुवर्ग के समान ही प्राकृतिक परावृत स्थितियो के प्रभाव मे था तथापि 'प्रारम्भिक मनुष्य' (Primitive man) के बारे मे हम लोगो की जो कुछ धारणायें है वे निरी अटकलबाजिया (Mercy conjectures) है।[२५] कौन जानता है कि कब और कैसे पशु-जीवन मनुष्य-जीवन मे परिवर्तित हुआ क्योकि चिरकालसे मनुष्य ऐसा ही चला आता है?

यदि इन सब बातो को अटकलपच्चू समझकर न त्यागा जाय, और उन्हे प्रमाण सहित वैज्ञानिक खोजो के परिणामस्वरूप जानकर मान लिया जाय, तब भी इस विवरण मे अधूरापन ही है। (१) वह यह नही बताता कि प्रारम्भिक अग्नि सम

---

२२ गीता रहस्य, पृ० १७१

२३ Anarchism or Socialism, p 29

२४ Anarchism or Socialism, p 32-33

२५ "Man is without doubt an animal connected by ties of affinity with other animals He has no privileges of origin

Originally, like all other animals, he was completely under the sway of his natural environment But our ideas of 'Primitive man' are merely conjectures" Materialist Conception of History, p 15–16

चमचमाते हुए 'सूक्ष्म द्रव्य' के पहले क्या था, कैसे था, क्यो था इत्यादि। गरज यह कि उसकी पहुँच इसके आगे नही है। इसलिये यह सादि (स+आदि) का ज्ञान है, अनादि-शक्ति का नही। इससे यह स्वयसिद्ध है कि भौतिकवादियो की इस प्रारम्भिक स्थिति के अतिरिक्त दूसरी अन्य महान् स्थिति होना ही चाहिये। (२) यह केवल वाह्य परिवर्तनो-सजीवता आदि पर विचार करता है—यह नही सोचता कि आखिरकार वह कौन सी शक्ति विद्यमान है, जिसके कारण इन दृश्य पदार्थों मे परिवर्तन हुआ करते है, सजीवता आ जाती है, विकास होता जाता है इत्यादि। गरज यह कि उसमे मूल आन्तरिक धारणा शक्ति के विषय मे कुछ ध्यान नही दिया गया। (३) वह इस अन्तर्निहित आदि शक्ति पर ध्यान न रहने के कारण उसके दिव्यगुणो को भी भूल जाता है, और वाह्य आकारादि की उलझन मे पड यह गलत निष्कर्ष निकालने लगता है कि उन्ही के सघर्ष से नये नये गुण उत्पन्न होते है। चाहिये यह था कि वह यह कहता कि ज्यो ज्यो बाह्यान्तरिक सघर्ष होने से तिमिर के वादल फटते जाते है त्यो त्यो उस शक्ति के दिव्य गुणो का प्रकाश होता जाता है। यही से मार्क्सवाद और गाधीवाद मे भेद उठ खडा होता है। मार्क्सवाद मनुष्य को पशु-कुटुम्ब कहकर उसे अवगुणो का घर मान लेता है और फिर वाह्य सघर्ष के द्वारा गुणोत्पत्ति की वात कहता है, और गाधीवाद मनुष्य को दिव्य गुणमयी मानकर कहता है कि यदि वह अपने विकृत शरीररूपी तम को आन्तरिक अथवा आत्मिक सघर्ष के द्वारा हटा ले तो वह दिव्यशक्ति प्रकाशमान हो सकती है। कदाचित् कोई यह कहे कि दोनो वातो मे कोई भेद नही, केवल कहने का फर्क है—चाहे नाकको हाथसे सीधी तरह पकड लो, या चाहे हाथ को सिर के पीछे से घुमाते हुए लाकर उसे पकड लो, वात तो एक ही हुई। परन्तु ऐसा समझना भूल है। दोनो मे जमीन आसमान जैसा अन्तर है। जो वाद शरीर अथवा व्यक्ति से नैतिकता की उत्पत्ति समझता है वह स्वाभाविकत शरीर ही पर अपना लक्ष्य रखता है, क्योकि उसकी दृष्टि मे शरीर ही सर्व प्रकार से प्रधान है। अत आन्तरिक विचारो के परिणामस्वरूप सदोष शरीर पर ही वह टूट पडता है। फलत उसमे एक दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष, क्रोध, शत्रुता, असहिष्णुता आदि साम्य-बाधक दुर्गुणो का जीवित रहना अवश्यम्भावी है। परन्तु जो वाद शरीर को प्रधान न मानकर उसे केवल सत्‌रूपी ऐक्य को ढाकने वाला विकार रूप जानता है, उसमे एक दूसरे के प्रति प्रेम, शान्ति, सहनशीलता आदि साम्य साधक सद्‌गुणो की वृद्धि के लिये कोई सन्देह नही रहता। भौतिकवादियो के द्वारा कहा गया सौर्यमण्डल का प्राथमिक पिघला हुआ कान्तिमय अति उष्ण सूक्ष्म द्रव्य भारतीय शास्त्रो मे कथित 'हिरण्यगर्भ' से भी निम्न और स्थूल श्रेणी का होता है—वह हिरण्यगर्भ जिसको धारण करने वाला अन्य कोई और होता है—

याने वह स्वतत्र नही। विम्तार-भय मे उसे अव यही छोडकर भौतिकवादियो के आर्थिक विकामवाद की ही ओर हमे मुड आना चाहिये।

(२) आर्थिक (समूह) विकास

गत अध्याय मे हमने समाज विकाम का प्रारम्भिक कारण और आधार प्रेम वताया है। परन्तु भौतिकवादियो के अनुमार ममाज विकाम का प्रारम्भिक कारण और आधार अर्थ या मम्पत्ति है। उनका कथन है कि "एक ममय ऐसा था जव मनुष्य 'प्रिमिटिभ कम्युनिस्ट' (अर्थात् प्रारम्भिक सामूहिकता) के आधार पर रहते थे? उनका जीवन प्रारम्भिक आखेट पर निर्भर रहता था, वे जगलो मे भटकते रहते थे। फिर एक समय ऐमा आया जव 'प्रिमिटिभ कम्यूनिज्म' के स्थान मे 'मेट्रियारचेट' (मात्रीय सघ) उपस्थित हुए—उस समय मनुष्यो ने अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति प्राचीनतम कृषी के द्वारा की। इसके पश्चात् 'मेट्रियारचेट' के वजाय 'पेट्रियारचेट' (पित्रीय मघ) की म्थापना हुई—उम समय मनुष्यो की जीविका पशु-पालन से होने लगी। 'पेट्रियारचेट' के वाद 'गुलाम-मालिकी' की प्रथा आई—इस समय कृषि का कुछ उन्नत रूप हुआ। 'गुलाम-मालकी' की प्रथा के अनन्तर 'मामन्तशाही' और 'सामन्तशाही' के वाद आखिरकार 'वुर्जुआ' प्रथा जा पहुँची।"[२६] इस विवरण मे भी आप को दो वातो की कमी मिलती है। एक तो यह विदित नही होता कि 'प्रिमिटिभ कम्यूनिज्म' के पहले क्या और कैसी स्थिति थी, और दूसरी यह कि उसके प्रारम्भ होने का कारण क्या हुआ। पहली कमी के वारे मे तो यह मान लिया जा सकता है कि विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से केवल सामूहिक आर्थिक जीवन की स्थिति पर ही विचार करना काफी है। यह भी कहा जा सकता है कि अकेले विचर कर शिकार के द्वारा उदर पोषण करने वाली वात किसी से छिपी नही है, और इसलिये उसके छोड देने मे मामूहिक ममाज सम्वन्धी विषय के प्रतिपादन मे किसी प्रकार की क्षति नही पहुँचती है। परन्तु फिर भी यह मानना ही पडेगा कि उसके दिये विना न तो हम मामूहिकता के प्रारम्भ होने का कारण जान सकते और न उसकी स्थिति का आधार ही जान सकते। जव हम यह जान लेते है कि प्रारम्भ मे मनुष्य पशुवत् अकेला विचरकर अपना पेट-पालन शिकार के द्वारा करता था, तव स्वाभाविकत हमारे मन मे उस कारण को ढूंढने की उत्कण्ठा उठ वैठती है जिसने एक से दो और दो से अधिक का समूह वनाया। मार्क्सवादी अर्थवाद की वात लेकर कहेंगे, कि उदर-पोषण वाली कृति ही सामूहिक जीवन का कारणरूप वनी। परन्तु यह तर्क-

---

२६ Anarchism or Socialism, p 30

हीन असम्भव बात है। यदि आपके पास तार्किक और आनुमानिक शक्ति की कमी हो तो आज के पशुओं के ही जीवन को देख लीजिये, क्योंकि पशु ही हमारे पूर्वज कहे जाते है। प्रत्येक पशु अपने उदर-पोषण के हेतु दूसरे की परवाह नही करता। यहा तक कि भूखी होने पर माता भी अपने बच्चे का भोज्य पदार्थ खा जाती है। गरज यह कि उदर-पोषणीय वृत्ति इतनी स्वार्थमय होती है कि पारस्परिक आकर्षण करना तो दूर रहा, वह विरोध और सघर्ष को उत्पन्न करती है। इसलिये जब मनुष्य के पाश-विक आदि-काल का विचार किया जाता है, तब हमे यह निर्णय करना ही पडता है, कि प्रेम-वृत्ति ने ही सघ अथवा सामूहिक जीवन का प्रारम्भ किया—भले ही वह सर्व-प्रथम काम वासना के रूप मे ही प्रकट हुई हो। जिस प्रेम ने अकेले विचरते हुए असम्बद्ध पशुओ के समान जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्यो का, चुम्बक जैसे आकर्षण सूत्र मे बाधना प्रारम्भ किया, वही उन्हें बाधकर रखने की शक्ति रख सकता है। यह प्रेम हृदय की स्वाभाविक आन्तरिक हूक है—आन्तरिक अद्वितीय शक्ति की प्रेरणा है—पेट-पालन या अर्थ-गर्भ से उत्पन्न और परिवर्तन होने वाली नीति नही। नीति के रूप मे वर्तन के लिये उन पर बाह्याकुश की आवश्यकता बनी ही रहेगी, जो राज्य-शून्य साम्य समाज की भावना को निराधार कर देती है।

(३) नैतिक विकास

मनुष्य के मन मे दया, उपकार, प्रेम, सत्य, अहिंसा, अस्तेयादि के विचार या भाव उठा करते है, यह हम सब जानते है। प्रश्न यह है, कि क्या हमारे काम इन विचारो की प्रेरणा से हुआ करते है, या कि हमारे कार्य ही उनका निर्माण करते है। इस प्रश्न के हल करने वाले दार्शनिको के दो दल है। एक का कहना है कि हमारे विचार (Thoughts) या भाव (Ideas) ही हमारे कर्म-चक्र को घुमाया करते है, अथवा यह कहिये कि वही सृष्टि के कर्त्ता-धर्त्ता-हर्ता होते हैं, क्योंकि कर्म अर्थात् कृति (प्रकृति) का नाम ही सृष्टि है। सृष्टि के पूर्वगामी होने के कारण वही असल है और उनसे उत्पन्न होने वाली सृष्टि नकल है। दूसरे दल का कहना है कि यह गलत है। सही बात यह है कि हमारी कृतिया ही—हमारी सृष्टि ही—इन विचारो को गढा करती है। यही कारण है कि समय समय की परिस्थितियों के अनुसार उनमे भी परिवर्तन होता हुआ दिखाई देता है। अत इस दल की दृष्टि मे भौतिकता असल है, और भाव उसकी नकल। इन दो दलो मे से पहले वर्ग को आदर्शवादी कहते है, और दूसरे को भौतिकवादी।

यदि आदर्श ही की बात है, तो सबसे पहले नम्बर के आदर्शवादी वे है, जो ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व की प्रतिष्ठा करते है। परन्तु मार्क्स को उनसे

चिढ है, यह हम देख चुके हैं। वह उन्हे दार्शनिक मानता ही नही, निरे गप्पी समझता है। वह तो उन्ही दार्शनिको की बात सुनने योग्य समझता है, जो उसके समान भौतिक या प्रकृतिवादी तो हैं, परन्तु उनका दृष्टिकोण उससे भिन्न है। इस वर्ग मे हेगिल (Hegel) नाम का एक प्रतिष्ठित दार्शनिक हो गया है, जिसके सिद्धान्तो का यूरोप मे, विशेषकर जर्मनी मे, बहुत दौर-दौरा था। उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त आदर्शवाद (Idealism) कहलाता है, और उसे लोग आदर्शवादी (Idealist) कहते थे। मार्क्स के विद्यार्थी-जीवन के समय हेगिली-दर्शन के अनुयायी दो पक्षों मे विभक्त थे—एक दाये पक्षी (rightists) और दूसरा वामपक्षी (leftists)। वामपक्षियों मे फ्यूरबाक (Feuerbach) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मार्क्स वामपक्षी था, और वह फ्यूरबाक के सिद्धान्तो से सहमत था। फ्यूरबाक ने हेगिलियन आदर्शवाद का कट्टर विरोध कर भौतिकता का सफलतापूर्वक प्रतिपादन किया। फ्यूरबाक के इस कार्य को मार्क्स प्रशंसनीय अवश्य मानता था, परन्तु उसे उसके (फ्यूरबाकके) सिद्धान्तो मे यथार्थ रूप से स्थिरता और व्यापकता (Consistency and Comprehensiveness) की कमी दिखती थी, जो उसे पसन्द नही थी। इसलिये मार्क्स ने अनेक प्राकृतिक एव ऐतिहासिक प्रमाणो की साक्षी के आधार पर अपने मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के साथ साथ हेगिल के आदर्शवाद का खण्डन करते हुए, मानो इस कमी की पूर्ति की।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'केपिटल' के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना मे मार्क्स ने लिखा है कि "हेगिल ने विचार प्रवृत्ति (Process of thinking) ही को 'भाव' (Idea) सज्ञा देकर उसको एक स्वतत्र विषय का रूप दे दिया है, और उसे ही वह असल सृष्टि (real world) का कर्त्ता कहता है। (परन्तु) इसके विपरीत मेरी दृष्टि मे आदर्श या भाव (Ideal) भौतिक सृष्टि के अतिरिक्त कोई और दूसरी वस्तु नही है—वह भौतिक सृष्टि, जो मनुष्य के मन के द्वारा प्रतिबिम्बित होकर विचार-रूपो मे परिवर्तित हो जाती है।"[२७] अर्थात् भौतिक सृष्टि की छाया ही हमारे मन रूपी दर्पण मे दिखाई देती है, और उसी छाया को हम विचार कहते है। इसी बात को फ्रेड्रिक एंगिल्स ने अपने लेख एन्टी-डूरिंग (Anti-Dühring) मे यह कहकर स्पष्ट किया है, कि "अगर यह प्रश्न उठाया जाय कि विचार और चेतना (Consciousness) क्या है, और वे कहा से आ जाते हैं, तो यह स्पष्ट है कि वे मनुष्य के मस्तिष्क (brain) से उत्पन्न होते है, और मनुष्य स्वय प्रकृति से उत्पन्न होता है—वह प्रकृति जो अपनी

---

२७ देखो फुटनोट, ३१

परावृत्त स्थितियो के साथ ही साथ अपने-आप वृद्धि को प्राप्त होती रहती है।[२८] इससे यह स्वयसिद्ध हे कि मस्तिष्क मे पैदा हुए पदार्थ आखिरकार प्रकृति से पैदा हुए पदार्थ होने के कारण समस्त प्रकृति के मानुकूल ही होते है, न कि उसके प्रतिकूल।"[२९] इस तरह मार्क्स और ऐंग्लिस के कथनो के आधार को लेकर लेनिन ने बताया है कि "मार्क्स ने न केवल उस आदर्शवाद ही को, जिसने सदैव रिलीजन (धर्म-मत) के साथ किसी न किसी प्रकार से अपना गठ-बन्धन जोडकर रखा है, निश्चित रूप से तिलाञ्जलि दे डाली थी, वरन् (उसने) ह्यूम और कान्ट के उन सिद्धान्तो का भी उसी तरह त्याग कर दिया था, जो अज्ञातवाद (Agnosticism), गुण-दोष-विवेचना समीक्षा (Criticism), सगुणवाद (Positivism) के नामो से, एव अन्य और रूपो मे उस समय प्रचलित थे, क्योकि वह इस प्रकार के तत्त्व-ज्ञान को अपने सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक और आदर्शवाद का हमराही समझता था।"[३०] उपरोक्त कथनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद और आदर्शवाद मे एक मूल भेद यही है कि एक भौतिक सृष्टि को यथार्थ मानता है, और 'भाव' को उसकी नकल, और दूसरा 'भाव' को असल मानता है और सृष्टि को उसकी नकल। ऐंग्लिस ने स्वय यही कहा है, कि "हेगिल आदर्शवादी था, अर्थात् वह अपने मन मे उठने वाले विचारो को यथार्थ वस्तुओ और उनकी प्रवृतियो की छाया या प्रतिबिम्ब नही मानता था, बल्कि यह कहता था कि सृष्टि के पहले ही कही न कही 'भाव' की स्थिति थी, और उसी से यथार्थ वस्तुओ और उनकी प्रवृत्तियो की उत्पत्ति हुई, जिन्हे वह स्वय छायामात्र ही कहता था।"[३१] अत ऐंग्लिस के शब्दो मे ही मार्क्सवाद का यह निष्कर्ष निकलता है कि "सृष्टि का सच्चा ऐक्य उसके प्रत्यक्ष स्वरूप मे नही रहता वह रहता ह उसकी भौतिकता मे, जो दर्शनशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञान की दीर्घकालीन एव अथक वृद्धि द्वारा सिद्ध किया जा चुका है।"[३२] तात्पर्य यह है कि मार्क्सवाद

---

२८ यही विचार गीता मे 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (अर्थात् गुण गुण मे ही वर्तते रहते हे) कह कर बताया गया है।

२९ देखो फुटनोट, ३१

३०. देखो फुटनोट, ३१

३१. नोट न० २७, २९, ३० और ३१ मे दिये हुए उद्धरण हमने लेनिन द्वारा लिखित 'कार्ल मार्क्स' मे उद्धरित वाक्यो से लिये हैं। उनका क्रम अलबत्तः हमने अपनी इच्छा के अनुसार रखा है।

३२ "The unity of the world does not consist in its being

के अनुसार विश्व-ऐक्य की भावना तभी सिद्ध हो सकती है जब भौतिकता अर्थात् 'होने वाले गुण' का प्रतिपालन किया जाय।

मार्क्सवाद मे 'आदर्श' या 'भाव' का तिरस्कार है, यह सुनकर कुछ लोग उसके प्रति रोष तथा विद्वेष प्रकट करते हुए कहने लगते है, कि वह स्वच्छदता एव चरित्रहीनता के लिये द्वार खोल देता है। परन्तु यह उनकी भूल है। जहाँ तक नैतिकता और चरित्र-गठन का तकाज़ा है, वह उन्हे मुक्त कण्ठ से अपनाता है। वह आत्मोत्थान का परिपालक और परिपोषक है। अगर ऐसा न होता तो विश्व-ऐक्य अथवा राज्य-शून्य साम्य समाज की भावना वह किस बूते पर करता। अन्तर केवल यह है कि वह भौतिक वृद्धि ही को आत्म-वृद्धि मानता है। वह उस आत्म-तत्व को नही मानता, जिसके विषय मे इसी अध्याय मे हम पहले कह चुके हैं, और जो स्थूल सृष्टि की अर्थात् स्थूल शरीर की मानो रूह (essence) है, अथवा जो जीवन का भी आधार-रूप जीवन है। जॉन सोमरविली ने सच कहा है कि "अगर आत्मीयता (Spiritual) सत्ता मे सस्कृति, शिक्षा, कला और विज्ञान-क्षेत्र का मतलब लिया जाय तो, हमारी यह बडी भारी भूल होगी, यदि हम यह कहें कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की नीति उपरोक्त क्षेत्रो के लिये हानिकारक है या कि वह उनका निषेध करती है।"[33] इस प्रकार की आत्मीयता तो मानो उसके जीवन का केन्द्र ही है। मनुष्य को वह मनुष्य मानकर ही काम करता है। वह उसकी प्राकृतिक कमजोरियो को नही भुलाता। परन्तु इसके विपरीत उसके मतानुसार आदर्शवाद मे विशिष्टताओ की बाते भरी रहती है, जैसे मनुष्यातिविशेष (Superhuman), प्रकृति-विशिष्ट (Supernature), और चमत्कार (Mystery) वह कहता है कि व्यावहारिक प्रत्यक्ष क्षेत्र मे सर्व-साधारण की दृष्टि से अतिविशिष्टता का कोई महत्व नही, क्योंकि वह एक प्रकार से अपवाद (exception) रूप ही होता है। इसमे सन्देह नही कि ये अपवाद रूप विशिष्टताओं मे ही बहुधा सर्वसाधारण की दृष्टि मे चमत्कार प्रतीत होने लगती है। मार्क्स समझता था कि यदि वह आदर्शवाद को अपनावेगा तो उसमे स्थित अतिविशिष्टता और चमत्कार के कारण जन-साधारण मे व्यावहारिक कार्यों के लिये उत्साह-हीनता तथा उदासीनता आ जायेगी, जिससे उसके

The real unity of the world consists in its materiality and this is proved by a long and tedious development of philosophy and natural science " Karl Marx, p 17 (quotations)

३३ Soviet, Philosophy, p 98

द्विवर्गीय क्रान्तिमय सघर्ष का गला ही घुट जायेगा। वह समझता था कि आदर्शवाद विज्ञान द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता और वह लोगो को भ्रम मे डाल देने वाली बाते उपस्थित कर देता है। "वह यह नही चाहता था कि लोगो के दिमाग मे किसी ऐसी सर्वशक्तिमान शक्ति का हौआ बैठाला जाय जो उनके अपराधो के लिये दण्ड तथा सुकृत्यो के लिये पुरस्कार देने वाला कहा जाता है।"[३४] उसे यह बात मान्य नही थी कि ईश्वरीय नियम या आज्ञा के नाम पर मनुष्य की कर्म-लीक सर्वत्र और सदा के लिये अटल और अमिट बनाई जावे, और आत्मस्वाधीनता का मार्ग बन्द कर दिया जाय। वह सच्चरित्रता, नैतिकता, अथवा आत्मीयता को अति विशिष्टत्व के चमत्कार मे न डालकर कच्चे धागे मे बाँधकर लटका रखना ही पसन्द करता था। भौतिक परिस्थितियो के तूफान मे उडती हुई अस्थिर-चचल (relative) आत्मीयता पर ही उसका लक्ष्य था, न कि पर्वत जैसी अचल-अडोल (absolute) पर।

परन्तु किसी बात को अनभिज्ञतावश अथवा भ्रम या कठिनता के कारण अव्यावहारिक या चमत्कृत कहकर टाल देना बुद्धिमानी का लक्षण नही। ऐसा करना समाज के लिये अहितकर होता है। भौतिकवादी यह तो मानते ही है कि सृष्टि मे जो कुछ भी होता है—चाहे वह साधारण रूप मे प्रकट हो या चाहे अति-विशिष्ट या चमत्कृत रूप मे, सब भौतिकता का ही परिणामस्वरूप रहता है। तब फिर अतिविशिष्ट या चमत्कार को अवेध्य लक्ष्य कहकर जनसाधारण का ध्यान उसकी ओर से क्यो मोडा जाता है? इस प्रकार की शिक्षा से उत्कृष्ट जीवन के प्रति निरुत्साह और निराशा का मार्ग खुलता है। अनभिज्ञ और अभ्यासहीन ही चमत्कार की बात करते हैं। नट या तमाशगीन का खेल, वैज्ञानिक या रासायनिक का कृत्य, योगी की यौगिक क्रियाये जिस प्रकार मूर्खो को चमत्कार-पूर्ण दिखाई देती हैं, उसी प्रकार अनभ्यस्त होने के कारण अति-विशिष्ट को हम चमत्कार ही समझने लगते हैं। सच पूछा जाय तो भावना यही जागृत करना चाहिये कि सृष्टि मे ऐसा कोई कार्य नही, जो अलभ्य हो, क्योकि सभी मे वही शक्ति या प्रकृति विद्यमान रहती है, जो किसी अन्य अतिविशिष्ट मे विद्यमान है। उसे प्रकट करने के लिये अनुकूल परिस्थितियो को उसी प्रकार जुटाना पडता है, और उनके साथ उसी चातुर्य से वर्तना पडता है जिस प्रकार एक नट, वैज्ञानिक, रासायनिक या योगी करता है। इस भावना के जागृत होने तथा अभ्यास करने पर अति-विशिष्टता और चमत्कार के भाव का गायब हो जाना सहज हो जाता है।

---

३४ Soviet Philosophy के आधार पर।

सर्व-शक्तित्व की भावना आ जाने से आत्मविश्वास, उत्साह, 'आशा, स्वावलम्बन, स्वाधीनता के भाव लहलहा उठते है, और असम्भव शब्द ही शेष नही रहता। जब हम उपरोक्त दृष्टि से सृष्टि का निरीक्षण करते हैं तो मार्क्स का यह कथन गलत हो जाता है कि आदर्शवाद मे वैज्ञानिकता नही, चमत्कार है।

अब हमे यह देखना है कि हेगिल की 'भाव-भूत' वाली बात सही है, या कि मार्क्स की 'भूत-भाव' वाली बात, या कि दोनो सही ह, अथवा दोनो गलत। हमारी सम्मति मे दोनो अपूर्ण ह, इसलिये दोनो गलत। दोनो सही उसी हालत मे माने जा सकते है, जब उनके द्वारा अनुसधान किये हुए अपूर्ण सिद्धान्तो का उन्ही की दृष्टिकोण से निरीक्षण किया जाय।

दोनो का दृष्टिकोण अपूर्ण है, क्योकि उन्होने केवल सगुण रूप पर विचार किया है, निर्गुण को छोड दिया है। वे सृष्टत्व के बहाव मे बह गये है। उन्होने उसके निराकरण या विलीनत्व की ओर लक्ष्य नही दिया। इसके दो कारण ही हमे प्रतीत होते हैं। एक तो पाश्चात्य दर्शन तथा पाश्चात्य धर्म-मत (ईसाई-धर्म) जिनके वातावरण मे दोनो का जन्म, पालन-पोषण-शिक्षण आदि हुए, सगुणोपासक ह, इसलिये उनका प्रभाव दोनो पर पडना अस्वाभाविक नही है। दूसरे, जिस प्रकार चिकित्सक रोग की जाच बहुधा बाह्य रूपो को देखकर और चिकित्सा बाह्य उपचारो के द्वारा किया करता है, उसी प्रकार समाज-सशोधक सामाजिक रोगो के कारण ढूंढने मे और उनके उपचार करने मे बाहरी उपायो का ही अवलम्बन किया करते ह। प्रकृति ही उनके लिये सब कुछ हे। प्रकृति ही रोग की जड, और प्रकृत ही रोग का उपचार। प्रकृति से प्रकृति को ही वे दमन करना चाहते है, क्योकि उससे परे वे कोई दूसरा शस्त्र जानते ही नही। यह एक ऐसी बात हे जैसे कोई कहे कि शस्त्र-युद्ध से शस्त्र-युद्ध दबा देने से ही शान्ति स्थापना हो जाती है। कारण कुछ भी हो, दोनो केवल सगुणोपासक थे, इसमे सन्देह नही। इस सगुण-उपासना मे भी मार्क्स हेगिल से एक कदम और पीछे हट गया। उसने केवल व्यक्त सगुण पर ध्यान रखा है और हेगिल ने अव्यक्त सगुण पर।

'भाव' और 'आदर्श' शब्दो की व्याख्या करके देखने पर भी यही निर्णय होता है, कि उनके पूर्व कोई न कोई दूसरी स्थिति अवश्य है। 'भाव' भू (भव) धातु का रूपान्तर है जिसका अर्थ होता है 'होना' जैसा हम पहले भी कह आये हैं। 'होना' तभी सम्भव हो सकता है, जब उसके पूर्व कोई ऐसी स्थिति विशेष रही हो जिससे वह 'होना' हुआ हो। "नासतोविद्यते भावो नाभावो विद्यते सत"

अर्थात् असत् का कही भाव नही होता और सत् का कही अभाव नही होता है।"[३५] इसलिये यह कह सकते है कि 'भाव' के पूर्व की स्थिति को 'सत्' कहते हैं। परन्तु यह भी कहा है कि गुण के अतिरिक्त और दूसरा कोई पदार्थ नही, जिससे 'करने या होने' का व्यापार हो सकता हो—"नान्य गुणेभ्यश्च कर्त्तारं"।[३६] इससे सिद्ध होता है कि 'भाव' के पूर्व 'गुणमय सत्' होना चाहिये। इसी तरह 'आदर्श' शब्द दृश् (देखना) धातु का रूपान्तर है। अत 'आदर्श' उस पदार्थ या स्थिति-विशेष को कहते है, जिसमे किसी दूसरे पदार्थ या स्थिति का दर्शन हो सके। इस मूलार्थ के कारण ही भाषा कोषादि मे 'आदर्श' का अर्थ 'दर्पण' लिखा मिलता है। इसलिये 'आदर्श' और 'दर्पण' पर्यायवाची' है। वे इस प्रकार के साधन-मात्र है जिनमे बिम्ब का प्रतिबिम्बन, मूर्ति की छाया, या असल की नकल दिखाई देती है। स्थूल-बिम्ब को प्रतिबिम्बित करने वाला साधन स्थूल ही होता है, और सूक्ष्म को प्रति-बिम्बित करने वाला सूक्ष्म। अत पचमहाभूतादि तथा अन्त करणीय चतुष्टयादि से भी परे अदृश्य सद् के प्रतिबिम्ब को दिखाने वाला आदर्श भी अत्यन्त सूक्ष्म होना आवश्यक है। जिस प्रकार दर्पण के कुढगे अथवा मैले-कुचैले होने मे बिम्ब का प्रतिबिम्ब बिगडा हुआ दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार आदर्श के कुढगे आदि के होने से सत् का प्रतिबिम्ब बिगडा हुआ दिखाई देता है। सत् की हूबहू नकल उतर आने के लिये आदर्श अत्यन्त निर्मल होना चाहिये। सुनने मे यह बात कुछ बेढगी सी मालूम पडती है, क्योकि लोग आदर्श को ही असल मानते है। परन्तु यह भूल है। सच बात यही है कि हमारे विचार या भाव छाया-मात्र या प्रति-बिम्ब रूप है, जो आदर्श-साधन मे व्यक्त हुए दिखाई देते हैं। मार्क्सवाद भी उन्हे प्रतिबिम्ब रूप मानता है जैसा हम ऊपर देख चुके है। भेद केवल इतना है कि मार्क्सवाद के अनुसार वे भौतिकता के प्रतिबिम्ब है, और आत्मवाद या सत्वाद के अनुसार वे सत् के प्रतिबिम्ब होते है।

यदि तर्क और प्रमाण से सन्तोष न हो तो अब अनुभूति की दृष्टि से ही देखिये। भारतीय दर्शन मे अनुभूति के आधार पर तीन अवस्थाओ का वर्णन किया गया है, यथा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्त। मनुष्य ने सृष्टि का अनुसन्धान बाधा, और उसे अपने अनुरूप ही पाया। हम सबको जाग्रत् और स्वप्न अवस्था का भली भाँति अनुभव है। सुषुप्तावस्था का अनुभव विरलो को होता है। फिर भी क्षणिक काल के लिये उसकी भी अनुभूति अनेको को अज्ञात रूप मे हो जाया ही

३५ गीता, २।१६

३६. गीता, १४।१९

करती है। विचार कीजिये मनुष्य प्रवृत्तियों अर्थात् स्थूल कर्मेन्द्रियो, सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियो, मनादि आन्तरिक चतुरिन्द्रियो का एक कलागृह है। जब ये सभी इन्द्रिया कार्य करती रहती है तब जाग्रतावस्था कहलाती है, क्योकि वे सब जगी हुई रहती हैं। रात्रि अथवा सोने के समय कर्मेन्द्रिया और ज्ञानेन्द्रिया विश्राम करने लगती है, केवल उनमे अधीष्ठित इन्द्रिय, मन जागता रहता है। इसलिये हमारे सो जाने के समय भी जिसे हम निद्रा कहते हैं, हमारा मन इधर-उधर दौडता हुआ हमे स्वप्न दिखाया करता है। यही हमारी स्वप्नावस्था है। इस स्वप्नावस्था के लिये यह आवश्यक नही है कि हम सचमुच ही निद्रा मे हो। जागते हुए दिखाई देने के समय भी जब शिथिलता या आलस्य वश मनादि चतुष्टय को छोड समस्त इन्द्रिया निष्क्रिय हो जाती है तब उस स्थिति को निन्द्रा न कह कर तन्द्रा कहते हैं। इनके अतिरिक्त स्वप्नावस्था की एक और स्थिति है जिसे मुद्रा कहते हैं। मुद्रावस्था मे जाग्रत् रहने पर भी मनन, अध्ययन, ध्यानादि के समय समस्त इन्द्रिया सोई हुई रहती है, केवल मन, बुद्धि आदि अन्त करण का व्यापार चलता रहता है। इस त्रिविध स्वप्नावस्था के अतिरिक्त एक सुषुप्तावस्था और है, जिसके समय समस्त इन्द्रियों के साथ साथ मन, बुद्धि, चित्त, अहकार चारो अन्त करणीय व्यापार भी सो जाते है, अथवा स्थिर हो जाते है। गरज यह कि उस समय कोई विकल्प नही, कोई विचार-भाव नही, पूर्ण शान्ति रहती है। इस पूर्ण शान्ति के समय कुछ प्रतीति नही होती। शून्यावस्था सी आ जाती है, उसमे केवल चेतना बनी रहती है। इस अवस्था का अनुभव कभी कभी क्षण या क्षणाश के लिये हममे से प्राय सभी को हो जाया करता है, परन्तु उस ओर हमारा ध्यान जा नही पाता, वह बहुधा चुपके से पार हो जाता है। मनुष्य ने अपने अनुरूप ही सृष्टि का अनुसन्धान बाधा है। और यह है भी ठीक, क्योकि वह सृष्टि का एक अश मात्र उसी प्रकार है जैसे जल-पुज का एक जल-कण या अग्नि-पुञ्ज की एक चिनगारी। इस अनुसन्धान के द्वारा सृष्टि की अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था का ज्ञान होता है। अब विचारिये कि प्रारम्भ मे सब कुछ सुषुप्त अवस्था मे था—केवल चेतना अपने चिरस्थायी सत् के साथ लिपटी हुई झिलमिला रही थी।

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्'[३७] अर्थात् सत् का मुख चमचमाते सुवर्ण रग जैसे पात्र से ढका हुआ था। इस गभीर, अचल, पूर्णशान्ति रूप सत् को विचलित करने वाली सबसे प्रथम लहर जो उठती है, वह है, अपने अस्तित्व की, उसी प्रकार की भावना जिसकी अनुभूति गाढ निद्रा मे सोने वाले व्यक्ति

---

३७ ईशा० उ०, म० १५

को करवट आदि बदलते समय हुआ करती है। उस समय 'मैं हूँ' (अहमस्मि), 'मैं ही ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) यह भाव जागृत होता है। इसलिये सत् अथवा ब्रह्म स्थिति का भंग करने वाला प्रथम विकार 'अहंकार' अर्थात् 'मैं पन' होता है। इस 'अहं' के बाद ही 'इच्छा' उठा करती है, जिसे ईश्वरीय भाषा में ईक्षण (Consideration etc) कहते हैं। मैं यह करूँगा, मैं वह करूँगा, यह भाव तभी उठ सकता है, जब 'मैं हूँ' का भाव आ जाता है। "बहुस्याम' (मैं अनेक होऊँ) यह भाव 'ईक्षण' के उठने के बाद ही उपस्थित हो सकता है। इसलिये इच्छा या ईक्षण दूसरा तत्त्व हुआ। अब यदि यह मान लिया जाय कि मार्क्स का विचार (Thought) हेगिल का भाव (Idea) और भारतीय दर्शन की इच्छा (Consideration, Thinking etc) पर्यायवाची है, तो भी यह स्पष्ट हो जाता है कि हेगिल और मार्क्स दोनों ने ब्राह्मी स्थिति और अहंकार तत्त्व पर ध्यान न देने के कारण अपनी दार्शनिकता अपूर्ण रखी है, परन्तु हमारी समझ में विचार, भाव और ईक्षण में समानता नहीं है।

इच्छा का साधारण अर्थ 'चाह' (desire) होता है। परन्तु उपर्युक्त शास्त्रीय 'इच्छा' शब्द का प्रयोजन बुद्धि, निश्चय, निश्चयात्मक बुद्धि, संकल्प (decisiveness or decision) आदि से है, जैसा कि तिलक ने कहा है "कोई काम करने के पहले मनुष्य उसे अपनी बुद्धि में निश्चित कर लेता है, अथवा पहले काम करने की बुद्धि या इच्छा उसमें हुआ करती है। इसी न्याय के अनुसार अव्यक्त प्रकृति भी अपनी साम्यावस्था को भंग करके व्यक्त सृष्टि के निर्माण करने का निश्चय पहले कर लिया करती है।"[३८] भारतीय दर्शन का यह 'ईक्षण' जिसे निश्चयात्मक बुद्धि अथवा गीता के शब्दों में, 'व्यवसायात्मिका बुद्धि'[३९] कहते हैं, शुद्ध सत् का शुद्ध प्रतिबिम्ब होता है। इसके उठने पर ही 'बहुस्याम' की सृष्टि की रचना होती है। जब तक केवल 'अहं' रहता है तब तक रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। केवल 'अहं' कर्ता नहीं होता।[४०] अब इधर देखिये, हेगिल अपने 'भाव' को सृष्टि का रचयिता (demiurgus=The Creator or Maker) कहता है। इसलिये हेगिल का 'भाव' तो भारतीय दर्शन के 'ईक्षण' या 'शुद्ध-बुद्धि' का प्रतीक माना जा सकता है, परन्तु मार्क्स के 'विचार' (thought)

---

३८ गीता रहस्य, पृष्ठ १७२-१७३ (निम्नांकित रेखा मेरी है)

३९. गीता, २।४१

४०. "अहंकारः कर्ता न पुरुष" (सांख्य अ० ६, सू० ५४)
इसी तरह "अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते" (गीता ३।२७)

की ममता उससे कदापि नही की जा सकती, क्योंकि मार्क्स का 'विचार' मानसिक या मन का व्यापार है, न कि बुद्धि अथवा निश्चयात्मक बुद्धिका। मन चचलता का द्योतक है, और बुद्धि स्थिरता की। मार्क्स का तर्क भी यही है कि 'विचार' भौतिकता का प्रतिबिम्ब होता है। चूकि भौतिकता परिवर्तनशील चचल होती है, इसलिये उसकी छाया भी चचल होनी चाहिये। इसके विपरीत निश्चयात्मक बुद्धि शुद्ध, स्थिर, चचल रहती है, इसलिये उसके द्वारा प्रतिबिम्बित दृश्य भी अचचल रहता है।

यो तो उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि 'ईक्षण' भाव ही सृष्टि का कर्ता होता है, तथापि भारतीय दर्शन ने 'कर्ता' का आरोप 'अहकार' पर ही करना उचित समझा है,[४१] क्योंकि मूल मे उसी के जागृत होने पर ही तो साम्यावस्था-वाली सजीव अव्यक्त प्रकृति व्यक्त हो उठती है। ज्योंही 'अह' का भाव उठा कि इक्षण कर्ता, और कर्म का बखेडा उठा, और दु ख मूल अशान्ति की ज्वाला प्रज्वलित हुई। इसलिये तीन मतो मे विभाजित जनता के लिये भारतीय दर्शन ने शान्ति-सुख-प्राप्ति के हेतु तीन मार्ग निर्धारित किये। ज्ञान-मार्गियो के लिये तात्त्विक रचना का ज्ञान कराकर यह बताया कि स्थूल से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'अहकार' तत्त्व तक को भुला देने अथवा पार कर लेने पर कर्म-दोष नही लगता और शान्ति मिलती है।[४२] भक्त-गणो अर्थात् ईश्वरवादियो के लिये आश्रय अथवा समर्पण-सिद्धान्त का महत्त्व दिखाया, जिसके प्रतिपालन से भी शान्ति मिलती है।[४३] इसके अतिरिक्त कर्म-मार्गियो के लिये कर्म करते हुए भी कर्म-सग एव कर्म-फल को त्याग कर देने वाले 'अनासक्तियोग' का पाठ पढाया।[४४] इन तीन मार्गो मे से किसी एक को ही अपनाने से मनुष्य कर्म-दोष से मुक्त हो जाता है। कर्म-दोष और कर्म-मुक्त होने वाली बात सुनकर मार्क्सवादी, बहुत सम्भव है, हम पर कुपित हो उठेंगे, और लाल-पीली आखे निकालकर कहने लगेगे कि इन्ही बातो से मार्क्सवाद को घृणा है। यही सब अकर्मण्यता और गपोडबाजी के लक्षण हैं। मार्क्सवाद व्यावहारिक है, यह अव्यावहारिक, मार्क्सवाद मे कर्म-प्रियता है, इसमे कर्म-दोष, मार्क्सवाद कर्ममुक्त की बात नही करता कर्ममुक्त

---

४१. देखो और विचारो (गीता १८।१७)

४२ गीता, १८।१७

४३ देखो गीता, अ० १२ (भक्ति-योग)

४४ गीता, ४।२३ (यो तो सारी गीता मे 'अनासक्ति' की शिक्षा भरी पडी है। कर्मयोग सम्बन्धी जितने अध्याय हैं, उन्हे पढिये।)

की बात करता है। जो लोग ऐसा समझते है कि भारतीय दर्शन अव्यावहारिकता अथवा अकर्मण्यता का पाठ पढाता है, वे उससे अनभिज्ञ पुरुष ही होते हैं। भारतीय दर्शन की खूबी यही है कि वह इस बात को भली-भाति जानता है, और कहता भी है, कि जब तक शरीर है, तब तक कर्म करने ही पडते है, करने की इच्छा हो या न हो। इसीलिये कर्म तो हर मनुष्य को करना ही चाहिये और कर्म करते हुए कम से कम सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतम् समा "[४५] अर्थात् कर्मों को करते हुए सौ वर्षो तक जीने की इच्छा करो, क्योकि "एव त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्मलिप्यते नरे"[४५] अर्थात् इस प्रकार किये विना दूसरा कोई मार्ग इस ससार मे है ही नही, क्योकि मनुष्य-मात्र कर्म से लिप्त हुआ है। जब कर्म करना ही पडता है और स्वार्थादि और काम-क्रोधादि उसके पिछलगुआ उसे दोषी बनाकर हमे दुखी करने अथवा हमारी शान्ति-सुख भग करने मे सिर-पैर-तोड कसर नही रखते, तब भारतीय दर्शन को इस बात की फिकर पडती है कि इन वैरियो से किस प्रकार पिण्ड छुडावे।[४६] इन शत्रुओ को पराजित कर अपने वश मे करने के लिये भारतीय दर्शन ने सभी मत के सभी लोगो को विविध प्रकार के साधनो का निर्माण किया, जिन सब का सार यह है कि कर्म मे नैष्कर्म की बुद्धि जाग्रत की। जिसका साधारण शब्दो मे यही अर्थ होता है कि स्वार्थ को परार्थ मे विलीन कर दो, अर्थात् अहकार (मैंपन) को भूलकर कर्म-साधना की जाय। तब फिर मार्क्सवादी यह कहेगे कि इस प्रकार के दार्शनिक लम्बे दास्तानो से क्या मतलब ? हम भी तो यही कहते है कि स्वार्थ को त्याग कर साम्य समाज की स्थापना की जाय। इसका एक उत्तर सहज है। सभी यह जानते है कि मार्क्सवाद की मूल भित्ति है, भौतिक सुख अर्थात् 'ऐश-आराम' जो विना अर्थोत्पत्ति के असम्भव है। इसलिये उसमे लालसा और तृष्णा ओत-प्रोत है, भले ही वह समाज के नाम से हो। लालसा और तृष्णा सदा स्वार्थ या काम को भडकाने वाली और परिणामत दु खप्रद होती हैं। यह भी किसी से छिपी हुई बात नही है कि मार्क्सवाद समाज को दो विरोधी वर्गों मे विभक्त कर क्रोध को भडकाता है। क्रोध स्वार्थ से ही भडकता है, भले ही वह स्वार्थ व्यक्तिगत न हो, वर्गगत हो या समाजगत। जहाँ एक से दो का भाव हुआ, वहाँ स्वार्थ और क्रोध पीछा नही छोडते। इसीलिये भारतीय दर्शन ने सारे समाज को, सारे विश्व को एक ही माना है, और बताया है कि जब मनुष्य अपनी

---

४५ ईशा० उ०, म० २

४६. गीता, ३।३७

आत्मा मे सम्पूर्ण प्राणियो को और सम्पूर्ण प्राणियो मे अपनी आत्मा को देखता है, तब फिर भला उसके अंतस् मे क्या द्वेष, शोक या मोह रह सकते है?[४७]

मार्क्सवादियो की उक्त शका का समाधान करने वाला दूसरा उत्तर पहले से कुछ अधिक गभीर और सैद्धान्तिक है। मार्क्सवाद प्रकृतिवाद है। उसकी समझ मे यह आया कि प्रकृति कभी स्थिर नही होती। यदि स्थिर हो जाय तो वह कृतिहीन रहे। यह हम मानते है, जैसा कि पहले कह आये हैं, कि कृति का अर्थ या व्यापार निष्कृति नही हो सकता, परन्तु व्यवहार मे हम यह भी देखते हैं कि प्रकृति के अग स्थिर किये जाते हैं, वश मे किये जाते है, नियत्रित या सयमित किये जाते है। गरज यह कि हमारी इच्छा, शक्ति और अभ्यास के अनुसार हममे प्रकृति को अपने आधीन कर लेने की क्षमता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकृति से भी अधिक शक्तिवान हम है। यह 'हम' क्या है? कोई इसे आत्मा कहते है। कोई जीव या जीवात्मा, कोई पुरुष ही कहते हैं। कोई व्यक्तित्व की दृष्टि से एक नाम देता है तो कोई विराट् या विश्व की दृष्टि से उसको दूसरे नाम मे कहने लगता है। परन्तु सब का साराश यही है कि प्रकृति स्वतत्र नहीं, पराधीन है। इसलिये प्रकृति और पुरुष का सयोग भारतीय दर्शन ने जोडा है। पुरुष स्वतत्र है, प्रकृति उसके अधीन, पुरुष स्वामी है, प्रकृति उसकी सेविका। हेगिल और मार्क्स ने प्रकृति को तो पकडा, पुरुष को छोड दिया, प्रकृति पर ध्यान रखा, निष्कृति को भुला दिया। इसलिये उनका दर्शन अपूर्ण है। अधूरा रह जाने के कारण कर्म-दोषो से विमुक्त करने का उसके पास कोई साधन नही रहा।

सम्भव है यह कहा जाय कि व्यावहारिकता की दृष्टि से न तो हेगिल को और न मार्क्स को इस बात की जरूरत थी कि वे प्रकृति या सगुण के अतिरिक्त नकारात्मक निर्गुण निष्कृति आदि की व्याख्या करते हुए बैठे रहते। यदि यह मान भी लिया जाय कि उन्होंने अपनी अपनी दृष्टि से जो कुछ जैसा देखा, वह सही है, तब भी हमारी अल्पमति के अनुसार वह अव्यावहारिक ही है, क्योंकि वह अपूर्ण है। जब हम प्रकृति की दुहाई देते हैं और उसके अनुगामी बनने का दावा करते हैं, तो हमारा यह भी कर्तव्य हो जाता है कि हम उसमे अधिष्ठित उस शक्ति को भी भूल जाय, जो अपने बल के आधार पर जी चाहे तब उसे अपने आप मे समा लेती या लय कर लेती है और जी चाहे तब उसे फिर चलितावस्था मे ले आती है। प्रकृति यथार्थ मे पूर्ण का अर्द्धांग है, उसका दूसरा अर्द्धांग 'पुरुष'

---

४७ ईशा० उ०, म०, ६-७.

नाम की वही पूर्वोक्त शक्ति है। इसी विचार के आधार पर हिन्दू-सस्कृति मे पति-पत्नी को अर्द्धांग और अर्द्धांगिनी कहा है। एक वस्तु के केवल एक अग या पट को लेकर उसी को सर्वस्व मानकर काम किया जाय और दूसरे की ओर से आख मीच ली जाय—इसमे भला कौन मूर्ख व्यावहारिकता का लक्षण मानेगा।

शब्दार्थ की दृष्टि से भी 'व्यवहार' पूर्णता का द्योतक है, अपूर्णता का नही। 'अवहार' शब्द मे 'वि' उपसर्ग के जोडने से 'व्यवहार' बनता हे। 'पूर्णता' अथवा 'असकीर्णता' का अर्थ-प्रदर्शन करने के लिये ही 'वि' उपसर्ग का प्रयोग किया जाता है, जैसे विराट्, व्यवस्था, व्यवसाय आदि।[४८] 'व्यवहार का पर्यायवाची शब्द 'व्यवसाय' है। भाषा कोश को उठाइये और देखिये दोनो के अर्थ 'कार्य' (action) और 'रोजगार-धन्धा' (business) लिखा मिलता हे। रोजगार-धन्धा आदि सभी 'कार्य' अथवा 'कर्म' शब्द के अन्तर्गत आ जाते है। मार्क्सवादी ही को क्या, किसी भी वादी को, यह तो मानना पडेगा कि बुद्धि के बिना कोई कर्म सिद्ध नही हो सकता अर्थात् व्यवहार मे भी बुद्धि की आवश्यकता होती है। अत यह स्वय-सिद्ध हे कि जो कर्म, व्यवहार, या व्यवसाय बुद्धि के बिना किया जाता है वह निकृष्ट होता है।[४९] गरज यह कि पहले बुद्धि हो और फिर वह शुद्ध हो, तब कही व्यवहार-कुशलता (कर्मसु कौशलम्) आ सकती है। बुद्धि की शुद्धता अथवा निर्मलता उसे स्थिर किये बिना प्राप्त नही हो सकती। इस स्थिरता और निर्मलता को प्राप्त करने के लिये गीता मे, जो समस्त भारतीय दर्शन का निचोड रूप है, जिस उत्तम रीति से जोर दिया गया हे, वह कदाचित् ही अन्य दर्शन-शास्त्रो मे पाया जाता है। व्यवहार-कौशल्य अथवा व्यवसाय-कौशल्य के लिये जिस प्रकार की निर्मलता पूर्ण स्थिर बुद्धि की आवश्यकता होती है, उसे गीता मे 'व्यावसायात्मिका बुद्धि' ही कहा हे। यद्यपि गीता के टीकाकार उसका अर्थ 'निश्चयात्मक बुद्धि' करते है, तथापि हमारी समझ मे उसका सीधा-सादा अर्थ होता है, वह बुद्धि जो व्यवसाय को सिद्ध करने वाली हो। यह बुद्धि न तो बहु-शाखा वाली होनी चाहिये और न द्विशाखा वाली ही हो। वह एकस्थ होनी चाहिये।[५०] गीता का कथन है कि यदि भोग और ऐश्वर्य मे बुद्धि आसक्त और प्रसक्त बनी रही अर्थात् उनमे लौ लगी रही, तो समाधि भी बेकाम हो जाती है, क्योंकि लौ लगी रहने के कारण

---

४८ 'वि' उपसर्ग का प्रयोग कभी-कभी हीनता-सूचक अर्थ बताने के लिये भी किया जाता है, जैसे 'विराग' अर्थात् राग-हीन।

४९ "दूरेण ह्यवर कर्म बुद्धियोगाद्धनजय' (गीता, २।४९)

५० गीता, २।४१

मन की एकाग्रता नहीं टिक सकती। जो भोगैश्वर्य मे विलसित (आसक्त) रहते हैं और उन्ही के लिये तृषित (प्रसक्त) रहते हैं, उनकी चेतना अथवा बुद्धि मारी जाती है, इसलिये वे व्यवसायी अथवा व्यवहारी नही बन सकते, यह गीता का सिद्धान्त है, भारतीय दर्शन का मूल है।[५१] परन्तु मार्क्सवाद तथा अन्य सभी प्रकृतिवाद सासारिक भोग-ऐश्वय के लिये अपना सिर पीटा करते है। तब फिर वे कैसे व्यवहारी (Practical) व्यवसायी अथवा कर्म-प्रवीण कहे जा सकते हैं? वे अपूर्णागी अथवा अधूरे रहकर विषय का चिन्तन करने से क्रमश विषय-सग, काम, क्रोध, मोह विस्मृति के दलदल मे फँसते हुए अन्त मे बुद्धि के नाश को प्राप्त हो जाते हैं, जिनके नाश होने से सर्वस्व नष्ट हो जाता है। (बुद्धिनाशात्प्रण-श्यति)।[५२] बुद्धि-नाश से बचने का एक-मात्र उपाय गीता ने यह निकाला है कि हर कर्म को करते समय कर्ता की दृष्टि सदा परम भावना (परमात्मा) पर गड़ी रहे, ताकि विषय-रसी मन डावाडोल न होने पावे (रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते)[५३] इससे सिद्ध होता है कि भारतीय दर्शन मे एक विशिष्ट व्यावहारिक जीवन का प्रतिपादन किया गया है जो अन्यत्र नहीं मिलता, या जो कम से कम मार्क्सवादी व्यावहारिक जीवन से अवश्य भिन्न है।

गाधीवाद में जीवन-पूर्णता का सिद्धान्त

धर्म—ईश्वर—और आत्मा का ऐक्य

पूर्ण का सिद्धान्त ही, जो भारतीय दर्शन मे वैदिककाल से विद्यमान है, गाधी-जीवन एव गाधी-मन का आधार है।[५४] श्री एस राधाकृष्णन् ने यह जिक्र

---

५१ गीता, २।४४.

५२ गीता, २।६२-६३ (नोट—पाठक गीता के अ० २।४४ मे 'प्रसक्त', और अ० २।६३ मे 'प्रणश्यति' शब्दो मे 'प्र' उपसर्ग की महत्ता पर ध्यान रख कर पढें, जिसके द्वारा भावी क्रम का ज्ञान कराया गया है। इसी से 'प्रसक्त' का अर्थ 'तृषित', और 'प्रणश्यति' का अर्थ 'सर्वनाश' उपयुक्त होता है।

५३ गीता, २।५९

५४ "ओम् पूर्णमिद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"
साराश यह है कि पूर्ण पहले, पूर्ण अभी और पूर्ण ही अन्त मे रह जाता है।

करते हुए कि राजनीति मे भाग लेने वाले प्राय सभी लोग धर्म (religion) से मुग्ह मोटे रहते है, कहा है कि "गाधी के लिये तो समस्त जीवन एक ही है" (for Gandhi, all life is of one piece)[55] व्यष्टि और समष्टि दोनो दृष्टि से गाधीजी जीवन को अखण्ड मानते थे। उनका कहना है कि "सर्वत्र व्याप्त विश्वव्यित सत्यात्मा अथवा सत्यनारायण का साक्षात्कार करने के हेतु मनुष्य मे सृष्टि के अल्पातिअल्प प्राणिमात्र के प्रति अपने ही समान प्रेम करने की क्षमता होनी चाहिये। और ऐसा मनुष्य, जो इसका लालायित हो, जीवन के किसी भी क्षेत्र मे अपने-आप को वचित नही रख सकता। यही कारण है कि सत्योपासना ने मुझे राजनैतिक क्षेत्र मे घसीट लिया है, और मैं विना किसी सकोच के पूर्ण नम्रतापूर्वक यह कहने को तैयार हूं कि जो यह कहते है कि धर्म (religion) का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही, वे यह जानते ही नही कि धर्म क्या चीज है। मुझे पृथ्वी के नाशवान् राज्य की कोई लालसा नही, मैं तो स्वर्गीय राज्य के लिये प्रयत्न कर रहा हूं, और वह स्वर्गीय राज्य है, आत्म-मुक्ति। इस आत्म-मुक्ति की प्राप्ति के हेतु मेरे लिये एक-मात्र मार्ग यह खुला है कि मैं अपने देश की तथा जन-समाज की अटूट सेवा करता जाऊँ। मैं प्रत्येक वस्तु से, जो जीवित है अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर एकमय बनना चाहता हूं। गीता के शब्दो मे मैं मित्र और शत्रु दोनो के साथ शान्तिपूर्वक रहना चाहता हूं। इसलिये मेरी देश-भक्ति मेरे लिये मेरी उस यात्रा की एक मजिल है, जो मैं उस स्थान के लिये कर रहा हूं, जहां शाश्वत मुक्ति और शान्ति मिलती है। इससे स्पष्ट है कि धर्म के विना मेरे लिये राजनीति कोई चीज नही। राजनीति धर्म के अधीन है। धर्म-विहीन राजनीति मृत्यु-फांस के समान है, क्योकि वह आत्मा का घात कर डालती है।"[56] एक बार डाक्टर अरण्डेल को गाधीजी ने लिखा कि "मेरा झुकाव राजनैतिक नही है, बल्कि धार्मिक है"।[57] और एक बार पोलक से कहा कि "मुझे बहुत से ऐसे धार्मिक (religious) पुरुषो से भेट हुई है जो छिपे हुए राजनैतिक हैं। परन्तु मैं स्वय यद्यपि राजनीति का चोगा पहने हुए हूं, हृदय मे धार्मिक हूं"।[58] इस प्रकार के गाधीजी के अनेक कथनो मे से दो-एक के आधार पर ही

---

५५ महात्मा गान्धी (राधाकृष्णन्), पृष्ठ १४.

५६ Mahatma Gandhi His Own Story (C. F. Andrews) pp 353-4, 357 जिसका उद्धरण राधाकृष्णन् ने 'महात्मा गाधी' के पृष्ठ १४ पर किया है।

५७ Political Philosophy के पृष्ठ ४१ पर उद्धृत

यह निश्चय हो जाता है कि गांधीजी धर्म को ही सर्वोपरि मानते थे। धर्म ही उनके जीवन का तथा उनके वाद का प्राण है। जिस व्यक्ति मे धर्म नही, जिस समाज मे धर्म नही, जिस शासन मे धर्म नही, वह उनकी दृष्टि मे मरे हुए के समान है। उन्होने अपना जीवन धर्म पर आधारित कर रखा था। वे कहते है कि "जब से मैं सार्वजनिक जीवन को जानता हूँ तब से प्रत्येक शब्द जो मैंने प्रयुक्त किया है और प्रत्येक कार्य जो मैंने किया है उसके मूल मे धार्मिक चैतन्य और नितान्त धार्मिक ध्येय ही रहा है।"[५८] तब फिर प्रश्न यह उठता है कि उनकी धर्म-व्याख्या क्या है? वे किसे धर्म कहते थे? यह भी उन्ही के कथनो मे ढूढना चाहिये। उनकी दृष्टि मे उसी शक्ति का नाम धर्म है "जो मनुष्य की प्रकृति का परिवर्तन करती है, जो अन्तर्स्थित सत्य से सम्बन्ध जोडती है और जो सदैव शोधन किया करती है।"[५९] उनका कहना है कि "विश्व की नियन्त्रित नैतिक व्यवस्था मे श्रद्धा रखना ही धर्म है।"[६०] इससे यह सिद्ध होता है कि वे उस शक्ति को ही धर्म मानते हैं, जो धारण करने वाली हो अर्थात् जिस पर कार्यरूप सारी सृष्टि आधारित हो जैसा कि हम 'धर्म' शब्द की व्याख्या करते समय कह आये है। इसीलिये विश्व की धर्म-रूप-धारण शक्ति को आदर्श मान उन्होने यह निर्णय किया है कि "हमारे सासारिक कर्मो पर धर्म का आधिपत्य रहे"[६१] अर्थात् धर्म ही उनका आधारभूत हो। नित्यप्रति के कर्मो मे जिसका अनुपालन न किया जा सके, वह गाधीजी के कथनानुसार धर्म कहा ही नही जा सकता"[६२]। अत गाधी के धर्म मे व्यावहारिकता है।

विश्व की नियन्त्रित नैतिक व्यवस्था अथवा धारणा ही सत् कहलाती है। स्वामित्व की अथवा राज्यत्व की भावना-दृष्टि के कारण इसी को ईशा-शक्ति कहते हैं, जिसका उल्लेख ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मत्र मे मिलता है।[६३] इसी सर्वव्याप्त ईशा-शक्ति को सर्व-शक्तिमान होने के कारण ईश्वर या परमेश्वर कहा जाता है। गाधीजी का भी यही कहना है "मैं सत् (सत्य) को ही परमेश्वर मानता आया

---

५८ Young India III p 350

५९ Speeches p 807

६० हरिजन सन् १९४०, पृष्ठ ४४५ (पो० फि०, पृष्ठ ४२ पर उद्धृत)

६१ The Gita according to Gandhi, pp 128-129 (पो० फि० पृष्ठ १३-१४ पर उद्धृत)

६२ देखो फुटनोट ६१

६३ "ओ ईशावास्यमिद सर्वं यत्किच जगत्या जगत्" अर्थात् इस जगत् में जो कुछ जगत् रूप है उस सब मे यह ईशा शक्ति व्याप्त है।

हूँ। सत्यमय बनने के लिये अहिंसा ही एक राजमार्ग है। • मेरी अहिंसा सच्ची होते हुए भी कच्ची है, अपूर्ण है। इसीलिये मेरी सत्य की झाकी उस सत्य रूपी सूर्य के तेज की एक किरण-मात्र के दर्शन के समान है, जिसके तेज का माप हजारों साधारण सूर्यों को इकट्ठा करने पर भी नही मिल सकता।"[६४] गीता मे भी यही बात कही गई है कि यदि आकाश मे सहस्रो सूर्य भी एक साथ प्रकाशित हो उठे, तो भी इस सत् रूपी परमात्मा के तेजोमय प्रकाश को नही पा सकते।[६५]

साधारणतया जब किसी वस्तु के सार का वर्णन किया जाता है, तब उसे संस्कृत-हिन्दी मे 'सत्', फारसी-उर्दू मे 'रू' और अंग्रेजी मे इसेन्स (essence) कहते है, जैसे गुरुवेल का सत्, गुलाब की 'रू' या खस का इसेन्स इत्यादि। जिस प्रकार भौतिक पदार्थों के सार का ज्ञान सत् कहकर कराया जाता है, उसी प्रकार जीवन के सार का ज्ञान आत्मा कहकर कराते हैं। जब हम भौतिक पदार्थ के सार की चर्चा करते हैं, तब हमारे सामने दो दृष्टिकोण उपस्थित होते है। एक तो केन्द्रित जो घनीभूत होता है, और दूसरा विस्तृत अथवा व्यापक जो पदार्थ के अणु-अणु मे ओत-प्रोत रहता है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी एक ओर तो आत्मा को घनीभूत, गुणातीत, केन्द्रीभूत आदि कहते है, और दूसरी ओर व्यापक अथवा शरीर के कण-कण मे भिदी हुई। व्यक्तिगत शरीर और सृष्टि रूप शरीर की दृष्टि से सत् के दो भेद करते है, यथा—आत्मा और परमात्मा। परन्तु जो तत्त्वज्ञानी सारी सृष्टि को अभेद रूप से एक ही कहते हैं, वे उक्त सत को आत्मा और परमात्मा करके नही जानते। वे सर्वत्र एक ही सत् का अनुभव करते है। उनके लिये एक ही आत्मा है। कभी-कभी व्यक्तित्व की दृष्टि से आत्मा को जीवात्मा कहते है, और उसमे भी अधिष्ठित शक्ति को परमात्मा। परन्तु अद्वैतवादी की नजरो मे जीवात्मा और परमात्मा मे कोई भेद नही है, केवल प्राकृतिक परिस्थितियो के कारण एक ही सत् दो नामो से कहा जाने लगता है। गाधीजी उन्ही तत्त्वज्ञानियो मे से हैं जो प्राणीमात्र को अपने समान ही मानते है, जैसा कि हम अभी ऊपर देख चुके है। इसलिये वे सत् को अभेद रूप से देखते हैं और उसी को आत्मा (soul), परमात्मा (supersoul) या ईश्वर (God) कहते हैं। उन्होने स्पष्ट कहा है कि "मैं अद्वैत मे विश्वास करता हूं, मैं मनुष्य के, और सच पूछा जाय तो प्राणीमात्र के अपरिहार्य ऐक्य मे विश्वास करता हूँ।"[६६] जिस समय मनुष्य अहकार के

---

६४ आत्म-कथा (ख० २), पृष्ठ ५०७

६५ गीता, ११।१२.

६६ Young India II, p. 421

भाव को भूल, मानवता के उदधि मे मग्न होकर उसके महत्व का अनुभव करने लगता है, उस समय उसकी आत्मा और परमात्मा मे कोई भेद नही रहता। श्री धावन ने बताया है कि "गांधीजी के समक्ष ईश्वर और मनुष्य मे कोई भेद अथवा पृथक्करण नही है। मनुष्य तथा निम्न श्रेणी की अन्य सृष्टि मे आत्मा ही एक सत्य (यथार्थ) है। वह काल और देश से मुक्त हो जाती है और प्रत्यक्ष विभिन्न अवस्थाओ का एकीकरण कर डालती है।[67] गांधीजी का कथन है "मुझे ईश्वर के अबाध्य ऐक्य मे विश्वास है और इसलिये मानवता के ऐक्य मे भी। हमारे बहुत से भिन्न-भिन्न शरीर होने से क्या, जब कि हमारी आत्मा एक ही है।"[68] आत्मा के एकत्व का ज्ञान आ जाने पर मतभेद रहते हुए भी लोगो मे कभी मनमुटाव नही हो पाता, सभी बन्धु मित्र बने रह सकते है। इसलिये गांधीजी ने कहा है कि "लौकिक सम्बन्ध की अपेक्षा आध्यात्मिक सम्बन्ध अधिक कीमती है। आध्यात्मिक सम्बन्ध से हीन लौकिक सम्बन्ध प्राणहीन शरीर के समान है"।[69] इस तरह संक्षिप्तत हमने यह देख लिया कि गांधीवाद मे धर्म, ईश्वर और आत्मा को एक ही माना गया है, जो सृष्टि का एकीभूत आधार है। मानव ऐक्य की स्थापना करना मानो उसी सर्वव्यापी नियम का पालन करना है। आधुनिक भाई-चारे के सिद्धान्त से इस सिद्धान्त का दर्जा बहुत ऊँचा है, जैसा कि गांधीजी ने खुद कहा है। वे कहते है कि जीवमात्र के एकीकरण का यह महान् सत्य, मौलिक सिद्धान्त मनुष्य के केवल भाईपन के सिद्धान्त से बहुत बहुत ऊचा है, क्योकि उसके प्रतिपालन मे ईश्वरीय सृष्टि के प्रति सेवकाई का, न कि स्वामित्व का भाव निहित है।[70] परन्तु पाठक यह कदाचित् न भूले कि जब कभी जहा कही गांधीजी ने इस धर्म की चर्चा की है, वहा उनका अभिप्राय किसी धर्म-मत से नही है, जिसका भेद हम पूर्व मे कह आये है, हालाकि धर्म और धर्म-मत दोनो अंग्रेजी शब्द रिलीजन (religion) से व्यक्त किये हुए पाये जाते है। वे जानते थे कि 'धर्म' अथवा 'रिलीजन' शब्द धोखे मे डालने वाली टट्टी के समान है। इसीलिये उन्होंने यह आगाह कर दिया कि "धर्म से उनका अभिप्राय किसी मत विशेष (Particular creed) से नही है—उदाहरणार्थ हिन्दू धर्म से नहीं—परन्तु उससे है जो सब धर्मो (religions) के मूल मे रहकर सब का समन्वयकारी है।"[71] राधाकृष्णन् के शब्दो मे "सर्व-

---

६७ Political Philosophy p 49.

६८ देखो फुटनोट ६६

६९ आत्म-कथा (ख० २), पृष्ठ २९०.

७० हरिजन, सन् १९३६ पृ० ३६५

७१ Political Philosophy, p 41.

धर्म धर्म के साधन है" (All religions, however, are means to religion)[७२] 'धर्म' से गाधीजी कहते है "मेरा क्या अभिप्राय है, वह मैं तुम्हे बताता हूँ। हिन्दू धर्म ही ऐसा नही है, जिसका मूल्य मैं अन्य दूसरे धर्मों से अधिक करता होऊ, परन्तु वह धर्म ऐसा है जो हिन्दू धर्म (Hinduism) से भी परे है, जो प्रत्येक की मूल प्रकृति (nature) का परिवर्तन करता है, जो हर एक को अन्तर्निहित सत्य (सत्) के साथ अमिट रूप से बाधता है, और जो सदा शोधन करता है। वह मनुष्य के स्वभाव मे निरन्तर वास करने वाला एक ऐसा गुण है, जो पूर्ण रूप से प्रकाशित (अथवा प्रकट) होने के लिये किसी प्रकार की कसर नही उठा रखता और जो आत्मा को उस समय तक अत्यन्त बेचैन बनाये रखता है, जब तक कि वह अपने आप का साक्षात्कार नही कर लेती, अपने प्रभू को नही जान लेती, और अपने तथा अपने प्रभू के बीच के सम्बन्ध को महसूस नही कर पाती।"[७३] इसलाम, ईसाई, हिन्दू आदि धर्मों मे ईश्वर के अनेक नाम हैं। जो केवल गुण-सूचक होते है। उन नामों पर लड बैठना मूर्खता का चिह्न है। गाधी तो गुणातीत परमेश्वर की बात करते है, जो सर्वत्र सदा एक समान है। उनका वक्तव्य है कि "इस गुणातीत परमेश्वर मे श्रद्धा होने से सब धर्मों के प्रति समान सन्मान का भाव आ जाता है। यह विश्वास करना कि तुम्हारा धर्म अन्य धर्मों से उच्च कोटि का है, और दूसरो से तुम्हारे धर्म का स्वीकार कराने की बात का न्यायोचित बताना ये दोनो असहिष्णुता के चोटी स्वरूप है—और असहिष्णुता ही एक प्रकार की हिंसा होती है।"[७४]

विश्व-धर्म के पालक गाधी हिन्दू धर्मावलम्बी क्यो ?

तब फिर क्या कारण है कि गाधीजी हिन्दू धर्म को मानते थे, अपने आप को हिन्दू कहते थे। इसकी ओट लेकर भारतवर्ष मे आज हिन्दू महासभा, जनसघ, रामराज्य, तथा राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ आदि साम्प्रदायिक-राजनैतिक दल वाले जवाहरलाल नेहरू की असाम्प्रदायिक दलीलो को काटने के अभिप्राय से उन पर यह कहते हुए टूट पडते हैं कि नेहरू हिन्दू कहलाने मे क्यो डरते हैं, जब कि गाधीजी निस्सकोच खुले तौर पर अपने आप को हिन्दू कहते थे ? इसलिये न कि वे मुसल-मानो को हिन्दुओ से अधिक चाहते है ? ऐसे लोग या तो गाधीजी के हिन्दुत्व को समझे ही नही अथवा समझकर भी राजनैतिक धूर्तता के चकर दण्ड पेला करते है।

---

७२ Mahatma Gandhi (RK) p 17.

७३ Speeches, p 807

७४ हरिजन, १४–५–१९३८

गाधीजी के हिन्दुत्व अथवा हिन्दू धम मे अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता है, क्योंकि वे उसे सब धर्मो के धर्म, गुणातीत परमेश्वर, अथवा आध्यात्मिक ऐक्य तक पहुचने का एक मार्ग मानते है। अन्य और धर्म भी मार्ग रूप है। यह देखिये, उन्होने खुद ही एक लम्बा लेख लिखकर सन् १९२१ ई० मे ही इस पर प्रकाश डाल दिया था, ताकि ओछी बुद्धिवाले लोग कुछ का कुछ न समझने लग जाय। उन्होंने कहा है—

"मैं अपने आप को सनातनी हिन्दू कहता हूँ, क्योंकि—

"(१) वेद, उपनिषद्, पुराण एव अन्य और सब हिन्दू धर्म-शास्त्रो मे मेरा विश्वास है और इसलिये अवतार तथा पुनर्जन्म मे भी।

"(२) मै वर्णाश्रम धर्म मे उतना ही विश्वास करता हूँ जो पक्का वैदिक अर्थ है, न कि उसके वर्तमानकालीन प्रचलित तथा असस्कृत रूप मे।

"(३) मैं गौ-सरक्षण मे विश्वास करता हू, परन्तु मेरा दृष्टिकोण प्रचलित दृष्टिकोण की अपेक्षा बहुधा अधिक व्यापक है।

"(४) मैं मूर्ति पूजा मे अविश्वास नही करता।

"पाठक इस बात पर ध्यान रखे कि मैंने जानबूझ कर यह नही कहा कि वेद अथवा दूसरे धर्म-शास्त्र ईश्वर वाक्य है, क्योकि मुझे इस बात मे विश्वास नही कि केवल वेद ही दिव्य ज्ञान के भाण्डार है। मैं बाइबिल, कुरान और जिन्द अविस्ता को भी उतना ही दिव्य ज्ञान-भाण्डार मानता हूँ जितना कि वेदो को। यद्यपि मै हिन्दू-धर्म-शास्त्रो मे विश्वास करता हूँ, तथापि उससे यह मतलब नही है कि मै उनमे कथित हर एक शब्द और काव्य-पद को ही दिव्य ज्ञान से प्रेरित मानता हूँ। मै यह भी दावा नही करता कि मुझे इन आश्चर्यमय पुस्तको का ज्ञान उनके मूल पाठ को पढने से(first-hand knowledge) हुआ है। परन्तु मुझे इस बात का दावा अवश्य है कि उन शास्त्रो मे कथित मुख्य शिक्षा की सत्यताओ को मै जानता हूँ और उनकी मुझे प्रतीति भी है। यदि उनका कोई अर्थ तर्क और नैतिक दृष्टि के विरुद्ध है, तो वह चाहे जितना विद्वत्तापूर्ण क्यो न हो, मैं उसके बन्धन मे नही पड सकता। मैं इस दावे का अत्यन्त बलपूर्वक विरोध करता हूँ कि हिन्दू धर्मशास्त्रो का जो कुछ अर्थ वर्तमान (मठाधीश) शकराचार्य और शास्त्री लोग कर देते है वही सही है—अगर वे लोग ऐसा दावा करते हो तो। बल्कि इसके विपरीत मेरा यह विश्वास है, कि इन ग्रन्थो का हमारा आधुनिक ज्ञान बडे छितर-बितर रूप मे है। मैं बिना किसी तर्क-बहस के (impliedly) हिन्दुओ की इस उक्ति पर विश्वास करता हू कि जिस मनुष्य ने अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य (आत्म-नियत्रण) के प्रतिपालन मे पूर्णता प्राप्त नही कर ली, और जिसने साम्पत्तिक प्राप्ति एव अधिकार का परित्याग नही कर दिया है, वह शास्त्रो का यथार्थ ज्ञाता नही हो सकता। मैं गुरुओ की प्रणाली मे

विश्वास करता हूँ, परन्तु इस जमाने मे करोडो बिना गुरु के ही रहते है, क्योंकि क्वचित ही ऐसा सम्भव है जो पूर्ण शुद्धता और पूर्ण विद्वत्ता का सयोग मिल जाय। परन्तु किसी भी मनुष्य को अपने निज धर्म की सत्यता को जानने के लिये हतोत्साह नही होना चाहिये, क्योंकि अन्य धर्मों के समान ही हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्त अपरिवर्तनीय है और आसानी से समझने योग्य भी। हर हिन्दू ईश्वर और उसके ऐक्य मे, पुनर्जन्म और मुक्ति मे विश्वास करता है। परन्तु अन्य धर्मो से हिन्दू धर्म की विशेषता है, उसके वर्णाश्रम मे, और उससे भी अधिक उसके गौ-रक्षण मे।

"वर्णाश्रम मेरी सम्मति के अनुसार मनुष्य की प्रकृति ही मे अन्तर्निहित है और हिन्दू धर्म ने उसे केवल वैज्ञानिक रूप दिया है। उसका ससर्ग जन्म से रहता है, इसमे सन्देह नही। मनुष्य अपनी इच्छा से वर्ण का परिवर्तन नही कर सकता। वर्ण-बन्धन को तोडना मानो क्रमानुगत नियम (Law of heredity) की अवहेलना करना है। परन्तु अगणित जातियो मे विभक्त हो जाना मूल सिद्धान्त का दुरुपयोग (unwarranted liberty) ही है। केवल चार विभाग ही काफी है।

"मै इस बात मे विश्वास नही करता कि मनुष्य की जन्म-प्राप्त स्थिति एक दूसरे के साथ भोजन करने अथवा एक दूसरे के साथ शादी कर लेने से छिन जाती है। चारो विभाग मनुष्य के रोजगार-धन्धो (calling) के परिभाषासूचक है। वे सामाजिक सम्बन्धो को न तो न्यून करते है और न नियमित (restrict or regulate)। वे विभाग कर्त्तव्यो को परिभाषित करते हैं, स्वत्वो का आरोप नही करते। अपने आपको उच्च श्रेणी का बताना अथवा दूसरे को निम्न श्रेणी का कहना, यह हिन्दू धर्म के लक्षण के विपरीत है, ऐसा मेरा निश्चय है। सभी ईश्वर की सृष्टि की सेवा करने के लिये उत्पन्न है, ब्राह्मण अपने ज्ञान के द्वारा, क्षत्रिय अपनी सरक्षण शक्तियो द्वारा, वैश्य अपनी व्यावसायिक योग्यता के द्वारा, और शूद्र शारीरिक परिश्रम के द्वारा। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि ब्राह्मण, उदाहरणार्थ, शारीरिक परिश्रम से मुक्त है, या कि अपने तथा अन्य जनो के सरक्षण कर्त्तव्य से। जन्म ब्राह्मण को प्रधानत ज्ञानवान पुरुष बनाता है, परम्परा और सस्कृति के कारण दूसरो को विद्या-दान देने के लिये सबसे अधिक उपयुक्त होता है। इधर यह है, तो उधर शूद्र को रोकने के लिये ऐसी कोई बात नही है कि वह जितना जो कुछ ज्ञान करना चाहे न कर सके। केवल बात इतनी है कि वह अपने शरीर से उत्तम सेवा करने योग्य होता है, दूसरो से, यदि वे अपने विशिष्ट गुणो के द्वारा सेवा करते हो, उसे ईर्षा करने की क्या जरूरत? परन्तु जो ब्राह्मण अपने ज्ञान के कारण उच्च बनने का अधिकार बताने लगता है, वह पतित हो जाता है और उसे कुछ ज्ञान भी नही रहता। और यही हाल उन दूसरो का समझो, जो अपने-अपने विशिष्ट गुणो पर

गर्व करने लगते हैं। स्वनियन्त्रण एव शक्ति का सचय और मितव्यय ही **वर्णाश्रम** है।

"इसलिये, यद्यपि पारस्परिक भोजन अथवा पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध का वर्णाश्रम पर कोई असर नही पडता, तो भी हिन्दू धर्म वर्ण-वर्ण के बीच होने वाले पारस्परिक भोजन और पारस्परिक विवाह सम्बन्ध को बडे जोरो के साथ वर्जित करता है। हिन्दू-धर्म स्वनियन्त्रण की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। इसमे सन्देह नही कि यह शरीर-सन्यास का धर्म है, जिससे कि आत्मा मुक्त हो। पिता पुत्र के साथ भोजन करे, यह कोई हिन्दू के कर्त्तव्य मे शुमार नही है। और अपने पत्नी-वरण को वर्गविशेष से सीमित कर लेने मे वह विरल स्वनियन्त्रण ही का प्रतिपादन करता है। हिन्दू धर्म विवाहित जीवन को मुक्ति के लिये किसी भी तरह आवश्यक नही मानता। जन्म जिस प्रकार पतन है उसी प्रकार विवाह भी पतन है। जन्म से स्वतन्त्र हो जाना ही मुक्ति है और इसीलिये मृत्यु मे भी। पारस्परिक भोजन और पारस्परिक विवाह का प्रतिबन्ध करना शीघ्र आत्म-विकास के लिये आवश्यक है। परन्तु यह आत्म-त्याग वर्ण की कोई कसौटी नही है। अगर कोई ब्राह्मण अपने ज्ञान द्वारा सेवा-धर्म को नही छोडता और अपने शूद्र भाई के साथ भोजन कर लेता है तो वह ब्राह्मण का ब्राह्मण ही बना रह सकता है। जो कुछ मैंने ऊपर कहा है उसका यही निष्कर्ष निकलता है कि भोजन और विवाह विषयक प्रतिबन्धन ऊच-नीच के विचारो पर आधारित नही है। जो हिन्दू श्रेष्ठता के विचार मे दूसरे के साथ भोजन करने से इन्कार करता है, वह अपने धर्म का सच्चा प्रतीक नही है।

"अभाग्यवश आजकल का हिन्दू धर्म खाने और न खाने मे ही रह गया है। एक बार मैंने एक मुसलमान के घर अल्पाहार कर लिया तो उसे देखकर एक साधु-वृत्ति का हिन्दू दग होकर रह गया। जब उसने यह देखा कि मैं उस मुसलमान द्वारा दिये हुए प्याले मे दूध डाल रहा हूँ, तब मुझे प्रतीत हुआ, उसे दु ख हो रहा था, परन्तु इसके आगे जब उसने यह देखा कि मै मुसलमान के हाथ से दिये हुए अल्प भोजन को ही खाने लगा हूं, तब तो उसकी वेदना की कोई सीमा ही न रही। क्या खाना और किसके साथ खाना, इसके विषय मे यदि हिन्दू धर्म मे बडे लम्बे चौडे नियमो का निर्धारण होता रहा, तो उसकी यथार्थता खो जाने का भय है। मादक पदार्थों एव प्रत्येक पदार्थ के भोजन, विशेषकर मास से, सायमिक निवृत्ति का होना आत्मविकास के लिये नि सन्देह बडा सहायक होता है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वह ध्येय ही हो। कई एक मास खाने वाले और दूसरो के साथ भोजन करने वाले मनुष्य ईश्वर के भय मे जीवन व्यतीत करते हुए मुक्ति के अधिक निकट पहुँच जाते हैं, बनिस्बत उस मनुष्य के, जो मास और बहुत से दूसरे पदार्थों का धार्मिकतापूर्ण त्याग तो करता है, परन्तु अपने प्रत्येक कार्य मे ईश्वर-निंदक पाखण्ड से भरा रहता है।

"परन्तु हिन्दूधर्म का केन्द्रीय लक्षण है, गो-रक्षण। मेरी मति के अनुसार मानुषिक विकास-क्रम में अत्यन्त आश्चर्यजनक विषयों में से एक विषय गो-रक्षण भी है। वह मनुष्य को मनुष्य-वर्ग के परे ले जाता है। मेरी दृष्टि में गौ समस्त उप-मानव सृष्टि है। गौ द्वारा से मनुष्य को यह आदेश दिया गया है कि वह प्राणी-मात्र के साथ अपने एकत्व का अनुभव करे। गाय ही देवीरूप क्यों मानी गई, यह मुझे बिलकुल स्पष्ट दिखाई देता है। हिन्दुस्थान में गाय सर्वोत्तम साथिनी थी। वह भाण्डारदायिनी थी। वह केवल दूध ही देने वाली नहीं थी, वरन् उसी ने खेती-किसानी के कृत्य को सम्भव बनाया। गौ मानो करुणा-काव्य है (A poem of pity)। इस शीलयुक्त प्राणी में मानो कोई करुणा-पाठ ही पढ़ता हो। भारतीय मनुष्य वर्ग के लाखों की वह मातृ रूप है। गो-रक्षण से ईश्वर की समस्त मूक सृष्टि का रक्षण अभिप्रेत है। पूर्वतम ऋषि ने, चाहे जो कोई भी हुआ हो, गौ से ही प्रारम्भ किया। निम्न-स्तर की सृष्टि पर ध्यान देना हिन्दू-धर्म की संसार के लिये एक देन है। और हिन्दू धर्म तभी तक जीवित रहेगा जब तक कि गौ-संरक्षण करने वाले हिन्दू जीवित हैं।

"जितना प्रेम मेरा हिन्दू धर्म में है उतना ही मेरा प्रेम मेरी पत्नी में है। मेरी पत्नी के सिवाय संसार की कोई दूसरी स्त्री मुझे प्रभावित (move) नहीं कर सकती। बात ऐसी नहीं है कि उसमें कोई दोष ही न हो। मैं यह कह सकता हूँ कि उसमें कई ऐसे भी दोष हैं जिन्हें मैं नहीं देख पाता, परन्तु निरन्तर संग का भाव जो वहाँ मौजूद है। इसी प्रकार का भाव मुझमें हिन्दू धर्म के लिये है, भले ही उसमें कुछ दोष और कमी हो। गीता और तुलसीकृत रामायण के गान से जितना आनन्द मुझे मिलता है, उतना और किसी वस्तु से नहीं मिलता—हिन्दू धर्म की ये ही दो पुस्तकें हैं, जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि मैं जानता हूँ। जब कभी मैं कल्पना करता हूँ कि मेरी अन्तिम श्वास चल रही है, तभी मैं गीता को शान्ति रूप पाता हूँ। मुझे विदित है कि क्या क्या दुर्गुण आजकल हिन्दुओं के बड़े बड़े (मन्दिर-तीर्थादि) पुण्यस्थानों में बर्ते जा रहे हैं, फिर भी बावजूद उन अकथनीय दोषों के मेरा उनके प्रति प्रेम है। जितनी दिलचस्पी मेरी उनमें है, उतनी और किसी दूसरे में नहीं। मैं रच रच सुधारक हूँ, परन्तु मेरा हौसला (zeal) मुझे इस हद तक नहीं ले जाता कि मैं हिन्दू धर्म की असलियत को ही त्याग दूँ। मैं यह कह चुका हूँ कि मूर्ति-पूजा में मेरा अविश्वास नहीं। मूर्ति से मुझ में कुछ पूजा या भक्ति-भाव प्रवृत्त नहीं हो उठता, परन्तु मैं समझता हूँ कि मूर्ति-पूजा मनुष्य स्वभाव का एक अंग है। हम लोग सांकेतिक चिह्नों के पीछे पड़े रहते हैं। गिरजा-घर ही में क्यों, अन्यत्र क्यों नहीं, मनुष्य को शान्ति मिलनी चाहिये। मूर्तियाँ (छायाएँ) पूजा में

योग देने वाली होती है। कोई भी हिन्दू मूर्ति ही को ईश्वर नहीं मानता। मैं मूर्ति-पूजा करना पाप नहीं समझता।

"उपरोक्त बातों से यह साफ जाहिर होता है कि हिन्दू धर्म संकीर्ण धर्म नहीं। उसमें संसार के सभी पैगम्बरों, महात्माओं की पूजा के लिये गुंजाइश है। यह प्रचारकारी (missionary) धर्म नहीं है, जैसा कि लोग साधारणतया उस शब्द का अर्थ समझा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उसके क्षेत्र के भीतर अनेक जातियाँ घुल मिल गई हैं परन्तु यह घुलना-मिलना अदृश्य और नैसर्गिक रूप से होता रहा है। हिन्दू धर्म का यह आदेश है कि हर एक अपनी-अपनी श्रद्धा या धर्म के अनुसार ईश्वराराधन किया करे, और इसी कारण वह समस्त धर्मों के साथ शान्तिपूर्वक रहता है।

"हिन्दू धर्म के विषय में मेरी इस प्रकार की धारणा होने के कारण मैं कभी भी अछूतपन से सहमत नहीं हुआ। मैंने सदैव उसे घृणित पदार्थ जैसा त्याज्य माना है। यह सत्य है कि अछूतपन हमारे बीच में पुश्त-दर-पुश्त से चला आ रहा है, परन्तु इसी तरह और भी बहुत से दूसरे दुर्गुण भी आजतक चले आ रहे हैं। जब मुझे यह विचार आता है कि प्राय वेश्या-कृत्य के लिये ही लड़कियों का अर्पण कर देना हिन्दू धर्म का अंग माना गया है, तब मैं शरम के मारे डूब जाता हूँ। परन्तु बात तो यही है कि उसका प्रचार अभी भी हिन्दुस्थान के कई स्थानों में जारी है। काली देवी के नाम पर बकरों की कुर्बानी (हनन) करना मेरी दृष्टि में निश्चयपूर्वक अधर्म है और मैं उसे हिन्दूधर्म का अंग नहीं मानता। हिन्दू धर्म सदियों का वृद्ध रूप (growth अथवा विकासरूप) है। हिन्दुस्थान के लोगों का धर्म होने के नाते विदेशियों ने उसे हिन्दू धर्म नाम दे डाला है। इसमें सन्देह नहीं कि किसी समय धर्म के नाम पर पशु-यज्ञ किया जाता था। परन्तु वह धर्म नहीं है, फिर हिन्दू धर्म तो और भी नहीं है। इसी प्रकार मुझे यह भी प्रतीत होता है कि जब हमारे पूर्वज गोरक्षण को धर्म मानने लगे तब वे लोग जो गो मांस खाना नहीं छोड़ते थे, जाति च्युत किये जाने लगे। उस समय समाज में बड़ा संघर्ष हुआ होगा। सामाजिक बहिष्कार का प्रयोग केवल उन हठीलों के प्रति ही नहीं लगाया जाता था, बल्कि उनके पापों का फल उनकी सन्तान को भी भोगना पड़ता था। यह प्रयोग जिसका जन्म सम्भवत शुभ भावनाओं से हुआ था, कट्टर रिवाज बन बैठा, यहाँ तक कि हमारे धर्म-शास्त्रों में ऐसे काव्य-पद प्रवेश कर दिये गये, जिन्होंने उस प्रयोग को ऐसी गहरी जड़ पकड़ा दी, जो बिलकुल अवाञ्छनीय और अन्यायपूर्ण है। मेरा सिद्धान्त सही हो या नहीं, अछूतपन तो विवेक के विरुद्ध है, और क्षमा, करुणा और प्रेम भाव के विरुद्ध भी। जो धर्म गौ-पूजा की स्थापना करे, वही मनुष्यों का निर्दय एवं अमानुषिक बहिष्कार बरदाश्त करे अथवा

चलावे, यह एक असम्भव सी बात है। दबाये हुए वर्गों को त्याग देने की अपेक्षा मुझको तो टुकडो-टुकडो मे हो जाना ही सन्तोषप्रद होगा। हिन्दू, यदि अपने सभ्य धर्म को इस अछूतपन की कालिख कायम रखकर बदनाम बनाये रखना चाहते है, तो वे निस्सन्देह न तो कभी स्वतन्त्रता प्राप्ति के अधिकारी होगे और न कभी उन्हे स्वतन्त्रता मिलेगी। चूकि मैं हिन्दू धर्म को अपने जीवन से भी अधिक प्रेम करता हूँ, यह कालिख मेरे लिये असहनीय बोझ हो गया है। हमे यह उचित नही कि हम अपनी ही कौम के पचमाश लोगो के समाधिकारी आपसी मेल-जोल वाले स्वत्व की अवहेलना कर ईश्वर की अवहेलना करे।[७५]

गाधी सनातनी हिन्दू थे, इसका अर्थ

सच पूछा जाय तो भारतीय दर्शन मे हिन्दू धर्म जैसी कोई चीज नही। हिन्दू धर्म कहने से धर्म की व्यापकता चली जाती है। जाति-विशेष से सम्बन्धित हो जाने के कारण उसमे सकीर्णता आ जाती है, जो भारतीय दर्शन को कभी मान्य नही रहा। वह तो सर्वव्यापक धारण-शक्ति को ही धर्म मानता है जैसा पाठक पहले देख चुके है। यह धारणाशक्ति अनादि है और अनन्त भी। इसलिये भारतीय दर्शन मे सर्वव्यापक अनादि अनन्त धर्म का ही महत्त्व है। जो अनादि है वही सनातन है, सनातन अर्थात् जो सदा से चला आवे। जब हमारी ज्ञानदृष्टि भूतकाल की ओर जाती है, तब हम सदा से चली आई हुई वस्तु को सनातन कहते है और जब भविष्य की ओर देखते है, तो उसी सदा बनी रहनेवाली वस्तु को शाश्वत कहने लगते है। यही सनातन और शाश्वत धर्म है, जिसका प्रतिपादन भारतीय वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थो मे नाना प्रकार से किया हुआ मिलता है। इसलिये हमारा धर्म सनातन धर्म कहलाता है, और इसीलिये गान्धीजी ने अपने आप को 'सनातनी हिन्दू' कहा है। जो सनातनी है अर्थात् जो सनातन धर्म को मानने वाला है, वह चाहे जिस देश, जाति या काल मे उत्पन्न क्यो न हो, सृष्टि ऐक्य को और इसलिये मानव ऐक्य को नही भूल सकता। सृष्टि का पदार्थ होने के कारण वह चाहे जिस नाम से कहा जाने लग जाय, उसके सन्मुख उस ऐक्य का दृश्य सदा बना ही रहता है। नाम से और रूप से धर्म का कोई सम्बन्ध नही। मैं चाहे जिस नाम से कहलाऊँ, चाहे जिस रूप का होऊ, चाहे जिस देश मे उत्पन्न होऊ, मेरा धर्म एक सनातन ही रहेगा। इसलिये यदि कोई यह कहे कि 'गाधी' सनातनी हिन्दू अथवा गाधी खुद कहे कि मै मनातनी हिन्दू हूँ, तो उससे उनके धर्म का कुछ बिगडता नही। प्राचीन ऋषियो ने जहा तक सम्भव हो सका है, ऐसे शब्दो

---

७५ Young India, 6-10-1921 (अनुवाद हमारा)

को ग्रहण किया है कि जिनमें सकीर्णता का भाव न उत्पन्न हो। धर्म की व्यापकता दिखाने के लिये जिस प्रकार उन्होंने उसे सनातन कहा है, उसी प्रकार धर्म के मानने वालों का उन्होंने 'आर्य', 'आर्य-सन्तान', इत्यादि शब्दों द्वारा सम्बोधन किया है। परन्तु इतिहास-ज्ञाता बतलाते हैं कि विदेशियों ने उच्चारण-दोष के कारण पंजाब में स्थित 'सिन्धु' नदी का नाम 'इन्दु', 'इन्दुस' (Indus), 'हिन्दु', 'हिन्द' आदि देना शुरू कर दिया, जिसका फल यह हुआ कि उस भूखण्ड में वास करनेवाले 'आर्यों' को वे हिन्दू कहने लगे, और उस भूखण्ड को, जो पहले 'आर्यावर्त' कहलाता था, हिन्दुस्थान कहने लगे। हमारी समझ में इस नाम-परिवर्तन का एक कारण और आता है, और वह यह है कि विदेशियों को भारतीयों का 'आर्य (आर्य=श्रेष्ठ-सभ्य) कहलाना खटकता था। वे आक्षेप करते थे कि भारतवासियों ने केवल अपने लिये ही 'आर्य' मान रखा है। दूसरों को अनार्य कहते हैं। प्रत्यक्ष में भले ही आर्य नाम देश विशेष अथवा जाति विशेष से सीमित होकर सकीर्ण हो गया है। पर यथार्थ में हर ऐसा व्यक्ति आर्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है जो सनातन धर्म का प्रतिपालन करता हो। जो कुछ भी हो, बात सच यह है कि ज्यों-ज्यों समय गुजरा त्यों-त्यों लोग 'आर्य,' 'आर्यावर्त' एवं 'सनातन धर्म' शब्दों के स्थान में क्रमशः 'हिन्दू, हिन्दुस्थान, हिन्दू धर्म' का प्रयोग करने लगे। कालान्तरवश एक ओर मनुष्य के चचल मन और स्वार्थ ने सनातन-धर्मीय शुद्ध सिद्धान्तों को तोड़ मरोड़ कर पाखण्डों और रूढ़ियों को लाद दिया, और दूसरी ओर विदेशियों द्वारा प्रारम्भ किया हुआ 'हिन्दू' शब्द ही सब ओर से उच्चरित होने लगा। परिणाम यह हुआ कि दूसरों ने हमें हिन्दू धर्मावलम्बी कहा, और हम भी उनके स्वर में स्वर मिला कर कहने चले गये। मुसलमान धर्म, ईसाई धर्म, पारसी धर्म आदि के साथ हमारे विजातीय सनातन धर्म को भी जातीयता का जामा पहना हिन्दू धर्म नाम दे डाला। ससार में उसका ढिंढोरा पीटकर साम्प्रदायिकता की उस पर छाप लगा दी। जब धर्म के नाम पर समाज में कुरीतियों का आतंक फैला, तो उनके विनाश के लिये उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य समाज' को, राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' को और परमहस रामकृष्ण के शिष्य विवेकानन्द आदि ने 'विश्व धर्म', की भावना को जागृत करने के लिये राम-कृष्ण मिशन को जन्म दिया। परन्तु उन तीनों ने सशोधन-सिद्धि के लिये साधनाओं का चक्रव्यूह नहीं रचा। किसी ने एक अंग को पकड़ा, तो किसी दूसरे ने दूसरे अंग को। आर्य समाज ने, एक ओर कट्टरता, हेकड़पन उद्दण्डता को अपनाया, और दूसरी ओर केवल वेदों को ही ईश्वर-वाक्य कहकर अन्य धर्मावलम्बियों से विरोध बढ़ाया। सामाजिक कुरीतियों को ही निकाल फेंकने का उसका ध्येय रहा। समाज की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था की ओर उसका

लक्ष्य नही था, अत वह असहनशीलता और अपूर्णता के दोष से विमुक्त नही हो सका। ब्रह्म समाज ने यद्यपि आर्य समाज की अपेक्षा जाति-बन्धन को मिटाने के लिये अधिक सहनशीलता दिखाई, परन्तु उसका क्षेत्र आर्य समाज से अधिक सीमित भी रहा। केवल पारस्परिक भोजन और पारस्परिक विवाह-सम्बन्धो की स्थापना करके ही उसने ऐक्य प्राप्त करना चाहा। रामकृष्ण मिशन ने केवल धर्मांग या आत्मांग को ही ग्रहण किया। यद्यपि यह बात ठीक है कि धर्म एक ऐसी वस्तु है, जिसके प्रतिपालन से समाज के समस्त अगो का सशोधन हो सकता है, तथापि यदि वह व्यावहारिक दृष्टि से असयुक्त रखा जाय, तो वह अरुचिकर हो जाता है। वह व्यक्तिगत कृत्य बनकर सकुचित अवस्था को प्राप्त कर लेता और विस्तृत समाज के व्यावहारिक जीवन के प्रति मुख मोड लेता है। एक ओर भारत मे जब सामाजिक कुरीतियो और धार्मिक कुप्रवृत्तियो का सशोधन करने के लिये उपर्युक्त प्रयत्न हो रहे थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य देशो मे केवल आर्थिक असमानता देखी जा रही थी। इसलिये केवल अर्थ अग को ग्रहण करके मार्क्स ने, मार्क्सवाद को मनहरण करने वाला 'साम्य' नाम देकर, मार्क्सवाद को जन्म दिया, जो असहनशीलता मे सब को मात कर रहा था। वह इस पर उतारू हो रहा था कि नागरिक जीवन मे अनैतिकता भले ही प्रविष्ट कर जाय, शस्त्रास्त्र का प्रयोग कर खून की नदिया भले ही बह जाय, पर आर्थिक असमानता अवश्य मिटाई जाय। मानव समाज के केवल एक अग को पकडकर असहनशीलता का यह उद्वेग पश्चिम से उठकर दुनिया के कोने-कोने तक प्रवाहित होने के लिये छटपटा रहा था। इसलिये यह आवश्यक था कि समाज के समस्त अगो को लक्ष्य बनाकर सहनशीलता के साथ समाज सशोधन का बीडा उठाया जाय, अन्यथा मानव जीवन घोर अनर्थ का शिकार बन जायगा। गाधी ने यह स्वप्न देखा और सर्वैक्यरूप सनातन धर्म को आधार बनाकर सहनशीलता के साथ चहुँओर से समाज सेवा करने की ठानी।

गाधीवाद मे कर्म और धर्म मे अभेद

समाज सेवा केवल मन मे उठती हुई सुन्दर-सुन्दर विचार-धाराओ, अथवा विद्वत्ता पूर्ण वक्तव्य या लेखो से नही हुआ करती, बल्कि कर्मो से होती है। अत 'कर्म' का महत्त्व देखकर भारतीय दर्शन मे 'कर्म को ही धर्म' कहा है। कर्म न हो, तो धारण कौन करे। 'सत्' यदि मूलाधार होकर धारण करता है, तो 'कर्म' व्यवहार रूप होकर। सृष्टि ऐक्य की दृष्टि से सत् (कोई उसे 'भाव' ही कहते है) और कर्म का जोडा रहता है। इसीलिये भारतीय-दर्शन ने, जो ऐक्य का प्रतिपादक है 'धर्म' और 'कर्म' की समता स्थापित की है। इस समता का महत्त्व इतना बढा कि वह शास्त्रीय उल्लेखो तक

ही सीमित न रहा, वरन् सर्वसाधारण में भी सामान्यत: प्रचलित हो गया। जब कभी व्यक्ति व्यक्ति के प्रति, व्यक्ति समाज के प्रति अथवा समाज व्यक्ति के प्रति अपने किसी कर्त्तव्य को निबाहने की बात कहता है, तब उसे अभेद रूप से 'कर्म या धर्म, संज्ञा देकर प्रदर्शित करना है। उदाहरणार्थ पिता के नाते पुत्र-पालन करना मेरा कर्म है अथवा मेरा धर्म है। वर्णाश्रम धर्म का अर्थ समझाते हुए गांधीजी ने स्वयं वर्ण धर्म का अर्थ वर्ण कर्म किया है।[७६] अतः जो कर्म व्यवहार को धारण करें वही 'धर्म' रूप है। व्यवहार अथवा सृष्टि को धारण करने वाला वही कर्म होता है, जो त्याग भावना (Sacrifice =यज्ञ) पर आधारित हो, अन्यथा वही बन्धन रूप होकर अधर्म कहा जाने योग्य हो जाता है।[७७] इस भेद को जताने के हेतु ही दार्शनिकों ने 'धर्म रूप कर्म' को 'कर्मयोग' संज्ञा दी है। गीता पाठ पर मनन करने वालों को विदित होगा कि उसमें शास्त्रानुकूल 'अनासक्त कर्म' अथवा 'कर्म योग' को ही धर्म का प्रतीक सिद्ध किया है, और विधिपूर्वक पालन किये गये धर्म का कर्म का प्रतीक। गीता के प्रथम श्लोक और अन्तिम श्लोक को पढ लीजिये तो मालूम होगा कि धर्म और कर्म के सम्बन्ध की स्थापना के हेतु ही गीता रची गई है। यदि हम पहले यह समझ लें कि रूपक की दृष्टि से कृष्ण श्याम रंग का द्योतक है, और 'श्यामलता' शान्ति की द्योतक, और यदि इसके बाद हम यह भी जान लें कि 'पार्थ' पृथ्वी अथवा भौतिकता (materialism) का अर्थवाची होता है, तथा 'धनुर्धर' दृढ निश्चयी कर्मवीर का लक्षण है, तो गीता का प्रतिपाद्य विषय हमारी दृष्टि में सहज ही झूलने लगेगा। पहले श्लोक से विदित होता है कि हर मनुष्य को अपने जीवन में कर्म करना पडता है, और कर्म करते समय उसकी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों में संघर्ष होता है। यही कुरुक्षेत्र ('कृ' धातु का रूपान्तर 'कुरु' है, और 'कृ' का अर्थ है 'करना) है, इसी कुरुक्षेत्र को धर्म-क्षेत्र (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे) कहा है। इसी में कौरव और पाडव रूप दुर्वृत्तियों और सद्वृत्तियों का संघर्ष कहा गया है। अन्तिम श्लोक बताता है कि इस कर्म क्षेत्र में वही पार्थिव (matter) श्री, विजय, विभूति तथा सद्गति प्राप्त कर सकता है, जो 'धनुर्धर' (अथवा आलस्य-प्रमाद रहित दृढ निश्चयी, कर्म-तत्पर) तो हो ही, पर उसके साथ ही साथ उसे सत् मार्ग पर ले चलने के लिये उसके अन्तस्थ में सारथी रूप योगेश्वर कृष्ण (अर्थात् योगपूर्ण शान्तिमय सद्विवेक, अथवा सद्धर्म-भावना) विराजमान हो। केवल धनुर्धर होने से जीत (जय) भले ही प्राप्त हो जाय, अथवा लक्ष्मी (सम्पत्ति) भले ही हाथ

---

७६ हरिजन, १९३४, पृष्ठ २६०-२६१

७७. गीता, ३।९

लग जाय, पर (श्रेय) श्री जो लक्ष्मी से भिन्न है, विजय जो जय-मात्र से भिन्न हे, विभूति जो लोकख्याति से भिन्न हे, एव मगदति जो लोकाचार से भिन्न है, कदापि प्राप्त नही हो सकती।

गाधीवाद मे अधिकृत कर्म का महत्त्व

गान्धीजी गीता के अनन्य भक्त थे। उनके शब्द-शब्द से गीता-ज्ञान का रस टपकता प्रतीत होता है। हमे स्वय तो अनेक स्थलो पर ऐसा लगता है कि मानो वे गीता की ही उल्था कर रहे हो। "श्रेयान् स्वधर्मो विगुण पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्"[७८] गीता के इस कथन से ही प्रतीत होता हे, प्रभावित होकर गाधीजी ने हिन्दू धर्म-सम्बन्धी अपने उपरोक्त वक्तव्य मे कहा है कि "हिन्दू धर्म का यह आदेश हे कि हर एक अपनी-अपनी श्रद्धा या धर्म के अनुसार ईश्वरार्चन किया करे।" ईश्वरार्चन, ईश्वरोपासना, ईश्वरपूजा आदि से गाधीजी का यह मन्तव्य नही कि कोठरी मे बैठकर टुनटुन करते हुए माला फेरते रहना, या मन्दिर मे जा गला फाडकर चिल्लाते रहना, वल्कि उनका अभिप्राय है ईश्वरीय आचरण करना अथवा सदाचारी वनना। जो जिस योग्य हो, अथवा जो जिसका अधिकारी हो, वह उसे ही करे तभी वह उसके तथा समाज के लिये श्रेयस्कर होता हे। अनधिकार चेष्टा सदा सर्वत्र वर्जनीय कही गई हे, क्योकि वह अर्थ के वदले अनर्थकारी सिद्ध होती है। वालक का काम यदि जवान या वृद्ध करने लग जाय, या जवान अथवा वृद्ध का काम वालक करे, तो क्या कभी लाभ-प्रद हो सकता है? इसलिये जो अधिकृत कर्म होता हे, वही सर्वमान्य हे। इसी को स्वकर्म कहते है। और यही स्वकर्म स्वधर्म कहा गया है। इसी को स्वाभाविक या सहज धर्म कहते है। यदि अनभ्यस्त होने अथवा और किसी कारण से इस सहज धर्म मे प्रारम्भिक त्रुटियाँ या कठिनाइयाँ प्रतीत हो, तो भी उसे करना नही छोडना चाहिए। अग्निका स्वाभाविक धर्म है, प्रज्ज्वलित होना, परन्तु प्रारम्भ मे वह धुंएँ से ढकी रहती है। धुंआँ निकलने के कारण क्या कोई उसे वुझाकर ही रखता है।[७९] गाधीवाद मे इस अधिकृत स्वकर्म-स्वधर्म को ही मान दिया गया है, जो हिन्दुओ के शास्त्रो मे वर्णाश्रम धर्म के नाम से वर्णित हे। इसी को समुचित रूप से पालन करने-कराने मे समन्वय, एकत्व अथवा साम्य प्राप्त हो सकता हे, यह

---

७८ गीता, ३।३५, १८।४७

७९ सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ।।गीता, १८।४८

गान्धी का निदान है, जो पहले ही से उनके पूर्वजो ने निकाल कर रख दिया है। मार्क्सवाद मे, इसके विपरीत, अनधिकृत कर्म करने की बू भरी है। स्वभाव की अवहेलना कर उनकी तोड-मरोड मे सब को एक घाट उतारने का दुस्साहस उसमे दिखाई देता है। एकत्व का जो तरीका उसने अपनाया है वह केवल खाने-पीने, पहनने-ओढने, मिलने-जुलने, विवाह-तलाक आदि बाह्य जीवन से बद्ध होकर रह गया है।

गान्धीवाद का कर्मवाद

गांधी का कर्मवाद विकासात्मक एकत्व का परिचायक है। कर्म का तांता सूत्र के समान भूत, वर्तमान, भविष्य तीनो कालो मे पिरोया हुआ रहकर मनुष्य के व्यक्तिगत तथा समाजगत दोनो प्रकार के जीवन को शृंखलाबद्ध बनाये रखता है। हमारा आज जो जीवन दिखाई दे रहा है, वह समस्त गये-गुजरे जमाने के क्रमानुगत कर्म का फल रूप है, और कल जो दिखाई देगा वह समस्त भूतकाल और आज के कर्म का फल रूप होगा। इस दृष्टि से देखने वाले कर्मशास्त्रियो ने कर्म के तीन भेद किये हैं, यथा सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पूर्वकाल मे किये गये कर्मो को सञ्चित कर्म कहते हैं, जो कारण रूप होकर वर्तमान काल मे और भविष्य मे भी, फल देते रहते हैं। इन्ही फलो को प्रारब्ध कहते हैं, परन्तु जीवन एक तालाब के समान स्थिर पदार्थ नही है। वह है बहती हुई उस नदी के समान जो भले-बुरे मिट्टी-पत्थरो से भरे हुए स्थानो मे से कही सरांती हुई, कही लडखडाती हुई लम्बे मार्ग का पार करके अपने स्वामी समुद्र मे जा मिलती है। इस मार्ग को पार करते समय उसमे अनेक पदार्थों का मिश्रण, संघर्ष, निराकरण आदि होता जाता है। गरज यह कि नदी-रूप जीवन पूर्वकालीन सचित कर्मो का प्रारब्ध-रूप फलो को भोगता हुआ नवीन कर्मो को भी करता जाता है, जो उसके भविष्य-निर्माण मे सहायक अथवा बाधक-रूप सिद्ध होते हे। इन्ही कर्मो को क्रियमाण कहते है। जिस प्रकार नदी की गति कुछ काल के लिये किसी स्थान मे परिस्थितियो के वश भले ही अवरुद्ध हो जाय, पर वह जब तक अपने उस ठिकाने पर जहाँ कि सभी नदियो को आश्रय मिलता है, नही पहुँच जाती, तब तक वह चैन नही लेती, उसी प्रकार सचित या क्रियमाण कर्मो के कारण मानुषिक जीवन की गति मे अवरोध भले ही कुछ काल के लिये उपस्थित हो जाय, पर उनका स्वाभाविक धारा-प्रवाह, जो एकत्व की ओर रहता है कदापि नही रोका जा सकता। इसलिये स्वकर्म अर्थात् स्वधर्म को ही करना चाहिए, क्योकि उसमे अवरुद्धावस्था प्राप्त नही होती। स्वकर्म ही विकास का शीघ्र फलगामी होता है। शीघ्र फल-प्राप्ति के लिये मार्क्सवाद जिस

तोड-मरोडवाली विनाशकारी क्रान्ति को अपनाता हे, वह गान्धीवाद की इस स्वकर्म पर आधारित क्रान्ति से बिलकुल ही भिन्न हे। स्वकर्म की स्वाभाविक, सहज, शान्तिमय रचनात्मक क्रिया के सन्मुख-मार्क्सवादी क्रान्ति एक तूफान के समान प्रतीत होती हे।

कर्म-विषय वडा गहन और विस्तीर्ण है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से उसके अनेक विभाग-उपविभाग किये गये है, परन्तु उन सव मे हमे जाने की जरूरत नही। हमे तो यहाँ सक्षेप मे इतना ही जान लेना काफी है कि गाधी का तत्त्वज्ञान अथवा जीवनानुसन्धान भारतीय दार्शनिको के तर्क-विवेकसिद्ध-सिद्धातो के अनुरूप ही है। अन्तर्निहित सत्-शेष के अतिरिक्त जो कुछ और है वह सव कर्म ही है। जितना जो कुछ सृष्ट हो चुका है, हो रहा है, और भविष्य मे होगा अर्थात् समस्त सृष्टि कर्म ही है। सत् यदि पुरुष हे, तो कर्म उसका शरीर। यदि सत् ईश्वर हे, तो कर्म उसकी माया। तिलक के शब्दो मे "माया, नाम-रूप और कर्म, ये तीनो मूल मे एक स्वरूप ही है।"[८०] प्रकृति अर्थात् कर्म को ही माया कहते हे। जब जीवन-विषयक चर्चा की जाती हे, तव प्रकृति शब्द का प्रयोग करते हे, और ईश्वर-विषयक चर्चा के समय उसी को माया कहते ह। प्रकृति कहो या माया, दोनो का अर्थ होता है 'कृति' अथवा 'कर्म' जहाँ सत् हे वहाँ कर्म है, और चूकि जीव सत् का अश-रूप है, इसलिए जव तक जीवन है, तव तक कर्म अनिवार्य है।[८१] गाधीजी ने इसी वात को दुहराया है। वे कहते है कि "कर्म का नियम वडा निष्ठुर और अपरिहार्य है। इसलिये उसमे ईश्वरीय वाधा की प्राय कोई गुजाइश नही। नियम का निर्धारण कर ईश्वर तो मानो विश्राम करने लग गया है।[८२] हम स्वय ही अपने भाग्य-निर्माता ह। हम अपने वर्तमान जीवन को वना-मिटा सकते है, और उसी पर हमारा भविष्य निर्भर रहेगा।"[८३] गीता मे कहा है कि क्रमानुगत लौकिक जीवन चला ही करता है। उसका कभी विनाश नही होता (नेहाभिक्रमनाशोस्ति)[८४] इस अभिक्रम के जानने वाले ही पुनर्जन्म के सिद्धान्त को समझ सकते है। गाधी ने इसीलिये कहा हे कि "मेरा पुनर्जन्म मे उतना ही निश्चित विश्वास है, जितना कि अपने वर्तमान शरीर-स्थिति के विषय मे निश्चित है। (क्योकि)

---

८०. गीता रहस्य, पृष्ठ २६३

८१. गीता, ३।५, ईशा० उ० म०, २

८२. Autobiography, P 563

८३ हरिजन, सन् १९४७, पृष्ठ १७६

८४. गीता, २।४०

मैं जानता हूँ कि छोटे से छोटा कार्य-क्रम भी निष्फल नहीं जाता।"[८५] इससे यह निष्कर्ष निकलता है, जैसा कि श्री धावन ने कहा है कि "कर्म-सिद्धांत में आत्म-स्वातन्त्र्य निहित है, क्योंकि वह इस बात का प्रतिपादन करता है कि हर मनुष्य अपने भाग्य का शिल्पकार है। भूतकाल में क्रमबद्ध (continuity) होने का यह अर्थ होता है कि हर व्यक्ति को रचनात्मक स्वातन्त्र्य प्राप्त है।"[८६] इससे यद्यपि यह सिद्ध होता है कि मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार अपने आप को बना सकता और बिगाड़ भी सकता है, तथापि उसका यह आत्म-स्वातन्त्र्य पूर्ण रूप से उसके हाथ में नहीं। उसे कुछ ऐसी परिस्थितियों में भी कर्म करने पड़ते हैं, जिन पर उसका पूर्णाधिकार नहीं। जिस गतिविधि से हम अनभिज्ञ हों, अर्थात् जो हमारे काबू के बाहर की बात हो, उसे कोई तो दैव-गति कहते हैं, कोई भाग्य, कोई विधाता, और कोई विधि अथवा ब्रह्मा के अंक हीं। इन शब्दों के मूलार्थ पर विचार न करने के कारण कई एक हिन्दू-धर्म के प्रति यह दोषा-रोपण करने लगते हैं कि वह मनुष्य को कायर, आलसी, कर्महीन, आत्म-निर्बल, पराधीन आदि बनाता है। जिस धर्म ने आत्म-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को यहाँ तक उठा दिया हो कि हर मनुष्य जो चाहे तो अपने कर्मानुसार ईश्वरीय गुणों को प्राप्त कर सकता है, उस पर इस प्रकार के दोषों को मढ़ना केवल अन्यायपूर्ण अपनी मूर्खता का ही प्रदर्शन करना है। आत्मबल अथवा आत्मस्वातन्त्र्य का पाठ पढ़ाते समय हिन्दुओं के इस सनातन धर्म ने मनुष्यों को यह भी बता दिया है कि वह मुक्तावस्था के पूर्व, अर्थात् जब तक उसका अहंकारयुक्त शरीर है तब तक, पूर्ण स्वाधीन नहीं। तुलसीदासजी ने इस आत्मस्वातन्त्र्य को "कर्म-प्रधान विश्वकरि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा।" कहकर दर्शाया है।[८७] परन्तु वही आत्मस्वातन्त्र्य सीमित और पराधीन भी है, जैसा कि उक्त महाकवि ने "होइहै सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावहिं साखा"[८८] कहकर बताया है। इसी बात को गीता ने कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"[८९] (अर्थात् तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने का है, फल मिलना न मिलना तुम्हारे हाथ की बात नहीं) कह कर बताई है। गांधीजी ने भी इसी बात पर यह कह कर प्रकाश डाला है कि "जिस आत्मस्वाधीनता (free

---

८५ Young India II P 1204

८६ Political Philosophy, pp 54-55

८७ रामायण

८८ रामायण

८९ गीता, २।४७

will) का उपभोग हम करते है, वह उससे भी कम होती है, जो कोई जलयात्री जहाज मे स्थित भीड के बीच मे उपभोग कर पाता है।"[९०]

गान्धीवाद मे नैतिकता का प्रतिविम्बन और जीवन-शुद्धि का महत्त्व

एकत्व को माननेवाले के समक्ष सृष्टि मे प्रतीत होनेवाली विभिन्नताओ मे अभिन्नता ही दिखाई देती है। जो कुछ भिन्नता या अनेकता दृष्टिगोचर होती है वह मूल सत् के केवल गुणरूप है। दया आदि जो नैतिक गुण है, वे सब सत् नही है, वस्तु नही हैं। वे केवल उसके गुण हैं, जो आधार-स्थान, कालादि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट होते दिखाई देते हैं। इस बात को ठीक-ठीक समझने के लिए निम्न उदाहरण लीजिए। 'अ' नाम का एक व्यक्ति है। वह बडा प्रसन्न मुख है-दया भी करता है। लोग 'अ' नाम को ही यथार्थ या सत् मानने लगते है। परन्तु यह भूल है। 'अ' तो नाम है, जो हमने उसे दे दिया है अथवा उसने खुद रख लिया है। 'सत्' अर्थात् जो असल है, वह सच पूछा जाय तो अनाम ही है। दूसरी भूल जो लोग करते हैं वह यह है कि वे गुण को असल मान लेते हैं। 'अ' के द्वारा की हुई 'दया' ही 'अ' नही है। यदि सूर्य-प्रकाश को ही लोग सूर्य कहे, तो निपट मूर्खता है। जब 'अ' नाम है, और 'दया' उस नाम का गुण नही, बल्कि उस 'अ' नामधारी सत् का गुण है, तो हमे यह मानना पडेगा कि वह 'दया' 'अ' नाम और रूपधारी पटल की अनुकूलता के अनुसार ठीक उसी प्रकार प्रतिबिम्बित हो गई है, जैसे सूर्य का प्रकाश या तेज कही बिलकुल नही दिखाई देता, कही न्यून दिखाई देता है, कही कम, कही पूरा, कही अधकट इत्यादि। अत नीतियाँ यद्यपि उसी एक सत् के गुण हैं, तथापि उन्हे जिस प्रकार का माध्यम (medium) आधार या जरिया (Plane) मिल जाता है, उसी प्रकार वे प्रतिबिम्बित दिखाई देने लगती हैं। अत जितना स्थिर, शुद्ध, और पूर्णांगी माध्यम होगा, उतना ही उज्ज्वल नैतिक गुण आप को दिखाई देगा। गाधीजी का यही नैतिक सिद्धात है, जो उनके एकत्व के सिद्धान्त से मेल खाता है। मनुष्य शरीर एक माध्यम है, जिसके अनुसार नैतिक गुण प्रकट होते रहते है। इसी कारण गान्धीजी मनुष्य-जीवन की शुद्धता को प्रधानता देते हे।

गान्धीवाद मे जीवन-शुद्धि के साधन

जीवन की शुद्धता मानसिक स्थिरता पर निर्भर रहती है, और मानसिक स्थिरता, जिसे स्थितप्रज्ञावस्था आदि भी कहते हैं, योगशास्त्रियो द्वारा सकलित

---

९० हरिजन, सन् १९४०, पृष्ठ ५५

किये गये अनुभवगम्य कुछ सदाचारों के प्रतिपालन करने पर। इस प्रकार के सदाचार यम और नियम कहलाते है। नियम हमारी समझ में वे सदाचार हैं, जिन्हे प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह समाज में रहे, अथवा अकेला ही, पालना चाहिये। और यम उन्हें कहते हैं कि जिनका प्रतिपालन करना समाज मे रहनेवाले मनुष्य का कर्तव्य होता है, चाहे वह समाज केवल दो जनों का ही हो, या दो से अधिक जनो का। पातंजलि के योग-दर्शन मे पाच नियमों और पाच यमों का संग्रह इसी आधार पर किया हुआ मालूम होता है। वे ये हैं—

"शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमा"[91] अर्थात् शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर-चिन्तन—meditation) ये पाच नियम हैं, और "अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमा"[92] अर्थात् अहिंसा सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (त्याग) ये पाच यम है।

इन उपरोक्त बहिरंग साधनों पर "आचरण कर लेने के पश्चात् ही जिज्ञासु को वैराग्य, अभ्यास आदि का अधिकार प्राप्त होता है। समाधि अभ्यास वाले के लिये इन यम-नियमों का अनुष्ठान स्वाभाविक होता है और विक्षिप्त चित्तवाले अभ्यासी को इनका अनुष्ठान यत्न से करना पड़ता है, परन्तु इनके अनुष्ठान के बिना किसी अध्यात्ममार्गोपयोगी योग का अभ्यास नहीं हो सकता।"[93]

जिन गुणों का उल्लेख पातञ्जलि के योग दर्शन मे 'यम' और 'नियम' संज्ञाओं के अन्तर्गत मिलता है, उन्ही का उल्लेख कुछ हेर-फेर से वेदव्यासजी की गीता के सोलहवें अध्याय मे "दैवीसम्पदा" नाम से मिलता है। वे ये हैं—

अभय, सत्त्वसंशुद्धि (आत्म-शुद्धि), ज्ञान-योग-व्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव (आन्तरिक सरलता), अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन (किसी की चुगली निन्दा न करना), दया, अलोलुपत्व, मार्दव (विनम्रता), ह्री (अनहंकार या लज्जा=modesty), अचपलता (निश्चयात्मक स्थिति), तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, और निरभिमानता।[94]

"दैवीसंपद्विमोक्षाय" दैवीसंपदा को प्राप्त किया हुआ मनुष्य ही लौकिक दुःखों से मुक्त होकर जीवन-यापन कर सकता है।[95] दैवीसंपदा (सम्+पद)

---

९१ योग दर्शन, २।३२

९२ योग दर्शन २।३०

९३ कल्याण, अक्टूबर सन् १९४९, पृष्ठ १३०९

९४ गीता १६।१, २, ३

९५ गीता १६।५

का भावार्थ ही होता है "दिव्य-स्थिति"। अब यदि गाधीवाद को देखा जाय, तो मालूम होगा कि उसमे आत्म-सशुद्धि को प्रथम स्थान दिया गया है। आत्मसशुद्ध व्यक्तित्व के आधार पर ही गाधी द्वारा निर्मित समाज का अस्तित्व है। बाकी और जो उपरोक्त गुण है, वे या तो उस आत्म-सशुद्धि के लक्षण रूप है, अथवा परिणाम रूप, अथवा दोनो। गाधीजी शास्त्रीय वाद-विवाद के झमेले मे पडना निरर्थक समझते थे। 'आदर्श' से कर्म की उत्पत्ति होती है, या 'कर्म' से 'आदर्श' की, इस बात पर उखाड-पछाड से क्या लाभ, जब कि हमे आज के जीवन पर विचार करना है। आज जैसा जो जीवन है, उसे देखकर गाधी-जैसे व्यवहारकुशल पुरुष के सन्मुख कर्म और आदर्श (अथवा नैतिकता) दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाई देना स्वाभाविक था। एक का दूसरे पर प्रभाव उस समय तक पडता चला जाता है, जब तक कि मनुष्य सुख-प्राप्ति के अन्तिम ध्येय को, जिसे शास्त्रीय भाषा मे मुक्ति या मोक्ष कहते हैं, प्राप्त नही कर लेता। यदि गाधी के एकत्व के सिद्धान्त पर विचार करके देखा जाय, तो नैतिकता और कर्म मे कोई भेद नही। जिस प्रकार बीज से फल होता है और फल से बीज, उसी प्रकार नैतिक गुण और कर्म का सम्बन्ध परस्पर है। अन्तर्दृष्टि से देखिये, तो विदित होगा कि गाधी का जीवन उपरोक्त गुणो से युक्त आचारमय था। यदि हम उनके द्वारा कथित तथा प्रयोगित सभी गुणो की व्याख्या और समीक्षा करने लग जाय, तो एक ओर तो विस्तार अधिक हो जायगा और दूसरी ओर उसमे शास्त्रीयता आ घुसेगी, जो उसे अरोचक बना देगी। अत हम केवल उन्ही गुणो का उल्लेख करेगे, जिनका महत्त्व उन्होने अपनी वाणी से बार-बार दुहराया है, जिनका प्रयोग उन्होने अपने जीवन मे विशिष्ट रूप से करके दिखाया है, और जिनकी विशिष्टता के कारण आधुनिक युग मे नवीनता और स्फूर्ति का सचार होकर एक नये प्रकार की समाज-व्यवस्था का निर्माण हुआ है। यह मानी हुई बात है कि निर्जन वन मे अथवा एकान्त स्थान मे अकेले रहने वाले व्यक्ति के लिये आत्म-सशोधन का कार्य उतना कठिन और विस्तृत नही होता, जितना कि समाज मे वास करने वाले का होता है। समाज-वासी के आत्मोद्धार के मार्ग मे आत्म-ह्रास करने वाले अनेक मानसिक दुर्गुण और इन्द्रिय-गम्य प्रलोभन, क्रोधादि विषय आडे आते है। उन सब को पार करते हुए आत्मोद्धार की ओर बढते जाना ही श्रेयस्कर है। गाधी समाजवासी और समाजोद्धारक थे। इसलिये अब हमे उनके उन प्रमुख नैतिक साधनो पर नजर डाल लेना चाहिये, जिनका अवलम्बन कर उन्होने अपने आत्मोद्धार तथा समाजोद्धार का कार्य किया।

(१) ईश्वर प्रणिधान—तर्क और श्रद्धा

गत विवरण में यह झलक आ चुकी है कि गांधीवाद यथार्थत धर्मवाद अथवा ईश्वरवाद या आत्मवाद है। गांधीजी का मूल मंत्र है—ईश्वर-प्रणिधान। शब्दकोश को उठाइये और देखिये 'प्रणिधान' के माने, तो आप को मिलेगा (१) प्रयोग (use) (२) ध्यान या चिन्तन (meditation)। इसलिये ईश्वर के बारे में ध्यानपूर्वक विचार करते रहना और ईश्वरीय प्रकाश के अनुसार वर्तते रहना 'ईश्वर-प्रणिधान' कहाया। गांधीजी सर्वत्र व्याप्त सत् को ही ईश्वर मानते थे। उनका सत्-परमेश्वर सर्व-सृष्टि को धारण करने वाला और एकत्व में बांधकर रखने वाला है। बस। यही उनका चिन्तन था कि विश्व-ऐक्य की स्थापना और धारणा किन कमों से हो सकती है—प्रत्यक्ष भिन्नता में अभिन्नता और असमानता में समानता कैसे लाई जा सकती है। यह उनका 'ईश्वर-प्रणिधान' था।

परन्तु ईश्वर वाणी और तर्क का विषय नहीं है। यदि आपको स्मरण हो तो हम अभी कुछ पहले कह आये हैं कि सब से पहला तत्त्व अहंकार है। बुद्धि और मनादि इन्द्रियां उस 'अहं' के पश्चात् के हैं। सत् अहंकार के पहले का है। तब फिर एक मोटी सी बुद्धि वाला भी यह कह सकता है कि उस सत् को, जो सब के पूर्व का है, न इन्द्रियां जान सकतीं, न मन बुद्धि जान सकते और न अहंकार ही जान सकता। वह तो तभी जाना जा सकता है, जब ये सब तत्त्व उसी में लय हो जायें। इस लय-अवस्था में अनुभूति होती है। अनुभूति करने वाले से कोई पूछे कि कहो कैसा क्या देखा, तो वह उसका वर्णन तो करने लगेगा, परन्तु अन्त में उसे यही कहना पड़ेगा कि भाई, मेरी देखी बात मैं ही ठीक-ठीक जान सकता हूँ, तुम्हें कहां तक कैसे सुनाऊं—तुम स्वयं ही जाकर देख आओ, इसी लिये कहा जाता है कि ईश्वर का गुणानुवाद वाणी, बुद्धि और तर्क से परे है, एक जीभ वाला मनुष्य क्या, सहस्र जिह्वाधारी शेष नाग भी वर्णन नहीं कर सकता और न बुद्धि पार-गणा सरस्वती ही कर सकती है। यदि हम काश्मीर को बिना देखे पुस्तकें पढ़कर, व्याख्यान सुनकर, तर्क लगाकर, अथवा अनुमान बांधकर उसके दृश्य की खूब लम्बी चौड़ी हांकने लगें, तो उससे क्या हमें सच्चा आनन्द मिल सकता है? उससे तो केवल हमारा मनोरंजन अथवा बौद्धिक सन्तोष हो सकता है। हृदयगम्य आनन्द तो स्वानुभूति होने पर ही मिलता है और तभी उसकी सचाई पर विश्वास आता और श्रद्धा होती है।

बहुत से पश्चिमी तत्त्वज्ञानी हेगिल, बोसनक्वेट आदि कहते हैं कि विश्व का अन्तिम (आन्तरिक) स्वभाव विचार या तर्क के द्वारा ग्रहण किया जा सकता

है। उनके मतानुसार सत् (real) तार्किक (rational) होता है।[९६] परन्तु यह भूल है, क्योकि मन-बुद्धि की पहुँच वहाँ तक हो ही नही सकती। वे केवल कुछ हद तक ही अपनी तर्क-वृत्ति के द्वारा ईश्वर-स्थिति के विषय मे कुछ सीमित रूप से प्रकाश डाल सकते है। सच बात तो यही है, जैसा गाधीजी ने भारतीय प्राचीन दार्शनिको के मत को स्वीकार करते हुए कहा है कि "हम परमेश्वर को इन्द्रियो के द्वारा कभी नही देख सकते, क्योकि वह उनके परे है। अगर हम चाहे, तो उसकी अनुभूति या उसको महसूस (feel) कर सकते है, परन्तु यह तभी हो सकता है जब हम अपने आप को अपनी इन्द्रियो से खीचकर अलग कर ले।"[९७] उन्होने यह भी कहा है कि "ईश्वर की अनुभूति बुद्धि के द्वारा नही हो सकती। बुद्धि कुछ दूर तक ही ले जा सकती है, उसके आगे नही। वह तो विश्वास का तथा उस विश्वास से उत्पन्न अनुभव का विषय है।"[९८] जब विश्वास की बात कही जाती है, तब कई एक बुद्धिमान मूर्ख हसी-मजाक उडाते हुए उसे दकियानूसी कहकर उडा देते है। परन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने पर उन्हे गाधीजी के कहे हुए निम्न कथन से सहमत होना पडेगा। उन्होने यग इडिया मे एक बार लिखा था कि "इसमे सन्देह नही कि जो तर्क के परे है, वह तो अतार्किक (तर्करहित) रहेगा ही। जो वस्तु सिद्ध की जाने योग्य है, और फिर भी उसे बिना सिद्ध किये हुए उस पर विश्वास करने के लिये किसी से कहा जाय, तो यह तर्कविरुद्ध बात होगी। परन्तु यदि कोई अनुभवी पुरुष किसी दूसरे से यह विश्वास करने के लिये कहे कि 'ईश्वर है,' हालाकि वह उस को सिद्ध करने मे असमर्थ है, तो इस का यही अर्थ होता है कि वह विनम्र भाव से अपनी सीमाओ को स्वीकार करके दूसरे से कहता है कि मेरे द्वारा अनुभव किये हुए वचन पर विश्वास करके स्वीकार कर लीजिये।"[९९] अगर कोई इतने पर भी यह कहे कि हम क्यो विश्वास करे, तो उसे रोजमर्रा की घटनाओ का स्मरण कराइये—उदाहरणार्थ 'अ' ने अपने पिता 'ब' को नही देखा, परन्तु अपनी माता एव अडोस-पडोस के लोगो की बात पर विश्वास कर उसे 'ब' को अपना पिता मान लेना पडता है। इसी प्रकार के विवेकहीन लोगो से गाधीजी का कहना है कि "बिना विश्वास (श्रद्धा) के यह ससार ही क्षण-भर मे मिट जायगा। जिन महापुरुषो के विषय मे, हमे

९६ Political Philosophy' P 50.

९७ हरिजन, १९३६, पृष्ठ १४१

९८. हरिजन, १९४६, पृष्ठ २४९

९९. Young India III, P. 143.

विश्वास है कि वे प्रार्थना और प्रायश्चित्त के द्वारा पवित्रता को प्राप्त कर अपना जीवन व्यतीत करते रहे हैं, उन्हीं की विवेक-पूर्ण अनुभूति को अपनाना सच्ची श्रद्धा है। इसलिये सुदूर पूर्व-कालीन पैगम्बरों या अवतारों में विश्वास करना निरर्थक मिथ्या भ्रम नहीं कहा जा सकता, बल्कि वह अन्तर्निहित आत्मिक जिज्ञासा को सन्तोषदायी होता है।"[१००] इसलिये निष्कर्ष यह निकलता है कि "आत्मा या परमात्मा ज्ञान का विषय नहीं है। वह ज्ञाता स्वयं है, और इसलिये वह बुद्धि के परे है। ईश्वर को जानने के हेतु दो सीढ़ियां हैं—पहली सीढ़ी है, विश्वास या (श्रद्धा), और दूसरी तथा आखिरी सीढ़ी है—उस (श्रद्धा) से उत्पन्न अनुभव-गम्य ज्ञान।"[१०१] इस तरह "श्रद्धा तर्क का विरोध नहीं करती, वरन् उसका अतिक्रमण करती है। श्रद्धा एक प्रकार से छठवीं इन्द्रिय है, जिसका कार्य उन क्षेत्रों में होता है, जो तर्क-क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते"।[१०२] "श्रद्धा कुछ नहीं है केवल एक ऐसा जीवन है, जिसमें अन्तर्स्थित परमात्मा की भली-भांति प्रतीति रहती है।"[१०३] यह ईश्वर-प्रतीति क्या है? वह है अखण्डित पूर्ण सद्गुणों का अन्तर्स्थित समुच्चय। गुण ही ईश्वर है, यह कहना गलत है, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि सत्य ईश्वर है, अहिंसा ईश्वर है, सद्गुण ईश्वर है, जीवन ईश्वर है, प्रेम ईश्वर है, आनन्द ईश्वर है इत्यादि। परन्तु यह कह सकते हैं कि ईश्वर ही सत्य है, ईश्वर प्रेम है, ईश्वर आनन्द है इत्यादि। लेकिन गांधीजी का तर्क यह है कि ये सद्गुण ईश्वर से भिन्न नहीं। वे निरे विशेषण नहीं हैं। वे तद्रूप ही हैं। "अगर हम अच्छाई (goodness) को ईश्वर से भिन्न मानने लग जाय, तो वह एक निर्जीव वस्तु हो जायगी और उसकी स्थिति तभी तक रहेगी, जब तक कि प्राप्ति-सिद्धि होगी। इसी तरह सभी नैतिक गुणों (morals) का हाल जानो। यदि हम चाहें कि उनका वास हममें बना रहे, तो हमें चाहिये कि हम उन्हें ईश्वर से ही सम्बन्धित समझें और उसी दृष्टि से उनका अभ्यास करें। हम सद्गुणी होना चाहते हैं, क्योंकि हम ईश्वर की प्राप्ति और अनुभूति करना

---

१००. देखो फुटनोट ९९

१०१. Quotation of Gandhiji's letter from Diary I, P 135 in Political Philosophy on page 52

१०२ हरिजन, १९३७, पृष्ठ २६

१०३. "Faith is nothing but a life, wide awake consciousness of God within" Young India II, P 1116

चाहते है।" [१०४] इसी दृष्टि से उन्होने बाद मे अपने पूर्व-कथित वक्तव्य का परिवर्तन कर दिया था। पहले वे कहते थे "ईश्वर सत्य है" (God is Truth) परन्तु सन् १९२९ मे उन्होने यह कहना प्रारम्भ किया कि "सत्य ईश्वर है"। (Truth is God) [१०५] जैसा कि उनके निम्न वाक्य से सिद्ध होता है। उनका कथन है कि "सच पूछा जाय, तो 'ईश्वर सत्य है,' यह कहने की अपेक्षा 'सत्य ईश्वर है' यह कहना अधिक सही है।" [१०६] इसी तरह प्रेम, अहिंसा आदि सद्गुणो के विषय मे ज्ञान करना अभिप्रेत है।

(२) व्रत—

ईश्वर की प्रतीति, ईश्वर-दर्शन या ईश्वरागमन आन्तरिक पवित्रता को प्राप्त किये विना सम्भव नही। इसीलिये हमारी समझ मे पातञ्जलि ने पहला नियम, 'शौच (पविनता) रखा है। यही नियम बाइबिल मे यह कहकर बताया है कि "धन्य है वे जिनका हृदय शुद्ध है, क्योकि उन्हे ईश्वर के दर्शन होगे।" [१०७] कितने आश्चर्य की बात है कि जब हम अपने घर या देश मे किसी अतिथि के आगमन की प्रतीक्षा करते है, तब तो हम कितने ही दिनो से घर-बार आदि की शुद्धता करने मे जुट जाते है, परन्तु पवित्रो के पवित्र ईश्वर को गन्दे से गन्दे हृदयस्थ मन्दिर मे बुलाकर बैठालने की सोचा करते है? गाधीजी का सदैव यह प्रयत्न रहा कि वे अपने हृदय-मन्दिर को इतना पवित्र करते जाय कि उन्हे नित्यप्रति ईश्वर-सामीप्य का प्रकाशमय आनन्द मिलता ही रहे। इस पवित्रता के लिये जो विचार या यत्न किया जाता है, उसे सकल्प, तप, व्रत, प्रतिज्ञा, प्रण (vow) आदि कहते है। ये व्रत शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शुद्धि के लिये हुआ करते है, और चूकि मनुष्य इन तीनो के सम्मिश्रण का परिणाम स्वरूप है, इसलिये तत्वर्गीय तीनो प्रकार के व्रतो का महत्त्व है। गाधीजी ने कहा है कि "मेरा जीवन व्रतो पर रचा गया है"। [१०८] उनके कथनानुसार" "अपने कर्त्तव्य को हर मुसीबत मे करते रहना ही व्रत कहाता है।" [१०९] परन्तु व्रत लेने का यह मतलब नही

---

१०४ हरिजन, १९४७, पृष्ठ २८५

१०५ Political Philosophy, P 46 (Footnote no. 29)

१०६ Yervada Mandir, P 1

१०७ Bible Mathew V-8

१०८. आत्म-कथा (खड २), पृष्ठ २९७

१०९. Yervada Mandir P 75 (Poli Phil P 62)

होता कि हम प्रारम्भ में ही उसका पूर्णरूप से प्रतिपालन करने योग्य हो जाते हैं, पर यह अर्थ होता है कि उनकी पूर्ति के लिये हम निरन्तर निष्कपट चेष्टा करते जायें।"[110] और "जब कभी व्रतों के विषय में सन्देह हो, तो व्रतधारी को चाहिये कि वह उनका अर्थ अपने विपरीत ही निकाले अर्थात् अधिकाधिक नियंत्रण के पक्ष में।"[111] परन्तु एक बात पर अवश्य ध्यान रहे और वह यह कि "व्रत धारण केवल उन्हीं बातों पर हो, जो सर्वमान्य सिद्धान्तों वाली हों (on points of universally recognized principle)" "व्रत का प्रतिपालन किले के समान होता है, जो भयंकर प्रलोभनों से रक्षा करता है। यह मानवी कमजोरी और सदिग्धता रूपी रोगों का निवारण कर देता है।"[112] कई लोग व्रत (vow) को बंधन समझते हैं और इसलिये वे प्रयत्न (efforts) करने ही में विश्वास करते हैं। गांधीजी को यह पसन्द नहीं। उनका कहना है कि "व्रत बंधन नहीं, स्वतन्त्रता का द्वार है। प्रयत्नों में आवश्यक सफलता नहीं मिलती, क्योंकि प्रयत्न-कारी में निश्चय का अभाव रहता है, एवं आत्मशक्ति और ईश्वर पर अविश्वास रहता है। फलतः मन अनेक तरंगों और विकारों के अधीन रह जाता है। व्रत-बन्धन से पृथक् रहकर मनुष्य मोह में पड़ जाता है। व्रत में अपने को बांधना मानो व्यभिचार से छूट कर एक पत्नी से सम्बन्ध रखना है। मेरा तो विश्वास प्रयत्न में है। व्रत के द्वारा मैं बंधना नहीं चाहता, यह वचन निर्बलता-सूचक है। जो चीज त्याज्य है, उसे सर्वथा छोड़ देने में कौनसी हानि हो सकती है। जहाँ किसी चीज से वैराग्य हो गया है, वहाँ उसके लिये व्रत लेना अपने आप अनिवार्य हो जाता है।"[114]

गान्धीजी के प्रधान व्रत वे ही पांच यम (नियंत्रण) हैं, जिनका उल्लेख पातञ्जलि के योग-दर्शन में किया है, और जिनका उद्धरण हम अभी कुछ पहले कर चुके हैं। इसलिये अब हम उन यमों और उन व्रतों का संक्षिप्त विवरण देंगे, जो गांधी-जीवन के प्रधान अंग हैं।

(क) सत्य—गांधीवाद में सत्य के दो रूप बताये गये हैं। एक अखण्ड या पूर्ण सत्य, जिसे हमने पहले अनविच्छिन्न सत्य कहा है, और जिसका उल्था अंग्रेजी

---

११० Yervada Mandir P. 27 (Poli Phil P 62)

१११ Bapu's Letters to Mira P. 43 (Poli Phil P 62)

११२ Cited in Pol Phil on P 62 from Yervada Mandir

११३ My Early Life P. 97

११४ आत्म-कथा (खंड १), पृष्ठ ३३९-४०

मे (Absolute Truth) किया गया है। यह वही मूल सत् है, जिसके विषय मे पहले काफी कहा जा चुका है। दूसरा रूप है खडित, अपूर्ण अथवा अवच्छिन्न सत्य, जिसका उल्था अग्रेजी मे (Relative Truth) किया है। नियम यह है कि यद्यपि शरीरधारी पूर्णता नही प्राप्त कर सकता, तथापि वह लौकिक अथवा खडित सत्य (Relative Truth) का प्रतिपालन करता हुआ पूर्ण सत्य की ओर अग्रसर होता जा सकता है। गाधीजी कहते हैं कि "हम इस क्षण-भगुर शरीर के द्वारा शाश्वत सत्य का साक्षात्कार नही कर सकते, परन्तु यदि उसी सत्य का पालन करते जाय, जिसे हम सत्य समझते है, तो उस शाश्वत सत्य की ओर बढते जा सकते है।"[११५] क्या सत्य है और क्या असत्य, यह पहचानना कभी-कभी बडे-बडे विद्वानो के लिये भी कठिन होता है। इसके लिये गाधीजी ने एक कसौटी बना दी है। उनका कहना है कि "अमुक समय पर पवित्र हृदय को जो प्रतीति हो, वही सत्य है, उसी पर रहने से अमिश्रित सत्य की प्राप्ति हो जाती है।"[११६] पर देखिये कही विद्वेष, काम, क्रोध आदि युक्त हृदय को पवित्र हृदय न समझ बैठना वरना अनर्थ होगा। ऐसा कोई क्षेत्र नही जिसमे सत्य की आवश्यकता न हो और उसका प्रयोग न हो सकता हो। राजनीतिक क्षेत्र मे जितना अधिक असत्य का बोल-बाला था, उसे देख कर तो गाधीजी तिलमिला उठे थे। राजनीति के अतिरिक्त व्यवहार, व्यापार तथा अन्य सामाजिक क्षेत्रो मे भी असत्य को निकाल सत्य का प्रचार करने के उन्होंने भरसक प्रयत्न किये। सत्य एक ऐसा नैतिक गुण है कि उससे विद्वेषाग्नि बुझाई जा सकती है और सहनशीलता आ सकती है, जो एकत्व स्थापना के स्तम्भ है।

(ख) अहिंसा—पूर्ण सत् का साथी पूर्ण अहिसा इस प्रकार है, जैसे किसी धातु की बिना नक्श हुई चद्दर की दो बाजुएँ। इसलिये पूर्ण अहिसा का भी बर्तना शरीरधारी के लिये असम्भव है।[११७] फिर भी यदि वह अपूर्ण सत्य के साथ ही साथ अपूर्ण अहिसा का प्रतिपादन करता जाय, तो पूर्ण अहिसा के निकटस्थ पहुँच सकता है। चूकि शरीर ही निष्कटक अहिसा के मार्ग मे बाधक होता है, इसलिये शरीर-त्याग की आवश्यकता बताई गई है। परन्तु शरीर-त्याग का अर्थ आत्मघात नही होता, बल्कि 'अहकार' भाव का त्याग होता है, इसलिये अह भावना को त्यागते जाना चाहिये। उदाहरणार्थ, आप मानो मार्ग से सावधानीपूर्वक किसी कार्य के लिये

---

११५ Cited in Pol Phil on page 63-64.

११६ हरिजन, १९४९, पृष्ठ ३४०

११७ गीता १८।१७ पर गाधी-कृत टीका, "अनासक्ति योग" देखो

चले जाते है, और मार्ग मे यदि आपके अनजान मे आपके पैर से कोई चीटी दब कर मर जाय, तो आप निर्दोष हैं, क्योकि चीटी को दाब कर मार डालने का अह-भाव आप मे नही था और इसी कारण आप की बुद्धि भी उसमे लिप्त नही थी। इसी तरह पवित्र हृदय से उत्पन्न सद्भावना वाले कर्मयोगी की कर्म-सलग्नता के कारण कभी कोई अनर्थ उससे हो जाता है, तो वह उस दोष से विमुक्त रहता है।

"सत्य की अनुभूति केवल अहिंसा के द्वारा ही हो सकती है। अहिंसा हमारे ध्येय तक पहुँचाने मे असमर्थ रहती है, क्योकि उसकी जडे क्रोध, स्वार्थ, तृष्णादि की विभिन्न कुवृत्तियो मे धसी रहती हैं, और इसलिये भी कि हिंसा असत्य (अ+सत्य) ही है, अर्थात् उसका अस्तित्व नही। यदि असत्य की स्थिति होती और अपने तथा दूसरो के लिये सत्य की स्थिति न होती—यदि जीवन और प्रकृति के सभी नियम अनिश्चित और अनाश्रित होते—तो सारा विश्व क्रान्तिमय, अर्थात् छितर-बितर (chaos) हो जाता।"

"तब फिर प्रश्न यह उठता है कि हिंसा असत्य ही क्यो मानी जाय ? इसलिये कि मनुष्य जिस सत्य से परिचित है वह पूर्ण सत्य नही, बल्कि अवच्छिन्न सत्य है। मनुष्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से पदार्थ को देखा करते है और एक ही वस्तु के विषय मे सब का विवेक (conscience) एक-सा नही हुआ करता। कोई भी मनुष्य इस का दावा नही कर सकता कि वही पूर्ण रूप से सही है। इसलिये सत्य का प्रगतिशील अनुगामी इस बात को कभी स्वीकार नही करता कि उसके विरोध पक्ष वाले पर हिंसा की जाय। वह तो चाहता है कि अपने धैर्य और सहानुभूति, अर्थात् आत्म-तप (self-suffering) के द्वारा उसका (विरोधी का) उसकी गलती से उद्धार किया जाय। आत्म-तप के द्वारा परोद्धार करने के नियम मे एक विशेष महत्त्व है। और वह यह है कि अगर आत्म-तपस्वी स्वय भूल मे हो और दूसरे को गलत मार्ग पर समझता हो, तो ऐसी अन्याययुक्त हालत मे भी वह खुद ही कष्ट भोगता है।[११८]

"इसके अतिरिक्त हिंसा का आक्रमण निरे पाप और दुष्कर्म पर नही होता, वरन् पापी और दुष्कर्मी पर भी हुआ करता है। इससे उस महान् सत्य पर आघात पहुँचता है, जो समस्त प्राणियो की प्रतिष्ठा और ऐक्य के रूप मे विद्यमान है"।[११९] फिर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि "जिस सत्य की खोज हम करना चाहते

---

११८ Citations in Pol. Phil on page 67

११९ Autobiography II, Pp 53-54 (Pol Phil P 67)

हैं, वह हमारे अन्दर ही है बाहर नहीं। जितना अधिक हिंसा का प्रयोग हम कठिनाइयों को उपस्थित करने वाले लोगों के विरुद्ध करते हैं, उतने ही दूर हम उस सत्य से हटते जाते हैं, क्योंकि बाहरी काल्पनिक शत्रु से लड़ने में हम आन्तरिक यथार्थ शत्रु को भूल जाते हैं।"[१२०] इससे यह स्पष्ट है कि "अहिंसा आत्मिक ऐक्य के महान् सत्य का व्यावहारिक प्रयोग है।"[१२१] अर्थात् गांधीजी के शब्दों में "जिस मूल सिद्धान्त पर अहिंसा का प्रयोग आधारित है, वह यह है कि जो नियम किसी एक के लिये लागू हो, वही सारे विश्व को लागू रहता है।"[१२२]

अहिंसा सत्य का लक्षण या गुण है। चूंकि गुण वस्तु से भिन्न नहीं रह सकता, इसलिये गुण की प्राप्ति से वस्तु की प्राप्ति भी हो जाती है। अतः अहिंसा सत्य-प्राप्ति का द्वार है। परन्तु वस्तु वस्तु ही है और गुण गुण ही। इसलिये सत्य के हेतु यदि अहिंसा का त्याग करना पड़े, तो वह गान्धी को मान्य था, परन्तु सत् का परित्याग वे किसी भी कारणवश बरदाश्त नहीं कर सकते थे। उनके समक्ष सत् तो सर्वोत्कृष्ट नियम है और अहिंसा उसे प्राप्त करने का सर्वोत्कृष्ट कर्त्तव्य।[१२३]

यदि कोई यह कहे कि 'हिंसा' प्रधान है और 'अहिंसा' गौण, क्योंकि 'अहिंसा' शब्द 'हिंसा' का नकारात्मक है, जो हिंसा के पहले 'अ' प्रत्यय लगा लेने से बन गया है, तो उसे गांधीजी के तत्सम्बन्धी कथनों पर विचार करना चाहिए। यदि अहिंसा पर कथित उनके वक्तव्यों का हम उल्लेख करते जायगे, तो विस्तार होता जायगा और इसलिये अरुचिकर भी। इसलिये, इस प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त है कि हिंसा शरीर का लक्षण होता है और अहिंसा आत्मा या सत् का। चूंकि आत्मा या सत् मूल स्थिति है और शरीर उसके बाद की, इसलिये हिंसा वृत्ति भी बाद की होगी। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि जब तक आत्मा (जीवात्मा) शरीर से बंधी रहती है, तभी तक हिंसा रहती है। हिंसा का उत्तरोत्तर त्याग होते जाने पर, अथवा अहिंसा का उत्तरोत्तर पालन करते जाने पर जीवात्मा शरीर-बन्धन से मुक्त हो जाती है और अपनी अहिंसात्मक मूल स्थिति को प्राप्त कर लेती है।

अहिंसा के विषय में एक नियम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह यह है कि उसे प्रयोग में लाने वाले को सुयोग्य अथवा अधिकारी होना चाहिये। यदि

---

१२० Yervada Mandir P 10

१२१ Political Philosophy P 67.

१२२. हरिजन, १९३८, पृष्ठ ३२७

१२३. हरिजन, १९३६, पृष्ठ ४९

अनविकारी ने उसको छुआ, तो दोनो पक्षो के लिये हानिप्रद सिद्ध होता है। जव तक स्वय अधिकारी न हो पाया हो, तव तक उसके अधिकारियो का ही अनुसरण करना चाहिये। इसी का नाम शिष्टाचार है। दूसरी बात जो सदा अपने हृदय मे वैठा लेना चाहिये, वह यह हे कि हिंसा के अन्तर्गत वे सव शारीरिक कार्य, मानसिक या वौद्धिक विचार या धारणाएँ, एव हार्दिक गतिया आ जाती है, जो आत्म-ऐक्य की स्थापना मे वावक रूप हो। इस दृष्टि से आर्थिक जीवन की अस-मानताएँ भी, जो समाज मे उपस्थित रहती हैं, आ जाती हैं।

(ग) **अभय**—योग-दर्शन मे अभय को सम्भवत इसलिये अलग स्थान नही दिया गया है कि वह सत्य और अहिंसा के अन्तर्गत आ सकता है; परन्तु हमारी समझ मे जव उसे वेद-व्यास ने दैवी सम्पदा मे सत्य और अहिंसा के अतिरिक्त ही कहा है और गाधीजी ने भी उसे विशिष्ट रूप दिया है, तो उस पर अलग से ही विचार कर लेना अति लाभदायक होगा। गाधीवाद मे अभय का उतना ही उत्कृष्ट स्थान है, जितना कि अहिंसा का, वल्कि उससे भी अधिक। अहिंसा के समान अभय भी सत्य का चिरस्थायी लक्षण है। जहाँ सत्य है, वहा भय का नामो-निशान नही रह पाता। इस अभय का अर्थ लोग उद्दण्डता, पाशविक वल, शारी-रिक दमन, धर-पकड अथवा गला-घोटूपन आदि लगाया करते थे, परन्तु गाधी ने उसके अर्थ मे एक विशेषत्व उत्पन्न कर दिया। उन्होने अपने जीवन के कार्यो से, जो उन्हे व्यक्तिगत रूप तथा समाज-सेवक के नाते करना पडा, यह सिद्ध कर दिया कि दूसरो के प्रति पाशविक अर्थात् शारीरिक वल का प्रयोग करना—विशेषकर अशक्त व्यक्तियो या देशो के प्रति—निर्भीकता का नही, वल्कि कायरता का चिह्न होता है। दूसरो पर आघात करना या दूसरो की हत्या कर डालना मर्दूमी या वीरता नही कहाती। सव से वडी वीरता तो तव होती है, जव आदमी इतना साहसी हो जाय कि अवकाश के अनुसार वह अपने निजी जीवन को समाप्त कर सके—कायरतापूर्ण आत्म-कुशी करके नही, वल्कि उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य करते हुए। पराये हित के लिये मर मिटना और स्वार्थ के लिये किसी के प्रति उफ तक नही करना, यही गावीवाद के अभय की कसौटी हे। यो तो इतिहास, पुराण या कथा-वार्ताओ मे राजा शिवि और ऋषि दवीचि आदि के अनेक दृष्टात मिलते है, जिन्होने पर-हितार्थ, दूसरो के प्रति अहिंसा वर्ती और स्वय मर-मिट गये, परन्तु गाधी ने अपने अहिंसा और अभयतत्व को व्यक्तित्व के क्षेत्र से निकाल कर सर्वत्र व्यापक कर दिया। उन्होने उसका प्रयोग राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रो मे भी विस्तीर्ण रूप से किया। उन्होने जिसे सत्य समझा, उससे वे कभी पीछे नही हटे—अभयपूर्वक अहिंसात्मक उपायो का अवलम्वन कर उसका पालन किया।

यदि कभी उन्हे यह विदित हुआ कि उन्होने असत्य को सत्य समझ लिया है, तो उन्होने खुले आम प्रायश्चित किया, और पूर्व मे निश्चित किये गये मार्ग से अपने कदम हटा लिये। ऐसी हालत मे लोगो ने उन पर कायरता, मूर्खता आदि के दोष लगाये, पर वे इस प्रकार की जन-सम्मति या जन-विद्रोह से कभी डरे नही।

गाधीवाद मे अहिंसा से भी अधिक अभय का स्थान है। यदि किसी मे अपने आप को मिटा डालने की क्षमता न आई हो, तो गाधीजी का आदेश है कि ऐसे आदमी को डर के मारे निश्चित कर्म-मार्ग मे भागना नही चाहिये और आखीर तक दुश्मन का मुकाबला करते रहना चाहिये, क्योकि वे डरपोकपन को हिंसा से भी घोरतर पाप समझते थे। "डरपोकपन रक्त-प्रवाह तथा अन्य और हिंसाओ की अपेक्षा सम्भवत घोरतम हिसा होती है, घोरतम नही, तो कम से कम घोर-तर तो अवश्य हे, क्योकि वह ईश्वर मे श्रद्धा एव ईश्वर के गुणो की अज्ञानता से उत्पन्न होता हे।"[१२४] डरपोकपन भय से उत्पन्न होता है, और भय होता है वाह्य वस्तुओ के कारण। उदाहरणार्थ बीमारी का भय, शारीरिक चोटो या जख्मो का भय, द्रव्यापहरण का भय, मानापमान का भय, अपनी तथा सुहृदो आदि की मृत्यु का भय इत्यादि। इसलिये गाधीजी ने कहा है कि "वाह्य भयो से मुक्त हो जाना ही अभय कहलाता है।"[१२५] "ये वाह्य भय शरीर रूपी केन्द्र के आसपास घूमा करते हे और इसलिये ज्योही शरीर का मोह छूट जाता है, त्यो ही वे सब गायब हो जाते हे।"[१२६] चूकि शरीर असत्य और हिंसायुक्त है, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, इसलिये यह कह सकते हे कि "भय की जड असत्य और हिसा ही हे।।"[१२७] अत शरीर के भयो की ओर यदि मुख मोड लिया जाय और "ईश्वर का भय खाने लग जाय तो मनुष्य का डरना भी वन्द हो जाय।"[१२८]

(घ) उपवास—मौन—प्रायश्चित्त—प्रार्थना—सनातन धर्म मे, जिसे लोग हिन्दू धर्म कहने लग गये हैं, उपवास का वडा महत्त्व है। पुराणकारो ने तो इसे इतना वढाया और नियमित कर दिया है कि प्रतिमाह की कदाचित् ही कोई तिथि ऐसी हो, जिस दिन उपवास करना न कहा गया हो। सनातन धर्म ही क्या, अन्य और सभी धर्म-मतो मे उपवास-व्रत का पालन करना कहा गया है,

---

१२४. Young India III, P 976

१२५. Yervada Mandir, P 43

१२६. Yervada Mandir, P 45

१२७. Political Philosophy, P 90

१२८. Speeches, P 217

यहाँ तक कि एक सप्ताह तथा एक माह तक लगातार उपवास का आदेश है, परन्तु प्राय सभी लोग उपवास का न तो यथार्थ अर्थ ही समझते, और न उसकी साधना ही यथार्थ रूप से करते है। कोई निराहार, कोई अल्पाहार, कोई फलाहार, कोई दूध या मिष्टाहार और कोई निर्जल ही उपवास किया करते है। कम खाना या बिलकुल न खाना ही उपवास के माने रह गये है। इस प्रकार भूखो मरने से क्या लाभ, ऐसा कई एक विद्वान् कहते है। बहुत अधिक हुआ तो आजकल के डाक्टरो, वैद्यो, पदार्थ विज्ञानियो या अगर-मगर वाले तर्कशास्त्रियो ने यह बता दिया है कि उपवास करने से पाचन-शक्ति व्यवस्थित हो जाती है, रोग हट जाते हैं, शरीर भला-चगा बन जाता है। और कोई इनसे भी अधिक विचारवान हुआ, तो यह कहने लगता है कि उपवास से शारीरिक लाभ के साथ-साथ स्मरण-शक्ति की तीव्रता और बौद्धिक वृद्धि आदि मानसिक लाभ भी होते है। शरीर ही, और बहुत हुआ तो मन ही, जिनकी दुनिया है अथवा शरीर और मन तक ही जिनकी पहुँच है, वे इससे अधिक जान ही क्या सकते हे। जो लोग यह समझते हैं कि केवल उपवास अर्थात् निराहार या अल्पाहार से मन शुद्ध हो जाता है वे भूल करते है। इस विषय मे गाधीजी के ये वाक्य विचारणीय हैं, उनका कथन है कि "मलिन मन उपवास से शुद्ध नही होता, भोजन का उस पर असर नही होता। मन की मलिनता विचार से, ईश्वर-ध्यान से और अन्त मे ईश्वर-प्रसाद से ही मिटती हे, परन्तु मन का शरीर के साथ निकट सम्बन्ध है और विकारयुक्त मन अपने अनुकूल भोजन की तलाश मे रहता है और फिर उस भोजन और भोगो का असर मन पर होता है। इस अश तक भोजन पर अकुश रखने की और निराहार की आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है। (चूकि) विकार-युक्त मन शरीर और इन्द्रियो पर अपना अधिकार करने के बदले शरीर और इन्द्रियो के अधीन चलता है, इस कारण भी शरीर के लिये शुद्ध और कम से कम विकारोत्पादक भोजन की मर्यादा की, और प्रसगोपात्त निराहार की (अथवा) उपवास की आवश्यकता रहती है। इसलिये जो यह कहते है कि एक सयमी के लिये भोजन सम्बन्धी मर्यादा की या उपवास की आवश्यकता नही, वे उतने ही भ्रम मे पडे हुए ह, जितना कि भोजन और निराहार को सब कुछ समझने वाले पडे हुए हैं। मेरा तो अनुभव यह सिखलाता है कि जिसका मन सयम की ओर जा रहा है, उसके लिये भोजन की मर्यादा और निराहार बहुत सहायक होते हैं। उसकी मदद के बिना मन की निर्विकारता असम्भव मालूम होती है।"[१२९]

---

१२९ आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ १७१-१७२

उपवास यथार्थ मे वह भावना है, जो साधक को आत्म-स्वरूप ईश्वर के निकट तक पहुँचा देता है। और इसी अभिप्राय से गाधीजी उसकी साधना करते थे। आत्म-शुद्धि एव ईश्वर-सामीप्य का अनुभव उसके द्वारा उन्हे मिलता था। इसलिये गाधीवाद मे, जो प्रधानत आत्मवाद ही है, उपवास का विशेष स्थान है। वह कैसे ? यही हम अब देखेगे।

शब्द-ज्ञान के बिना भाव-ज्ञान नही होता, और शब्द-ज्ञान शाब्दिक व्युत्पत्ति को जाने बिना भ्रमपूर्ण रहता है। इसलिये उपवास का व्युत्पत्तिक अर्थ जान लेना आवश्यक है। 'अ' नाम का व्यक्ति 'उपप्रधान' है, ऐसा सुनने से हमारे मन मे फौरन किसी ऐसे व्यक्ति का विचार आ जाता है, जो 'प्रधान' हो। गरज यह कि 'उप-प्रधान' प्रधान तो नही होता, पर 'प्रधान' के अत्यन्त समीपस्थ स्थान का अधिकारी होता है, यहा तक कि 'प्रधान' की अनुपस्थिति मे उसी पर सब कार्य भार चलाने का उत्तरदायित्व रहता है, और वह अपने इस उत्तरदायित्व को 'प्रधान' की योग्यता के समान निभाता भी अच्छी तरह से है। यही 'उप' उपसर्ग का अर्थ होता है। इसी दृष्टि से 'उपवास' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है।

'उपवास' शब्द के पर्यायवाची शब्द और भी है, जैसे उपास, उपवेश, उपवेशन या प्रायोपवेशन। 'उपवास' एक प्रकार की 'उपासना' है, इसीलिये उपवास को उपासना भी कहते है। यदि हम इन सब शब्दो का सधि-विग्रह करके देखे, तो उनका रूप निम्न प्रकार से हो जाता है —

१—उपवास = उप + वास
२—उपास = उप + आस
३—उपासना = उप + आसना
४—उपवेश = उप + वेश
५—प्रायोपवेशन् = प्राय + उप + वेशन्

यदि इन सयुक्त शब्दो के मूल शब्दो को लेकर उनके धात्वर्थ पर विचार किया जाय, तो सब का अर्थ एक ही भाव को प्रदर्शित करने वाला निकलता है। वह इस प्रकार है —

(१) 'वास्'—'वस' धातु का रूपान्तर है। अर्थ होता है 'बसना' या 'रहना'।

(२) 'आस' और 'आसना' 'आस्' धातु का रूपान्तर है। 'आस्' का अर्थ होता है 'बैठना' (to sit) 'आस्' क्रिया से 'आस' सज्ञा बनी, जिसका अर्थ है 'बैठक', 'स्थिति' (seat)।

(३) 'वेश' या 'वेशन'—'विश्' धातु का रूपान्तर है। 'विश्' का अर्थ होता है 'घुसना' (to enter), इसलिये 'विश्' से वेशन् संज्ञा बनी।

अत उपरोक्त शब्दों का अर्थ क्रमश यह हुआ —

(१) निकट से निकट वास करने लगना
(२) " " स्थिति पर पहुँचना
(३) " " तक प्रविष्ट कर जाना (प्रायोपवेशन' मे दो उपसर्ग हैं, परन्तु दोनो 'निकटता' के ही द्योतक है। 'प्राय' अथवा 'प्राय' का अर्थ 'उप' ही के समान होता है (प्राय॰ almost)।

ईश्वर-प्राप्ति अर्थात् पूर्ण ईश्वर-स्वरूप हो जाना अहयुक्त शरीरधारी के लिये सम्भव नही, पर ऋषियों और गान्धी का निदान है, जो सच ही है। इसलिये शरीरधारी ईश्वर-समीप्यावस्था ही का अनुभव कर सकता है। और इसी समीप्यावस्था का ज्ञान उपवास आदि उपरोक्त शब्दो द्वारा कराया गया है। किसी वस्तु या स्थिति का ज्ञान या दर्शन होना एक बात है, और उसे प्राप्त करने के हेतु कर्म करते हुए अग्रसर होते जाना दूसरी बात।[१३०] इसलिये भाषार्थ को छोड अब उपवास कर्म का ही निरीक्षण करना चाहिये।

उपवास अपरिग्रह अर्थात् त्याग (non-possession) का ही एक रूप है। वह त्याग करता है, भोज्य और पेय आदि पदार्थों का, क्योकि वे कमी-बेशी से सत्-रज-तम् तीनो गुणो के उत्पादक और वृद्धिकारक होते है। उनका त्याग करना मानो उक्त गुणो के त्याग करने की ओर बढना है। गुणो के परे ही जो कुछ है, उसी का नाम ईश्वर है। इसीलिये उसे गुणातीत कहते हैं। "गुणेभ्यश्च परंवेत्ति मद्भावमोऽधिगच्छति" अर्थात् गुणो के परे को जो जानता है, वही मेरे भाव तक पहुँचता है, और "गुणानेतानतीत्यत्रीन्देही देह समुद्भवान्" अर्थात् देह को उद्भव करने वाले इन तीनो गुणो के परे जो है वही (देह का स्वामी) देही

---

१३० आरुरुक्षोर्मुनेर्योग कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शम कारणमुच्यते॥ गीता ६।३

अर्थात् (जिस प्रकार वृक्ष-फल को प्राप्त करने के लिये वृक्ष पर चढनेवाला फल के पास तक पहुचने के लिए चढता जाता है और फल मिल जाने पर शान्त हो जाता है) उसी प्रकार चढते हुए मुनि को योग-प्राप्ति के लिये कर्म करना पडता है, और जब योग प्राप्त हो जाता है, तब उन कर्मों का शमन हो जाता है।

कहलाता है[१३१] यह त्याग की क्रिया समय-समय पर दुहराते रहना चाहिए, और उसका अरसा बढाने का भी अभ्यास करना चाहिये। गुणो के निराकरण करने के हेतु ही 'लघ्वासी' (गीता १८।५२) अर्थात् मिताहारी बनने की शिक्षा दी गई है, और इसीलिये गाधीजी ने मिताहार को निरन्तर उपवास सज्ञा (Perpetual fast of the body) के अन्तर्गत माना है।[१३२] परन्तु केवल भोज्य और पेय आदि पदार्थों के त्याग मात्र से गुणातीत अवस्था तक पहुँच जाना सम्भव नही। उसके लिये मनन और चिंतन की आवश्यकता भी होती है, क्योंकि मन ही तो सभी इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। इसलिये उपरोक्त त्याग के साथ आत्म-चिंतन अथवा ईश्वर-चिन्तन भी करना चाहिये, जो ऐसे एकान्त स्थान मे बैठकर किया जाय, जहाँ पर जन-समूह न हो। "विविक्त देश सेवित्वमरतिर्जन ससदि"।[१३३] इस तरह जब अभ्यास और वैराग्य (त्याग) करते-करते चिन्तन मे मन स्थिर हो जाता है, तब वाणी समेत अन्य सभी बाह्य इन्द्रिया ठिठक जाती हैं और अपने-अपने विषयो को इस तरह जवाब दे देती है, जैसे हवा की लहरे चट्टान से टकरा-टकरा कर लौट जाती है। यही भाव गाधीजी ने यह कहकर व्यक्त किया है कि "उपवास विस्तृत क्षेत्र का हो—शारीरिक उपवास के समय समस्त इन्द्रिय उपवास भी चलना चाहिये"।[१३४] अर्थात् ऐन्द्रिक विषय-वासनाओ का भी त्याग हो। मन बुद्धि के स्थिर हो जाने पर वाणी आदि इन्द्रियो का व्यापार जब बन्द हो जाता है, तब उसे **मौनावस्था** कहते हैं। मौन, मौनो, मुनि, मनुष्य, मानुष, मनु, इजिप्ट भाषा का मनिस (manes), ग्रीक का मिनॉस (minos), और हेब्रू का मोसेस (moses) इत्यादि सस्कृत भाषा के 'मनस्' अथवा 'मन' शब्द के रूप है।[१३५] एकात मौन चिन्तन के समय हमारे गत कृत्यो की झाकी हमारे सामने झलकने लगती है। उस सम्बन्ध मे जो हम भूल या पाप कर गये है, वे हमे एक प्रकार से उस कृति मे कलक रूप, काले धब्बे से नजर आने लगते है, जिनके कारण हमे **प्रायश्चित्त** (प्राय + चित् = प्राय चेतना) अथवा **पश्चात्ताप** (पश्चात्-ताप) होता है। इसका परिणाम यह होता

---

१३१ गीता १४।१९-२०

१३२ Bapu's Letters to Mira (Cited in Pol. Phil P 139)

१३३ गीता १३।१०, १८।५२

१३४ देखो फुटनोट न० १३२

१३५. सस्कृत के इस 'मनस्' शब्द का ही प्रयोग पूर्वीय और पाश्चात्य भाषाओ मे उच्चारण-विधि के भेद से 'मन' और 'मनुष्य' का द्योतक होकर व्यक्त होता है, जैसे अग्रेजी मे 'man' और 'mind'।

है कि एक ओर तो हम अपनी पूर्व भूलों को पुनः करने से बचने का प्रयत्न करते हैं, और दूसरी ओर अपनी न्यूनताओं और असमर्थताओं को महसूस करते हुए सर्व-समर्थ पूर्णभगवान् की प्रार्थना करते हैं कि वह हमें भविष्य में पतन, पाप या भूलों से बचावे। इसलिये प्रायश्चित्त मुक्तिद्वार कहा जाता है, और प्रार्थना नम्रता, सरलता, तथा प्रकाश, तेज, एवं बल, आह्लादि का दायक। इसीलिये बाइबिल में भी कहा है—"पश्चात्ताप करो, क्योंकि स्वर्ग का राज्य निकट है"[१३६] तथा "धन्य हैं वे, जो दुखित होते हैं, क्योंकि उन्हें शान्ति मिलेगी"।[१३७] और "प्रार्थना ढोंगियों के समान सभागृहों एवं सड़कों पर न करो। अपनी कोठरी में किवाड़ बन्द करके उस जगत् पिता की किया करो, जो गुप्त रहता है। वही तुम्हें प्रकट पारितोषिक देगा।"[१३८] और "उपवास जब तुम करो, तब उदासमुखी ढोंगियों के समान मत बनो, क्योंकि वे अपनी शकल (सूरत) दूसरों को बताने के लिये कि उन्होंने उपवास किया है, बिगाड़ कर रखते हैं। उपवास के समय तुम्हारा मस्तक—अभिषिक्त हो और भाव उज्ज्वल।"[१३९] मस्तक अभिषिक्त हो और मुख उज्ज्वल इस रूपक में मानसिक प्रकाश और हार्दिक शुद्धता का भाव है।

गाधीजी की जीवनी में यह सब को भलीभांति प्रकट है कि वे उपवास आत्म-शुद्धि और आत्म-दर्शन के लिये समय-समय पर किया करते थे। जब कभी उन्हें विदित होता था कि वे व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक कार्यों में कुछ भूल कर बैठे हैं, तो वे उसे कभी नहीं छिपाते थे, बल्कि स्पष्ट स्वीकार करके उसके हेतु प्रायश्चित्त करते थे। उनके प्रायश्चित्त का यह स्वरूप बहुधा उपवास ही रहा करता था। उपवास-काल में वे कभी-कभी मौनव्रत भी धारण करते थे। उपवास उनका एक ऐसा साधन था जिसके द्वारा वे अपनी भूलों और अपूर्णता के कारण ढूंढते थे, तथा भावी कार्यक्रम के लिये प्रकाश भी पाते थे। जो लोग उपवास की यथार्थता को नहीं जानते, वे अक्सर यह कहा करते हैं कि गाधीजी दूसरों पर दबाव डालकर कार्य सिद्ध करने के हेतु उपवास करते थे। चूंकि वे लोकप्रिय थे और इसीलिये उनका जीवन लोक-दृष्टि में अति मूल्यवान अंकित किया जाता था, इसलिए विरुद्ध पक्ष वाले कहते हैं कि वे कभी लम्बे अर्से तक और कभी आमरण उपवास की धमकी देकर

---

१३६ St Mathew 3/2
१३७ St Mathew 5/4
१३८ ,, 6/5-6
१३९ ,, 6/16-17

राज्य-सरकार अथवा जनसमाज को अपने निर्दिष्ट उद्देश की प्राप्ति के लिये वाध्य करते थे। यह दवाव हिंसा नही तो और क्या है? परन्तु यह उनकी भूल है। उन्हे यह नही मालूम कि उपवास मे शरीर-मोह का कितना त्याग और ईश्वर की कितनी प्रकाशमय सन्धि निहित है। ईश्वर-समीपस्थ स्थिति कितना आत्मप्रकाश और आत्मवल दे सकती है, जिससे अपना तथा दूसरो का अन्धकार मिट सकता है, यह वे नही जानते। उन्हे यह भी नही मालूम कि एकात्मीय सिद्धान्तवाले महात्मा के सम्मुख स्व और पर की—मेरी और तेरी का वखेडा नही उठता। उसके लिये तो स्वात्म-तप (self-suffering) का वही स्थान है जो शरीर के एकअगीय सुख-दु खादि का अन्य अगो के साथ रहता है। वे वेचारे जिनकी पहुँच केवल शारीरिक वातो तक ही रहती है, सत्याग्रही के उपवास और दुराग्रही की भूख-हडताल (hunger-strike) के भेद को क्या जाने।[१४०] वे भूल जाते है कि कर्म-समीक्षा करते समय अधिष्ठान (motive), कर्त्ता (doer), करण (means), चेष्टाएँ (efforts) और दैव (uncontrolable element) इन पाच वातो पर ध्यान देना आवश्यक है।[१४१] किसी की टीका-टिप्पणी करने के पूर्व इन पाचो की पूरी छान-वीन करनी चाहिये। अव यदि हम दो-चार कथन-उद्धरणो को लेकर अपनी पूर्वकथित वातो की पुष्टि कर दे, तो उचित होगा।

"गाधीजी मौन प्रार्थना और उपवास की प्रशसा करते हुए कहते है कि वे आत्म-वृद्धि करने मे शक्ति-पूर्ण गुण और सत्य की खोज के अमूल्य सहायक होते है। मौन उनकी सम्मति से सत्याग्रही के आत्म-नियत्रण का एक भाग है। मौन के समय वे ईश्वर के साथ उत्तमतापूर्वक सम्पर्क स्थापित कर सकते थे।[१४२] मौनस्थिति के समय आत्मा को विशुद्धतर प्रकाश मे मार्ग मिल जाता है।[१४३] मनुष्य की प्राकृतिक कमजोरी अर्थात् जान-वूझकर या अनजान मे किसी वात को वढा-चढा देने, छुपा लेने अथवा परिवर्तित कर देने की प्रवृत्ति को पार करने के लिये मौन परमावश्यक है।"[१४४] एक ओर गाधीजी ने मौन का महत्त्व वताया है, तो दूसरी ओर प्रार्थना के विषय मे कहा है कि वह "धर्म को मूलात्मा और रूह ही है, और इसलिये प्रार्थना मनुष्य-जीवन का आन्तरिक हृदय ही होना चाहिये, क्योंकि कोई भी विना धर्म के

---

१४० इसका विशेष विवरण आगे मिलेगा।

१४१ गीता १८।१४ (इसी के साथ १५-१६ श्लोक भी पढिये)

१४२ Pol Phil 138

१४३. हरिजन, १९३८, पृष्ठ ३७३

१४४. Autobiography, P 153

जो नही मकता—विना प्रार्थना के आन्तरिक शान्ति नहीं होती ।"[१४५] "शरीर से मुक्त रखने वाली चेष्टा का नाम प्रार्थना है।"[१४६] वह व्यर्थ पुनर्कथन के रूप मे नही हुआ करती। "वह अन्त करण से निकली हुई मार्मिक उत्कठा ह, जो मनुष्य के प्रत्येक गब्द, कर्म और विचार के द्वारा व्यक्त होकर प्रकट होती है।"[१४७] परन्तु विना उपवास के प्रार्थना वेजान-सी चीज रहती है। इसीलिए गाधी जी ने कहा है कि "उपवास प्रार्थना मे जान डाल देता ह, और वह प्रार्थना का एक मार्मिक रूप है।"[१४८] "प्रार्थना और उपवास का जो घनिष्ट सम्वन्ध हे वह गाधी जी ने यह कहकर वतलाया है कि "विना उपवास के कोई प्रार्थना ही नही होती, और जो उपवास प्रार्थना का पूरितागी नही वनता, वह निरा शरीर-ताडन होता हे।"[१४९] "सच पूछा जाय, तो उपवास प्रार्थना का विशुद्ध रूप ही होता है। वह प्रायश्चित्त रूप तप (Penance) है और घनीभूत आत्मिक चेष्टा।"[१५०] सव से वडी वात यह है कि "सच्चे उपवास से उस शान्त अदृश्य शक्ति का उद्भव होता है, जो आवश्यक वल और पवित्रता प्राप्त करने पर समस्त मनुष्य वर्ग मे फैल जाती है।"[१५१] यह वात साधारणत जल्दी समझ मे नहीं आ सकती। क्यो ? इसलिये कि कम से कम समय मे अधिक से अधिक पढ जाने की आदत डालने तथा मननशील न होने के कारण हम न तो आत्म-स्थिति को ही जानते है और न उसकी अद्भुत शक्तियो को ही। यदि किसी तरह कहने सुनने से अथवा अधर्मी कहलाये जाने के भय से हमने आत्म-स्थिति को मान भी लिया, तो भी हमारा तत्सम्वन्धी परिचय केवल स्मृति और वाणी तक सीमा-वद्ध पडा रहता है, अर्थात् शब्द-रटन और घुम-घुमाव वाले कथन के रूपो मे व्यक्त होकर हमारा ज्ञान केवल विद्वत्ता का नाट्य-गृह वनकर रह जाता हे। लेकिन यदि हम रात-दिन की साधारण वातो को ही दृष्टात-स्वरूप मानकर उनके स्थूल तत्त्वो से वढते हुए सूक्ष्म की ओर पहुँचते जाय, तो आत्म-स्थिति और आत्म-शक्ति का, अधिक नहीं तो, आशिक

---

१४५ Young India, 1930 PP 25-26 (Cited in Pol Phil P 138)

१४६ Nations Voice, P 103 (Cited in Pol Phil P 138)

१४७ Young India, P 976-77 (Cit in Pol Phil P 139)

१४८ Citations from His Statement and Mira's Gleanings in Pol Phil, P 1 9

१४९ Mira's Gleanings (Cited in Pol Phil, P 139)

१५० देखो फुटनोट न० १४९

१५१ Mira's Gleanings, P 94

ज्ञान अवश्य हो जाता है। उपवास और प्रार्थना के द्वारा उद्भावित आत्म-बल और पवित्रता समस्त मनुष्य-वर्ग मे कैसे फैल सकती है, उसकी झलक एक छोटी-सी निम्न बात पर ध्यान देने से आ सकेगी। हवा आत्मा की अपेक्षा अत्यन्त स्थूल तत्त्व होता है। वह अदृश्य है, पर है वह अवश्य, इसे मूर्ख भी जानता है। यह भी हम सब जानते हैं कि उसमे हर प्रकार की पवित्र और अपवित्र गन्ध का प्रवेश और प्रसार तत्काल हो जाया करता है। वही गन्ध-पूर्ण हवा हमारे दूर रहने पर भी उस गन्ध को हमारे शरीर के भीतर फैला देती है, क्योकि बाहरी-भीतरी हवा एक है, और दोनो नासिका रध्रो के द्वारा पारम्परिक सम्पर्क स्थापित किये हुए रहती है। जब हवा मे यह शक्ति है, तो आत्मा मे उस से कई गुनी अधिक होनी ही चाहिये।

(ङ) शून्यता—विनम्रता और सरलता—गाधीजी ने २५ मई सन् १९१५ ई० को अहमदाबाद मे 'सत्याग्रह-आश्रम' की स्थापना की, उसकी नियमावली बनाई गई और उस पर अन्य लोगो की सम्मतिया मागी गई। सर गुरुदास बनर्जी ने सुझाया कि "इन व्रतो मे नम्रता के व्रत को भी स्थान मिलना चाहिये। उनके पत्र की ध्वनि यह थी कि हमारे युवक-वर्ग मे नम्रता की कमी है।"[१५२] गाधीजी को यह सुझाव पसन्द आया। उन्होने लिखा है कि "मैं भी जगह-जगह नम्रता के अभाव को अनुभव कर रहा था, मगर व्रत मे स्थान देने से नम्रता के नम्रता न रह जाने का आभास आता था। नम्रता का पूरा अर्थ तो है—शून्यता।

"शून्यता प्राप्त करने के लिये दूसरे व्रत हुई है। शून्यता मोक्ष की स्थिति है। मुमुक्षु या सेवक के कार्य मे यदि नम्रता, निरभिमानता न हो, तो वह मुमुक्षु नही, सेवक नही, वह स्वार्थी है, अहकारी है।"[१५३]

गाधीजी के उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि निरभिमानता का ही नाम नम्रता है। वे नम्रता का पालन व्रत के रूप मे करना या कराना पसन्द नही करते थे। यदि उसका पालन व्रत अथवा नियम के रूप मे कराया जाय, तो उसमे स्वाभाविकता नही, कृत्रिमता और परवशता आ जाती है। नम्रता उनकी दृष्टि मे मुमुक्षु या सेवक का स्वाभाविक लक्षण है। जो सच्चा मुमुक्षु या सेवक है, वह अपने आप ही इतना नम्र बन जाता है कि उसे अपनेपन का ज्ञान ही नही रहता। जहाँ अपनापन भुलाया—जहा स्वार्थ और अहकार मिटा कि अपनी स्थिति ही न रही, अर्थात् शून्यावस्था प्राप्त हो गई। इसीलिये गांधीजी ने कहा है कि नम्रता का पूरा अर्थ शून्यता होता है।

---

१५२ आत्म-कथा, ख० २, पृष्ठ ३०८-३०९

१५३. देखो फुटनोट १५२.

नम्रता का गुण तीन प्रकार से देखा जा सकता है—एक तो समाज नियम के रूप मे, दूसरे स्वामी-सेवक के रूप मे, और तीसरे एकत्व के रूप मे।

(१) मार्क्सवाद के कोश मे यदि कही नम्रता का स्थान है, तो वह है समाज या राज्य-नियम के रूप मे, जो परिस्थितियो के अनुसार अदल-बदल सकता है। अवसर पडने पर उनकी नम्रता विद्वेषाग्नि से भभक सकती है, अथवा निर्दयतावश कठोर से कठोर या उद्दण्ड से उद्दण्ड बन सकती है। मै किसी से कम नही हूँ, जहा यह अभिमान, दम्भ या दर्प हो, वहा नम्रता नही रह सकती। मार्क्सवाद मे यही भाव विद्यमान है। वह भौतिक और मानसिक सृष्टि के परे कुछ नही मानता। मन अर्थात् मन का रूपक मनुष्य ही मनुष्य का आदर्श बनाया गया है। अत भौतिक एव मानसिक समता का लक्ष्य बनाने के कारण प्रतिस्पर्धा और वैमनस्य का दोप बढना स्वाभाविक हे, जिससे नम्रता का लुप्त रहना भी अवश्यभावी है। यदि हम यह भी मान लें कि मार्क्सवाद मे अर्थ-समता पर निर्भर वर्ग-विहीन समाज को आदर्श माना है, न कि व्यक्ति-विशेष को, तब भी उक्त दोप नही हट सकता। एक तो जब तक अर्थ-समता प्राप्त नही होगी, तब तक अभिमानोत्पादक साधनो का अन्त नही होगा, और दूसरे यदि भाग्यवशात् कभी अर्थ-समता उपयुक्त रूप से प्राप्त हुई भी और वर्ग-विहीन समाज बन भी गया, तब भी मानसिक असमता तो बनी ही रहेगी, जिसके कारण उक्त दोपो से मुक्त भी न हो सकेंगे—अभिमानता बनी ही रहेगी। यदि नम्रता न आई और अभिमानता बनी रही, तो किसी न किसी हद तक नियम रूप मे उसका प्रतिपालन करना-कराना ही पडेगा, क्योकि समाज-व्यवस्था का यह एक आवश्यक अग है। जहाँ स्वाभाविकता नहीं—नियम हो, वहाँ यन्त्रणा का वास रहता ही है। यदि व्यक्ति-विशेप के आत्मोद्धारका नियम है, तो उसे अपने आप यन्त्रणा करनी पडती है, जिसको आत्म-नियन्त्रण या आत्म-तप भी कहते है, और यदि समाजोद्धार वाला नियम हे, तो समाज और राज्य उसके प्रतिपालन के हेतु दण्ड के स्वरूप मे यन्त्रणाओ का आश्रय लेते हे। यन्त्रणाओ का आधार बल (force) होता है, और जहा बल हो—चाहे शरीरिक अथवा नैतिक—वहा साम्य कहा ? साम्य समाज मे वही स्वाभाविकता आनी चाहिये, जो हम अपने शरीराङ्गो मे देखा करते है। नीचे से नीचे पैर के तलुवे मे काटा लग जाता है, तो ऊचे से ऊचा मस्तिष्क अपने आप अर्थात् स्वभाववश उसकी पीडा निवारण के लिये सलग्न हो जाता है। प्रकाश जिस प्रकार सूर्य का गुण है, उसी प्रकार नम्रता सेवक का गुण है।

(ii) नैतिकता नियामक कृत्रिमता का ही नाम है, और इसीलिये यह स्वाभाविक गुण-प्रकाश से अत्यन्त दूर और भिन्न होती हे। नम्रता कोई ऐसी वस्तु नही है, जो दिखावे की हो या अनुशीलन अर्थात् अभ्यास करने की।

"नम्रता का अनुशीलन—अभ्यास करना मानो कपट का अभ्यास करना है।"[१५४] नम्रता, दयादि गुणो के स्वाभाविक प्रकाश का दिग्दर्शन भारतीय दर्शन के भक्ति-मार्ग मे अत्युत्कृष्ट रूप से मिलता है। जब कोई व्यक्ति विश्व-रूप और विश्व-शक्ति के साथ अपनी तुलना करता है, तब वह आश्चर्यान्वित होकर अपने आप को इतना लघु पाता है, जैसे सूर्य के सम्मुख दीपक अथवा हिमालय के सम्मुख राई हो। नही, वह तो इनसे भी कोट्याश लघु होकर कह उठता है "मै कुछ नही हूँ—मै कुछ नही हूँ, यह सब कुछ है।" सर्व के सम्मुख शून्यवत मानना नम्रता की पराकाष्ठा है। यह 'सर्व' उसका ईश्वर है—स्वामी है, और वह उसका भक्त है—सेवक है। मैं कुछ नही हूँ, अर्थात् "शून्य हूँ" इस भाव के उठने मे भक्त अपने अस्तित्व को महसूस नही करता। उसका अस्तित्व उस 'सर्वरूप भगवान्' मे विलीन हो जाता है। इसी विलीनीकरण स्थिति को भक्तियोग मे आत्म-समर्पण कहा गया है, और यही ज्ञानियो की अद्वैत अवस्था कही जाने लगती है। जब इस स्थिति की अनुभूति आ जाय, तो निश्चय है, कि जो कुछ गुण भक्तके दिखाई देगे, वे उसके न होकर उस 'सर्व' के ही होगे। भक्त तो केवल माध्यम का काम देगा। यदि माध्यम शून्यवत हुआ, तो पूर्ण-शून्य के गुणो को प्रकट होने मे कोई रुकावट नही आ सकती, और यदि माध्यम की शून्यता मे कही कुछ ठोसपन रहा, तो गुण-प्रकाश मे भी तदनुरूप भेद आ जावेगा। यह गुण-प्रकाश स्वाभाविक है, कृत्रिम नही। यदि प्रकाश मे कही कुछ रुकावट हुई और भेद आया, तो दोष माध्यमरूपी भक्त का होता है। इस विवरण से यह सिद्ध हो जाता है कि भक्त या सेवक केवल सेवा मे रत रहता है, नम्रता आदि गुण उसके द्वारा अपने आप प्रकट होते रहते है—उनके प्रकट होने के लिये न तो किसी प्रयास की जरूरत है और न किसी नियमबद्धता की। प्रयास और नियमादि की जरूरत होती है, तो केवल सेवा-धर्म अथवा सेवा-कार्यो को उत्तम रूपसे निवाहने की।

सर्व-शक्तिरूप भगवान् जन-समाज मे विद्यमान है, और इसलिये गाधीजी उसे जनता-जनार्दन कहते थे। समाज-सेवी और व्यावहारिक होने के कारण वे उसी जनता-जनार्दन के भक्त बने और उसी की सेवा मे रत रहे। उन्होने उसी की सेवा मे आत्म-समर्पण अथवा शून्य बन जाने का मार्ग ग्रहण किया और इसलिये वे स्वाभाविकत नम्र थे। जहाँ नम्रता है, वहा जीवन की सरलता रहती ही है, क्योकि ये दोनो अन्तर्स्थिति के केवल बाह्य प्रकाशरूप है। गाधीजी का सरल रहन-सहन चर्चिल जैसे व्यक्तियो की नजरो मे बनावटी फकीरी भेष भले ही दिखाई दे, अथवा

---

१५४ "To cultivate humility is tantamount to cultivate hypocrisy." Yervada Mandir, P. 7

अन्य राजनैतिक भले ही यह समझें कि वे जान-बूझकर भारतीय अर्थ-सकट मिटाने एव सदग-प्रचार करने के हेतु अल्प-वस्त्रधारी भेष बनाये रखते थे, परन्तु बात सच नहीं है कि उनका खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल सभी कुछ स्वभाववश सरल हो गया था, उसमे दिखावे अथवा नीति की कोई बात नहीं थी।

(iii) भक्त जिसे आत्म-समर्पण कहता है, ज्ञानी उसी को अह-त्याग बताता है, पर है दोनो का अर्थ एक ही, अर्थात् अपने अस्तित्व का निराकरण कर शून्यता की अनुभूति करना। इसीलिये गाधीजी ने कहा है कि "मै जानता हूँ कि अभी मुझे बीहड रास्ता तय करना है। इसके लिये मुझे शून्यवान बनना पडेगा। जब तक मनुष्य खुद होकर अपने आप को सब से छोटा नही मानता, तब तक मुक्ति उससे दूर रहती है।"[155] "जब अहकार का पूर्णत नाश कर लिया जाता है, तभी सत्-स्वरूप प्राप्त होता है।"[156] अहनाश से शून्यता और शून्यता से 'एको सत् द्वितीयो नास्ति' अर्थात् सर्वत्र एकत्व का ज्ञान हो जाता है, परन्तु नम्रता या शून्यता का तात्पर्य न तो यह होता है कि कोई अकर्मण्य, आलसी बन जाय, और न यह कि कोई किसी को ऊच समझे या कोई किसी को नीच। "सच्ची नम्रता का अर्थ तो यही है कि मनुष्य पूर्ण रूप से जन-सेवा के कामो मे सदैव सुदृढतापूर्वक सलग्न रहे।"[157] चूकि जब तक अहकार है, शून्यता प्राप्त नहीं हो सकती, और चूकि शून्यता अथवा एकत्व के भाव मात्र से जीवन मे अव्यावहारिकता आ सकती है, इसलिये गाधीजी ने स्वामी और सेवक के द्वैत भाव तथा सेवक की विनम्रता को ही मान्यता दी है। जो सच्चा सेवक है, वह जनता-जनार्दन के सम्मुख स्वाभाविकत विनम्र रहता है।

(घ) अस्तेय—अर्थात चोरी न करना (non-stealing)

साधारणत पराई सम्पत्ति के अपहरण को चोरी कहते है। भारतीय दण्ड विधान मे चोरी की परिभाषा इस प्रकार दी है—"किसी चल-सम्पत्ति को उस मनुष्य की मर्जी के बिना, जिसके कब्जे मे वह हो, अपने गैरवाजिब फायदे अथवा उसके गैरवाजिब नुकसान के इरादे से, खिसकाना चोरी कहलाती है।"[158] चोरी की यह परिभाषा अत्यन्त सीमित है। इसमे केवल चल सम्पत्ति का विचार रखा गया

---

१५५ आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ ५०९

१५६ हरिजन, १९४९, पृष्ठ ३४०.

१५७ Yervada Mandir, P 69 (Pol, Phil. P 112)

१५८ Indian Penal Code, Ss 378 and 24

है, अचल सम्पत्ति का नही, केवल खिसकाने (हटाने) की बात कही गई है, अन्य और प्रकार से हरण करने की नही, केवल दूसरे के कब्जे से ले लेने का जिक्र है, अपने ही कब्जे से हड़प कर लेने का नही। गरज यह कि द्रव्यापहरण के अनेक रूप और नाम होते है, जो इस परिभाषा के अन्तर्गत नही आते। किस प्रकार की सम्पत्ति है, किसके कब्जे से हरण की गई है, किन साधनो के द्वारा ली गई है, किसने—व्यक्ति, समूह, समाज या राज्य ने—ली है, किस इरादे से ली है, इन सब बातो की दृष्टि से उसके नाम और रूप भिन्न-भिन्न हुआ करते है। इनका उल्लेख आप को भारतीय दण्ड विधान के १७ वे अध्याय मे मिलेगा जहाँ सम्पत्ति सम्बन्धी अपराधो की परिभाषाएं, स्थिति-विशेषो मे उनके नाम वा स्वरूपो की भिन्नता तथा तत्सम्बन्धी दण्डादि का विवरण दिया गया है। उसे देखने से विदित होगा कि उसमे चल और अचल दोनो सम्पत्तियो को हरण करने का हवाला आया है, और उन्हें हरण करने के इरादे एव साधनो का भी, परन्तु जितना जो कुछ विवरण सम्पत्ति-सम्बन्धी अपराधो का उस मे आया है, वह भी सकुचित है। वह केवल राज्य-विशेष के अन्तर्गत होने वाले दण्डनीय अपराधो का वर्णन करता है। दण्डनीय अपराधो के अतिरिक्त पर-सम्पत्ति-सम्बन्धी कुछ दुष्कृत ऐसे भी होते है, जिनके लिये राज्य-दण्ड तो नही दिया जाता, पर उनके विषय मे दीवानी न्यायालयो (Civil Courts) के द्वारा न्याय की माग की जाती है। एक ओर आख बचाकर, दबाव डालकर, डर दिखाकर, धोखा दकर, मारपीटकर, अकेले अथवा दूसरो के सहयोग से पराई चल सम्पत्ति का लेना चोरी है, तो दूसरी ओर भूमि, मकानादि अचल सम्पत्ति पर अनधिकृत कब्जा कर लेना भी चोरी ही है। यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे की चल या अचल वस्तु को उसकी रजामन्दी से लेवे, और वचन-भग करके उसे उसको न लौटाये या दुरुपयोग करे, तो वह भी एक प्रकार से चोरी ही है। यह तो हुई राज्य-विशेष के अन्तर्गत प्रजा-प्रजा के बीच की चोरी। इसके अतिरिक्त राज्य-शासन और राज्य-शासक भी चोर हुआ करते है। लाच-घूस तथा अन्य भ्रष्टाचारो से शासको द्वारा प्रजा के द्रव्य का अपहरण किया जाना भी चोरी है, तथा अनुचित कर वसूल करना या उचित कर का दुरुपयोग करना, अथवा अन्य और किसी दुर्भावना से प्रजा की सम्पत्ति को लेना भी चोरी है। अब यदि विश्व की दृष्टि से देखा जाय, तो अगर एक राज्य या कौम दूसरे राज्य या कौम की सम्पत्ति का राजनीतिक चाल चलकर या बल के आधार पर आक्रमणादि के द्वारा हरण करे, तो वह भी चोर है।

उपरोक्त चोरी का विवरण मेरे-तेरे अथवा अपने-पराये के भाव पर आधारित है। इसमे दो का भाव है, परन्तु गाधीवाद मे एकत्व की भावना है, और इसलिये उसी भावना के आधार पर गाधीजी ने चोरी की व्याख्या की है। मेरी जो सम्पत्ति

है, चाहे वह बौद्धिक हो या भौतिक, मेरी नहीं—वह है, जनता-जनार्दन की। मेरा अधिकार परिश्रम करने का है और उस परिश्रम के बदले मुझे मेरे द्वारा उपार्जन की हुई सम्पत्ति में से केवल उतना ही अंश पाने का अधिकार है, जितना कि मेरे जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक है। गांधीवाद का यह सिद्धान्त 'उदरपूरक श्रम' (Bread labour) कहाता है। इसमें और मार्क्सवाद के 'वैतनिक श्रम' (Wage labour) में भेद है, जिसका स्पष्टीकरण आगे मिलेगा। गरज यह है कि गांधीवाद के अनुसार वह व्यक्ति भी चोर होता है, जो अपनी निजी सम्पत्ति का उपभोग आवश्यकता से अधिक करे अथवा उसे संग्रह करके रखे, और दूसरों को उससे वंचित रखे। उसका सिद्धान्त यह है कि जब मेरी-तेरी-उसकी अर्थात् सब की सारी सम्पत्ति जनता की हो गई, तो सारा जन-समाज एक कुटुम्ब के समान हो जाता है। हर मनुष्य अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार बिना किसी विद्वेष भावना के आपस में बांट-बखार कर उस सम्पत्ति का उपभोग करने लगता है, और व्यक्तिगत कमाई तथा पारस्परिक प्रेम में भी कोई कमी नहीं आती।

गांधीजी सारे जन-समाज को एक कुटुम्ब मानते हैं, जो प्रेमसूत्र के द्वारा बंधा रहता है। कौटुम्बिक जीवन के अनुसार उस में कमौआ पूत को जितना अधिकार कौटुम्बिक सम्पत्ति पर होता है, उतना ही एक असहाय, अपंग को रहता है। यदि कमौआ पूत इस आधार पर कि वह अधिक कमाता है, आवश्यकता से अधिक खर्च करे या अलग से तिजोरी लबालब भरता जाय, तो कुटुम्ब के दूसरे भाई-बन्धुओं के मुकाबले में वह भी चोर है। गोपीनाथ धावन ने लिखा है कि "यह तो स्पष्ट है कि जिसने सत्य और विश्व-प्रेम का वरण कर लिया है, उसे चोरी नहीं करना चाहिये, परन्तु चोरी न करने का जो अर्थ साधारण बोलचाल में होता है, उससे कहीं अधिक गांधीजी उसका अर्थ लेते हैं। उनकी दृष्टि में दूसरे मनुष्य की वस्तुओं को, बिना उसकी इजाजत या जानकारी के लेना और चीज को इस विश्वास में कि वह किसी की नहीं है, अपनी बना लेना, इतनी ही चोरी नहीं, परन्तु आवश्यकता से अधिक किसी वस्तु को लेना, बच्चों को अंधकार में रख पिता का गुप-चुप कुछ खा लेना, आवश्यकताओं को अनुचित रूप से बढ़ाना, दूसरों की वस्तुओं पर दांत लगाना, भविष्य में यह वस्तु प्राप्त करेंगे, वह वस्तु प्राप्त करेंगे, इसकी उधेड़ बुन में लगना, साहित्यिक चोरी करना इत्यादि—ये सब अस्तेय व्रत (चोरी न करने) के खिलाफ भौतिक और मानसिक दृष्टान्त हैं। उनके मन्तव्य के अनुसार किसी वस्तु की प्राप्ति करना जिस की जरूरत न हो, चोरी है। पूंजीवाद की जो 'प्राप्ति' (acquisitiveness) वाली अर्थनीति है, वह गांधी-

जी की नही। उनकी अर्थनीति तो 'आवश्यकता' और 'कल्याण' वाली है।[१५९]

अपनी अधिकृत अपनी ही वस्तु का चोर कहलाना, यह कोई गाधीजी की नई खोज नही है। भारतीय दर्शन मे वह उतनी ही पुरानी बात है, जितनी कि अद्वैतवाद अथवा विश्वऐक्य की भावना। दर्शन-भाण्डार गीता को उठाइये और देखिये, उसमे चोर की क्या परिभाषा की है —

"इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो योभुङ्क्ते स्तेन एव स॥"[१६०]

इस का शब्दार्थ यह है—जिन देवताओ की भावना से तुम किसी यज्ञ को करते हो, वही देवता तुम्हे इच्छित भोग देते है, परन्तु जो मनुष्य उन देवताओ द्वारा दिये हुए इन भोगो को दूसरो को न देकर खुद ही भोगता है, वह चोर ही है।

शब्दार्थ मे विशेष आनन्द नही। आनन्द आता है उसके भावार्थ मे प्रवेश करने पर। 'यज्ञ' शब्द उसी प्रकार व्यापक है, जिस प्रकार 'धर्म' और 'योग' शब्द है, जिनके विषय मे हम पहले यथास्थान कह चुके है। विशिष्टता के हेतु विशेषण का प्रयोग किया जाता है, जैसे द्रव्ययज्ञ, ज्ञान-यज्ञ, भूदान-यज्ञ, तप-यज्ञ, योग-यज्ञादि।

'यज्ञ' शब्द का अर्थ होता है 'त्याग', बलि, कुरबानी (sacrifice)। हर विचारवान पुरुष यह जानता है कि हर क्रिया—हर कर्म का फल अवश्य होता है, चाहे वह दृश्यरूप हो या अदृश्यरूप, चाहे वह तत्कालीन हो या दूरकालीन। यह भी निश्चित है कि इच्छित कर्म-फल की प्राप्ति के लिये जिस प्रकार 'योग' की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार यज्ञ अर्थात् त्याग की भी होनी है। सच पूछा जाय, तो बिना यज्ञ के न तप हो सकता, न ज्ञान हो सकता और न योग ही हो सकता है। कर्म-शक्ति को विभक्त कर देने वाली प्रवृत्तियो का जब तक त्याग नही किया जाता, तब तक वह शक्ति केन्द्रित नही हो सकती, और शक्ति का केन्द्रित हो जाना ही योग कहलाता है। मानसिक प्रवृत्तियो के अतिरिक्त शारीरिक भोगादि एव द्रव्यादि का त्याग करना भी आवश्यक होता है, तब कही इच्छित फल मिल पाता है। गोपाल की कामना है कि वह मेट्रिक पास हो जाय। उसने द्रव्य का त्याग कर पुस्तके खरीदी, रात्रि के समय पढने के लिये लैम्प खरीदा इत्यादि। ऐश और

---

१५९ Pol Phil, P. 92

१६० गीता ३।१२

आराम भी त्यागा। गरज यह कि उसने साधन जुटाये, जिनके द्वारा उसने मेट्रिक पास की। जब वह मेट्रिक पास हो जाता है, तब कहते है कि उसने बडा त्याग किया, तब मेट्रिक पास हुआ। इससे यह स्पष्ट होता है कि गोपाल के त्याग मे मेट्रिक पास होने की भावना निहित थी। इसी तरह किसी भी त्याग के समय कोई न कोई उद्देश्य या भावना अवश्य रहती है। जब वह भावना उच्च रहती है, तब कहते है कि उसकी भावना श्रेष्ठ है या दिव्य है। दिव्य भावना ही देवस्वरूप कही गई है। 'दिव्य' या 'देव' शब्द 'दिवि' शब्द के रूपान्तर है, जिसके माने होते है 'सूर्य'। 'सूर्य' 'तेज' और 'प्रकाश' का प्रतीक है। अत उक्त श्लोक के पूर्वार्ध का बौद्धिक अर्थ यह हुआ कि जिस दिव्य भावना से जो त्याग किया जाता है, उसी के अनुसार इच्छित (इष्ट) फल मिलते हैं, परन्तु द्वन्द्वात्मक प्रकृति होने के कारण मनुष्य मूर्खता की धार मे बहा और अपने आन्तरिक तेजोमय प्रकाश के स्थान मे उसने बाह्य स्थूल सूर्य की पूजा करनी प्रारम्भ कर दी। इतना ही नही, वह इससे भी आगे बढा और समीपस्थ अग्नि को दूरस्थ सूर्य का प्रतीक बनाया, तथा उसमें अनेक प्रकार के द्रव्यों को जला-जलाकर त्याग का प्रदर्शन किया। अग्नि मे द्रव्यों को भस्म कर डालना ही 'यज्ञ' कहा जाने लगा। भीषण कामनाओ की प्राप्ति के हेतु यह यज्ञ-क्रिया भी भीषणता की ओर बढी, यहा तक कि घृत अन्नादि के स्थान मे मेष, अश्व और क्या कहे नर तक अग्नि मे झोंके जाने लगे—कभी लुक-छिपकर और कभी डके की चोट पर बाजे-गाजे सहित। इस प्रकार के यज्ञ मे त्याग नही, आसक्ति है, भावना नही कामना है, देव नही दानव और राक्षस है, पुण्य नही पाप है। लघुतम हवनो एव बृहद् यज्ञों के रूप मे खाद्य पदार्थों को जला डालना हमारी समझ मे समाज के प्रति एक दृष्टि से अन्याय है—भले ही उसके समर्थक यह कहे कि उससे वायु-मण्डल शुद्ध होता, आरोग्यता की वृद्धि होती और वर्षा होती है, जिसके फलस्वरूप अन्न की उत्पत्ति होती है।

तब फिर यथार्थ यज्ञ क्या है? **अपनी अधिकृत शक्तियो और वस्तुओ के उस परित्याग—उस कुरबानी को यज्ञ कहते हैं, जो साधन रूप हो उत्पादन मे योग दे।** गीता मे इसी प्रकार के यज्ञ की मान्यता है और इसे ही अनुकरणीय कहा है। सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा (प्रजापति) को इसी प्रकार का यज्ञ करने वाला कहा है और उसी के द्वारा की गई यज्ञ-क्रियाओ का पालन करने से मनुष्य की इच्छाएँ उत्पन्न (प्रसव) हो तथा इष्ट कामनाएँ पूर्ण हो—ऐसा कहा गया है।"[१६१] इसी प्रकार के यज्ञ के हेतु कर्म करना गीता मे श्रेयस्कर बताया है। जो कर्म इस प्रकार के यज्ञ के हेतु नही

---

१६१ गीता ३।१०

किया जाता, वह निन्दनीय कहा गया है, क्योकि वह बन्धनप्रद हे, मोक्षप्रद नही।[१६२] फिर गीता का आदेश है कि इस तरह से किये गये यज्ञ के द्वारा जो उत्पादन होता हे, उसका उपभोग उत्पादक केवल उतना ही कर सकता है, जितना कि उसे नितान्त आवश्यक है। वाकी का सब समाज मे वितरण करने के लिये उपदेश है। इस तरह वितरण करने के वाद जो शेष वचता है, उसी के उपभोग को गीता मे अमृत भोजन कहा है।[१६३] और यह कहा है कि सन्त या श्रेष्ठ पुरुष इसी शेष का उपयोग कर सब पापो से मुक्त हो जाते है।[१६४] श्रेप्ठ से श्रेष्ठ कुरवानी करके अधिक से अधिक उत्पादन कोई काम का नही, यदि समाज उसके उपभोग से वचित रखा जाय। विना वितरण करनेवाले इसी उपभोगी को उपरोक्त उद्धृत श्लोक के उत्तरार्व मे चोर (स्तेन) कहा है,[१६५] और उसी को 'पापी' भी कहा है।[१६६] इस तरह के त्याग अथवा वलिदान के आवार पर उत्पादन और वितरण का, सामाजिक सम्यक् नियम का निर्वारण गीता मे मिलता हे, जिससे सिद्ध होता है कि भारतवर्ष मे प्राचीन काल से ही समाज-शास्त्रो एव धर्म-शास्त्रो मे अर्थ-शास्त्रीय उत्पादन और वितरण-सम्वन्धी नियमो का न केवल उल्लेख ही किया जाता रहा है, वरन् उनमे धारणरूप धार्मिकता की भी पुट दी जाती रही है। इसीलिये तो गाधीजी का भी कहना है कि "गीता के तीसरे अध्याय से यह प्रतीत होता है कि 'यज्ञ' शब्द मे प्रधानत सेवा के हेतु शारीरिक परिश्रम करने का अर्थ निहित हे"[१६७] अर्थात् तन-मन धन से जन-सेवा करना यज्ञ का मुख्य अभिप्राय हे। अर्थशास्त्रीय भाषा मे श्रम चाहे मानसिक हो, या शारीरिक, वहुमूल्य सम्पत्ति कहा जाता है ओर ऐसा कहना हे भी सही। इसलिये उपरोक्त कसौटी पर कसकर देखा जाय, तो श्रम के भी चोर पाये जाते है। श्रम के एक चोर तो वे अधिकारीवर्ग और पूजीपति आदि शोषकगण (exploiters) होते है, जो उसका अपहरण वेगार के रूप मे दवाव डालकर मुफ्त मे किया करते है और श्रमिक की गरीवी का फायदा उठाकर उसे कम मूल्य मे खरीदकर उससे अधिक

---

१६२ गीता ३।९

१६३ गीता ४।३१

१६४ गीता ३।१३.

१६५ देखो फुट नोट १६०

१६६ देखो फुट नोट १६४

१६७ "The third chapter of the Gita seems to show that sacrifice chiefly means body labour for service"

—The Gita according to Gandhi

से अधिक लाभ उठाकर अपने ऐश-आराम की सामग्री बढाया करते है। श्रम का दूसरा चोर श्रमिक खुद ही होता है। जो श्रमिक अपने श्रम का उचित उपयोग न कर आलसी बना रहे अथवा उसका अपव्यय कर दुरुपभोग करे, तो वह भी अपने ही श्रम का चोर कहलाता है। समाज की आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से श्रम के ये दोनो प्रकार के चार जन-समाज के लिये बडे घातक होते है। जिस प्रकार मे गाधीजी ने श्रम को अपव्यय से बचाने पर जोर दिया है, वैसा मार्क्सवाद मे नही मिलता। मार्क्सवाद मे अधिक से अधिक उत्पादन करके लौकिक भोगो की बाहुल्यता की नीति है, जिसके कारण श्रम का अपव्यय और अनियत्रण होता है, परन्तु गाधीवाद केवल उतना ही उत्पादन चाहता है, जितना आवश्यक और कल्याणकारी हो, ताकि श्रम नियन्त्रित रहे और व्यर्थ न खोया जाय।[१६८]

(छ) ब्रह्मचर्य—साधारणत पुरुष-स्त्री-प्रसग के त्याग को ही लोग ब्रह्मचर्य समझा करते है। यदि इससे अधिक हुआ, तो यह कहते है, कि निरे शरीर स्पर्श को रोकने से ब्रह्मचर्यव्रत का पालन नही होता, जब तक कि तत्सम्बन्धी मानसिक उद्वेग न रोका जाय। परन्तु ब्रह्मचर्य का केवल इतना-सा ही अर्थ नही होता। उसका सीधा सादा अर्थ होता है—ब्रह्म के समान आचरण करना, दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म के समान आचरण करने वाला ब्रह्म ही है। गाधीजी ने भी यही कहा है कि "ब्रह्मचर्य के सोलहो आने पालन का अर्थ है ब्रह्म-दर्शन।"[१६९] तब फिर यह जानना जरूरी हो जाता है कि यह ब्रह्म क्या चीज है। खण्डवा (मध्यप्रान्त) निवासी श्री शिवानन्द ब्रह्मचारीजी ने अपनी पुस्तक तत्त्व-दर्शन मे ब्रह्म शब्द का अर्थ इस तरह बताया है—ब्र = उत्कृष्टता मे वृद्धि (विस्तार) होने वाला, म = मर्यादा अथवा अनन्त काल। इस तरह ब्रह्म का अर्थ हुआ "अनन्त काल तक मर्यादापूर्वक सर्वसामर्थ्यमय विस्तार।" इस परिभाषा से ज्ञात होता है, कि ब्रह्म उस शक्ति (force) का नाम है, जो स्थिर (static) न हो, बल्कि उत्कृष्टता से विस्तार करने वाली (dynamic) हो। मर्यादापूर्वक अर्थात् नियन्त्रित रूप से प्रगतिशील (progressive) मानव-जीवन ही ब्रह्मचर्य का प्रधान लक्षण है। परन्तु इस प्रगति मे चचलता, उद्वेग, सन्देह आदि का स्थान न हो। उस मे पूर्ण अचचलता की कल्पना है। जिस प्रगति (प्र+गति) मे अविचलता हो, वही

---

१६८. "Gandhiji's economy is the economy of needs and welfare and not that of acquisitiveness"

Pol Phil, P 92

१६९ आत्म-कथा, ख० १, पृष्ठ ३४२.

ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। इस ब्राह्मी स्थिति के लक्षणों का ज्ञान गीता के दूसरे अध्याय में ५४वें श्लोक से लेकर ७२वें श्लोक तक कराया गया है। जो इस अविचल ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह स्थितप्रज्ञ अथवा स्थितबुद्धिवाला कहलाता है। इसी प्रगतिशील नियमित ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के जितने साधन है, उनको अपने जीवन मे वर्तने का नाम ही ब्रह्मचर्य है। इसीलिये गाधीजी कहते है कि "ब्रह्म तक पहुँचाने वाला जो सही मार्ग है, वही ब्रह्मचर्य कहलाता है"[१७०] "यह ब्रह्मचर्य, जिसके ऐसे महान् फल प्रकट होते है, उनका कहना है, कोई हँसी-खेल नहीं है, केवल शारीरिक वस्तु नही है।"[१७१] विचार, शब्द और कर्म-सम्बन्धी समस्त इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश मे रखना ही ब्रह्मचर्य कहाता है। अशुद्ध विचार या क्रोध-मात्र उठने से ही ब्रह्मचर्य खण्डित हो जाता है।"[१७२]

कुछ लोग गाधीजी के ब्रह्मचर्य-सिद्धान्त को, जो यथार्थत भारतीय प्राचीन ब्रह्मचर्य-सिद्धान्तो से अभिन्न है, सही-सही न समझने के कारण उसकी कडी आलोचना करते है। वे समझते है कि गाधीजी पुरुष-स्त्री-सभोग की क्रिया पर सर्व-समाज के लिये पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना चाहते है, जो केवल सन्यासियो के लिये लागू हो सकता है। वे कहते है कि ऐसा करने से प्रेम-प्रदर्शन और जन-वृद्धि स्थगित हो जावेगे।[१७३] परन्तु आलोचकों की यह भूल है। गाधीजी कायिक प्रतिबन्धो के पक्ष मे नही है। वे नही चाहते कि कृत्रिम उपायो के द्वारा पुसकता मिटा दी जाय, या गर्भाधान रोका जाय। उनकी दृष्टि मे मैथुनी कायिक सुख मोह है, प्रेम-प्रदर्शक नही, और कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तानोत्पत्ति रोकना पाप है, कर्तव्य नही। वे चाहते है, पति-पत्नी का मानसिक नियत्रण और सयम, जिसके फलस्वरूप "मनुस्मृति के आदेशानुसार, धर्म से उत्पन्न 'धर्मज' सन्तान हो न कि इन्द्रिय-लोलुपता से उत्पन्न 'कामज' सन्तान"।[१७४]

बेहतर होगा कि आलोचको का समाधान गाधीजी के विचारो का ही उद्धरण करके कर दिया जाय। उन्होने अपनी आत्म-कथा लिखते समय कहा है "जुलू-विद्रोह मे मुझे बहुतेरे अनुभव हुए और विचार करने को बहुत सामग्री मिली। यहा ब्रह्मचर्य विषयक मेरे विचार परिपक्व हुए। हा, यह बात अभी मुझे स्पष्ट

---

१७० हरिजन, १९४७, पृष्ठ २००

१७१ आत्म-कथा, ख० २, पृष्ठ १४४

१७२ आत्म-कथा, ख० १, पृष्ठ ३४२-३४३; यरवदा मन्दिर, पृष्ठ २३.

१७३ Mahatma Gandhi R R K Pp 18-19

१७४ Pol Phil P 87

नही दिखाई देती थी कि ईश्वर-दर्शन के लिये ब्रह्मचर्य अनिवार्य है, परन्तु यह बात मैं अच्छी तरह जान गया कि सेवा के लिये उसकी बहुत आवश्यकता है। मैं जानता था कि इस प्रकार की सेवाएँ मुझे दिन-दिन अधिकाधिक करनी पड़ेंगी और यदि मैं भोग-विलास मे, प्रजोत्पत्ति मे, और सन्तति-पालन मे लगा रहा, तो मैं पूरी तरह सेवा न कर सकूगा। मै दो घोड़े पर सवारी नही कर सकता। यदि ब्रह्मचर्य का पालन न किया जाय, तो कुटुम्ब-वृद्धि मनुष्य के उस प्रयत्न की विरोधक हो जाय, जो उसे समाज के अभ्युदय के लिये करना चाहिये, पर यदि विवाहित होकर भी ब्रह्मचर्य का पालन हो सके तो कुटुम्ब-सेवा समाज-सेवा की विरोधक नही हो सकती, मैं इन विचारो के भवर मे पड गया और ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेने के लिये कुछ अधीर हो उठा। इस समय कल्पना ने सेवा का क्षेत्र बहुत विशाल करा दिया। मैंने तो उसी समय (जुलू-विद्रोह के समाप्त हो जाने पर) व्रत ले लिया कि आज से जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। इस व्रत का महत्त्व और उसकी कठिनता मैं उस समय पूरी तरह न समझ सका था। ब्रह्मचर्यहीन जीवन मुझे शुष्क और पशुवत् मालूम होता है। पशु-स्वभावत निरकुश है। परन्तु मनुष्यत्व इसी बात मे है कि वह स्वेच्छा से अपने को अकुश मे रखे। ब्रह्मचर्य की जो स्तुति धर्म-ग्रन्थो मे की गई है, उसमे पहले मुझे अत्युक्ति मालूम होती थी, परन्तु अब दिन-दिन यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह बहुत ही उचित और अनुभव-सिद्ध है।

"वह ब्रह्मचर्य कोई हँसी-खेल नही है, केवल शारीरिक वस्तु नही है।

"शारीरिक अकुश से तो ब्रह्मचर्य का श्री गणेश होता है, परन्तु शुद्ध ब्रह्मचर्य में तो विचार तक की मलिनता न होनी चाहिये। पूर्ण ब्रह्मचारी स्वप्न मे भी बुरे विचार नही करता। जब तक बुरे सपने आया करते है, स्वप्न मे भी विकार प्रबल होता रहता है, तब तक यह मानना चाहिये कि अभी ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है।

"मुझे तो कायिक ब्रह्मचर्य के पालन मे भी महा कष्ट सहना पडा। इस समय तो यह कह सकता हूँ कि मैं अपने ब्रह्मचर्य के विषय मे निर्भय हो गया हूँ, परन्तु अपने विचारो पर अभी पूर्ण विजय प्राप्त नही कर सका हूँ। मैं नही समझता कि मेरे प्रयत्न मे कही कसर हो रही है, परन्तु मैं अब तक नही जान सका कि ऐसे-ऐसे विचार, जिन्हें हम नही चाहते है, कहा से और किस तरह हम पर चढाई कर देते है। हा, इस बात मे मुझे कुछ भी सन्देह नही है कि विचारो को भी रोक लेने की कुञ्जी मनुष्य के पास है, पर अभी तो मै इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि वह चाबी प्रत्येक को अपने लिये खोजनी पडती है। महापुरुष जो अनुभव अपने पीछे छोड गये हैं, वे हमारे लिये मार्ग-दर्शक हैं, उन्हे हम पूर्ण नही कर सकते। पूर्णता मेरी समझ मे केवल प्रभु-प्रसादी है मुझे विश्वास होता है कि अपने को पूर्ण रूप से ईश्वरार्पण

किये बिना विचारो पर पूरी विजय कभी नही मिल सकती। समस्त धर्म-पुस्तको मे मैंने ऐसे वचन पढे है और अपने ब्रह्मचर्य के सूक्ष्मतम पालन के प्रयत्न के सम्बन्ध मे मै उसकी सत्यता का अनुभव भी कर रहा हूँ।

" अपने उत्साह के आवेग मे पहले-पहल तो मुझे इस व्रत का पालन सहल मालूम हुआ, परन्तु एक बात तो मैंने व्रत लेते ही शुरू कर दी थी। पत्नी के साथ एक शय्या अथवा एकान्त-सेवन का त्याग कर दिया था। इस तरह इच्छा या अनिच्छा से जिस ब्रह्मचर्य का पालन मैं सन् १९०० से करता आया हूँ, उसका आरम्भ व्रत के रूप मे सन् १९०६ के मध्य मे हुआ।"[१७५]

"जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन करने की इच्छा रखते है, उनके लिये यहा एक चेतावनी देने की आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्य के साथ भोजन और उपवास का निकट सम्बन्ध बताया है, फिर भी यह निश्चित है कि उसका मुख्य आधार है हमारा मन। मलिन मन उपवास से शुद्ध नही होता, भोजन का उस पर असर नही होता। मन की मलिनता विचारो से, ईश्वर-ध्यान से और अन्त को ईश्वर-प्रसाद से ही मिटती हे, परन्तु मन का शरीर के साथ निकट सम्बन्ध है और विकारयुक्त मन अपने अनुकूल भोजन की तलाश मे रहता है। . इस अश तक भोजन पर अकुश रखने की और निराहार की आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।

"इसलिये जो यह कहते है कि एक सयमी के लिये भोजन-सम्बन्धी मर्यादा की या उपवास की आवश्यकता नही, वे उतने ही भ्रम मे पडे हुए है, जितना कि भोजन और निराहार को सब कुछ समझने वाले पडे हुए हे। मेरा तो अनुभव यह सिखलाता है कि जिसका मन सयम की ओर जा रहा है, उसके लिये भोजन को मर्यादा और निराहार बहुत सहायक होते हे। उसकी मदद के बिना मन की निर्विकारता असम्भव मालूम होती है।"[१७६]

राज्य-शून्य साम्य-समाज के स्वप्न को व्यावहारिक रूप मे देखने की इच्छा करनेवालो का सब से प्रथम कर्त्तव्य यह है कि हर नागरिक को निर्विकार मन वाला बनावे। यह तभी हो सकता है, जब राज्य-राज्य या समाज-समाज मे शिक्षा-पद्धति और शिक्षा-क्रम उसी ओर ले जानेवाला हो, परन्तु अत्यन्त दुख के साथ कहना पडता है कि सारे ससार की सार्वजनिक वर्तमान शिक्षा-पद्धति, जिसको राज्य-शासन और समाज अपना रहे है, इतनी भयकर और दूषित है कि मानसिक निर्विकारता की बात तो दूर रही, मानसिक विकारता को उत्पन्न करती

---

१७५ आत्म-कथा, ख० २, पृष्ठ १४१ से १४६ तक

१७६. आत्म-कथा, ख० २, पृष्ठ १७१-१७२

और वढाती है। कुछ भले मानुष, अलवत्ता इधर-उधर अकेले-दुकेले आश्रमो या शिक्षालयो मे सही मार्ग पर शिक्षण देने का प्रयत्न करते है, परन्तु वह सब प्राय निरर्थक ही हो रहा हे। एक ओर तो उसे राज्य की ओर से प्रोत्साहन नही मिलता, और दूसरी ओर वह वर्तमान प्रचलित शिक्षा-क्रम के किसी न किसी रूप का अपने क्रम मे मिश्रण कर लेता हे। हिन्दुस्थान के आर्य-समाजियो के परिश्रम के द्वारा गुरुकुलो का पुनरोत्थान किया जाना निस्सन्देह सराहनीय है, परन्तु उपरोक्त कारणो से वे भी यथार्थ रूप से फलीभूत नहीं हो सके हे। भारतीय प्राचीन शिक्षा-प्रणाली को एक वार ध्यान मे देख लीजिये, तो निस्सन्देह विदित हो जायगा कि वह ऐसे नागरिक तैयार करती थी, जो गार्हस्थ जीवन मे प्रविष्ट होने के पूर्व आयु के चतुर्थांश भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते थे, इसीलिये उन्हे ब्रह्मचारी कहलाने का अधिकार प्राप्त था और वे ब्रह्मचारी कहलाते भी थे, न कि विद्या के अर्थ लगाने वाले केवल विद्यार्थी, जैसा कि आजकल कहते ह। दुनिया की वक-झक और कौटुम्बिक मोह से दूर, मनोविकार को उत्पन्न करने वाली विषय-वासनाओ की सामग्री से रहित, शुद्ध सात्विक भोजन करने वाले इन ब्रह्मचारियो को केवल पुस्तक-ज्ञान ही नहीं कराया जाता था। वे पवित्र वायु-मण्डल मे पवित्र, अनासक्त, सरलजीवि गुरुओ के द्वारा ब्रह्म-आचारो का पालन करने मे अभ्यस्थ भी वनाये जाते थे। लौकिकता मे पारलौकिकता का गठबन्धन अथवा व्यवहार मे ईश्वरीय नियत्रण किन आचारो के द्वारा रखा जाय, यही प्राचीन भारतीय शिक्षा का विशेष और प्रधान लक्षण था। परिणामत हर नागरिक का जीवन-महल उस सुदृढ ब्रह्मचर्य-नीव पर खडा होता था, जिसकी परमावश्यकता ऊपर कही जा चुकी है। यदि यह कहा जाय कि वर्तमान शिक्षा ब्रह्मचारी नही अब्रह्मचारी, असयमी, अथवा निरे लोकाचारी या धूर्ताचारी तैयार करती हे, तो अतिशयोक्ति न होगी। इसलिये जव तक शिक्षा-प्रणाली नही वदली जायगी, तव तक साम्य-समाज की भावना केवल स्वप्न-समान ही रह जायगी।

सहस्रो वर्षो के उपरान्त की परिवर्तित परिस्थितियो मे नवीन शिक्षा-प्रणाली प्राचीन शिक्षा-प्रणाली की हूवहू नकल भले ही न वनाई जा सके, पर यह निश्चय है कि समाज-कल्याण की भावना से प्रेरित उस शिक्षा-प्रणाली को आत्म-नियत्रण का वह आधार स्वीकार करना ही पडेगा, जिसका प्रतिपालन प्राचीनकालीन पद्धति मे विशेष रूप से किया जाता था।

(ज) अपरिग्रह (non-possession)—'ग्रह' के माने 'पकड' और 'परि' के माने 'चहुँओर'। इसलिये 'परिग्रह' के माने हुए चहुँ ओर से पकड़ जाना या जकड जाना। इस जकड जाने से विमुक्त हो जाने का नाम है 'अपरिग्रह', क्योकि 'अ' उपसर्ग नकारात्मक अर्थवाची होता है। अभी कुछ पहले हमने 'यज्ञ'

शब्द पर विचार किया था। उसमे त्याग की भावना है, यह बताया था। इसी तरह इस 'अपरिग्रह' मे भी त्याग की भावना हे। भारतीय दर्शन के मूल स्तम्भ केवल दो है, अभ्यास और वैराग्य। एक ओर जितनी जो कुछ बाह्य और आन्तरिक सम्पत्तिया अथवा ममत्ववाली वस्तुएँ हैं, उनकी ओर अरुचि का उत्पन्न होना और उनको त्यागते जाना वैराग्य हे। दूसरी ओर अपने अभीष्ट की ओर बढते जाने का अभ्यास करते जाना। मनुष्य का इष्ट होता है 'सुख', और सुख होता है बन्धन से मुक्त होने पर। इसी को मुक्ति या मोक्ष लाभ या फल कहते हे। दार्शनिको ने चार फल बताये है, जिनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य आकाक्षी रहता है। वे हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। मोक्ष-फल ही सबसे श्रेष्ठ माना जाता हे—सभी उसकी इच्छा करते हे, क्योकि सुख कौन नही चाहता? यह मोक्षरूप सुख गीता मे वर्णित उस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त किये बिना नही मिल सकता, जिसके विषय मे हम अभी ऊपर कह चुके है। गीता का एक-एक शब्द इस सम्बन्ध मे तौलने योग्य है, परन्तु मनुष्य इतना मूर्ख बन जाता हे कि उसे केवल बाह्य बातो के करने ही मे सार दिखाई देने लगता है। वह बाहरी तौर पर वस्तुओ का त्याग बताकर आडम्बर करने लगता है, और भीतरी इन्द्रिय-वासनाओ को नही छोडता। अपरिग्रह का यह अर्थ नही। उसका अर्थ हे बाहरी-भीतरी उन सभी पदार्थ और विचारो का त्याग कर देना, जो समत्व प्राप्ति के मार्ग मे बाधक रहते है।

गाधीजी ने कहा हे कि "गीता मेरा धार्मिक कोश हो गई हे। . उसके अपरिग्रह, समभाव इत्यादि शब्दो ने मुझे गिरफ्तार कर लिया (मुझे) यही धुन रहने लगी कि अपरिग्रह का पालन किस तरह मुमकिन है? क्या यह हमारी देह[१७७] ही हमारे लिये कम परिग्रह हे? स्त्री-पुत्र आदि यदि परिग्रह नही है, तो फिर क्या है? क्या पुस्तको से भरी इन आलमारियो मे आग लगा दू? यह तो घर जला कर तीर्थ करना हुआ? अन्दर से तुरन्त उत्तर मिला—हा, घर-बार को खाक किये बिना तीर्थ[१७८] नहीं किया जा सकता। इसमे अग्रेजी कानून के अध्ययन ने मेरी सहायता की। 'ट्रस्टी' यो तो करोडो की सम्पत्ति रखते हे, फिर भी उसकी एक पाई पर उनका अधिकार नही होता। इसी तरह मुमुक्षु को अपना आचरण रखना चाहिए, यह पाठ मैंने गीताजी से सीखा। अपरिग्रही होने के लिये, समभाव रखने के लिये, हेतु का और हृदय का परिवर्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीपक की तरह स्पष्ट दिखाई

---

१७७ पाठक यह न भूलें कि देह शब्द के अन्तर्गत स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रहते हैं अर्थात् अह से लेकर चर्म तक सब देह सज्ञा है।

१७८ तीर्थ अर्थात् तैर जाना या पार कर जाना।

देने लगी।"[१७९] अब यह बात जाच मे आई, तो गाधीजी ने सब से पहले अपने बीमा की पालिसी, जो उन्होंने सन् १८९१ या १८९२ मे बम्बई मे कराई थी, बद कर दी, क्योंकि "बीमा कराना मानो अपनी भीरुता का और ईश्वर के प्रति अविश्वास का परिचय देना था।[१८०] इस समय उन्होंने दक्षिण अफ्रीका से अपने बडे भाई के पास जो पत्र भेजा, उसमे लिखा कि "आज तक मैं जो कुछ बचाता रहा, आप के अर्पण करता रहा, अब मेरी आशा छोड दीजिए। अब जो कुछ शेष बच रहेगा वह यहीं के सार्वजनिक कामो मे लगेगा।"[१८१] अपरिग्रह का दूसरा प्रत्यक्ष कदम गाधीजी ने उस समय उठाया, जब वे दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान के लिये सन् १९०१ मे लौटने-वाले थे। उसके पहले वे कुछ समय के लिए सन् १८९६ मे भी लौटे थे, यह हम तीसरे अध्याय मे कह चुके है। जब वे सन् १९०१ मे घर वापिस आने वाले थे, तब उन्हे "स्थान-स्थान पर अभिनन्दन-पत्र दिये गये, और हर जगह से कीमती चीजें नजर की गईं। सन् १८९६ मे भी भेंटें मिली थी।"[१८२] परन्तु गाधीजी का कहना है कि "इस बार (याने सन् १९०१) की भेंटो और सभाओ के दृश्य से मैं घबराया। भेंट मे सोने-चादी की चीजे तो थी ही, पर हीरे की भी चीजे थी।" इन भेंटो को देखकर गाधीजी के मन मे जो विचार उठे, उन्होंने जो वार्तालाप अपनी पत्नी और बच्चों से किया, तथा जो निर्णय किया, वह सब शिक्षाप्रद होने के कारण उल्लेखनीय है। "इन सब चीजो को"—उन्होंने सोचा—"स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार हो सकता है ? यदि मैं इन्हे मजूर कर लू, तो फिर अपने को यह कहकर कैसे मना सकता हूँ कि मैं पैसा लेकर लोगो की सेवा नही करता था। मेरे सब मुव-क्किलो (clients) की कुछ रकमो को छोडकर बाकी सब चीजे मेरी लोक-सेवा के उपलक्ष्य मे दी गई थी, पर मेरे मन मे तो मुवक्किल और दूसरे साथियो मे कुछ भेद न था। मुख्य-मुख्य मुवक्किल सब सार्वजनिक काम मे भी सहायता देते थे।

"फिर उन भेंटो मे एक पचास गिनी का हार कस्तूर बाई के लिए था, मगर उसे जो चीज मिली, वह भी थी तो मेरी सेवा के उपलक्ष्य मे, अतएव उसे पृथक् नही मान सकते थे।

" (इस तरह) वह रात मैंने एक पागल की तरह जागकर काटी। सैकडो

---

१७९ आत्म-कथा, ख० २, पृष्ठ २५-२६
१८० आत्म-कथा, ख० २, पृष्ठ १९
१८१. आत्म-कथा, ख० २, पृष्ठ २७
१८२ आत्म-कथा, ख० १, पृष्ठ ३६२

रुपयो की भेंट न लेना भारी पड रहा था, पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।

"मै चाहे उन भेटो को पचा भी सकता, पर मेरे वालक और पत्नी? उन्हे तालीम तो सेवा की मिल रही थी। सेवा का दाम नही लिया जा सकता, यह हमेशा समझाया जाता था। घर मे कीमती जेवर आदि मैं नही रखता था। सादगी वढती जाती थी। ऐसी अवस्था मे सोने की घडिया कौन रखेगा? सोने की कठी औरहीरे की अगूठी कौन पहनेगा? गहनो का मोह छोडने के लिये मै औरो से कहता रहता था। अब इन गहनो और जवाहरात को लेकर मैं क्या करूँगा!

"मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि ये चीजें मै हरगिज नही रख सकता।—सुवह स्त्री-पुत्रादि से सलाह करके अपना वोझ हलका करने का निश्चय किया।

"वच्चे तो तुरन्त समझ गये। वे वोले—हमे इन गहनो से कुछ मतलव नही। ये सव चीजे हमे लौटा देनी चाहिये। और यदि जरूरत होगी, तो क्या हम खुद न वना सकेंगे?

"परन्तु पत्नी ने कहा—तुम्हे चाहे जरुरत न हो और लडको को भी न हो। वच्चो का क्या? जैसा समझाये, समझ जाते है। मुझे चाहे न पहनने दो, पर मेरी वहुओ को क्या जरुरत न होगी? और कौन कह सकता है कि कल क्या होगा? जो चीज लोगो ने इतने प्रेम से दी है, उसे वापिस लौटाना ठीक नही। इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रुवारा आ मिली। लडके दृढ रहे और मैं भला क्यो डिगने लगा!

"मैंने धीरे से कहा—पहले लडको की शादी तो हो जाने दो। हम वचपन मे तो इनके विवाह करना चाहते ही नही है। वडे होने पर जो इनका जी चाहे सो करे। फिर हमे क्या गहनो-कपडो की शौकीन वहुएँ खोजनी है? फिर भी अगर कुछ वनवाना ही होगा, तो मै कहा चला गया हूँ?"

"हा, जानती हूँ तुमको। वही न हो, जिन्होने मेरे ही गहने उतार लिये हैं। जव मुझे ही नही पहनने देते हो, तो मेरी वहुओ को जरूर ला दोगे। लडको को तो अभी से वैरागी वना रहे हो। इन गहनो को मैं नही वापस देने दूंगी। और फिर मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक?

"पर यह हार तुम्हारी सेवा के खातिर मिला है या मेरी? मैंने पूछा।

"जैसा भी हो। तुम्हारी सेवा मे क्या मेरी सेवा नही है? मुझसे जो रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नही है। मुझे रुला-रुला कर जो ऐरो-गैरो को घर मे रक्खा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नही?

"ये सब बाण तीखे थे। कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे। अन्त को सम्मति प्राप्त कर सका, (और) १८९६ और १९०१ मे मिली भेटे वापस लौटाई। उनका ट्रस्ट बनाया गया और लोक सेवा के लिये उसका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियो की इच्छा के अनुसार होने की शर्त पर वह रकम बैंक मे रक्खी गई। आज भी आपत्ति-कोश के रूप मे वह रकम मौजूद है और उसमे वृद्धि होती जाती है। आगे चलकर कस्तूरबाई को भी उसका औचित्य जचने लगा। इस तरह हम अपने जीवन मे बहुतेरे लालचो से बच गये है।

"मेरा यह निश्चित मत हो गया है कि लोक-सेवक को जो भेटें मिलती है, वे उसकी निजी चीज कदापि नही हो सकती ?"[१८३]

उपरोक्त उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि जब शौक-सजावट आदि मे अरुचि और सरल सादे जीवन मे रुचि उत्पन्न होने लग जाय, तब समझना चाहिये कि अपरिग्रह का सूर्य उग रहा है। मनुष्य किस प्रकार तर्क-वितर्कों के द्वारा अपने आप को सम्बोधित कर शौक-सजावट आदि साम्पत्तिक परिग्रह मे जकड लेता है, यह भी उक्त कथन मे निहित है। परन्तु सब से बडी बातें जो उसमे नवीन शिक्षा के रूप मे विद्यमान है, वे दो है, एक तो यह कि लोक-सेवा मे शुल्क का अभाव हो, और दूसरे यह कि जो कुछ सम्पत्ति हमे प्राप्त हो, उस सब को हम अपने हाथ मे लोक-हित के हेतु ट्रस्ट की सम्पत्ति समझे। गाधीजी के ये दोनो विचार क्रान्तिकारी है। नि शुल्क सेवा-भाव तो अतीत काल से प्रसिद्ध है, पर ट्रस्ट-भाव गाधी जी ही की देन है, जो उन्होने गीता और अग्रेजी कानून के अध्ययन से निर्धारित किया है। पचास वर्ष पूर्व यदि किसी लोकनायक को कोई भेट या पुरस्कार —लोक-हितार्थ दान नही—मिलता था, तो वह उसे निजी सम्पत्ति समझ कर हथिया लेता था, पर आज वह बात नही रही। लोगो के मन मे यह भाव प्राय जाग उठा है कि इस प्रकार भेंट या पुरस्कार रूप मे प्राप्त हुई सम्पत्ति भी लोक-सेवा के कार्यो मे ही लगाई जाय। रही ट्रस्ट वाली बात, सो गाधी-वाद के समाज-सगठन मे उसका विशेष महत्व है, जिसकी चर्चा यथास्थान आप को यथोचित रूप मे मिलेगी।

"क्या यह हमारी देह ही हमारे लिये कम परिग्रह है ?" गाधीजी के इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि देह का भी अपरिग्रह किया जाना चाहिये। देह के अपरिग्रह होने से वही मूल सत् आ जाता है, जिसे हमने दूसरे अध्याय मे एक गेद का दृष्टान्त देकर सृष्टि का शून्यवत् रूप बताया है। गाधीजी भी जब शून्यवत् होने की चर्चा

---

१८३ आत्म-कथा, ख० १, पृष्ठ ३६२ से ३६५ तक।

करते है, तब उनका भी अभिप्राय उसी मूल शुद्ध सत् से रहता है। धर्म-शास्त्रो मे भी इस मूल शुद्ध सत् को शून्य कहा है। बाइबिल मे कहा है "पदार्थ पहले निराकार और शून्य था।"[१८४] वृहदारण्यकोपनिषद् मे भी यही बताया है कि "पहले यहा कुछ नही था। यह सत् मृत्यु से, प्रलय से ही आवृत था।" [१८५] ग़रज यह कि यह सृष्टि अनेक रूपो और नामो की सग्रहीत ढुलकती हुई गेद (A ball of the rolling mass of names and forms) के समान है। यदि इस रूप-नाममय शरीर का अपरिग्रह हो जाय, तो वही शून्य आ पहुँचता है। यदि सृष्टि को कर्मरूप कहा जाय, तो यह शून्य उसकी नैष्कर्म्य स्थिति है। जिस अपरिग्रह मे अहकाररूप शरीर तक का त्याग कहा गया है, उसमे यदि सभी प्रकार की वैयक्तिक सम्पत्ति का अभाव सिखाया जाय, तो कोई आश्चर्य नही। सच पूछा जाय, तो अशरीरी सत् आदर्श है, अहिंसा उसका साधन, तथा अस्तेय और अपरिग्रह उस अहिंसा के दो समान अग। इसलिये गोपीनाथ धावन ने कहा है कि "अस्तेय अपरिग्रह, उदरपूरक श्रम (bread labour) और स्वदेशी इन चारो वृत्तो के आधार पर गाधीजी की दार्शनिक अर्थ-नीति का निर्माण हुआ है। और अपरिग्रह के पालन मे वैयक्तिक सम्पत्ति का पूर्ण लोप निहित है, जो साम्यवादियो (कम्युनिस्टो) की तत्सम्बन्धी विचार-धारा की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी है।"[१८६]

---

१८४ "And the earth was without form and void".

—Bible, Genesis 1/2.

१८५ वृह०, प्रथम अध्याय, द्वितीय ब्राह्मण।

१८६ Pol Phil Pp 92 and 93

भाग ३

व्यावहारिक साधनाएँ

(१०)

मार्क्स और गान्धी की विशेष देन
(डायलेक्टिक्स और सत्याग्रह)

सामाजिक जटिलता

मनुष्य शारीरिक-मानसिक आत्मिक-अनेकांगो का एक जटिल यौगिक जीव है। यही कारण है कि उसके जीवन-सम्बन्धी विषयो को समझने-समझाने मे अच्छो-अच्छो के सिर चकरा जाया करते है। समाज की गुत्थियो को सुलझाना तो और भी कठिन होता है, क्योकि वह ऐसे-ऐसे अनेक मनुष्यो का समूह होता है। एक तो मनुष्य स्वय जटिल, दूसरे मनुष्य-मनुष्य की जटिलता मे असमानता, तीसरे पारस्परिक हितो मे विरोध, इन सब विषमताओ के कारण समाज एक गोरख-धन्धा बन जाता है। फिर भी समाज-सेवी उसे सगठित बनाये रखने मे ही सलग्न रहते हे, क्यो कि समाज-सगठन ही कल्याणकारी होता है।

मार्क्स की विशेष देन

यह कहने की आवश्यकता नही कि हर समाज-सेवी अपने-अपने दृष्टिकोण से समाज की सेवा करना चाहता है। भौतिकवादी उस की देख-भाल भौतिक दृष्टि से करता है, तो अध्यात्मवादी अध्यात्म-दृष्टि से। समाज-शास्त्र के अनेक पहलू होते है, जैसे—न्याय (तर्क और कानून), धर्म, नीति, अर्थ (सम्पत्ति), राजनीति, इतिहास, आरोग्यादि। जो जिस दृष्टिकोण का सेवक होता है, वह उसी दृष्टिकोण को लेकर समाज के इन भिन्न-भिन्न अगो का भी अध्ययन और सेवन करता है। अर्थ-विषयक भौतिक विषमताओ को मिटाने के लिये आरूढ होने वाला मार्क्स भौतिकवादी था। इसलिये उस ने धर्म और नीति को भौतिकता की कसौटी पर कसा। धर्म उस पर न कसा जा सका। इससे उसे फेंक दिया। नीति कसी जा सकी, इस से उसे अपने ढग से अपना लिया—यह हम गत आठवे अध्याय मे देख चुके हैं। जिस प्रकार मार्क्स ने नैतिकता को भौतिक दृष्टि से देखा (materialist conception of morals or ethics),

उसी प्रकार इतिहास को भी देखा है (materialist conception of history)। इतिहास की इस भौतिक दृष्टि का मार्क्सवाद मे बड़ा महत्त्व माना जाता है, क्योंकि उस की बदौलत पूंजीपति श्रमिक, द्विवर्गीय संघर्ष की आवश्यकता और उपयोगिता सप्रमाण सिद्ध की गई है। मार्क्स की यह एक नवीन ढंग की विशेष देन है। इसी पर अब हमे इस अध्याय मे विचार करना आवश्यक है।

विशेष देन जानने के लिये पूर्व स्थिति का ज्ञान आवश्यक

विशिष्ट सामान्य का अनुगामी होता है। जब तक, सामान्य क्या है, यह न जान लिया जाय, तब तक विशिष्ट क्या है, यह नही जाना जा सकता। अतः यह जानने के पूर्व कि मार्क्स की विशेष देन क्या और कैसी है, यह आवश्यक हो जाता है कि हम पहले इस बात को ही संक्षेपतः जान लें कि उस समय अर्थशास्त्र की सामान्य स्थिति क्या थी, अर्थात् मार्क्स के पूर्वगामी अर्थशास्त्रीय पंडितो ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र अथवा दायरे (scope) को कितना बना रखा था, और अपने कार्यक्षेत्र मे किन विधि (method) का अनुपालन करते थे, क्योंकि इन्ही दोनो विषयों के सम्बन्ध मे—विशेषकर विधि के सम्बन्ध मे—मार्क्स की विशेष देन कही जाती है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र

(अ) भारत में उस की प्राचीनता—अर्थशास्त्र की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, और उस का दायरा क्या, कितना रहा, और क्या होना चाहिये, इस पर मतभेद है। कोई तो उसकी उत्पत्ति केवल ढाई-तीन सौ वर्ष पहले की बताते हैं, और कोई उस की प्राचीनता भारतीय वेद-काल तक खीच ले जाया करते है। हर चीज का इतिहास होता है। यदि इतिहास को न भुलाया जाय, तो हम उस चीज के आदि स्वरूप को देख सकते है और यह भी जान सकते है कि वह चीज क्रमशः परिवर्तित होती हुई वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर सकी है। यही हाल अर्थशास्त्र का है। आज जिस ढंग से वह लिखा-पढा जा रहा है, वैसा वह प्राचीनकाल मे नही था, और हो भी नही सकता था, परन्तु इस का अर्थ यह नही कि लोगों को प्राचीन काल मे अथवा किसी अन्य काल मे अर्थशास्त्र का ज्ञान ही नही था। जब से समाज-जीवन प्रारम्भ हुआ, अथवा यह कहिये, जब से मनुष्यो के जीवन-सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रीय सम्पर्क बढे, तभी से उन क्षेत्रो का ज्ञान प्रारम्भ हो गया। यदि तत्सम्बन्धी ज्ञान न होता, तो सम्पर्क ही उत्पन्न न होते, और भविष्य मे वे टिक भी न पाते। तो वह ज्ञान उतना ही सीमित रहता है, जितनी कि उस समय की परिस्थितियां रहती हैं। यह बात मानी जा सकती है कि लेखन-कला के आविष्कार

के पूर्व यह ज्ञान केवल मौखिक ही रहा हो, और पुस्तकाकारो मे प्रकट न हो सका हो। परन्तु 'शास्त्र' का अर्थ केवल 'पुस्तक' या 'ग्रन्थ' नही होता। उस का यथार्थ अर्थ तो होता है ज्ञान; या विषय-विशेष का ज्ञान।[1] जब यह ज्ञान-विशेष ग्रन्थाकार मे प्रदर्शित हुआ तो आलंकारिक भाषा मे (container for the contained) ग्रन्थ को ही शास्त्र कहने लगे। इसलिये यह निस्संकोच कहा जाता है कि जब से समाज मे मनुष्य का साम्पत्तिक अर्थात् आर्थिक व्यवहार प्रारम्भ हुआ तभी से मनुष्य अर्थशास्त्र का ज्ञाता बना, भले ही प्रारम्भ काल मे उस की आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित रही हो, और तदनुकूल साम्पत्तिक सामग्री भी थोडी रही हो। यदि लिखित ज्ञान ही शास्त्र कहा जाय, तो भी अर्थशास्त्र की प्राचीनता मे कोई बाधा उपस्थित नही होती, क्योंकि हस्त-लेखनकला भी बहुत प्राचीन है। चूंकि संसार के साहित्य मे भारतीय वेद-काल प्राचीनतम माना जाता है, और चूंकि पाश्चात्य निष्पक्ष इतिहासज्ञो ने भी भारत को ही सभ्यता का जन्म-स्थान स्वीकार किया है,[2] इसलिये यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि सब से पहले आर्यो को ही अर्थशास्त्र का ज्ञान हुआ, और उन्ही ने उसे सब के पहले व्यक्त किया। यह केवल हमारी मन-गढत बात नही है। उस के वेदो मे ही प्रमाण मौजूद है। अथर्ववेद मे व्यावहारिक जीवन-सम्बन्धी मंत्र और सूक्त है।[3] इन मे कुछ सूक्त ऐसे है, जिन मे अर्थशास्त्रीय विषयो की चर्चा प्रार्थनाओ के रूप मे मिलती है। प्राचीन भारतीय साहित्य काव्यमय और प्रार्थना-प्रधान रहता था। प्रार्थनाएँ और देव-अर्चनाएँ विषयानुकूल हुआ करती थी। जिस भाव को जागृत करना हो, जिस कार्य की सिद्धि करना हो, उसी के अनुसार देव-विशेष का आह्वान किया जाता था। भौतिकता-जन्य पतन-मूल अभिमान, दम्भ, पाखण्ड आदि मे मनुष्य गर्क न होने पाये, इस अभिप्राय से उस का ध्यान सदैव दिव्य शक्ति के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो पर खींचकर रखा जाता था। इसीलिये शरीर के प्रत्येक अंग मे किसी-न-किसी देव

---

१ Bhide's Sanskrit English Dictionary—(शास्त्र Knowledge, Department of Knowledge)

२ "India should be placed first in the list of the World's Countries for she is almost certainly the birth-place of Man!" 'History of the World', by Hamsworth, cited in K F Nariman's 'What next ? at page 116

३ **मंत्रो के समूह को सूक्त कहते हैं। सूक्त मे मंत्र-संख्या कम-ज्यादा हो सकती है।**

का नाम बताया गया है। यह बात है भी सही। यदि आन्तरिक दिव्य शक्ति किसी स्थान से गायब हो जाय, तो या तो सारा शरीर ही नष्ट हो जाय, या अग-विशेष ही निकम्मा बन जाय। इस दिव्य शक्ति के बिना न हम ही रहें और न हम अपने कृत्य-व्यवहारो को ही सफल बना सकें। इसीलिये लौकिक उन्नति अथवा व्याव-हारिक जीवन-सम्बन्धी सफलता के हेतु तदनुकूल उसी दिव्य शक्ति की प्रार्थना—कभी उसे इन्द्र, कभी सूर्य, कभी अग्नि आदि कह कर—की जाती है, क्योंकि ये नाम तेज-प्रकाश-ब्रह्म-शौर्यादि के प्रतीक है, जिन मे सम्पन्न हुए बिना किसी प्रकार की सफलता मिलना असम्भव होती है। गरज यह है कि अथर्ववेद पढते समय भी इस प्राचीन जीवन-पद्धति पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये। उसे, प्रगति-शील कहाने वाले दम्भियो के शब्दो मे 'दकियानूसी', या मेक्समुलर के शब्दो मे 'बच्चो जैसा बडबडाना' कह कर नही उडा देना चाहिये। इस थोडे-से आवश्यक विषयान्तर के बाद अब हम पाठको की दृष्टि अथर्ववेद के दो-चार सूक्तो की ओर आकर्षित कर बताना चाहते है कि उस मे एक ओर तो मूल धनादि के द्वारा उत्पत्ति, तथा क्रय-विक्रयादि द्वारा वाणिज्य इत्यादि करने पर जोर है, तो दूसरी ओर कृषि-कृत्य पर। एक ओर राज्य-करो को देने का जिक्र है, तो दूसरी ओर ऐक्य-प्रधान समृद्धिशाली समाज का। व्यक्तिगत एव सामाजिक दोनो दृष्टिया उस मे मौजूद हैं। संस्कृत भाषा के विद्वान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के अपने सुबोध भाष्य मे बडी उत्तमता से समझाया है कि उक्त काण्ड के १५वे सूक्त मे 'वाणिज्य से धन की प्राप्ति', १७व मे 'कृषि से सुख प्राप्ति', २४वें मे 'समृद्धि की प्राप्ति करना', एव २९वे मे 'सरक्षण कर का देना' बताया गया है। उन मे से कुछ पद दृष्टान्त स्वरूप उल्लेखनीय है। 'इन्द्रमह वणिज चोदयामि' (मैं वणिक इन्द्र को प्रेरित करता हूँ) अर्थात् वाणिज्य-सम्बन्धी शक्तियो (commercial or economic forces) के कार्य-कारण पर मनन करता हुआ उन का मन्थन करता हूँ (चोदयामि)। 'ये पन्थ नो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी सचरन्ति' अर्थात् द्युलोक और पृथ्वी के मध्य मे जाने-आने के जो दिव्य मार्ग है, उन मे 'यथाक्रीत्वा धनमाहराणि' आजा कर व्यापार करते हुए बहुत-सा धन प्राप्त करें।[4] इसी तरह कृषि-साधन, हल, गौ, बैल, घोडे आदि की रक्षा करने और वायु एव सूर्य (शुनासीर)[5] के द्वारा खेती की उत्तम उपज प्राप्त

---

४ अथर्ववेद, तृतीय काड, सू० १५, म० १०२

५ अथर्ववेद, तृतीय काड, सू० १७, म० ५, ७

श्री सातवलेकर ने 'शुनासीरौ' का अर्थ 'वायु और सूर्य, लिखा है 'शुना-

करने पर १७वे सूक्त मे कहा है। २९वे सूक्त मे राज्य, राजा के सभासदो के बारे मे तथा कर रूप मे अन्न का सोलहवा भाग ले लेने, और समाज-सरक्षण एव समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति के हेतु उस का उपयोग करने के विषय मे कहा गया है।

अथर्ववेद मे कथित प्रमाणो के अतिरिक्त और भी प्रमाण है, जिन से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र से अनभिज्ञ नही थे। श्री बालकृष्ण ने इस प्रकार के पाँच प्रमाणो का उल्लेख किया है, परन्तु केवल निम्नलिखित ही विचारणीय है —

(१) प्राचीन काल मे चार उपवेद बनाये गये थे, यथा—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व-वेद और अर्थवेद।

(२) विष्णु पुराण मे लिखा है कि भारत मे १८ प्रधान विद्याएँ विद्यमान थी, जिन मे एक अर्थशास्त्र भी है।

(३) अमरकोश और शुक्रनीति जैसे प्राचीन ग्रन्थो मे 'अर्थ-शास्त्र' की व्याख्या की गई है।

(४) भारत के महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त (३२१-२९७ ई० पूर्व) का महामत्री प्रसिद्ध चाणक्य था। उस का अर्थ-शास्त्र नामक ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध है।[६]

(ब) पाश्चात्य देशो मे उस का उद्भव—परन्तु पाश्चात्य देशो के विद्वान् अपनी खोजो को केवल ग्रीस की प्राचीनता तक ही ले जाया करते है, क्यो कि उन के इतिहास मे ग्रीक-सभ्यता ही सब से प्राचीन है, अत अर्थ-शास्त्र के पडितो का कहना है कि ग्रीस-निवासी प्राचीन काल ही मे 'इकानामी' 'या 'इकानामिक्स' (economy or economics) शब्दो का प्रयोग अपने बोल-चाल मे गृह-सम्बन्धी खर्चो की मितव्ययिता बताने के अभिप्राय से किया करते थे। पोलिटिकल इकानामी (Political Economy)—यही अर्थशास्त्र का नाम वर्तमान काल मे प्रसिद्ध है—का उद्भव सन् १७१५ ई० मे बताया जाता है, जब कि फ्रेंच भाषा मे एनटोन डी मॉन्ट श्रीटिन की त्रेतेद्ल इकानामी पोलितीक (The Science of Political Economy)[७] नाम की पुस्तक प्रथम बार प्रकाशित हुई। आज कल

सीरौ' शुनासीर' का द्विवचन है। 'शुनासीर' इन्द्र का विशेषण है। (देखो भिडे का सस्कृत-अग्रेजी कोश)

६ प्रो० बालकृष्ण द्वारा विरचित 'अर्थशास्त्र', पृष्ठ २-३.

७. Gide's Principles of Political Economy, P 7

'पोलिटिकल' शब्द सुनने से 'राजनीति' का अर्थ हमारे मन मे समा जाता है, परन्तु जिस प्रकार 'इकानामिक' शब्द ग्रीक भाषा का है, उसी प्रकार 'पोलिटिक' भी है, जिस का अर्थ होता है 'राष्ट्र' (Nation), और 'पोलिटिकल' उसी का रूपान्तर है, इसलिये जब 'पोलिटिकल इकानामी' का प्रयोग किया जाना प्रारम्भ हुआ, तब उस का अर्थ बजाय निजी या कौटुम्बिक मितव्ययिता के 'राष्ट्रीय मितव्ययिता' हुआ। 'राष्ट्र' और 'राज' प्राय अभिन्न व्यवस्थाएँ हैं, अत 'पोलिटिकल इकानामी' मे राज-सम्बन्धी आय-व्यय के ब्योरे का समावेश होना भी आवश्यक हो गया। राष्ट्र या राज-सम्बन्धी आय-व्यय प्रजा के अनेक हाल-रोजगारो पर निर्भर रहता है, जैसे—कृषि, वाणिज्य अथवा व्यापार, कर-वसूली आदि, इसलिये तदनुसार अर्थशास्त्र का विस्तार होता गया। फिर, वस्तु-निर्माणक कारखानो आदि में वृद्ध, बालक, स्त्री जाति तथा अन्य अशक्त श्रमिकों की रक्षा करना, पूजी और श्रम-विभागो का सुयोग करना, उत्पादन-वितरणादि तथा अन्य प्रकार के साधनो द्वारा समाज मे सुख-लाभ की स्थापना करना। इस तरह की कई बातो का सम्बन्ध राज की अर्थ-नीति अपनायी गई, अत 'पोलिटिकल इकानामी' का क्षेत्र भी फैलता गया, यहाँ तक कि उस मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का भी उल्लेख होना अनिवार्य हो गया। परिणाम यह हुआ कि विषयानुसार उस के कई नाम होते गये, जैसे—सिविल इकानामिक्स, पब्लिक इकानामिक्स, स्टेट इकानामिक्स, नेशनल इकानामिक्स, सोशल इकानामिक्स, इन्टरनेशनल इकानामिक्स इत्यादि। गरज यह है कि मनुष्य-समाज से सम्बन्धित प्राय सभी प्रसग, किसी-न-किसी हद तक अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते है। इसलिये कई अर्थशास्त्री उस की व्यापकता की दृष्टि से उसे सोशल इकानामिक्स (सामाजिक अर्थशास्त्र) या केवल 'इकानामिक्स' (अर्थ-शास्त्र) कहना ही उपयुक्त समझते हैं। यह तो हुआ अर्थशास्त्र का क्षेत्र, विषयो के समावेश की दृष्टि से। इस के अतिरिक्त यह भी देखना जरूरी है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत वर्णित विषयो का अध्ययन किस दायरे तक होना चाहिये। क्या हमे केवल कलाप्रेमी अथवा प्रकृति-दर्शक की तरह आर्थिक घटनाओ और सम्बन्धो (Economic Phenomena and relations) का द्रष्टा-मात्र होकर रहना ही काफी है, या कि उस के साथ ही साथ उनके कारण-कार्य (cause and effect) पर भी विचार करना चाहिये, अर्थात् क्या जो जैसा है, उसे वैसा ही बिना किसी हस्तक्षेप या छेड-छाड के देखते रहना ही अर्थशास्त्र का काम है? या कि दर्शन-मात्र एव कारण-कार्य ढूँढने-मात्र से सन्तोष न कर उन्हे इस प्रकार मोडा जाय, अथवा उन्हे इस प्रकार वश मे किया जाय कि वे समाजोन्नति के हेतु काम मे लाये जा सकें। ये ही दो प्रकार के अर्थशास्त्रियो

के दल है, जो अर्थशास्त्रीय क्षेत्र की सीमा को बाधते हैं। एक दल का कहना है कि हमे बिना छेड-छाड किये, जो जैसा है (What is) वैसा ही देखते रहना चाहिये। इस दलवालो को 'नेचरलिस्ट (Naturalists) या 'फिजियोक्रैट' (Physiocrats) अर्थात् (प्रकृतिवादी) कहते है।[८] इन की "बिना छेड-छाड" वाली नीति 'लेसर फेयर' (Laissre faire) नाम से प्रख्यात है। दूसरा दल कहता है, यह बात ठीक नही। अर्थशास्त्र का क्षेत्र केवल आर्थिक घटनाओ और सम्बन्धो को देख लेने से, और उन के कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित कर लेने से समाप्त नही हो जाता, बल्कि उस के अन्तर्गत समाज की भावी उन्नति की दृष्टि से, क्या होना चाहिये, (What ought to be), इस पर भी विचार निर्धारण करना आवश्यक होता है। पहले दल वाले प्राकृतिक स्वाभाविक नियमो की तोड-मरोड पसन्द नही करते, और दूसरे दल वाले ऐतिहासिक घटनाओ आदि से सबक सीख कर समाजोत्थान के अभिप्राय से विकासवाद या क्रान्तिवाद का समर्थन करते है। मार्क्स का दृष्टिकोण इस दूसरे दल से मेल खाता है, अथवा यह कहिये कि मार्क्स कुछ बढा-चढा हुआ—कुछ नवीनता लिये हुए इसी दल का है, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे। इस दल को ऐतिहासिक स्कूल (Historical School) कहते है। यदि हम मार्क्स के विविध ग्रन्थो को पढे और उन की विचार-धारा पर मनन कर उन के जीवन के प्रयत्नो को देखे, तो हमे यह निस्संकोच मानना पडेगा कि वे केवल अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो मे ही क्रान्ति नही लाना चाहते थे, वरन् मनुष्य-समाज से सम्बन्धित सभी पहलुओ को क्रान्तिमय करना चाहते थे, हालाकि उन सब का आधार प्रमुखत उन्होने अर्थशास्त्रीय घटनाओ को बना लिया था। इस दृष्टि से मार्क्स के शास्त्र को यदि 'सामाजिक अर्थशास्त्र (Social Economics) न कहकर 'समाज-शास्त्र' या 'समाज विज्ञान' (Social Science) कहा जाय, तो अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि मार्क्स ने हर जगह सामाजिक वृद्धि अथवा समाजोन्नति (Social development) और सामाजिक कृति अथवा सामाजिक कर्म (Social activity) के सामञ्जस्य की ही चर्चा की है। इस वृद्धि और कृति के विषय को समाज के किसी क्षेत्र-विशेष से सीमित नही रखा है। मार्क्स और उन के साथी अपने-आप को 'वैज्ञानिक समाजवादी' (Scientific Socialists) और

---

८ "Physiocracy is composed of two Greek words, meaning the Government of Nature" (Gide's Principles of Economics F N at page 9)

अपने मत को 'वैज्ञानिक समाजवाद' (Scientific Socialism) कहा भी करते थे।

अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक स्वरूप

अर्थशास्त्रीय दायरे (scope) के विषय मे जिस प्रकार मतभेद है, उसी प्रकार अर्थशास्त्रीय विधि (method) के विषय मे भी मतभेद है। जिस वैज्ञानिक ढग से अर्थशास्त्र का पठन-लेखन आजकल देखा जाता है, वह प्राचीन काल मे नही था। उस समय की आर्थिक घटनाएँ और समस्याएँ इतनी विस्तृत और जटिल नही थी, जितनी वे उत्तरोत्तर बढती हुई आज हो गई हैं। उन के विस्तार और जटिलता के कारण ही अर्थशास्त्र को, हमारी समझ मे, क्रमश वैज्ञानिक पद्धति को अपनाते जाना पडा है। यो तो प्राचीन काल मे भी सम्पत्ति-प्राप्ति, गृहकलाओ, व्यापार, विनिमय-साधनो, मुद्रा आदि का प्रचार था और उन के सम्बन्ध मे लोगो को कुछ-न-कुछ ज्ञान भी था। उन के ज्ञाता राजाओ एव अन्य व्यक्तियो का उन विषयो पर अपनी सम्मतिया और आदेश भी दिया करते थे, परन्तु ये सम्मतिया और आदेश आज जैसे वैज्ञानिक वाद-विवाद के निष्कर्ष रूप नही हुआ करते थे। उस समय यह बात नही उठी थी कि आर्थिक सभी प्रसग पारस्परिक सम्बन्धित होने के कारण वैज्ञानिक सूत्र मे बाधे जा सकते हैं। अर्थशास्त्र के इतिहासज्ञो के कथनानुसार अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक स्वरूप सन् १६१५ ई० के लगभग प्रारम्भ हुआ, जैसा कि हम पहले कह आये हैं। जब तक साम्राज्य और सामन्त-कालीन आर्थिक व्यवस्था कृषि-प्रधान रही, उद्योग-धन्धे गृह और ग्राम बद्ध रहे, व्यापार केवल घर और कौटुम्बिक आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन छोटी छोटी दूकानो के रूप मे बना रहा, और मुद्रा के स्थान मे वस्तु-विनिमय का प्रचार रहा, तब तक आर्थिक प्रसगो की सम्बद्धता के विषय मे वैज्ञानिक विचार-धारा उठने के लिये उपयुक्त परिस्थितिया नही थी। कहा जाता है कि जब यूरोपीय जातिया अमेरिका की खोज के बाद उस मे बसने लगी, और स्पेन उस नई दुनिया की सुवर्ण खानो के द्वारा मालामाल होने लगा, तब अन्य जातियो ने उसी प्रकार मालामाल होने के अभिप्राय से कुछ ऐसे नियमो का निर्माण किया कि जिस से उन के वैदेशिक व्यापार और गृह-शिल्प-कर्मो की वृद्धि हो सके। यह प्रयत्न वाणिज्य-पद्धति (mercantile system) के नाम से विख्यात है। इसका प्रचार सोलहवी और सत्रहवी सदी मे रहा। द्रव्य-प्राप्ति के लालच मे पारस्परिक विद्वेष और ईर्षा की आग भडकी, और इसलिये हर जाति ने अपने वाणिज्य-सम्बन्धी नियमो मे इतनी क्लिष्टता, विषमता और सकीर्णता भर दी कि उस पद्धति मे सहज स्वभाव के स्थान

से ने इस परिभाषा में परिवर्तन किया, और कहा कि साम्पत्तिक उत्पादन, वितरण तथा खपत के साधनों को बताने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहाता है।[१] यह अर्थशास्त्र का प्राथमिक साम्कृत्य स्वरूप (Classical School) कहलाता है। आगे चलकर यही नानाजनी के कारण पुराने ढर्रे का स्कूल (Orthodox School) कहा जाने लगा। और कोई उस की 'लैसज़-फेयर' की नीति के कारण उदार स्कूल (Liberal School) कहने लगे।

(ख) क्लासिकल स्कूल की डिडक्टिव विधि (Deductive Method)

इस के आगे वैज्ञानिक विधि के विषय में विशेषरूप से कशमकश हुई। कौन-सी विधि का अनुपालन करने से सत्य की प्राप्ति अर्थात् यथार्थ की खोज हो सकती है, इस पर वादविवाद होना प्रारम्भ हो गया। भारतीय मीमांसा में इस सत्य-सिद्धि के लिये छ साधन बताये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अनुपलब्धि, और अर्थापत्ति। उन पर यहां विचार करना आवश्यक नहीं। हमें तो यहां केवल पाश्चात्य वैज्ञानिकों की ही पद्धति पर विचार करना है, इसलिये पहले उपरोक्त क्लासिकल स्कूल वालों की ही विधि के विषय में जान लेना चाहिये। वे कहते थे कि सचाई पर पहुँच जाने के लिये डिडक्टिव विधि (Deductive method) ही उत्तम होती है। इस विधि के अनुसार कुछ स्वीकृत बातों या तत्त्वों का वर्तमान रहना पहले ही से मान लिया जाता है, और फिर उन के आधार पर परिस्थितियों के अनुसार सिद्धान्त निकाले जाते हैं, जैसा रेखागणित में किया जाता है। उदाहरणार्थ इस के दल के अर्थशास्त्री इस तत्त्व को प्रथम से ही मान लेते हैं, कि मनुष्य कम-से-कम परिश्रम से अधिक-से-अधिक सन्तोष प्राप्त करना चाहता है, और फिर उस आधार पर अनेक सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं। गरज़ यह कि वे सामान्य नियमों का समर्थन तथ्यों अथवा ऐतिहासिक घटनाओं के बल पर किया करते हैं। चूंकि उन का सिद्धान्त ही है कि मानुषिक सम्बन्ध प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक

---

१ "Adam Smith has defined economics as 'Proposing to enrich both the people and the soverign', thus giving a practical aim and purpose to the study' But Say amending this definition, writes, 'I had rather say that the object of Political Economy is to make known the means by which wealth is produced, distributed and consumed "

(Gide's Principles of Political Economy, P 12

नियमो से बधे रहते हैं, इसीलिये इम डिडक्टिव विधि को अपनाये बिना उन का काम चल भी तो नही सकता।

(ब) ऐतिहासिक स्कूल की इनडक्टिव विधि (Inductive Method)

परन्तु इस क्लासिकल स्कूल के अतिरिक्त एक दूसरा दल और है, जिसे ऐतिहासिक स्कूल या यथार्थवादी (Historical School or Realistic) कहते है। इस का तरीका यह है कि वह पहले कुछ निश्चित तथ्यो को देखता है और फिर उसके आधार पर सामान्य नियम का निर्माण करता है। जैसे हर पदार्थ को गिरते हुए देखकर गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त निकाला गया। इस विधि को इनडक्टिव विधि (Inductive Method) कहते है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे इन तथ्यो को देखने के कई तरीके है। उन मे से एक तरीका है इतिहास का अध्ययन करना, और दूसरा है गणनाङ्को की सूची (statistics) पर तुलनात्मक दृष्टि से मनन करना। गरज़ यह कि पूर्वकालीन और वर्तमानकालीन आर्थिक घटनाओ की समानता अथवा असमानताओ के अनुसार किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना और उसे नियम-रूप से निर्माण कर लेना, इस विधि का ध्येय रहता है। परन्तु, जैसा कि हम पहले कह आये है, सामाजिक तथ्यो की बहुलता और उन का अत्यन्त सम्मिश्रण होने के कारण उन का अवलोकन प्राकृतिक तथ्यो के अवलोकन से कठिन और अनिश्चित होता है, अत समाज-विज्ञान की परीक्षाओ के परिणाम उतने असंदिग्ध नही होते, जितने प्राकृतिक विज्ञान के हो सकते है। एक बात और ध्यान देने योग्य है, और वह यह कि सामाजिक तथ्य देश, जाति और काल के अनुसार भिन्न-भिन्न हुआ करते है। इसलिये केवल तथ्यो के अवलोकन के आधार पर सर्वमान्य, सार्वदेशिक अथवा सार्वकालिक नियमो का निर्धारण करने का दावा झूठा साबित हो जाता है। इसलिये न तो क्लासिकल स्कूल ही स्वाभाविकता (natural law) की आड लेकर यह कह सकता कि आर्थिक सिद्धान्त सार्वभौमिक और अपरिवर्तनीय होते है, और न हिस्टारिकल स्कूल ही तथ्यावलोकन के आधार पर कह सकता है। जब तक हम स्थिति-विशेष और तथ्य-विशेषो की कल्पना न करे और उन मे रहते काल्पनिक अर्थात् अमूर्त (abstract) मनुष्य का विचार न करे, तब तक अर्थशास्त्रीय सार्वभौमिक अटल नियम का निर्माण नही किया जा सकता। हिस्टारिकल स्कूल इस काल्पनिक जीवन की बात को पसन्द नही करता और यथार्थ बात पर उतर कर देश या जाति-विशेष और काल-विशेष के तथ्यो का ही अवलोकन वा अध्ययन करके तत्सम्बन्धी उपयुक्त निष्कर्ष निकाला करता है। परन्तु, हम यह देख चुके है कि क्लासिकल स्कूल

भी तो इतिहास की अवहेलना नहीं करता। वह वर्तमान और ऐतिहासिक तथ्यों की सहायता से ही अपने स्वाभाविक सिद्धान्तों का समर्थन और उपयोग करता है। नाक को चाहे सीधे पकड लो या घेरा देकर, बात तो एक ही है। इसीलिये जीड ने कहा है कि "आखिरकार नवीन स्कूल (historical school) भी उन्हीं विचार-धाराओं को अपनाता है, जिन्हे पुराना स्कूल अपनाता है। उसने कोई आर्थिक-विज्ञान की पुनर्रचना तो की नही है, सिर्फ उस ने उस मे एक नवीन जीवन —नई स्फूर्ति अवश्य ला दी है। वह उन अटल और मूल कारणों की ओर दृष्टि ही नहीं करता, जो हर स्थान मे आर्थिक घटनाओं के निर्माता होते है। विज्ञान की दृष्टि से यदि किसी व्यापक आधार को मान लेना खतरनाक कहा जाय, तो उस से अधिक खतरेवाली बात तो यह है जो कहा जाता है कि आर्थिक जीवन के अन्तर्गत सार्वभौमिक और सार्वकालिक सर्व-सामान्यता है ही नहीं। हमे इस बात को स्वीकार करना ही पडेगा कि कुछ ऐसे सर्व-सामान्य गुण हैं, जो मनुष्य-मात्र मे पाये जाते है। इस का उत्तम सबूत इतिहास से ही मिलता है। इसीलिये हम (पुराने स्कूल की) काल्पनिक विधि को (ठडा करके) पूर्णत नहीं उडा सकते। पुराने स्कूल की भूल इस मे नही है कि वे काल्पनिक अथवा अमूर्त विधि (abstract method) का प्रयोग बहुधा किया करते है, बल्कि इस मे है कि वे काल्पनिक को ही कई बार यथार्थ ही मान बैठते हैं। दोष डिडक्टिव तरीके को नहीं है, दोष है तो रूढिमय एकैक वृत्ति (dogmatic spirit) को, जिसे त्याग करने के लिये हमे सावधान रहना चाहिये। यही कारण है कि डिडक्टिव विधि का त्याग नही किया जा सका, बल्कि आर्थिक विचार प्रवाहकों के दो नये दलों ने उस का पुनरुत्थान ही पहले से अधिक निश्चित रूप मे कर दिया है।" एक दल का नाम है—गणितशास्त्रज्ञ (Mathematical School), और दूसरे का नाम है—अध्यात्मशास्त्रज्ञ (Psychological School)। साराश यह है, जैसा कि कीन्स ने कहा है, कि अर्थशास्त्र का कोई एक खास तरीका नही कहा जा सकता, जिस का वर्णन एक वाक्य या वाक्यांश मे कर दिया जा सके। अर्थशास्त्रीय कुछ प्रश्न ऐसे हैं, जिन का हल दोनो तरीकों का प्रयोग करने से हो सकता है और कुछ ऐसे होते हैं, जिन का हल करना न केवल उक्त तरीकों पर निर्भर रहता है,

---

१० Gide's Principles of Political Economy PP 17 to 20

नोट—उपरोक्त बहुत कुछ विचार जीड की इस पुस्तक के आधार पर लिखे गए हैं।

बल्कि हल करने वाले की मानसिक गति, शिक्षण, एव प्रश्न-स्वरूप पर भी निर्भर रहता है।"[११]

मार्क्स की विशेष देन की पूर्व स्थिति का विहगावलोकन—

इस तरह हम उन्नीसवी सदी के प्राथमिक काल तक पहुँच चुके है। उस समय यूरोप भर मे, क्षेत्र या दायरे की दृष्टि से, यह माना जाने लगा था कि अर्थशास्त्र मे केवल "क्या है पर विचार नही करना चाहिये," बल्कि "क्या होना चाहिये" इस पर भी विचार किया जाय। गरज यह कि अर्थशास्त्र कलाशास्त्र के वजाय विज्ञानशास्त्र माना जाने लगा था। "क्या होना चाहिये" मानने वाले यथार्थत सभी वैज्ञानिक समाजवादी होते है। तत्कालीन समस्त क्रान्तिकारी वैज्ञानिक समाजवादी क्लासिकल स्कूल वालो की दो प्रधान वातो, याने निरकुश स्पर्धा (Free Competition) और खानगी सम्पत्ति (Private Property) के विरोधी थे। इसलिये उन्हे मिटाने के अभिप्राय से वे अपने-अपने दृष्टिकोण को लेकर तीन विभागो मे विभक्त हो गये थे। एक वे, जो हर प्रकार की खानगी सम्पत्ति की नीति को समूल नष्ट कर देना चाहते थे। ये लोग 'कम्यूनिस्ट' (Communists) कहलाते थे। दूसरे वे थे, जो केवल उत्पादन करने वाले साधनो का खानगीपन मिटा देना ही काफी समझते थे, और इसलिये वे सहकारिता (Cooperation) के पक्ष मे थे। ये 'सघवादी' अथवा 'कलेक्टिविस्ट्स' (Collectivists) कहे जाते थे। और तीसरे प्रकार के लोगो का अभीष्ट केवल इतना ही था कि भूमि तथा मकानो का खानगीपन समाप्त कर दिया जाय। ये अपने-आप को 'राष्ट्रवादी' (Nationalists) कहते थे। इनके अतिरिक्त एक प्रकार का समाजवाद और जाग उठा था। वह क्रान्ति के स्थान मे विकासवाद को अधिक उपयुक्त समझता था, इसलिये वह राज्य-सरकार का आश्रय लेकर नये-नये कानूनो का निर्माण करके सामाजिक विषमताओ का क्रमश अन्त कर देना चाहता था। इसी कारण से वह 'राज-समाजवाद' (State Socialism) के नाम से प्रख्यात हुआ।

इस तरह का विचार-तारतम्य था यूरोप मे, जब जर्मनी मे मार्क्स ने अपने 'कम्यूनिस्ट समाजवाद' की नीव डाली। उसने अपने कार्य-क्षेत्र को सकीर्ण नही रखा —उसे व्यापक बनाया, ताकि उस के अन्तर्गत उपरोक्त सभी प्रकार की धारणाओ

---

११ Keyne's Scope and Method of Political Economy PP. 28 and 30.

का समावेश हो जावे। उस ने अपने इस कार्य-क्षेत्र को सफल बनाने के हेतु अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो को ही प्रमुखता दी। दायरे (scope) की दृष्टि से यही व्यापकता उस की विशेष देन कही जाने योग्य है, परन्तु इससे भी अधिक विशिष्टतर उसकी एक और दूसरी देन है, जिसकी प्रशसा सब ओर से कही-सुनी जाती है। वह है विधि (method) सम्बन्धी। वह इस प्रकार है --

यह हमे मालूम हो चुका है कि मार्क्स के पहले भी 'इनडक्टिव (inductive) अर्थात् ऐतिहासिक (historical) विधि का प्रचार था। इस विधि मे मार्क्स ने एक नवीन ज्योति जगाई। यह नवीन ज्योति उस की दो बातो मे दिखाई दी। एक तो यह कि उसने ऐतिहासिक तथ्यो को इतिहास के विस्तृत क्षेत्र से ढूंढ निकालने के लिये आग्रह किया और ऐसा करते समय उन की अविरुद्धता (Consistency) और व्यापकता (Comprehensiveness) पर विशेष ध्यान रखने की बात भी सुझाई। दूसरी बात उसने यह बताई कि इतिहास इस बात को सिद्ध करता है कि सामाजिक कृतिया उत्थित अर्थात् उठते हुए चक्राकार मे चला करती हैं, जो समाजोन्नति को भी उसी प्रकार बढाती जाती हैं। यही उत्थित अथवा ऊर्ध्व चक्राकार वाला उस का सिद्धान्त महान् महत्त्व का कहा जाता है। इसीलिये हम उसे मार्क्स की विशेष देन कहते हैं, परन्तु उत्थित चक्र के सिद्धान्त को समझने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि पहले हम चक्र-सिद्धान्त को ही समझ लें।

चक्र-सिद्धान्त

ससार के साहित्य मे गुरुत्वाकर्षण (Law of gravitation) जैसे सृष्टि-सम्बन्धी अनेक अटल सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तो मे से एक चक्र-सिद्धान्त (Law of Cycle) भी है, जिस का नाम प्राचीन, मध्यकालीन तथा नवीन सभी ग्रन्थो मे मिला करता है, हाला कि हम उस पर विशेष ध्यान नही दिया करते। ध्यान भले ही न दिया जाता हो, उसका महत्त्व भले ही भुला दिया गया हो, पर उस का लोक-प्रचार तो इसी से सिद्ध होता है कि आज भी छोटे-बडे मूर्ख-स्याने सभी के मुख से सहज ही निकल पडता है कि "क्या करें, यह सृष्टि-चक्र है"—"बुरे फसे है इस ससार-चक्र मे" इत्यादि। सृष्टि, ससृति, या ससार, ये सब शब्द 'सृ' धातु के रूपान्तर है, जिस का अर्थ होता है सरकना अर्थात् गतिवान होना (to move)। जो गतियुक्त हो, वही सृष्टि है, इसलिये सृष्टि-चक्र कहना कोई शेखचिल्ली की इकडम-तिकडम बात नही, और न किसी विद्वान् की केवल एक मानसिक कल्पना। वह है विज्ञान-शास्त्रियो की एक वैज्ञानिक खोज।

सृष्टि आखिरकार क्या है? नक्षत्र अथवा ग्रह-उपग्रहो का समूह। नक्षत्र कैसे है? चक्राकार, भले ही वे चक्र अण्ड के समान हो। नक्षत्र की गति क्या है? अपनी कील के आसपास चक्र लगाना, तथा अन्य ग्रहो के चारो ओर भी चक्र लगाते रहना, इसलिये सारी सृष्टि, स्वरूप और गति दोनो दृष्टि से, चक्राकार ही है। रूप और गति के समान सृष्टि की विधि भी चक्राकार ही होती है। जन्म-जीवन-मरण, आदि-मध्य-अन्त, अथवा उत्पत्ति-स्थिति-लय, इन्ही तीन क्रियाओ के योग को सृष्टि नाम दिया जाता है। ये तीनो क्रियाएँ क्रम-बद्ध रहती है, और कालरूपी कलाकार इस क्रमिक व्यापार को चक्ररूप से चलाता ही रहता है। अत रूप, गति, विधि, तीनो प्रकार से सृष्टि चक्राकार है, इसीलिये आर्यावर्त के ईश्वर-वादियो ने सृष्टि-सस्थापक विष्णु भगवान् के एक हाथ मे सुदर्शनचक्र का दर्शन कराया, बाकी तीन मे शख, गदा और पद्म का।[12] इस सृष्टिचक्र के रूप, गति और विधि को समझाने के लिये, यदि नैयायिक ने कुम्भकार के चक्र का दृष्टान्त दिया, तो उपनिषद्कार ने आठ या सोलह आरेदार रथ-चक्र का। योगियो ने उसे मूलाधारादि षष्ट चक्राकार के रूप मे देखा, तो कुछ अन्य लोगो ने उसे पद्म-नाम या नाभि-चक्र ही कहा। गाधी ने भी इस सृष्टिरूपी सुदर्शन (सु+दर्शन) चक्र को नही भुलाया, और सूतोत्पादक चक्र को ही सुदर्शनचक्र की उपमा देकर अपनाया, जिस की बदौलत वह कुछ हेर-फेर से आज भी भारतीय स्वतन्त्रता का प्रतीक बन राष्ट्रीय पताका को सुशोभित कर रहा है। जब सारी सृष्टि ही चक्ररूप है, तब विद्या-विशारदो ने उस के आशिक प्राकृतिक और सामाजिक कृत्यो मे भी इस चक्र-नियम का प्रतिपालन होता हुआ पाया, जिसे कालान्तरिक अथवा युगान्तरिक चक्र-नियम (Periodical law of cycle) कहते है। यह युगान्तर क्षण-मात्र से लेकर कोटियो वर्ष पर्यन्त का होता है, और इसी के आधार पर, हमारी समझ मे, भारतीय दर्शन मे सृष्टि की चतुर्युगी व्यवस्था एव सृष्टि-प्रलय के सिद्धान्त का निर्माण किया गया है। इसी के अनुसार अर्थशास्त्रीय क्षेत्र मे भी नियत काल के लगभग—जैसे दस वर्ष मे—बीस वर्ष मे—अर्थ-सकट (Periodical economic crisis) आदि का अनुभव प्राय उसी प्रकार हुआ करता है, जैसे—भौगोलिक ऋतुओ अथवा भूकम्पादि का होता है। जो कुछ कर्म

---

१२ शख, चक्र, गदा और पद्म—ये चारो, सृष्टि की चार गतियो के द्योतक हैं। 'शख' से प्रारम्भिक अकाशवाणी अथवा, ओकारस्वरूप परिस्थिति, 'चक्र' से सृष्टत्व, 'गदा' से सृष्टि का नियत्रण और 'पद्म' से सृष्टत्व मे अलिप्तता अथवा मोक्ष का ज्ञान दर्शाया जाता है। ऐसा हमारा विचार है।

रूप है वही सृष्टि है, इसलिये कभी-कभी सृष्टि-चक्र न कह कर 'कर्म-चक्र' ही कहते हैं। 'कर्म' 'कृ' धातु से बना है, और 'सृष्टि' 'सृ' धातु से, यह हम पहले बता चुके हैं। 'कृ' का अर्थ 'करना' (action) और 'सृ' का अर्थ 'सरकना' (motion) होता है, यह भी हम देख चुके हैं, इसलिये जब कर्म-सिद्धान्त को और सृष्टि-सिद्धान्त को, जो यथार्थत एक ही हैं, चक्र के रूप में देखते हैं, तब उन्हें क्रमश 'कर्म-चक्र सिद्धान्त' (Law of Cyclic Action) और 'सृष्टि-चक्र सिद्धान्त' अथवा 'गति-चक्र-सिद्धान्त' (Law of Cyclic Motion) कहते हैं।

मार्क्स की डायलेक्टिक पद्धति अर्थात् चक्रोत्थित या चक्रोर्ध्व-सिद्धान्त

उपरोक्त विवरण से यह विदित होता है कि सृष्टि द्रष्टाओं में से कुछ तो ऐसे हैं, जो केवल कर्म-सिद्धान्त (Law of Action) या गति सिद्धान्त (Law of Motion) की ही चर्चा करते हैं, और कुछ ऐसे हैं जो कर्म-चक्र सिद्धान्त (Law of Cyclic Action) या गति-चक्र सिद्धान्त (Law of Cyclic Motion) की बात करते हैं। मार्क्स भी चक्र-सिद्धान्त को मानने वाला था , परन्तु उसे यह बात जँच गई कि सृष्टि कोई ऐसी चीज तो नहीं है, जो एक ही समान, एक ही स्थान पर चक्र लगाती रहे। यदि ऐसा माना जाय, तो उस में रूढ़ि या स्तब्धता (static) का दोष आ जायेगा, और वृद्धि (development) न हो सकेगी , इसलिये उस ने प्राकृतिक दृष्टान्तों एव ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि सृष्टि की क्रियाएँ अथवा गतियां इस प्रकार वृद्धिपूर्वक चक्राकार में चला करती हैं, जैसे नागिनदार लाठी की नागिन, अथवा पेच की चूड़ियां घेरा देती हुई ऊपर को बढ़ती जाती हैं और जिस का चित्रण इस प्रकार का होगा—यह बात लेनिन के निम्न वाक्य से प्रकट होती है —

"A development that seemingly repeats the stages already passed, but repeats them otherwise, on a higher basis ("negation of negation"), a development, so to speak, in spirals, not in a straight line "[13]

सृष्टि गतिवान है, यही मार्क्स का तर्क है, जिसे डायलेक्टिक्स कहते हैं, और इतिहास से सिद्ध होता है कि यह गति अनन्त ऊर्ध्व वृत्ताकार रहती है, जिसे

---

१३ Lenin's 'Karl Marx' pp 22 and 23 (इस वाक्य का हिन्दी अनुवाद 'डायलेक्टिक्स के लक्षण' शीर्षक लेख के अन्तर्गत देखिये)

मार्क्सवाद मे ऐतिहासिक डायलेक्टिव पद्धति (historical dialective method)) कहते है।

डायलेक्टिक्स के लक्षण

'डायलेक्टिक' (Dialectic) के माने कोश मे लिखे है—'तर्क' 'न्याय'।[१४] परन्तु एम० एन० राय ने 'डायलेक्टिकल मेटीरियलिज्म' (Dialectical Materialism) का अर्थ, 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहा है।'[१५] इस के कारण पाठको के मन मे शका होने की सम्भावना है कि दरअसल मार्क्सवाद के डायलेक्टिक्स कहने का क्या अभिप्राय है। डायलेक्टिक के माने यथार्थ मे 'तर्क' ही है, और इसीलिये मार्क्स के पूर्वगामी तत्त्ववेत्ताओ की तर्क-पद्धति को भी डायलेक्टिक्स ही कहते थे , परन्तु हम यह पहले कह चुके है कि मार्क्स आदर्शवाद अथवा अध्यात्मवाद के विरुद्ध था, और वह प्रचलित भौतिकवाद को भी अपूर्ण कहता था। आदर्शवादियो अथवा अध्यात्मवादियो को तो वह न केवल तर्क-हीन ही कहता था, वरन् तर्क-विरोधी (anti-dialectical) तक कहा करता था। इसी तरह पूर्वकालीन प्रचलित क्लासिकल भौतिकवाद भी, उस की सम्मति मे, पुराने ढर्रे का नीरस था। प्राकृतिक नियमो पर आधारित हो कर चलने वाली और ऐतिहासिकता छोड देने वाला उस का तर्क कोई तर्क मे शुमार नही किया जा सकता था। सर्व ओर से एकरस होकर उन्नति की ओर जो लक्ष्य होना चाहिये, वह भी उस मे नही पाया जाता था। वह इस बात को भूल रहा था कि मनुष्य ऐतिहासिक कारणो के वश सामाजिक सम्बन्धो के मिश्रण से रगा हुआ एक अजीब-सा अनेकागी प्राणी हो गया है, और इसलिए उस की जीवन-सम्बन्धी गुत्थियो को सुलझाने के लिये इतिहास की सहायता लेना परमावश्यक है , पर भौतिकवाद मार्क्स की दृष्टि मे, केवल इसी बात को बताने मे लगा रहता था कि ससार क्या है—कैसा है, इत्यादि। वह यह जानने और बताने की कोशिश ही नही करता था कि समाज—ससार किस तरह परिवर्तित किया जाय। गरज यह कि उस का ध्यान इस ओर था ही नही कि ससार और समाज की क्राति कैसे हो, उन की नीति व्यावहारिक उन्नति की ओर किस प्रकार से चलाई जाय। एक ओर 'आर्थिक भौतिकवादी' (Economic Materialists) कहलाने वाले लोग थे, जिन के विषय मे कुछ खुलासा आगे इसी अध्याय मे कहेगे। उन मे भी सकीर्णता थी। उन्होने केवल आर्थिक अग को पकडा, और वह भी व्यापक

---

१४ Apte's Student's English-Sanskrit Dictionary e

१५ गाधीवाद समाजवाद, पृष्ठ १५२.

सिद्धात की अपेक्षा वहुत ही अधिक व्यापक और गुण-सम्पन्न था। देखने मे तो यह प्रतीत होता है कि यह उन्नति उन्ही स्थितियो की पुनरावृत्ति करती है, जो गुजर चुकी है, परन्तु यथार्थ मे ऐसा नही होता। वह दूसरे प्रकार से, (यानी नकार का नकार करके) उच्चतर आधार को लेती हुई इस प्रकार पुनरावृत्ति को प्राप्त हो जाती है, मानो उठते हुए आवृत्ताकार (so to speak in spirals) मे चलती हो, न कि सम-रेखा के रूप मे—वह उन्नति मानो छलाग मारती हुई, आपदाओ को पार करती हुई, क्राति मचाती हुई वढती है—वह क्रम भग करती हुई, परिमाणो को लक्षणो मे परिवर्तित करती हुई वढती जाती है,—वह किसी शरीर-विशेष पर, या अन्य पदार्थ-विशेष के अदर, अथवा किसी समाज-विशेष के भीतर कार्यान्वित होने वाले नाना प्रकार के आवेगो (forces) और प्रवृत्तियो (tendencies) के परस्पर विरोध और सघर्ष के द्वारा उन्नति-सम्बन्धी आन्तरिक प्रेरणाओ को उत्पन्न करती हुई वढती है। हर पदार्थ या विषय के सव पहलू एक दूसरे पर आश्रित रहते है एव उन का निकटतम अमिट सम्वन्ध रहता है और यही सम्वन्ध, जो गति की सर्व-सामान्य, नियन्त्रित विश्वव्यापिनी क्रिया का निर्देशक होता है—ये हैं, डायलेक्टिक्स के कुछ लक्षण, जिन के कारण उन्नति का सिद्धात (साधारण सिद्धात की अपेक्षा) अधिकतर सम्पन्न हुआ है।[१८]

"This Hegelian conception of thesis-antithesis-synthesis expresses itself in Marx as a theory of the historical process working itself out through a series of class-struggles"

Taken from G D H Coles' Introduction to Marx's 'Capital', pp XVIII and XIX

१८ "Nowadays, the idea of development, of evolution, has penetrated the social consciousness almost in its entirety, but by different ways, not by way of Hegelian Philosophy But as formulated by Marx and Engels on the basis of Hegel, this idea is far more comprehensive, far more richer in content than the current idea of evolution A development that—seemingly repeats the stages already passed, but repeats them otherwise, on a higher basis ("Negation of Negation"), a development, so to speak, in spirals, not in a straight line,—a development by leaps, catastrophes, revolution,—"breaks in continuity, the transformation of quantity into quality, the inner impluses to

डायलेक्टिक दर्शन

(अ) मानसिक प्रतिबिम्ब की दृष्टि से—साराश यह है, कि मार्क्स ने प्रचलित क्रम-बद्ध वैकासिक उन्नति के सिद्धात के स्थान मे क्रम-भग उछलती हुई क्राति का उन्नति के सिद्धात की स्थापना की। मार्क्स ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "डायलेक्टिक पद्धति वाले दर्शन मे कोई ऐसी स्थिति नही है जो अन्तिम, पूर्ण, रहस्यमयी कही जा सके। वह इस बात को प्रकट करता है कि हर पदार्थ परिवर्तनशील होता है और हर पदार्थ के अन्दर भी परिवर्तन होता रहता है। बनने और मिटने की धाराप्रवाहिक क्रिया—निम्नस्तर से उच्चस्तर की ओर निरन्तर बढने की गति—यही एक बात उस दर्शन के समक्ष दिखती है। और (सच पूछा जाय तो) इसी क्रिया —इसी गति का विचारशील मस्तिष्क मे प्रतिबिम्बित होना ही डायलेक्टिकल दर्शन है, इसके सिवाय और कुछ नही।"[१९] अब आप को विदित हो गया होगा कि जिस प्रकार भौतिकता मस्तिष्क मे नीति का प्रतिबिम्बन कर तत्सम्बन्धी विचार धारा का प्रवहन करती है, उसी प्रकार वह अपने-आप मे निरन्तर वर्तती हुई ऊर्ध्व गति या क्रिया को मस्तिष्क मे प्रतिबिम्बित कर तत्सम्बन्धी विचारधारा का निर्माण किया करती है।

(ब) आर्थिक व्यवस्था और क्रान्ति की दृष्टि से—चूकि मार्क्स का सिद्धान्त है कि पदार्थ अथवा व्यवहार मे भाव अथवा चेतना आती है, इसलिये मनुष्य के सामाजिक जीवन की गुत्थियाँ भी उसी सिद्धात के आधार पर सुलझाना मार्क्सवाद

---

development, imported by the contradition and conflict of the various forces and tendencies acting on a given body, or within a given phenomenon, or within a given society,—the interdependence and the closest, indisoluble connection of all sides of every phenomenon (while history constantly discloses ever new sides), a connection that provides a uniform, law-governed, universal process of motion—such are some of the features of dialectics as a richer (than the ordinary) doctrine of development (see Marx's letter to Engels of January 8, 1868, in which he ridicules Stein's "Wooden trichotomies" which it would be absurd to confuse with materialist dialectics)"

Lenin's 'Karl Marx', pp 22-23

१९ Lenin's 'Karl Marx', pp 21-22

का प्रधान विषय रहता है। वर्तमान सामाजिक चेतना जो न्याय, राजनीति आदि के रूप मे प्रदर्शित होती हुई दिखाई देती हे, वर्तमान सामाजिक व्यावहारिक जीवन पर निर्भर रहती है, ओर वर्तमान व्यावहारिकता ऐतिहासिक समस्त गति-विधि-फल के परिणाम-स्वरूप होती हे , अत अर्थशास्त्रीय सामाजिक जीवन की यथार्थता जानने तथा तत्सम्बन्धी उन्नति प्राप्त करने के लिये सामाजिक इतिहास पर दृष्टि रखना अनिवार्य है। मार्क्स ने लिखा है कि "मनुष्यो को अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन-काल मे, कुछ ऐसे निश्चित सम्बन्धो को अपनाना पडता है, जो अपरिहार्य होते हे, ओर जिन को स्वीकार या अस्वीकार करना, उन की इच्छा पर निर्भर नही रहता। ये सम्बन्ध भौतिक उत्पादन-शक्तियो की उन्नति-सम्बन्धी निश्चित स्थिति विशेप के लिये ही उपयुक्त होते हैं।

"उत्पादन के इन सम्बन्धो के योग से ही समाज का आर्थिक ढाचा तैयार होता है। यही सच्ची नीव हे, और इसी पर कानूनी ओर राजनीतिक महल खडा किया जाता हे, तथा इसी के अनुकूल सामाजिक चेतना के निश्चित रूप हुआ करते है। भौतिक जीवन की उत्पादन-पद्धति सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की सामान्य साधनाओ को प्रभावित करती रहती है। मनुष्यो के व्यवहार का निर्माण उन की चेतना नही करती, वरन् इस के विपरीत, उन का व्यावहारिक जीवन ही उन की चेतना का निर्माण करता है। बुद्धि की एक खास श्रेणी के आ जाने पर समाज की उत्पादक शक्तियो और तत्कालीन उत्पादन के सम्बन्धो मे, अथवा कानूनी शब्दो मे, साम्पत्तिक सम्बन्धो मे—जिन के अन्तर्गत वे कार्य करते चले आते है—सघर्ष हो उठता हे। तव फिर ये सम्बन्ध उत्पादन-शक्तियो के वृद्धिकारक रूपो के वजाय (ह्रासकारी) जजीरे वन जाते है। वस, यही से सामाजिक क्रांति का काल प्रारम्भ हो जाता है। आर्थिक आधार का परिवर्तन होने पर, उस पर खडा हुआ पूरे-का-पूरा विस्तारमय भवन अधिक या कम तेजी से वदल जाता है।——मोटी दृष्टि से एशियाई, प्राचीन सामन्त-कालीन, आधुनिक वुरजुओ (अर्थात् पूँजीपतियो) की उत्पादन करनेवाली पद्धतिया, समाज की आर्थिक रचना के प्रगतिवान काल कहे जा सकते है।"[२०]

डायलेक्टिक्स और इतिहास

हमे यह ज्ञात हो चुका कि सामान्यत डायलेक्टिक का अर्थ 'तर्क' होता है, जिस का प्रयोग मार्क्स के अतिरिक्त हेगिल आदि अन्य शास्त्रज्ञ भी करते थे।

---

२०. Citations by Lenin from Marx's Letter to Engles, dated 7-7-1866 in 'Karl Marx', pp 24–25

मार्क्स ने उस मे वृद्धि की, जिस के कारण वह विज्ञान ही कहा जाने लगा, और फिर दर्शन भी। अब हमे यह देखना चाहिये कि वह द्वन्द्वात्मक दर्शन अथवा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्यो कहाया, जैसा कि एम० एन० राय के पूर्वोक्त उद्धृत कथन मे व्यक्त कर चुके ह। द्वन्द्वात्मक विशेषण का रहस्योद्घाटन तभी हो सकता है, जब हम यह जान लें कि डायलेक्टिक का इतिहास से क्या सबध है। डायलेक्टिक, मार्क्स के मतानुसार, ऊर्ध्वचक्राकार गति का प्रतीक है। यह गति प्रकृति और मनुष्य समाज दोनो मे विद्यमान है, इसलिये समाज की हर एक शाखा-उपशाखा मे भी उस का क्रम चला करता है। इस प्रकार की हर चक्राकार गति को देखना डायलेक्टिक का काम है, और इसी गति का देखना भौतिकवाद कहाता है। गरज यह कि जब हम समाज की नीति-शाखा पर विचार करते है, तब उसे नीति का भौतिक विचार (Materialist Conception of Ethics) कहते है, और न्याय पर विचार करते हैं, तब न्याय का भौतिक विचार कहते ह, इत्यादि। इसी तरह अर्थशास्त्र का भौतिक विचार तथा इतिहास का भौतिक विचार कहा जाता है। अर्थशास्त्र का भौतिक विचार न कह कर हम उसी को अर्थशास्त्रीय डायलेक्टिक कहा करते हे, और इसी प्रकार इतिहास का भौतिक विचार के बदले हम ऐतिहासिक डायलेक्टिक कह सकते है। हम समाज की शाखा-उपशाखाओ की भौतिकता की बात न करके सम्पूर्ण भौतिकता की बात करे और कहे कि सम्पूर्ण भूतो मे चक्राकार गति है, तो उसे डायलेक्टिकल भौतिकता (Dialectical Materialism) कहना ही पर्याप्त होगा। इसी डायलेक्टिकल भौतिकता को एगिल्स आदि मार्क्सवादियो ने 'ऐतिहासिक भौतिकता' (Historical Materialism) कह कर दर्शाया हे।[21] इससे सिद्ध होता हे कि डायलेक्टिक और इतिहास दोनो एक ही व्यापक भाव के अर्थात् व्यापक ऊर्ध्व चक्राकार गति के द्योतक हैं। मार्क्स इतिहास को समाज का इस प्रकार का एक सीमित अग नही समझता जैसे न्याय, नीति, दर्शन या अर्थशास्त्र होते हैं। इतिहास एक ऐसा व्यापक शब्द है कि उस के अन्तर्गत समाज के सभी अगो का पूर्वकाल से लेकर आज तक का वर्णन आ जाता है। इस प्रकार के सर्वांगीय शास्त्र के अध्ययन से समाज की सर्वांगीय गति का ज्ञान हो जाता है या हो सकता हे, इसलिये मार्क्स की दृष्टि मे इतिहास का बडा महत्त्व है। इसी प्रकार के इतिहास का अध्ययन करने वाला अविरुद्ध (Consistent) कहलाता

---

21 "Labriola calls it (i e, dialectical materialism) historical materialism—a term borrowed from Engles" (G V P's the Materialist Conception of History, F N p 15)

है, क्योकि उस का ध्यान केवल अग-विशेष पर नही रहता, जैसे आर्थिक भौतिक-वादियो या नैतिक भौतिकवादियो आदि का रहता है। इन लोगो का ऐतिहासिक दृष्टिकोण क्षेत्र-विशेष से बद्ध होकर रह जाता है। इसी कारण से मार्क्स के पूर्वगामी हिस्टारिकल स्कूल के होते हुए भी मार्क्स की आलोचना के भाजन हुए। इन्ही कारणो से ये लोग उस व्यापकता (comprehensiveness) को भी नही पा सके, जिस को पाने का दावा मार्क्स ने प्राप्त किया है।

आर्थिक भौतिकवादियो और ऐतिहासिक भौतिकवादियो मे भेद

आर्थिक भौतिकवादियो और ऐतिहासिक भौतिकवादियो के दृष्टिकोणो मे बडा अन्तर है, जो ऊपर-ऊपर पढने-सुनने वालो को सहज ही समझ मे नही आता। जब हम आर्थिक भौतिकवादी (Economic Materialist) की चर्चा करते है, तब यह समझ बैठते है कि मार्क्स भी आर्थिक भौतिकवादियो की गणना मे आता है, क्योकि वही तो था, जो आर्थिक विषमताओ को हटा कर समता स्थापित करने का बीडा उठाने वालो मे अग्रगण्य था , परन्तु यह भूल है। वह कैसे सो देखिए—

आर्थिक भौतिकवादी, सच पूछा जाय तो, आदर्शवादी ही हुआ करता है, जान मे या अनजान मे। उस का तर्क यह रहता है कि सामाजिक जीवन मे आर्थिक भाग (Economic factor) ही प्रधान भाग रहता है। यह विभाग वाला तर्क उसी प्रकार का है, जैसा शरीर की व्याख्या करते समय पूर्वकाल मे लोगो ने अणु परमाणुओ का सिद्धान्त निकाला था। ऐसा कहा जाता था कि जिस प्रकार पदार्थ अणुओ का सग्रह-रूप होता है, उसी प्रकार कर्म अथवा गति विभागो का सग्रह रूप होता है। इन सिद्धान्तो का प्रभाव कब तक विज्ञान-क्षेत्र मे रहा, और कब कैसे घटता गया, इस पर हमे विचार करने की आवश्यकता नही, क्योकि ऐसा करने से विस्तार बढेगा और विषयान्तर हो जायगा। यहाँ पर केवल इतना जानना ही काफी होगा कि इन विभागो (factors) की इतनी बहुलता हो जाती है, उन की पारस्परिक इतनी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाये हो जाती है, तारतम्य की दृष्टि से वे केवल एक क्षेत्रीय व वर्तमानकालीन न रह कर इतने अनेक क्षेत्रीय और अत्यन्त पूर्वकालीन हो जाते है कि यह निबटारा ही नहीं किया जा सकता कि अमुक कर्म किन-किन विभागो का फल-रूप है। जब यह स्थिति आ जाती है, तभी यह प्रधान विभाग (Predominant Factor) वाली बात सूझती है, हालाँ कि उस सम्बन्ध मे भी पूर्वोक्त कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती है। जब यह आर्थिक भौतिकवादी कहता है कि अमुक सामाजिक कर्म का प्रधान विभाग—या प्रधान कारण ही कहिये—आर्थिक विभाग है, तब उसे यह भी स्वीकार करना पडता

है कि यह आर्थिक कारण आखिरकार मानुषिक स्वभाव, विशेष करके मानुषिक मानस एव ज्ञान का ही लक्षण है। ऐसी हालत मे हमे जी० व्ही० प्लेखानोभ के इस निर्णय मे सहमत होना पडता है कि "आर्थिक भौतिकवादी हर हालत मे ऐतिहासिक आदर्शो या भावो को त्याज्य मानता हो, सो ठीक नही, बल्कि यह कहा जा सकता है कि वह आदर्शो या भावो को त्यागता ही नही—इतना ही क्यो, यह कहिये कि वह यथार्थ मे नाना प्रकार का आदर्श रूप ही है। यही कारण है कि एनटोनियो लेब्रियोला सरीखे लोग अपने-आप को आर्थिक भौतिकवादी कहना ही नही चाहते, क्योंकि वे अविरुद्ध एकरसी भौतिकवादी (consistent materialists) है और उन की विचारधारा ऐतिहासिक आदर्शवाद के बिलकुल प्रतिकूल है।"[२२]

आर्थिक भौतिकवादियो के उक्त सिद्धान्त मे एक दोष तो यह है कि वह सामाजिक मनुष्य की गति को खण्डित रूप मे देखता है। अखण्ड गति के विभिन्न प्रकारो और स्वरूपो को वह विभिन्न शक्तियाँ समझने लगता है, हालाँ कि शक्ति एक ही है। वह सामाजिक जीवन के एकरस सग्रह-रूप का नही, बिखरे हुए विग्रह रूप का पुजारी होता है। दूसरा दोष उस मे वही आदर्शवाद वाला है, जिस के विषय मे ऊपर कह आये है। वह सामाजिक गति को गौण मानता है, और आदर्श, भाव अथवा स्वभाव को प्रधान, जिस के कारण मनुष्य मे अपने बाहु-बल का भरोसा क्षीण हो जाता है—परवशता, निर्बलता आदि उसे दबा बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि सामाजिक उन्नति के मार्ग मे बाधा उत्पन्न होती है। यही दो त्रुटिया है, जिन्हे ऐतिहासिक भौतिकवादी अपने पास जरा भी नही फटकने दे सकता। वह सामाजिक गति को एकरसी मानता है, और सामाजिक उन्नति को उसी गति के बाहु-बल का खेल समझता है। दूसरे शब्दो मे, वह कहता है कि मनुष्य-समाज ही अपने इतिहास का रचयिता होता है, और यह इतिहास-रचना इस बात पर निर्भर नही रहती कि वह किसी अमूर्त भाव या आदर्श को पकडकर चले, या कि उस के द्वारा पहले ही से बनी-बनाई किसी उन्नति या विकास की सडक को नापता फिरे। वह निर्भर रहती है उस की निजी आवश्यकताओ पर, और उन आवश्यकताओ की पूर्ति के साधनो पर। गरज यह कि ऐतिहासिक भौतिकवादी कहता है कि समाज अपनी उन्नति अपने-आप करता रहता है, उसे कोई निर्देश या आदर्श की शिक्षा देने की जरूरत नही। जैसी उस की भौतिक आवश्यकताएँ होती है, वैसे वह अपने साधन बना लेता है, और उन्ही के अनुसार सारे सामाजिक और साम्पत्तिक सम्बन्ध बनते जाते है।

---

22 G V Plekhanov's 'The Materialist Conception of History,' p 7

इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों को यदि शक्तियाँ (forces) कहें, तो यह कहेंगे कि सामाजिक और साम्पत्तिक सम्बन्ध, उत्पादन की उन शक्तियों पर निर्भर रहते हैं, जिन के द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। यह है ऐतिहासिक भौतिकवादी का एकरूपी और व्यापक भौतिक सिद्धान्त, जिस पर मार्क्स का सिद्धान्त खड़ा है। "इस तरह आदर्शवाद का खात्मा कर के और यह समझाकर कि अमुक काल में सामाजिक मनुष्य की गति आवश्यकताओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों और विधियों के अनुरूप हुआ करती है, डायलेक्टिक भौतिकवाद ने (जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद भी कहते है) पहले-पहल इस सामाजिक विज्ञान में वह दृढ़ता भर दी है, जिस का गर्व प्राकृतिक विज्ञान-शास्त्र उसे बहुधा बताया करता था। अब तो यह कहा जा सकता है कि समाज का विज्ञान ही प्रकृति का विज्ञान होता जा रहा है।"[23] सारांश यह कि ऐतिहासिक या डायलेक्टिक भौतिक-वादी यह ठोक-बजाकर कहता है कि जिस प्रकार प्रकृति के क्षेत्र में बिना किसी आदर्श के अपने-आप क्रिया-प्रतिक्रिया-फल वाली गति सञ्चरित होती रहती है, उसी प्रकार समाज में भी सामाजिक गति-सचालन के लिये किसी आदर्श की आवश्यकता नहीं। उन का कहना है कि आदर्श हमारा जीवन नहीं बनाता, बल्कि हमारा जीवन ही आदर्श बनाता है।

मार्क्स की विशिष्टताएं—द्विवर्गीय संघर्ष और डायलेक्टिक्स का निरूपण

पूर्वोक्त व्याख्या के पश्चात् अब हम कह सकते हैं कि मार्क्स ने किस प्रकार प्रचलित समाज-शास्त्र और इतिहास-शास्त्र को विशिष्ट बनाया। लेनिन ने बताया है कि "मार्क्सवाद के पहले के समाज-शास्त्र और इतिहास में अधिक-से-अधिक यह होता था कि इधर-उधर से कच्चे तथ्य एकत्र कर लिये जाते थे, और ऐतिहासिक गति के कुछ पहलुओं का वर्णन कर लिया जाता था।"[24] परन्तु "मार्क्सवाद ने सर्वांगित तथा व्यापक अध्ययन करने का ऐसा मार्ग बताया कि जिस में सामाजिक-आर्थिक रूपों की उत्पत्ति, उत्थान और ह्रास-सम्बन्धी गति का ज्ञान हो सके।"[25] मार्क्स ने विस्तृत इतिहास के सम्मिश्रित तथ्यों का अध्ययन कर यह देखा कि समाज में परस्पर विरोधात्मक अनेक प्रवृत्तियाँ चला करती हैं। उन्हें देख कर उन का समीकरण किया, और फिर उन्हें जीवन-सम्बन्धी एवं सामाजिक अनेक वर्गीय उत्पादन-सम्बन्धी दशाओं

---

23 G V P's 'The Materialist Conception of History,' p 15
24 Lenin's 'Karl Marx', p 26
25 ,, ,, ,, p 27

के ज्ञानार्य निस्सन्देहात्मक परिभाषाओं (technicalities) का रूप दिया। उसने यह भी बतलाया कि प्रधान विचारों के चयन करने तथा अर्थ लगाने में मनमानेपन और आश्रित-भाव को त्याग देना चाहिये। सब से बड़ी बात, जो उस ने प्रदर्शित की, वह यह है कि समस्त विचारों और भिन्न-भिन्न प्रकार की सभी प्रवृत्तियों की जड़ें बिना किसी अपवाद के उत्पादन की भौतिक शक्तियों की परिस्थितियों में धँसी रहती है। विरोधात्मक प्रवृत्तियों पर विचार करते समय जो प्रश्न मन में उठा करते हैं, उन पर भी उस ने बड़े गम्भीरतापूर्ण निष्कर्ष निकाले और उन्हें निकालने का वैज्ञानिक तरीका बताया। मनुष्यों—मनुष्य-समूह—के उन प्रवर्तकों या हेतुओं (motives) का निदान कैसे निकाला जाय, जिन के कारण विरोधात्मक विचारों और प्रयत्नों में संघर्ष हो उठता है, मानुषिक समाज के समस्त समूहों में होनेवाले इन सब संघर्षों का योग (sum-total) क्या है, भौतिक जीवन से सम्बन्धित उत्पादन करने में कौन-सी पदार्थ-निष्ठ स्थितियाँ (objective conditions) रहती हैं, जो मनुष्य की ऐतिहासिक गति की आधार-रूप होती हैं, इन स्थितियों की वृद्धि होने का क्या नियम है—इन सब बातों का हल किस ढंग से निकालना चाहिये—यह मार्क्स के वैज्ञानिक तरीके पर ऐतिहासिक अध्ययन से मालूम हो जाता है। इन बातों के हल निकल आने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हर समाज में उस के कुछ आदमियों के प्रयत्न कुछ दूसरों के प्रयत्नों से टकराते हैं। यह टकराहट मनुष्य-मनुष्य के बीच ही में नहीं, वरन् समाज-समाज के, राष्ट्र-राष्ट्र के, देश-देश के बीच में होती रहती है।[२६] अतः यह नियम के रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक जीवन ही प्रतिरोधों से भरा रहता है, और इन सभी प्रतिषेधात्मक प्रवृत्तियों के झमेले से एक-मात्र यह सिद्धान्त मार्क्सवाद ने निकाला है कि समाज में वर्गीय संघर्ष विद्यमान रहता है, जैसा कि मार्क्स ने लिखा है कि "अभी तक के सभी स्थित समाज का इतिहास मानो वर्गीय संघर्ष का इतिहास है।"[२७] मार्क्स ने यह भी सिद्ध कर दिखाया है कि यह वर्गीय संघर्ष यद्यपि देखने में अनेक वर्गीय प्रतीत होता है, परन्तु यथार्थ में वह केवल द्विवर्गीय रहता है। इन अनेक वर्गों में से कुछ ऐसे होते हैं, जो प्रतिक्रियावादी होते हैं। उन्हें विरोधी ही समझना चाहिये। इसी आधार को लेकर मार्क्स ने बूर्जुआ और श्रमिकों का द्विवर्गीय संघर्ष बताया है, जिस को उस ने अपने कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में स्पष्ट किया है और जिस का हम पहले उद्धरण दे चुके हैं। समाज के अन्तर्गतीय पारस्परिक विरोधात्मक अनेक संघर्षों को अपनी डायलेक्टिक विधि

---

२६ Lenin's 'Karl Marx', p 26-27 के आधार पर

२७ Communist Manifesto

के द्वारा केवल द्विवर्गीय सघर्ज सिद्ध करना मार्क्स की एक विशेष देन ही है। इसी द्विवर्गीय सघर्ष की ढूंढनेवाली पद्धति को, हमारी समझ मे, एम० एन० राय ने द्वन्द्वात्मक दर्शन कहा है। इस तरह हम ने देख लिया कि दायरे की दृष्टि से मार्क्स-वाद का अर्थशास्त्र वैज्ञानिक ढग का व्यापक समाज-शास्त्र हो गया, और विधि की दृष्टि से उसने द्विवर्गीय सघर्ष-युक्त चक्रोर्ध्व गति को अपनी विशेष प्रकार की डायलेक्टिक के द्वारा आविष्कृत किया।

द्विवर्गीय सघर्ष और भारतीय द्वन्द्वात्मक भाव

जव हम से यह कहा जाता है कि मार्क्स ने द्विवर्गीय सघर्ष और चक्राकार ऊर्ध्वगति का आविष्कार कर समाज-शास्त्र को सुशोभित कर दिया है और उसे प्राकृतिक विज्ञान-शास्त्र की श्रेणी मे विठा दिया है, तब हमारे मन मे इस वात को ढूंढने की उत्कठा ही उठती है कि क्या सचमुच ही मार्क्स के पूर्व कभी किसी ने इन वातो पर विचार नही किया, और अगर किया है,तो विशेषता फिर क्या रही। यदि हम यह कहे कि अन्य देशीय दर्शन-शास्त्रो की वात तो हम जानते नही, पर भारतीय दर्शन-शास्त्रो मे इन दोनो वातो पर विचार किया गया मिलता है, और वह भी साधारण तरह से चलती नजर द्वारा नही, वरन् गभीरता से, तो सम्भव है कि कुछ मार्क्सवादी हमे मर्ख, जिद्दी, सनकी, दकियानूसी और न जाने क्या-क्या कह डाले। हमारे जैसे ही लोगो के विषय मे, प्रतीत होता है, एम० एन० राय ने यह लिखकर टाल दिया है कि "आप को ऐसे वहुत-से लोग मिलेगे, जो यह दावा करते है कि मार्क्स ने दुनिया को कोई नई वात नही वताई, क्यो कि उस की कोई ऐसी नई वात नही है, जो वेदान्त या उपनिषदो मे न मिलती हो। मुझे तो ऐसे लोगो के सम्पर्क मे आने का भी अवसर मिला है, जिन का कहना है कि भौतिकवाद या वेदान्त, मार्क्स के सिद्धान्त और मनु के सिद्धान्त मे कोई अन्तर नही हैं ऐसे लोगो से पार पाना मुश्किल है, क्यो कि उन की स्थिति का समझना वडा कठिन होता है।"[२८] श्री राय जैसे महानुभाव भले ही ऐसे लोगो से माथापच्ची करना व्यर्थ समझे, पर यह निश्चय है कि हम ने भी ऐसे लोग देखे है, जो प्रचलित वहाव मे इस तेजी के साथ वह जाते है कि उन्हे इस का ध्यान ही नही रहता और न वे उस पर ध्यान ले जाने की परवाह ही करते कि "हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होगे अभी," जैसा कि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने प्रसिद्ध 'भारत-भारती' काव्य-ग्रन्थ मे लिखा है। हम यह भी कहने का दावा नही करते कि "भौतिकवाद या वेदान्त, मार्क्स के सिद्धान्त और मनु के सिद्धान्त

---

२८ गाधीवाद समाजवाद, पृष्ठ १५३

मे कोई अन्तर नही है," और न यह कहते कि जो हम कहेंगे वह अचूक सत्य है, पर हाँ, हमे अपने विचार को प्रकट करने का अधिकार है, और पाठक को अधिकार है कि वह उसे माने या न माने।

हम विद्वान् तो है नही, पर यह बात सच है कि द्विवर्गीय संघर्ष की बात भारतीय दर्शन मे इतनी प्राचीन है और इतनी प्रचलित हो गई है कि आज किसी मामूली-से-मामूली आदमी से भी जाकर पूछिये, तो वह भी यह कहेगा कि भली-बुरी, सुख-दुःखादि दो विरोधी शक्तियो की लड़ाई का नाम ही संसार है। यह बात हमारी समझ मे सम्य संसार के सभी प्राचीन साहित्य मे मौजूद है। यह बात दूसरी है कि जन-साधारण उसे शास्त्रीय भाषा मे व्यक्त न कर सके। मार्क्सवादी सम्भवत यह कहे कि मार्क्स ने जिस द्विवर्गीय संघर्ष की स्थापना की है उस मे और भारतीय दर्शन-शास्त्र-सम्मत द्वन्द्वात्मक तत्त्व मे भेद है। भारतीय दर्शन व्यक्तिगत आन्तरिक गुणो के संघर्ष की बात करता है, न कि आर्थिक कारणो से उत्पन्न समाज मे स्थित मनुष्य वर्गो के बीच होने वाले प्रत्यक्ष संघर्ष की। देखिये, जब संसार ही द्वन्द्वात्मक कहा जाता है, तब उस मे आन्तरिक गुणो और बाह्य कर्मो, दोनो का समावेश हो जाता है, क्योंकि बाह्य कर्म आन्तरिक गुणो के उद्वेग मे ही प्रकट हुआ करते है। संसार कहने से प्राकृतिक दृश्य, मनुष्य, मनुष्य-समाज आदि सब का भाव आ जाता है, इसलिए जब सृष्टि-भर के लिये एक सर्वव्यापी नियम बना दिया, तब वह आन्तरिक गुणो, बाह्य कर्मो, व्यक्ति, वर्ग, प्रकृति और समाज, सब के लिए लागू होता है। यदि सिद्धान्त व्यापक है, तो क्या जरूरत कि उसे सृष्टि की अलग-अलग शाखा के साथ दुहराया जाय। दर्शन-शास्त्र तो विस्तृत ज्ञान को सूत्रो के रूप मे अथवा सार रूप मे ही व्यक्त करता है। इसी सूक्ष्मता की दृष्टि से संसार की समस्त-विरोधिनी शक्तियो का ज्ञान भारतीय दर्शन ने केवल दो शब्दो मे, प्रवृत्ति-निवृत्ति अथवा प्रकृति-निष्कृति आदि कह कर भर दिया है। इन शब्दो का प्रयोग चाहे आप भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, दोनो क्षेत्रो के भावो को एक साथ व्यक्त करने के अभिप्राय मे कर लीजिए, और चाहे केवल भौतिक क्षेत्र पर होनेवाली क्रियाओ को दर्शाने के हेतु ही कर लीजिए। दूर क्यो जाते है? 'दुनिया' शब्द को ही देखिये। दो से ही 'दुनिया' शब्द बना है। यह तो मार्क्सवादी को मानना पडेगा कि भौतिक क्षेत्र मे भी क्रांति तभी आती है, जब एक शक्ति के आतंक का ह्रास और उस के विरुद्ध दूसरी का उत्थान होता है। इसी को शास्त्रीय शब्दो मे कहा जाय, तो यह कहेंगे कि जो प्रवृत्त शक्ति है, उसे निवृत्त किये बिना न तो विकास हो सकता है और न क्रान्ति ही। एक काल ऐसा आता है, जब प्रवृत्त शक्ति, वृद्धि की एक खास श्रेणी पर पहुँच जाती है, तभी से उस का ह्रास होने लगता है अर्थात् उस की निवृत्ति प्रारम्भ

हो जाती है। यही क्रान्ति की प्राथमिक सीढी कहलाती है। मार्क्स स्वय कहते है, जैसा कि हम इसी अध्याय मे पहले कह चुके है, कि "वृद्धि की एक खास श्रेणी के आ पहुँचने पर समाज की उत्पादक शक्तियाँ और तत्कालीन उत्पादन के सम्बन्धो अथवा साम्पत्तिक सम्बन्धो मे सघर्ष हो उठता है। तब फिर ये सम्बन्ध उत्पादक शक्तियो के वृद्धिकारक रूपो के बजाय ह्रासकारी जर्जरे बन जाते है। बस, यही से सामाजिक क्रान्ति का काल प्रारम्भ हो जाता है।" इस कथन मे इस बात की स्वीकृति है कि अमुक काल पर प्रावृत्तिक गति का निराकरण प्रारम्भ हो जाता है। यो तो प्रवृत्ति और निवृत्ति इन द्वन्द्वो का सदा एक साथ रहना स्वाभाविक नियम है, परन्तु कुछ काल तक एक की प्रधानता रहती है और दूसरे की गौणता और फिर गौण, प्रधानता को प्राप्त करने लग जाता है। यह चक्राकार नियम के अनुसार होता रहता है। इस प्रवृत्ति-निवृत्ति-सूचक क्रांति का हेतु 'काल' होता है, जिस की झलक गीता मे "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त"[२९] कह कर लाई गई है, हाला कि वहाँ पर प्रसग दूसरा था। इसी प्रकार एक दूसरे प्रसग के समय "आवृत्ति और अनावृत्ति"[३०] का आना-जाना कह कर उसी काल-तत्त्व की प्रधानता बताई है। युग-युग मे अर्थात् काल-काल मे ये दोनो वृत्तियाँ बदलती रहती है। चाहे वे एक ही व्यक्ति के आन्तरिक गुणो के रूप मे रहे, या चाहे एक दूसरे के बीच बाह्य रूप मे, चाहे भौतिक क्षेत्र मे हो या आध्यात्मिक क्षेत्र मे, चाहे भौतिक क्षेत्र के अर्थशास्त्रिक क्षेत्र मे हो चाहे राजनीतिक क्षेत्र मे। मिल्टन का पैरडाइज लास्ट (Paradise lost), वाल्मीकि का रामायण, व्यास का महाभारत आदि ग्रन्थ, आखिरकार इन दोनो विरोधिनी वृत्तियो के सघर्ष को बताने के लिए ही तो लिखे गये है। फिर भी हमे इस बात को स्वीकार करना चाहिये कि मार्क्स ने एक निराले ढग से आधुनिक परिस्थितियो का समीक्षण किया, और अनेक मे से छाट-काट कर के केवल द्विवर्गीय सघर्ष के सिद्धात की जो स्थापना

---

२९ गीता ११।३२ [अर्थ—"मै लोको का नाश करने वाला बढा हुआ काल हू। इस समय इन लोको को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त हू। नोट—लोक का सर्वसाधारण अर्थ होता है, क्षेत्र (domain)]

३०. देखो गीता ८।२३ से २७ तक [अर्थ—जिस काल मे 'आवृत्ति और अनावृत्ति' होती है, उस को कहता हू। नोट—इन श्लोको मे आये हुए पद 'षण्मासा उत्तरायणम्' और 'षण्मासा दक्षिणायणम्' रहस्यमय है, जिन से काल-परिवर्तन का भाव ही व्यक्त किया गया है, कोई काल-विशेष का नहीं। गाधीजी ने भी अपनी गीता की टीका (अनासक्ति योग) मे ऐसी ही टिप्पणी दी है।]

की उस का महत्त्व विशिष्ट ही है। कहने को तो कोई भी सिद्धान्त नये नहीं होते, क्योंकि वे प्रकृति के गर्भ में पहले से ही स्थित रहते हैं, पर उन को प्रकाशित कर के दिखा देना ही विशिष्टता का लक्षण होता है। इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि मार्क्स ने प्रवृत्ति-निवृत्ति-सूचक तत्त्व को काल-दशा-देश के अनुसार नवीन प्रकार से प्रकाशित कर दिया है। इसी तरह हम उस के डायलेक्टिक अर्थात् चक्रोत्थित तर्क के विषय में भी कहने को तैयार हैं, हालाँ कि हमारी समझ में भारतीय प्राचीन दर्शन उस से भी खाली नहीं रहा।

चक्रोर्ध्व डायलेक्टिक और भारतीय प्रवर्तित चक्र

हम ने ऊपर कह बता दिया है कि मार्क्स ने डायलेक्टिक्स को गति के सामान्य सिद्धान्तों का विज्ञान कहा है, और लेनिन ने उसी गति को उठते हुए चक्राकार रूप की बताया है। अब हमें यह देखना है कि क्या इस प्रकार की उठती हुई चक्राकार गति की रूपरेखा की पहचान पहले भी कभी किन्हीं दर्शन-शास्त्रियों ने कर पाई थी या कि सब से पहले-पहल मार्क्सवाद ने ही अपनी डायलेक्टिक्स के द्वारा उस का आविष्कार किया। हमारी अल्प मति के अनुसार हम यही कहेंगे कि भारत के प्राचीन ऋषियों ने उसे बहुत पहले प्रकाशित कर दिया था। चक्राकार गति के सिद्धान्त की प्राचीनता के विषय में तो हम पहले कह चुके हैं। अब यदि आप गीता के अ० ३ श्लोक १६ को पढ़ें, तो आप को विदित होगा कि उस में लिखा है कि जो मनुष्य इस प्रकार के प्रवर्तित चक्र का अनुवर्तन नहीं करता, अर्थात् उसके अनुसार नहीं चलता, वह इन्द्रियों का विषय-सुख भोगी पापात्मा (इस संसार में) व्यर्थ जीता है।

> "एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥"

इस श्लोक के पहले १४ वें और १५वें श्लोक में सृष्टि क्रियाओं का चक्राकार के रूप में चलते रहना बताया है। इसी सृष्टि-चक्र को इस १६वें श्लोक में 'प्रवर्तित चक्र' कहा है। 'प्रवर्तित' शब्द में 'वृत्त' मूल शब्द है, जिस का अर्थ होता है 'ढुलकते जाना' (to roll on) या 'घूमते जाना' (to revolve on)[३१]। 'वृत्त' से 'वर्तित' बना है, जिस के माने हुए 'घूमता हुआ' या 'चक्कर लगाता हुआ'। 'वर्तित' के पहले 'प्र' उपसर्ग है, जिस का अर्थ होता है 'आगे को बढ़ना' ((for-

---

३१ Bhide's Sanskrit-English Dictionary.

गया है, इसलिये वह मनुष्य और मनुष्य-समाज के लिये भी लागू होता है। इतना ही क्यों, वह मनुष्य और समाज दोनों के हितार्थ स्पष्ट शिक्षण के रूपमें बताया गया है, जैसा कि तिलकजी ने भी कहा है। उन का कहना है कि यज्ञ शब्द से मतलब चातुर्वर्ण्य के सब कर्मों से है और यह बात स्पष्ट है कि समाज का उचित रीति से धारण-पोषण होने के लिये इस यज्ञ-कर्म या यज्ञ-चक्र को अच्छी तरह जारी रखना चाहिये, (देखो मनु १।८७) अधिक क्या कहें, यह यज्ञ-चक्र आगे बीसवें श्लोक मे वर्णित लोक संग्रह का ही एक स्वरूप है।"[३४] अब यदि यह देखना हो कि भारतीय दर्शन मे प्रवर्तित चक्र का सिद्धान्त कितना प्राचीन है, तो गीता के काल का निदान करना पडेगा और फिर उपनिषद्-काल का, क्योंकि गीता मे उपनिषदो का ही सार भरा है, यह सर्वमान्य है। तिलकजी ने गीता-रहस्य के परिशिष्ट मे आलोचनापूर्वक वर्तमान वैज्ञानिक बहिरंग परीक्षाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि भगवद्गीता भागवत-धर्म पर प्रधान ग्रन्थ है और यह भागवत-धर्म, ईसाई सन् के लगभग १४०० वर्ष पहले प्रादुर्भूत हुआ, (और) "भागवत-धर्म का उदय हो चुकने पर लगभग पांच सौ वर्ष के पश्चात् अर्थात् ईसा के लगभग ९०० वर्ष पहले मूल भारत और मूल गीता दोनों ग्रन्थ निर्मित हुए। तथा वर्तमान गीता का काल शालिवाहन शक के पांच सौ वर्ष पहले की अपेक्षा और कम नहीं माना जा सकता।"[३५] इस से यह सिद्ध होता है कि जब तक गीता के तीसरे अध्याय के १४, १५ या १६वें श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध न किये जाय, तब तक यह मानना पडेगा कि प्रवर्तित चक्र का सिद्धान्त भारतीयो को कम-से-कम २५०० सौ वर्ष पहले अवश्य मालूम रहा होगा, हालांकि कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि यदि हम उपनिषद् ग्रन्थों के रचना-काल का निरूपण आधुनिक ज्योतिष-गणित अथवा पाश्चात्य बहिरंग परीक्षा-विधि के अनुसार न कर के पुरातत्त्व-ज्ञान के अनुसार करें, तो "हमारे वैदिक साहित्य के शिरोभाग—उपनिषद् ग्रन्थों का रचना-काल शताब्दियों मे नहीं गिना जा सकता।"[३६] कई सहस्राब्दियों मे गिनना पडेगा। गीता मे प्रवर्तित चक्र के अतिरिक्त द्वन्द्व संघर्ष की भी चर्चा जगह-जगह पर प्रवृत्ति-निवृत्ति, दैव-आसुर आदि शब्दों के द्वारा आई है, बल्कि यह कहिये कि कौरव-पाण्डव युद्ध ही द्विवर्गीय युद्ध है, इसलिये पूर्वोक्त रचना काल का निरूपण हो जाने पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भारतीयों

---

३४ गीता-रहस्य, पृष्ठ ६५६ (बीसवें श्लोक से गीता के अ० ३, श्लोक २० से तात्पर्य है)।

३५ गीता रहस्य, पृ० ५५८ और ५७०।

३६ कल्याण, उपनिषद्-अंक, पृ० १२०।

का विश्व मे प्रसार होना, ये सव ऐसी घटनाएँ है, जो मार्क्सवादियो के इस विचार को ठेस पहुँचाती है कि डायलेक्टिक्स ही मानव-समाज का एकमात्र वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

गाधीवाद मे सत्य-पालन की प्रधानता

मार्क्स के सिद्धान्त और विधि मे यदि नवीनता नही—केवल विशिष्टता है, तो वही बात हमे गाधी के सिद्धान्त और विधि के विषय मे कहना है। गाधीजी ने स्वय यह कई बार कहा है कि उन के सिद्धान्त नवीन नही है। उन्होने तो एक-मात्र सिद्धान्त पकड लिया था 'सत्य का पालन' जो अत्यन्त प्राचीन काल से माना जाता है। चूँकि सत्य का पालन करना वडा कठिन होता है, और चूँकि कई बार यही समझ मे नही आता कि सत्य क्या है और असत्य क्या है, इसलिये गाधीजी ने सत्य-पालन न कह कर सत्य के प्रयोग कहना ही उपयुक्त समझा है। सत्य के ये प्रयोग उन्होंने न केवल अपने वैयक्तिक, वल्कि सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र मे किये हैं। सामान्यत इन प्रयोगो का ही दूसरा नाम सत्याग्रह है, परन्तु आगे आप देखेंगे कि सत्याग्रह केवल उन्ही प्रयोगो को कहा जाता है, जो असत्य अथवा सत्य-सम्बन्धी मतभेदो के समय सत्य की स्थापना के हेतु किये जाते हैं, अत व्यापक दृष्टि से सत्याग्रह एक साधन अथवा विधि है, जिस के द्वारा गाधीजी अपने ध्येय, विशुद्ध सत्य या सत् को प्राप्त करना और कराना चाहते थे। इस के प्रतिपालन से ही मनुष्य और मनुष्य-समाज सुख-सम्पन्न हो सकते है, यह उन का निदान था। सत्याग्रह की विधि ही समाजोत्थान के लिये उन की एक विशेष देन मानी जाती है। यो तो सत्य-पालन का नियम कोई नवीन नही है—हर देश के लोग हर समय उस की दुहाई देते चले आये हैं, पर जिस तरह गाधीजी ने उस को व्यापक रूप दिया, वैसा पहले कभी भी कही पर नहीं देखा-सुना गया। इसी दृष्टि से सत्याग्रह की विशिष्टता है। जिस प्रकार मार्क्स अपनी द्वन्द्वात्मक डायलेक्टिक्स के द्वारा समाज मे क्रान्ति करना चाहता था, उसी प्रकार गाधी ने अपने सत्याग्रह-साधन के द्वारा समाज मे क्रान्ति करना चाही, इसलिये अव हमे यह जानना चाहिये कि सत्याग्रह की उत्पत्ति कव और कैसे हुई, उसे कव करना चाहिये, उस को करने के अधिकारी कौन हो सकते है, और गाधीजी के तत्सम्वन्धी उल्लेखनीय प्रयोग कौन से है।

गाधीवाद के सत्याग्रह की उत्पत्ति और व्याख्या

भाव किस प्रकार उठता और विकसित होता है, इस के विषय मे पाठको को छठवें अध्याय के प्रारम्भ मे वता दिया गया है। हर प्रकट कार्य के पूर्व उस का एक

अदृश्य आन्तरिक रूप होता हे, जिसे भाव या विचार कहते है। जब यह विचार कार्य रूप मे परिणत होता है, तव उसे किसी नाम मे कहने लगते है। यही नियम 'सत्याग्रह' के विषय मे लागू हुआ। 'सत्याग्रह' शब्द की उत्पत्ति के पूर्व 'सत्याग्रह' का भाव गाधीजी के मन मे उठा। यह कव उठा और उस का नाम सत्याग्रह कैसे पडा, इस के वारे मे गाधीजी के शब्दो मे ही हम देखेंगे। उन्होने अपनी आत्मकथा मे, जिस का नाम पहले 'सत्य के प्रयोग' (My Experiments with Truth) था, लिखा है कि "जोहान्सवर्ग (दक्षिण आफ्रिका) में मेरे लिये ऐसी रचना तैयार हो रही थी कि मेरी यह एक प्रकार की आत्म-शुद्धि मानो सत्याग्रह के ही निमित्त हुई हो। ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेने तक मेरे जीवन की तमाम मुख्य घटनाएँ मुझे छिपे-छिपे सत्याग्रह के लिये ही तैयार कर रही थी, ऐसा अब दिखाई पडता हे।

"सत्याग्रह शब्द की उत्पत्ति होने के पहले सत्याग्रह वस्तु की उत्पत्ति हुई है। जिस समय उस की उत्पत्ति हुई, उस समय तो मैं खुद ही नही जान सका कि वह चीज दरअसल क्या है।

"गुजराती मे हम उसे 'पैसिव रेजिजस्टेन्स' (Passive resistance) इस अग्रेजी नाम से पहचानने लगे, पर जब गोरो की सभा मे मैने देखा कि 'पैसिव रेजिस्टेन्स' का सकुचित अर्थ किया जाता है, वही निर्बल का हथियार समझा जाता है, उस मे द्वेष के अस्तित्व की भी सम्भावना है और उस का अन्तिम रूप हिंसा मे परिणत हो सकता हे, तव मुझे उस शब्द का विरोध करना पडा, और भारतीयो के सग्राम का सच्चा रूप लोगो को समझाना पडा—और उस समय हिन्दुस्तानियो को अपने सग्राम का परिचय कराने के लिये एक नया शब्द गढने की जरूरत पडी।

"परन्तु मुझे इस के लिये कोई स्वश्रत शब्द सूझ नही पडता था, अतएव उस के नाम के लिये एक इनाम रक्खा गया और 'इन्डियन ओपिनियन' के पाठको मे उस के लिये एक होड शुरू कराई। इस के फलस्वरूप मगन लाल गाधी ने सत्+आग्रह= "सदाग्रह" शब्द वना कर भेजा। उन्हे इनाम मिला, परन्तु सदाग्रह शब्द को अधिक स्पष्ट करने के लिये मैंने बीच मे 'य' जोड कर 'सत्याग्रह' शब्द वनाया, और फिर इस नाम से वह सग्राम पुकारा जाने लगा।"[१८]

उपरोक्त लेख से पाठको को यह सहज ही समझ मे आ जायेगा कि भारतीय साहित्य मे—नही, भारतीय लोक धर्म मे—नाम-सस्कार को क्यो इतना महत्व दिया जाता रहा हे कि विद्वान् पडितो के परामर्श विना नाम नही रखा जाता था। यह वात दूसरी है कि कालान्तर से उसी उपयोगी प्रथा ने अब एक साधारण वनावटी-

---

३८. आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ १४७-१४८ (कोष्ठक मे लिखा मेरा है)।

सा रूप धारण कर लिया हो। मनुष्य के नाम-सस्करण की अपेक्षा भावो का नाम-सस्करण अधिक कठिन और गभीर होता है। इसमे वडे सोच-विचार की आवश्यकता होती ह, क्योंकि भविष्य मे 'शब्द' अथवा 'नाम' ही नाव के समान आश्रय देकर जनता को मूल भाव तक तैराकर ले जाने वाला होता है। अंधे को लकडी जैसा सहारा 'नाम' का ही रहता है। इसीलिये भक्तो और सन्तो ने नाम की इतनी महिमा गाई है कि उसे वस्तु से भी अधिक कहा हे। वस्तु और नाम के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे महाभक्त तुलसीदास ने रामायण के बालकाण्ड मे प्रारम्भिक पृष्ठो पर जिस विवेकपूर्ण दार्शनिक ढग से वर्णन किया है, वह अत्यन्त शिक्षाप्रद और पठनीय है। "नाम प्रभाव अपार" यह कहते हुए उन्होने "कहउँ नाम वड ब्रह्म रामते" "कहउँ नाम वड रामते" इत्यादि एक से अधिक वार दुहराया है।[39] आन्तरिक मूल और वाह्य व्यवहार दोनो को जोडने वाला नाम होता है, जैसा कि तुलसीदासजी ने यह कह कर दर्शाया हे— "अगुण सगुण बिच नाम सुसाखी। उभय प्रवोधक चतुर दुभाखी।"

यदि भाव की पवित्रता और सादृश्यता को 'शब्द' मे प्रतिविम्बित करने की आवश्यकता नही होती, तो गावीजी उपयुक्त नामकरण के लिये होड न कराते और मगनलाल गावी को इनाम भी न दिया गया होता। तव फिर प्रश्न यह उठता है कि मगनलाल गाधी द्वारा बनाये हुए नाम 'सदाग्रह' मे क्या खूबी हे और गाधी-जी ने उसके स्थान मे 'सत्याग्रह' कहना क्यो उचित समझा। आत्म-कथा के उपरोक्त उद्धरण से इस का पता नही लगता, इसलिये उस के सम्बन्ध मे हमे ही विचार कर लेना चाहिये। यह तो स्पष्ट हे कि 'सदाग्रह' दो शब्दो का सयुक्त शब्द है, याने, सत् + आग्रह। यह भी हम नवे अध्याय मे देख चुके ह कि गावीजी सत् को ही एकमात्र यथार्थ मानते ह। वही पूर्ण, अनवच्छिन्न, सनातन, शाश्वत वस्तु है। वही पूर्ण, अविकृत, अखड वस्तु सासारिक पदार्थो के वीच मे रहने के कारण हमारे दृष्टि-दोपवश इस प्रकार विकृत रूप मे दिखाई देने लगती है, जैसे सूर्य वादलो से ढक-मुद जाता हे या सुवह-शाम के समय लाल रग का प्रतीत होता है, या कि स्फटिक पत्थर पर लाल-पीले आदि रग की छाया पडने पर वह लाल-पीले आदि रग का प्रतीत होने लगता है, इसलिये सासारिक पदार्थो से सम्वन्वित हो जाने के कारण जो प्रतीति हमे सत् की होने लगती हे, वही सम्वन्वित सत् (Relative Truth) कहाता है, यदि इस सम्वन्वित अथवा अविच्छिन्न सत् को सत्य कहा जाय, तो गावी-

---

३९ तुलसीकृत रामायण, वालकाढ, (क्षेपकरहित, १८वें दोहे से २७वें दोहे तक)।

मत में सत् और सत्य ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न अर्थवाची विदित होंगे। यह भी निश्चय है कि गांधीजी इन पूर्ण सत् रूपी अवस्था को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील थे। उन की दृष्टि में सम्बन्धित सत्य का केवल इतना ही महत्त्व है कि वह पूर्ण सत् की ओर ले जाने के लिये तत्पर रहता है, केवल शर्त यह है कि उस का अवलोकन और अनुशीलन निर्मल-से-निर्मल हृदय में किया जाय। इसलिये, वह मार्ग या साधन, जिस में सत् के हेतु आग्रह हो, सदाग्रह कहा जाने योग्य है, परन्तु बहुत-से लोग आग्रह का अर्थ बहुत हठ या जिद समझते हैं। कुछ लोग आग्रह इस अभिप्राय से करते हैं कि जिस से दूसरों पर उन की अनिच्छा रहते हुए भी किसी काम को करने के लिये दबाव पड़े, या कि वे उस काम को करने के लिये बाध्य किये जा सकें, परन्तु आग्रह शब्द में न तो एक ओर हठ को स्थान है, और न दूसरी ओर दबाव को। उस में तो अपनी तथा दूसरों की आत्म-शुद्धि का भाव निहित है, जो सत्-प्राप्ति का दूसरा नाम है। 'आग्रह' का शब्दार्थ भी इसी बात को बताता है। उस का पदच्छेद होता है "आ+ग्रह"। 'ग्रह' के माने, सभी जानते हैं, 'पकड़ना' होता है। 'आ' उपसर्ग यदि (कुछ क्रियाओं को छोड़) किसी क्रिया के पहले लगाया जाता है, तो वह, 'निकटता' 'चहुँओर' अथवा 'उस ओर' के भाव का प्रदर्शन करता है।[४०] अतः सत्+आ+ग्रह (सदाग्रह) का अर्थ हुआ सत् को चहुँ ओर से पकड़ना अथवा सत् की ओर बढ़ना या सत् के निकट पहुँचना।

तब फिर मन में यह सन्देह उठता है कि क्या कारण है कि गांधीजी ने 'सत्' में 'य' जोड़ कर 'सदाग्रह' के स्थान में 'सत्याग्रह' कर दिया, जब कि 'सदाग्रह' ही उन के भाव को भली-भांति व्यक्त करता था। यह बात तो हो नहीं सकती कि गांधीजी ने यह परिवर्तन अकारण ही कर दिया हो। चूंकि उन्होंने अपने लेख में इस के कारणों का कोई उल्लेख नहीं किया, इसलिये हमीं को उस का कारण ढूंढना चाहिये। हमारी समझ में निम्न कारणों में से एक या एक से अधिक हो सकते हैं—

(१) 'सदाग्रह' द्विअर्थीय हो सकता है—एक सत्+आग्रह, और दूसरा सदा+ग्रह।

भविष्य में यह दूसरा अर्थ मूल भाव को बिलकुल उलट-फेर कर देनेवाला सिद्ध होता।

(२) हृदयाकर्षण और श्रवण-सुख जितना 'सत्याग्रह' शब्द में है, उतना 'सदाग्रह' में नहीं।

(३) साधारणतः लोग 'सत्' शब्द का प्रयोग नहीं करते, 'सत्य का ही प्रयोग

---

४० देखो Bhide's Sanskrit-English Dictionary

करते हैं। भारतीय जनसाधारण तथा विदेशी प्राय सभी लोग 'सत्' से अपरिचित हैं। इसलिये कदाचित् लोकप्रियता लाने के ख्याल से परिवर्तन किया हो।

(४) (अ)—'सत्' पूर्ण-सत्य का भाव है। गांधीजी का कहना है कि जब तक हम शरीरधारी अर्थात् अहकार-युक्त हैं—और शून्य अर्थात् निराकार नहीं हो गये हैं, तब तक इस सत् को नहीं पा सकते। वे कहते है कि "मैं तो पुजारी हूँ सत्य रूपी परमेश्वर का ही"[४१] "मैं उद्योग कर रहा हूँ—आत्म-दर्शन, ईश्वर का साक्षात्कार मोक्ष का परन्तु जब तक इस सत्य का साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उसी काल्पनिक सत्य को अपना आधार मानकर, दीप-स्तम्भ समझ कर, उस के सहारे मैं अपना जीवन व्यतीत करता हूँ।"[४२] हर मनुष्य अपने काल्पनिक सत्य अथवा सम्बन्धित सत्य का सहारा ले सकता है, पर वह हो उस शुद्ध अन्तरात्मा से निकला हुआ, जिस मे राग और द्वेष न हो, अत शक्य और अशक्य के दृष्टिकोण से ही सम्भवत 'सत्याग्रह' कहा हो।

(ब) पहले जमाने मे सत्य का प्रयोग व्यक्तिगत हुआ करता था, परन्तु गांधीजी की यह राय रही है कि जिस बात को एक आदमी कर सकता है। उसे सब लोग कर सकते हैं। इसलिये मेरे (गांधी) के प्रयोग खानगी तौर पर नही हुए और न वैसे रहे ही।'[४३] खानगी तौर पर किये गये प्रयोगो के लिये भले ही सत् (पूर्णसत्य) शब्द कहा जा सके, परन्तु जन-साधारण के लिये नहीं।

(५) किसी सज्ञा मे 'य' प्रत्यय लगाने से जो नया शब्द बनता है वह मूल सज्ञा का गुण, भाव या गुणसूचक होता है, जैसे पाठ से पाठ्य, वाद से वाद्य। इसी तरह सत् से जो 'सत्य' बना है उसमे सत् वस्तु का गुणाभास है। इसलिये निर्गुण-निराकार 'सत्' का 'सत्य' सगुण-साकार रूप हुआ। चूंकि अहकारयुक्त मनुष्य मात्र के लिये निर्गुण सत् के नाम पर कर्म करने की बात साधारणत बेतुकी-सी और असगत मालूम होती है, इसलिये सगुण सत्य का ही अनुशीलन करना श्रेयस्कर कहा जाता है। सगुण सत्य कहो, या सम्बन्धित सत्य, बात हमारी समझ मे एक ही है, क्योंकि दोनो मूल सत् से अभिन्न होते हैं, केवल गुणो या परिस्थितियो की छाया-मात्र से भिन्न प्रतीत होने लगते है, जैसा कि तुलसीदासजी ने उपरोक्त उद्धृत चौपाई "अगुण सगुण विच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।" में कहा है। बहुत सम्भव है गांधीजी ने भी सत् के दोनो निगुण और सगुण भावो पर एक

---

४१ आत्म-कथा, खड १, प्रस्तावना पृष्ठ ४।

४२ आत्म-कथा, खड १, प्रस्तावना, पृष्ठ ३ और ५।

४३ आत्म-कथा, खड १, प्रस्तावना, पृष्ठ ३।

साथ विचार पहुँचाने के अभिप्राय से 'सदाग्रह' के स्थान मे 'सत्याग्रह' पसन्द किया हो।

पूर्वकालीन सत्याग्रह का स्वरूप

(अ) सत्याग्रह के दो स्वरूप---हिंसात्मक और अहिंसात्मक---गांधीजी ने कहा है कि "मेरे प्रयोग मे तो आध्यात्मिक शब्द का अर्थ है नैतिक, धर्म का अर्थ है नीति, और जिस नीति का पालन आत्मिक दृष्टि से किया गया हो वही धर्म है, इसलिये इस कथा (आत्मकथा) मे उन्ही बातो का समावेश रहेगा, जिनका निर्णय बालक, युवा, वृद्ध करते है और कर सकते है।"[44] इस कथन से यह स्पष्ट है कि आत्म-स्वातन्त्र्य के आधार पर हर मनुष्य को भली-बुरी नीति के निर्णय करने का अधिकार प्राप्त है। वह समाज या राज द्वारा निर्णीत की हुई नीति का अनुपालन करने के लिये बाध्य नही है, यदि उक्त नीति को वह अपने निर्णयानुसार अनीति या अधर्म समझता है, तो इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्वकाल मे भी लोग अनीति का विरोध करते रहे है। इस विरोध का प्रदर्शन हिंसा और अहिंसा दोनो के द्वारा होता रहा है, और अभी भी होता जाता है। जब कभी दो पक्षो मे लडाई या युद्ध होता है, तब दोनो पक्ष वाले सत्य या धर्म की आड लेकर अपने पक्ष का समर्थन किया करते है। इसी प्रकार के युद्धो की भरमार प्राचीन काल से आज तक चली आती है, परन्तु गांधीवाद के सत्याग्रह मे, जो अनीति का विरोध-प्रदर्शक है, हिंसा को बिलकुल स्थान नही है। इसलिये हमे तत्कालीन अहिंसा-भाव पर ध्यान रखते हुए पूर्वकाल के अहिंसात्मक सत्याग्रह पर ही दृष्टि डालना चाहिये, ताकि गांधीवाद के सत्याग्रह की विशेषता झलक उठे।

(ब) अहिंसात्मक सत्याग्रह---अकसर यह कहा जाता है कि गांधीजी ने सामूहिक सत्याग्रह को जन्म दिया है, क्योकि उन के पहले पुराने जमाने मे वैयक्तिक सत्याग्रह के उदाहरण तो मौजूद है, पर सामूहिक सत्याग्रह के नही है। परन्तु, हमारी समझ मे पुराने जमाने मे भी कभी-कभी सामूहिक सत्याग्रह हुआ करता था, हालों कि उस मे और गांधीवाद के सत्याग्रह मे भेद बहुत था। पूर्वकालीन इन्ही वैयक्तिक और सामूहिक सत्याग्रह के कुछ दृष्टान्त अब हम पाठको के सामने पेश करेगे।

(१) आचार-दृष्टि से---

(।) कौटुम्बिक सत्याग्रह---हिन्दू समाज के कुटुम्ब मे अभी भी जाकर देखिये

---

४४ आत्म-कथा, खड १, प्रस्तावना, पृष्ठ ३ (कोष्ठक मे मेरा है)।

तो आप को वही प्रथा मिलेगी, जो अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती है। कुटुम्ब का कोई व्यक्ति यदि किसी प्रकार की ऐसी अनीति करता है, जो समस्त कुटुम्ब अथवा कुटुम्ब के चार व्यक्ति के लिए अहितकर हो, तो दूसरे व्यक्ति उन के साथ सहयोग करना बन्द कर देते है। यह विशेषकर पति-पत्नी के बीच अक्सर होता है, यहाँ तक कि एक दूसरे से बोलना बन्द कर देते है, एक दूसरे के हाथ का भोजन-पानी छोड देते है, तथा अन्य और प्रकार के सम्बन्ध तोड देते है। इस प्रकार का असहयोग सदा के लिये नही रहता। वह सुधार भावना से प्रेरित होकर अल्पकाल तक रहता है। उस मे यद्यपि क्रोध की मात्रा रहती है, तथापि वह क्रोध प्रेम-भावना से उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार माता-पिता, पुत्र-पुत्री पर स्नेहवश क्रोधित हो जाया करते है। पारस्परिक सम्बन्ध-विच्छेद न होने पाये इस अभिप्राय से भी वह किया जाता है। इसे कौटुम्बिक सत्याग्रह कहा जाय तो कोई हानि नही। सच पूछा जाय, तो गाधीवाद की सारी बुनियाद इसी कौटुम्बिक जीवन पर रखी गई है, जैसा कि हम आगे देखेगे। यहाँ पर इतना ही कहना बस है कि जब गाधीजी हाईस्कूल मे पढते थे, तब उन मे एक मित्र की कुसगति के कारण कुछ दोष आ गये थे। ये दोष उनकी पत्नी कस्तूरबाई का बुरे लगते ही थे। तब गाधीजी का कहना है "हम दम्पति मे कईबार मत-भेद और मन-मुटाव हो जाया करता था।"[४५] गाधीजी के मन मे एक बात और समा गई थी, और वह यह कि वे अपनी पत्नी पर पतिदेव की सत्ता सिद्ध करने के लिये उसे अपने मन-मुआफिक घुमाना-फिराना चाहते थे। उस का जो परिणाम हुआ था, उसके विषय मे उन्होंने सन् १९३८ मे मद्रास मे दुनिया से आए हुए ईसाई राजनीतिज्ञो के सम्मुख वार्तालाप के समय कहा कि "अहिंसा का सबक तो मैंने अपनी पत्नी से ही उस समय सीखा है, जब मैंने चाहा था कि वह मेरी इच्छा के अनुकूल ही चुक जाय। एक ओर तो, उस का निश्चय था कि वे मेरी इच्छा का दृढतापूर्वक प्रतिकार करती जायें, और दूसरी ओर यह भी था कि उन की इच्छा पर लादी गई मेरी मूर्खता के कारण जो उन्हे दु ख होता था, उसे वे चुपचाप सहन भी करती जायें। इन दोनो क्रियाओ का फल यह हुआ कि अन्त मे मुझे शर्मिन्दा होना पडा और मैं अपनी उस मूर्खता से विमुक्त हो गया, जिस के कारण मैं सोचता था कि मेरा जन्म तो उन पर शासन करने के लिये ही है। अत मे वही मेरी अहिंसा-पाठ की गुरु हुई। और जो कुछ मैंने दक्षिण अफ्रीका मे किया, वह इसी सत्याग्रह-नियम

---

४५ आत्म-कथा, खड १, पृष्ठ ५३।

का केवल विस्तृत रूप था, जो उन्होने सहज ही निज शरीर पर व्यवहृत किया था।"४६

(11) सामूहिक सत्याग्रह—कौटुम्बिक सत्याग्रह के अतिरिक्त हिन्दू समाज मे कुछ कुरीतियो के प्रतिकारार्थ एक प्रकार का सामूहिक सत्याग्रह और भी देखने को मिलता है। भारत प्राचीन काल से कृषि-प्रधान देश रहा है। इसलिये गो-रक्षण उस की धर्म-नीति बनी चली आ रही है, अत जो गौ-हत्या का दोषी होता है, वह न केवल जाति-च्युत कर दिया जाता है, वरन् सारा दूसरा समाज भी उस का वहिष्कार कर देता है। इस वहिष्कार मे उस के साथ होने वाले प्राय सभी सामाजिक सम्बन्धो का विच्छेद कर दिया जाता है। यह बहुत प्राचीन प्रथा चली आ रही है। इस मे अध-विश्वास और मूर्खता के कारण अनेक दूषण भी घस गये है, जैसे अल्प और क्षुद्र-जीवी बिल्ली, गिलहरी आदि जन्तुओ की हत्या हो जाने पर भी उस का दुरुपयोग किया जाने लगा। अपराधी के अतिरिक्त उस के निजी कुटुम्बियो का भी वहिष्कार होने लगा, और हत्या के समय अपराधी की मानसिक गति हत्या के सम्बन्ध मे क्या थी, इस पर कोई विचार नही रखा गया। कालान्तर-वश यह भी हुआ कि उस मे नीति-रक्षा की भावना के स्थान मे घोर घृणा ने अड्डा जमा लिया है, परन्तु इन दूषणो के रहते हुए भी उस मे सत्याग्रह का बीज दिखाई देता है।

अन्यान्य देशो के इतिहास मे भी समय-समय पर होने वाले सामूहिक सत्याग्रह के रूप दिखाई देते है। आक्रमणकारियो, राज्याधिकारियो, अथवा धर्मस्वेच्छा-चारियो के अत्याचारो ने जब-जब सत्य का गला घोटा और सुनीति को त्याग कर धर्म को जलाया, तब-तब इतिहास बताता है, भयभीत लोगो ने धर्मरक्षार्थ इधर-उधर भगदड मचाई। उन मे से कुछ लोग तो नीतिमय शान्ति की स्थापना हो जाने पर पुन अपने देश को लौट आया करते थे और अधिकतर नये स्थान ही मे बस जाया करते थे। ईसा के पूर्व पाचवी सदी का एक दृष्टान्त है, जब कि यूनान (ग्रीस) के 'पेट्रीशियन्स' (शासक) वर्ग के लोगो ने शोषित और दलित 'प्लीबियन्स' वर्ग के लोगो की नाक मे दम कर दिया, तब शोषित वर्गीय लोगो ने एकमत होकर देश-निष्कासन प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पेट्रीशियन्स को उन्हे राजनीतिक और आर्थिक स्वत्व देने पडे। हिन्दुस्तान मे भी गाधी-काल के कुछ

---

४६ Mahatma Gandhi, (R K) P 147 (Article written by John S Hoyland, who based it on Harijan of December 10 to 24, 1938)

दिन पहले के ऐतिहासिक उदाहरण इस सामूहिक सत्याग्रह के मौजूद हैं। सन् १८३० में मैसूर राज्य की समस्त प्रजा ने वहाँ के राजा की कुनीतियों से ऊब उठने पर असहयोग के रूप में घोर प्रतिकार किया।[४७] और इस तरह बिशप हेबर ने उल्लेख किया है कि अंग्रेजी राज्य से परेशान होने के कारण बनारस के करीब तीन लाख मनुष्यों ने भी गांधी के बहुत पहले असहयोग कर डाला था।[४८] दूर क्यों जाते हैं, बंगाल-विभाजन के समय सन् १९०७ में विलायती माल को बहिष्कृत करने की लहर भी तो सामूहिक सत्याग्रह का ही रूप था।

गांधी के सुसंस्कृत सत्याग्रह से परिचित हो जाने के कारण आज के लोग पूर्वकाल की उपरोक्त भयभीत भगदड़ों को सम्भवतः सत्याग्रह न मानें, परन्तु जब हम यह देखते हैं कि असत्य का प्रतिकार कर सत्य का ग्रहण करना ही सत्याग्रह का तात्पर्य है, तब हमें इस प्रकार की भगदड़ों को भी सत्याग्रह का रूप ही कहना पड़ेगा, भले ही वह उच्चस्तर का न हो—भले ही वह असंस्कृत (crude) हो।

(iii) वैयक्तिक सत्याग्रह—अब यदि सामूहिक सत्याग्रह से नजर हटा कर हम व्यक्तिगत सत्याग्रह की ओर दृष्टि-पात करें, तो हमें एक नहीं लाखों, एक देश या जाति में नहीं, अनेक देशों या जातियों में उस के उच्च-से-उच्च कोटि के दृष्टान्त मिलते हैं। जिन लोगों ने अत्याचार को सिर नहीं झुकाया और विरोधियों के द्वारा पीसे जाने पर, दीवारों में चुने जाने पर, शरीर में कीलों के ठोके जाने पर, हाथ-पैर चकनाचूर किये जाने पर भी मुंह से उफ तक न निकाली हो, वे भला क्यों न देव-गण की श्रेणी में आ सकने योग्य हों और क्यों न पूजा के पात्र बनें! सत्य कहें या धर्म, उन का चसका ऐसा ही है, जो कांटों और सूलियों को फूलों की सेज समझ कर हंसते-हंसते शरीरान्त करा देता है। इस प्रकार के सत्याग्रहियों से अपने प्राण तक दे देने की नौबत कई कारणों से आया करती थी। कुछ व्यक्तिगत कारणों से प्रभावित हुए, तो कुछ समाज-सेवा की भावना के कारण विरोधियों के कोप-भाजन बने। किसी ने मनुष्य-सेवा के हेतु अपने प्राण न्योछावर किये, तो राजा शिवि जैसों ने पशु-पक्षियों के रक्षार्थ ही अपने प्राणों की बाजी लगा दी। गौ-रक्षा के लिए राजा दिलीप-जैसे आज भी सहस्रों हिन्दू अपनी जान हथेली पर रखे रहते

४७-४८ Dhawan's 'Political Philosophy of Mahatma Gandhi के पृष्ठ २० और २४ पर दिये हुए दो उद्धरणों के आधार पर, जो दो रेवरेन्ड जे० जे० डोक की पुस्तक 'M K Gandhi, An Indian Patriot' (Natesan), और वार्ट डी० लिट० की 'Conquest of Violence' नाम की पुस्तक से लिये गये हैं।

सम्कृत शब्द 'ज्यायम्' का वाणीभेद है। उन का तर्क है कि यह ऐतिहासिक सत्य है कि कृष्ण और बुद्ध जीजस के पहले हुए। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि बौद्ध-धर्म का प्रचार पेलिसटाइन (फिलस्तीन) आदि देशो मे हुआ, और उसी के साथ ही साथ सस्कृत-शब्दो, कृष्ण-वार्ता, एव गीतान्वित तत्त्वज्ञान की भी चर्चा फैली।"[50] जीजस की कथा पौराणिक है या ऐतिहासिक इस मतभेद पर सम्भवत गाधीजी की दृष्टि ही आकर्षित नही हुई होगी। यदि कोई कुछ इस विषय पर उन से कहता तो हमारा विश्वास है, वे वही बात करते, जो उन्होंने हरिश्चन्द्र के बारे मे लिखा है। वे कहते "सम्भव है कि जीजस क्राइस्ट कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हो, पर मेरे हृदय मे तो क्राइस्ट आज भी जीवित है।"

अब पौराणिक पुरुषो की बात छोड कर ऐतिहासिक और जीवित पुरुषो पर आ जायें, तो सर्वप्रथम गाधीजी के पिता कावा गाधी ही की याद आ जाती है। वे रियासत राजकोट (काठियावाड) के प्रधानमत्री थे। "वे राज्य के बडे वफादार थे। एक बार एक असिस्टेन्ट पोलिटिकल एजेन्ट ने राजकोट के ठाकुर साहब का अपमान किया, तो उन्होंने उस का सामना किया। फलत साहब बिगड पडे और कावा गाधी से कहा—माफी मागो। उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। इस से कुछ घन्टे के लिए उन्हे हवालात मे भी रहना पडा, पर वे टस-से-मस न हुए, तब साहब को उन्हे छोड देने का हुक्म देना पडा।"[51] अपने पिता के इस निर्भय सत्य-पालन का प्रभाव गाधीजी पर अवश्य पडा होगा, तभी उन्होंने अपनी आत्म-कथा मे उस का उल्लेख करना उचित समझा है। एक दूसरे स्थान पर गाँधी-जी ने कहा है "मेरे जीवन पर गहरा असर डालनेवाले तीन आधुनिक मनुष्य हैं। रायचन्द्र भाई ने अपने सजीव ससर्ग से, टाल्सटाय ने "वैकुण्ठ तुम्हारे हृदय मे है" नामक पुस्तक द्वारा, तथा रस्किन ने 'अन्टु दिस लास्ट—'सर्वोदय' नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया।"[52] पाठकों ने टाल्सटाय और रस्किन का नाम तो खूब सुना होगा, पर रायचन्द्र भाई के नाम से अपरिचित होगे। ये रायचन्द्र भाई कवि, कुशाग्र-बुद्धि, चरित्रवान, ज्ञानी, सुनी-पढी हुई बातो को प्राय जैसी-की-तैसी

---

५० देखो (१) 'Christ A Myth' by Thakur Kalian Chandra Varma (10th Edition, 1926), और (२) 'The Bible in India' translated in English from Portuguese in 1869 A D by M Tacoliat

५१ आत्म-कथा, खड १, पृष्ठ १८।

५२ आत्म-कथा, खड १, पृष्ठ १५९।

दुहरादेने वाले और आत्मदर्शन के प्रेमी थे। जब गाधीजी विलायत से बैरिस्ट्री पढ कर हिन्दुस्थान लौटे, तब २५ वर्ष के नवजवान रायचन्द्र भाई की उन से पहचान हुई। रायचन्द्र भाई एक दुकान के भागीदार और कार्यकर्त्ता थे। उन के विषय मे गाधीजी ने लिखा है कि "जो मनुष्य लाखो के सोदे की बात कर के तुरन्त आत्म-ज्ञान की गूढ बाते लिखने बैठ जाता है, वह व्यापारी की श्रेणी का नही, बल्कि शुद्ध ज्ञानी की कोटि का है। × × × इसलिये रायचन्द्र भाई को मै, यद्यपि, अपने हृदय का स्वामी न बना सका, तथापि उन का सहारा मुझे समय-समय पर मिलता रहा है।"[53] इस सम्बन्ध मे अमेरिका निवासी अनारकिस्ट हेनरी डेविड थोरो (Thoreaw) का नाम भी उल्लेखनीय है। १९वी सदी मे अमेरिका मे गुलामी प्रथा कायम थी। थोरो ने उस का विरोध-प्रदर्शन करने के हेतु टैक्स देना बन्द कर दिया, और सन् १८४९ मे उसीने पहले-पहल अपने इस कार्य को आज्ञा-भग (Civil disobedience) सज्ञा दी। इसलिये श्री बावन ने लिखा है कि "गाधीजी पर थोरो के वचनो और कार्यो का प्रभाव पडा"[54] हालाँ कि गाधीजी का अहिंसात्मक आज्ञा-भग और थोरो के आज्ञा-भग के बीच बडी गहरी खाई है, क्यो कि 'थोरो के विचारानुसार दोनो प्रकार का आज्ञा-भग, चाहे वह अक्रियात्मक अवरोध (Passive resistance) हो, या क्रियात्मक अथवा हिंसात्मक अवरोध (Active or violent resistance) न्याय्य था।[55]

(२) विचार-धारा की दृष्टि से—अभी तक हम ने उन सामूहिक और व्यक्तिगत सत्याचारो पर विचार किया, जिन्होने गाधीजी के हृदय पर यहाँ-वहाँ से छाप मारी, जो अन्त मे सत्याग्रह वस्तु बन गई, और फिर सत्याग्रह-शब्द के रूप मे प्रकट हुई, परन्तु जिस प्रकार अन्य लोगो के जीवन-चरित्र अपने हृदय पर अकित हो जाते है, उसी तरह अन्य जनो की वाणी अथवा वचनो का भी प्रभाव पडता है। इसलिये अब यदि वचन-प्रभाव की दृष्टि से देखे, तो यह कहा जा सकता है कि गाधी-मत के सत्याग्रह को जन्म देने और पोषण करने का सर्वप्रथम श्रेय है उन हिन्दू-धर्म-शास्त्रो और हिन्दू-मतावलम्बी शिष्ट जनो के वचनामृतो को, जिन से गाधीजी के माता-पिता प्रभावित थे, क्यो कि गाधीजी के शैशव-काल मे उन के माता-पिता के वचनो का उन के हृदय पर सर्वसाधारण नियम के अनुसार, अज्ञात रूप से अवश्य प्रभाव पडता रहा होगा, भले ही वे विचार प्रत्यक्षत सत्याग्रह-वस्तु से सम्बन्धित

---

५३. आत्म-कथा, खड १, पृष्ठ १५८-१५९ (विशेष रूप से जानने के लिये आत्म-कथा, खड १, के पृष्ठ १५५ से १५९ तक पढिये)।

५४-५५ Political Philosophy of Mahatma Gandhi, P 32

न रहे हो , परन्तु ज्ञात रूप से सब से प्रथम छाप गाधीजी के हृदय पर उस समय पड़ी, जब कि वे बाल्यकाल मे पाठशाला मे गुजराती पढने जाया करते थे। उन्होंने स्वय रेवरेन्ड जोजफ डोक के प्रश्न करने पर यह बताया था कि गुजराती की एक कविता है, जो मैंने स्कूल-विद्यार्थी की हैसियत मे बाल्यकाल मे याद की थी और जो मुझ से हमेशा के लिये चिपक गई है। उस कविता का यह अर्थ है—"यदि कोई मनुष्य तुम्हे पानी पीने को दे और उस के बदले मे तुम भी उसे पानी पीने को दो, तो यह कुछ नही है, यथार्थ सौन्दर्य तो उस मे है, जब बुराई के बदले भलाई की जाय।" गाधीजी ने कहा कि मुझ पर इस कविता का बडा गहरा प्रभाव पड़ा और तभी से मैं उसे व्यवहृत रूप मे लाने के लिये प्रयत्न करता रहा हूँ।"[५६] इसके बाद प्रभाव डालने वाले वचन हैं, बाइबिल मे कथित 'सरमन आन दी माउन्ट' (Sermon on the Mount) अर्थात् 'पहाड पर दिया हुआ धर्मोपदेश'। यह भी गाधीजी ने श्री डोक को वार्तालाप के समय बताया। जब उन से यह कहा गया कि इन के पहले तो गीता ने आप को प्रभावित किया होगा, तो उन्होंने कहा कि "यद्यपि मैं गीता को जानता था तथापि मैंने उसका अध्ययन उस समय उक्त दृष्टिकोण से नही किया था। यथार्थ मे न्यू टेस्टामेन्ट (New Testament—बाइबिल का एक भाग) ही है, जिस ने यथार्थ रूप मे मुझ मे पैसिव रेजिस्टेन्स के औचित्य और मूल्य को जागृत किया है।

श्री भगवद्गीता ने तत्सबधी गहरी छाप लगायी और तत्पश्चात् टाल्सटाय की पुस्तक "बैकुण्ठ तुम्हारे हृदय मे है" ("The Kingdom of God is Within You") ने उसे चिरस्थायी रूप दे दिया है।"[५७]

'सरमन आन दि माउन्ट' बाइबिल के न्यू टेस्टामेन्ट का एक अध्याय है, जिस मे ईसामसीह द्वारा कहे गये सर्वोच्च भाव व्यक्त किये गये हैं। ईसामसीह के लिये गाधीजी के हृदय मे इतना गहरा स्थान था कि वे "उन्हे सत्याग्रहियो का राजा कहते थे।" उन का यह भी कहना था कि "यदि माउन्ट पर दिया गया धर्मोपदेश उन के सम्मुख आये और उस का अर्थ उन्हे अपने ढग से कर लेने दिया जाय, तो उन्हे अपने-आप को ईसाई कह लेने मे कोई हिचक न होगी।" "सारी ईसाइयत" उन का कहना है, "इसी धर्मोपदेश मे भरी है।" गीता और इस धर्मोपदेश मे केवल यह भेद है कि "जिस बात को गीता वैज्ञानिक सूत्रो के रूप मे कहती है, उसी को यह धर्मोपदेश स्पष्ट रूप से चित्रण करके बताता है" "ईसाई धर्म की विशेष देन है, जीता-जागता

---

५६ Speeches and Writings of M K Gandhi (Natesan & Co) P 129

५७ Speeches and Writings of M K Gandhi, PP 129 130

प्रेम। किसी धर्म मे इतनी दृढता मे नही कहा गया कि 'ईश्वर प्रेम है', जितना कि ईसाई धर्म के न्यू टेस्टामेन्ट मे कहा है।"[५८] सम्भव है 'ईश्वर प्रेम है' (God is love) इस उक्ति से प्रभावित होकर गाधीजी ने 'ईश्वर सत्य है' यह उक्ति निर्धारित की हो, और फिर इस निर्णय पर पहुँचे हो कि "सत्य ईश्वर है" ऐसा कहना ही अधिक सही है।"[५९]

गाधीजी पर गीता ने सत्याग्रह की गहरी छाप मारी, यह सुन कर पाठको को आश्चर्य होगा। एक तो गाधीजी सस्कृत भाषा से, जिस मे गीता लिखी गई है, अनभिज्ञ थे, और दूसरे गीता अर्जुन को युद्ध करने के लिये आग्रह करती है, जो हिंसा का प्रतीक होता है न कि अहिंसा का। यह तो निर्विवाद है कि गाधीजी के सत्याग्रह का प्राणाधार अहिंसा है, तब फिर यह कहना कि गीता ने सत्याग्रह की गहरी छाप मारी, अयुक्ताभास प्रतीत होता है, परन्तु ये दोनो तर्क निर्मूल है।

गाधीजी प्रारम्भ मे सस्कृत नही जानते थे, यह बात ठीक है। इसलिये उन्होने पहले-पहल गीता सन् १८८८-८९ मे अरनाल्ड के द्वारा किये गये उस के अग्रेजी पद्य-अनुवाद के रूप मे उस समय पढी, जब वे विलायत मे बैरिस्ट्री पढते थे। इस के बाद उन्होने उसे दक्षिण अफ्रिका मे थियासफी-मत के मानने वाले कुछ मित्रो के सग मे पढी। इस तरह वह क्रमश गाधीजी को इतनी प्रिय हो गई कि वे नित्य प्रति उस का पाठ करने लगे, और फलत उस का अधिकाश उन्हे कठाग्र हो गया। फिर हिन्दुस्थान मे आने पर सन् १९२९ मे कुछ मित्रो के आग्रह के कारण उन्होने उस का अनुवाद गुजराती भाषा मे किया, जो बाद मे हिन्दी भाषा मे भी छापा गया। इस अनुवाद का नाम उन्होने 'अनासक्ति योग' दिया है। इस 'अनासक्ति योग' मे गीता के श्लोको का अर्थ मनुष्य-जीवन की धर्म्य व्यावहारिकता को लक्ष्य रख कर ही किया हुआ मिलता है, और इसी की प्रस्तावना मे उन्होने लोगो के उस भ्रम का निराकरण किया है, जिस के वशीभूत हो वे गीता को हिंसात्मक युद्ध की शिक्षा देनेवाली कहते है। गाधीजी ने इस प्रस्तावना मे लिखा है कि "उस ने (गीता ने) मोक्ष और व्यवहार के बीच मे ऐसा भेद नही रखा। बल्कि धर्म को व्यवहार मे परिणत किया है। जो व्यवहार मे न लाया जा सके, वह धर्म धर्म नही है, यह सूचना मेरी समझ से गीता मे विद्यमान है। × × × गीता की शिक्षा को कार्य मे परिणत

---

५८ उपरोक्त विभिन्न उद्धरण Pol Phil of Mahatma Gandhi के पृष्ठ २५-२६ के आधार पर दिये गये हैं, जिन्हे उक्त पुस्तक के लेखक ने अन्य पुस्तको आदि से लेकर लिखा है।

५९ Gandhi's Beads of Wisdom, P I

करनेवाले को अपने-आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पडता है। × × × परन्तु अहिंसा का प्रतिपादन गीता का विषय नही है। गीताकाल के पहले भी अहिंसा परमधर्मरूप मानी जाती थी। गीता को तो अनासक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना था। × × × परन्तु यदि गीता को अहिंसा मान्य थी अथवा अनासक्ति मे अहिंसा अपने-आप ही आ जाती है, तो गीताकार ने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप मे भी क्यो लिया ? गीतायुग मे अहिंसा धर्म मानी जाने पर भी, भौतिक युद्ध एक बहुत साधारण वस्तु होने के कारण गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेते हुए सकोच नही हुआ और न हो सकता था।"[५९ अ] इतना स्पष्ट वक्तव्य होते हुए भी कुछ लोगो ने उक्त प्रस्तावना मे इधर-उधर के कतिपय वाक्यो को लेकर गाधीजी पर यह दोष लगाया कि चूकि वे अहिंसा को धर्मशास्त्रो का प्रतिपाद्य विषय बताते है, इसलिये उन्होने महाभारत और गीता मे वर्णित ऐतिहासिक घटनाओ या चरित्रो को केवल काल्पनिक अलकारमात्र कहा है और कृष्ण को अवतारी पुरुष होने से इन्कार किया है।[५९ ब] परन्तु इस प्रकार की आलोचना करनेवालो की आलोचनाओ मे न केवल तर्कशून्यता ही है, वरन् साम्प्रदायिक हिन्दुत्व का उद्वेग भी झलकता है, जो लेखक ने अपने दूसरे लेख मे अन्यत्र बताया है।[५९ (ब) (1)] इन से यह निश्चय हो जाता है कि अहिंसा का प्रतिपादन अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है और गीता एव रामायण मे वर्णित भौतिक युद्ध केवल उदाहरण के रूप मे विद्यमान है। भौतिक युद्ध तो निषिद्ध कर्म है, इसलिये यदि वह रोके से भी न रोका जा सके, तो उसे इतने कठिन नियमों से जकड देना चाहिये कि हिंसा की मात्रा कम-से-कम बर्ती जाय। यही कारण है कि वर्तमान काल मे युद्ध-सम्बन्धी कुछ अमानुषीय कार्यो पर रोक रखी जाती है और महाभारत-काल मे इस से भी अधिक प्रतिबन्ध रखे जाते थे, अत सत्य और अहिंसा अटल सिद्धान्त है, जैसा कि पातजलि कृत योग-दर्शन आदि मे बताया गया है, और भौतिक युद्ध-रूपी हिंसा उन सिद्धान्त को मिटाने वाले रोग।

---

५९ (अ) अनासक्ति योग (गीता भाषानुवाद), पृष्ठ १८, १९, २० हिन्दी मे)

५९ (ब) कल्याण मासिक पत्रिका के अक्टूबर सन् १९४७ के अक मे १२८१वें पृष्ठ पर आत्मानन्द मुनि द्वारा लिखित लेख।

५९ (ब) (1) यह लेख इस पुस्तक के प्रकाशित होते-होते लेखक की दूसरी पुस्तक 'कृष्ण और गाधी की अहिंसा' (किताब महल, इलाहाबाद) मे छप चुका है।

इसके पश्चात् जब हम गाधीजी को प्रभावित करने वाली आधुनिक विचार-धाराओ मे प्रवेश करते है, तब हमारे सामने प्रमुखत तीन नाम आते है—थोरो, रस्किन और टाल्सटाय। थोरो के चरित्र के विषय मे कहा जा चुका है। चरित्र से ही सम्बन्धित उस की विचारधारा थी। गाधी के पैसिव रेजिस्टेन्स का महत्त्व तभी समझ मे आता है, जब हम उन की बताई हुई गुजराती की उस कविता का पाठ करते है, जिस मे लिखा है 'बुराई के प्रति भलाई करना'। अग्रेजी शब्द पैसिव रेजिस्टेन्स मे अधिक-से-अधिक 'अक्रिय अवरोध' का भाव रहता है, न कि अपने आत्मबल (soul force) के आधार पर बुराई के बदले भलाई करने का। टाल्सटाय के वचनामृतो के विषय मे भी ऊपर कहा जा चुका है कि उन की पुस्तक 'बैकुण्ठ अपने हृदय मे है' ने गाधीजी के हृदय मे सत्याग्रह की छाप अटल कर दी, परन्तु समाज का जीवन मुख्यत आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहता है। इस आर्थिक स्थिति को सत्याग्रह-विधि अथवा समुचित रूप से कार्य रूप मे परिणत करने के लिये रस्किन की पुस्तक 'अन टू दि लास्ट' ने गाधीजी पर जादू-जैसा काम किया। उस के विषय मे गाधीजी ने लिखा है कि "मेरे जीवन मे यदि किसी पुस्तक ने तत्काल महत्त्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला हो, तो वह यही पुस्तक है। मैने इस का गुजराती मे अनुवाद किया था और वह 'सर्वोदय' के नाम से प्रकाशित भी हुआ। जो चीज मेरे अन्तर मे बसी हुई थी, उस का स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रन्थ-रत्न मे देखा और इस कारण उस ने मुझ पर अपना साम्राज्य जमा लिया, एव अपने विचारो के अनुसार मुझ से आचरण करवाया।"[५९ स] रस्किन की उक्त पुस्तक से गाधीजी को रचनात्मक आर्थिक कार्य मे विशेष सहायता प्राप्त हुई। उपरोक्त महानुभावो की उपरोक्त पुस्तको के अतिरिक्त कुछ अन्य महानुभाव और पुस्तके है, जिन्होने गाधीजी की विचार-धारा को समुचित रूप से बहाने मे योग दिया है। उन की सूची गाधीजी ने स्वय अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' (Indian Home Rule) के परिशिष्ट मे दी है। यह हमे मालूम है कि 'हिन्द स्वराज' सन् १९०८ मे लिखी गयी थी। उस के लिखने का मूल उद्देश था आधुनिक काल मे कही जानेवाली सभ्यता का प्रतिकार करना, घृणा के स्थान मे प्रेम की भावना उत्पन्न करना, एव अहिंसात्मक सत्याग्रह के द्वारा स्वराज (अर्थात् प्रेममय नियन्त्रित राज) की स्थापना करना। उस समय दक्षिण अफ्रीका मे उत्पन्न सत्याग्रह केवल दो वर्ष का ही नन्हा-सा बच्चा था। ऐसे समय पर परिशिष्ट मे गाधीजी के द्वारा दी हुई लेखको और पुस्तको की

५९स. आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ १०२-१०३

सूची विशेष महत्त्व की है, क्यो कि सूची के शीर्षक मे उन्होंने खुद लिखा है कि 'हिन्द स्वराज्य' मे व्यक्त किये गये भावो का अध्ययन करने के लिये नीचे लिखी पुस्तके पढी जायें। इससे सिद्ध होता है कि गाधीजी की न केवल सत्याग्रह-नीति पर, वरन् उन की अन्य विचार-धारा पर इन लेखको का प्रभाव पडा था। वे ये है—

लेखक	पुस्तक
(१) टाल्सटाय—	(१) The Kingdom of God is within You (वैकुण्ठ तुम्हारे हृदय मे है)
	(२) What is Art (कला किसे कहते है ?)
	(३) The Slavery of Our times (अपने समय की गुलामी)
	(४) The First Step (पहला कदम)
	(५) How shall We escape (हम कैसे वचें)
	(६) Letter to a Hindoo (हिन्दू को पत्र)
(२) शेरार्ड—	The White Slaves of England (इग्लैण्ड के गोरे गुलाम)
(३) कारपेन्टर—	Civilisation, Its Cause and Cure (सभ्यता—उस का कारण और उपचार)
(४) टेलर—	The Fallacy of Speed (गति का मिथ्या ज्ञान)
(५) ब्लाउन्ट—(Blount)	A New Crusade (नवीन धर्म-युद्ध)
(६) थोरो—(Thoreau)	(१) On the Duty of Civil Disobedience (निराक्रमणकारी आज्ञा-भग के कर्तव्य पर)
	(२) Life without Principle (विना आदर्श का जीवन)
(७) रस्किन—	(१) Unto this last (इस अन्तिम तक, अथवा गाधी के शब्दो मे, सर्वोदय)
	(२) A Joy For Ever (सदा आनन्द)
(८) मेजिनी—(Mazzini)—	Duties of Men (मनुष्य के कर्तव्य)
(९) प्लेटो—	Defence and Death of Socrates (सुकरात का पक्ष-समर्थन और मृत्यु)
(१०) मेक्स नारदौ—(Max Nordaw)—	Paradoxes of Civilisation (सभ्यता के गोरखधन्धे)

लेखक पुस्तक

(११) नारोजी (Naroji)—Poverty and Un-British Rule in India (हिन्दुस्थान मे गरीबी और अनाग्रेजी राज्य)

(१२) दत्त—Uneconomic History of India (हिन्दुस्थान का अनार्थिक इतिहास)

(१३) मेन—(Maine)—Village Communities (ग्राम समाज)

(१४) एलफ्रेड वेब (Alfred Webb)—इन के द्वारा किये गये सग्रह मे से निम्न लेखको के उद्धरण विक्टर काजिन (१७९२-१८६७), जे सेमूर के० एम० पी (सन् १८८३ का लेख), फ्रेड्रिक मेक्स-मुलर, एल० एल० डी०, कर्नल थोमस मुनरो, फ्रेड्रिक व्हान शिलीगिल, सर विलियम वेडरबर्न वार्ट, जे यग, और अबी ए० जे० डुवाइस।[६०]

इन चौदह विद्वानो के अतिरिक्त मेरी इच्छा होती है कि पन्द्रहवा नाम कविवर शैली का भी जोड देना चाहिये। यद्यपि गाधीजी ने उन का नाम इस सूची मे नही लिखा है, तथापि उन्होने सन् १९३८ मे ससार के भिन्न-भिन्न भागो से आये हुए राजनीति निपुण ईसाइयो के बीच सत्याग्रह-सम्बन्धी वार्तालाप के समय उन की "मास्क आफ अनारकी" (Mask of Anarchy अर्थात् राज्यविहीनता का रहस्य) नाम की कविता मे से एक अश का उद्धरण उपस्थित किया था।[६१] वह उद्धरण हमने पुस्तक के अन्त मे सूची न० १ मे पाठको के अवलोकनार्थ दिया है। उस का तात्पर्य वही है, जो गाधी के उन वाक्यो मे व्यक्त है, जो उन्होने ता० १३-४-१९४० को "राज्य-नीति अहिसात्मक हो" इस पर अपने विचार-प्रदर्शन के समय कहा था। यदि कोई आक्रमणकारी राज्य पर धावा कर दे, तो उन का कहना है—"लोगो को आक्रमणकारी की तोपो के सम्मुख पशु के तृण के समान नि शस्त्र होकर आ डटना चाहिये।"[६२] तब परिणाम यह होगा। जैसा कि हम यथास्थान पर खुलासा करेगे कि "आक्रमणकारी और उन का फौजीपन अन्त मे पिघल उठेगा"।[६३]

---

६० चूकि उक्त लेखको के विचारो को पढने से यह ज्ञात होता है कि गाधी जी की आर्थिक, कौटुम्बिक, ग्रामोद्योग आदि की नीति उन लोगो की विचार-धारा के अनुसार है, इसलिये हम ने पाठको की जानकारी के लिये पुस्तक के परिशिष्ट मे सूची न० १ के अन्तर्गत उन विचारो का भी उल्लेख कर दिया है।

६१ Mahatma Gandhi (R K), P 146

६२-६३ Gandhi's Beads of Wisdom, P 76

शैली ने जगल की उपमा देकर इसी भाव का प्रदर्शन किया है। सम्भव है कि गांधी-जी ने सन् १९०८ मे या उस के पहले उक्त कविता न पढ़ी हो। सम्भव है कि नवजात सत्याग्रह के समय राज्य-विहीन समाज की कल्पना ही उन के मन मे न उठी हो, या कि उठने पर उसने समुचित रूप न प्राप्त कर पाया हो, सम्भव है कि ऐसे समाज पर आक्रमण आदि का प्रश्न ही उन के मन मे उपस्थित न हुआ हो, और सम्भव है कि उस समय कवि की कविता केवल भावुक आवेश समझी गई हो न कि व्यावहारिक, इसलिये शैली का नाम सूची मे न आ सका हो, परन्तु इतना तो अवश्य प्रतीत होता है, कि सन् १९३८ तक उन्होंने शैली की उक्त कविता महत्त्वपूर्ण मान ली होगी, तभी तो सत्याग्रह के प्रसग के समय उस का उद्धरण किया होगा।

(२) व्यवस्था की दृष्टि से

(१) भारतीय व्यवस्थाएँ —

समाज-सशोधक के सामने पूरे समाज का दृश्य रहता है, इसलिये व्यक्तिगत आचार और विचार के जान लेने से काम नही चलता। चूंकि उस के मन मे सामाजिक व्यवस्था को सुधारने की उत्कठा रहती है, इसलिये उस के ध्यान का तत्कालीन और पूर्वकालीन सामाजिक व्यवस्थाओं की ओर जाना स्वाभाविक हो जाता है। गांधीजी की दृष्टि भी इन व्यवस्थाओं की ओर गई। प्रधानत ये व्यवस्थाए चार प्रकार की होती है, जैसा कि हम पहले देख चुके है। किस धर्म-व्यवस्था को गांधीजी ने अपनाया था, इस पर भी हम यथोचित प्रकाश पहले डाल चुके है। उन के जीवन पर सनातन हिन्दू-धर्म की छाप लगी, परन्तु वे ईसा की चलाई हुई व्यवस्था से भी काफी प्रभावित हुए, क्यो कि एक ओर तो उन्हे उस के और सनातन हिन्दू-धर्म के मूल सिद्धान्तो मे असमानता नही दिखी, और दूसरी ओर उस मे मानवी समाज-सेवा के लिये मर-मिट जाने तक का प्रण कूट-कूट कर भरा हुआ था। सनातन का अर्थ ठीक-ठीक जान लेने पर बौद्ध या जैन-धर्म उस मे स्वतत्र धर्म नही माने जाते। उन का स्रोत एक ही होने के कारण वे उस की शाखाए ही है, और इसलिये उन्हे बौद्ध सम्प्रदाय और जैन सम्प्रदाय भी कहा करते है। उन का महत्त्व इसी मे है कि ब्राह्मण-काल के समय भारतीय समाज मे जो पूजार्चन आदि के पाखण्ड और क्लिष्टता घुस गई थी, जातियो की अधिकाधिक सख्या होने के कारण असामञ्जस्य और शक्ति-ह्रास बढ रहा था, एव यज्ञ-प्रथा के प्रतिपालन मे जीव-हिसा का प्रचार जोरो से हो रहा था, उन सब के विरुद्ध उन्होंने आवाज उठाई और अहिसा का पाठ पढाया। जैन-मत यहाँ तक बढ गया कि छोटे-से-छोटे कीटाणु की हत्या न होने पाये, इसलिये उस ने खाने-पीने के पदार्थो को उपभोग मे लाने के लिये भी कट्टर-से-कट्टर नियम बना डाले। इस तरह वह नियमो मे

जकड गया, और प्रगतिशील व्यावहारिक क्षेत्र मे निकम्मा सा बन गया। बौद्धो ने अहिसा को अपनाया सही, पर उसे नैतिकता का ही रूप देकर रखा। जिस प्रकार मार्क्सवादी नीति को भौतिकता का मानसिक प्रतिबिम्बन कहते है, उसी प्रकार बोद्ध लोगो ने नीति का सम्बन्ध आत्मा से न जोड कर प्रकृति से ही जोड रखा है। इस तरह यद्यपि अहिसा का सबक बौद्ध और जैन-धर्म से गाधीजी को मिला, पर उस मे भी उन्हे दूषण मिले। इधर मुसलिम धर्म मे भी उन्होने अहिसा और शान्ति स्थापना की भावना पाई, न कि तलवार की धार की, जैसा कि बहुत-से मुसलमान और अन्य लोग समझा करते हैं। इस धर्म का नाम यथार्थ मे इस्लाम है, और 'इस्लाम' शब्द का अर्थ होता है 'शान्ति' 'सरक्षण' 'मुक्ति'। हर मुसलमान मिलते समय जो 'अस-सला माले कम' कह कर वन्दन करता है, उस का अर्थ होता है आप को शान्ति मिले'।[६४] इस्लाम मे 'इ' का उच्चारण लुप्त प्राय होता है और उसी के रूपान्तर 'मुसलमा' और 'सलाम' शब्द है। भाई-चारा, शान्ति-पाठ, दया-भाव, दुर्वृत्ति को सद्वृत्ति से वश मे करना, धर्म-प्रचार केवल शान्तिमय उपदेश के द्वारा करना—ये बाते मुसलिम धर्म मे भी उसी प्रकार मौजूद है, जिस प्रकार हिन्दू-धर्म और ईसाई-धर्म मे, परन्तु इतिहास ने यह बताया कि ईसाइयो ओर मुसलमानो ने अपने धर्म-सिद्धान्तो का बहुत बुरी तरह से अतिक्रमण किया, जिस के फलस्वरूप खून की नदिया बही, जबरन, धोखे से या प्रलोभनो के द्वारा धर्म परिवर्तन कराये गये, तथा असहिष्णुता, विद्वेष और अशान्ति की ओर हिसा की बाढ आई। परन्तु इसके विपरीत हिन्दू धर्म का प्रचार सदा शान्तिमय उपदेशो के द्वारा, अथवा पारस्परिक हेल-मेल, प्रेममय ससर्ग से हुआ है, यह उन्हे (गाधीजी को) ज्ञात हुआ। धर्म-सहिष्णुता और अहिसा की व्यावहारिकता जिस प्रकार उन्होने, हिन्दू धर्म मे पाई-वह अन्य दोनो धर्मो मे नही मिली। हिन्दुस्थान मे विद्यमान इस प्रकार व्यावहारिक सस्कृति ने ही गाधीजी को सत्याग्रह-सिद्धि प्राप्त कराने मे विशेष सहायता पहुचाई है, यह इतिहासज्ञो को मानना पडेगा। यह तो निर्विवाद सत्य हो गया है कि गाधीजी के जीवन-कोष मे विद्वेष को स्थान था ही नही, इसलिये उन्होने उक्त धर्मावलम्बियो को सन्मार्ग पर लाने के लिये एक प्रधान मार्ग पकडा, और वह यह कि उन्होने उन्ही के धर्म-सिद्धान्तो और उन्ही के धर्म-प्रवर्तको की जीवनियो पर ईमानदारी से वर्तने के लिये उन्हे

---

६४ Pol Phil of Mahatma Gandhi, P 21, और भी देखो कुरान का मुहम्मदअलीकृत अग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ५६, फुट नोट १, (और) नवाब अशगर हुसेन कृत अग्रेजी पुस्तक 'ओ अल्लाह', पृष्ठ १-२.

उसी प्रकार आग्रह किया, जैसा कि वे हिन्दू-धर्मावलम्बियों को उनकी दूषित प्रवृत्तिया एव उनमे प्रविष्ट बुरे रिवाजो को मिटाने के लिये हिन्दू-धर्म की मान देते थे। कुमार्गियो को सन्मार्ग पर लाने तथा स्वकीय उन्नति करने के लिये गान्धीजी का यह तरीका, हमारी समझ मे उस समय उनके हृदय मे बडी गहराई के साथ अंकित हो गया होगा, जब वे गीता-अध्ययन करते थे। "श्रेयान्स्वधर्मो विगुण पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्" गीता का यह आदेश गीता मे दो भिन्न प्रसगो के समय मिलता है।[65] धर्म-शब्द की व्याख्या ठीक-ठीक जान लेने पर उक्त आदेश की विशिष्टता का प्रकाश हो उठता है। मनोवैज्ञानिक इस बात को भली भांति जानते है कि यदि किसी को गलत राह पर चलने की आदत पड गई हो, तो उसे बुरा-भला आदि कह कर अथवा उसे दण्ड दे कर या किसी अन्य प्रकार से उस पर अपनत्व ठूंस कर सही रास्ते पर लाना कठिन होता है, परन्तु यदि उस के मन को ठेस न पहुँचाई जाय और प्रेममयी शान्ति से उसी की बात मे 'हा' और 'नही' का सम्मिश्रण कर उसके साथ हार्दिक सहानुभूति का प्रदर्शन किया जाय, तो वह थोडे काल ही मे आप का चिर मित्र बन जायगा। किसी वृत्ति से गठ-बन्धन हो जाना आदत कहलाता है, जो एकाएक नही छूट सकती। जिस प्रकार दूसरो की आदत एकाएक नही छुडाई जा सकती, उसी प्रकार मनुष्य अपनी आदत को भी एकदम नही सुधार सकता। वह क्रमश ही परिवर्तित हो सकती है। एकाएक निकाल फेकने के ढोग मे उस मे भिदी हुई रसभावना नही निकल पाती।[66] इसलिये गुणहीन होने पर भी स्वधर्म को अर्थात् अधिकृत कर्म को श्रेयस्कर कहा है, क्यो कि उस मे क्रमानुगत विकास निहित रहता है।

सम्भव है गीता के इसी आदेश ने गान्धीजी को इतना प्रभावित किया हो कि उन्होने हर बात मे भारतीय सस्कृति ही को अपनाया है। विदेशियो की चाल-ढाल अथवा व्यवस्थाओ आदि की नकल करना उन्हें पसन्द नही था, क्यो कि उस मे उन्हे कोई श्रेय नही दिखाई देता था ? श्रेय दिखाई दिया उन्हें अपनी निजी व्यवस्थाओ मे। उन को केवल आधुनिक परिस्थितियो के ढाँचे मे बैठालने भर की जरूरत थी। जिस प्रकार वे भारतीय सनातन धार्मिक व्यवस्था से प्रभावित हुए थे, उसी प्रकार उन पर प्राचीन भारतीय आर्थिक व्यवस्था का भी प्रभाव पडा। प्राचीन भारतीय आर्थिक व्यवस्था की निष्पक्ष इतिहास-ज्ञाताओ ने मुक्त-कण्ठ से प्रशसा की है। वह है ग्राम-समाज पद्धति (The System of Village Communities)। प्रत्येक ग्राम की अर्थ-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था प्राय पूर्ण स्वतत्र थी। हर आदमी हाल-रोजगार

---

६५ गीता ३।३५, १८।४७.

६६ गीता २।५९.

वाला था। वृद्ध-युवक-बालक, चाहे पुरुष हो या स्त्री, बेकार नही रहते थे। कर आदि का चुकौता उत्पत्ति के अनुपात से हुआ करता था। जीवन की आवश्यकताएँ ग्राम के कच्चे और पक्के माल से ही पूरी हो जाया करती थी। इसलिये आज आप गाधी की सर्वोदय योजना मे उस रचनात्मक आर्थिक कार्य-क्रम को पाते है, जिस मे ग्रामोन्नति की ओर विशेष लक्ष्य रखा है। ग्रामोद्योग और गृहोद्योग ही हर व्यक्ति को भर-पेट भोजन दिलाने का तरीका है। इस के बिना न तो बेकारी और भुखमरी मिट सकती है और न पूँजीपति का विनाश हो सकता है। इसी प्रकार इन ग्राम-समाजो मे—छोटे रूप मे सही—शासन और न्याय-व्यवस्था भी कायम थी। गाधीजी न तो यह चाहते थे कि अर्थ-व्यवस्था कुछ इने-गिने उद्योगपतियो या पूँजीपतियो के हाथ मे सिमट कर रहे, और न यह ही चाहते थे कि राज्य-व्यवस्था केन्द्रित हो कर केवल राज-दरबार के हाथ की गुडिया बनाकर रखी जाय। उन की सारी योजना थी कि आर्थिक और राजकीय व्यवस्थाओ का विकेन्द्रीयकरण हो। यह भाव प्रधानत उन के मन मे भारत की उसी ग्राम-समाज-व्यवस्था से उठा, जिस के विषय मे मार्क्सवादियो ने भी चर्चा की है, जैसा कि हम पूर्व मे कह आये है। हम मार्क्सवादियो की इस बात को मान लेते है कि उस समय के मनुष्यो की आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित थी और इसलिये वह ग्राम-समाज-व्यवस्था आधुनिक मशीन-युग मे उपयोगी नही हो सकती, जब कि मानुषिक सम्बन्ध-क्षेत्र बडा विस्तृत हो गया है और जीवन के रहन-सहन मे भी जमीन-आसमान का अन्तर आ गया है। इस बात को गाधीजी भी मानते थे, परन्तु बात तो प्रथा की है—उन सिद्धान्तो की है जिन पर वह प्रथा कायम थी। उन्ही सिद्धान्तो को आधार मान कर गाधीजी ने प्राचीन प्रथा को नये ढाचे मे ढालना चाहा।

हम पहले कह आये है कि गाधी की समाज-योजना मे न केवल धर्म, अर्थ और राज की ही व्यवस्थाएं है, वरन् एक अग और है जिस का उस मे समावेश होना आवश्यक था। वह है पारस्परिक मेल-जोल की सामाजिक व्यवस्था। इस सम्बन्ध मे भी उन के हृदय पर भारतीय रहन-सहन की प्राचीन काल से चली आई प्रथा का असर पडा और वह भी बडा गहरा असर। वह है हिन्दू-समाज का कौटुम्बिक जीवन और हिन्दू-समाज की वर्ण-व्यवस्था। आगे आप देखेगे कि उनके राज्य-विहीन समाज का अस्तित्व इन्ही दो सिद्धान्तो पर निर्भर है। सारे विश्व का मनुष्य-समाज यदि हिन्दुओ के सम्मिलित परिवार की बातो को अपना कर रहने लगे तो समाज-सम्बन्धी सारी कठिनाइयाँ हल हो जायँ। घृणा वा द्वेष मिट कर प्रेम का साम्राज्य हो, कोई भूखा न रह सके, एक दूसरे का सरक्षक और टस्ट्री बन जाय तथा बहु-सख्यक हित के स्थान मे सर्व-हित का सिद्धान्त कार्यान्वित दिखाई देने

(ii) पाश्चात्य व्यवस्थाएँ

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पाश्चात्य देशों का इतिहास अहिंसात्मक व्यवस्थाओं से शून्य रहा है। हिंसा और अहिंसा ये दो वृत्तियाँ हैं, जो समाज में चला ही करती हैं, कहीं कोई कम और कहीं कोई ज्यादा। इसी नियमानुसार पाश्चात्य देशों में भी अहिंसा-भाव छटपटाता रहा है। इसलिये अब हम पाश्चात्य देशीय मध्यकालीन और आधुनिककालीन सन् १९०५ तक की कुछ ऐसी व्यवस्थाओं का उल्लेख कर देना मुनासिब समझते हैं, जिन्होंने अहिंसा-प्रतिपादन के मार्ग को अपनाया था, क्योंकि गांधीजी का सर्वप्रथम सामाजिक सत्याग्रही प्रयोग सन्

१९०६ मे हुआ था। इन व्यवस्थाओ मे से गांधीजी पर किस का कितना प्रभाव पड़ा, यह हम उस समय तक नही कह सकते, जब तक यह न जान लिया जाय कि गांधीजी की दृष्टि किस पर कहा तक पहुँच पाई थी। ऐसी स्थिति मे यही बेहतर है कि हम उन सब प्रमुख शाखाओ का उल्लेख कर दे, जो समय-समय पर अहिंसा-प्रतिपालन का प्रयत्न करती रही थी।

श्री धावन ने बताया है कि मध्यकाल मे अलबीजेन्सेस (Albigenses), व्हौडूइस (Vaudois), लोलार्डस (Lollards), पौलीसियन्स (Paulicians), मनीशियन्स (Manicheans), वेल्डेनसेस (Weldenses), और मेनोनाइट्स (Mennonites), नाम की सस्थाओ के लोग हर प्रकार के युद्ध और हिंसा का कट्टर विरोध करते थे।

फिर उन्होने कहा है कि सोलहवी सदी के मध्यकाल के लगभग अनबेपटिस्ट सम्प्रदायो के लोग थे, जैसे मेनोनाइट्स (Mennonites), साइमोनियन्स (Simonians), सोसीनियन्स (Socinians), ब्राऊनिस्ट्स (Brownists), और डनकर्स (Dunkers)। ये लोग भी हिंसा का हर हालत मे विरोध करते थे। उन्होने राज्य सम्बन्धी कार्यो मे भाग लेने से इन्कार कर दिया था क्यो कि वे कहते थे कि राज प्रमुखत हिंसाग्राही होता है। इस के फलस्वरूप कई को अपनी जाने तक खो देनी पडी और कई को अमेरिका भाग जाना पड़ा।

इन के अतिरिक्त सन् १६६० मे जार्ज फाक्स ने मित्रो की एक क्वेकर सोसाइटी की नीव डाली। इन का मूल सिद्धान्त यह है कि हर मनुष्य को अपने आन्तरिक प्रकाश के अनुसार चलने का अधिकार है, बाहरी दबाव या प्रभाव डालने की कोई आवश्यकता नही। ये लोग राजनैतिक कार्यो मे भाग लेना बुरा नही समझते थे, जैसा कि अनबेपटिस्ट्स सम्प्रदाय वाले किया करते थे। उन का ध्येय था कि राज-नीति मे ही रह कर उस को अहिंसात्मक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। रही बात युद्ध की, सो ये न तो उस मे भाग लेते थे और न उस के किसी अन्य प्रकार से सहायक बनते थे, परन्तु उनका यह प्रयत्न अवश्य रहता था कि सन्धि और पचायतो के द्वारा लडाइया बन्द कर दी जाया करे। इन लोगो ने सन् १६८२ मे पेनिन-सिलेविया (अमेरिका) मे एक कालोनी (उपनिवेश) भी कायम की। उस का महत्त्व यह है कि उस का राजकीय कार्य बिना फौजी पल्टनो के चला। अमेरिका के आदिनिवासी रेडइन्डियन्स (Red Indians) और इन के बीच के सब झगडे पचायत से निबटा लिये जाते थे, क्यो कि जब यह कालोनी बसाई गई थी तब यह तय हो गया था कि दोनो पक्षो के लोग परस्पर-प्रेम के आधार पर भाई-

चारा निवाहते हुए रहेंगे, परन्तु यह अहिंसात्मक राज्य-व्यवस्था केवल ७० वर्ष तक टिक सकी, क्यों कि एक ओर तो कालोनी के फ्रेंच गवर्नर ने कालोनी के सरहद्दी दगे दबाने के लिये फौजी उपायों का अवलम्बन किया और दूसरी ओर कालोनी में अन्य गौराङ्ग लोग आकर बसते गये, जिस के फलस्वरूप क्वेकर्स अल्पसंख्यक होते गये। क्वेकर्स की सत्तर वर्षीय इस राज्य-व्यवस्था से अहिंसात्मक राज्य-विहीन समाज की एक हलकी-सी झलक पाठकों के मानसिक पटल पर आ सकती है।

रूस में भी दौखोबोर्स (Doukhobors) नाम का सम्प्रदाय था, जिस का अस्तित्व दो सौ वर्ष तक रहा। वे अहिंसा के बड़े भक्त थे। भोजन में वे केवल शाकाहारी थे, आचरणों के लिये उन्होंने बड़े कट्टर नियम बना रखे थे। ईश्वरी सत्ता को छोड़ वे किसी दूसरी सत्ता के अधिकार को स्वीकार नहीं करते थे, और हिंसा के किसी भी रूप से वे सहमत नहीं थे, परन्तु वे इतने सताये गये कि उन में से बहुतेरों को उन्नीसवीं सदी के अखीर-अखीर में अपना देश त्याग कर कनाडा भाग आना पड़ा। बाकी बचे हुओं को कम्यूनिस्ट लोगों ने तंग किया, क्यों कि वे न तो फौज में भरती होने को तैयार थे और न सहकारी काश्तकारी करने को।

उन्नीसवीं सदी से लेकर अभी तक श्रमिकों की हड़तालें होती चली आ रही हैं। हड़ताल अनर्थों को रोकने का सामूहिक शान्तिमय प्रयास होता है। इन हड़तालों के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भी सामूहिक प्रयत्न हुआ करते थे जिन में हिंसा के द्वारा हिंसा का विरोध नहीं किया जाता था। उदाहरणार्थ उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में हंगरी के अन्तर्गत फ्रेनसिसडीक के नेतृत्व में अहिंसात्मक लहर उठी, और सन् १९०५ में स्वीडन और नार्वे के समाजवादियों के बीच में पड़ जाने के कारण दोनों देशों के बीच में समझौता हो गया और उन के बीच होने वाली लड़ाई रुक सकी।[६७]

पूर्वकालीन सत्याग्रह-रूप की संक्षिप्त समीक्षा

अब यदि हम गांधीजी के प्रधान सिद्धान्तों की संगति पर ध्यान रखते हुए

---

६७ पाश्चात्य देशीय उपरोक्त व्यवस्थात्मक दृष्टान्तों का उल्लेख हम ने श्री धवन कृत Political Philosophy of Mahatma Gandhi के प्रथम अध्याय के पृष्ठ २९, ३०,३१ और ३९ के आधार पर किया है और श्री धवन ने स्वयं उन का उल्लेख अन्यान्य आधारों पर किया है, जिन का देना हमारे लिये आवश्यक नहीं है।

पूर्वकालीन सत्याग्रह की स्थिति पर एक वार चलती नजर डाल ले, तो आगामी पाठ के समझने मे सुगमता होगी। भूतकालिक घटना-क्रम का योग-फल ही वर्तमान कहाता है, यह वात वहुवा भुला दी जाती है? इसलिये विस्मृत्ति-वश लोग यह समझ लिया करते हे कि अमुक घटना चमत्कार हे, अकस्मात हे, ऐसा पहले कभी नही हुआ, इत्यादि। इसी प्रकार के लोग इधर-उधर की कुछ अनर्गल वातो को जोड मिला कर गाधीजी के सत्याग्रह-सम्वन्धी प्रयोग को चमत्कार कहने लगे, परन्तु उनमे न तो चमत्कृति ही है और न आकस्मिकता। अगर कुछ हे, तो ऐतिहासिक क्रम-सूत्र की अपूर्णता आगे वढाना। यदि नवीन असाधारण ढग से पुराना कार्य-क्रम आगे वढाया जाना चमत्कार कहा जाय, तो गाधीजी की सत्याग्रह-विधि निस्सन्देह चमत्कृति कही जाने योग्य है, अन्यथा वह विशिष्ट ही कही जायगी। उस मे विशिष्टताएँ क्या है, यह हम आगे वतायेगे। यहा केवल इतना ही कहना आवश्यक है कि ससार मे हिंसा और अहिंसा इन दोनो वृत्तियो का सघर्ष वहुत पुराना है। कभी और कही एक जोर पकडती हे, तो कभी और कही दूसरी। गाधीजी अपने स्वभाव वा सस्कृति के अनुसार अहिंसा-मार्ग पर चल निकले। उन्होने उस अहिंसा-मार्ग पर चलने वाले पूर्वजो की चाल की परख की, और देखा कि समाजोन्नति के हेतु उस मे कुछ त्रुटिया है, उन्हे सुधारना होगा। उन्हे यह भी दिखाई दिया कि हिंसा-वृत्ति का तूफान इस वेग से चल रहा था कि यदि वह न रोका गया, तो अहिंसा नेस्तनावूद हो जायगी। इसलिये जिस तरह मार्क्स ने पूँजीपतित्व की विरोधिनी तत्कालीन प्रचलित ढुलमुल यकीन तथा मिश्रित भावमयी सस्थाओ और विचार-धाराओ को प्रतिक्रियावादी कह कर केवल द्विवर्गीय सघर्ष की स्थापना कर उसे विश्वव्यापी वनाने के लिये जोर दिया, उसी प्रकार गाधी ने यह निश्चय किया कि अहिंसा तभी अहिंसा हो सकती है, जब उसमे हिंसा का मिश्रण किसी भी प्रकार का न हो, न तो कायिक हिंसा हो और न मानसिक ही। विशुद्ध अहिंसा ही हिंसा का नाश कर सकती है, और यह भी तभी हो सकता हे, जव अहिंसा की लहर विश्व-व्यापिनी होकर हिंसा को सव ओर से निगल जाय। इसीलिये गाधीजी ने उन सव लोगो ओर व्यवस्थाओ का विरोध किया, जो देश ओर विदेश, मित्र और शत्रु, आक्रमण और सरक्षण, आदि द्वन्द्वात्मक भावो से प्रेरित होकर अहिंसा की व्याख्या करते समय उस मे हिंसा का मिश्रण करते थे, और इस प्रकार की मिश्रित अहिंसा को नैतिकता का जामा पहनाकर न्यायोचित और धार्मिक कहते थे। गाधीजी ने देखा कि लोग वहुधा कायिक हिंसा ही को हिंसा समझते है। मानसिक हिंसा की ओर उन का ध्यान जाता ही नही था, इसलिये उन्होने मन-वुद्धि-आत्मा की शुद्धि की ओर जन-चित्त को खीचने के प्रयत्न किये, क्यो कि शारीरिक कर्म, आखिर-

कार मानसिक और आत्मिक गति पर निर्भर रहते हैं। उन्हे ससार मे व्याप्त दु ख का मूल कारण यह मालूम हुआ कि व्यवहार मे एकत्व अथवा समानत्व का अभाव था। एकत्व का पुजारी दूसरे को दूसरा समझता ही नही। तब फिर उस की दृष्टि मे यदि कही दोष दिखाई देता है, तो उसे वह अपना ही दोष समझता है। वायु एक है—एक समान है। यदि एक स्थान पर वह फूलो और इत्रो की सुगंध से महकती है, और दूसरे स्थान पर मलादि के कारण दुर्गंध फैलाती है, तो क्या दोनो स्थान की वायु एक दूसरे को बुरा-भला कह कर लडने झगडने लगती है? नही, वायु तो एक है, केवल स्थान दो है, इसलिये यदि दुर्गन्ध कही से आती है, तो स्थानीय परस्थितियाँ दोषी है न कि वायु। सुगधयुक्त वायु तो यह कहती है कि अगर कही वायु का भाग दुर्गन्धयुक्त प्रतीत होता है, तो उसका कारण मैं ही हूँ,क्योंकि मै अपने मे व्याप्त सुगन्ध को वहाँ तक नही पहुँचा पाई। यदि मैं इतनी पवित्र, शुद्ध, सुगन्धमय हो जाऊँ कि मेरी प्रबल महक वहाँ तक पहुँच सके तो उस की दुर्गन्ध मिट कर वह भी सुगन्धमय हो जायगी। बस, गाधीजी का अहिंसा भाव इसी तर्क पर निर्भर है, क्यों कि मन-बुद्धि-आत्मा वायु से भी अधिक सूक्ष्म और व्यापक है। इसलिये गाधीजी ने दूसरे को दोष से मुक्त किया और अपने-आप को एव परिस्थितियो को दोषी बनाया। **अत परिस्थितियो मे परिवर्तन करना और अपने मे अधिकाधिक पवित्रता लाना यही गाधी के सत्याग्रह का काम है।** जब मनुष्य अपनी आत्मा मे सब को, और सब की आत्मा मे आप को जान लेता है तब उस के पास घृणा का अश-मात्र भी नही फटक पाता। गाधीजी जानते थे कि इन खयाली पुलावो से तो समाज की उन्नति हो ही नही सकती। ऐसे खयाली पुलाव तो बहुत पहले से पकते चले आ रहे है, और इक्के-दुक्के इधर-उधर कभी-कभी कुछ व्यक्तियो ने उस के हेतु अपने प्राणो की बाजियाँ भी लगा दी है, तथा कुछ सामूहिक सस्थाओ ने अपने-अपने निर्देशो के अनुसार कठिन-से-कठिन तपस्याएँ की और त्याग भी किये है,परन्तु बिखरे हुए उपाय उपयुक्त सिद्ध नही हो सके। वे न तो भेद-भाव को मिटा सके और न बेकारी भूखमरी को, जो भेद-भाव का प्रकट स्वरूप ही है। जब इस असफलता का कारण ढूढा तो गाधी जी ने पाश्चात्य और पूर्वीय अहिंसात्मक व्यवस्थाओ को दो प्रकार से अपूर्ण पाया। एक तो उन का प्रयोग-क्षेत्र सकीर्ण था, और दूसरे वे हिंसा से मिश्रित थी। पूर्वकालीन इन्ही दो त्रुटियो को मिटा कर एकत्व लाने के लिये गाधीजी ने अहिंसात्मक सत्याग्रह के भाव को जगाया। इस की व्यावहारिकता पर आगे ही यथास्थान पर विचार किया जा सकेगा। फिलहाल हमे सत्याग्रह साधना पर ही विचार करना है, जो उस व्यावहारिक क्षेत्र तक पहुँचा सकती है।

सत्याग्रह शब्द की नवीनता और उस का पूर्व-क्रम

ऊपर के लेख मे हमने सत्याग्रह और अहिंसा शब्दो का प्रयोग किया है। पाठक इस बात को न भूले कि जो भाव उन मे आज, गाधीजी के कृत्यो के कारण, ओत-प्रोत है, वह उस समय नही था। अहिंसा शब्द तो पहले से ही भाषा-कोश मे विद्यमान था, परन्तु सत्याग्रह शब्द पहले कोश मे था ही नही। यह एक नया शब्द है, जिस ने साहित्यिक भण्डार को और भी अधिक सम्पन्न कर दिया है। साहित्य के लिये गाधीजी की यह एक विशेष देन है, इसलिये ऊपर जहा कही उन शब्दो का प्रयोग हुआ है, वहा उन का वही अर्थ ध्यान मे रख कर पढना चाहिये, जो उस समय के लोग समझते थे। बात यह तो है ही नही कि गाधीजी के अन्त करण मे ज्यो ही सत्याग्रह का भाव उठा त्योही उस का नाम सत्याग्रह रख दिया, यह हम पहले कह चुके है। भाव उठने के कई दिन बाद सत्याग्रह नाम पडा, और वह भी तब जब उस के दो-चार दूसरे-दूसरे नाम रखे जा चुके थे। भावार्थ यह है कि यदि हम यह कहे कि सत्याग्रह नाम भी पूर्व नामो का विकसित रूप है, तो कोई हानि न होगी। सत्याग्रह नाम-सस्करण होने तक जितना समय व्यतीत हुआ, उस मे सत्याग्रह भाव का उल्लेख दूसरे नामो द्वारा किया जाता था। उस का एक मूल कारण यह था कि सत्याग्रह-भाव की उत्पत्ति दक्षिण अफ्रिका मे अग्रेजो के कुकृत्यो के कारण हुई। उन से जब सघर्ष उठा, तो स्वाभाविक था कि वे ही उस का कुछ नाम रखते, क्यो कि इतिहास की साक्षी पर यह कहा जा सकता है कि जब-जब किसी सत्ता के विरुद्ध कोई आन्दोलन उठा करता है, तब-तब वही सत्ता उस को कोई तानाकशी का नाम दिया करती है और फिर अक्सर उसी को आन्दोलन पक्ष के लोग भी अपना लेते है। इसके बाद वह सर्वसाधारण मे बडे मजे से चल निकलता है। राजनीतिक नामो की रचना का रहस्योद्‌घाटन इसी मे निहित है।[६८] यही रहस्य सत्याग्रह शब्द की उत्पत्ति के पूर्व हुआ था। जब सन् १८९३ मे दक्षिण अफ्रिका मे पहले-पहल गाधीजी ने नेटाल की राजधानी मेरिट्‌जबर्ग स्टेशन पर अपने प्रति किये गये अन्याय का अपने नये तरीके से प्रतिरोध (resist) किया, तब उस तरीके के प्रतिपक्षी लोग उसे इधर-उधर पैसिव रेजिसटेन्स (Passive resistance—अक्रिय प्रतिरोध) कहने लगे। चूंकि अग्रेजी भाषा मे ही अग्रेजो से वार्तालाप या पत्र-व्यवहार करना पडता था, इसलिये उसी शब्द का इस्तेमाल गाधीजी और उन के अनुयायी न

---

६८ मुझे स्मरण पडता है कि कुछ काल पूर्व इस विषय पर आचार्य कृपलानी का एक सुन्दर लेख उन के पत्र 'विजिल' मे अथवा 'अमृत बाजार पत्रिका' मे निकला था।

केवल अंग्रेजी भाषा ही मे, वरन् अन्य हिन्दुस्थानी भाषाओं मे भी, बोल-चाल मे प्रयोग करने लगे, परन्तु जब यह देखा कि पैसिव रेजिस्टेन्स शब्द के द्वारा गाधीजी का भाव ठीक-ठीक व्यक्त नहीं हो पाता, जैसा कि हम गाधीजी के कथन का उद्धरण देकर पहले कह आये है, तो उन्होने कभी-कभी उस की बजाय 'सिविल डिसओबीडियेन्स' (civil disobedience) शब्द कह कर, और उस की मदद लेकर अपने भाव को समझाना प्रारम्भ किया। यह 'सिविल डिसओबीडिएन्स' शब्द सबसे पहले सन् १८४९ मे अमेरिका के प्रसिद्ध अनारकिस्ट (अराजक) हेनरी डेविड थोरो ने उस समय ईजाद किया था, जब वह अमेरिका-सरकार से गुलाम-प्रथा को मिटा डालने के लिये लड रहा था, जैसा हम पहले कह आये है परन्तु गाधीजी जब दक्षिण अफ्रिका मे अपने अर्थ को समझाने के लिये 'सिविल डिसओबीडिएन्स' का शब्द प्रयोग करते थे, तब उन का मतलब थोरो के द्वारा ईजाद किये हुए 'सिविल डिसओबीडिएन्स' से नही रहता था। थोरो के 'सिविल' (Civil) शब्द के अन्तर्गत दोनो भाव अक्रिय (passive) और सक्रिय (active) रहते थे, अर्थात् वह दोनो अक्रिय और सक्रिय प्रतिरोध का पक्ष समर्थक था, इसलिये थोरो के शब्द का भाषार्थ यदि 'असामरिक आज्ञा-भग' करें, तो कदाचित ठीक हो, क्यो कि 'सिविल' शब्द 'मिलिटरी' (Military सामरिक) शब्द का विपरीतात्मक है। परन्तु गाधीजी का भाव इस से कही अधिक अहिसा की ओर ऊँचा उठा हुआ था। वे केवल अक्रिय भाव को व्यक्त करना चाहते थे। इसलिये वे कभी 'पैसिव रेजिस्टेन्स', कभी 'सिविल डिसओबीडिएन्स', कभी 'पैसिव सिविल डिसओबीडिएन्स', (Passive Civil Disobedience-अक्रिय आज्ञा-भग), कभी 'सिविल रेजिसटेन्स' (Civil resistance-सानुनय प्रतिबध या अक्रिय प्रतिरोध), और कभी अन्य प्रकार से कह कर अपने अहिसात्मक भाव का प्रदर्शन करते थे, परन्तु इतने पर भी जब भाव की पूर्णता नही दर्शाई जा सकी, तब अपनी भाषा मे ही 'सत्याग्रह' शब्द की नई गढना की गई, जैसा पहले कह आये है। सत्याग्रह का विशेष सम्बन्ध अहिसात्मक असहयोग से है, यह आप आगे देखेगे। असहयोग शब्द की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, वह भी आप को आगे बताया जायगा।

सत्याग्रह की दो परिभाषाएँ

साहित्य मे सत्याग्रह शब्द के सम्मिलित होने के पूर्व उस का बहुत कुछ भाव सत्य-पालन, सत्य-धर्म, सत्य-सरक्षण, आदि शब्दो द्वारा व्यक्त किया जाता था। अब जब कि वह साहित्य-कोश मे स्थान पा चुका है, तब अन्य शब्दो के समान उस के भी दो अर्थ हो सकते हैं—एक शब्दार्थ और दूसरा भावार्थ। शब्दार्थ की दृष्टि से यदि

सत्याग्रह की परिभाषा की जाय, तो कहेगे कि 'सत्याग्रह' एक ऐसी साधना है जिसके द्वारा सत्य-धर्म की रक्षा करने के हेतु आग्रह किया जाता है, परन्तु यदि गाधीजी के भाव को सम्मुख रख कर उसकी परिभाषा करे तो कहेगे कि 'सत्याग्रह' एक ऐसी अहिसात्मक वैज्ञानिक साधना है जो स्वपक्ष (subject) और परपक्ष (object) दोनो की आत्मशुद्धि करती हुई उन्हे सत्य-मार्गी बनाती, और फलत सत्य के आधार पर समाजोन्नति मे योग देती है। मूल भाव की दृष्टि से सत्याग्रह शब्द मे यद्यपि अहिसा का भाव ओत-प्रोत है, तथापि प्रत्यक्षत देखने मे उस से यह विदित नही होता कि सत्य का आग्रह केवल अहिसात्मक ही हो—हिसात्मक न हो, और न हो उसमे हिसा-अहिसा का मिश्रण।

हिसात्मक सत्य-पालन सत्याग्रह नहीं

सत्य-मार्गी पूर्वजो के समान गाधी का सिद्धात भी सत्य-सरक्षण है, परन्तु यह सत्य-सरक्षण किस प्रकार किया जाय, इस मे मत-भेद हो जाता है। कई लोग यह कहते है कि नैतिकता की दृष्टि से यदि सत्य की रक्षा के हेतु हिसा भी की जाय, तो कोई हानि नही, परन्तु गाधी-मत मे सत्य और हिसा ये दोनो बाते एक सग नही रह सकती। जोट अगर है, तो सत्य और 'अहिसा' का। यदि लेश-मात्र भी हिसा का मिश्रण हुआ, तो सत्य की बजाय असत्य का ही ग्रहण होगा, जिस से समाजोन्नति मे रुकावट होगी। इसीलिये गाधीजी ने उन सब सत्य-पालन को त्याज्य कहा है, जिनमे किसी भी प्रकार का, किसी भी हद तक बलप्रयोग या आघात किया जाता हो। जो लोग सत्य-समर्थन के नाम पर नैतिकता की दुहाई देते हुए पर-पक्ष पर बल का प्रयोग करते है, वे गाधी-मत मे न तो सत्य-समर्थक ही है और न नैतिक ही। गाधीजी के मतानुसार अपनी बात को दूसरो पर जबरन ठूँसना न्याय नही, और जब वह न्याय नही, तो नीति कैसे हो सकती है, क्यो कि जहाँ नीति है वहाँ न्याय की भावना अवश्य होनी चाहिये। इसमे गाधीजी का तर्क यह है कि कोई भी शरीरधारी अर्थात् अहकार-युक्त मनुष्य इस बात का दावा नही कर सकता कि जो कुछ उसने देखा-समझा है वही विशुद्ध सत्य है, और दूसरे ने जो सोचा-विचारा है वह असत्य है। जब यह निश्चय नही कि दो मे से कौन एक सही है, तो फिर किसी एक को क्या अधिकार कि वह बलपूर्वक अथवा आघात या दु ख पहुँचाकर दूसरे को अपना मत स्वीकार करावे। ऐसा कहना घोर अन्याय है, नैतिकता नही। जब दो पक्षो मे सत्यासत्य का झगडा उठता है, और उसका निर्णय करने वाला कोई तीसरा निष्पक्ष सुहृद नही रहता, तब एक दूसरे पर बल का प्रयोग करने लगता है। तब 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' यह उक्ति चरितार्थ होती दिखती है, और अन्त मे जो कायिक बल मे अधिक

समर्थवान निकल जाता है, वही अपने माथे पर न्याय का तिलक लगा, ईर्षा या द्वेष की भावना से प्रेरित होकर पर-पक्ष वालो पर अनर्थ करने लगता है, हालाकि जन-साधारण की आखो मे धूल झोकने के अभिप्राय से कभी-कभी न्यायालयो के वीच ट्रायल (trial) आदि का ढकोसला भी रच डाला जाता है। इस तरह के पारस्परिक मघर्षो एव ट्रायलो से इतिहास भरा है। गत द्वितीय युद्ध के समाप्त होने पर विजयी शक्तियो के द्वारा मार्शल पेता और टिटो आदि की ट्रायले अभी भी पाठको के स्मृति-पटल पर ताजगी लिए हुए होगी। कभी-कभी उभय पक्ष के सत्या-सत्य का निर्णय करने के लिये एक तीसरा पच स्वीकार कर लिया जाता है, परन्तु तीसरा पक्ष भी पूर्ण निष्पक्ष भाव से जाच करने मे असमर्थ रहता है, क्योकि एक तो वह स्वय मानुषिक त्रुटियो से अर्थात् प्राकृतिक कमजोरियो से पूर्णत वरी नही रहता, और दूसरे वह राजनीतिक दल-वन्दियो के तूफान से भी अछूता नही रह पाता। इसलिये, किसी भी हालत मे यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि एक सत्य है, और दूसरा असत्य। जव ऐसी वात है, तव गाधीजी का कहना है कि यह सम्भव हो सकता है कि हम गलत मार्ग पर हो और दूसरे पक्ष वाले सही मार्ग पर, अत सत्य के नाम पर वल का प्रयोग करना या आघात या दु ख पहुँचाना महा अनीति है।

यह अनीति गाधी-मत मे द्विधार वाली होती है, जो दुतरफा काट करती जाती है। एक ओर तो निर्वल पक्ष को काटती ही है, परन्तु दूसरी ओर वह सवल पक्ष को भी वुरी तरह से कुतरती रहती है। यदि निर्वल पक्ष मे भय, दीनता, हीनता आदि दुर्गुण प्रवेश करते हैं, तो सवल पक्ष मे अभिमान, अनियन्त्रण, आदि पापाचार की वाढ आने लगती है, अत समाज मे सव ओर से क्रमश मानसिक और आध्यात्मिक ग्लानि का प्रसार इस प्रकार होने लगता है, जैसे स्वच्छ आकाश मे वादल की घटा घिर आती है। इस घटा के घिर आने पर सत्य-सूर्य सव की नजर से छिप जाता है। इसीलिये तर्क, ऐतिहासिक प्रमाण, तथा स्वानुभव के आधार पर गाधीजी ने सदा इस नीति का घोर विरोध किया है, जो यह कहती है कि गाहे-वगाहे यदि सत्य के रक्षार्थ हिसा का आश्रय ले लिया जाय, तो अनुचित नही, वल्कि आवश्यक और उचित ही है।

तव फिर प्रश्न उठता है कि जव ससार मे अहकारवश कोई पूर्ण निर्मल सत्य का जानकार नही हो सकता और न कोई किसी पर दवाव डाल कर ही लेशमात्र हिसा कर सकता है, तव नियन्त्रण कैसे हो, और समाज-व्यवस्था कैसे चले ? इस तरह सारा समाज अनियन्त्रित, स्वच्छन्द, और अव्यवस्थित हो उठेगा और अराजकता (Chaos) फैल जायगी। यहाँ गाधीजी का कहना है कि इन्द्रिय और

मन का नियमन करने वाला सयमी योगी सत्य के निकट पहुँच सकता है, और उसका वताया हुआ मार्ग अधिक ग्राह्य होने योग्य होता है, परन्तु इस प्रकार का योगी ज्यो-ज्यो उस सत्य के निकट पहुँचता है, त्यो-त्यो वह अपने आप ही यह सोचने लगता है कि जो कुछ मैंने पहचाना है, वह अभी पूर्णता से बहुत दूर हे। ऐसा विचार आना ही मानो विनम्रता और प्रेम का उत्पादक हो जाता है। अपनी वात को दूसरे पर ठूमने की क्रिया उसे घृणित दिखाई देने लगती है। वह केवल विनम्र प्रेम से अपनी वात का प्रदर्शन और समर्थन करता है, ताकि दूसरे लोग उसे समझ कर खुशी-खुशी उस को ग्रहण करें। ऐसा करने मे यदि इस सयमी योगी को कही से किसी भी प्रकार यह जाँच मे आ जाय, कि उसका वताया हुआ मार्ग गलत है, तो वह उसे फौरन स्वीकार कर लेता है। असत्य के लिये जिद करना उसके स्वभाव मे नही, हालाकि उसकी सत्य-समर्थन की टेक को ही लोग वहुधा जिद कहा करते है, जैसा कि गाधीजी के विषय मे अनेक अवसरो पर लोग कहा करते थे। इस तरह विनम्र प्रेम के आश्रय से, जो शुद्ध अहिंसा का रूप है, गाधीजी समाज की व्यवस्था रचना चाहते है।

किसी वात की कल्पना कर लेना एक वात है और उस कल्पना को व्यवहार मे लाना दूसरी वात होती है। आज जैसा मानव-समाज है, उस मे इने-गिने दो-चार मनुष्यो का विनम्र प्रेम क्या कर सकता है? विना दण्ड के—विना हिंसा के काम चल ही नही सकता। तव गाधीजी का कहना है कि आज के समाज के लिये ही तो सत्याग्रह की साधना वताई गई है। जिस प्रकार दण्ड-नीति मे विश्वास करने वाले समाज को दण्ड के आधार पर व्यवस्थित रखना चाहते है, उसी प्रकार सत्याग विनम्र प्रेम मे विश्वास करने वाले गाधीजी सत्याग्रह के आधार पर समाज को व्यवस्थित रूप से रखने के लिये कहते है। चूंकि चिरकाल से हम समाज को दण्ड के वल पर व्यवस्थित होते देखते आये है, और चूकि प्रेम-वल का प्रयोग हमने पूर्वकाल मे अत्यन्त सीमित क्षेत्र मे देखा है और वह भी कभी फलीभूत तथा अफलीभूत, इसीलिये समाज के विस्तीर्ण क्षेत्र मे दण्ड-विधान की वजाय सत्याङ्ग प्रेम विधान की उपयुक्तता पर हमे सहसा विश्वास नही होता। सत्य और प्रेम मे पर्वत तक को उखाड फेंकने की शक्ति है, यह हम आगे वैज्ञानिक तरीके से यथास्थान पर वतायेंगे। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि गाधी-मत मे समाज-व्यवस्था के हेतु सत्याग्रह-विधि का प्रयोग करना चाहिये। चूंकि इस विधि मे हिंसा को कोई स्थान नही, इसलिये यह जान लेना जरूरी है कि गाधी-मत मे हिंसा किसे कहते है। यह जान लेने के पश्चात् ही हम हिंसात्मक सत्य-पालन और अहिंसात्मक सत्य-पालन के वीच मे रेखा खीच सकेंगे। हिंसा क्या हे, इस के समझने मे लोग वहुधा भूल किया

करते है, और इस भूल के कारण वे सत्य-मार्ग से भी स्वाभावत च्युत हो जाते है।

कौन-सा कार्य हिंसात्मक है, इसकी परीक्षा के लिये तीन बातो पर ध्यान रखना चाहिये—एक तो कार्य करनेवाला, दूसरा जिसके प्रति कार्य किया जाय और तीसरे क्या कार्य किया गया। इसी को हम तीन शब्दो मे कह सकते है, अर्थात् कर्ता (subject), क्रिया (action) और कर्म (object)। हिंसा पर विचार करते समय लोगों का ध्यान इन तीनों के बाह्य स्वरूप अर्थात् कायिक रूप पर रहता है। वे उसके आन्तरिक रूप पर ध्यान देना भूल जाते हैं। शरीर स्पर्श से लेकर शरीरान्त कर डालने की सभी प्रकार की क्रियाएँ हिंसा कहलाती है, इसके जानने मे जन-साधारण को भी कोई कठिनाई उपस्थित नही होती। गाली आदि अपशब्दोच्चार भी हिंसा का कायिक रूप है, क्योंकि वह जीभ का व्यापार है, जा शरीराग होती है। ये कायिक प्रहार देखकर और सुनकर जाने जा सकते ह। परन्तु कुछ प्रहार ऐसे हैं जो कर्त्ता क। भीतर ही भीतर जलाया करते है, जैसे ईर्षा विद्वेष, क्रोध, काम आदि। जब तक ये प्रकट होकर पर-पक्ष पर बाह्य रूप से वार नही करते, तब तक वे इकतरफी धार वाले शस्त्र की भाँति स्वपक्ष ही पर आघात करते है।

गाधी-मत मे हिंसा केवल कायिक नही होती, बल्कि मानसिक भी होती है। गाधीजी शारीरिक हिंसा की अपेक्षा मानसिक हिंसा को समाज के लिये अधिक भयकर और विनाशकारी मानते है। यदि वह न हो, तो शारीरिक हिंसा उत्पन्न ही न हो सके। इसलिये सच पूछा जाय, तो मानसिक हिंसा ही सत्य और अहिंसा को लोप करनेवाला शत्रु है। हमारी समझ मे इसे मानसिक हिंसा न कहकर आन्तरिक या अन्त करणीय हिंसा कहे, तो बेहतर होगा। मानसिक कहने से केवल मन पर विचार दौडता है, और अन्त करणीय कहने से मन-बुद्धि-चित्त-अहकार चारो पर विचार पहुँच जाता है। यदि हम आन्तरिक या अन्त करणीय हिंसा नही कहते, तो शारीरिक और मानसिक हिंसा के अतिरिक्त हमे आत्मिक हिंसा का नाम भी लेना होगा, परन्तु आत्मिक हिंसा कहने से कुछ बेतुकी-सी बात मालूम होती है, क्योंकि एक ओर तो आत्मा को निर्लिप्त दृष्टामात्र कहा जाता है, और दूसरी ओर उसमे हिंसा का आरोपण भी किया जाता है। यह विपरीतात्मक बेतुकापन उस समय निकल जाता है, जब हम जीवात्मा और सर्वव्याप्त आत्मा मे जो भेद माना जाता है, उसे समझ लेते ह। वेदान्त मे जीवात्मा और अखडात्मा मे कोई भेद नही माना गया, अज्ञान ही भेद-भाव को उपस्थित कर देता है। अज्ञान-वश हो, या अन्य और किसी कारण, पर व्यावहारिक दृष्टि से यह सभी जानते है कि जब तक अहकार प्रकृति के वशीभूत रहता है, और उस के फलस्वरूप सुख-दु खादि द्वन्द-फन्द

मे कसा रहता है, तभी तक जीवात्मा मज़ा रहती है। इसी दृष्टि मे आत्म-हिंसा, आत्म-दु ख, आत्म-हनन आदि शब्दों का प्रयोग उपनिषदादि वेदान्त-ग्रन्थो मे भी मिलता है।[६९] आत्मा-सम्बन्धी उपरोक्त प्रकार की विपरीतात्मक भावो की उलझन को बचाने के विचार से ही हम ने बजाय मानसिक और आत्मिक हिंसा के आन्तरिक या अन्त करणीय हिंसा कहना बेहतर समझा था, क्यो कि उस के अन्तर्गत मानसिक और आत्मिक हिंसा दोनो का समावेश इस कारण हो जाता है कि अन्त करण मे एक ओर मन और उसी के प्रकारान्तर बुद्धि और चित्त है, और दूसरी ओर अहकार भी है।

अभी हमने ऊपर यह कहा है कि मानसिक हिंसा जब तक बाह्य कायिक रूपो मे प्रकट नही हो पाती, तब तक वह केवल कर्त्ता पर आघात करती रहती है , परन्तु यह मोटी दृष्टि की बात है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय,तो हर विज्ञानी को यह मानना पडेगा, विशेषकर आज के रेडियो और टेलीविजन के जमाने मे, कि प्रकृति का जितना अधिक सूक्ष्म क्षेत्र या लोक होता है, उतनी ही तेजी से उस मे एक छोर से दूसरे छोर तक गतिया अथवा लहरे (vibrations) चला करती हैं। चूंकि मानसिक और आत्मिक क्षेत्र, जिन्हे हम ने आन्तरिक या अन्त करणीय क्षेत्र कहा है, अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिये यदि उन मे एकभाव कही उठता है, तो वह इन लहरो के द्वारा शीघ्र ही सर्वत्र फैल जाता है। गरज यह है कि यदि कर्ता के मन मे ईर्षा, द्वेषादि, दुर्विचार उठे, तो वह उन्हे अपनी वा दूसरो की समझ मे प्रत्यक्षत दबाकर भले ही रखें, पर यथार्थत यह सब ओर के वातावरण को अन्दर-ही-अन्दर दूषित करता रहता है। यदि दुर्विचार के स्थान मे प्रेमादियुक्त शुभ भावनाएँ उठे, तो उपरोक्त नियम के अनुसार शुभ वातावरण बनता रहता है। सूक्ष्म लोको मे इन चलने वाली लहरो का ज्ञान भारत मे उस समय भी विद्यमान था, जब कि अन्य देशो के लोग जगलो मे पशु-जीवन व्यतीत करते या पाषाण-युग मे रहते थे। खैर, इसे कहने की जरूरत नही है , पर यह तो रोज-मर्रा की बात है कि यदि किसी मनुष्य का आन्तरिक विचार तुम्हारे प्रति खराब या अच्छा होता है, तो तुम्हे उस के ताडने मे विशेष कठिनता नही होती और तुम्हारे मन मे भी तदनुसार उथल-पुथल मच जाती है, क्यो कि तुम उस के निकट हो और कर्त्ता की स्थूलाकृति पर वह विचार झलक भी उठता है, जिसे तुम अपने स्थूल चक्षुओ से देख लेते हो। यही कारण है कि गांधीजी ने आन्तरिक हिंसा को ही अहिंसा का

---

६९ असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृता ।
तान्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजना ।। ईशा० उप० म० ३

घोर शत्रु कहा है। यही कारण है कि वे शरीर-दण्ड या शरीर-वध आदि को व्यर्थ समझते हैं। काया तो जड है। हाथ-पैर आदि चलानेवाला तो आन्तरिक शत्रु रहता है। जब तक उसका नाश न होगा, तब तक अन्याय, पाप और हिंसा का बाह्य स्वरूप बना ही रहेगा और समाजोन्नति न हो सकेगी।

उपरोक्त कथन से यह निश्चय हो जाता है कि आन्तरिक प्रेरणा प्रधान होती है और बाह्य स्वरूप गौण। प्रेरणा की प्रधानता के कारण बाह्य स्वरूप हिंसात्मक प्रतीत होते हुए अहिंसात्मक हो सकता है, और इसके विपरीत अहिंसात्मक प्रतीत होते हुए भी यथार्थत हिंसामय हो सकता है। इसलिये जब कभी यह जानना हो कि कौन-सा कार्य हिंसात्मक है और कौन अहिंसात्मक, तो केवल बाह्य रूप के आधार पर निर्णय नही कर लेना चाहिये। निर्णय पर पहुँचने के पूर्व कर्त्ता, क्रिया और कर्म तीनो पर विचार करना पडता है। कर्त्ता का आन्तरिक प्रयोजन या हेतु (motive) क्या है, यह जानना चाहिये, फिर यह भी देखना चाहिये कि क्या उसका जीवन इतना नियन्त्रित और शुद्ध हो गया है कि वह शुद्ध विचार प्राप्त करने का अधिकारी बन चुका है अर्थात् क्या उसका हेतु विशुद्ध माने जाने योग्य हो गया है, अन्यथा हर-एक ऐरा-गैरा-पचकल्यान उत्तम हेतु की डीग मारता हुआ हिंसा करने का दम भरने लगेगा, जैसा कि लोग बहुधा कहते-करते देखे जाते हैं। सभी आत्म-प्रेरणा अथवा अन्तर्ज्ञान (intuition) की दुहाई देने लगते हैं। साराशत कर्त्ता अधिकारी हो और उसका हेतु विशुद्ध प्रेममय हो, तो उसका कार्य हिंसात्मक दिखाई देने पर भी अहिंसात्मक हो सकता है, जैसे सर्जन के द्वारा रोगी की चीर-फाड अथवा माता-पिता के द्वारा पुत्र-पुत्री की ताडना , परन्तु प्रेमभावमय अधिकारी कर्त्ता यदि किसी ऐसी विधि का प्रयोग करे, जो आवश्यकतानुकूल न हो तो उसका काय हिंसात्मक ही समझा जायगा, जैसे सर्जन आवश्यकता से अधिक आपरेशन कर दे, या माता-पिता आवश्यकता से अधिक ताडना दें। कर्ता और साधन पर विचार कर लेने से ही काम नही चलता। जिसके प्रति कार्य किया जाता है, उस पर भी विचार करना लाजमी होता है। बालक-युवक-वृद्ध अथवा पुरुष-स्त्री सभी के लिये हर बात मे एक समान नियम नही लगाया जा सकता, जैसे सर्जन बालक की चीर-फाड करने मे उन्ही नियमो का पालन नही कर सकता, जो युवा के लिये लागू होते हैं, और माता-पिता जिस ढग से बडे बच्चो को ताडना दे सकते है, उसी ढग से शिशु को नही दे सकते। गरज यह कि हिंसा-अहिंसा की पहचान बडी सावधानी ही से हो सकती है। ऊपर हम ने दृष्टान्त-स्वरूप एक-दो बातें ही बताई है। यथार्थ मे उस के विषय मे अनेक दृष्टिकोणो से परीक्षा करनी पडती है। हर दृष्टिकोण का विवरण देना लेखक या शास्त्रकार के लिये असम्भव

है। वह तो केवल कुछ सामान्य नियमो की चर्चा कर सकता है। बाकी सब कुछ परिस्थितियो के अनुसार कर्त्ता को ही ढूंढना और प्रयोग करना पडता है। इसीलिये कर्त्ता के अधिकृत्य पर विशेष जोर गाधीजी ने दिया है। यदि कर्त्ता अधिकृत है, तो वह सब कुछ भली भाँति सम्हाल कर श्रेय की ओर बढ सकता है , परन्तु कर्त्ता के अधिकार-सम्पन्न होने ही से काम नही चलता। कार्य-रथ को ढुलकाने वाले हेतु (प्रयोजन-motive) मे प्रेमभाव नही हुआ, तो इन्द्रिया और मन उसे लोक-सग्रह की ओर न ले जाकर लोक-विनाश की ओर खीच ले जाया करते है। कर्त्ता के अधिकारीपन मे और हेतु के प्रेमपन मे त्रुटियाँ न होने पर भी यदि करण अर्थात् साधनो मे दोष हुए, तो भी कर्मच्युत होने का पाप कर्त्ता को भोगना पडता है, और उसी के साथ समाज की उन्नति मे भी बाधा पहुँचती है। गाधीजी की कर्म-फिलासफी मे करणो अर्थात् साधनो (means) की उत्तमता की ओर विशेष लक्ष्य रखा गया है, बल्कि यह कहना चाहिये कि उन्होने कर्म-सम्बन्धी धारणाओ मे करणो की दृष्टि से एक नवीन स्फूर्ति भर दी है, जो पहले विद्यमान नही थी। उन्होने देखा कि हेतु (motive or cause) और फल (result or effect) को देखकर ही लोग कर्म की अच्छाई या बुराई आका करते थे—जहाँ देखो वहाँ यही सुनाई पडता था कि अगर परिणाम अच्छा हो, तो साधनो के बुरे होने मे कोई हानि नही। शास्त्र और व्यवहार दोनो मे "परिणाम भला तो साधन भला" (End justifies the means) इस सिद्धान्त का बोलवाला था। नतीजा यह हो रहा था कि राजनीति आदि सभी क्षेत्रो मे पापाचार की भरमार दिखाई दे रही थी। इसलिये गाधी-जी ने इस सिद्धान्त को उलट दिया। उन्होने साधन को प्रधानता दी और फल को गौण बताया। फल मिले या न मिले, और मिले तो चाहे भला हो या बुरा, इसकी परवाह न करके मनुष्य को साधनो की उत्तमता पर लक्ष्य रखना चाहिये, यह गाधीजी का निदान है।

हेतु और साधन के महत्त्व को ध्यान मे रखकर ही हर सभ्य कहलानेवाला देश अपना दण्ड-विधान (Criminal Penal Law) तैयार करता है। इसी के कारण वह इस सिद्धान्त को लेकर चलता है कि "सौ अपराधी भले ही छूट जायें, पर निरपराधी एक भी दण्डित न होने पाये," अमल मे भले ही उसकी अवहेलना की जाती हो। हिंसा को वर्जनीय बताने के लिये गाधी-मत मे इस सिद्धान्त की स्वीकृति तो है ही, पर वह इससे भी एक कदम आगे बढकर कहता है कि मनुष्य अपूर्ण है, अपूर्णता मे सदिग्धता रहती ही है, इसलिये अपूर्ण को अपूर्ण पर हिंसा करने का कोई अधिकार नही। कही ऐसा न हो कि अपूर्णता-वश हम अपनी भूल से किसी निर्दोषी को ही दोषी समझकर दण्ड दे बैठे। इस भय से गाधीजी का मत है कि हिंसा का—दण्ड का

नाम ही क्यो लिया जाय ? सर्वत्र और सदा अहिंसा मार्ग ही क्यो न ग्रहण किया जाय ? इसके सिवाय एक और दूसरा कारण है जिससे गांधीजी ने केवल अहिंसा ही को अपनाया है। वे मनुष्यमात्र को निर्दोष मानते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य तो परिस्थितियो मे सम्कृत्य होता है—प्रथाएँ और पद्धतियाँ ही उसके जीवन का निर्माण करती हैं। इसलिये उसकी काया को दण्ड देने से क्या लाभ ? प्रथाओ को ही उलटना चाहिये। जब तक प्रथाएँ न बदली जायँगी, तब तक हिंसा-द्वारा खून की नदियाँ बहाने अथवा सूलियो पर शरीरो को लटकाने से सिवाय अनर्थ और पाप के क्या प्राप्त हो सकता है ? कुछ लोग यह कहते हैं कि मनुष्य परिस्थितियो को बनाता है, इसलिये परिस्थिति-परिवर्तन उसको दण्ड दिये बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार के लोग भय के द्वारा परिवर्तन कराना चाहते हैं, परन्तु गांधी-मत मे यह बात मान्य नहीं। उनका कहना है कि नियमित जीवन-चर्य्या के बिना पद्धतियाँ नहीं बदली जा सकती। हिंसा अथवा दण्ड के भय-वश वे केवल कुछ समय के लिये दबाई जा सकती है, अत हिंसा निरर्थक सिद्ध होती है। जो निरर्थक हो, उसमे लाभ ही क्या ? यदि लाभ नहीं, तो अहिंसा-साधन ही क्यो न स्वीकार किया जाय ? प्रथाओ-पद्धतियो-परिस्थितियो के दूषित रहने का भार, गांधी-मत मे, समाज के बुद्धिमान-ज्ञानमान वर्ग के ऊपर रहता है। बुद्धिमान-ज्ञानवान् कहलाने वाले यदि कसूरवार हैं, तो भला यह कहा का न्याय कि दूसरो को दण्ड देकर दुख पहुँचाया जाय ? दण्ड और दुख तो उन्हे खुद ही भोगना चाहिये। इसी को गांधी-मत मे और भारतीय धर्मशास्त्रो मे भी तपस्या, त्याग, यज्ञ कहा है, और पृथ्वी को तप-भूमि, त्याग-भूमि अथवा यज्ञ-भूमि। खुद तप कर शुद्ध बनो, दूसरो को मत भूँजो—यह गांधी-मत है।

अहिंसात्मक सत्य-पालन ही सत्याग्रह है

अब हम यह समझ गये कि गांधी-मत मे सत्य-धर्म का पालन केवल विशुद्ध अहिंसा से ही हो सकता है। नैतिकता की ओट मे वह हिंसा के किसी भी अंग द्वारा कलुषित नहीं की जा सकती। अत अब हमे सत्य-पालन के अहिंसात्मक रूपो पर ही दृष्टि सीमित कर लेना चाहिये। यही अहिंसात्मक सत्य-पालन सत्याग्रह के नाम से प्रसिद्ध है।

परिचित युद्ध और सत्याग्रह युद्ध की समताएँ

सत्याग्रह एक प्रकार का युद्ध है, जो शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये किया जाता है, परन्तु जिस प्रकार की युद्ध-विद्या से हम चिरकाल से परिचित चले

आते है, उससे सत्याग्रही युद्ध बिलकुल भिन्न है। फिर भी परिचित युद्ध-विद्या के कुछ नियमो के आधार पर सत्याग्रही युद्ध-विद्या के नियमो को भी आसानी से समझ सकते है। दोनो मे जो समताएँ मिलती है वे ये है —

(१) दोनो शत्रु पर विजय-प्राप्ति के हेतु लडे जाते है।

(२) दोनो के सैनिको को अपने-अपने ढग से शिक्षाग्रहण कर युद्ध-विद्या मे अभ्यस्त होना पडता है।

(३) दोनो मे यथावकाश सामूहिक अथवा व्यक्तिगत रूप से लडाई लडी जाती है।

(४) दोनो मे सेनाधिपति और भिन्न-भिन्न श्रेणियो के सेनापति-उपसेनापति रहते है, जिनकी आज्ञा का पालन करना अनिवार्य होता है।

(५) दोनो मे युद्धावस्था के समय सेनाधिपतियो के आज्ञानुसार युद्ध-क्षेत्र मे अपने प्राणो तक की आहुति दे देने के लिये तत्पर रहना पडता है।

(६) दोनो के सैनिको को शान्तिकाल मे अर्थात् जब युद्ध-काल नही होता, तब सेनानियो के निवासस्थान मे रहकर युद्ध-विशारद होने के लिये तैयारियाँ करनी पडती है। परिचित युद्ध-सेनानियो के स्थान को आजकल बैरक्स (Barracks) कहते हैं, और सत्याग्रही सेनानियो के स्थान को सत्याग्रह आश्रम अथवा केवल आश्रम कहते है।

(७) दोनो मे यौद्धिक नैपुण्य अर्थात् यौद्धिक युक्ति-कौशल (tactics of war) की जरूरत पडती है।

(८) दोनो की सेनाओ और सैनिको मे फौजी अर्थात् कडा अनुशासन (discipline) का रहना अनिवार्य है।

(९) दोनो मे सेना-संगठन की परमावश्यकता रहती है।

(१०) दोनो मे शीघ्र सिद्धि-प्राप्ति के लिये सहायक सेनाओ और जन-सहयोग की जरूरत होती है।

परिचित युद्ध और सत्याग्रह युद्ध की असमताएँ

उपरोक्त नियमो की समताएँ केवल सत्याग्रही सेना ही मे नही रहती, बल्कि अन्य सभी ऐसे जन-समूहो मे रखनी पडती हैं, जो सामूहिक रूप से किसी विरोधिनी शक्ति के प्रति जूझना चाहते है। उदाहरण के लिये मार्क्सवादियो की श्रमिक सेना को ही लीजिये। वे भी पूंजीपतियो के मोर्चो को तोडने और उन के दल को विनाश करने के लिये इन्ही नियमो का पालन करना आवश्यक समझते है, परन्तु जितना नैपुण्य और नियमित शासन गाधी के सत्याग्रह युद्ध मे होना चाहिये, उतना किसी और युद्ध मे न हो, तो भी काम चल जाता है। इस का मूल कारण यह है कि

सत्याग्रही युद्ध कायिक क्षेत्रीय नहीं है, जैसे कि अन्य युद्ध हुआ करते है। यह मानी हुई बात है कि सद्धर्म-क्षेत्रीय संघर्ष देखने-सुनने में तो सुगम प्रतीत होते हैं, पर यथार्थ मे अत्यन्त कठिन हुआ करते हैं। इसलिये उपरोक्त नियमो मे प्रत्यक्ष समताओ के रहते हुए भी सत्याग्रही युद्ध परिचित युद्ध से इतना भिन्न है कि यदि कहा जाय कि दोनो के बीच ध्रुवान्तर है, तो अनुचित न होगा। समताओ को तो लेकर गांधी-जी सत्याग्रही नियमो की सुदृढता पर लोगो का ध्यान आकर्षित करते थे। वे जानते थे कि युद्ध-क्षेत्र मे सत्याग्रही युद्ध एक नवीन ढग का युद्ध है और उसकी सेना भी एक नये प्रकार की है। उन्हें मालूम था कि उसकी रहस्यमयी विशिष्टताओं की अन-भिज्ञता के कारण लोगो का विश्वास उसकी उपयोगिता मे नही जमता था। इसलिये परिचित घटनाओ के दृष्टान्तो को देना गांधीजी के लिये आवश्यक होता था, ताकि लोगो का विश्वास जमाया जा सके। अत अब हम देखेंगे कि उन्ही बातो के सम्बन्ध मे, जिनके विषय मे समताएँ बताई गई है, सत्याग्रह और प्रचलित युद्ध के बीच विषमताओ की एक बडी भारी खाई है। वे पूर्वोक्त क्रमानुसार इस प्रकार हैं —

(१) **सत्याग्रही युद्ध का ध्येय**—यद्यपि शत्रु पर विजय प्राप्त करना दोनो का ध्येय रहता है, तथापि शत्रु दोनो के एक से नही होते। परिचित युद्ध मे मनुष्य की काया को शत्रु कहते हैं, पर सत्याग्रह युद्ध मे काया को निर्दोष मानते हैं। इसलिये सत्याग्रही सेना मनुष्य शरीर पर वार करना पाप समझती है। एक का ध्येय मनुष्य-वध है, तो दूसरे का मनुष्य-रक्षा। एक विरोधी पर शस्त्रास्त्र का प्रहार करना वीरता समझता है, तो दूसरा शस्त्रास्त्र प्रहारो को कायरता बताता है—वह शस्त्रास्त्र रखना तक घृणित कार्य मानता है। एक शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये छल-बल-कल तीनो प्रयोगो को बौद्धिक न्याय कहकर अपनाने मे हर्ष प्रकट करता है, तो दूसरा उनका प्रयोग करना तो दूर रहा, उनको स्वप्न मे भी नही देख सकता—छल-छद्म मे उसकी रूह कॉप जाती है, क्यो कि उसका मार्ग कपटमय नही, प्रेममय सीधा-सच्चा रहता है। एक येन-केन प्रकारेण फलाशा से बँधा रहता है, तो दूसरा फलाशा से मुक्त रहकर साधनाओ पर लक्ष्य रखता है। वह जानता है कि फल का मिलना न मिलना उसके हाथ की बात नही होती। फल-प्राप्ति अनेक परिस्थितियो एव घटनाओ के सयोग पर निर्भर रहती है, जिन सब को करना मनुष्य के लिये असम्भव होता है। कुछ ऐसी अपूर्व घटनाएँ अकस्मात् हो पडती हैं कि जिन के विषय मे न तो मनुष्य को कभी विचार आता और न उनके सम्बन्ध मे वह कुछ कर ही सकता है। ऐसी घटनाओ को दैवी घटनाएँ कहते हैं। इन दैवी घटनाओ का भी हाथ फल-प्राप्ति मे रहता है। ऐसी दशा मे फल की रस्सी से आत्म-बन्धन कर लेना मानो कार्य-सिद्धि की मूल-कारण मानसिक एव बौद्धिक शक्ति को एकाग्रता से च्युत कर देना होता

है, जिसके परिणामस्वरूप वह फल ही नही मिल पाता। अत सत्याग्रही का एकमात्र व्रत रहता हे कर्म करते जाना, क्यो कि उस का अधिकार कर्म करने पर ही चलता है। (कर्मण्येवाधिकारस्ते)[70] फल पर उसका कोई अधिकार नही रहता। (माफलेषु-कदाचन)[71] अर्थात् फल पर उसका कोई वश नही चलता। उसका वश चलता है साधनो पर। साधनो को वह जैसा चाहे वैसा बना सकता है। यदि वह अच्छे साधनो का प्रयोग करता है, तो सब कुछ भर पाता हे, चाहे लक्ष्य-सिद्धि हो या न हो। इसी कारण गाधीजी ने प्रचलित 'सिद्धान्त' "फल भला तो साधन भला" को उलट दिया और उसकी बजाय "साधन भला तो फल भला" (means justify the end) निदान सिद्ध किया। इसका यह प्रयोजन नही कि गाधी-मत मे शुभाशुभ फल पर विचार ही नही किया जाता। यदि ऐसा है, तो आप कहेगे कि उसे अराजकता या पागलपन के अजायबघर के एक कोने मे पटक देना चाहिये, पर बात ऐसी नही है कि फल पर विचार किये बिना ही गाधी-मत एकदम साधनाओ की बात करने लगता है। सच पूछा जाय तो गाधी-जैसे योग-युक्तात्मा ही भविष्य पर विचार करने मे सिद्धहस्त होते है। वे लोग ही खूब सोच-विचार के बाद किसी निर्णय पर पहुँचते हैं। यह निर्णय ही उन्हे फलरूप दिखाई देने लगता हे। एक बार जब वे उस फल का निर्धारण कर लेते हे, तब वे बार-बार उसी की चिन्ता मे रत नही रहते। फिर तो वे अपना ध्यान साधनो मे लगाते रहते हैं, क्योकि वे जानते है कि यदि कोई दैवी घटना बाधक न होगी, तो उपयुक्त साधनाओ के द्वारा पूर्व मे निर्धारित फल मिलेगा ही। गाधीजी ने स्वय कहा है कि "साधन बीज के समान होते हे और परिणाम वृक्ष के समान, और जिस प्रकार बीज-वृक्ष का सम्बन्ध अमिट रहता हे, उसी प्रकार साधन-परिणाम का भी रहता है।"[72] बीज-वृक्ष का सम्बन्ध न कह कर आप चाहे, तो बीज-फल का सम्बन्ध ही कह सकते हैं। साधनो का महत्त्व इसमे है कि उनमे विश्वास करने वाले कभी निराश नही होते। दूसरे शब्दो मे, साधन-वाद आशा-वाद को पल्लवित करता है, और परिणाम-वाद निराशा-वाद को। साधन-वादी यह जानता है कि उसके कोई भी कार्य निरर्थक नही जाते—वह जानता हे कि उसकी हर साधना, यदि विधिवत हे, तो कभी-न-कभी सास्कृत्य रूप मे अवश्य प्रकट होगी, क्यो कि बौद्धिक क्रम का कभी नाश नही होता (नेहाभिक्रमनाशोस्ति)[73]। इस आशा से पूर्ण वह अकर्मण्य कभी नही होता, परन्तु फलाशा मे फसा हुआ व्यक्ति-

---

७०-७१ गीता २।४७

७२ हिन्द स्वराज, पृष्ठ ६०

७३ गीता २।४०

फल न मिलने की हालत में, व्याकुलतावश बहुधा हतोत्साह, आलसी और निकम्मा बन बैठता है। देखिये गांधीजी कहते हैं कि "मैंने यह भी अनुभव किया है कि जहां सत्य की चाह और उपासना है, वहां परिणाम चाहे हमारी धारणा के अनुसार न निकले, कुछ और ही निकले, परन्तु वह अकुशल—बुरा—नहीं होता और कभीकभी तो आशा (फलाशा) से भी अधिक अच्छा हो जाता है।"[७४] सत्याग्रह यथार्थतः बौद्धिक शुद्धता प्राप्त करने का मार्ग है। इस मार्ग में सत्याग्रही को दो प्रकार की विरोधिनी शक्तियों का मुकाबला करना पड़ता है। एक तो, उसकी आन्तरिक आसुरी प्रवृत्तियों का, और दूसरे समाज में प्रचलित विनाशकारी प्रथाओं और पद्धतियों का। यही दो शत्रु हैं, जिन पर एक ही साथ विजय प्राप्त करने के लिये उसे सत्याग्रही युद्ध करना पड़ता है। उसका यह दुतरफा युद्ध जीवन-पर्यन्त चलता रहता है। निरन्तर चलते रहने पर भी वह समाज के द्रव्य-कोष पर लेश-मात्र भाररूप नहीं रहता। परिचित युद्ध इसके विपरीत इकतरफा होता है, यानी किसी बाहरी शत्रु से लड़ना पड़ता है। यद्यपि वह क्वचित लड़ा जाता है, पर सेना सदा पाली जाती है। जनता की गाढ़ी कमाई का पैसा टैक्सों के रूप में पम्प किया या खींचा जाता है और वह इस निठल्ली सेना पर लगातार नल-धार के समान बहाया जाता है, अतः परिचित युद्ध और सत्याग्रह युद्ध के ध्येय और साधन दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर विद्यमान है।

(२) **सत्याग्रही सैनिकों का शिक्षण और अभ्यास**—जिस प्रकार युद्धप्रवीण होने के लिये फौजी सिपाहियों को फौजी शिक्षा दी जाती है और उन्हें युद्ध-कला में अभ्यस्त होना पड़ता है, उसी प्रकार सत्याग्रह में भाग लेने वाले सैनिकों को भी सत्याग्रह-क्षेत्र के लिये उपयुक्त शिक्षण प्राप्त करना पड़ता है और तदनुसार आचरण भी करते रहना पड़ता है, ताकि संघर्ष के समय सत्याग्रही नियमों का पालन करने में कोई त्रुटि न हो। सत्याग्रही सैनिक की शिक्षा बड़ी सरल मालूम पड़ती है, यहाँ तक कि कुछ लोग यही समझने लगते हैं कि सत्याग्रही सैनिक बनने के लिये न किसी खास शिक्षा की जरूरत होती है और न किन्हीं आचारों में अभ्यस्त होने की। वे समझते हैं कि कोई भी मनुष्य युद्ध-काल ही में सत्याग्रही सेना में दाखिल होने का अधिकारी हो सकता है, परन्तु यह भूल है। फौजी सिपाही तो चार-छै माह की शिक्षा ही में युद्ध मैदान में भेजा जा सकता है, परन्तु सत्याग्रही सिपाही को सच पूछा जाय तो, कई वर्षों—नहीं कई जन्मों—तक तपस्या, त्यागादि करना पड़ता है, तब कहीं वह योग्य सैनिक बनने का अधिकारी होता है। उनकी शिक्षा केवल

---

७४ आत्म-कथा, खंड २, पृष्ठ ११७ (कोष्ठक में मेरा है)

अब प्राय पारस्परिक खेल (Sports) के रूप मे हुआ करते है, परन्तु सामूहिक युद्ध के समय भी कभी-कभी ऐसे मौके आ जाते है, जब सैनिको को युद्ध-क्षेत्र मे परस्पर द्वन्द्व युद्ध (hand-to-hand fight) पर उतारू हो जाना पडता है। कभी किसी दूसरे समय पर ऐसा भी होता है कि जब सामूहिक सेना की शक्ति शिथिल या विचलित हो जाती है, तब इकले-दुकले सैनिक ही शत्रुओ की शक्ति को क्षति पहुँचाने मे भिड जाते है और शत्रुओ को परेशान कर डालते हैं। इस प्रकार की लडाई को आजकल के युद्ध-शास्त्र मे 'गुरेला वार' (guerilla war) या छापा-मार लडाई कहते है। साराश यह है कि व्यक्तिगत शारीरिक युद्ध होने के दो कारण होते है। एक कारण तो व्यक्तिगत ही रहता है अर्थात् योद्धाओ का आपसी मन-मुटाव या झगडा। दूसरा कारण रहता है सामुदायिक, अर्थात् सामुदायिक प्रयोजन के हेतु आवश्यकतानुसार द्वन्द्व-युद्ध या छापा-मार लडाई करना। जब व्यक्तिगत युद्ध होता है, तब सैनिक को आज्ञा देने वाला या युद्ध-निर्देशक कोई दूसरा अधिकारी नही रहता। उस समय वह स्वय सैनिक और सेनापति दोनो का काम एक साथ करता है। मतलब यह कि वह अपनी स्वकीय बुद्धि का प्रयोग कर हित-साधना करने मे सलग्न हो जाता है, परन्तु जब युद्ध सामुदायिक रूप मे चलता है, तब सेनापति आदि अधिकारी वर्ग युद्ध-क्रियाओ को अपने निर्देशानुसार जारी रखते हैं।

सत्याग्रह की क्रियाएँ भी व्यक्तिगत और सामूहिक रहती है। जब कभी दो व्यक्तियो के बीच अथवा किसी सस्था या गुट और व्यक्ति के बीच कोई सैद्धान्तिक मतभेद हो जाता है, तब वह व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार अहिंसात्मक साधन या साधनो का आश्रय लेकर विरोधियो से भिड पडता है। ऐसे समय पर वह धरना, उपवास आदि साधनाओ का प्रयोग करने लगता है। व्यक्तिगत सत्याग्रह की आवश्यकता उस समय भी आ पडती है, जब सामुदायिक हित-साधना के हेतु सामुदायिक सत्याग्रह चलाने मे रोडे अटक जाते है, उदाहरणार्थ—ऐसे समय पर जब अधिनायक या नायक सत्याग्रह के मध्यकाल मे मर जाय, गिरफ्तार हो जाय, जेल या अन्यत्र भेज दिया जाय, या किसी दूसरे ढग से सत्याग्रही सेना का सम्पर्क उससे तोड दिया जाय, तब हर सत्याग्रही को सत्याग्रह का कार्य-क्रम जारी रखने के लिये आत्म-स्वातन्त्र्य हो जाता है। सन् १९४२ की परिस्थितियो मे जब कि गाधीजी ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध बम्बई मे काग्रेस की अखिल भारतीय समिति मे "करो या मरो" (Do or die) का घोष किया, तब उन्हे यह विश्वास हो चुका था कि शिखर के सभी नेताओ को सरकार फौरन गिरफ्तार कर लेगी, जिसके फलस्वरूप सत्याग्रह युद्ध ही न हो सकेगा, और यदि किसी प्रकार प्रारम्भ हुआ भी,

तो शीघ्र ही समाप्त हो जायगा। इसलिये उन्होने व्यक्तिगत रूप से ही सत्याग्रह जारी रखने का आदेश अपनी गिरफ्तारी के पहले से दे रखा था। वह जन-हित के लिये व्यक्तिगत सत्याग्रह का ऐतिहासिक प्रमाण है, जो भविष्य मे सुवर्णाक्षरो मे व्यक्त किये जाने योग्य है। यदि व्यक्तिगत सत्याग्रह न चलाया गया होता, तो न जाने भारत स्वतन्त्र होता या नही, और होता तो कब ? उसी की बदौलत ब्रिटिश सरकार को झुक जाना पडा और विना खन की नदियो के वहे भारत परतन्त्रता से मुक्त हो सका।

(४) **सत्याग्रह नायक और अधिनायक**—सत्याग्रही विधान को सुचारु रूप और सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिये नायको और अधिनायको की उसी प्रकार जरूरत होती है, जिस प्रकार परिचित सेना के सेनापति और अधिपति हुआ करते है। सत्याग्रह-विज्ञान अभी उतना व्यापक नही हो पाया है, जितना युद्ध-विज्ञान है। यह भी नही कहा जा सकता कि उसकी वैज्ञानिक विधि उतनी ही परिपक्व हो चुकी है, जितनी परिचित युद्ध की है। यह कोई आश्चर्यजनक बात नही है, और न इससे यह सिद्ध होता कि सत्याग्रह-सग्राम-विधि परिचित सग्राम-विधि से निम्नस्तर की है। सत्याग्रह-विधि का जन्म हुए अभी पचास वर्ष ही पूरे नही हुए, जब कि परिचित युद्ध-विधि ऐतिहासिक काल और पौराणिक काल से भी प्राचीन है। ऐसी दशा मे वहुत सम्भव है कि भविष्य मे यदि वह (सत्याग्रह-युद्ध) जीवित रहा, तो एक ओर तो वह ससार मे विस्तृत रूप से वर्त्ता जाने लगेगा, और दूसरी ओर उसकी शब्द-रचना (technical words) मे और भी अधिक विशिष्टता तथा पद्धति मे और भी अधिक वैज्ञानिकता आयेगी। अभी तक उसके जन्म-दाता गाधी ही उसके अधिनायक रहे। उन्ही के नेतृत्व मे उसका प्रयोग केवल दक्षिण-अफ्रीका और हिन्दुस्थान मे हुआ है। हिन्दुस्थान उन्हे ऐसी प्रयोग-शाला मिली थी, जहाँ पर उन्हे अनेक प्रकार की साधनाएँ करने का योग प्राप्त था। उन्होने सत्याग्रह द्वारा सामाजिक कुरीतियो, राजनैतिक छल-छद्मो एव महा-विशाल ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति जो अद्वितीय सफलता प्राप्त की है, उससे सत्याग्रह की शाब्दिक और आचारम्यी विशिष्टताएँ अभी भी प्रकट हो चुकी है। इसके अतिरिक्त यदि नियम-वद्ध सिद्धान्तो की दृष्टि से देखा जाय, तो यह कहने मे कोई सकोच नही होता कि उसमे तत्त्व-ज्ञान के सिवाय वैज्ञानिक तरीका भी सिद्ध है। गाधी की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्य विनोवा भावे की वर्तमान प्रसिद्ध भूदान-यज्ञ के हेतु देश-व्यापी पैदल यात्रा भी वहुत महत्त्वपूर्ण है, हाला कि उसे गाधी के सामूहिक ट्रान्सवाल-मार्च और डन्डी-मार्च की एक वैयक्तिक दूसरे ढग की प्रतिमा ही समझना चाहिये। गाधी और भावे जैसी सर्वत्यागी, तपस्वी, योगयुक्तात्माएँ ही सत्याग्रह

की अधिनायकी करने योग्य हो सकती है। उनकी आज्ञा-पालन करने मे अकल्याण नही हो सकता, क्योकि साधु पुरुषो का स्वभाव, तुलसीदासजी के शब्दो मे, सफेद कपास के समान हुआ करता है, जो परार्थ के हेतु उटने, कतने, बुनने आदि सभी प्रकार के कष्टो को सहने ही मे आनन्द मानता है , परन्तु अधिनायक की मौजूदगी सर्वदा और सर्वत्र नही रहती, इसलिये अपने मे जो अधिक सयमी, श्रेष्ठ, सत्याग्रह-विज्ञ हो, उसी की आज्ञा मान कर चलना सत्याग्रही सैनिक का कर्त्तव्य हो जाता है , अन्यथा उसे स्वय ही अपने विवेक गुरु की शरण मे जाकर उसी की आज्ञा मानते हुए सत्य-मार्ग पर डटे रहना चाहिये ।

सत्याग्रह जीवित रहेगा और दुनिया मे फैलेगा, ऐसा हमे प्रतीत होता है। इस समय का सर्वत्र व्याप्त असत्यमय जीवन सत्याग्रह के लिये उपयुक्त सयोग मिला है। परन्तु अभी इस का प्रचार दक्षिण अफ्रीका और हिन्दुस्थान को छोड अन्य देशो मे नही के बराबर है। इसका मूल कारण है नायको की कमी। अहिंसा-प्रेमी और शान्ति के उपासको पर इसका उत्तरदायित्व है । इस पर यथास्थान आगे कहेगे। यहाँ केवल यही कहना पर्याप्त है कि अधिनायक या नायक न हो, तो भी विवेक-नायक हर जनसेवक के साथ रहता है। परिस्थितियो के अनुसार नायको की अनुपस्थिति मे उसी का आज्ञा-पालन किया जाय, तो जग-कल्याण हो सकता है।

यह ठीक है कि हर सत्याग्रही को इतना आत्म-नियत्रक होना चाहिये कि वह स्वय ही अपना नायक बन सके, परन्तु जब सत्याग्रह को सामूहिक रूप मे चलाने की आवश्यकता होती है, तब न तो यह ही सम्भव हो सकता है कि सभी इतने अधिक आत्म-नियत्रित पाये जा सके और यदि इतने अधिक नियत्रित हो भी, तो सभी को अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग अलापने का अधिकार नही दिया जा सकता। सामूहिक युद्ध मे यह तो निर्विवाद रूप मे माना जाता है कि एक ही नायक होता है, और दूसरे केवल उसकी आज्ञा के प्रतिपालक सैनिक। हर एक योग्य होने पर भी नायकी नही कर सकता। जिस प्रकार हिंसात्मक युद्ध मे सेना-नायक का हुक्म बिना चूं किये मानना आवश्यक होता है, उसी प्रकार—नही, उससे भी अधिक—सत्याग्रही युद्ध मे भी नायक की आज्ञा-पालन की आवश्यकता पडती है। चूंकि सत्याग्रह एक नवीन युद्ध-कला है, इसलिये इस की नायकी करनेवाले पर विशेष जिम्मेदारी रहती है। यदि नायक ने भूलें की, तो कुपरिणामो को देखकर लोगो की दिल-जमई उसमे न हो सकेगी और अन्त मे सत्याग्रही-शस्त्र पर से उनका विश्वास उठ जायगा। गाधीजी के सम्मुख यह प्रश्न था कि रक्त-प्रवाही अथवा अन्य सभी प्रकार के हिंसात्मक युद्धो की पद्धति को निकाल बाहर कर सत्याग्रह-युद्ध-पद्धति का चलाया जाय। इसलिये वे उसकी नायकी बडी सतर्कता से करते थे, और कहते थे कि उसके

नायक को विशिष्ट गुणसम्पन्न होना चाहिये। उनका कहना है कि "युद्ध-प्रवाह किम साचे मे ढले, इसके विषय मे सत्याग्रही नायक को वडा दूरदर्शी होना चाहिये। उसे परिस्थितियो की जाच-पडताल वडी निपुणता से करनी चाहिये, परन्तु जव निर्देश (direction) की वात हो, तव उसका निर्णय उसे खुद ही करके उसका पालन वडी चतुरता और दृढता के साथ करना चाहिये।

"यदि हम भेडिया-धसान को दूर रखना और देश की व्यवस्थित प्रगति चाहते है, तो जो जन-नेतृत्व का दावा करते हैं, उन्हे जन-समूह के अनुगमन मे निश्चय ही दृढतापूर्वक इन्कार कर देना चाहिये। मेरा विश्वास तो यह है कि केवल अपने मत का आग्रह करके सामूहिक मत के सम्मुख झुक जाना काफी है, वल्कि जहाँ महत्त्वपूर्ण गभीर मामला हो, वहाँ ऐसे सामहिक जन-मत के—जो उनकी तर्क-युक्ति को उचित न जंचे—विपरीत ही करना चाहिये।"[७५]

"ऐसा नेता वेकार है, जो अपनी विवेक-प्रेरणाओ की अवहेलना करके कार्य करता है, क्योकि वह निश्चय ही सव प्रकार के विचार वाले व्यक्तियो से घिरा हुआ रहता है। यदि उसमे अन्तरात्मा की आवाज नही है, जो उसे दृढ रखे और उसका मार्ग-प्रदर्शन करती रहे, तो वह लगर-विहीन जहाज के समान चाहे जहाँ वहता रहेगा।"[७६]

तव तो आप कहेगे कि गाधी भी तानाशाही मे विश्वास करते थे। जनतन्त्र मे तो वहुमत की ही मान्यता होनी चाहिये। जनमत की अवहेलना करने के कारण उस मे और हिटलर के नाजीइज्म, मुसोलिनी के फेसिज्म, मार्क्स की डिक्टेटरशिप मे क्या भेद है? भेद है, प्रधानत दो वातो मे—एक मे हिसात्मक वल का आधार है, तप-त्याग-रहित अशुद्ध आत्म-प्रेरणा है, तो दूसरे मे तप-त्याग द्वारा निखरी हुई शुद्ध आत्म-प्रेरणा तथा अहिंसात्मक सेवा-भाव, जिसकी कसौटी निज आत्मा ही होती है।

(५) सत्याग्रही सैनिक की प्राणाहुति के लिये तत्परता—इतिहास के जानने वालो को यह भलीभाँति विदित रहता है कि हर सैनिक को हर समय अपने सेनापति की आज्ञा विना किसी उजर या हिचकिचाहट के मानना पडती है। यदि इस मे लेशमात्र भी उजर हुआ, तो आज्ञा-भग करनेवाला फौजी कानून के अनुसार दण्डनीय

---

७५ Studies in Gandhism p 152 (Citations from Young India,)

७६ Young India, 1922, p 112 (Cited in Studies in Gandhism p. 153)

होता है। आज्ञापालन के नियम की रक्षा युद्ध-काल मे बडी सख्ती से की जाती है। युद्ध-काल बडे उत्तरदायित्व और सकट का समय होता है। इसलिये अनाज्ञाकारी सैनिको को दण्ड देने के लिये सेनापतियो को यहाँ तक विशेषाधिकार रहते है कि वे फौजी कानून (Martial law) के अनुसार फौरन मृत्यु दण्ड तक दे सकते हैं। आज्ञा-पालन का जो महत्त्व परिचित सेनाओ मे रहता है, उससे कही अधिक सत्याग्रही मे होना आवश्यक होता है, परन्तु दोनो की क्रियाओ और भावो मे अन्तर रहता है। एक के आज्ञा-पालन के पीछे भय, हिंसा और घृणा रहती है, परन्तु दूसरे के आज्ञा-पालन के पीछे अभय, अहिंसा और प्रेम रहा करते हैं। सत्याग्रही सैनिक जब भरती किया जाता है, तब न तो उसे कोई वेतन दिया जाता है, और न किसी दूसरे प्रकार का अथवा जीवन-निर्वाह का प्रलोभन या आश्वासन ही दिया जाता है। हिन्दुस्तान मे सत्याग्रह के प्रारम्भ-काल मे कुछ सत्याग्रही सैनिक यह आशा बाधने लगे थे कि उनके जेल जाने पर अथवा अन्य शारीरिक कष्ट आने पर उनके आश्रितो के लिये सत्याग्रह सस्था अथवा उस सस्था के हिमायती परवरिश का प्रबन्ध करें। इस भावना को गाधीजी ने पनपने का मौका नही दिया। उन्होंने उसे अकुरित होते ही कुतर दिया। मुझे स्मरण है, उन्होंने यह ऐलान कर दिया था कि किसी भी ऐसे आदमी को सत्याग्रह-युद्ध मे सैनिक बनने को आगे नही आना चाहिये, जिस की गृह-सम्बन्धी आर्थिक परिस्थितियाँ उस के आडे आती हो। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वही मनुष्य सत्याग्रही सैनिक होने योग्य होता है, जिसके हृदय मे सत्य-अहिंसा-प्रेम की ऐसी प्रचण्ड भावना उठ खडी हो कि उसके सामने घर-परिवार क्या, सर्वस्व मिट्टी-जैसा ढेला बन गया हो। जो सदा प्राणाहुति देने के लिये तत्पर हो वही सैनिक बने, यह गाधीजी ने खुलासा कर दिया। उनका साफ कहना था कि सत्याग्रह की विजय के लिये मुझे सैनिको की सख्या की जरूरत नही। यदि आवश्यक गुणान्वित सैनिक थोडे ही हो, तो अधिक लाभदायक होगा, अन्यथा मैं अकेला ही उसे चलाऊँगा। इसलिये सत्याग्रही सैनिक अपने नायक के आदेशानुसार अथवा यह कहो, अपने विवेक-नायक के आज्ञानुसार सत्य-सेवा के हेतु अपने प्राण तक न्योछावर कर डालता है। उसके सामने न अपनी रोजी खोने का डर रहता है, न कुटुम्बियो के भूखो मर जाने का, और न अपनी काया पर ही आघात होने का। सत्य के वशीभूत, प्रेम का भूखा, वह हसता-खेलता प्राणाहुति दे डालता है, परन्तु भावनाओ का भी विकास होता है। विपरीत भावनाओ वाले समाज मे उक्त भावनाओयुक्त सत्याग्रही बनना कोई नानी-दादी का खेल नही था। हर सग्राम मे तूफानी जोश के समय सैनिक के मन से प्राण-मोह का निकल जाना सहज होता है, परन्तु कुटुम्ब-मोह और रोजी के सवाल का भूल

जाना अपने जीते जी हर एक के लिये, चाहे वह सैनिक हो या अन्य कोई नागरिक, असम्भव नही तो बहुत ही कठिन अवश्य होता है। हिन्दुस्थान मे सत्याग्रही सैनिको के लिये गाधीजी ने जो उपरोक्त ऐलान किया था, वह नियम दक्षिण-अफ्रीका मे सत्याग्रह के प्रारम्भकाल मे लागू नही था। पाठको को स्मरण होगा कि पहला सामूहिक सत्याग्रह सन् १९०६ मे दक्षिण-अफ्रीका मे हुआ था। उस समय यह होता था कि जो सत्याग्रही जेल जाते थे, उनके आश्रितो का उनके जेल-काल तक पालन-पोषण का भार सत्याग्रह-सस्था पर रहता था। इसलिये उनके कुटुम्ब को आवश्यकतानुसार मासिक नगद रकम भत्ते (allowance) के रूप मे दी जाया करती थी। यह प्रथा सन् १९१० तक चली। उस समय यह बात महसूस की गई कि सत्याग्रह सग्राम के विस्तारानुसार सत्याग्रही सैनिको की सख्या बढना स्वाभाविक था, और इसलिये उन सब के कुटुम्बो का पालन करने का भार भी जन-कोष पर बढना नही रोका जा सकता था। फिर एक यह भी कठिनता थी, जेल जाने के लिए सदा तत्पर रहने वाला सत्याग्रही कभी जेल मे रहता है, तो कभी बाहर। जब वह जेल मे मुक्त रहे तब उसे यह कहना कि तुम अपना तथा अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण किसी जीविका को ढूंढकर करो, और जब जनसेवा की माग आये, तो फिर उस जीविका को छोड सत्याग्रह-मैदान मे आ जाओ, बडी अन्यायपूर्ण, बेतुकी बात होती है। ऐसे अस्थिर काल के लिये कौन किसे जीविका का आसरा दे सकने को तैयार हो सकता है। तब यह निश्चय किया गया कि समस्त सत्याग्रहियो और उनके कुटुम्बो को एक स्थान पर सहयोगिता के आधार पर जीवन-सगठन करना चाहिये, ताकि जेल-यात्री की अनुपस्थिति मे उसके कुटुम्ब को अपने पालन-पोषण के लिये किसी दूसरे का मुंह न ताकना पडे। इसी अभिप्राय को लेकर दक्षिण-अफ्रीका के जोहान्सबर्ग मे टालसटाय फार्म की स्थापना हुई, जहां पर हर कौम के पुरुष-स्त्री परस्पर मेल-जोल और स्वावलम्बन के आधार पर जीविका-निर्वाह करते थे, परन्तु जब हिन्दुस्थान मे सत्याग्रह की बारी आई, तब यह देखा गया कि यहां सत्याग्रह के विस्तार और अवधि दोनो नही आके जा सकते थे। ऐसी हालत मे यद्यपि यह तो आवश्यक प्रतीत हुआ कि सत्याग्रही सेना-नायको को परिपक्व करने के लिये सत्याग्रह आश्रम की स्थापना तो की जाय, पर सत्याग्रही जेल-यात्री वे लोग ही बने, जिन्हे कुटुम्ब-पालन का बोझ कर्त्तव्य-पथ से विचलित न कर सके और जो एकमात्र सेवा-भाव से प्रेरित होकर सर्वत्याग करने को उतारू हो। इससे यह विदित हो जाता है कि गाधीजी की उपरोक्त घोषणा सहसा नही की गई। वह मूल भावना का विकासमय बाह्यरूप था, जो आवश्यकताओ के गर्भ से उत्पन्न होता गया।

(६) सत्याग्रही आश्रम—भारतवर्ष मे आश्रम की प्रथा बहुत प्राचीन है। साधारणत आश्रम का अर्थ व्यवस्था हुआ करता है। एक मत के लोगों के वास-स्थान को आश्रम कहते है। वहाँ पर उन लोगो के भोजन, ठहरने, विद्याध्ययन, प्रवचन तथा वार्ता आदि का प्रबन्ध रहता है। ऐसे व्यवस्थित स्थान का नाम आश्रम रखा जाता था, परन्तु व्यवस्थित स्थान के अतिरिक्त सामाजिक, वैयक्तिक जीवन के व्यवस्थित विभागो को भी भारतीय शास्त्रो मे आश्रम कहा जाता है, जैसे—सेवाश्रम, वर्णाश्रम, गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम, आदि। इसलिये आश्रम शब्द के अन्तर्गत भाव-समता, सहयोग-साधन और व्यवस्थित रूप का होना आवश्यक होता है, परन्तु इतिहास से यह प्रतीत होता है कि आश्रम शब्द का सम्बन्ध धीरे-धीरे धार्मिक भावनाओ के भीतर ही सिमिट कर रह गया। प्राय सभी आश्रम ज्ञान और भक्ति के अड्डे बनते गये। कर्म-योग की ओर उनका लक्ष्य हुआ ही नही, और हुआ भी, तो वह विरक्त-भाव-प्रधान देश भारत मे, सकीर्ण समझा जाने लगा। इन विरक्त-भाव-प्रधान आश्रमो को कही-कही मठ कहते थे और उनके व्यवस्थापक को मठाधीश। उन्हे व्यवस्थित रखने के लिये सम्पत्ति-दान भी बहुत होता था, जो सैकडो वर्षो के उपरान्त भी आज तक उन्हे जीवित रख सका है। गाधीजी ने इस विरक्त भाव की प्रधानता के स्थान मे ज्ञान और भक्ति से सम्पुटित कर्म-भावना जागृत की, क्योकि सृष्टि को किसी एक वृत्ति-प्रधान नही कह सकते हैं। यदि इस आधुनिक युग मे, जब कि चारो ओर से कर्म ध्वनियाँ उठ रही थी, वे ज्ञान-योग या भक्ति-योग को पकडे बैठे रहते तो समयोचित समाज-सेवा न कर पाते, और न उनकी ससार मे इतनी पूछ ही हो पाती। अत उन्होने कर्म की ओर अपना लक्ष्य दौडाया। यही लक्ष्य उनका सत्याग्रह कहलाया। सत्याग्रह को फलीभूत करने के लिये उन्हे आवश्यकता हुई कि योग्य कार्यकर्त्ता—योग्य नायक—तैयार किये जाय। ज्यो-ज्यो उनका कर्म-क्षेत्र बढा, त्यो-त्यो योजनाओ का विकास हुआ और जिस क्रम से योजनाएँ विकसित हुईं, उसी क्रम से उन्होने उन योजनाओ को कार्यान्वित करनेवालो की शिक्षा के लिये समय-समय पर भिन्न-भिन्न नाम देकर भिन्न-भिन्न स्थानो मे शिक्षा-केन्द्र स्थापित किये, जहाँ पर व्यावहारिक शिक्षा का ही महत्त्व रहता था। ये केन्द्र दक्षिण अफ्रीका और हिन्दुस्थान मे स्थापित किये गये। इन केन्द्रो का कर्म-क्षेत्र मे उसी प्रकार ऐतिहासिक महत्त्व है, जैसा कि शकराचार्य के विभिन्न पीठो का, ज्ञान-क्षेत्र मे आज भी माना जा रहा है।

सब से पहले गाधीजी ने सन् १९०४ मे दक्षिण अफ्रीका मे फिनिक्स सस्था (Phenix settlemment) की स्थापना उस समय की, जब कि सत्याग्रह की

उदय-कालीन लालिमा दिखाई दे रही थी। रसकिन की पुस्तक 'अनटू दिस लास्ट' (सर्वोदय) की तीन बातो से प्रभावित होने के फलस्वरूप फिनिक्स संस्था की स्थापना हुई। उन तीन सिद्धान्तो का उल्लेख गांधीजी ने यो किया है —

(१) सबके भले मे अपना भला है।

(२) वकील और नाई दोनो के काम (अर्थात् मानसिक और शारीरिक श्रम) की कीमत एक-सी होनी चाहिये, क्योंकि आजीविका का हक दोनो का एक-सा है।

(३) सादा, मजदूर का और किसान का जीवन ही सच्चा है।

गांधीजी ने इनका उल्लेख करते हुए कहा है कि "पहली बात तो मैं जानता था। दूसरी का मुझे आभास हुआ करता था, पर तीसरी तो मेरे विचार-क्षेत्र मे आई तक न थी। पहली बात मे पिछली दोनो बातें समाविष्ट है, यह बात 'सर्वोदय' से मुझे सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। सुबह होते ही मैं उसके अनुसार अपने जीवन को बनाने की चिन्ता मे लगा (और वेस्ट को) सुझाया कि 'इन्डियन ओपिनियन' को एक खेत पर ले जाय वहाँ सब एक साथ रहे, एक-सा भोजन-खर्च ले, अपने लिये सब खेती कर लिया करें और बचत के वक्त मे 'इन्डियन ओपिनियन' का काम करें। भोजन-खर्च का हिसाब लगाया गया उसमे काले-गोरे का भेद-भाव नही रखा गया। जो एक-सा भोजन-खर्च लेने (और) इस तजवीज मे शरीक न हो सकें, वे अपना वेतन ले लिया करें—किन्तु आदर्श रक्खा जाय कि धीरे-धीरे सब कार्यकर्ता संस्थावासी हो जाय।"[७७] इस तरह 'इन्डियन ओपिनियन' के कार्य-कर्त्ताओ से बातचीत हो जाने के पश्चात् घास-पात से भरे हुए आबादी रहित फिनिक्स मे, जो डरबन से तेरह मील और नजदीकी स्टेशन से २½ मील दूर था, संस्था की स्थापना की, वहाँ पर कुछ ऐसे मित्र और सम्बन्धियो ने वास किया, जो 'इन्डियन ओपीनियन' के चलाने मे भाग लेते थे। इस के बाद सन् १९१० मे जोहान्सबर्ग मे 'टाल्सटाय फार्म' की स्थापना की गई, जो जोहान्सबर्ग से २१ मील और नजदीकी रेलवे स्टेशन 'लाले' (Lawley) से एक मील दूरी पर था। इन दोनो की सदस्य-संख्या और कार्य-क्रमो को तुलनात्मक दृष्टि से पढिये, तो सरलता से पता लग जाता है कि एक सत्याग्रह की उषा-कालीन सरल मनोहर प्रतिमा है, तो दूसरी है उस परिवर्तित बढती हुई ज्योति की, जब हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, गुजराती, तामिलनाडी, आन्ध्र-देशी सभी प्रकार के पुरुष-स्त्री

---

७७ आत्म-कथा, खंड २, पृष्ठ १०३-१०४-१०५-१०६. (कोष्ठक मे मेरा है)

'सत्याग्रह' में भाग लेने लगे थे, और जब उन्हें भोजन-पानी से लेकर पाखाना-सफाई तक अपने हाथ से करने की नौबत जेलो मे आने लग गई थी। स्वावलम्बन के हेतु बढ़ईगीरी, चमारी आदि का काम भी अपने हाथ से कराया जाना आवश्यक दिखाई देने लगा था, और सत्याग्रही यात्राओं के लिये अभ्यस्त बनाने के हेतु सस्थावासियों को कई मील पैदल भी चलना पड़ता था। इस टाल्सटाय फार्म को, गांधीजी ने अपनी आत्म-कथा मे, टाल्सटाय-आश्रम कहा है।

इसके बाद जब गांधीजी ने दक्षिण-अफ्रीका छोड हिन्दुस्तान को अपना प्रयोग-क्षेत्र बनाया, तब सन् १९१५ मे अहमदाबाद मे 'सत्याग्रहाश्रम' की स्थापना की। हिन्दुस्तान मे समाज का विनाशकारी, अस्पृश्यता का प्रश्न बड़ा जटिल था। विदेश-यात्रा करनेवालों को जाति-च्युत कर देते थे। जब बिरादरीवालो को दण्ड स्वरूप रोटी-भाजी दे देते तथा तीर्थयात्रा कर आते थे, तब वे बिरादरी मे सम्मिलित होकर एक साथ खा-पी सकते थे। विलायत से बैरिस्ट्री पास करके घर लौट आने पर गांधीजी को स्वय यह जबरदस्ती का प्रायश्चित्त करने के लिये बाध्य होना पडा था। दूसरों के साथ बैठकर या उनके हाथ का पका हुआ भोजन कर लेना यदि एक ओर पाप समझा जाता था, तो दूसरी ओर अन्त्यज कहलाये जानेवाले भाई-बहिनो को छू लेना भी वर्जनीय था। सत्याग्रही के सम्मुख एकात्मीयता रहती है, यह हम अच्छी तरह से एक बार नही, कई बार देख चुके हैं। इसलिये गांधीजी ने बावजूद कुछ बाहरी विरोध के, अन्त्यजो को आश्रम मे प्रवेश कर सम स्थान का नियम रखा, और यह भी नियम बनाया कि सब आश्रमवासी एक ही भोजनालय मे भोजन करेंगे। आश्रम का स्थान पहले अहमदाबाद के निकटवर्ती कोचरब नाम के एक छोटे से गाव मे श्री जीवनलाल बैरिस्टर के मकान मे था, परन्तु चूंकि गांधी का आदर्श आश्रम को शहर या गाव से दूर रखना था, इसलिये उन्होंने जेल के निकट कोचरब गाव से कुछ दूर एक खाली जमीन पर आश्रम बनाया, और बहुत सोच-समझ के पश्चात् उसको सेवाश्रम, तपोवन आदि न कहकर 'सत्याग्रहाश्रम' नाम दिया। यह नाम गांधीजी को क्यो पसन्द हुआ, यह उन्हीं के शब्दों मे देखा जाय। उन्होंने कहा है कि "हम लोगो का उद्देश तो सत्य की पूजा, सत्य की शोध करना, उसी का आग्रह रखना, और दक्षिण अफ्रीका मे जिस पद्धति का उपयोग हम लोगो ने किया था उसी का परिचय भारतवासियो को कराना, हमे यह भी देखना था कि उसकी शक्ति और प्रभाव कहाँ तक व्यापक हो सकती है। ... उस में सेवा और सेवा-पद्धति, दोनों का भाव अपने-आप आ जाता था।"[७८] और "यद्यपि तपश्चर्या

---

७८ आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ ३०८

हम लोगो को प्रिय थी, फिर भी यह नाम हम लोगो को अपने लिये भारी मालूम हुआ।"[७९] उस समय "आश्रम की प्रधान प्रवृत्ति बुनाई के काम की थी। इसलिये पहले बुनाईघर की नींव डाली गई।"[८०] खादी के कपडो को बनाकर पहनने की क्रियाओ को आश्रम-वासी उस समय कुछ नही जानते थे। कपास को हाथ से ओटना, धुनना, पौनी बनाना, कातना और फिर बुनना—इन क्रियाओ का बडा रोचक विकास क्रमश होता गया, तब कही हाथ की बनी हुई शुद्ध खादी का कपडा आश्रमवासी बना सके। सन् १९०८ तक गाधीजी ने चर्खा और कर्घा देखे ही न थे, हालाँ कि "हिन्द-स्वराज" मे उन्होने चर्खे द्वारा ही भारत की भुखमरी-गरीबी को मिटाने की बात लिखी थी। "जब मैं" गाधीजी का कहना है, "सन् १९१५ मे दक्षिण अफ्रीका से भारत आया, उस समय भी मैंने चर्खे के दर्शन तो नही ही किये थे। आश्रम खोलने पर एक कर्घा ला रखा था। और कर्घा ला रखने मे भी मुझे बडी कठिनाई हुई।"[८१] कर्घा मिला सही , पर बुनना जानते ही न थे। इसलिये पहले देशी मिलो के सूत को लेकर बुनाई की नीव डाली गई और फिर कपास ओटने से लेकर बुनने तक की समस्त क्रियाओ का हाथ से करना एक-एक करके सिखलाया गया।

परन्तु केवल सत्याग्रही की शिक्षा पाने और खादी के कपडे बनाने ही से स्वराज की स्थापना थोडे ही हो सकती थी। सत्याग्रही का काम केवल इतना ही नही रहता कि सामाजिक कुरीतियो और राजनीतिक अत्याचारो का विनाश कर डाले ? उसका कर्त्तव्य तो यह रहता है कि एक ओर वह बुराइयो का ध्वस करे, और दूसरी ओर अच्छाइयो की रचना करे, तब कही सच्चा स्वराज मिल सकता है। इसलिये विविध रचनात्मक कार्यो की प्रेरणा की पूर्ति के अभिप्राय से जिला वर्धा (मध्यप्रान्त) के 'सेगाव' मे 'सेवाग्राम' की लगभग सन् १९३४ मे स्थापना की गई। ग्रामीण जीवन को स्वावलम्बी बनाने और भारतीयो की भुखमरी मिटाने के अभिप्राय को लेकर वहाँ पर गृह-उद्योगो को पुनर्जीवित करने की शिक्षाओ का प्रबन्ध किया गया। इस सेवाग्राम का नाम ही इस बात को सूचित करता है कि वहाँ के वासी जन-सेवाओ को करनेवाले है। हिन्दुस्थान के घरेलू उद्योग, मशीनयुग तथा विदेशी राज्य की शोपण-पद्धति के कारण मिट चुके थे, यह सब को मालूम है। उन उद्योगो को फिर से जारी करने, और कुछ ऐसे नये उद्योगो को हथियाने

---

७९ आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ ३०८

८० आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ ३७७.

८१. आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ ४८०

की गरज से, जो स्थान और समय के अनुकूल थे, यह सेवाग्राम बनाया गया। इस में वे लोग ही वास कर सकते थे—चाहे पुरुष हों या स्त्रियां—जो उन के नियमों का पालन कर गृह-उद्योगों में भाग लें और देश के लिये आदर्शरूप बनें। खादी-विभाग के अतिरिक्त कई विभागों का काम चलाया गया, जैसे बढ़ईगीरी, लोहारी, कागज बनाना, मधुमक्खी-पालन और शहद बनाना, कृषि आदि। हर विभाग का हर कार्य हस्त-मेहनत से किया जाता था। मशीन के द्वारा नहीं किया जाता था, क्योंकि गांधी-युद्ध मशीन-युग के विरुद्ध ही तो था। हस्त-मेहनत के उद्योगों को सफल बनाने के लिये कुछ न कुछ यन्त्रों अथवा मशीनों की जरूरत तो रहती ही है, जैसे—चर्खा, कर्घा, हल, बखर आदि आखिर यन्त्र या मशीन ही तो हैं। ऐसे सब यन्त्रों का प्रयोग किया जाता था, परन्तु वे ही यन्त्र प्रयोग में लाये जाते थे, जो देश के कारीगर ही बना सकते थे। गरज यह कि यह एक ऐसी जबरदस्त स्कीम थी कि उसके अनुसार कार्य चलाये जाने से देश का हर व्यापार और रोजगार एवं कच्चे माल से लेकर पक्के माल तक की समस्त क्रियाएँ पुनः जागृत हो जाती, और घर-घर के बालक, वृद्ध, युवा, पुरुष, स्त्री सभी भुखमरी और बेकारी से बच सकते। गांधीजी जानते थे कि आर्थिक स्थिति का ही हाथ मनुष्य के बाह्य जीवन को सुखी-दुखी बनाने में रहता है, और आर्थिक स्थिति उद्योगों की चारों ओर से पुनःस्थापना के बिना नहीं सुधर सकती। इसलिये सेवाग्राम का बड़ा महत्त्व है। चूंकि रचनात्मक कार्य का बड़ा महत्त्व था और चूंकि सेगांव (सेवाग्राम) संस्था को आदर्श बनाना था, इसलिये गांधीजी वहीं पर कुछ वर्षों तक स्थिर रूप में बस गये, ताकि संस्था के कार्य में शिथिलता न आने पाये और अहिंसा के स्थान में हिंसा-भाव लेश-मात्र भी प्रवेश न कर सके। उद्योगों के पुनरुत्थान के अतिरिक्त विचार-परिवर्तन करना भी जरूरी था। आज के बालक कल के समाज के कर्णधार होते हैं। अतः उन की शिक्षा के लिये भी सेगांव में एक पाठशाला खोली गई। नवीन अहिंसात्मक आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को चलाने के लिये इस प्रकार की नवीन शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता थी, जो ऐसी शिक्षा-दीक्षा दे कि हर बालक-बालिका को औद्योगिक क्रियाओं के साथ-साथ पढ़ना-लिखना भी सिखा सके। जब पढ़-लिख जाने पर हर मनुष्य जीविका-उपार्जन के साधन से युक्त रहेगा, तब वह न तो भूखों मर सकेगा और न दूसरे के प्रति उसे ईर्षा-द्वेषादि उठने का अवकाश ही मिलेगा। परिणाम यह होगा कि हर मनुष्य अपने-अपने कार्य में संलग्न होकर देश वा समाज के उत्पादन में अहिंसात्मक रूप से वृद्धि करेगा। गांधीजी इसे नई तालीम कहते थे। यही नई तालीम बुनियादी तालीम (Basic education) भी कहलाई। गांधीजी का तो यह कहना था कि यदि नई तालीम सुचारु रूप से चलाई जायगी, तो "ग्रामों

मे खादी का प्रचार बहुत जल्दी हो सकेगा, क्योकि बच्चो के तालीमी समय मे जितना सूत वे कात सकेगे, उतना सूत पूरे गाव के लोगो के वस्त्रो के लिये काफी होगा और वस्त्र भी यथासम्भव सस्ते से सस्ता पडेगा।"[८२] रचनात्मक कार्य की व्यापकता और स्थिरता केवल सौ-पचास आश्रम-वासियो के द्वारा कुछ उद्योगो को कायम करने और एक स्कूल के खोल देने से प्राप्त नही हो सकती। वे केवल आदर्श का काम दे सकते है। उनका अनुकरण जब तक देश के भिन्न-भिन्न भाग नही करे तब तक स्वराज की स्थापना भला कैसे हो सकती थी। इसलिये आश्रम की गति-विधि के साथ ही अन्य सस्थाओ के द्वारा भी भिन्न-भिन्न रचनात्मक कार्य चलाये जाते थे। ये सस्थाएँ अखिल भारतीय काग्रेस से सम्बन्धित थी। उनके नाम ये है—अखिल भारतीय चर्खा सघ, हरिजन सेवा सघ, अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सघ, हिन्दुस्थानी तालीमी सघ, गौसेवा सघ। सन् १९४५ मे इन पाचो की 'सम्मिलित समिति' बनी। बाद मे हिन्दुस्थानी प्रचार सभा, कस्तूरबा गाधी स्मारक ट्रस्ट, नवजीवन ट्रस्ट, प्राकृतिक उपचार ट्रस्ट (Nature Cure Trust), हिन्दुस्थानी मजदूर सघ, और पश्चिमी भारतीय आदिवासी श्रमिक सघ नाम की छै रचनात्मक सस्थाएँ और बढी, जो सब मिलाकर ग्यारह हो गई, और मार्च सन् १९४९ मे वे सब 'अखिल भारत सर्वसेवा सघ' के नाम से सम्मिलित कार्य करने पर राजी हो गई।[८३] परन्तु उसी समय सेवा-ग्राम-सम्मेलन मे विनोबा भावे ने एक नये सघ की स्थापना की, जिसका नाम 'सर्वोदय समाज' रखा। इसकी भूमिका अखिल भारत सर्वसेवा सघ की भूमिका से भिन्न रखी गई। 'अखिल भारत सर्व सेवा सघ' का काम है समस्त सम्मिलित रचनात्मक सस्थाओ के कार्यो का व्यावहारिक शिक्षण देना, और 'सर्वोदय समाज' का काम है—सिद्धान्त और विचार प्रदान करना।"[८४] इस समय जब कि काग्रेस भ्रष्टाचार की ओर बह गई है और फलत काग्रेस के अन्तर्गत जीवित रहने की आकाक्षी उपरोक्त रचनात्मक सस्थाएँ मृतप्राय है, गाधी-सिद्धातो के भक्तो की आशा-दृष्टि विनोबा भावे की अध्यक्षता मे जीवित 'सर्वोदय समाज' की ओर आकर्षित हो उठी है। भविष्य जो हो।

---

८२ New Horizons in Khadi Work, pp 45-46, 48 (Cited in pol phil of Mahatma Gandhi p 227)

८३ Political Philosophy of Mahatama Gandhi, pp 200-201 के आधार पर।

८४ सर्वोदय, (मार्च सन् १९५१) के अन्तिम कवर पृष्ठ पर मशरूवाला के लेख से।

रचनात्मक कार्य करने वाली संस्थाओं में एक संस्था 'हरिजन सेवा संघ' नामकी भी थी, जैसा हम अभी ऊपर कह आये हैं। उसका काम यही था कि हरिजनों का उद्धार करे। अस्पृश्यता का रोग मिटा देने से समाज में इच्छित उन्नति होने की सम्भावना उस समय तक नहीं हो सकती थी, जब तक कि हरिजनों के जीवन को उच्च श्रेणी का न बनाया जाय। उनके रहन-सहन, खाने-पीने और आचार-विचार में उच्चता लाये बिना अस्पृश्यता मिटाये जाने में भी कठिनता थी, क्योंकि निकृष्ट कार्यों के प्रति जो घृणा की भावना होती है, उसे प्रेम के आधार पर तभी हटा सकते हैं, जब पर-पक्षवाला शुद्ध और साफ रहने लगे तथा खाना-पीना व आचार-विचार भी सुधार ले। इसके लिये गांधीजी ने यही उपयुक्त समझा कि वे स्वयं हरिजनों के बीच में रहें, ताकि वे लोग उन की जीवन-क्रियाओं का अनुकरण करें और अपने-आप उच्च बनने का प्रयत्न करने लग जायं। अतः सेवाग्राम से डेरा-डंडा उठाकर—गांधीजी का डेरा-डंडा था ही क्या, केवल एक डेढ़ हाथ का पट्ठा और चर्खा—आप देहली में हरिजनों के बीच रहने लगे। तब से वह स्थान हरिजन-कालोनी (Harijan Colony) कहलाने लगा। यह भी सत्याग्रही का एक आश्रम ही है। साधु पुरुष जहां अकेले पहुंच जाते हैं, वहीं पर बहुत-से साधु-वृत्ति के आदमी भी उन्हें घेर कर बस जाते हैं। हरिजन-कालोनी भी इसी तरह का आश्रम बन गया था। हरिजन-अस्पृश्यता का कांटा समाज में बुरी तरह से चुभा हुआ था, और उसे निकालकर फेंकने के लिये गांधीजी ने इसी तरीके को उत्तम समझा था। इस तरीके के द्वारा एक ओर तो हरिजनों के साथ उठना-बैठना, मेल-मिलाप होता था, और दूसरी ओर उन्हें यानी हरिजनों को अपनी आदतों को उन्नत करने के लिये सत्संग प्राप्त होता था। हिन्दुस्थान के विभाजन के समय, हिन्दू और मुसलमानों के बीच जो भगदड़ और उपद्रव मच गये थे, उन्हें शान्त करने के लिये गांधीजी यहां से नोआखली आदि स्थानों को भागे-भागे पहुंचे थे और उस भयंकर ज्वार-भाटा को शान्त करने में अद्वितीय शक्ति दिखाई थी कि इतने में हत्यारे गोडसे को वे न सुहाये और उसने उनका देहान्त कर डाला।

यह हुई गांधीजी द्वारा स्थापित किये गये आश्रमों की झांकी। जिस प्रकार सौरमण्डल में सूर्य का, और शरीर में नाभि का महत्त्व होता है, उसी प्रकार समाज में इन आश्रमों का महत्त्व समझना चाहिये। फिनिक्स-स्थापना, टाल्सटाय-फार्म और सत्याग्रह अथवा साबरमती आश्रम आबादी से कुछ दूर जंगली-भूमि पर बसाये गये, क्योंकि वहां 'सत्याग्रही' सिपाही तैयार किये जाते थे, परन्तु सेवाग्राम तथा हरिजन-कालोनी का आबादी के निकट एवं आबादी के बीच रहना आवश्यक था, क्योंकि वहां जन-सम्पर्क कायम कर लोगों के मन में सहयोगी व्यवस्थात्मक भावनाओं को

जागृत करना था। यो तो सभी सत्याग्रहियो के लिये यम-नियमो का पालन करना आवश्यक था, जिनका वर्णन गत अध्याय मे हो चुका है, तथापि गाधीजी ने आश्रम-वासियो के लिये खास तौर पर कुछ नियम बना रखे थे, जिनका पालन करना हर आश्रमवासी का कर्तव्य था। उन मे से कुछ मूल नियमो का उल्लेख हम ने पुस्तक के परिशिष्ट न० २ मे पाठको के लाभार्थ कर दिया है। यह तो हम जानते ही है कि ससार परिवर्तनशील है और मानुषिक कृतिया अन्तवान होती हैं। इसलिये यह बात निश्चित है कि गाधीजी द्वारा की गई उक्त स्थापनाएँ कुछ दिनो मे मिट जायँगी, और सम्भव है, उन्हे स्थापित करने वाली भावनाएँ भी कुछ अरसे के बाद विस्मृत हो जाय। फिर भी यह तो प्रतीत होता ही है कि अमर सत्य के साथ गाधी-जी ने अहिंसात्मक सत्याग्रह-सिद्धान्त को भी अमरता प्रदान कर दी है।

परिस्थितियो के अनुसार, यह हम सभी जानते हैं, आश्रम बनते-मिटते रहते है, और यह भी हमे विदित है कि आश्रमो की स्थापना तथा उनका कार्य-क्रम अपनी-अपनी भावनाओ के अनुरूप हुआ करता है। सच पूछा जाय तो आश्रम शब्द मे केवल एक ही भावना निगूढ है, जो उसके प्रथक्करण से जानी जाती है। वह शब्द उसी प्रकार बना है, जैसे 'आग्रह' जिस के अर्थ पर हम पहले विचार कर चुके है। 'श्रम' (श्राम्यति, श्रात) सस्कृत भाषा की एक मूल क्रिया है, जिसका अर्थ होता है, 'प्रयत्न करना', 'मिहनत करना', 'तप करना', 'विश्रात होना'।[८५] अन्तर्दृष्टि से देखने पर 'तप' शब्द मे भी प्रयत्न करने का भाव विहित होता है। इसलिये आश्रम का अर्थ होता है "श्रम को चारो ओर से अपनाना"। अत सच्चा आश्रम वही है, जहाँ पर श्रम किया जाय, न कि जहा ज्ञान या भक्ति की आड मे गोष्ठिया करते हुए निठल्ले बैठा जाय। ज्ञान और भक्ति की चर्चा आश्रम मे न हो और केवल श्रम—श्रम यानी कर्म ही हो—यह हमारे कहने का तात्पर्य नही है। तात्पर्य यह है कि आश्रम लौकिक जीवन का परिचायक होता है। लौकिक जीवन मे कर्म प्रधान रूप से दिखाई देता है , परन्तु यदि कोई कहे कि वह केवल कर्म रूप ही है, तो उसकी भूल होगी। जीवन, कर्म, ज्ञान और भक्ति के योग को कहते है। गणित-शास्त्रीय रूप मे बताया जाय, तो हम कहेगे "कर्म+ज्ञान+भक्ति=जीवन"। भक्ति और ज्ञान का यही अर्थ न जानने के कारण लोग उनका नाम सुनकर नाक-भौंह सिकोडने लगते है, पर यथार्थत इस त्रिसयोग के बिना हमारा जीवन टिक ही नही सकता। गाधी

---

८५ देखो भिडे का सस्कृत-अग्रेजी कोश, जिस मे निम्न लेख है— 'श्रम्' (श्राम्यति, श्रात) To exert oneself, toil, labour, 2 To perform austerities, 3 To be wearied.

का जीवन, और इसलिये उनके आश्रम भी, इसी भित्ति पर आधारित थे। कहने को ये तीन भिन्न-भिन्न हैं, पर हैं ये एक ही के रूप। भारतीय तत्त्व-ज्ञान में एकत्व का ही महत्त्व है, और वही एकत्व का भाव आश्रम शब्द में ओत-प्रोत है। इसीलिये हम देखते हैं कि भारतीय साहित्य में सम्पूर्ण जीवन को अथवा जीवन के भागों को, बहुधा आश्रम शब्द के साथ जोड़कर प्रदर्शित करते हैं, जैसे—जीवनाश्रम, वर्णाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम इत्यादि। जहां पूर्णत्व अथवा एकत्व का भाव विद्यमान हो, वहीं कर्म में नैष्कर्म्य अथवा प्रत्यक्ष अशान्ति में आन्तरिक शान्ति (non activity in activity) रह सकती है। इसीलिये हमारी अल्पमति के अनुसार आश्रम शब्द में 'श्रम' और 'शान्त' दो विपरीत भावों का समावेश किया हुआ मिलता है। अतः जो स्थान या जीवन या जीवनाश्रम 'श्रम' और 'शान्त' युक्त, अथवा कर्म ज्ञान भक्ति-युक्त एकत्व से रहित हो, वह हमारी समझ से, 'आश्रम' कहा ही नहीं जा सकता।

(७) सत्याग्रही नैपुण्य अर्थात् युक्ति-कौशल्य (tactics)—"योगः कर्मसु कौशलम्" गीता के इस प्रमाण के आधार पर हम पूर्व में कह चुके हैं कि करने योग्य कार्य को कुशलतापूर्वक करने का नाम ही योग है। इसलिये जब कोई युद्ध या संघर्ष किया जाय—चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामूहिक—तब उसे खूब सोच-विचार के बाद ही करना चाहिये, और उसे करते समय अत्यन्त चातुर्य से काम लेना चाहिये। जब संकल्प उत्तम और असंदिग्ध हो, साधन दोष-रहित हों, तथा समस्त क्रियाएँ निपुणतापूर्वक निभाई जायँ, तभी वह कर्म 'योग' शब्द से विभूषित किया जा सकता है। जिस प्रकार हिंसात्मक युद्ध में सिद्धि के हेतु युक्ति-कौशल्य आवश्यक होता है, उसी प्रकार अहिंसात्मक युद्ध अर्थात् सत्याग्रह को सफलीभूत बनाने के लिये नैपुण्य की जरूरत होती है। यह हम जानते हैं कि सेना-व्यूह, मोर्चा लेना, आक्रमण करना, बचाव-नीति का आश्रय लेना, कभी आगे बढ़ना—कभी पीछे हटना इत्यादि क्रियाएँ युद्ध-स्थल में जारी रहती हैं। ऐसी ही क्रियाओं का अपना कर सत्याग्रही नायक को भी सत्याग्रही युद्ध चलाना पड़ता है। अन्तर केवल यह होता है कि हिंसात्मक युद्ध के समय सत्य और असत्य का, हिंसा और अहिंसा का कोई ख्याल नहीं रखा जाता। केवल अपना मतलब भर गाँठना चाहिये, फिर उपाय चाहे जैसे हों, इसकी परवाह कुछ भी नहीं रहती। इसके विपरीत सत्याग्रह के समय केवल सत्य-अहिंसा-प्रेम का आश्रय लेकर संघर्ष में जुटे रहना पड़ता है। वहां छल-छिद्र का, द्वेष-कपट का नामो-निशान भी नायक बरदाश्त नहीं कर सकता। यदि कोई भी सत्याग्रही सैनिक इस अपराध को करता हुआ पाया गया, तो वह सत्याग्रही सेना से तत्काल अलग कर देने योग्य हो जाता है, क्योंकि अहिंसा में लेशमात्र भी हिंसा रही, तो सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। यदि

हिसाश छिपा रहा और प्रत्यक्ष मे युद्ध-फल मिल भी गया तो भी वह ग्राह्य नही कहा जा सकता, क्योकि वह दूषित साधन से प्राप्त हुआ होता है। वहा तो आत्म-शुद्धि का प्राप्त करना ही सिद्धि कहलाती है, वाह्य फल मिले या न मिले, वाह्य विजय हो या न हो। इसलिये जिन्हे गाधीजी के सत्याग्रही युद्धो का ज्ञान है, उन्हे भली-भाति विदित है कि वे कभी तो आगे बढ जाते थे और कभी पीछे हट जाते थे, कभी युद्ध-विराम कर सधि की वात करने लगते, तो कभी त्रुटियो को देखकर सत्याग्रह स्थगित कर देते थे। ऐसे-ऐसे कई मोके आये, जब दर्शकगण एव सत्याग्रही सैनिक भी युद्ध के जोश और रफ्तार को देख कर सफलता को अपने हाथो मे रखी हुई समझते थे, तभी गाधीजी ने सत्याग्रह को थाम देने अथवा वन्द कर देने के ऐलान कर दिये, जिससे जोशीलो के हृदय पर ठडा पानी पड गया, और क्रोधियो के भीतर गाधी के प्रति इतनी आग भडक उठी कि वे उन के भक्त सैनिक होते हुए भी उन पर टूट पडे तथा उन्हे इस बुरी तरह से मारा-पीटा कि उन के मरने मे कोई कसर न रही। इस के दो प्रमुख दृष्टात उल्लेखनीय है। एक है दक्षिण अफ्रीका का और दूसरा हिन्दुस्थान का। सन् १९०६ मे दक्षिण अफ्रीका मे एक ऐसा हुक्मनामा निकला कि ट्रान्सवाल मे रहने वाले हर एक मर्द औरत और आठ या आठ वर्ष से अधिक आयु वाले वालक को एशियाई रजिस्ट्रार के दफ्तर मे अपना नाम दर्ज कराके रजिस्ट्री का प्रमाण-पत्र हासिल करना होगा। यह हुक्मनामा आगे चलकर 'काला कानून' (Black Act) के नाम से पुकारा जाने लगा। इसके विरोध मे सत्याग्रह शुरू हुआ। लोगो ने नाम दर्ज कराने से इन्कार कर दिया और आज्ञा-भग करने वाले जेल भेजे जाने लगे। इस प्रकार का युद्ध लोगो ने पहले-पहल देखा था। गाधी के नेतृत्व मे हिन्दू, मुसलमान, पारसी, पठान आदि वहुत-से हिन्दुस्थानियो ने इस मे वडे उत्साह से भाग लिया। डेढ सौ सत्याग्रही जेल भेजे जा चुके थे कि सरकार सुलह करने की सोचने लगी। राज्याधिपति जनरल स्मट्स ने इसके लिये गाधीजी को बुलाया और यह तय हुआ कि एक खासी सस्या मे हिन्दुस्थानी अपने मन से अपने नाम दर्ज करा ले और सरकार सब कैदियो को जेल से मुक्त कर देगी एव 'काला कानून' रद्द कर दिया जायगा। कैदी छोड दिये गये और गाधीजी ने नाम दर्ज कराने की बात के विषय मे समझाना बुझाना प्रारम्भ किया। सत्याग्रह का काम वडे उत्साह से चल रहा था कि इतने मे वह सरकार के उक्त आश्वासन के कारण वन्द कर दिया गया। कुछ लोगो को बुरा लगा। ऐसे लोगो मे से एक मीर आलम नाम का पठान भी था, जो गाधीजी का वडा प्रेमी, पुराना मुवक्किल (Client) था। गाधी के इस राजीनामे की वात सुन कर उसे बडा क्रोध आया। गाधीजी से उसने वडी वेरुखी बाते की और जब कि गाधीजी अपना

नाम दर्ज कराने रजिस्ट्रार के दफ्तर को जा रहे थे, तब उनने पीछे से एक लट्ठ ऐसा मारा कि गांधीजी का सिर फट गया और वे बेहोश होकर गिर पड़े। उस के साथ और भी आदमी थे, जिन्होंने भी गांधीजी को खूब पीटा और लतियाया। गांधी इस बुरी तरह से पीटे गये कि मुश्किल से मरते-मरते बचे। फिर भी उन्होंने कभी नहीं चाहा कि आक्रमणकारियों पर मुकदमा चलाया जाय और दण्डित किये जायें, परन्तु उनके बार-बार मना करने पर भी पुलिस को अन्य लोगों के आग्रह के कारण मुकदमा चलाना पड़ा, जिस में गांधीजी की शहादत के बिना ही मीर आलम और उसके एक साथी को सजा हुई। दूसरा उदाहरण है, हिन्दुस्तान का। गुजरात के "खेड़ा जिले में अकाल के जैसी स्थिति होने से वहां के पाटीदार जमीन-कर माफ करवाने के लिये प्रयत्न कर रहे थे।. लोगों की मांग ऐसी साफ और हलकी थी कि उसके लिये लड़ाई लड़ने की भी जरूरत नहीं होनी चाहिये। (परन्तु) सरकार को वह असह्य लगी। जितनी विनय की जा सकती थी, उतनी कर लेने के बाद साथियों के साथ सलाह करके मैंने (गांधी ने) सत्याग्रह करने की सलाह दी। शुरू के दिनों में लोगों में खूब हिम्मत दिखाई पड़ती थी।

जब्तीदारों ने लोगों के ढोर बेचे, घर में से चाहे जो माल उठा ले गये। चौथाई जुरमाने के नोटिस निकले। किसी गांव की सारी फसल जब्त हुई। (फलत) लोग घबरा गये। कुछ लोगों ने जमीन-महसूल भरा। दूसरे यह चाहने लगे कि अगर सरकारी अफसर ही हमारा कुछ माल जब्त करके महसूल अदा कर लें, तो हम सस्ते ही छूटे।"[८६] इसके बाद रौलेट एक्ट, जलियांवाला बाग, मार्शल ला की घटनाएँ घटीं, जिनके कारण सरकार और जनता दोनों की ओर से कई प्रकार की ऐसी भूलें हुई कि सब जगह शान्ति-भंग का दृश्य दिखाई देने लगा। गांधीजी ने दोनों को सलाह दी, परन्तु दोनों ने न सुनी। "न लोगों ने गुनाह कबूल किये, और न सरकार ने ही माफ किया।" इस पर गांधीजी से "कई मित्र नाराज हुए। और उन्हें (मित्रों को) ऐसा जान पड़ा कि अगर मैं (गांधी) सर्वत्र शान्ति की आशा रक्खूं और यही सत्याग्रह की शर्त हो, तो फिर बड़े पैमाने पर सत्याग्रह कभी चल ही न सकेगा। मैंने (गांधी ने) इस से अपना मत-भेद प्रकट किया।"[८७] ऐसी दशाओं में गांधीजी का कहना है "मुझे यह ख्याल हुआ कि खेड़ा जिले के तथा ऐसे ही दूसरे लोगों को सविनय भंग करने के लिये निमंत्रण देने में मैंने उतावली करने की भूल की थी, और वह भूल मुझे हिमालय-जैसी बड़ी जान पड़ी। मैंने इसे कबूल किया।

---

८६ आत्म-कथा, खंड २, अध्याय २३-२४

८७ आत्म-कथा, खंड २, पृष्ठ ४४६.

इसलिये मेरी खूब ही हसी उडी थी।"[८८] गाधीजी का सिद्धान्त है कि जब कोई अपने रज-समान दोष को पर्वत-जैसा, और दूसरे के गज-समान दोप को राई समान समझने लगता है, तब कही वह सत्याग्रही होने का अधिकारी बन सकता है। ज्योही उन्हे विदित हुआ कि लोगो मे यह क्षमता नही आ पाई कि वे सविनय भग के नियम का पालन कर सके, त्योही उन्होने उस भूल को, बावजूद लोगो की नाराजी और हसी-ठट्ठा के, स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर समझा।

उपरोक्त दो घटनाओ से यह सिद्धान्त निकलता है कि सत्याग्रही सदा सुलह करने के लिये तैयार रहता है, वह सदा अपनी भूल को बडी खुशी से खुलेआम कह डालता है, वह अपने छोटे-से दोष को बहुत बडा करके देखता है और दूसरे के बहुत बडे दोषो को बहुत छोटा गिनता है। गाधीजी का सत्याग्रही युद्ध हारजीत को लेकर नही होता, बल्कि इसलिये होता है कि विरोधी बिना किसी दबाव या बल के, बिना किसी छल या कपट के सद्विचारी बन जाय, और यह तभी हो सकता है, जब वह अपनी भूल को समझ ले एव उसके विषय मे पश्चात्ताप भी करने लगे। बिना पश्चात्ताप के उस का विचार-परिवर्तन नही हो सकता, और जब विचार-परिवर्तन न हो, तो कायिक परिवर्तन कहाँ से होगा। इस विचार-परिवर्तन के लिये सत्याग्रही को अपनी ही ओर से सानुकूल वातावरण तैयार करने की आवश्यकता होती है। परिचित युद्ध मे जब शत्रु किसी सकटावस्था मे होता है, तभी उस को तहस-नहस कर के उस से परवश अपने मन के मुताबिक शर्ते लिखा कर सधिपत्र लिखा लिया जाता है। इस प्रकार की सधि विद्वेष-पूर्ण, कटु, सदा कसकने वाली होती है, परन्तु सत्याग्रही पर-पक्ष के सकटकाल का लाभ नही उठाता, बल्कि वह उस को सकट पार करने मे मदद पहुचाता है। वह मौके-मौके पर मीठे बोल बोलता, सहानुभूति बताता, कटु और घृणापूर्ण शब्दो के द्वारा आघात नही पहुँचाता, तब कही पर-पक्ष उस की ओर आकर्षित होता है और सत्याग्रही को सच्चा मित्र समझने लगता है। जब ऐसा वातावरण बना लिया जाता है, तब पर-पक्ष के विचार-परिवर्तित होने की सम्भावना होती है। यदि इस प्रकार के आत्मानुशासन से सत्याग्रही का जीवन कसा हुआ रहे, तो जन-कल्याणकारी सुलहनामे का, थोडे या बहुत काल मे, होना बहुत सम्भव हो जाता है।

सुलह करने का जो महत्त्व सत्याग्रह क्षेत्र मे है, वह गाधीजी के शब्दो मे ही देखिये। उन्होने कहा है कि "मैं तो मूलत सुलहवाला मनुष्य हूँ, क्यो कि मुझे कभी

---

८८ आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ ४४७-४४८

यह निश्चय नही रहता कि मैं सही हूँ।"[८९] इसी कारण एक दूसरे स्थान पर उन्होंने बताया है कि सत्याग्रह अर्थात् "अहिंसात्मक युद्ध का उद्देश्य रहता है सदा सुलह के लिये तत्पर रहना, न कि कभी किसी पर जब्र करना या कि उसे नीचा दिखाने की कोशिश करना।"[९०] परन्तु सुलह का अर्थ यह कभी नही होता कि मूल बात ही किसी प्रकार छोड दी जाय। यदि मूल बात छोडी, तो असलियत का ही समर्पण हो जायगा, और जब असलियत ही चली गई, तो फिर सत्याग्रही के पास बचा ही क्या रहेगा। तब तो देना-देना ही हुआ, लेना कुछ भी नही रहा। यदि ऐसा न हुआ, तो वह सुलहनामा ही कैसे कहा गया, क्यो कि सुलह मे दोनो देने-लेने की बात मानी जाती है। हाँ, सत्याग्रही मूल के अतिरिक्त जो अन्य अनावश्यक बाते होती हैं, उन को छोड देने मे कोई हिचक नही करता। गरज यह कि कहने के लिये तो यह है कि कायिक बल वाले युद्ध मे जिस प्रकार दाव-पेच लगाये जाते हैं, उसी प्रकार सत्याग्रह युद्ध मे भी लगाने की जरूरत पडती है, परन्तु यथार्थ बात यही है कि दोनो के दाव-पेचो मे जमीन-आसमान का फर्क रहता है, क्योंकि दोनो के मूल-बीज ही मे निपट भिन्नता रहती है।

(८) **सत्याग्रही अनुशासन या नियन्त्रण** (discipline)—पाठको को यह बात सदा स्मरण रखना चाहिये, और वह यह कि जब कभी कोई प्रश्न सत्याग्रह-सम्बन्धी पेश हो, तो फौरन उस के दो पहलुओ पर ध्यान दौडा लेना चाहिये। ये दो पहलू वे ही आन्तरिक और बाह्य—बौद्धिक और कायिक हे जिन के विषय मे बार-बार कहा जा चुका है। इन्ही दोनो पर ध्यान रख कर देखिये तो मालूम होगा कि सत्याग्रही मे एक ओर तो आत्मानुशासन अथवा आत्म-नियन्त्रण रहता है, और दूसरी ओर सगठनात्मक बाह्य अनुशासन—यम-नियमादि का नित्य प्रति पालन करते हुए अपने-आप की जीवन-चर्या को व्यवस्थित रखना हर सत्याग्रही के लिये अनिवार्य है। जिस का रोजमर्रा का जीवन नियन्त्रण मे नही चलता, अर्थात् जो अपने खुद के हुक्म को नही मान सकता, वह भला खुशी-खुशी दूसरे के अनुशासन या आज्ञा को कैसे मान सकेगा। यथार्थत आत्मानुशासन का दूसरा नाम ब्रह्मचर्य ही है, और ब्रह्मचय कहने से उन सब आचारो का बोध होता है, जिन मे इतना नियन्त्रण हो कि उन का कर्त्ता शुद्ध सत् अथवा ब्रह्मरूप बन जाय। ब्रह्मरूप बन जाना कोई गुडिया का खेल नही। फिर भी यह निश्चय है कि व्यक्तिगत अनुशासन तो व्यक्ति के हाथ की ही बात होती है। इसीलिये उस का पालन करना उस मनुष्य के लिये कुछ

---

८९ Louis Fischer A Week with Gandhi, p 102

९० हरिजन, सन् १९४०, पृष्ठ ५३

कठिन नही, जिस ने अपने जीवन को नियन्त्रित वनाने की ठान ली है अथवा ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया है। अत्यन्त कठिनता तो उस समय उपस्थित होती है, जव जन-समूह को नियत्रण मे चलाने की वात कही जाय। यह तो सम्भव नही कि सभी मनुष्य एक ही वौद्धिक और आध्यात्मिक श्रेणी के हो। इसीलिये अहिंसात्मक सत्याग्रह की दष्टि से सभी समान रूप से नियन्त्रित नही किये जा सकते। इस मे सन्देह नही कि नियत्रण-सम्वन्धी समता जितनी मात्रा मे और जिस आसानी से फौजी कैम्पो मे प्राप्त हो सकती हे, उतनी सत्याग्रही कैम्पो मे नही मिल सकती, क्यो कि फौजी कैम्पो मे केवल शारीरिक नियत्रण अथवा अनुशासन पर, और अनुशासन-भग की स्थिति मे शारीरिक दण्ड पर लक्ष्य रखा जाता है। शारीरिक कार्य इन्द्रिय-गम्य होते है, अत नियमो का पालन और अतिक्रमण करना, दोनो प्रत्यक्ष मालूम हो जाते हे, तथा उत्क्रमणकारी को ठीक मार्ग पर ले आने के लिये शारीरिक दण्ड भी शीघ्र दिया जा सकता है। इस तरह फौजी सैनिको मे शारीरिक दण्ड का भय वना रहता है, जिसके फल-स्वरूप सारी सेना की सेना शारीरिक नियत्रण को सारूप मे कायम रखने मे समर्थ रहती है , परन्तु सत्याग्रही सेना का प्रश्न इस से भिन्न है, क्योकि सत्याग्रह मे शरीर को विशेपता नही दी गई, मन और आत्मा की प्रधानता रहती है। यह तो हम जानते ही है कि गाधीवाद मे मूलत व्यक्ति की अच्छाई पर ध्यान रखा गया हे, क्यो कि समाज व्यक्तियो का ही वना है। इस-लिये सत्याग्रह-वादी यह कहेगा कि जव हर सत्याग्रही सैनिक को नियन्त्रित जीवन व्यतीत करना पडता हे, तब सारी सत्याग्रही सेना को समरूप से नियन्त्रित होने मे कठिनता ही क्यो रहेगी ? यह सत्य है, पर इस का होना तभी सम्भव हो सकता है, जव सभी सैनिक एक समान भली भाति आत्मानुशासन (आत्म-नियत्रण) का प्रतिपालन करने लग गये हो। यथार्थ तो यह है कि आज के समाज मे यह स्थिति विद्यमान नही है, और न सत्याग्रही अधिनायको के पास प्रेम के सिवाय दूसरा कोई ऐसा अहिंसात्मक साधन ही हे, जिसके द्वारा सम नियत्रण प्राप्त हो सके। जब ऐसी वात है, तव सामूहिक सत्याग्रह की वात ही क्यो न छोड दी जाय---यह दलील सत्याग्रह-विरोधी पेश करते ह। इस पर गाधी-मतावलम्वी का उत्तर यह रहता है कि मनुष्य अपूर्ण है, पर अपूर्ण होते हुए भी वह पूर्णता की ओर वढ सकता है, क्योकि प्रयत्न करना उसके हाथ की वात है। इसलिये यदि सत्याग्रही सैनिक के काम अहिंसात्मक सद्भावना से किये जाते हो, तो वह सेना मे भाग लेने का अधिकारी वना रहता है, भले ही वह अपने वौद्धिक और आत्मिक नियत्रण मे उतनी दक्षता न पा सका हो, जितनी दूसरे सैनिको एव नायको मे विद्यमान हो। सद्भावना से प्रेरित महान् दुराचारी, जैसे कसाई आदि भी, हिन्दू-धर्म-ग्रन्थो के अनुसार परम

कहा है। उसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब किसी सघ-विशेष का सदस्य हो जाता है और उसके वातावरण मे बैठने-उठने लगता है, तब उस मे उस सघ-सम्बन्धी भावनाओ और योजनाओ के विषय मे चेतना और सुदृढता आप-से-आप बढती जाती है, जैसे डाकुओ के साथ रहने से डाकुओ की वृत्ति आती है और साधुओ के साथ रहने से साधुओ जैसी वृत्ति। अत बिना किसी विशेष प्रकार की शिक्षा पाये हुए भी सत्याग्रही क्षेत्र के वातावरण मे रहने वाला सैनिक धीरे-धीरे अपने-आप उपयुक्त नियमो के अनुसार अनुशासित होता जाता है।"[११] गाधीजी ने सन् १९३० मे सत्याग्रहियो के लिये नियत्रण-सम्बन्धी १९ नियम बनाये थे, जिन का जानना लाभदायक होगा, अत पुस्तक के परिशिष्ट न० ३ मे उन्हे हमने दिया है।

(९) **सत्याग्रही व्यवस्था अथवा सगठन** (Organization)—**रचनात्मक कार्य का महत्त्व**—किसी भी कार्य की सिद्धि—चाहे वह वैयक्तिक हो या सामाजिक, स्थिरता और दृढता को धारण किये बिना नही हो सकती। व्यवस्था और सस्था शब्द, जो 'स्था' धातु से बने है, स्थिरता और दृढता के ही अर्थवाची है, क्योकि 'स्था' का अर्थ होता है, खड़े होना (to stand)। सगठन (स+गठन) शब्द मे भी स्पष्टत यही भाव है।

किसी कार्य मे स्थिरता और दृढता लाने के लिये दो बातो की आवश्यकता होती है—एक तो कार्य-विभाग और दूसरा नियत्रण। नियत्रण का दूसरा अर्थ होता है नियमितता। यदि नियमो की अवहेलना कर कार्य किया जाय, तो सफलता कदापि नही मिल सकती, यह हम सभी जानते है। सत्याग्रही नियत्रण के विषय मे हम अभी ऊपर कह ही चुके है, इसलिये उस पर पुनर्विचार करना अनावश्यक है। रह गया कार्य-विभाग, उसी के विषय मे यहाँ विचार करना है।

यदि हम सृष्टि को विचारपूर्वक देखते है, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वह गति-अगति का गोरख-धन्धा है। यह द्वन्द्वात्मक भाव एक ही भाषा मे अनेक शब्दो द्वारा प्रकट किया जाता है। इस तरह सृष्टि की हजारहो भाषाओ का ख्याल किया जाय, तो उसी भाव का प्रदर्शन करने वाले करोडो नाम हो जाते है। इसी को भाषा-जाल समझिये। इस मे फस कर मनुष्य इसी मे फडफडाता रहता है, और ज्यो-ज्यो फडफडाता है, त्यो-त्यो उस मे और अधिक लिपटता जाता है। परिणाम यह होता है कि मूल, जिसे हम सत् भी कहते है, उस की दृष्टि से अधिकाधिक छिपता जाता है। इस द्वन्द्वात्मक भाव को प्रदर्शित करने वाले कुछ शब्द ये है—निष्कर्म-कर्म,

---

११ देखो Pol Phil of Mahatma Gandhi फुट नोट न० ६४, पृष्ठ ३०१.

त्याग-ग्रहण, वैराग्य-राग, निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण। इन में से कुछ शब्दों को सुनकर आप हम पर दकियानूसी का चार्ज लगाने को तैयार हो जायेंगे, परन्तु उन्हीं को हम नेगेटिव-पाजिटिव (negative-positive) कह दें, तो आप हमें विज्ञानी कहने लगेंगे। और कहीं हमने डिस्ट्रक्टिव कन्सट्रक्टिव (destructive-constructive) अर्थात् विनाशात्मक-रचनात्मक, अथवा क्रिया-प्रतिक्रिया (action reaction) कह दिया, तो आप प्रसन्न हो उठेंगे और सम्भवत कहने लगेंगे कि हमारे लेख में व्यावहारिकता भरी है, परन्तु यह समझ ही का फेर है। उपरोक्त सभी जोड़ेदार शब्द भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से कहे गये एक ही द्वन्द्वात्मक भाव के द्योतक है।

इन्हीं दोनों पारस्परिक विरोधिनी गतियों को ध्यान में रख कर, सम्भव है, गांधीजी ने सत्याग्रह शब्द की खोज की हो। प्रत्यक्षत उस का अर्थ होता है—'सत्य का ग्रहण करना'। गांधीजी ने जब देखा कि दुनिया असत्य के गोरख-धन्धे में फसी चली जा रही है और सत्य अधिकाधिक छिपता जाता है, तब उन्होंने सत्य को ग्रहण करने की बात चलाई। पर सत्य-ग्रहण तो तभी हो सकता है, जब असत्य का त्याग हो, अत सत्याग्रह शब्द में यथार्थत दो भाव निहित है—एक ओर असत्य से विराग और दूसरी ओर सत्य से राग, अथवा असत्य का विनाश और सत्य की रचना।

सत्य की जब हमारे कान में झनक पड़ती है, तब हमारा विचार उस स्थिति-विशेष पर नहीं पहुँचता, जो शुद्ध सत् है, वरन् वाणी आदि इन्द्रियों के द्वारा व्यक्त किये जाने वाले विचारों पर पहुँच जाता है, इसलिये सत्याग्रह शब्द के अन्तर्गत रचनात्मक कार्य-क्रम निहित है, यह बात हमारी समझ में नहीं आ पाती। यदि उस पूर्व पाठ का पुन स्मरण कर लिया जाय, जिस में बिम्ब और प्रतिबिम्ब के विषय में विवेचन किया है, तो यह सहज ही समझ में आ जायगा कि जिस प्रकार जल या आइने में बिम्ब प्रतिबिम्बित हो जाता है, उसी प्रकार रचना में सत्य-बिम्ब का प्रतिबिम्बन हो जाता है। रचना जल या आइने जैसा प्रतिबिम्बन करने का एक साधन है, परन्तु सभी रचनाओं में प्रतिबिम्बन का गुण नहीं रहता, जैसे यदि कोई काठ के तख्ते या पत्थर के टुकड़े में प्रतिबिम्बन करना चाहे, तो वह सम्भव नहीं। अत जब तक उपयुक्त अथवा सानुकूल रचनात्मक कार्य-क्रम न हो, तब तक वह सत्य का प्रदर्शक नहीं बन सकता। रचना कहो या सृष्टि दोनों का एक ही अर्थ होता है। इसी विचार-दृष्टि से कहा जाता है कि सृष्टि, ईश्वर को प्रतिबिम्बित करने वाला साधन है। गरज यह है कि जो रचना हमें शुद्धतायुक्त उन्नति की ओर ले जाने वाली हो, वही सत् स्वरूप का चित्रण करने योग्य होती है, अत इसी प्रकार की रचना का

ग्रहण करना सत्याग्रह हुआ। अमुक रचना ही सत् का प्रतिबिम्बन कर सकती है, अथवा अमुक रचना ही सत् रूप है, यह कैसे जाना जा सकता है? यह प्रश्न स्वाभाविकत मन मे उठता है। इस की कसौटी यह है—जिस की स्थापना के करने मे, या स्थापना हो जाने पर, उसे सचालित करने मे किसी पर किसी के द्वारा किसी भी प्रकार का दबाव या बल डालने की जरूरत न पड़े और जिस मे किसी की बुराई न हो, वही सत्य-स्वरूप है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय, तो यह कहेगे कि जो अहिसात्मक रचना है, वही सत्य-स्वरूप होती है। जब कोई कार्य दबाव या बल के वशीभूत होकर किया जाता है, वह हिसात्मक कार्य कहाता है, परन्तु बहुत-से हिसात्मक कार्य भी उस समय सहज मे पहचानने मे नही आते, जब उन्हे करते-करते हमे बहुत काल गुजर जाता है और इसलिये उन्हे करने की हमे आदत हो जाती है। फिर भी बुद्धि-योग के द्वारा कई बुद्धिमान महापुरुष उन्हे पहचान लेते है। गाधी ऐसे ही महापुरुष थे। उन्होने अपने बुद्धि-योग-बल से देखा कि समाज के हर क्षेत्र मे हिसात्मक कार्यो की भरमार है, और उसके कार्य-कर्त्ता नजरबन्दी-जैसा खेल करते हुए साधारण जनता को मोह-फास मे फासे हुए है। उन्होने देखा कि राजनीतिक—अथवा यह कहिये राज्य,—जन-हित-चिन्तन की डुगडुगी पीटता हुआ सब से अधिक हिसक होता है। वह कानून-पालन के नाम पर जबरदस्ती की नीति को अमल मे लाता है। इसी तरह उन्होने आर्थिक क्षेत्र मे भी यह पाया कि शोषक शोषितो को प्रत्यक्ष-रूप से चूसते रहते है। इतना ही नही, बल्कि यह भी तो उन्होने देखा कि सामाजिक व्यवहार मे रग-भेद, वर्ण-भेद, कुल-भेद, धन-निर्धन-भेद आदि अनेक नाले बन कर समाज की साम्य भूमि को जगह-जगह पर बडी बुरी तरह से काट रहे है। ऐसी स्थिति मे सत्य-ग्रहण करने की बात को कहने का तात्पर्य यही होता है कि एक ओर उपरोक्त प्रकार के हिसात्मक अथवा असत् कार्यो का त्याग या विनाश किया जाय, और दूसरी ओर अहिसात्मक अथवा सत् रूप रचनाओ को ग्रहण करते हुए समाज मे उनकी स्थापना की जाय। सच पूछा जाय, तो समाज-सेवी सत्याग्रही के हृदय मे रचनात्मक भाव पहले आता है, और विनाशात्मक भाव बाद मे, उस समय उठता है, जब वह देखता है कि यदि प्रचलित हिसात्मक क्रियाएँ मूल से उखाड कर नही फेकी जायँगी, तो रचनात्मक गतियाँ टिक ही न सकेगी। इसलिये श्री धावन ने यह कहा है कि "सत्याग्रह का सब से बडा प्रचार रचनात्मक कार्य-क्रम का है। सत्य और प्रेम जीवन-प्रदायक (life-giving) होते है, और सत्याग्रह का वह रूप भी अर्थात् अहिसात्मक साक्षात् कर्म भी, जो देखने मे विनाशात्मक प्रतीत होता है, यथार्थत मार्ग-सफाई करने वाला होता है, क्योंकि वह इस उद्देश से किया जाता है कि जिससे पुनर्रचना के मार्ग मे उपस्थित बाधाएँ हटा दी जायँ। सफाई साधन है,

और रचना उद्देग। रचनात्मक कार्य-क्रम 'आन्तरिक उन्नति' के सिवाय और है ही क्या? सत्य और अहिंसा का वह घनीभूत बाह्य रूप है।"[१२]

इसलिए अब हम निष्कर्ष-रूप मे यह कह सकते है कि सत्याग्रही व्यवस्था के प्रथमत दो मोर्चे होते हैं—एक व्यक्तिगतोन्नति का क्षेत्र और दूसरा समाजोन्नति का क्षेत्र। ये दोनो क्षेत्र अपनी सजीवता के कारण एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं—एक का दूसरे पर प्रभाव पडता है—क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ का नृत्य होता रहता है। अत इन दोनो मोर्चों की व्यवस्थाओ को दो-दो भागो मे विभाजित करते हैं। एक नियत्रण कहलाता है और दूसरा कार्य-विभाग। नियत्रण विभाग मे स्वनियत्रण और सामूहिक नियत्रण की व्यवस्था की जाती है, जिनके विषय में पिछले पृष्ठो मे कहा जा चुका है। कार्य-विभाग में त्याग तथा ग्रहण की व्यवस्थाएँ रची जाती है। त्याग-व्यवस्था के अधीन असत्य का त्याग रहता है, जिसे विनाशात्मक सत्याग्रह कह सकते हैं, हालाँकि सत्याग्रह के साथ विनाश शब्द का प्रयोग न तो कर्ण-सुखद होता है और न हृदय-ग्राही। एक ओर त्याग व्यवस्था असत्य का निराकरण करती जाती है, तो दूसरी ओर ग्रहण व्यवस्था सत्य को अपनाने मे लगी रहती है। यदि त्याग-व्यवस्था को विनाशात्मक कार्य कहें, तो ग्रहण-व्यवस्था को रचनात्मक कार्य कहना ही उपयुक्त होगा।

एक बात विशेष स्मरणीय यह है कि सत्याग्रही व्यवस्था मे आदि से अन्त तक अहिंसा ही एक साधन रहता है, जिसके द्वारा उन्नति प्राप्त की जा सकती है। गाधी-मत मे यह अहिंसा-रूपी शस्त्र[१३] अपरिवर्तनीय है, क्योंकि वह धर्म (creed) है, नीति (Policy) नही। वह विश्वास और श्रद्धा (belief and faith) रूपी चट्टान पर स्थित रहता है, नीतिरूपी बालू पर नही। सत्य-ग्रहण मे अहिंसा शस्त्र का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है—एक प्रत्यक्ष रूप में, और दूसरा अप्रत्यक्ष रूप मे। प्रत्यक्ष रूप मे जब उसका प्रयोग होता है, तब उस विधि को सविनय भग अथवा सविनय आज्ञा-भग (civil disobedience) कहते हैं, जिसे कभी-कभी अक्रिय प्रतिरोध (Passive resistance) या सविनय प्रतिरोध (Civil resistance) या अहिंसात्मक असहयोग (non-violent non-cooperation) भी कहा करते थे। प्रत्यक्ष रूप से किये गये प्रयोग के द्वारा असत्य का प्रत्यक्षत अन्त कर डालने का अभिप्राय रहता है, इसलिये उसे विनाशात्मक कार्य भी कहते है।

---

१२ Pol Phil of Mahatma Gandhi, p 214

१३ अहिंसा की समता शस्त्र से करना असगत और स्वविरोधात्मक है। परन्तु समझाने की दृष्टि मे उस को बहुधा शस्त्र ही कहते हैं।

परन्तु अहिसा के अप्रत्यक्ष प्रयोग के द्वारा भी असत्य का अन्त किया जाता है। ऐसे प्रयोग को रचनात्मक कार्य-क्रम कहते हे।

अहिसा का प्रयोग कब प्रत्यक्षत करना चाहिये और कब अप्रत्यक्षत, इसके विषय मे जानने की उत्कण्ठा आप को अवश्य होगी। आप यह भी जानना चाहेगे कि सत्याग्रही व्यवस्था मे इन दो मे से किसका कितना महत्त्व होता है। इसके लिये हमे गाधीजी के कथनो का ही प्रमुखत आश्रय लेना उपयुक्त होगा। उनका कहना है कि "सत्याग्रह (व्यवस्था) मे सविनय आज्ञा-भग"[९४] का भाग बहुत ही थोडा रहता है।"[९५] अथवा "विना सस्तम्य रचनात्मक प्रयास के अहिसात्मक आज्ञा भग हो ही नही सकता।"[९६] रचनात्मक कार्य के मुकाबले मे सविनय आज्ञा-भग का क्या स्थान है, यह गाधीजी के निम्न लेख से हमे विदित हो जाता है। उन्होने लिखा है—

"यदि रचनात्मक कार्य-क्रम मे पूर्ण राष्ट्र का सहयोग प्राप्त हो जाय तो, शुद्ध-अहिसात्मक प्रयत्नो के द्वारा स्वतत्रता प्राप्त करने के लिये सविनय आज्ञा-भग की विलकुल जरूरत नही हैं, परन्तु ऐसा सौभाग्य राष्ट्रो या व्यक्तियो को कदाचित् ही मिलता है, इसलिये यह जान लेना जरूरी है कि राष्ट्र-व्याप्त अहिसात्मक प्रयास मे सविनय आज्ञा-भग का कौन-सा स्थान है।

"उसके तीन असदिग्ध लक्षण है—

"(१) किसी स्थानीय अन्याय के प्रतिकार मे वह सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

"(२) किसी खास अन्याय या कुत्सितता को लक्ष्य करके फल की चिन्ता न करते हुए आत्म-बलिदान की दृष्टि से भी वह किया जा सकता हे, कि जिससे स्थानिक चेतना या विवेक की जागृति हो। ऐसा मैंने चम्पारन मे किया

---

९४ 'सविनय आज्ञा-भग' अग्रेजी पद (Civil disobedience) का शब्दार्थ है, जो प्रचलित हो गया हे, परन्तु भावार्थ की दृष्टि से, हमारी समझ मे 'सविनय आज्ञा-भग' न कहकर 'सविनय दुराज्ञा भग' अधिक उपयुक्त है; क्यो कि सत्याग्रही केवल दुराज्ञा को ही नहीं मानता। सदाज्ञा का तो वह मुक्त-कण्ठ से पालन करने वाला होता है। आज्ञा-भग कहने मे अराजकता (Chaos) एव अनियत्रण का भाव आ जाता है, जो सत्याग्रही के सिद्धान्त के विलकुल विपरीत है। इसलिये विद्वज्जन इस पर विचार करें।

९५ हरिजन, सन् १९३९, पृष्ठ ६१.

९६ हरिजन, सन् १९४०, पृष्ठ ५६.

था। जब मैंने सविनय आज्ञा-भग प्रारम्भ किया था, मेरा फल पर कोई ध्यान नही था और मैं यह भी अच्छी तरह जानता था कि लोग सम्भवत उदासीन रहेगे, परन्तु परिणाम दूसरा ही हो पडा। उसे चाहे जैसा आप समझें, ईश्वर की कृपा कह लें, या शुभ भाग्य का निशाना।

"(३) रचनात्मक कार्य के हेतु पूर्ण उत्तरत्व प्राप्त न हुआ हो, तो उसके स्थान मे वह किया जा सकता है, जैसा कि सन् १९४१ मे किया गया था (यहा व्यक्तिगत सविनय आज्ञा-भग अभिप्रेत है)। यद्यपि उससे स्वातन्त्र्य-सग्राम को योग मिला और वह उसका (सग्राम का) एक अग भी था, तथापि वह केवल एक ज्ञात प्रश्न, अर्थात् वाणी स्वातन्त्र्य मे केन्द्रित रखा गया था। सविनय आज्ञा-भग का उपयोग स्वतन्त्रता-जैसे सार्वजनिक हेतु के लिये कभी नही किया जा सकता। प्रश्न असदिग्ध हो, और ऐसा हो, जो साफ तौर से समझ मे आ जाय, तथा ऐसा भी हो, जिस का माना जाना विरोधी पक्ष की शक्ति के भीतर की बात हो। यह तरीका ठीक-ठीक इस्तेमाल करने से, अन्तिम ध्येय तक अवश्य पहुँचा सकता है।

"मैंने सविनय आज्ञा-भग के पूर्ण आशय और सम्भावनाओ की जाच नहीं की है। (फिर भी) मैंने उस पर भी कह दिया है कि जिससे पाठक रचनात्मक कार्य-क्रम एव सविनय आज्ञा-भग के बीच के सम्बन्ध को समझ सकें। प्रथम के दो विषयो मे किसी बहुश्रम सिद्ध लम्बे चौडे रचनात्मक काय-क्रम की आवश्यकता नहीं थी और न हो ही सकती थी, परन्तु जब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये सविनय आज्ञा-भग ही की योजना की जाती है, तो पूर्वाभ्यास की आवश्यकता होती है, और इसकी भी आवश्यकता होती है कि जितने लोग सग्राम मे जुटे रहते हैं, उन सब के साक्षात् और सचेतन प्रयास की सहायता मिल सके। सविनय आज्ञा-भग, हर तरह सैनिको के लिये स्फूर्तिदायक होता है और विरोधी के लिये चुनौती का काम करता है। पाठक को यह स्पष्टत जान लेना चाहिये कि यदि सविनय आज्ञा-भग को लाखो आदमियो के रचनात्मक प्रयास का सहयोग न मिले, तो वह कोरा शावासी-प्रदर्शक और अत्यन्त निरर्थक होता है।"[९७]

तात्पर्य यह निकला कि सत्याग्रही व्यवस्था मे अहिंसाशस्त्र को उपयोग मे लाने की दो विधिया है—एक का नाम है सविनय आज्ञा-भग और दूसरी का रचना-

---

९७ The Pamphlet styled "Constructive Programme its meaning and place" cited in N K Bose's 'Studies in Gandhism', pp 178-180

त्मक कार्य। सविनय आज्ञा-भंग वाली विधि स्थानिक छोटे-मोटे अन्यायों का नाश करने और जन-जागृति के लिये की जाती है। उदाहरण के लिये निम्न लड़ाइयां देखिये, जिन में से कोई गांधीजी ने अपने नेतृत्व में चलाई, और कोई-कोई अपनी सम्मति और सहायताओं से चलवाई। दक्षिण-अफ्रीका के ट्रान्सवाल में नाम दर्ज कराने, तथा तीन पौंड वाली कर आदि के हुक्मनामों से मुक्त होने के लिये एवं हिन्दुस्थान के "चम्पारन, खेड़ा, बारडोली में कृषकों की मांग के लिये, वेकम (Vakom) में नागरिक स्वत्वों के लिये, ट्रावनकोर-जयपुर-मैसूर-राजकोट में वैधानिक सुधारों के लिये, 'गुरु का बाग' में धार्मिक संस्थाओं पर जनाधिकार के लिये।"[९८] गरज यह कि इस सविनय आज्ञा-भंग वाली विधि का उपयोग बहुत सीमित क्षेत्र में किया जाता है, इसलिये वह गौण है। प्रधान विधि तो है रचनात्मक कार्य की, जिस का क्षेत्र सर्वदेशीय रहता है। यदि सब लोग उसे अपनाने में भाग ले लें, तो गांधीजी का कहना है सविनय आज्ञा-भंग वाली विधि की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, परन्तु सब लोग दिलचस्पी लेने के लिये तैयार नहीं होते, क्यों कि एक ओर तो वे पूर्वाभ्यास के कारण पूर्व-प्रथाओं में रच-पच जाने से उसीको सुखदायी मानने लग जाते है, और दूसरी ओर नया कार्य-क्रम दीर्घ-सूत्री होने के कारण उत्साह और उत्तेजना से हीन तथा खिन्नता-वर्धक रहता है। ऐसी स्थिति में, सच पूछा जाय तो, दोनों विधियां एक दूसरी से इतनी अधिक सम्बन्धित रहती है कि एक को दूसरी की पूरक ही समझना चाहिये। गांधीजी के उपरोक्त कथन में यह कहा गया है कि सविनय आज्ञा-भंग—सैनिकों में स्फूर्ति पैदा करता है, परन्तु एक दूसरे स्थान पर उन्होंने यह भी बताया है कि "रचनात्मक कार्य का महत्त्व अहिंसात्मक सेना के लिये वही होता है, जो कवायद (drilling) वगैरह का रक्तमय युद्धों की सेना के लिये होता है।"[९९] अर्थात् रचनात्मक कार्य में भाग लेने से लोग सविनय आज्ञा-भंग वाले अहिंसात्मक युद्ध के लिये तैयार किये जाते है। जिस प्रसंग में यह बात कही गई है, उसे जान लेने पर उक्त विरोधाभास मिट जाता है। वह था सन् १९३० में नमक-सत्याग्रह को प्रारम्भ करने के पूर्व दिया हुआ वक्तव्य। उस समय उन्होंने कहा था कि "मैं जानता हूँ कि कई लोग रचनात्मक कार्य और सविनय आज्ञा-भंग के सम्बन्ध को जानना ही नहीं चाहते, परन्तु जो अहिंसा में विश्वास करता है, उसको रचनात्मक कार्य-क्रम और स्वराज्यार्थ सविनय आज्ञा-भंग के आवश्यक सम्बन्ध को जान लेने के लिये कोई कठिन सोच-विचार की जरूरत नहीं होती।

---

९८ N K Bose's Studies in Gandhism, p 182

९९ Young India, (9-3-30), p. 13

.स्वराज्य जैसी अपरिमापित वस्तु के लिये मनुष्यों को पहले ही से उन बातों को करने में अभ्यस्त होना चाहिये, जो सर्वभारतीय हित की हों। इस प्रकार का कार्य जनता को और उसके उन नेताओं को, जिन पर उसका असंशयात्मक विश्वास हो, एकत्र कर देता है। लगातार रचनात्मक कार्य करने से जो विश्वास (trust) उत्पन्न हो जाता है, वह संकट के समय बहुमूल्य सिद्ध होता है। इसीलिए यह कहा है कि रचनात्मक कार्य का महत्त्व अहिंसात्मक सेना के लिये वही होता है, जो कवायद वगैरह का रक्तमय युद्धों की सेना के लिये होता है। यदि जनता पहले ही से तैयार न हो गई हो, तो एक तो सार्वजनिक सविनय आज्ञा-भंग का किया जाना असम्भव होता ही है, और दूसरे अपरिचित अथवा अविश्वस्त नेताओं अथवा अन्य किसी और के द्वारा किया गया व्यक्तिगत सविनय आज्ञा-भंग भी निरर्थक होता है। इसलिये, जितनी अधिक प्रगति रचनात्मक कार्य की होती है, उतना ही अधिक अवकाश सविनय आज्ञा-भंग के लिये रहता है।"[१००] रचनात्मक कार्य, इसमें सन्देह नहीं, एक लम्बा मार्ग है, और इसीलिये भडभडाहट अर्थात् उतावली करने वाले क्रान्तिकारियों को वह प्रिय नहीं होता। इस प्रकार के क्रान्तिकारी, गांधीजी का कहना है, एक राज्य-पद्धति के बदले दूसरी राज्य-पद्धति भले ही जल्दी में ले आने में समर्थ हो जाय, पर सच्चे स्वराज्य को नहीं पा सकते, क्योंकि "स्वराज्य की तीर्थयात्रा एक कष्टदायक चढ़ाव है। वह चाहता है कि उस पर सविस्तर ध्यान दिया जाय। इसका अर्थ यह है कि विस्तृत व्यवस्थात्मक योग्यता हो, और ग्रामीण जनता की केवल सेवा के अभिप्राय से ग्रामों में प्रवेश किया जाय। दूसरे शब्दों में, अप्रबुद्ध जनता में राष्ट्रीय भावना जागृत की जाय। वह जादूगर के आम के पेड़ के समान एकदम नहीं उग उठेगा। वह तो वड-वृक्ष (banian) के समान प्राय अदृश्य रूप से बढ़ेगा। खूनी क्रान्ति इस लीला को कभी नहीं कर सकती। इधर तो जल्दी करना निस्सन्देह निरर्थक ही है।"[१०१]

रचनात्मक कार्य स्वराज्य का प्रतीक है, यह गांधीजी अपने कई वक्तव्यों में बार-बार स्पष्ट करते रहे हैं। एक बार का वक्तव्य उन का यह है कि "रचनात्मक कार्य-क्रम पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति का अहिंसात्मक और सत्य मार्ग है। उस की सर्वमुखी पूर्ति ही पूर्ण स्वतन्त्रता कहाती है। भला इस बात की कल्पना तो करें कि चालीस करोड़ आदमी एक ऐसे रचनात्मक कार्य-क्रम में संलग्न है, जिस का उद्देश्य है तरीज्ञार या समूल राष्ट्र का संगठन करना। इससे कौन इन्कार कर सकता है कि

---

१०० Young India (9-3 30), p 13

१०१ Young India (21-5-25), p 178

स्वराज्य का अर्थ केवल विदेशियों को बाहर कर देने का ही नहीं है, वरन् शब्दार्थ की हर दृष्टि से उस मे पूर्ण स्वतन्त्रता का भाव रहता है।"[१०२] इस रचनात्मक कार्य की एक खूबी यह है कि 'इस क्षेत्र मे कपट, बलात्कार और हिंसात्मक भावों के शेष रह जाने की जरा भी गुंजाइश नही रहती। यह खूबी पूर्वकथित प्रत्यक्ष अहिंसात्मक कार्य अथवा सविनय आज्ञा-भंग मे इतनी अधिक मात्रा मे नही आ पाती, क्योंकि (उस समय) और नही तो पर पक्षवालों के मन मे क्रोधादि हिंसात्मक भाव अवश्य ही रह जाते हैं।[१०३]

यह रचनात्मक कार्य-क्रम जब तक सर्वमुखी नहीं होता, तब तक वह पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रतीक नहीं बन सकता। गांधीजी ने, इसलिये कांग्रेस की कार्य-कारिणी समिति के पास अप्रेल २७ सन् १९४२ को निम्न प्रस्ताव लिखकर भेजा था —

"स्वराज्य की सच्ची इमारत बनाना इसी मे है कि करोड़ों हिन्दुस्तानी रचनात्मक कार्य को हृदय मे अपनाएँ। इसको किये बिना, सकल राष्ट्र वर्षों से प्राप्त अपनी बेहोशी से नहीं उठ सकता। अंग्रेज रहे या न रहे, हमारा कर्त्तव्य है कि हम हमेशा के लिये बेकारी को पोछ डाले, धनी और निर्धनी के बीच खुदी खाई को बांध दे, साम्प्रदायिक झगडों को निकाल भगा दें, अछूत के भूत से पिण्ड छुडावें, डाकुओं का सुधार करें और जनता को उनसे बचावें। यदि राष्ट्र संगठन के इस कार्य मे करोड़ों आदमी सचेष्ट दिलचस्पी न लेंगे, तो स्वतन्त्रता स्वप्न होकर ही रह जायगी, और न तो वह अहिंसा से मिल सकेगी और न हिंसा से ही।"

हर दृष्टि मे स्वतंत्र (स्व+तंत्र) या स्वराज (स्व+राज) का अर्थ होता है, हर क्षेत्र मे अपने पैर के बल खड़ा होना—पराये आश्रय पर नहीं रहना। जब रचनात्मक कार्य की चर्चा की जाती है, तो लोगों के मन में केवल ग्राम या गृह अर्थ की झांकी उठती है, और दूसरे क्षेत्रों को भूल जाते हैं, परन्तु गांधी के रचनात्मक कार्य-क्षेत्र मे समाज के सभी अंग शामिल रहते है। उदाहरण के लिये मिल-मजदूरों की हड़ताल का ही प्रश्न ले ले। अहमदाबाद के मजदूरों ने जब सन् १९१८ मे हड़ताल की थी, तब उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि मजदूर अपने उद्देश्य की प्राप्ति तभी कर सकेंगे, जब उन के पास अपनी जीविका चलाने के लिये अन्य और साधन होंगे, ताकि वे भूखे पेट होने के कारण मिल-मालिकों की इच्छा के सामने न झुक सकें। उनका कहना था कि दूसरों की दया या दान के भरोसे हड़ताल का टिकना कठिन

---

१०२ Gandhi's Statement, dated 27-10-1944, (Cited in Pol Phil. of Mahatma Gandhi, p 218)

१०३ हरिजन, १९३५, पृष्ठ १२३ (Cited in Pol Phil p 218)

होता है। इस कार्य-क्रम को वे कार्य-पूरक-विधि (Subsidiary or supplementary) कहते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि हर मनुष्य को एक ही प्रकार के कार्य को नहीं सीखना चाहिये। उसका जो प्रधान कार्य हो। उसीमें सम्बन्धित अन्य कार्यों को भी जानना चाहिये, ताकि मौके पर कार्य-कर्ता दूसरों का मोहताज न बने। उन का कहना है कि "यह मेरी धारणा है कि जो सम्बन्ध धातु का पूंजीपति से रहता है, वही सम्बन्ध अनेकोद्योगीयज्ञान (Knowledge of a variety of occupations) का श्रमिक वर्ग में होता हैं। श्रमिक का चातुर्य ही उस की पूंजी है।"[१०४] यद्यपि यह बात सच है कि गांधी का रचनात्मक कार्य-क्रम सर्वतोमुखी हैं, तथापि यह जानना भी आवश्यक है कि वे अपने प्रयोगों को हिन्दुस्थान-क्षेत्र में कर रहे थे। उसी को लक्ष्य करके उन्होंने अपने रचनात्मक कार्य-क्रम में ग्रामीण व्यवस्था को ही प्रधानता दी है। ग्राम-व्यवस्था के पुनर्जीवन के लिये उन्होंने १८ प्रकार के कार्य-विभाग बताये थे, जिनका उल्लेख परिशिष्ट न० ४ में किया हुआ आप को मिलेगा, परन्तु पाठक इससे यह न समझें कि ग्रामोत्थान की उनकी यह पद्धति केवल हिन्दुस्थान के लिये ही कही गई हैं। उनका सिद्धान्त तो सार्वभौम हैं, जिसके अनुसार मशीनयुग की प्रधानता का नाश कर शरीरावयवों के युग की पुनर्स्थापना की जाने की मांग है, और इसके लिये ग्रामोद्योग अथवा गृहोद्योगों का प्रचार करना आवश्यक है। पर हां यह जरूरी नहीं है कि हर देश में एक ही सा कार्य-क्रम अपनाया जाय। मार्क्स ने भी यही कह रखा है कि हर देश परिस्थितियों के अनुसार अपना कार्य-क्रम बनाने में स्वतंत्र है।

इससे अब ज्ञात हुआ कि गांधी के रचनात्मक कार्य का क्षेत्र बड़ा विस्तीर्ण था। देश के कोने-कोने तक और समाज की हर पहलू में उसे प्रवेश करना था। इतने बड़े कार्य का होना तभी सम्भव हो सकता था, जब कि चालीस करोड़ हिन्दुस्थानी उसमें दिलचस्पी लेते, अथवा उनके बीच में काम करने वाली कोई ऐसी संस्थाएँ होती, जो गांधी के बताये हुए मार्ग पर चलती हुई उसे कार्यान्वित कर सकती। अतः इस अभिप्राय की पूर्ति के लिये गांधीजी के आदेशानुसार कुछ संस्थाएँ देश में उठी, और कुछ आश्रम थे ही, जिनके विषय में हम पहले कह चुके हैं। आश्रमों का महत्त्व यह था कि उनमें अहिंसात्मक साक्षात् कार्य (direct action), और रचनात्मक कार्य के रूप में अहिंसात्मक अप्रत्यक्ष कार्य, दोनों की शास्त्रीय और व्यावहारिक शिक्षा मिलती थी। "उन के द्वारा अहिंसा का सन्देश छनते-छनते जन-साधारण तक पहुँचता है। अहिंसात्मक नये-नये प्रयोगों की खोज के लिये आश्रम, खोजकार-संस्थाओं का काम

---

१०४ हरिजन, १९३७, पृष्ठ १६१.

देते है, और सत्यानुशीलन के लिये आवश्यकता पडने पर मनुष्यों को मर मिट जाने तक की शिक्षा देते है।"[१०५] "हिन्दुस्थान के कई भागो मे" वावन जी ने लिखा है "वहुत से सत्याग्रह आश्रमो की स्थापनाएँ हुई, और वे सावरमती आश्रम के नमूने पर वनाये गये।—सावरमती आश्रम, जिस का अन्त सन् १९३३ मे कर दिया गया।"[१०६] आश्रमो के अतिरिक्त रचनात्मक कार्य के भिन्न-भिन्न मोर्चो को सँभालने वाली सस्थाएँ थी, जिन का सचालन तत्सम्वन्धी योग्य व्यक्तियो द्वारा किया जाता था। इस प्रकार की अखिल भरतीय ग्यारह सस्थाएँ थी, जिनके नाम हम पहले गिना चुके है। रचनात्मक कार्य-सम्वन्धी सर्वदेशीय भावना की पूर्ति के लिये इन सव का एक दूसरे से सहयोग रहना आवश्यक था, इसलिये इनका सहयोग किस प्रकार और कव हुआ, यह पूर्व विवरण मे आ चुका है। ये सस्थायें कहा तक अपने निश्चित कार्य-क्रमो को निवाह सकी और सर्वदेशीय रचनात्मक काय मे सहयोग दे सकी है, इस विपय पर यहा विचार प्रकट करना अनावश्यक है।

सत्याग्रह-सम्वन्धी व्यवस्थाओ मे एक और महत्त्वपूर्ण व्यवस्था होती है। और वह है—स्वयसेवकीय व्यवस्था। चूकि स्वयसेवक सस्थाओ का प्रधान कर्तव्य होता है सहयोग देना, इसलिये हम ने उन का विवरण नीचे जन-सहयोग शीर्षक दसवे विभाग मे ही दिया जाना उपयुक्त समझा है।

(१०) **सत्याग्रही स्वय-सेवक और जन-सहयोग**—सृष्टि मे कोई प्राणी ऐसा नही, जिसे प्रकृतिवश प्रतिक्षण कोई न कोई कम न करना पडता हो, यह सिद्धान्त अमिट है।"[१०७] इससे यह स्पष्ट है कि मानव-समाज मे भी कर्म मिटाये नही मिट सकते। तव फिर प्रश्न यह उठता है कि समाज को व्यवस्थित रखने के लिये मानव-कर्मो की धार को छेड-छाड करके वलपूर्वक इधर-उधर नहाया जाय या कि उसे अपने-आप स्वेच्छानुसार वहने दिया जाय। गाधीवाद मे दोनो वर्जनीय है। दोनो समाज के लिये हानिकारक है। गाधीजी न तो यह चाहते कि किसी को ठोक पीटकर वैद्यराज वनाया जाय, और न यही चाहते कि स्वेच्छा के नाम पर स्वच्छदता का नृत्य कराया जाय। उन्होने देखा कि लोग स्वेच्छा और स्वतत्रता के नाम पर दुनिया मे अधा-धुन्ध अन्याय कर रहे है, इसलिये उन्होने एक तीसरा मार्ग नियत्रण का वताया। यथार्थ मे स्वतत्रता, स्वभाव, स्वनियत्रण ये सव शब्द पर्यायवाची है, और इन सव का अर्थ उस 'स्व' (स्व=खुद) से रहता है, जो शुद्ध-निर्मल हो, परन्तु

---

१०५ Ashrama, pp 61 and 89 Cited in Pol, Phil p 189

१०६ Pol Phil of Mahatma Gandhi, p 189

१०७ देखो, गीता ३।५

निर्मल 'स्व' को भूलकर लोग मलमय अर्थात् विकारयुक्त अहंकार को ही 'स्व' समझने लगते हैं, जिस के फलस्वरूप हरएक व्यक्ति अपनी विकारमयी भावनाओं तथा उन भावनाओं से उत्पन्न विकारमय कर्मों को ही श्रेयस्कर कहता हुआ समाज में ऊधम मचाने लगता है। तेजी से बहते हुए अनर्थ के इस प्रवाह को रोकने के लिये यह आवश्यक हुआ कि मनुष्यों का ध्यान शुद्ध 'स्व' की ओर खींचा जाय। चूंकि शुद्ध 'स्व' की स्थिति बिना संयम और नियंत्रण के नहीं होती, इसलिये गांधीजी ने कर्म-क्षेत्र में स्वनियंत्रण के सिद्धान्त को प्रधानता दी, जिस के विषय में पाठकों से पहले काफी कहा जा चुका है।

जब हम इस बात का अनुभव कर लेते हैं कि कर्म अनिवार्य है, और वह बलात्कार से नहीं होना चाहिये, क्योंकि बलात्कार परतंत्रतापरक होता है, तब हमारे लिये केवल एक मार्ग रह जाता है, और वह है—स्वतंत्रतापूर्वक अथवा स्वनियंत्रणपूर्वक कर्म करना। इसका अर्थ यह नहीं कि मन-मौजी होकर जी चाहा तब कर्म कर लिया और जी चाहा तब उसे करने से इन्कार कर दिया। इस का अर्थ होता है, बिना किसी भय या दबाव के संयमित होकर खुशी से समाज-सेवा के काम करते रहना। इसी भावना को जागृत करने, अथवा यह कहिये कि इस भावना को कार्यरूप में परिणत करने के लिये स्वयंसेवक-संघों की उत्पत्ति हुआ करती है। स्वयंसेवक, इस संयुक्त शब्द में दो भाव हैं—सेवा करना, और वह भी ऐसी सेवा हो, जो अपने मन से, खुशी से की जाय। दबाव, भय, प्रलोभन या प्रमाद (जोश या आवेश) में आकर पराये हित का काम करना, स्वयं-सेवा नहीं कहला सकती, और न उस को करने वाला स्वयं-सेवक कहलाने का अधिकारी बन सकता है। इसलिये, जब हम सत्याग्रही स्वयं-सेवक की बात करते हैं, तब यह समझना चाहिये कि उस में सेवा करने का भाव अपने-आप बिना किसी स्वार्थ, भय या प्रमाद के उठे। निष्काम सेवा की भावना उस में विद्यमान रहे और इस भावना को वह समाज में अहिंसात्मक साधनों के द्वारा चरितार्थ करे। अहिंसात्मक निष्काम सेवा की भावना सत्याग्रही स्वयं-सेवक के लिये उतनी ही आवश्यक है, जितना शरीर के लिये प्राण-वायु। इस प्रकार के स्वयं-सेवक तैयार करने के लिये ही गांधीजी ने आश्रमों की स्थापनायें की थीं, यह हम पहले देख चुके हैं, परन्तु आश्रम समाज की समस्त योजनाओं के लिये काफी संख्या में स्वयंसेवक तैयार नहीं कर सकते। वे केवल आदर्श स्वयं-सेवक सीमित संख्या में तैयार कर सकते हैं, जो अपनी शिक्षा और पूर्वानुभव के कारण सत्याग्रही कार्यों में आवश्यकतानुसार नायकों का काम सँभालने के योग्य भी हो जाते हैं। इसलिये गांधीजी ने आश्रमों के बाहर भी स्वयं-सेवक तैयार करने-कराने के हेतु स्वयं-सेवक-संघों की स्थापनाओं में योग

दिया। यो तो आश्रमो मे जिन नियमो का पालन आश्रम-वासियो को करना पडता था, उन्ही नियमो को सत्याग्रही स्वय-सेवक भी पालन करे, तो सर्वोत्तम हो , परन्तु स्वय-सेवक के लिये उतना कठिन नियत्रण, त्याग और तप का करना आवश्यक नही, जितना आश्रमवासियो के लिये जरूरी होता है। स्वय-सेवक अपने घरो मे—अपने बन्धु-बान्धवो के बीच रहकर आवश्यक नियन्त्रित जीवन बना सकते है, अत उनके लिये गाधीजी ने पहले-पहल सन् १९२१ ई० मे कुछ नियम बनाये, जिनके पालनार्थ हर स्वय-सेवक को वचन-बद्ध होना या व्रत (Pledge) लेना अनिवार्य था। इन नियमो को हमने परिशिष्ट न० ५ मे दिया है। फिर सन् १९३० मे उन्नीस नियमो का एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया, जिन्हे पालना, हर सत्याग्रही का कर्त्तव्य था। स्वय-सेवको का काम केवल इतना ही नही था कि रचनात्मक कार्य-क्रम मे भाग ले और आवश्यकतानुसार सत्याग्रही युद्ध के सैनिक बने। उन का यह भी कर्त्तव्य था कि सत्याग्रही युद्ध के समय युद्ध को सफलीभूत करने के हेतु युद्ध-सम्बन्धी अन्य सेवाएँ भी करें। इन अन्य सेवाओ मे एक प्रधान सेवा यह थी कि जनता मे शान्त वातावरण रखा जाय, क्योकि सत्याग्रह के लिये शान्त-क्षेत्र ही उपयुक्त होता है। अग्रेजी सरकार के कूटनीतिज्ञो ने अनेक राजनीतिक षड्यत्र रचे कि जिससे साम्प्रदायिक झगडे बढें। साम्प्रदायिकता के आधार पर चुनाव लडाना और सरकारी नौकरिया देना इत्यादि राजनीतिक प्रलोभन दिये गये। परिणाम यह होता गया कि हिन्दू और मुसलमानो, हिन्दू और अछूत जातियो आदि मे, वैमनस्यता की चिनगारिया उठी और अन्त मे 'प्रज्वलित' होती गई। जहा देखो वही आपसी मन-मुटाव बढा, मार-पीट होने की खबरे फैली, सिर-फुटौअल और बलवे होने लगे। गरज यह कि दुश्मनो ने सत्याग्रह को असफल बनाने के हेतु सारे देश मे अशाति का विष-बीज बो दिया। तब गाधीजी ने सन् १९३८ मे यह महसूस किया कि ऐसे भी स्वय-सेवक होने चाहिये, जो हिन्दू-मुसलिम के बीच के अथवा अन्य लोगो के बीच के उपद्रवो को शान्तिमय साधनो से निबटाने मे समर्थ हो। ऐसा करने मे यदि उन्हे अपने जीवन की आहुति भी देनी पडे, तो वे उसे शान्तिपूर्वक सहर्ष देने को तत्पर रहे। इसलिये उन्होने देश-भर मे शान्ति-दल (Peace-brigades) बनाने के लिये सुझाया। इस सुझाव के अनुसार कुछ शान्ति-दल बनाने के प्रयत्न किये गये। इन मे से सब से अधिक उल्लेखनीय उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्तीय खुदाई खिदमतगार या सुर्ख पोश दल (Red Shirts) है, जिस के विषय मे पहले कहा जा चुका है। यो तो इस दल की उत्पत्ति खान अब्दुल गफ्फार खा की अध्यक्षता मे सन् १९३८ के करीब बीस वर्ष पहले हो चुकी थी, जब कि गाधीजी ने राष्ट्र को यह आदेश दिया था कि रौलेट बिल का विरोध-प्रदर्शन सारे देश मे किया जाय।

उस समय उस का कांग्रेस से कोई सरोकार नहीं था। यद्यपि उस का ध्येय यही था कि देश-सेवा की जाय और अन्याय का विरोध किया जाय, तथापि गांधी के अहिंसा-सिद्धान्त का उस में प्रवेश बहुत पीछे हुआ। सन् १९३८ में उस की सदस्य-संख्या एक लाख थी। जब सन् १९३८ में गांधीजी ने शान्ति-दलों के बनाये जाने की घोषणा की, तब खान गफ्फार खां ने उन की आवाज को पूर्ण रूप से चरितार्थ करने की ठानी। उपर पूर्वोक्त दल में व्याप्त बदला लेने वाली और हिंसात्मक भावनाओं को अहिंसात्मक भावनाओं में परिणत करने के लिये उन्होंने अपने ज्वलन्त दृष्टांत तथा उपयुक्त आचार-विचारों द्वारा प्रयत्न किये। परिणाम यह हुआ कि उनका ध्येय कांग्रेस के ध्येय में भी आगे बढ़ गया। कांग्रेस अहिंसा के सिद्धान्त को धर्म्म (Creed) नहीं मानती थी। उसने उसे नीति (Policy) के रूप में अपनाया था। यह नीति गांधी-सिद्धान्त से निम्नस्तर की है। नीति होने के कारण वह चाहे जब परिवर्तित की जा सकती है, क्योंकि उसे अपने मूल ध्येय में पूर्ण विश्वास और श्रद्धा नहीं रहती। श्रद्धा-विहीन मनुष्य को मृत्यु-भय सदा बना रहता है। मृत्यु-भय जनवनी का रहना है। इसलिये कांग्रेस की अहिंसात्मक नीति को गांधीजी कहते थे 'कमजोरों का शस्त्र' (Weapon of the weak)। परन्तु, खान अब्दुल गफ्फार खां ने अपने इस दल का उसी स्तर तक उठाने का प्रण किया, जिसे गांधीजी ने अपनाया था। वह था अहिंसा का प्रतिपालन धर्म के रूप में, अर्थात् उन्होंने इस आदर्श को स्वीकार किया कि 'अहिंसा बलवान का शस्त्र (non-violence is the weapon of the strong) होता है न कि कमजोरों का। इसीलिये सन् १९४० में, जब कांग्रेस ने सौदा-बाजी के आधार पर ब्रिटेन को लड़ाई में मदद देना कबूल किया, तो उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया और कहा कि मैं और मेरे खुदाई खिदमतगार अहिंसा को बलवानों का शस्त्र मानते हैं न कि कमजोरों का।[१०८]

बलवान वही है जिस के हृदय में हिंसा समूल नष्ट हो गई हो और उसके स्थान में शुद्ध अहिंसा का वास हो गया हो। ऐसा मनुष्य किसी भी हालत में हिंसा-शस्त्र का उपयोग कर ही नहीं सकता, क्योंकि उस के पास हिंसा रहती ही नहीं, पर जो अपने हृदय में बसी हुई हिंसा को, किसी कारण दबा कर रखते हैं और अहिंसा को नीति समझ कर पालन करते हैं, वे समय पाकर हिंसा का फिर से प्रयोग करने में नहीं चूक सकते। ऐसा समय उन को कब मिल सकता है? वह उस समय मिल जाता है, जब वे यह समझने लगते हैं कि अब हम विरोधी पक्ष से अधिक बलवान हैं। तब यह निश्चय है कि वे अहिंसा-शस्त्र का

१०८ Pol Phil of Mahatma Gandhi के आधार पर।

प्रयोग उसी समय करते है, जब वे समझते है कि हम विरोधी पक्ष से कमजोर है। गाधी और सीमा प्रान्ती गाधी (खान गफ्फार खा) इसे पसन्द नही करते थे। अब इस विषय को अधिक विस्तार देना व्यर्थ-सा मालूम होता है। केवल इतना ही जानना काफी है कि देश मे अनेक स्वय-सेवक सस्थाएँ बनी। कोई काग्रेस की मातहती मे बनी, तो कोई स्वतत्र रूप से। किसी ने केवल रचनात्मक कार्य को लक्ष्य रखा, तो किसी ने केवल शान्ति-स्थापना के कार्य को। कही रचनात्मक कार्य के विभिन्न क्रमो को ग्रहण किया, तो कही विशेष कार्य-क्रम को ही अपनाया। इस तरह हरिजन-सेवा-सघ, गो-सेवा-सघ, गाधी-सेवा-सघ, हिन्दुस्तानी तालीमी सघ, कौमी सेवा-दल, अखिल भारत सर्व-सेवा-सघ इत्यादि बने। ये सब सघ, समितिया अथवा सभाएँ गाधी के अहिसात्मक शस्त्र को किसी-न-किसी रूप मे अपनाये हुई थी। इन के अतिरिक्त देश मे और भी कई प्रकार और नाम के दल या सघ काम करते थे, जैसे राष्ट्रीय स्वय-सेवक-सघ, खाकसार आदि जिन का उद्देश्य साम्प्रदायिकता से उत्तेजित था, इसलिये इन्हे गाधी-मत के पोषक सघो से भिन्न समझ कर ही अध्ययन करना चाहिये।

काग्रेस का ध्येय था अग्रेज सरकार से स्वतत्रता ले लेना। इसलिये उस ने सत्य और अहिसा का पालन नैतिकता के रूप मे स्वीकार किया, न कि धर्म के रूप मे। धर्म से नीति का स्तर नीचा होता है, यह हम देख चुके। फिर भी नीति चिर-स्थायी रखी जा सकती है। यह समझ कर और समझा कर भी कि काग्रेस अहिसा की नीति को चिरकालीन बना कर रखेगी, गाधीजी ने अपना सम्पर्क उस से जोड कर रखा था। दोनो का पारस्परिक यह सम्पर्क इतना घनिष्ठ रहा कि लोग भ्रम-वश दोनो को अभिन्न समझने लगे। काग्रेसवादियो ने गाधी के नाम की—गाधी के सिद्धात-की आड मे जनता को अपनी ओर आकर्षित भी खूब किया, परन्तु गाधीजी जानते थे कि काग्रेस भ्रष्ट होगी, क्यो कि उस ने अपने कोष मे अहिसा और सत्य को क्रमश शान्ति और न्याययुक्त साधनाओ (peaceful and legitimate means) के दायरे मे सिकोड कर रख छोडा था। इस सकुचित दायरे और काग्रेसी विस्तार तथा रफ्तार को देखकर दूरदर्शी गाधी ने काग्रेस को आगाह किया था कि वह शीघ्र ही अहिसा-पथ को छोड हिसा-पथ को पकड लेगी। इसी को ध्यान मे रखकर वे अपनी मृत्यु के पूर्व देश के लिये यह सन्देश छोड गये कि काग्रेस का काल उसी समय समाप्त हो गया, जब कि उन्होने अग्रेजो से स्वतत्रता प्राप्त कर ली। अब उसे युद्ध-कुशल सस्था के बजाय स्वराज्य-प्रिय सस्था होना चाहिये। उसका सदस्य बनने का अधिकारी वही समझा जाय, जो निश्चित जन-सेवा करे, अत लोक-सेवा के आधार पर उसे 'लोक-सेवक-सघ' बन जाना चाहिये, परन्तु जैसा कि आज काग्रेस

संस्था और कांग्रेस सरकार का रंग-ढंग है—जिसका प्राथमिक स्वरूप गांधीजी को स्वयं अपने जीवन काल में दिखाई देने लगा था—उसे देखकर कोई भी कह सकता है कि वह लोक-सेवा-संघ नहीं, भ्रष्टाचारी राज्य-शासक गिरोह बन गया है।

जिस प्रकार गांधीजी ने सन् १९२१ और सन् १९३० में स्वयं-सेवकों और सत्याग्रहियों के लिये प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किये थे, उसी प्रकार वे अपनी मृत्यु के केवल एक दिन पहले, यानी ता० २९-१-४८ को कांग्रेस संस्था के लिये एक नया विधान पत्र लिखकर छोड़ गये हैं, जिस का पालन करने से वह लोक-सेवा-संघ बन सकती थी। वह विधान-पत्र "राष्ट्र के लिये उन का वसीयतनामा और धर्म-सन्देश" कहा जाता है। इस को भी हमने परिशिष्ट नं० ६ में दिया है। यदि कांग्रेस ने सचमुच ही उसमें दिये हुए सेवा-क्रम को मान लिया होता और पद-लोलुप न होती, तो वह निस्सन्देह लोक-सेवा-संघ बन गई होती। हाल के चुनाव में जीत जाने से उसकी यह डींग कि वह अभी भी जनप्रिय है, निरी धोखे की टट्टी है, जिसे स्थानीय सभी निष्पक्ष लोग जानते हैं।

गांधीजी के सेवा-क्रम में यह बात नहीं है कि सभी सेवक निःशुल्क काम करें। सेवा की हृदय से इच्छा होते हुए भी गरीब लोग भूखे पेट सेवा नहीं कर सकते, जैसी कि कहावत है 'भूखे पेट भजन न होई', इसलिये गांधीजी का कहना था कि ऐसे गरीब सेवकों को अपनी गुजर-बसर के लायक कम-से-कम शुल्क लेना चाहिये। ग्रामों में काम करने वालों के लिये उनका आदेश था कि वे अपनी सेवाओं के कारण ग्राम-प्रिय बनें, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उन्हीं ग्रामों पर निर्भर रहें।

इस तरह हमने देख लिया कि सत्याग्रह क्षेत्र में न केवल नायकों और सैनिकों ही की, वरन् ऐसे स्वयंसेवकों की भी आवश्यकता होती है, जिन में आवश्यकतानुसार सैनिक बनकर लड़ने की क्षमता हो, और युद्ध-क्षेत्र से बाहर रहकर सैनिकों को सहायता पहुँचाने की भी योग्यता हो। गांधीजी का जो प्रधान सत्याग्रह-क्षेत्र रचनात्मक कार्य-क्रम है, उसे नहीं भूलना चाहिये। चाहे रचनात्मक कार्य-क्षेत्र हो, या चाहे साक्षात् कार्य-क्षेत्र (direct action) दोनों की सफलता के लिये सैनिकों और स्वयं-सेवकों के अतिरिक्त अन्य जनों से सहयोग-प्राप्ति की भी जरूरत होती है। गांधीजी द्वारा प्रणीत सामाजिक उन्नति का सारा विधान जन-सहयोग पर निर्भर है। यदि जन-सहयोग न हो, तो न राज-विधान चल सकता है और न अर्थ-विधान। जन-सहयोग प्राप्त कर लेने के कारण ही मुट्ठी भर लोग करोड़ों पर आधिपत्य करने लगते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में अल्पसंख्यक शासकों और आर्थिक क्षेत्र में अल्पसंख्यक सामन्तों अथवा पूंजीपतियों का अस्तित्व इसी जन-सहयोग पर अव-

लम्बित रहता है। यह जन-महयोग या तो वल या छल के द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है, या प्रेम और सेवा के द्वारा। वल या छल द्वारा प्राप्त सहयोग सच्चा सहयोग नही होता। वह या तो हृदय की दवी हुई आग रहती है, अथवा एक चाक पर ढुलकती हुई गुलामी की गाडी। इसलिये यदि यह कहा जाय कि यह सहयोग, असहयोग को ढाकनेवाली एक चादर मात्र है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। ऐसे महयोग के स्थान मे आत्म-प्रेरित, प्रेममय महयोग की स्थापना करने के अभिप्राय से ही गाधीजी का जगत् प्रख्यात असहयोग का सिद्धान्त विकसित हुआ है। असहयोग से सहयोग प्राप्त हो, यह भी एक अनूठी विरोधाभासी उक्ति प्रतीत होती है, पर है यह मच ही। भयादि से प्रेरित सहयोग के विनाश से पूर्व स्वपक्ष मे प्रेमादि से प्रेरित महयोग की रचना करना आवश्यक होती है। यह रचना तभी हो सकती है, जव हम अपनी नि स्वार्थ सेवाओ के द्वारा जनता की सहानुभूतिक प्रेममयी सुपुप्त भावनाओ को जागृत कर अपनी ओर आकर्षित कर लें। सत्याग्रही सेवाओ के द्वारा गाधीजी ने एक ओर यह आकर्षण किया, और दूसरी ओर दुष्प्रवृत्तियो के खिलाफ असहयोग जारी रखा। इस का परिणाम यह होता गया कि जव-जव सत्याग्रही युद्ध हुए, तव-तव उसे सफल वनाने के लिये उन्हे जन-साधारण का भी यथासम्भव सहयोग प्राप्त हुआ। जिस प्रकार रक्त-प्रवाही युद्धो मे जनता का सहयोग अनेक रूपो मे मिलता है, उमी प्रकार सत्याग्रही युद्ध के समय जन-महयोग नाना प्रकार से प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, सत्याग्रही सैनिको के कुटुम्वियो की रक्षा करना या पालन-पोषण करना, सैनिको को रसद पहुँचाना, तथा जेल के काल मे उन्हे खादी के वस्त्र, पुस्तके, अखवार अथवा अन्य आवश्यक सामान जेलाधिकारियो की अनुमति से भेजना इत्यादि, परन्तु इससे भी अधिक उपयोगी जन-सहयोग वह है, जव सत्याग्रह के समय जनता उभाड मे न आये और शान्तिमय वातावरण वनाये रखे। यदि कोई विरोधी, शान्त वातावरण मे विघ्न उपस्थित करके, उसे उत्तेजित तथा अशान्त करने का प्रयत्न करे, तो उसे अशान्त न होने दे। गाधीजी ने सत्याग्रह-सिद्धि के लिये इस प्रकार के सहयोग की सदा आवश्यकता वताई है। जव यह एक सर्वसामान्य नियम है कि हर चीज को फलीभूत होने के लिये उसी के अनुसार उपयुक्त वातावरण तैयार करना पडता है, तव सत्याग्रह के लिये भी वह नियम लागू होना चाहिये। उसी नियम के अनुसार गाधीजी चाहते थे कि सत्याग्रह के पूर्व शान्त वातावरण तैयार किया जाय, और सत्याग्रहकाल मे वह वातावरण विचलित न होने पाये, अन्यथा एक तो उस के फल लगने मे सन्देह हो जायगा, और दूसरे लगा भी, तो वडी कठिनता से और देरी से लगेगा, तथा वह उतना मधुर और उपयोगी भी न हो सकेगा, जितना उपयुक्त शान्त वातावरण

कायम रहने से हो सकता है। अनुमान कीजिये कि आप को आम का उत्तम मीठा फल खाना है। तब आप उत्तम आम का बीज लायेंगे, फिर उस बीज के लायक उत्तम भूमि भी ढूढेंगे, और भूमि मिल जाने पर उसे उपयुक्त काल मे बोयेंगे। इसके पश्चात् आदि से लेकर अन्त तक ऐसे उपयुक्त सयोग जुटायेंगे कि जिससे वह नित्यप्रति हृष्ट-पुष्ट होता हुआ बढता जाये और बझुआ न होने पाये। गरज यह कि बीज, भूमि, काल, सयोग अर्थात् वातावरण सब उसी के उपयुक्त हो, तब कही आप उससे इच्छित फल पा सकेंगे। यदि इन मे से किसी एक की भी अनुपयुक्तता या कमी हुई, तो उस का कुछ-न-कुछ खराब प्रभाव हो जायेगा। आप के सब यथेष्ट प्रयत्नो के बावजूद भी यदि किसी दैवीघटना के कारण, जिस पर आप का कोई वश न चलता हो, आप को यथेष्ट फल न मिल सके, तो उस मे आप का कोई दोष नही। इसी तरह सत्याग्रही फल मिलने के लिये हमे उसी के अनुरूप वातावरण ढूढना, और उसे आदि से अन्त तक कायम रखना आवश्यक होता है।

सत्याग्रह के दो मूल प्रयोग—सहयोग और असहयोग

यह हम पहले देख चुके है कि सृष्टि की सारी-की-सारी आन्तरिक और बाह्य स्थिति दो पारस्परिक विरोधिनी गतियो की योग-मात्र है—एक सत्य और दूसरी असत्य, इसलिये जब सत्य-ग्रहण की बात कही जाती है, तब उस मे दो भावनाएँ सम्मिलित रहती है—एक सत्य का अभ्यास, राग या ग्रहण, और दूसरी असत्य का त्याग या वैराग्य। इसी बात को 'सत्य का सहयोग' और 'असत्य का असहयोग' कह कर प्रकट कर सकते है। इन दोनो मे से किसी एक के प्रयोग से दूसरा आप-ही-आप सधता जाता है, यह स्वयसिद्ध है, परन्तु सत्याग्रही इन दोनो क्रियाओ को एक साथ ही चलाने की चेष्टाएँ करता है, ताकि वह अविलम्ब सत्य का ग्रहण कर सके और करा सके। जब समाज मे प्रचलित—बाह्य असत्य—क्रियाओ से सत्याग्रही की मुठ-भेड होती है, अर्थात् जब उसे समाज के सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक क्षेत्रो मे प्रचलित असत्यमयी प्रथाओ के विरुद्ध युद्ध छेडना पडता है, तब उसे यह मालूम रहता है कि वह असत्य-मार्गियो को केवल समझा-बुझाकर सत्य मार्ग पर नही ला सकता। उस समय वह उन के असत्य-कृत्यो मे सहयोग देने से इन्कार कर देता है। साराश यह कि हर प्रकार की सामाजिक कुरीतियो को मिटाने के लिये उस का प्रधान शस्त्र रहता है उन कुरीतियो से असहयोग। सहयोग और असहयोग इन दोनो क्रियाओ का प्रयोग हमे उस समय भी करना पडता है जब हमारी वैयक्तिक आन्तरिक वृत्तियो मे सघर्ष होता है, परन्तु यहाँ पर हमारा दृष्टिकोण केवल उसी

असहयोग मे सीमित रखना है जिसका प्रयोग सत्याग्रही को समाज के एक सदस्य के नाते करना पडे।

असहयोग शब्द की उत्पत्ति और व्याख्या

जिस प्रकार 'सत्याग्रह' शब्द के पहले सत्याग्रह-भाव उठा था और वह सत्याग्रह-भाव प्रथम अग्रेजी शब्दो द्वारा व्यक्त किया जाता था, उसी प्रकार 'असहयोग' शब्द के पहले असहयोग-भाव उठा और वह असहयोग-भाव सर्वप्रथम अग्रेजी शब्द द्वारा व्यक्त किया गया था। मार्च सन् १९१९ मे अग्रेज सरकार द्वारा बनाये गये रौलेट बिलो के विरोध मे गाधीजी के प्रस्तावानुसार जो सत्याग्रह व्रत (satyagrah pledge) लिया गया था, वह यथार्थ मे सरकार के प्रति असहयोग की ही घोषणा थी, परन्तु उसमे असहयोग शब्द का कोई प्रयोग नही किया गया था, क्योकि उस समय तक असहयोग शब्द की उत्पत्ति ही न हो पाई थी। उस मे सत्य-पालन और सानुनय आज्ञा-भग ही की बातें कही गई थी। उस मे लिखा था "हम सानुनय (Civilly) उन कानूनो की आज्ञा भग करेंगे हम यह भी प्रतिज्ञा करते है कि इस युद्ध (struggle) मे हम साथ ईमानदारी के सत्य का पालन करेंगे, और प्राण, तन या धन किसी के प्रति हिंसा नही करेंगे।"[१०९]

इस के बाद कदाचित् माह नवम्बर सन् १९१९ की बात है, जब दिल्ली मे हिन्दू-मुसलमानो की एक सम्मिलित सभा खिलाफत[११०] के प्रश्न पर विचार करने के लिये बुलाई गई थी। उस मे गाधीजी भी आमंत्रित थे, इसलिये वे भी उस मे शामिल हुए थे। उस मे एक प्रस्ताव यह था कि "हिन्दू-मुसलमान सब स्वदेशी-व्रत का पालन करें और विदेशी कपडो का बहिष्कार किया जाय।" इस प्रस्ताव पर मौलाना हसरत मोहानी ने आपत्ति उठाई और कहा कि केवल विदेशी वस्त्र के बहिष्कार से क्या होगा। हमे तो अग्रेजी सल्तनत को मजा चखाना है, इसलिये अगर वह खिलाफत के बारे मे इन्साफ न करे, तो तमाम ब्रिटिश माल का यथासम्भव बहिष्कार किया जाय। हमे तो कोई तेज, और अग्रेजो पर तुरन्त असर करनेवाली चीज बताइये, इत्यादि। गाधीजी का कहना है कि "जब मौलाना साहब भाषण

---

१०९ From quotation in 'studies in Gandhism' p 215

११० टर्की का सुल्तान इस्लाम धर्म का खलीफा कहाता है। प्रथम विश्व-व्यापी युद्ध (first world war) के समाप्त होने पर अग्रेज सरकार ने खलीफा के प्रति सधि-पत्र के रूप मे अनुचित व्यवहार किया। इसीलिए वह खिलाफत-विषयक प्रश्न के नाम से विख्यात हुआ।

कर रहे थे, तब मेरे मन मे यह भाव उठ रहा था कि खुद कई बातो मे जिस सरकार का साथ दे रहे हैं उसी के विरोध की ये सब बाते करते है, सो व्यर्थ है। तलवार के द्वारा प्रतिकार नही करना है, तो फिर उस का साथ न देना ही उस का प्रतिकार करना है, यह मुझे सूझा और (जब हिन्दी उर्दू, गुजराती मे मुझे कोई शब्द न सूझ पडा, जिस के लिये मै अपने मन मे शर्मिन्दा हुआ, तब) मेरे मुख से पहली बार 'नान-कोआपरेशन' (non-co-operation) शब्द का उच्चार इस सभा मे हुआ। इस समय मुझे इस बात का ख्याल न था कि इस शब्द मे क्या भाव आ जाते हैं। इस कारण मैं उसकी तफसील मे नही गया। जहाँ तक मुझे याद पडता है, इस सभा मे 'नान-कोआपरेशन' का प्रस्ताव भी पास किया था, पर इस के बाद तो कई महीने तक इस बात का प्रचार नही हुआ। कितने ही महीने यह शब्द इस सभा मे ही छिपा पडा रहा।"[१११]

नवम्बर के बाद दिसम्बर ही मे काग्रेस के अधिवेशन के समय जब चेम्सफोर्ड-रिफार्म्स के सम्बन्ध मे यह प्रस्ताव पेश था कि वे "अपूर्ण, असन्तोषप्रद, और निराशा-जनक (inadequate, unsatisfactory and disappointing) हैं, तब गाधीजी ने 'निराशाजनक' शब्द की असगति पर व्याख्यान दिया, और बताया कि यदि आप लोग रिफार्म्स को कार्यान्वित करने के लिये तत्पर है, तो 'निराशाजनक' शब्द को प्रस्ताव मे से हटा दीजिये, अन्यथा अपने तथा देश के प्रति असत्य के दोषी होंगे। यहाँ मैं आप से एक बात कहता हूँ—मानो कोई आदमी मेरे पास आता है और मुझे निराश कर देता है, तो मैं उसके साथ 'कोआपरेट' (Cooperate सहयोग) नही करता।"[११२]

इसी तरह जून सन् १९२० मे गाधीजी ने वायसराय को जो पत्र लिखा, उस मे भी 'नानकोआपरेशन' शब्द के अर्थ पर प्रकाश डाला गया। उस मे उन्होंने बताया कि यदि मुसलमानो के खिलाफत-सम्बन्धी प्रश्न का हल नही हो जाता, तो उस के लिये केवल तीन मार्ग रह जाते हैं—या तो वे हिंसा को ग्रहण करें, या देश छोडकर चले जायें, या गवर्नमेन्ट के साथ 'कोआपरेट' (सहयोग) न करके अन्याय के साथी न बने। इन तीनो मे से गाधीजी ने लिखा कि "इस प्रकार के साक्षात् काम (direct action) के लिये केवल नान-कोआपरेशन' (असहयोग) का ही तरीका सभावित और वैधानिक है।"[११३]

---

१११ आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ ४६२ से ४६८ तक के आधार पर।
११२ Studies in Gandhism p 220
११३ „ „ p 219

यहाँ तक तो 'नान-कोआपरेशन' शब्द के उस साधारण अर्थ और भाव पर ही प्रकाश पड़ा, जिसे लेकर गांधीजी ने सर्वप्रथम दिल्ली में उच्चार किया था। उस के अन्तर्गत क्या भाव आ जाते हैं, यह बात उस समय गांधीजी को मालूम हो न हो पाई थी। ये भाव, सितम्बर १९२० तक निश्चित हो चुके थे, जब कि कलकत्ता में कांग्रेस का विशेषाधिवेशन हो रहा था। गांधीजी के सुझाव के अनुसार उस अधिवेशन ने खिलाफत और पंजाब के प्रति किये गये अन्यायों के प्रतिकारस्वरूप तथा रिफार्म्स की बजाय स्वराज की स्थापना के हेतु प्रगतिवान अहिंसात्मक असहयोग के कार्य-क्रम (Programme of progressive non-violent non-cooperation) को स्वीकार किया। उस समय गांधीजी ने बताया कि "आप को प्रस्ताव में ही विदित होगा कि अनुशासन और आत्म-त्याग का साधनरूप होकर ही नान-कोआपरेशन (असहयोग) का गर्भाधान हुआ है। जब तक हम अनुशासन का विकासित करने के योग्य नहीं हो जाते, तब तक असहयोग असम्भव है। क्रोध के वातावरण में असहयोग का करना गैर-मुमकिन है। मैंने अपने लगभग ३० वर्ष के कटु अनुभव से एक सर्वोच्च सबक, अपने क्रोध को रोकना और दमन करना सीखा है और जिस प्रकार रुकी हुई उष्णता शक्ति में परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार रोका और दमन किया हुआ क्रोध, एक ऐसी शक्ति बन जाती है, जो संसार भर में रोके नहीं रुक सकती। अपने घर मामलों में तो हमने अनुशासन और आत्म-त्याग का इतना अधिक विकास कर डाला है, जितना कि अन्य किसी राष्ट्र ने नहीं कर पाया है। (अब) इस सिद्धान्त का राष्ट्रीय जीवन में प्रसार करने के हेतु मैं आप के सम्मुख आग्रह करने के लिये उपस्थित हुआ हूँ।"[११४]

गांधीजी के उपरोक्त कथनों से यह खुलासा हो गया कि असहयोग में विशुद्ध सत्य का पालन, विरोधी पर विश्वास, आत्म-नियंत्रण और आत्म-त्याग का होना जरूरी होता है। उन से यह भी जाहिर हो जाता है कि एक दूसरे के प्रति जो घृणा होने की प्रवृत्ति रहती है, वही हिंसात्मक कार्यों को बढ़ाती है। इस हिंसक वृत्ति को रोकने तथा उस को अहिंसा में तबदील करने के लिये भी असहयोग एक नियमित वैधानिक साधन है, न कि अराजक या अवैधानिक, जैसा कि विरोधपक्ष के लोग बहुधा दोष दिया करते हैं। गांधीजी ने खिलाफत-प्रश्न के समय कहा था कि "असहयोग ही इस प्रकार के साक्षात् कार्य (direct action) का एक सम्मानित और वैधानिक तरीका है, क्यों कि दुराचारी राजा को सहायता देने से इनकार कर

---

११४ Studies in Gandhism, pp 222, 223 and 226

देने का प्रजा का हक बहुत प्राचीन काल से माना चला आ रहा है।'[115] इसमें सन्देह नहीं कि असहयोग का हक, या कहिये, असहयोग की प्रथा, राजा के ही विरुद्ध क्या, सभी प्रकार के दुराचारियों के विरुद्ध बहुत पुराने जमाने से प्रयोग में आती रही है। परन्तु उस का उपयोग बहुधा व्यक्तिगत रूप से होता था, जैसा हम पहले कह आये हैं। कभी-कभी छोटे-छोटे समूह भी उस का प्रयोग करते थे, और यह प्रयोग था, व्यथित होने पर देश-त्याग करके अन्यत्र जाकर बस जाना, परन्तु उसे राष्ट्र-शस्त्र बनाने का अथवा उसे इस्तेमाल करने के लिये बृहज्जन समुदाय या सर्वसाधारण को नियमित ढंग से शिक्षित करने का श्रेय गांधी के पहले कभी किसी को प्राप्त नहीं हो सका। पुराण-इतिहास आदि को उठाकर देख लीजिये, इतने भारी पैमाने पर कभी असहयोग का प्रयोग नहीं हुआ। गांधीजी का प्रयास पहले यही रहा कि जन-साधारण धीरे-धीरे अभ्यस्त होकर अनुशासन और आत्म-नियंत्रण सीख जाय, तब फिर वह सर्वोपयोगी महान् कार्यक्षेत्र में उतारा जाय, जैसा कि उन्होंने एक बार सन् १९२१ में कहा था कि "स्वराज न तो केवल धनवान मनुष्यों की ही जाम वस्तु है, और न केवल शिक्षित वर्ग ही की। . ज्योंही सर्वसाधारण पर्याप्त आत्म-नियंत्रण प्राप्त कर लें, एवं अनुशासन से शिक्षित हो जायेंगे, त्योंही हम, यदि आवश्यकता हुई तो, उन्हें आदेश देंगे कि वे राजकरों को देना बन्द कर दें।'[116]

असहयोग एक सामान्य, व्यापक संज्ञा है। उस के अनेक रूप होते हैं। सच पूछा जाय, तो हर व्यक्ति को स्वतन्त्र अधिकार है कि वह अपनी भावना के अनुरूप ही सत्यासत्य का निर्णय करके असत्य के प्रति असहयोग करे ; परन्तु जब क्षेत्र व्यापक हो, और सर्वसाधारण के हिताहित का प्रश्न हो, तब एक समान विधि की आवश्यकता होती है ; इसलिये असहयोग के अनन्त प्रयोगों की चर्चा न उठाकर केवल उन्हीं प्रयोगों के विषय में जान लेना हितकर होगा, जिन्हें अपनाने के लिये गांधीजी ने राष्ट्र को अंग्रेजी सल्तनत के अन्यायों के खिलाफ समय-समय पर आदेश दिये थे। वे ये हैं —

(१) अन्यायपूर्ण कानूनों या आज्ञाओं का भंग करना (Civil disobedience)—कभी-कभी सरकार एक ओर पुस्तकों, पत्र, पत्रिकाओं, लेखों और दूसरी ओर व्याख्यान, वक्तव्यों पर प्रतिबन्ध लगा देती है। कभी वह व्यक्ति-विशेषों को एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाने देती, और कभी उन्हें स्थान-विशेष में

११५ Cited in 'Studies in Gandhism', p 219

११६ Young India, 1921, p 124

ही कोढकर रखती है। कभी सभा-समितियो और कभी जलूस आदि को रोक देती है। वह इन प्रतिबन्धो को लगाने का कारण यह बताया करती है कि इस प्रकार की पुस्तको आदि के पढने, व्याख्यानो आदि के देने, या व्यक्ति-विशेषो के इधर-उधर भ्रमण करने से राज्य-सत्ता के प्रति विद्रोह होने की सम्भावना रहती है। इसका अर्थ, दूसरे शब्दो मे, यह हुआ कि सरकार जनता के उन जन्म-सिद्ध हको मे अन्यायपूर्ण हस्तक्षेप करती है, जिन्हे वाक्-स्वातन्त्र्य (freedom of speech) कार्य-स्वातन्त्र्य (freedom of action) और गति स्वातन्त्र्य (freedom of movement) कहते है। ऐसी स्थिति मे जब अच्छी तरह सोच-विचार के पश्चात् विद्वज्जन इस निश्चय पर पहुँच जांय कि दरअसल इस प्रकार की आज्ञाएँ जन-हित के लिये नही है, वरन् समाजोन्नति की दृष्टि से बाधक है, तो उन का उल्लघन करना अनुचित नही कहा जा सकता। उल्लघन करने वाले को सरकार दण्ड देती है, इसलिये दण्ड के भय का त्याग करके, उन को भग कर देना हर सत्याग्रही का कर्त्तव्य हो जाता है, परन्तु यह तभी किया जाय, जब यह महसूस कर लिया गया हो कि ऐसा करना न्याय्य है, अन्यथा अराजकता अथवा अनियन्त्रण का बोलबाला हो उठेगा। सन् १९१९ मे गाधीजी ने प्रतिबन्ध लगी हुई 'हिन्द स्वराज', 'सर्वोदय' आदि कुछ पुस्तको का वितरण करने और उन्हे खुले आम पढने का आदेश दिया। ऐसे समय पर सरकार को सूचना दे देना आवश्यक होता हे कि हम अमुक कानून को अमुक समय पर अमुक ढग से तोडनेवाले है, ताकि वह आज्ञा-भग करनेवालो को सहज ही मे गिरफ्तार कर सके। इस मे कोई बात छिपाकर या गुप्त रखकर नही की जाती है। आज्ञा-भग के विषय मे आज्ञा-भग करनेवाला अपने ऊपर चलाये गये मुकदमे की कोई पैरवी नही करता, और खुले शब्दो मे स्वीकार करता हे कि बेशक मैंने कानून भग किया है और मुझे उस अपराध के लिये—जिसे मैं अपराध नही समझता—कडी-से-कडी सजा दे दी जाय।

इसी प्रकार कुछ हुक्मनामो को आम स्थानो मे जलाकर होली (bonfire) का प्रदर्शन भी किया जाता है, जैसे दक्षिण-अफ्रिका मे सन् १९०७ मे कुछ हजारो की सख्या मे उन सर्टीफिकटो की होली जलाई गई, जो हिन्दुस्थानियो को ट्रान्सवाल मे रहने के लिये रजिस्ट्रेशन के दफ्तर से प्राप्त करने पडते थे।

कुछ ऐसे भी कानून होते है, जिनका तोडना आम जनता के लाभार्थ होता है, जैसे नमक-सत्याग्रह के समय हर एक आदमी ने तत्कालीन कानून की परवाह न कर के निर्भयतापूर्वक नमक बनाना शुरू कर दिया। ऐसे कानूनो को तोडने के पूर्व बहुधा सारे देश मे सनसनी उत्पन्न कर देने की आवश्यकता होती है, और एक तरीका इस का यह होता है कि पैदल लम्बी यात्रा करते हुए उस स्थान पर अनेक

सत्याग्रहियो के साथ पहुँचना, जहाँ कानून-भग करने का निश्चय हो—जैसे डन्डी-मार्च, ट्रान्सवाल-मार्च।

जिस तरह अन्यायपूर्ण सरकारी कानूनो का तोडना सत्याग्रही का कर्त्तव्य होता है, उसी प्रकार वह समाज मे प्रचलित अन्यायपूर्ण प्रथाओ को तोडना है, जैसे हरिजनो को मदिरो मे प्रविष्ट न होने देना, या आम कुओ, नलो आदि पर पानी न भरने देना, एन गुरु का बाग मे सिक्खो को अधिकार न करने देना।

सामाजिक अन्यायो के विरुद्ध जिस प्रकार असहयोग किया जाता है, उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्रो मे भी सत्याग्रही को अन्यायपूर्ण कार्यो और पद्धतियो के प्रति असहयोग करने को उद्यत रहना पडता है, जैसे श्रमिको को अपनी मजदूरी आदि के विषय मे हडताल (strike) करना। हडताल के विषय मे अलग से आगे और कहा जायगा।

विपक्षियो ने कानून या आज्ञा-भग की बडी-कडी आलोचनाएँ की, यहाँ तक कि गाधी पर व्यस्तता अर्थात् अधेर-गर्दी (chaos) का टीका मढा जाने लगा। जिस समय उन्होने सन् १९१९ और सन् १९२० मे हिन्दुस्थान मे असहयोग और वहिष्कार का पैमाना जनता के सामने खोला, तो अग्रेज सरकार के हिमायतियो मे तहलका मच गया, उन्हे ऐसा दिखाई पडा, मानो न्याय और व्यवस्था पर गजब का गोला टूट पडा। वे कहने लगे कि अब न्याय और व्यवस्था के स्थान मे गाधी अराजकता का साम्राज्य फैलाने चले है, परन्तु वे यह नही समझे कि जिसे वे न्याय और व्यवस्था कहते थे, वह सत्य-प्रिय निर्भीक पुरुष के सम्मुख मुलम्मा चढे हुए अन्याय और कुव्यवस्था ही थे। जब हम केवल कानून तोडना या आज्ञा-भग ही कह कर गाधी के सत्याग्रही असहयोग के भाव का प्रदर्शन करते है, तब हमे भी ऐसा कहना खटकता है। क्यो? इसलिये कि गाधीजी का उद्देश केवल उन्ही कानूनो या आज्ञाओ के प्रति असहयोग करने का है, जो यथार्थ मे अन्यायपूर्ण है, अन्यथा उन जैसा नियत्रण-प्रिय, अर्थात् कानून-भक्त और आज्ञा-भक्त कौन हो सकता है! इसलिये गाधीजी के भाव को यथार्थ रूप से प्रकाशित करने के लिये हमारी समझ मे आज्ञा-भग न कहकर दुराज्ञा-भग कहा जाय, तो बेहतर हो। आज्ञा-भग कहने की यह दिक्कत हमारे ख्याल से इसलिये उठ खडी हुई है कि 'आज्ञा-भग' अग्रेजी पद 'डिसओविडियेन्स' (disobedience) का शब्दार्थमात्र कर दिया गया है। इसी कारण से सिविल-डिसओविडियेन्स (civil disobedience) का पदार्थ 'सानुनय आज्ञा-भग' चल पडा है।

(२) अहितकर व्यवस्थाओ और प्रथाओ का बहिष्कार (non-violent-boycott)—इतिहासज्ञ इस बात को भलीभाँति जानते है कि जब कभी कोई कौम

दूसरी कौम पर राज्य करती है, तब वह शासितो पर अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिये न केवल उन्हे शरीर-दण्ड के भय से भयभीत रखती है, वल्कि ऐसा बीज बोना भी शुरू कर देती है कि जिससे शासितो के मन मे उन के मुकाबले मे हीनता के राग भर जाते है। वह जानती है कि फौज-पल्टन से, पुलिस से, जेल मे शासितो के शरीर को भले ही दबा लिया जाय, पर जब तक उन का मन भय-रहित है, तब तक शरीर-यन्त्रणा निरर्थक सिद्ध होती है, अत मन को भयभीत करने का एक तरीका उन का यह रहता है कि ऐसी शिक्षा-पद्धति जारी की जाय एव अखवारो एव व्याख्यानदाताओ द्वारा ऐसा प्रचार कराया जाय कि जिससे शासितो की दृष्टि मे शासको का बुद्धि-बल, अध्यात्म-बल, सस्कृति-बल, आदि ऊँचा दिखाई दे और उन का खुद का निम्न-स्तर का। जहाँ इस प्रकार की व्यवस्थाएँ हो, उन के साथ सहयोग करना पतन-मूलक होता है।

मानसिक हीनता उत्पन्न करनेवाली शिक्षात्मक सस्थाओ के अतिरिक्त न्यायालय एव उन से सम्बन्धित अन्य सस्थाएँ भी अहितकारी राज्य-व्यवस्था को कायम रखने मे मदद देती है। इसी तरह सरकारी महकमो मे नौकरी करने की ओर जनता की रुचि बढ जाने से एक ओर तो, सरकार को कायम बनाये रखने मे सुलभता होती है, और दूसरी ओर देश की रचनात्मक और उत्पादक शक्ति मे घाटा पडता है।

इस प्रकार की जितनी सस्थाएँ और अभिरुचियाँ होती है, उन मे भाग लेना यद्यपि जनता के लिये अनिवार्य नही होता, तथापि वे राष्ट्र का विनाश करने की ओर वहा ले जाने वाली हुआ करती है, अत उन के प्रति अरुचि उत्पन्न कर उस के प्रति असहयोग करना भी हर सत्याग्रही का कर्त्तव्य होता है। सन् १९२० मे गाधीजी ने काग्रेस के समक्ष जो असहयोग का प्रोग्राम प्रस्ताव के रूप मे बनाकर पेश किया था, उस मे इसी प्रकार सस्थाओ और अभिरुचियो का बहिष्कार (boycott) करने के लिये कहा गया था। वे ये है —

"(१) पदवियो तथा अवैतनिक पदो को लौटा देना एव स्थानीय सस्थाओ मे नामजद स्थानो से त्याग-पत्र दे देना (surrender of titles and honorary offices and resignations from nominated seats in local bodies)

"(२) सरकारी दर्शक मेलो, दरबारो और दूसरे उन सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी कृत्यो मे, जो सरकारी नौकरो के द्वारा कराये गये हो अथवा जो उन के सत्कारार्थ किये गये हो, शामिल होने से इन्कार कर देना।

"(३) उन स्कूलो और कालेजो से, जो सरकारी हो, या जिन्हे सरकारी सहायता प्राप्त हो, या जिन पर सरकारी नियत्रण हो, बच्चो को क्रमश निकाल

लेना, और इन स्कूलों एव कालेजो के स्थान मे भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे राष्ट्रीय स्कूलों और कालेजो की स्थापना करना।

"(४) सरकारी न्यायालयो का वकीलो तथा मुकदमा-बाजो के द्वारा क्रमश वहिष्कार करना, और उन की एवज मे उन लोगो की सहायता से खानगी झगडो के तसफिये के लिये पचायती अदालते खोलना।

"(५) फौजी लिपिकार (clerical), और श्रमिक वर्ग के लोगो को मेसोपोटेमिया मे जाकर नौकरी करने के लिये, रगरूट (recruits) बनने से इन्कार कर देना।

"(६) (मान्टेगु-चेम्सफोर्ड रिफार्म्स के मुताबिक बनी हुई) नई कौन्सिलो के चुनाव लडने के लिये जो उम्मेदवार हो, अपनी उम्मेदवारी वापिस लें लें और मतदाता किसी भी ऐसे उम्मेदवार को अपना मत-दान देने मे इन्कार कर दें, जो काग्रेस की सम्मति के प्रतिकूल, चुनाव के लिये खडा हुआ हो।

"(७) विदेशी माल का वहिष्कार कर दें।"

. उपरोक्त कार्य-क्रम के पढने से दो बातें स्पष्ट हो जाती है—एक तो अहितू विदेशी सरकार की सत्ता को कायम रखनेवाले आधारो का ज्ञान कराके उन्हे हिला देना, और दूसरे राष्ट्रीय सस्थाओ और रचनाओ की ओर जनता की रुचि उत्पन्न करना। यदि नुकसान पहुँचाने या बदला लेने की भावना से विदेशी माल का वहिष्कार करना कहा गया होता और रचना का ख्याल न रखा होता, तो उसी प्रस्ताव मे गाधीजी ने आगे यह न लिखा होता कि "चूकि हर पुरुष, स्त्री, और बालक के असहयोग की इस सर्वप्रथम स्थिति मे ही इस पूर्वोक्त प्रकार के नियत्रण और आत्म-त्याग का मौका दिया जाना चाहिये, इसलिये काग्रेस की सम्मति है कि विस्तीर्ण पैमाने पर फुटकर माल मे स्वदेशी स्वीकार की जाय (adoption of swadeshi in piece-goods) और चूकि हिन्दुस्थान की वर्तमान मिलें स्वदेशी-पूजी और अधिकार (control) के बल पर राष्ट्र की आवश्यकताओ के लिये काफी सूत और कपडा नही बना सकती, और यह प्रतीत भी होता है कि बहुत समय तक ऐसा न हो सकेगा, इसलिये काग्रेस यह सम्मति देती है कि प्रत्येक मकान मे हाथ से सूत कातना और करोडो बुनकरो के द्वारा, जिन्हे प्रोत्साहन न मिलने के कारण अपना पुराना और सम्मानित धन्धा छोडना पडा है, कपडो का बुनना पुन आरम्भ किया जाय, ताकि बडे पैमाने पर अधिक वस्त्र-निर्माण के लिये तत्काल उत्तेजना मिले।"[११७]

---

११७ Studies in Gandhism at pp 227-228

(३) हडताल (non-violent strike)—सत्याग्रही भावो की यथार्थता पर पहुँचने के लिए सत्याग्रही वैज्ञानिक शब्दो के अर्थ का ही ख्याल रखना चाहिये, अन्यथा अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। उन भावो को व्यक्त करने के लिये अग्रेजी अथवा पाश्चात्य देशीय शब्दो का प्रयोग जब कभी करना पडता है, तव इस सम्बन्ध मे बडी सतर्कता की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए सत्याग्रही शब्द 'हडताल' को ही ले लीजिये। हडताल उस विधि को कहते है, जो सोते हुए भाव को जगाने मे योग दे। यही बात गाधीजी ने यह कहकर बताई है कि "हडताल का आशय जनता और सरकार की कल्पना को ठोकर मारने का था" (Hartal was designed to strike the imagination of the people and the Government)[११८] ठोकर शब्द मे जो स्थूलता का भाव है, वह कल्पना के साथ असगत है, क्यो कि कल्पना एक अत्यन्त सूक्ष्म मानसिक गति होती है। अत कल्पना को ठोकर मारने से अभिप्राय, कल्पना को ही जाग्रत करने का समझना चाहिये। हडताल की यह कौन-सी विधि है, जो सत्याग्रह को मान्य है। यह है वही अमिश्रित अहिसात्मक विधान का एक अश, जिस पर सारा सत्याग्रह सिद्धान्त टिका हुआ है। उस मे मानसिक अथवा काल्पनिक हिंसा को भी गुजाइश नही। उसमे तो आत्म-शुद्धता के हेतु आत्म-तप की, आत्म-त्याग की आवश्यकता होती है। जब कोई अपने ऊपर अथवा किसी दूसरे पर किये जानेवाले अन्याय से दुखित होकर अपनी सान्त्वना के लिये और अन्यायी के हृदय मे सात्विक कल्पना को जाग्रत करने के अभिप्राय से अपने नित्य कर्म को, कुछ निश्चित या अनिश्चित काल के लिये, स्थगित कर देता है, तब उसे हडताल कहते है। यही कारण है कि हडताल के समय मानसिक शुद्ध भावनाओ और ईश्वरीय प्रार्थनाओ का योग गाधीजी बताया करते थे, ताकि बाह्य प्रदर्शन और आन्तरिक स्थिति मे समता रहे और सत्य-प्रदर्शक रचना का क्रम जारी रहे।

अब यदि इस हडताल का वर्णन 'स्ट्राइक' (Strike) शब्द के द्वारा किया जाय, तो उसमे उन सब हिंसात्मक अथवा बलात्कारी भावो का आ जाना स्वाभाविक होगा जो पाश्चात्य देशो मे उसके विशेषण माने जाते है। हडताल के बाह्य रूप मे 'स्ट्राइक' जैसी समता देखकर कई पश्चिमी विद्वान् हडताल की यथार्थता मे न पहुँचने के कारण उसे यह कह कर दूषित करने लगते है कि उसमे भी 'स्ट्राइक' के समान बलात्कार (pressure), दबाव (coercion) या पीछे पड जाने (pursuation) की हठ की कारगुजारी की जाती है, इसलिये वह अहिंसात्मक होने का दावा

---

११८ Young India, I, p 23.

किया जाय, तो हडतालियो की बहुत कुछ मागो के विषय मे आपस मे या पचायत के द्वारा समझौता हो जाया करता है , परन्तु श्रमिक वर्ग को चाहिये कि वे अपने उदर-पोषण के दूसरे जरियो को भी सीख रखे, ताकि हडताल-काल के लम्बे खिच जाने पर वे उन का आश्रय लेकर भूखो न मर सके, वरना समझौता होना कठिन होता है ।

आज कल श्रमिको की हडताल की बहुलता रहती है। साम्यवादी, समाजवादी, गाधीवादी सभी हडतालो के पक्ष मे रहते है, परन्तु गाधी-मत के मुताबिक होने वाली हडतालो और अन्य हडतालो के हिंसा और अहिंसा के भेद को कभी न भुलाना चाहिये।

(४) सानुनय आग्रह अथवा अहिंसात्मक पिकेटिंग (non-violent picketing)—'पिकेट' (picket) एक अग्रेजी शब्द है, जिस के कोश मे दो माने मिलते है—(१) नुकीले पदार्थ या नुकीले खम्भो आदि को गाड कर किलावन्दी करना, और (२) अग्रगामी पलटन या ऐसी पलटन जो छुट्टी पर गये हुए फौजी सैनिको को ढूंढ पकड कर ले आये। इमसे सिद्ध होता है कि पिकेट फौजी-शास्त्रीय शब्द है, अत उस का प्रयोग सशस्त्र फौजी क्षेत्रो के अतिरिक्त अन्य युद्ध-क्षेत्रो मे भी दिया जाने लगा। सत्याग्रही युद्ध मे भी उस का प्रयोग केवल इस अभिप्राय से किया जाता है कि पिकेट करने वाले स्वय-सेवक सानुनय तर्क और प्रीति के द्वारा लोगो को किसी सत्याग्रही सेवा मे भाग लेने, या असत्य मार्गो वातो या दुराचारादि को त्यागने के लिये आग्रह (Persuade) करे, ताकि किसी पर कोई दवाव न पडे और न कोई किसी भय-वश या अपमान की आशका के कारण कार्य करने को वाध्य किया जाय। सामाजिक कुरीतियो और व्यसनो को मिटाने के लिये गाधीजी ने इस का प्रयोग कराया था, जैसे—शराव, अफीम आदि मादक पदार्थो तथा विदेशी वस्त्रो का त्याग कराना।

पिकेटिंग के सदृश भारतवर्ष मे प्राचीन काल से 'धरना' नाम की एक प्रथा प्रचलित है। उस का आश्रय कोई-कोई कभी-कभी हठधर्मी के हेतु लिया करते थे, और वह भी विशेष कर के अपने निजी लाभ के लिये। किसी स्थान पर बैठ जाना या खडे रहना और यह कहना कि जव तक अमुक कार्य न किया जायगा, तब तक मैं भूखा-प्यासा प्राणान्त तक नही हटूगा, या और भी इसी प्रकार की कोई दूसरी हठ या टेक करना, इस हठ-धर्मी 'धरना' का आशय रहता है , इसलिये गाधीजी ने इस की वडी कडी आलोचना करके इसे त्याज्य कहा है। आज कल भी इस भयकर प्रथा के चिह्न दूसरे रूपो मे पिकेटिंग के नाम पर मिलते है। जब कोई श्रमिक-वर्ग या विद्यार्थी-वर्ग किसी कारण 'स्ट्राइक' करते हैं, तब वे अपनी सख्या वढाने के

अभिप्राय से रास्ते पर लेट जाते हैं, जिस से दूसरे लोग अपने काम-धन्धे को करने के लिये नहीं जा पाते, क्योंकि वे उन्हें रौंद कर नहीं जाना चाहते। इस तरह 'धरना' और 'हिंसात्मक पिकेटिंग' में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिये गांधीजी ने इस के विरुद्ध कह रहा है कि "धरना जंगलीपन है, क्योंकि वह दबाव के प्रयोग का असभ्य तरीका है। वह हिंसा से भी बदतर है, क्योंकि जब हम अपने विरोधी से लड़ते हैं, तब वह हमसे लड़ने का मौका तो प्राप्त करता है, परन्तु जब हम उसे यह चुनौती देते हैं कि हमारे ऊपर से चलते जाओ, हालांकि हम जानते हैं कि वह ऐसा न करेगा, तब हम उस को अत्यन्त विचित्र और अपमानित (awkward and humiliating) स्थिति में डाल देते हैं।"[119]

(५) देश-त्याग अथवा हिजरत (Exiles)—प्राय सभी देशों में यह बहुत पुरानी प्रथा जारी रही है कि जब लोग शासकों के द्वारा, अथवा शासन की शिथिलता आदि के कारण अन्य दुराचारियों के द्वारा, या साम्प्रदायिक कट्टरताओं के कारण असहनीय हद तक सताये जाने लगते थे, तब वे देश त्याग कर दूसरे सुरक्षित स्थानों को चले जाते थे, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। हिन्दुस्थान में इस पद्धति को 'देश-त्याग', मुसलिम देशों में 'हिजरत' और पाश्चात्य देशों में देश-निकाला (exiles) कहते थे। इस देश-त्याग का अर्थ यह होता है कि जब जनता को अन्याय से बचने का कोई मार्ग नहीं रहता, तब वह अन्यायियों का परित्याग करके बच भागने में ही कल्याण देखती है। इस प्रकार के देश-त्याग में भय की प्रधानता रहती है। धर्म-रक्षा के लिये प्राण न्योछावर की भावना उस में काम नहीं करती। धर्म और प्राण दोनों की रक्षा के लिये भय उन्हें अपने स्थान से भगा देने में समर्थ हो जाता है। इस में असत्य, अन्याय अथवा अधर्म के प्रति असहयोग की भावना अवश्य रहती है, परन्तु उतनी स्पष्ट नहीं, जितनी गांधीजी ने उसे बना दी है। इसलिये गांधीजी देश-त्याग अथवा हिजरत की सलाह केवल उन्हीं लोगों को देते हैं, जिन में सच्ची अहिंसा से उत्पन्न होने वाले बल की कमी रहती है, या जिन में हिंसा के द्वारा भी अपनी रक्षा करने की शक्ति नहीं होती। जिन में न हिंसात्मक बल है और न अहिंसात्मक, वे ही उस हालत में देश-त्याग कर सकते हैं, जब वे काफी सताये जाते हों और जिन्हें आत्म-सम्मान खो जाने का डर हो।"[120] इन्हीं कारणों

---

११९ Satyagrah p 90 (Cited in Pol Phil. of Mahatma Gandhi p 259, F N 68)

१२० Pol Phil of Mahatma Gandhi के पृष्ठ २७८ पर दिये हुए हरिजन और यंग इण्डिया के उद्धरणों के आधार पर।

को ध्यान मे रख कर गाधीजी ने वारडोली के सत्याग्रहियो को सन् १९२८ मे, और लिम्वडी, जूनागढ और विट्ठलगढ के सत्याग्रहियो को सन् १९३९ मे देश-त्याग की सम्मति दी थी।[१२१]

स्थान-त्याग-सम्वन्धी असहयोग के दो रूप इतिहास मे मिलते हैं—प्रथम वह रूप है, जो देश के अन्तर्गत ग्राम-ग्राम, या जिला-जिला, या प्रान्त-प्रान्त के वीच मिलता है, और दूसरा वह रूप, जो देश-देश के वीच मे दिखाई देता है।

देश के अन्तर्गत स्थान-त्याग उस समय होता है, जव अन्याय स्थानीय और सीमित रहते है। कभी राजकीय, और कभी स्थानीय लोगो के अन्यायो के कारण भाग जाना पडता है, जैसे सन् १९३० मे वारडोली, वोरसद और जम्वूसर (गुजरात) के किसान, लगान न देने के कारण गवर्नमेण्ट के द्वारा सताये जाने पर वडौदा स्टेट को चले गये, और सन् १९३५ मे केथा के हरिजनो ने अन्य जाति के हिन्दुओ द्वारा सताये जाने पर अपना स्थान छोड दिया, परन्तु जव अन्याय सर्वदेशीय होता है, तव एक देश को छोड कर दूसरे देश की शरण लेना पडती है। इस सम्वन्ध मे पाठको की स्मृति मे हिन्दुस्थान-पाकिस्तान-विभाजनकालीन भयभीत भगदड का दृश्य अभी ताजा ही होगा। इतिहास इस प्रकार की भगदडो के दृष्टातो से भरा पडा है। परन्तु गाधीजी ने असहयोग-शस्त्र का आविष्कार कर के जनता के सम्मुख रख यह स्पष्ट कर दिया कि उस का उपयोग व्यापक रूप से किया जा सकता है। उस की सहायता से हर मनुष्य निर्भीक होकर अपना स्थान-त्याग किये विना ही अपने देश, जाति, धर्म या जन्म-सिद्ध स्वत्वो की रक्षा कर सकता है। सामूहिक असहयोग मे वह शक्ति है कि जल्लाद-से-जल्लाद सरकार, सस्था या मानव-पिशाच, जनता के सम्मुख घुटने टेक देता है, क्योकि हर वात मे जन-सहयोग के विना काम चलता ही नही।

(६) उपवास (Fasting)—उपवास भी एक ऐसा साधन है, जिस के द्वारा एक तो आत्मशुद्धि होती है, और दूसरे असत्य के विरुद्ध असहयोग होता है। जहाँ तक उपवास के द्वारा आत्म-शुद्धि का प्रश्न है, वह हम नवे अध्याय मे देख चुके है। वहाँ यह भी कह चुके है कि आत्मशुद्धि के हेतु उपवास के साथ वहुधा प्रायश्चित्त, मौन और प्रार्थना की क्रियाएँ भी रहती है। आत्म-शुद्धि की दृष्टि से स्वपक्ष और परपक्ष दोनो की आत्मशुद्धि का विचार हो जाता है। स्वपक्ष मे आप स्वय तथा आप के अनुयायी, साथी और आप के साथ सहानुभूति प्रकट करने वाले आ जाते है, और

१२०-१२१ Pol Phil of Mahatma Gandhi के पृष्ठ २७८ पर दिये हुए 'हरिजन' और 'यग इडिया' के उद्धरणो के आधार पर।

पर-पक्ष के अन्तर्गत खुद पर-पक्ष वालो तथा उन से सहानुभूति रख ने वालो का समावेश हो जाता है।

गाधोजी के उपवासो का चिट्ठा देखा जाय, तो मालूम होगा कि उन का कोई उपवास अपनी निजी भूल के कारण प्रायश्चित्त-रूप मे हुआ, कोई उन के अनुयायियो या सत्याग्रहियो की भूल सुधार और उन लोगो की आन्तरिक भाव-शुद्धि के हेतु किया गया, कोई जन-साधारण अथवा साम्प्रदायिक समुदायो मे एकता, सत्यता, निर्भीकता आदि की स्थापना करने के अभिप्राय से किया गया, और कोई विरोधी पक्ष मे शुद्ध भावनाओ को जागृत करने तथा उन्हे सन्मार्ग पर लाने के लिये हुआ। यद्यपि मूल मे सभी उपवासो का उद्देश्य उभय-पक्ष मे आत्म-शुद्धता का वातावरण उत्पन्न करना होता हे, तथापि व्यावहारिक क्षेत्र मे भी उन का प्रभाव किसी प्रकार कम नही होता, क्यो कि व्यवहार तो आखिरकार अन्तर्भावना ही का प्रत्यक्ष रूप होता है। यदि आप को इस का भली भाति ज्ञान करना हो, तो गाधीजी के निम्न-लिखित उपवासो के विषय मे अध्ययन कीजिये। हम अपनी जानकारी के मुताबिक यहा उन की केवल सूची दे देते है, और गाधीजी के तत्सम्बन्धी कतिपय वाक्यो का उद्धरण करके यह बतायेंगे कि उपवास कब, कैसे और किसे करना चाहिये, और उन का विरोधी पक्ष या अन्य जनो पर व्यावहारिक क्षेत्र मे क्या प्रभाव पडता है।

(१) **नकली उपवास**—गाधीजी के माता-पितादि तथा अन्य वैष्णव लोग एकादशी आदि का उपवास करते थे। उन की नकल करके उन्हे खुश करने के हेतु से किये गये उपवास। गाधीजी का कहना है कि "उस समय मै यह नही समझा था, न मानता ही था, कि ऐसे व्रतो से कुछ लाभ होता है।"[१२२]

(२) **मैत्रीकरण सयम-साधक उपवास**—एक साल मुसलमानो का रमजान और हिन्दुओ का श्रावण मास, जिन मे उपवास किया जाता है, एक साथ आये। टाल्सटाय आश्रम मे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, आश्रम-वासी थे। गाधीजी ने सभी को अपने-अपने धर्म के अनुसार उपवास करने की चाट लगाई। सब बडे मजे से एक दूसरे के सहयोग मे उपवास करते थे। गाधीजी ने उन्हे समझाया कि "सयम-पालन मे सब का साथ देना स्तुत्य है। एक दूसरे के प्रति उदारता और प्रेम का भाव बढा। . उपवास आदि सयमो के मार्ग मे एक साधन के रूप मे आवश्यक है, परन्तु वही सब कुछ नही है। यदि शारीरिक उपवास के साथ मन का उपवास न हो, तो उस की परिणति दम्भ मे हो सकती है और यह हानिकारक साबित हो सकती है।"[१२३]

---

१२२ आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ १७४
१२३ आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ १७५-१७८

(iii) पतित शिष्योद्धारक प्रायश्चित्त-उपवास—टाल्सटाय-आश्रम मे आश्रम-वासियों की सख्या कम हो जाने से उन्हे फिनिक्स-निवास मे भेज दिया गया। वहाँ दा आश्रमवासियो का पतन हुआ। गाधीजी ने इस के लिये अपना उत्तरदायित्व समझा, इसलिये प्रायश्चित्त-रूप मे उन्होंने सात दिन का उपवास और साढे चार मास तक एकाशन (अर्थात् दिन मे केवल एक बार भोजन करना) किया, और फिर चौदह उपवास करने की नौबत आई। "उससे वातावरण शुद्ध हुआ। उस पाप की भयकरता को सब ने समझा और विद्यार्थी और विद्यार्थिनियो का और मेरा सम्बन्ध अधिक मजबूत और सरल हो गया। इन उदाहरणो से मैं यह नही सिद्ध करना चाहता कि शिष्यो के प्रत्येक दोष के लिये हमेशा शिक्षक को उपवास आदि करना चाहिये, पर मैं यह जरूर मानता हूँ कि मौके पर ऐसे प्रायश्चित्त-रूप उपवास के लिये अवश्य स्थान है। परन्तु, उस के लिये विवेक और अधिकार की आवश्यकता है और शिक्षक-शिष्य के बीच मे शुद्ध प्रेम-बन्धन की भी।"[१२४]

(iv) कर्त्तव्य-शिथिलता-निवारक प्रायश्चित्त-उपवास—सन् १९१८ मे अहमदाबादी मजदूर-हडताल के समय जब हडतालियो ने प्रतिज्ञा-भग करना शुरू किया और हडताल मे ढिलाई आने लगी, तब गाधी जी ने कहा कि "प्रतिज्ञा कराने मे मेरी प्रेरणा थी। (इसलिये सभा मे ही मेरे मुंह से यह निकल गया कि मै उस समय तक उपवास करूँगा, जब तक कि मजदूर फिर से तैयार न हो जायँ और फैसला होने तक हडताल को न निभा सकें।"[१२५] उपवास शुरू हुआ। मजदूर आर मिल-मालिक दानो हैरत मे पड गये। मजदूरो ने टेक-पालन करना प्रारम्भ कर दिया। हडताल-काल मे भूखो मरने के कारण घुटने टेक देने की नौबत न आ पाये, इसलिये दूसरे प्रकार से भी रोजी कमाने की बात चलाई गई। केवल तीन दिन के उपवास के बाद समझौता की बात चली और इक्कीसवे दिन समझौता हो गया। "मेरा यह प्रायश्चित्त" गाधीजी ने कहा "उन के (मिल-मालिको के) दोष के लिये न था। मैं मजदूरो का प्रतिनिधि था। इसलिये उन के दोष से दोषित होता था। मालिकों से तो मै सिर्फ विनय ही कर सकता था। उन के विरुद्ध उपवास करना तो बलात्कार गिना जाता। चारो ओर का वातवरण प्रेम-मय बन गया"[१२६] जिससे समझौता रूपी फल प्राप्त हो गया।

(v) चौरी-चौरा का पच-दिवसीय आध्यात्मिक उपवास, सन् १९२२—हिंसात्मक उपद्रव उठने के कारण गाधीजी ने अपनी आत्म-शुद्धि की दृष्टि से

---

१२४. आत्म-कथा, खड २, पृष्ठ १९९-२००

१२५-१२६. आत्म-कथा, खड, २, पृष्ठ ३७८-३८३

प्रार्थना के रूप में यह कह कर उपवास किया कि "मुझे अध्यात्म-क्षेत्र का एक ऐसा यन्त्र बनना चाहिये, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन में अंकित हो उठे।"[१२७] परिणाम यह हुआ कि हिंसा-प्रचार मिट गया।

(vi) हिन्दू-मुसलिम-ऐक्यार्थ इक्कीस दिवसीय उपवास, सन् १९२४—नव-मुसलमानों को हिन्दू बनाने के लिये शुद्धि-आन्दोलन की प्रचण्डता के कारण हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्य और फूट बढ़ी, तब १७ सितम्बर सन् १९२४ को उपवास प्रारम्भ किया। उस समय के गांधीजी के उद्गार थे कि यथार्थ में "मेरा प्रायश्चित्त वह प्रार्थना है, जो भूल में किये गये अपराधों की क्षमा के लिये एक रक्त-टपकाते (दुखी) हृदय की होती है। एक दूसरे के धर्म की निन्दा करना, अनर्गल वक्तव्य देना, असत्य बोलना, भोले-भालों के सिरों को फोड़ना, मन्दिरों या मसजिदों को अपवित्र करना, मानो ईश्वर (के अस्तित्व) से ही इन्कार कर देना है।" परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-मुसलिम की सम्मिलित सभा हुई। परस्पर सहनशीलता बढ़ी।"[१२८]

(vii) प्रथम अछूतोद्धारक उपवास—मेकडानल्ड-अवार्ड (अर्थात मेकडानल्ड का साम्प्रदायिक एलान) १९३२—जब गांधीजी यरवदा (पूना) जेल में थे। तब इंग्लैंड के प्रधान मंत्री मेकडानल्ड ने एक ऐलान किया कि हिन्दू जाति को दो वर्गों में, उच्च और निम्न वर्गों में, विभक्त कर के चुनाव किया जाय। यह राजनैतिक चाल थी। गांधीजी ने उपवास करने का व्रत २० सितम्बर सन् १९३२ को लिया और प्रण किया कि अगर समस्त हिन्दुस्थान अछूतपन के धब्बे को मिटाने के लिये तैयार न हुआ और साम्प्रदायिक ऐलान को अप्रत्यक्षत रद्द न कर दिया, तो मैं प्राणान्त तक उपवास करूँगा। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू नेता पूना में एकत्र हुए और अछूत जाति के सदस्यों से मिले। दोनों के बीच २४ सितम्बर को समझौता हुआ, जो यरवदा पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट को सूचना भेजी गई। ब्रिटिश सरकार ने अवार्ड में आवश्यक परिवर्तन किये और गांधीजी ने उपवास बन्द कर दिया। गांधीजी मई सन् १९३३ में छोड़ दिये गये।[१२९]

(viii) द्वितीय अछूतोद्धारक उपवास—मई सन् १९३३ में इक्कीस दिन का उपवास—गांधीजी ने जेल से छूटने के बाद हरिजन प्रश्न को लेकर इक्कीस दिन

---

१२७ Pol Phil of Mahatma Gandhi, p 165

१२८ Mahatma Gandhi (R K) PP 327-332.

१२९. Studies in Gandhism, p 260

जो गुण (talents) मुझे भगवान् ने दिये हों, अगर मैं उन का प्रयोग इस कारण न करूं कि दूसरे कुछ लोग या सब लोग उन में से कुछ से वञ्चित हैं, तो मेरी मूर्खता ही होगी। मैंने कभी यह कहते नहीं सुना है कि गण-तन्त्र की सेवा में उपस्थित हुए विशिष्ट गुणों के इस्तेमाल करने से उसकी समृद्धि रोकी जा सकती है। मेरा यह निश्चय है कि इस प्रकार के प्रयोग से उसमें स्फूर्ति आती है जैसा कि राजकोट उपवास से निस्सन्देह हुआ है। मेरा मतलब यह है कि हर एक उपवास से राष्ट्र को लाभ पहुँचा है। गण-तन्त्रात्मकता की वृद्धि को अगर कुछ अवरुद्ध करने वाला कोई है तो वह है, हिंसा का फूट वहना।"[133]

(ख) विरोधी की सुषुप्त सूक्ष्म-महीन भावनाओं को जाग्रत करने के अभिप्राय से इक्कीस दिवस का उपवास, सन् १९४३—सन् १९४२ के प्रसिद्ध आन्दोलन के समय गांधीजी आगा खां के महल पूना, में बन्दी बना कर रखे गये। तत्कालीन वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने यह रोक लगा दी कि गांधीजी अपने किन्हीं भी राजनीतिक सहयोगियों से भेंट नहीं कर सकेंगे और न जिन्हा साहब से मुलाकात करने के हेतु पत्र-व्यवहार कर पायेंगे। और जब हिंसात्मक बलवा फैलने लगा, तो उसकी जिम्मेदारी गांधीजी और कांग्रेस पर रखी गई, तब १० फरवरी सन् १९४३ से उन्होंने २१ दिन का उपवास किया। उपवास समाप्त होने पर हिन्द सरकार के गृहसदस्य ने विधान-सभा में व्याख्यान देते हुए कहा कि "विरोधी पक्ष की मानवता, वीरता, और दया के भावों का इस ढंग से फायदा उठाना, कम-से-कम मेरी दृष्टि में पाश्चात्य शिष्टाचारी भावों के निस्सन्देह विरुद्ध है, अथवा वह किसी निरे सांसारिक लाभ के हेतु जनता की भाव-तन्त्रियों को बजाने के अभिप्राय से अपने पवित्र धरोहर-रूप जीवन के साथ खिलवाड़ ही है।" गांधीजी ने इस का उत्तर देते हुए आयर्लैण्ड के स्व० मेकस्विनी के उपवास का पुनः स्मरण कराया, जिसे अंग्रेज सरकार ने जेल ही में उपवास करते-करते मर जाने दिया। "आयर्लैण्डवासी उसे वीर और अमर क्यों कहते हैं? और इंग्लैण्ड के बड़े भारी राजनीतिज्ञ एसक्विथ ने ब्रिटिश सरकार के इस कार्य को अव्वल दर्जे की राजनैतिक भूल क्यों कही? कौन सा काम बेहतर है—विरोधी की प्रकट या गुप्त रूप से हत्या कर डालना, या कि उसे सूक्ष्म भावनाओं से युक्त मानना और उन्हें उपवास आदि के द्वारा जाग्रत करना? फिर भी, कौन-सी बात बेहतर है—उपवास या अन्य प्रकार के आत्मतप के द्वारा अपने निजी प्राणों के साथ खिलवाड़ करना या कि विरोधी एवं उस के आश्रितों के विनाश-चक्र के षड्यन्त्रों में लगे रह कर

---

१३३ हरिजन, सन् १९३९, पृष्ठ ८८

सिलनाइ करना ?"[१३४] गाधीजी ने कहा था कि "मेरा यह कार्य कुछ भूख-हड़ताल नही है, वल्कि शरीर-यातना के हेतु समत्यानुसार उपवास है।"[१३४(अ)]

(xii) और (xiii) साम्प्रदायिक आततायी उपद्रवो के शमनार्थ दो उपवास, सन् १९४७ और १९४८—हिन्दुस्थान-विभाजन के कुछ काल पूर्व और पश्चात् हिन्दू-मुसलमानो के बीच, विशेष कर विभाजित प्रान्त, पजाव और बगाल मे खूब खून-खच्चर हुआ, करोडो की सम्पत्ति नष्ट-भ्रष्ट की गई, और इधर-उधर से दोनो कौमो के लोगो की ऐसी भगदड मची, जैसी इतिहास मे पहले कभी नही सुनी थी। १५-८-१९४७ के पूर्व ही गाधीजी ने 'करो या मरो' के सिद्धान्त को लेकर नोआखाली (बगाल) की ओर प्रस्थान किया, परन्तु सुहरावर्दी की सलाह से कलकत्ता ही मे डेरा डाल दिया। कुछ काल तक शान्ति वर्तती हुई प्रतीत हुई, परन्तु सितम्बर मास मे फिर आग भडक उठी। फलत उन्होने हिन्दू-मुसलिम एक्य के हेतु एक उपवास कलकत्ता मे सितम्बर सन् १९४७ मे और दूसरा दिल्ली मे जनवरी सन् १९४८ मे किया, जिस से साम्प्रदायिक कटुता कुछ कम अवश्य हुई, परन्तु निर्दयी साम्प्रदायिकता ने जनवरी ३० सन् १९४८ मे उन का शरीरान्त कर डाला।[१३५]

परिस्थितियो के अवलोकन से सिद्धान्त जल्दी समझ मे आते हैं। इसी अभिप्राय से हमने गाधीजी के उपवासो का सक्षिप्त विवरण देना उपयुक्त समझा है। उन के पढने से ज्ञात होगा कि उपवास अध्यात्म-क्षेत्रीय एक अत्यन्त मर्म-भेदी सूक्ष्म यत्र होता है, जिस को समाज-क्षेत्र मे ग्रहण करने योग्य चाहे जो नही होता। गाधीजी ने एक वार यह लिखा था कि "मै तो इसी निर्णय पर पहुँचा हूं कि प्राणान्त तक उपवास करना सत्याग्रही कार्य-क्रम का एक अभिन्न अग है, और सत्याग्रही आयुधागार मे उपस्थित परिस्थितियो के समय वह सब से बडा और सब से अधिक फलदायक शस्त्र होता है। अगर राजनीति वाले को राजनीतिक वातो मे उसकी उपयुक्तता नही दिखाई देती, तो केवल इसीलिये कि इस अत्यन्त सूक्ष्म मर्म-भेदी शस्त्र का प्रयोग नवीन है।"[१३६] एक स्थान पर उन्होने फिर कहा है कि "उपवास

---

१३४ Citation in Studies in Gandhism, p 158

१३४(अ) " .not engaged on a hunger-strike but on a fast according to Capacity to crucify the flesh by fasting," Mahatma Gandhi by P B and Lawrence, p 252

१३५. Pol Phil of Mahatma Gandhi, pp 229-230

१३६ हरिजन, २६-७-१९४२, पृष्ठ २४८

तेज का प्रज्वलित (fiery) शस्त्र है। उस का अपना एक विज्ञान अलग है। जहाँ तक मुझे पता है, उस का पूरा-पूरा ज्ञान किसी को नही है। यदि उपवास करने वाला उस का प्रयोग अवैज्ञानिक रूप से करेगा तो वह निश्चय ही उसे हानिकर होगा, और सम्भवत वह उस कार्य को भी हानि पहुँचाये, जिस के हेतु वह किया जाता है, इसलिये उसे प्रयोग मे लाने का जो अधिकारी नही बन गया है, उसे उस का प्रयोग नही करना चाहिये। उपवास वही आदमी करे, जिन का परिचय या मेल-जोल उस आदमी से हो, जिस के विरुद्ध वह उपवास करता है। विरोध-पक्ष वाला मनुष्य उस कार्य से भी प्रत्यक्षत सम्बन्धित हो, जिस के लिये उपवास किया जाता है।'[१३७] मेरे माप के अनुसार बहुत से उपवास सत्याग्रही उपवास की गणना मे बिल्कुल नही आते, और पूर्वाभ्यास एव पर्याप्त विचार के बिना वे भूख हडताल (hunger strikes) से होते है, जैसा कि सामान्यत उन्हे कहा जाता है।"[१३८] "मैं जानता हूँ कि आज-कल सत्याग्रह के समान उपवास का भी बडा दुरुपयोग होता है। जरा से बहाने को लेकर लोग उपवास करते दिखाई देते है। इस प्रकार के उपवासो की तह मे बहुधा हिंसा का वास रहता है।"[१३९]

सत्याग्रही मत मे तर्क, श्रद्धा और अनुभूति—

इतना सब पढ लिया। यह भी हमने सुन लिया कि आत्मा, सत्य, अहिंसा, उपवास आदि आध्यात्मिक क्षेत्र के परम शक्तिवान अत्यन्त सूक्ष्म मर्म-भेदी शस्त्र है। यह भी हमे सुनाया गया कि उक्त शस्त्रो मे वह करामात है कि वे भारी-से-भारी पहाडो को उखाड कर फेंक सकते हैं, महान्-से-महान् जलधि को सुखा सकते हैं, कठोर-से-कठोर पाषाण-हृदय को पिघला सकते हैं, इत्यादि। पर, क्या सचमुच ही ऐसा हो सकता है, या कि केवल यह अतिशयोक्ति की अलकृत भाषा ही है। यह सन्देह हमारे मन मे बना रहता है। जब तक सन्देह नही जाता तब तक विश्वास और श्रद्धा कैसे उत्पन्न हो ? क्या हमे अन्धविश्वासी ही बन जाना चाहिये ? सो तो हो नही सकता। तब यदि विश्वास-श्रद्धा नही, तो गाधी-मत को कैसे माना जाय ? वह तो ऐसी बातें करता है, जो देखने सुनने मे नही आती। उस के पहले भी बहुत-सी ऐसी बातें कही गई है, और यह भी खूब कहा गया है कि वे तर्क की बातें नही, अनुभूति की बातें हैं—श्रद्धा की बाते हैं। गाधी भी तो श्रद्धा (faith) ही की बात कहते है ?

---

१३७ हरिजन, १३-१०—१९४२, पृष्ठ ३२२

१३८ हरिजन, १८-३—१९३९, पृष्ठ ५६

१३९ हरिजन, ११-३—१९३९, पृष्ठ ४६

'श्रद्धा' मे न तो गप्प-गोष्टो का भाव समझना चाहिये और न अन्धविश्वास का। तर्क-श्रद्धा-अनुभूति सम्बन्धी गाधीजी के विचारो का उल्लेख हम नवे अध्याय के 'ईश्वर प्रणिधान' शीर्षक लेख मे कर चुके है। पाठक उसे वहा देखे। यहाँ केवल यह आवश्यक है कि हम कुछ व्यावहारिक भौतिक दृष्टान्त देकर तथा परिचित तर्को का आधार लेकर 'श्रद्धा' वाली वात की सत्यता पर प्रकाश डाल दें, ताकि भौतिक चक्षु वाला आधुनिक वैज्ञानिक युग भी उस की सचाई पर विश्वास करने लग जाय और गाधी मत, उस की दृष्टि मे, केवल शास्त्रीय सिद्धान्त वन कर मिकुडन मे न पड जाय।

सब से पहले हम यह मान लेते हैं कि भौतिक विज्ञानी के हृदय मे आत्म-वल, सत्य-वल, अथवा अहिंसा-वल आदि को, जो गाधी-मत के सूक्ष्म मर्म-भेदी आधार है, जानने की जिज्ञासा है, क्यो कि जहाँ जिज्ञासा नही वहा वही गति होती है, जैसे कोई औधे घडे पर पानी डाल कर घडे को पानी से भरना चाहे। जिज्ञासाहीन मे श्रद्धा का उद्भव हो ही नही सकता, और जहाँ श्रद्धा न हो वहाँ अनुभूति का होना भी असम्भव जानना चाहिये। चूकि जिज्ञासु स्थूल ज्ञानी है, अर्थात् स्थूल वातो का ही द्रष्टा हैं, इसलिये जव कभी उसे सूक्ष्म-क्षेत्र की वात समझ मे न आये, तो उसे रोजमर्रा की स्थूल वातो का विचार करते और क्रमश उस ओर तर्क करते हुए वढते जाना चाहिये। इस प्रकार के साधन से उसे स्वय धीरज से सन्तोष-जनक हल प्रश्नोत्तर के रूप मे एक के वाद एक मिलता जायेगा। यह पहला नियम है, जो ध्यान मे रखने योग्य है।

यह सौभाग्य की वात है कि वर्तमान काल मे विज्ञान की वृद्धि इतनी अधिक हो गई है कि वायु मे विमान उडते दिखाई देने लगे, रेडियो के द्वारा दुनिया की एक छोर की वाते दूसरे छोर पर घर-वैठे तत्काल सुनाई देने लगी, टेलीविजन के द्वारा अत्यन्त दूरस्थ वस्तुओ का दर्शन करना सम्भव हो गया, डायनामाइटो के जरिये पहाड-के-पहाड खोल दिये गये, एटम-वमो ने जो गजव ढाया हे वह भी वता दिया गया, और कही तृतीय महासमर हो पडा, तो न जाने कौन-से अणु वम, हायड्रोजन-वम आदि कौन-सी शक्ति लेकर क्या-क्या गजव कर दिखाये, सो कहने की जरूरत नही। गरज यह कि आज के वैज्ञानिक को आत्म-शक्ति की अद्वितीयता का परिचय देना उतना कठिन नही, जो पूर्वकाल मे रहने वाले के लिये होता, क्यो कि उपरोक्त प्रकार के आविष्कारो से मामूली-से-मामूली आदमी को यह देखने-सुनने को मिल गया कि भौतिक स्थूलता की सूक्ष्मता मे शक्त्याश अधिक रहता है। यदि यह सूक्ष्मता ज्योतिर्मय शक्तिपूर्ण सत् की ओर अग्रसर होती जाय, तो उस शक्ति का कोई पार न रहे—यह तर्क आज के दृष्टान्तो को देख कर अमान्य न होगा। हम

सूक्ष्म और स्थूल क्षेत्रों की भिन्नता को भूल जाते है। हम चाहते हैं कि आध्यात्मिक-क्षेत्र की बातों की जानकारी हमें अपने पार्थिव क्षेत्र में ही, अथवा हमारी स्थूल ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही हो जाया करे। यह सम्भव नहीं। सूक्ष्मता में पहुँचने के लिये सूक्ष्म हो बन कर उस में रहना पडता है। यदि हम में इतना हुनर हो जाय कि स्थूल शरीर को सूक्ष्म या हल्का बना सकें, तो हम सूक्ष्म-क्षेत्र का अनुभव कर सकते हैं। जल में शरीर तैरता है, क्यों कि उसे हम कुछ संयोगों द्वारा जल से हलका बना लेते है। वायु में इतना बडा शरीरधारी वायुयान इसलिये उड सकता है, क्यों कि वह भी कुछ संयोगों के कारण वायु जैसा हल्का बन जाता है, इसलिये यह सन्देह दूर कर दीजिए कि हम स्थूल शरीरधारी महीन-से-महीन आत्म-क्षेत्र में पहुँच ही नहीं सकते। विश्वास कीजिए कि यत्न करने से, संयोग को जुटाने से आप वहीं पहुँच सकते हैं। संयोग जुटाने का नाम ही ईश्वरीय भाषा में योग-माया कहा जाता है, क्यों कि माया प्राकृतिक गुणों का नाम है—उन का समुचित योग ही महामाया कहलाया। यह हुआ दूसरा नियम, जिसे ध्यान में रखना चाहिये।

भौतिक शक्ति में आप को विश्वास है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण आप में यह विश्वास भी तो उठा है कि भूत के सूक्ष्मांश या सारांश में शक्ति की अधिकता प्रकट हो जाती है। आप यह भी जानते हैं कि वैज्ञानिक आविष्कारों का अन्त नहीं हुआ। न जाने अभी कितने ही और आविष्कार अधिक-से-अधिक सूक्ष्मांश को ढूँढने के लिये होंगे। जब अभी भी अधूरे विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया कि भौतिक अणुओं में वह महान् शक्ति है कि वह पहाडों को फोड सकती है, सैकडों मीलों तक की भूमि को नाश कर सकती है, कई मीलों के तालाबों के पानी को पूर सकती हैं, इत्यादि, तब क्या यह सम्भव नहीं कि अणु-अंशों में स्थित उन से कई गुनी सूक्ष्म महीन शक्ति हिमालय को भी उखाड दे, या पेसीफिक सागर को ही सुखा दे। अभी तो विज्ञान उस महान् सर्व-व्यापक शक्ति के इस उदर के कणांशों को ही खोज सका है। यह हुई ध्यान देने योग्य तीसरी बात।

अब लीजिये चौथी बात। विस्तार अधिक न बढे, इस दृष्टि से पृथ्वी, जल वायु और अग्नि की बात को छोड कर हम एकदम पाँचवें भौतिक तत्त्व, आकाश पर आ जाते है। यदि आप से पूछा जाय कि सब से सूक्ष्म भौतिक तत्त्व कौन-सा है, तो आप कहेंगे आकाश। वह कहाँ है? तो आप का उत्तर होगा कि वह अपनी सूक्ष्मता के कारण सर्वत्र व्याप्त है। दृढ, द्रव्य, वायु रूपी सभी पदार्थों के भीतर-बाहर वह व्यापक है। क्या हर पदार्थ में प्रविष्ट रहने से उस की समता और एकता में कोई अन्तर आ जाता है? आप कहेंगे—नहीं।

अब यदि कोई पूछे कि क्या इन पंच महाभूतों में से कोई भी भूत, मन, बुद्धि या

अहकार मे प्रवेश कर पाता है? उत्तर मिलेगा—नही। क्यो? इसलिये कि भूतो का कार्य भौतिक क्षेत्र मे ही हो सकता है, क्यो कि वे स्थूल है। वे अपनी स्थूलता के कारण मन-बुद्धि-अहकार वाले सूक्ष्म क्षेत्र मे, जिसे मानसिक क्षेत्र भी कहते है, प्रवेश कर ही नही पाते, क्यो कि यह एक स्वाभाविक स्वय-सिद्ध नियम है कि स्थूल सूक्ष्म मे नही घॅस सकता। तब फिर क्या मन-बुद्धि-अहकार भी पचभूतो वाले स्थूल क्षेत्र मे नही जा सकते? उत्तर होगा, जा सकते है, क्यो कि वे महीन है, सूक्ष्म है।

अब यदि आप से पूछा जाय कि जिस प्रकार भौतिक अण्वाश अथवा भौतिक सूक्ष्मता या सार (essence) मे भूतो से अधिक शक्ति और व्यापकता विद्यमान रहती है, उसी प्रकार क्या मानसिक तत्त्वो का सार या सूक्ष्मता उन तत्त्वो से अधिक शक्तिवान और व्यापक नही हो सकता? यदि आप विज्ञान को मानते है, यदि आप विवेकशील है, तो आप को 'हाँ' कहना ही पड़ेगा। इस सार को आप चाहे आत्मा कहिए, रूह कहिए, सोल (Soul) कहिए, ईश्वर कहिए, सत्य (Truth) कहिए, और चाहे जो कहिए, उस मे हमे कोई बाधा नही है। प्रश्न केवल यह है कि क्या यह वैज्ञानिक सत्य नही हो सकता कि यह सार सर्वत्र व्यापक और सर्व शक्तिमान माना जा सकता है अथवा माना जाना चाहिये। इस बात के मान लेने पर यह आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है कि उपयुक्त सयोग जुटा लेने पर आत्मा, सोल, या रूह नाम का सार (essence) न केवल भौतिक क्षेत्र के विशाल हिमालय को उखाड कर फेक सकता है, बल्कि मानसिक क्षेत्र के मन-बुद्धि-अहकारमय दुर्भावनाओ को भी क्षण-भर मे पिघला सकता है।

सत्याग्रह का साराश

यह हुआ सत्याग्रह-विषयक सक्षिप्त विवरण, जो इस छोटी-सी पुस्तक के लिहाज से काफी है। सत्य सृष्टि का अमृत-विन्दु है। इस अमृत विन्दु को प्राप्त करने के लिए गाधी-मत एक पपीहे की लम्बी पुकार है, जिस से चौबीसो घटे 'सत्याग्रह' 'सत्याग्रह' की ध्वनि निकलती रहती है। सत्य का ग्रहण करना, उस ध्वनि का अभिप्राय है। वही उस की प्रेम-वश प्राणान्त तक टेक है—आदर्श है। उस मे 'आग्रह' का अर्थ हठ नही, क्यो कि हठ के साथ हिंसा की भावना रहती है, जिस के कारण वह सत्याग्रह न बन कर दुराग्रह बन जाता है, जिसे गाधी-मत के उदधि मे कही भी स्थान नही दिया गया है। सत्य-ग्रहण गाधी की कोई नई खोज नही है। उस के लिये पूर्व-पुरुष भी पुकार लगाते रहे है। गाधी ने केवल उसे व्यक्तित्व के रूप से निकाल कर अत्यन्त व्यापक बना दिया है। अब वह समाज के हर क्षेत्र मे सामूहिक रूप से कार्यान्वित होने लगा है। यद्यपि पृथ्वी के प्राय सभी खण्डो मे

उस की चर्चा फैल रही है, और हर कोने मे छोटे-मोटे रूप में उस के प्रयोग होते हुए सुनाई भी पडा करते है, तथापि अभी तक उनका प्रयोग, वैज्ञानिक और सुचारु रूप मे केवल दक्षिण अफ्रीका और हिन्दुस्थान मे ही हुआ है, और वह भी केवल देश के अन्दर होने वाले असत्य को मिटाने के लिये। एक देश ने दूसरे देश के असत्य व्यवहार का निवारण करने के लिये अभी तक कोई सत्याग्रह का प्रयोग नही किया है, इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उस का प्रसार शून्यवत् ही समझना चाहिये, हालाकि गाधीजी ने उस सम्भावित दृश्य का एक शाब्दिक खाका इस प्रकार खीच कर जरूर पेश कर दिया है कि जब सशस्त्र फौज किसी देश के दरवाजे पर आ डटे वे सत्याग्रही उस के बीच अपना यह अहिसात्मक कर्तव्य निबाहता रहे, जिस के विषय मे हम पहले कह चुके है।

गाधी-मत मे हिसात्मक सत्याग्रह वर्जनीय है, क्यो कि गाधीजी सत्य को—नैतिकता के दायरे के परे—आध्यात्मिक क्षेत्र का तत्त्व मानते है। अपने सत्याग्रही युद्ध मे वे अहिसात्मक साधना का ही प्रयोग करना-कराना चाहते है। इसी कारण वे हर सत्याग्रही सैनिक को पर्याप्त रूप से नियन्त्रित होने के लिये कहते है। उन का कहना है कि सत्य-ग्रहण का एक मुख्य उपाय यह है कि असत्य का साथ छोडा जाय, क्यो कि हमारा जीवन प्राय असत्य से घिरा रहता है। असत्य के साथ को छोडने की क्रिया का नाम उन्होने 'अहिसात्मक असहयोग' रखा है। यह अहिसात्मक असहयोग परिस्थितियो के अनुसार विविध प्रकार का हो सकता है। परन्तु गाधीजी के समय मे केवल उन्ही का प्रयोग किया गया है, जिन का उल्लेख हम ने अभी ऊपर किया है, अर्थात् दुराज्ञा-भग, वहिष्कार, हडताल, पिकेटिंग, उपवास, और यदि हृदय मे मृत्यु का भय न निकला हो तथा आत्म-सम्मान की रक्षा करना हो, तो स्थान ही त्याग कर देना उचित होता है। इन प्रयोगो का करना तभी सभव हो सकता है, जब जिज्ञासु श्रद्धावान हो गया हो। श्रद्धावान ही कर्तव्य-पथारूढ होकर अनुभूति-राशि को प्राप्त कर अटल विश्वासी बन सकता है, इसलिये साक्षात्कारी अनुभवशीलो की कही हुई बातो व तर्कों पर मनन करते हुए प्रथम श्रद्धावान बनो, और फिर उसे अनुभूतियो पर आधारित कर के अटल बना लो।

(११)

मार्क्स और गाँधी की आर्थिक योजनाएँ

(अ) भाग

मार्क्स की आर्थिक योजनाएँ

अभी तक, सच पूछा जाय तो, मार्क्स और गाधी के उन सिद्धान्तों का ही उल्लेख किया गया है, जिनके आधार पर उन्होने अपने-अपने मन्तव्यानुसार मनुष्य-समाज का व्यावहारिक ढाँचा खडा करना चाहा था। चूँकि इस अध्याय मे हमे उन के इन व्यावहारिक ढाँचो की ही छान-बीन करना है, इसलिए उन मे प्रवेश करने के पूर्व हमे उन सिद्धान्तो के विषय मे अपनी स्मृति एक बार फिर से ताजी कर लेना चाहिए, ताकि छानबीन करने मे भूल-चूक होने की सम्भावना न रहने पावे। पहले मार्क्स की ही बात को ले लीजिये।

मार्क्सवाद के आधारभूत सिद्धान्तो का पुन स्मरण

समाज-सुख-भावना से प्रेरित मार्क्स सर्वांगी समाज का सशोधक था। कई लोग यह समझा करते है कि मार्क्स केवल आर्थिक अग का सशोधन करना चाहता था, परतु ऐसा समझना भूल है, हालाँ कि यह सत्य है कि उसने अपने कार्यक्रम मे आर्थिक-सशोधन को सर्वप्रथम और सर्वप्रधान स्थान दे रखा था। इसीलिए मार्क्सवाद अर्थ-प्रधान कहा जाता है। मार्क्स का अर्थ-शास्त्रीय लक्ष्य समाज के हर व्यावहारिक पहलू के इतिहास से सम्बन्धित था। यह लक्ष्य केवल इतना ही नही था कि मनुष्य कला-प्रेमी बना हुआ घटनाओ और तथ्यो को ताकता रहे, बल्कि यह था कि वह वैज्ञानिक मार्ग का आश्रय लेकर समाजोत्थान का निर्माण करे। अत मार्क्स का सब से पहला सिद्धान्त यह हुआ कि समाज-सुख-स्थापन प्रधानत अर्थ-क्षेत्र-सशोधन पर निर्भर है। उस का दूसरा सिद्धान्त यह है कि व्यापक और अटूट ऐतिहासिक अध्ययन से यह प्रकट होता है कि प्राकृतिक और सामाजिक गति ऊर्ध्व-चक्राकार चला करती है। यह मार्क्स का प्रसिद्ध डायलेक्टिक सिद्धात है, जिसे द्वद्वात्मक भौतिक सिद्धात भी कहते हैं, क्यो कि उस के द्वारा मथन कर के द्विवर्गीय सघर्ष का तत्त्व मार्क्स ने

निकाला है। इस सिद्धान्त का तर्क यह है कि प्राकृतिक और सामाजिक घटनाओ मे तीन बातें दिखाई देती है। एक क्रिया (action or thesis), दूसरी उसकी विरोधी क्रिया अर्थात् प्रतिक्रिया (reaction or anti-thesis), और तीसरी इन दोनो का योगफल या विलीनीकरण (fruition absorption or synthesis) यह ऐतिहासिक तर्क हेगिल आदि का भी था, परतु मार्क्स ने उसे पहले से अधिक विशिष्ट बना दिया है। यदि यह कहा जाय कि मार्क्स की यह डायलेक्टिक्स ही मार्क्सवाद की धुरी है, तो अतिशयोक्ति नही होगी। इसी द्वद्वात्मक सघर्ष का अध्ययन करते समय मार्क्स ने निम्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया, बल्कि इन्हे उक्त डायलेक्टिक सिद्धात के उप-सिद्धात ही कहना उपयुक्त होगा। वे ये हें——

(क) भौतिक इतिहास भविष्य-प्रदर्शन-कारी होता है, न कि केवल भूतकाल का प्रदर्शक, जैसा लोग बहुधा कहा करते हैं। दूसरे शब्दो मे, मार्क्स का कहना है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद केवल इतना ही नही बताता कि हम क्या है, बल्कि उस गति का भी प्रदर्शक होता है, जिस मे से गुजरते हुए हम अन्य दूसरे रूप मे परिवर्तित होने के लिए जा रहे हैं। मार्क्स के इस सिद्धान्त के अनुसार समाज गतिमान है न कि स्थिर, जिसे अग्रेजी मे कहा है– a doctrine of "not of being but of becoming" 'Being' और 'Becoming' मे जो भेद है, वह मार्क्स के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है। जब श्रमिक कोई वस्तु अपने श्रम के द्वारा तैयार कर लेता है, तब मार्क्स का कहना है—"श्रमिक मे जो गति प्रतीत होती थी, वही अब तैयार की हुई वस्तु मे स्थगित रूप मे प्रतीत हो रही है, मानो चलित (becoming) के स्थान मे स्थगित (being) हो गई हो।"[१] यही बात मार्क्स ने दूसरे शब्दो मे और अधिक स्पष्ट की है। उन्होने कहा है कि "श्रम की गति की दौड मे श्रम, बनती हुई (becoming) स्थिति से बनी (being) स्थिति तक लगातार गुजरता रहता है—गतिमान रूप से कुछ ऐसी वस्तु मे बदलता रहता है, जो पदार्थ (matter) के रूप मे होती जाती है।"[२]

---

१ "That which in the labourer appeared as movement now appears in the product in a resting phase, as 'being' instead of 'becoming' Capital, BK 1, p 173

२ "During the labour-process, labour is continually passing from a state of becoming into a state of being, is changing from a mode of motion into something that is objectified as matter" (Capital, BK I, p 183

(ख) **जीवन-मरण का योग**--ऐतिहासिक भौतिकवाद यह भी बताता है कि एक तथ्य अपनी उन्नति करते-करते अपनी कब्र भी अपने-आप खोदता जाता है। यही नियम सामाजिक वर्गों, पद्धतियो या उत्पादन की शक्तियो के लिए लागू रहता है। इसी नियम के शिकार आज पूँजीपति भी हो रहे है। उन्होने अपने-आप मरने का रास्ता निकाल लिया है। वे श्रमिको की सहायता से और उन्ही के सहयोग मे विशाल-विशाल औद्योगिक और व्यवसायी सस्थाओ के मालिक बन बैठे। परिणाम यह हुआ कि श्रमिको का सठगन उन के विरुद्ध उठा और अब वह सगठन इतना बढ गया है कि अत मे वह पूंजीपतित्व को ही हडप जायगा। गरज यह कि जिस प्रकार पूंजीपतित्व मे सामन्त-प्रथा विलीन हो चुकी थी, उसी प्रकार अब श्रमिको मे पूजीपतियो का भी विलीनीकरण हो जाना निश्चित है।

(ग) **उन्नति-मार्ग अनन्त है--(Negation of negation) अर्थात् प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया)**---गणित-शास्त्र का यह सर्वमान्य नियम है कि दो ऋण मिलने से एक धन बन जाता है। ऐतिहासिक भौतिकता मे भी यही नियम मार्क्स ने कार्यान्वित देखा। समाज मे जब किसी पद्धति के विरुद्ध दूसरी प्रतिक्रियात्मक पद्धति उस का विनाश करने के हेतु उठती है, तब इस प्रतिक्रियात्मक शक्ति के विरुद्ध दूसरी ऐसी शक्ति भी उठती आती है, जिस से उन दोनो मे सघर्ष उठ खडा होता है, ताकि स्तब्धता न आने पाये। इसी को 'प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया' अथवा 'नकार का नकार' कहते हैं। गरज यह है कि उन्नति का मार्ग अनन्त है।

अर्थशास्त्र और डायलेक्टिक्स का सम्बध —

अभी तक का इतिहास यह सिद्ध करता आ रहा है कि यह द्विवर्गीय सघर्ष सम्पन्न और दरिद्रो—धनी और गरीबो—का सघर्ष रहा है। हर क्षेत्र मे धनवानो का बोलबाला और गरीबो का गला घोटा जाना पाया जाता है। अर्थ-क्षेत्र मे शोषण, राज्य-क्षेत्र मे अन्याय, और समाज-क्षेत्र मे अपमान ही मानो गरीबो की भोग-सामग्री बन गई है। मार्क्स इस इतिहास को पलट देना चाहता है। वह चाहता है कि वर्ग ही न रहें—समाज एकमय बन जाय, तो शोषण, अन्याय, अपमान का बखेडा ही मिट जाये। अर्थ-क्षेत्र मे शोषण किस ढग से किया जाता है और उस का निराकरण किस विधि से हो इसी की खोज करने के लिए मार्क्स को अर्थशास्त्रीय क्षेत्र मे उतरना पडा, ताकि विष-मूल ही खोद कर बहाया जा सके।

सच पूछा जाय, तो मार्क्स की दृष्टि मे अर्थशास्त्र डायलेक्टिक्स का ही एक अग है। अमुक काल मे अमुक समाज की गति की उत्पत्ति, वृद्धि और ह्रास का निरीक्षण करना मार्क्स की डायलेक्टिक्स-विधि है, यह हम देख ही चुके हैं, अत उस के

आर्थिक सिद्धान्त के विषय मे भी यही कहा जाना उपयुक्त है, जैसा कि लेनिन ने यह कह कर व्यक्त किया है कि "किसी इतिहास-प्रसिद्ध समाज के उत्पादन के सम्बन्धो का—उन की व्युत्पत्ति, वृद्धि और ह्रास का निरीक्षण करना ही मार्क्स का अर्थशास्त्रीय सिद्धात है।"[१] मार्क्स ने स्वय अपने प्रसिद्ध अर्थशास्त्रीय ग्रथ, 'डास केपिटल' ('Capital') की भूमिका मे लिखा है कि "इस पुस्तक का अतिम ध्येय है, वर्तमान समाज के आर्थिक नियम की गति का स्पष्टीकरण करना।" इसीलिए हम देखते हैं कि मार्क्स ने इतिहास-समुद्र का मथन किया और बुर्जुआ-वर्ग (पूंजीपतियो) की व्युत्पत्ति ढूंढी तथा यह भी बताया कि वह किस क्रम से वृद्धि करता गया। उस की वृद्धि के साथ-ही-साथ उत्पादन के साधन अर्थात् पूंजी की भी वृद्धि होती गई, अथवा यह कहिये कि ज्यो-ज्यो नवीन आविष्कार होने के कारण उत्पादन के नये-नये साधन अर्थ-क्षेत्र मे उपयोग मे लाये जाने लगे, त्यो-त्यो पूंजीपतियो का साम्राज्य फैलता गया। इस वृद्धि के समय पूंजीपतियो की बडी-बडी औद्योगिक और व्यावसायिक सस्थाओ का उद्भव होता गया, जिन का सचालन श्रमिको के हाथ मे रहना स्वाभाविक था। वस्त्र-उत्पादक मिलो, रेल-व्यवस्थाओ, नाविक-सस्थाओ, कोयला-मैंगनीज-मिट्टी का तेल-लोहा आदि खनिज सम्बन्धी उद्योगो, स्टील आदि के नाना प्रकार के विशाल कारखानो आदि का स्मरण कीजिये, तो आप को सहज ही उन मे काम करने वाले करोडो श्रमिको की याद हो उठेगी, और यह भी ध्यान मे आ जायेगा कि वे लोग किस प्रकार से धीरे-धीरे सगठित होते गये। उनका यह सगठन अपनी बेहतरी को सम्मुख रख कर अपने मालिक पूंजीपतियो के विरुद्ध हो उठा और बढा। वह स्थानीय लघु-लघु रूपो से अब इतना वृहत् जगत्-व्याप्त होता जा रहा है कि जिस प्रकार पूंजीपतियो का वर्ग सामूहिक रूप से सारे ससार मे अपनी सत्ता फैलाने मे लगा था, उसी प्रकार वह भी उन की उस सत्ता को नष्ट करने के लिए सर्वदेशीय होता हुआ बढता जा रहा है। इस तरह मार्क्स ने यह सिद्ध किया कि पूंजीपतित्व तो अपने-आप ही उन्ही श्रमिको के द्वारा खतम होने वाला है, जिन के शोषण से वह काफी मुटा गया है। ध्यान से देखिये तो यह सिद्धान्त कुछ नवीन नही है, क्योकि सृष्टि के त्रि-क्रियात्मक चक्र का ज्ञान लोगो को बहुत पहले से है, जैसा कि जन्म-जीवन-मरण, उत्पत्ति-स्थिति-लय, आदि-मध्य-अत, और यदि धार्मिक भाषा से चिढ न हो, तो ब्रह्मा-विष्णु महेश आदि शब्दो के प्रचार से ही विदित है। गीता मे भी कृष्ण ने अर्जुन से यही कहा था कि 'तू चाहे लड या न लड ये तो अपने-आप ही काल-वश मर जाने वाले है।' हाँ, प्रकृति के इस

---

१ 'Karl Marx'—pp 30 31

व्यापक नियम को मार्क्स ने मनुष्य-समाज के एक विशिष्ट क्षेत्र मे भी लागू हुआ पाया और उसे विशिष्ट रूप से ही ऐतिहासिक प्रमाणो से सिद्ध कर दिखाया है। इस बात का प्रतिपादन मार्क्स ने सौ-सवा-सौ वर्ष पहले किया था, जब कि श्रम-सगठन की लहर इतनी जगत्-व्याप्त नही थी, जितनी आज हमे दिखाई दे रही है। श्रम-सगठन की इधर-उधर उठती हुई नन्ही-नन्ही लहरो के बीच, जिस दृढता के साथ मार्क्स ने उक्त सिद्धान्त को जन-साधारण के सम्मुख रखा था, वह निस्सदेह सराहनीय है, भले हो आज इतने काल के बाद हम यह कहने लग जायें कि उस मे कोई नवीनता नही है।

मार्क्स का अर्थशास्त्रीय ग्रथ 'डास केपिटल' (Das Kapital)

यह तो हुआ मार्क्स का अर्थशास्त्रीय वह सिद्धान्त, जो समाज के सर्व क्षेत्रो मे व्याप्त है। अब हमे लेना है उसका 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) वाला सिद्धान्त, जो केवल अर्थ-क्षेत्र मे व्याप्त हे। पूँजीपतियो द्वारा इस अतिरिक्त मूल्य का हडप कर जाना ही शोषण का कारण है। मार्क्स की ख्याति की दृष्टि से यह सिद्धात डायलेक्टिक्स के सिद्धात से किसी प्रकार कम महत्त्व का नही है। इस 'अतिरिक्त-मूल्य' का ठीक-ठीक अर्थ जान सकने के पहले, हमे 'मूल्य' (value) का अर्थ जानना चाहिये, जो मार्क्स ने निश्चित किया हे।

'मूल्य' 'अतिरिक्त मूल्य' आदि अर्थशास्त्रीय बातो का विवरण मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'डास केपिटल' मे दिया है। 'डास केपिटल' का प्रथम खड मार्क्स के जीवन काल मे ही निकल चुका था। उसके खड २ और ३ उस की मृत्यु के पश्चात् उस की लेख-सामग्री को एकत्रित कर प्रकाशित किये गये, परतु 'केपिटल' के प्रथम खड ही मे उस के मूल सिद्धान्तो का निचोड है।

मार्क्स के लेख बहुधा बडे क्लिष्ट और निगूढ समझे जाते है, जैसा कि जी० डी० एच० कोल ने ऐडिन और पॉल द्वारा 'डास केपिटल' के अग्रेजी अनुवाद की भूमिका मे लिखा है। उन्होने लिखा है कि "कार्ल-मार्क्स की 'केपिटल' पुस्तक का पढना कोई सहज बात नही है। एक तो वह खुद ही कठिन है, क्यो कि उस का विषय ही अत्यत कठिन और निगूढ है, और दूसरे इसलिये और भी कठिन हे कि उसकी शैली से यह सिद्ध होता है कि उसे पूर्ण रूप से समझने के लिये पाठक को तत्कालीन अर्थ-शास्त्रीय सिद्धान्तो एव तात्त्विक विचारधाराओ का ज्ञान होना आवश्यक है। कार्ल-मार्क्स का मन बडा आलोचनात्मक और आन्वीक्षिक (abstract) था। उस का हमेशा दृढ निश्चय रहता था बाह्य रूपो के अदर घुसने का—मर्म भेद बताने का।"

यह तो कोई भी कहेगा कि किसी शास्त्रीय बात को समझने के लिये जिज्ञासु को अधिकारी होना चाहिये, और अधिकारी होने का एक आवश्यक लक्षण यह है कि उसे तत्सबंधी प्रचलित विचार-धाराओं का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान हो। जन-साधारण मे शास्त्रीय सिद्धान्तों, तत्त्वों और आलोचनाओं को भली-भांति समझने की क्षमता न हो, तो कोई आश्चर्यजनक बात नही है, इसलिये जिसे अर्थशास्त्र का कुछ भी ज्ञान न हो, उसे मार्क्स की 'डास केपिटल' को एकाएक समझना अवश्य ही कठिन होना चाहिये, क्यों कि उस मे अर्थशास्त्रीय तथ्यों तथा दृष्टांतो के अतिरिक्त मर्म-भेदी भाषा मे तात्त्विक निदानों और आलोचनाओं का आधिक्य है। प्रथम पुस्तक के प्रथम अध्याय मे, जिस मे 'वस्तुओं और द्रव्य' (commodities and money) के विषय का विवरण है, पाठक के सोचने-समझने की काफी सामग्री है। 'उसमे 'वेल्यू' (Value)) शब्द की व्याख्याएँ दी है, जब तक पाठक इन भेदमयी व्याख्याओं का ठीक-ठाक स्मरण न करेंगे, तब तक उन्हें मार्क्स के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त को समझने मे घपला कर बैठने की सम्भावना बनी ही रहेगी। 'वेल्यू' शब्द ही क्या, और भी कुछ शब्द ऐसे है, जिन का अर्थ सही प्रकार से जानने के लिये पाठक को दशा-देश-काल को नहीं भुलाना चाहिये। उदाहरणार्थ—शिल्प (Manufacture) और शिल्पज्ञ (manufacturer) को ही लीजिये। गिल्ड-काल (guild-period) का शिल्प या शिल्पज्ञ श्रम-विभाग-काल के या आधुनिक काल के शिल्प और शिल्पज्ञ से भिन्न भाव-वाची होना ही चाहिये, क्यो कि समाज आगे बढ रहा है—स्थिर नही है। एक बात तो सब से पहले यही मुख्य है कि भाव-प्रदर्शन के हेतु वाणी अथवा भाषा बहुधा पगु बनी ही रहती है। यह कठिनता हर शास्त्र-कार को महसूस होती है। मार्क्स ने स्वय इस कठिनता का अनुभव किया। उसने 'केपिटल' (प्रथम खड) के एक फुट नोट मे यह स्वीकार करते हुए कि उस ने 'आवश्यक श्रम-काल' (necessary labour time) पद का प्रयोग कहीं सर्व-सामान्य भाव और कहीं विशिष्ट-क्षेत्रीय सकीर्ण भाव-प्रदर्शन के लिये किया है, यह स्पष्ट कहा है कि "शास्त्रीय शब्द या पदों का भिन्न-भिन्न अर्थो मे उपयोग करना गलत मार्ग पर ले जाने वाली चीज होती है, परतु ऐसा कोई विज्ञान-शास्त्र है ही नहीं, जो इस बात से पूरी तरह से बरी रह सकता हो।"[४] यही कठिनाई उक्त पुस्तक के पृ० ३२ मे भी प्रदर्शित होती है।[५] इसी कारण, हमे प्रतीत होता है, मार्क्स ने अर्थ-

---

४ Eden and Paul's Translation of Das Kapital p 213

५ " following the usual custom, I described a commodity as use-value and exchange value Strictly speaking, this

शास्त्रीय शब्दो को शब्द-जजीरो से नही जकडा या किसी परिभाषा के रूप मे सीमाबद्ध नही किया। उन की केवल व्याख्या की है, और आवश्यक विवरण भी उन का दिया है। जब स्वय लेखक या वक्ता को यह कठिनता रहती हे तो पाठक या श्रोता को यह बात और भी कठिन हो, तो इस मे क्या आश्चर्य ? जब पाठक और श्रोता उस मूल भाषा से अनभिज्ञ रहते है, जिस मे लेखक ने लिखा हो अथवा वक्ता ने वक्तव्य दिया हो और फलत उस के अनुवाद पर निर्भर रहते हो, तब तो पूर्वोक्त कठिनता का कोई पार नही रहता। जब मूल भाषा ही भाव को नही पकड पाती, तब उस की नकल—उसका अनुवाद—पकडने मे और भी अधिक असमर्थ रहे, तो कोई आश्चर्य की बात नही। मार्क्स ने अपने ग्रथ जर्मन भाषा मे लिखे हैं। इसलिये जो लोग जर्मन भाषा से अनभिज्ञ है, उन्हे मार्क्स के शास्त्रीय विचारो को जानने का आधार अनुवाद ही रह जाता है। इधर हिन्दुस्थान मे पाठको का एकमात्र अवलम्ब, अधिकतर, मार्क्स के ग्रथो का अग्रेजी अनुवाद ही रह जाता है। इस पुस्तक मे हमें अग्रेजी अनुवादो का ही आश्रय लेना पडा है। अनुवादको को एक सब से बडी कठिनता यह होती है कि उन्हे मूल भाषा मे प्रयुक्त वैज्ञानिक शब्दो (technical expressions) के लिये पूर्ण पर्यायवाची शब्द मुश्किल से मिलते है। यदि कोई पर्यायवाची शब्द ढूढे भी जायें, तो वे बहुधा लेखक के मूल भाव तक नही पहुँचा पाते, इसलिये इस विचार से कि पाठको की दृष्टि मूलभाव के अधिकतम समीप रहे, हमने आवश्यकतानुसार मार्क्स के वैज्ञानिक शब्दो व पदो के दोनो रूप, अग्रेजी और हिन्दी मे, दे देना उचित समझा है।

मार्क्स द्वारा अर्थशास्त्रीय सज्ञाओ का निरूपण

वर्तमान समाज के आर्थिक नियम की गति का स्पष्टीकरण करना मार्क्स की 'केपिटल' पुस्तक का अतिम ध्येय है, यह हम पहले कह आये है। यह वर्तमान समाज पूँजीवादी समाज ही हैं, अत पाठको को यह अवश्य ध्यान मे बैठा लेना चाहिये कि मार्क्स के अर्थशास्त्रीय विचारो का निर्माण पूंजीवादी समाज (Capitalist Society) के आधार पर ही किया गया है, जो 'केपिटल' को प्रारभ करते समय ही उस के सर्वप्रथम वाक्य मे मार्क्स ने स्वय स्पष्ट कर दिया हे। वह वाक्य है सम्पत्ति-विषयक। सम्पत्ति किसे कहते हे, यही उस वाक्य मे मार्क्स ने बताया हे, जो निम्न प्रकार से दिया हे—

---

was incorrect A commodity is use-value (or a useful object) and value" (Underlines are mine) Capital, Bk I, p 32

वेल्थ (Wealth) अर्थात् सम्पत्ति—"जिन समाजो मे उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति का प्रसार रहता है, उन की सम्पत्ति का रूप-धारण "कमोडिटीज़ का असीम पुज" होता है, जिन की तह मे व्यक्तिगत कमोडिटीज़ मूलभूत होकर रहती है।"[६] हिन्दी भाषा की दृष्टि से 'पूंजी' हमारी समझ मे, "पुञ्ज" का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। चूंकि 'कमाडिटी' ही सामाजिक सम्पत्ति का आधार-भूत है, इसलिये मार्क्स ने 'वैल्थ' के पश्चात् 'कमोडिटी' की ही व्याख्या की है।

कमोडिटी (Commodity)—कमोडिटी का अर्थ साधारणत वस्तु या पदार्थ किया जाता है, परतु मार्क्स ने कमोटिटी को वस्तु से कुछ भिन्न लक्षण वाली कहा है। वस्तुएं केवल 'यूज़-वेल्यू' (Use-value) रहती ह, और कमोडिटी मे 'यूज-वेल्यू' और 'वेल्यू' (value) दोनो रहती हैं। इसलिये अब हमे 'यूज़-वेल्यू' और 'वेल्यू' का अर्थ समझना आवश्यक हो जाता है।

'यूज़-वेल्यू' (Use-value) अर्थात् उपयोग-मूल्य—

जिसे दूसरे अर्थशास्त्रियो ने 'यूटिलिटी' (utility), अर्थात्—'उपयोगिता' कहा है, उसी का निर्देश मार्क्स ने 'यूज़-वेल्यू' (उपयोग-मूल्य) कहकर किया है।[७] इस यूज़-वेल्यू का विशेष रूप से स्पष्टीकरण कर लेना चाहिये। दृष्टात से सिद्धात जल्दी समझ मे आ जाते हैं, इसलिये यह दृष्टात लीजिये। 'अ' नाम का कृषक अपने हाथ ही मे सब काम कर लेता है। उसे खेत जोतने के लिये हल का फार (कुश) चाहिये। इसके लिये उस ने लोहे का एक टुकडा खोजा, क्यो कि लोहे मे जमीन चीरने का स्वाभाविक या आतरिक गुण सुषुप्त रूप से विद्यमान है, जो लकडी आदि अन्य पदार्थों मे नही है। वस्तु के इस आतरिक सुषुप्त गुण को मार्क्स ने 'यूज़-वेल्यू (उपयोग-मूल्य) कहा है। अब आगे बढिये। 'अ' ने श्रम किया और उस के द्वारा वह उसे खदान से खोद कर लाया, फिर तपा कर उसे शुद्ध किया, तथा घनो से ठोक-पीट कर काम मे लाने योग्य बनाया और फिर उसे हल मे लगा कर जमीन जोती। गरज़ यह कि लोहे के सुषुप्त गुण या मूल्य को काम लायक बनाने के लिये

---

६ The wealth of societies in which the capitalist method of production prevails, takes the form of 'an immense accumulation of commodities, where in, individual commodities are the elementry units, (Capital, Bk I, p 1)

७ "The utility of a thing makes it a use-value' ('Karl Marx', p 31)

श्रम को नाना प्रकार के रूप धारण करना पडे, जिस मे समय भी बहुत लगा। जब किसी वस्तु के स्वाभाविक सुपुप्त गुण का उपयोग अपने श्रम मे जगा कर अपनी ही आवश्यकता पूरी करने के लिये किया जाता है, तब भी वह, मार्क्स के कथनानुसार, उस वस्तु का 'यूज-वेल्यू' (उपयोग-मूल्य) कहाता है।[८] अब यदि 'अ' अपने परिश्रम के द्वारा लोहे के फार को तैयार करके किसी दूसरे को उसे मुफ्त मे, दान मे, अथवा और किसी कारण-वश उस के बदले मे, विना कुछ पाये दे दे, तो क्या वह वस्तु 'कमोडिटी' कहायेगी ? नही। तब आप कहेगे कि मार्क्स ने यह क्यो कहा है कि "कमोडिटीज के उत्पादन के लिये न केवल 'यूज-वेल्यू' ही तैयार की जाय, बल्कि दूसरो के लिये भी 'यूज-वेल्यू'—सामाजिक यूज-वेल्यू—तैयार की जानी चाहिये।"[९] मार्क्स के इस वाक्य से यह अर्थ तो नही निकलता, जैसा कि आप कहते है, फिर भी बेशक, कई लोगो के मन मे ऐसी ही शकाएँ उठी थी, जिन का मार्क्स के चिर साथी फ्रेडरिक एगिल्स ने बाद मे यह कह कर स्पष्टीकरण किया कि "कमोडिटी होने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पाद्य पदार्थ **विनिमय** (exchange) **के द्वारा** ऐसे दूसरे मनुष्य के हाथ मे पहुँचे, जिसे उस की चाह हो।"[१०]

वेल्यू (Value)—पूर्वोक्त विवरण से हम जान गये कि वस्तु मे यूज-वेल्यू (उपयोग-मूल्य अर्थात् उपयोगिता) चार प्रकार से प्रतीत होती है—(१) स्वाभाविक सुपुप्त रूप मे, (२) मानुषिक श्रम द्वारा स्वकीय चाह-पूर्ति के लिये सुषुप्त रूप को जाग्रत कर लेना अथवा कार्य-रूप मे परिणत कर लेना, (३) स्वकीय श्रम द्वारा जाग्रत की हुई यूज-वेल्यू वाली वस्तु को समाज मे किसी दूसरे को मुफ्त मे इस्तेमाल करने के लिये दे देना, और (४) न० ३ मे बताई हुई वस्तु को विनिमय के द्वारा अदला-बदली करके किसी ऐसे मनुष्य को देना, जिसको उसे प्राप्त करने की चाह हो। इन विभागो से ज्ञात हो गया कि 'कमोडिटी' वह वस्तु है, जिस की

---

८ "One who satisfies his wants with the produce of his own labour, makes a use-value but does not make a commodity" Capital, Bk I, p 9

९ "To produce commodities he must produce not use-values merely, but use-values for other's social use values" Capital, Bk I, p 9

१० "To become a commodity, a product must pass by way of exchange into the hands of the other person for whom it is a use-value" Capital, Bk I, p 10

सुषुप्त उपयोगिता (उपयोग-मूल्य) श्रम के द्वारा प्रकट कर ली गई हो और वह दूसरो के लिये, अर्थात् समाज मे उपयोग मे लाने योग्य भी वन गई हो, तथा उस के वदले मे कोई दूसरी उपयोगिता-युक्त (उपयोग-मूल्य वाली) वस्तु मिल गई हो, अथवा जी चाहे तव मिल सकती हो। गरज़ यह कि जव तक वस्तु विनिमय-सिद्ध नही होती, तव तक कमोडिटी की परिगणना मे नही आती। विनिमय सिद्ध हो जाने पर वस्तु की यूज-वेल्यू ऐक्सचेन्ज-वेल्यू (exchange-value) अर्थात् विनिमय-मूल्य कहाने लगती है। इसी विनिमय-मूल्य को मार्क्स ने केवल 'वेल्यू' (value) अर्थात् 'मूल्य' कहा है। पाठको को इस का सदा ध्यान रखना चाहिये।

मेगनीट्यूड आफ वेल्यू (Magnitude of Value) अर्थात् परिमाण-मूल्य—ज्यो ही हम विनिमय की चर्चा करते है, त्यो ही हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि किस वस्तु का विनिमय किस वस्तु के साथ हो सकता हे, और किस हद तक ? वह कौन-सा कारण है, जो विनिमय-मूल्य का निश्चय करता हे ? इस का सरल उत्तर यही हे कि जिस पदार्थ मे जितनी उपयोगिता (यूज़-वेल्यूज़) रहती है, उसी अनुपात से उस का विनिमय-मूल्य निश्चित होता हे। फिर दूसरा प्रश्न यह उठता हे कि किस पदार्थ मे कितनी यूज़-वेल्यूज हैं, यह कैसे जाना जाय ? तव इस का उत्तर यह है कि चूंकि यूज-वेल्यूज़ श्रम पर आधारित रहती है, इसलिये जिस कमोडिटी का उत्पादन करने मे जितना श्रम लगा हो, वही विनिमय-मूल्य को निश्चित करता है। किस कमोडिटी मे कितना—किस प्रकार का—श्रम निहित है, इस का माप कैसे किया जा सकता है, इस के विषय मे अभी आगे कहेगे। फिलहाल यह वताना जरूरी हे कि चूंकि श्रम-परिमाण के अनुसार यूज़-वेल्यूज का परिमाण होता है, और यूज़-वेल्यूज के परिमाण के अनुपात से एक्सचेन्ज-वेल्यू होती है, इसलिये मार्क्स ने 'वेल्यू' अर्थात् एक्सचेन्ज-वेल्यू को कही-कही पर **मेगनीट्यूड आफ वेल्यू** (magnitudes of value) अर्थात् **परिमाण-मूल्य** भी कहा है। यूज़-वेल्यूज की तादाद और उन के उत्पादन मे खर्च किये गये श्रम का अदाज लगाना हो, तो 'अ' नाम के एक ऐसे कृषक के सरल उदाहरण की कल्पना कीजिये, जो किसी निर्जन द्वीप मे अकेला भटक पडा हो। वहाँ उसे अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने ही श्रम से करनी पडती हे। मानो उसे अपने भोजन के हेतु अन्न उत्पन्न करना है। उसने सबसे पहले अन्न उत्पन्न करने वाली भूमि तलाशी। फिर उसे जमीन जोतने के लिये लोहे के फार (कुश) की जरूरत हुई। तव वह खदान से कच्चा लोहा लाने के लिये गया। तत्पश्चात् उसने भट्ठी वनाई और आग मे उसे तपाया तथा शुद्ध किया। उस के वाद उसे ठोक-पीट कर जमीन जोतने-योग्य वनाया। कच्चे लोहे की स्थिति से लेकर फार वनते तक उत्पादन की अनेक

एकही मी दशाओ और कालो मे उन्हे बनाता है। व्यावहारिक दृष्टि मे यदि देखा जाय, तो हर मनुष्य के श्रम की उत्पादन-शक्ति एक-सी नही होती। वह सैकडो कारणो मे भिन्न-भिन्न हुआ करती है। यह क्यो ? एक ही मनुष्य, एक ही प्रकार की कमोडिटी के बनाने मे परिस्थितियो के वशीभूत होकर एक ही-सा उत्पादन एकही समय मे नही कर पाता। साराश यह है कि कमोडिटी का मूल्य (परिमाण-मूल्य अथवा विनिमय-मूल्य) आँकने के लिये केवल श्रम-काल अथवा श्रम-परिमाण ही कारण-भूत नही होता, वरन् श्रम की उत्पादन-शक्ति भी होनी हे।[१२]

श्रम-निरूपण (Determination of Labour)—

प्राकृतिक आधार और प्राकृतिक सयोग के अतिरिक्त श्रम ही एक मूल कारण है, जो कमोडिटी के मूल्य का निर्धारण करता हे, यह हम समझ चुके है। श्रम ही मानो उस की अन्तरात्मा-रूप हो कर उस मे सर्वत्र व्याप्त रहता है। यह श्रम-राशि उस मे दो प्रकार मे विद्यमान रहती है। एक गुणभेद से (qualitatively), और दूसरी सख्या या परिमाण-भेद से (quantitatively)। जिस श्रम के द्वारा कमोडिटी मे यूज़-वेल्यूज़ (उपयोगिता) तैयार की जाती है, वह गुणवाची श्रम होता है, और इसलिये उसे उपयोगी-श्रम (useful labour) कहते हैं। इसी उपयोगी श्रम को दूसरे शब्दो मे श्रम की उत्पादन-शक्ति (productivity of labour) भी कहा जाता हे, परन्तु जब हम यह खयाल करते है कि एक ही कमोडिटी मे अनेक यूज़-वेल्यूज़ होती है, अर्थात् वह अनेक यूज़-वेल्यूज़ का समुच्चय-रूप है, तो हमे यह समझने मे कोई कठिनता नही रहती कि वह अनेक श्रम का, अर्थात् श्रम-समुच्चय का फल-स्वरूप है। यह हुआ श्रम का सख्या-वाची अथवा परिणाम रूप, जिसे हमने अभी पूर्व मे घनीभूत श्रम-काल (Congealed Labour Time) कहा था।

अब प्रश्न यह उठना हे कि कमोडिटी की इस श्रम-रूप अतरात्मा का माप कैसे किया जाय ? उस मे इस अन्तर्निहित श्रम का माप करना तो असम्भव-सा प्रतीत होता है। इस प्रश्न मे यद्यपि जोर है, तथापि वह बिना समाधान के नही है। आपने यह तो कई बार पढा-सुना होगा कि अमुक मशीन का एजिन अमुक हार्स-पावर (horse power) का—यानी पच्चीस हार्स-पावर, या सौ हार्स-पावर

---

१२ "Thus the magnitude of value of a commodity varies directly as the amount, and inversely, as the productivity of the labour embodied in it (Capital, Bk I, p 9)

इत्यादि का--है। इस का तात्पर्य यह होता है कि जब हम किसी ऐंजिन की कार्य-शक्ति का वर्णन करना चाहते है, तब उस की तुलना हार्स (horse) अर्थात् घोड़े की शक्ति से कर के बताने लगते है, परन्तु घोड़े छोटे-मोटे अनेक प्रकार के होते है। दशा-देश-काल के अनुसार उन सब की शक्ति एक सी नही होती, और वह शक्ति यथार्थत व्यावहारिक रूप से इस प्रकार नापी भी नही जा सकती, जो सर्वत्र एक-सी बनी रहे। तब वैज्ञानिको ने एक सामान्य (average) घोड़े की कल्पना की, और उस सामान्य घोड़े मे स्थित सामान्य शक्ति भी कूत ली गई। इस सामान्य घोड़े की सामान्य शक्ति को उन्होंने शक्ति-नाप का एक इकाई या मूलांक (unit) बना लिया। इसी मूलांक के आधार को लेकर मशीनो की गतिवान शक्ति का माप किया जाने लगा। सामान्य घोड़े की इस सामान्य मूलांक-गति को यदि 'क' कहे, तो उस से दस गुनी ताकत को दस 'क' हार्स-पावर कहेगे। इस मूलांक की कल्पना के बिना विज्ञान चल भी तो नही सकता। गणित मे एकांक, तौल मे छटांक, सेन्टीग्रेड थर्मामीटर मे शून्यांक आदि का होना इसी काल्पनिक निर्धारण के दृष्टांत है।

यही तरीका कमोडिटी के श्रम-माप के लिये स्वीकार किया गया है। सामान्य मनुष्य की सामान्य श्रम-शक्ति को यूनिट (मूलांक) मान लिया गया है। उसी के अनुसार श्रम का मान निकाला जाता है। इसलिये जो व्यक्त (concrete) श्रम यूज-वेल्यू के हेतु खर्च होता है, उस का माप मार्क्स ने 'अव्यक्त मानुषिक श्रम-शक्ति के सामान्य मूलांक' (average unit of abstract human labour power) के आधार पर किया है। अब इस के आगे एक कदम और बढ़िये।

हमे यह मालूम हो चुका है कि यूज़-वेल्यूज (अर्थात् उपयोगिता) का निर्धारण 'कमोडिटी' के परिमाण-मूल्य पर निर्भर रहता है, और यह परिमाण-मूल्य श्रम-समुच्चय का अर्थात् श्रम-काल-राशि का फल-रूप होता है, अत इस श्रम-काल-राशि के माप के लिये भी मार्क्स ने 'सामान्य श्रम-कालांक' (average labour time) की कल्पना की। गरज यह है कि गुण-भेद से श्रम-शक्ति, और परिमाण-भेद से श्रम-काल का जो ऊपर निर्णय करके बताया गया है, उन दोनो मे अव्यक्तता अथवा अमूर्त्तता (abstractness), सामान्यता (averageness), और मूलांकता (unitariness) के भाव निहित है।

अब यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि जब कभी अमूर्त-सामान्य मूलांक का विषय छेड़ा जाता है, तब वह किसी एक खास समाज-व्यवस्था-काल से संबंधित रहता है। इतिहास से यह सिद्ध होता है कि उत्पादन करने के हेतु मानुषिक श्रम-शक्ति और श्रम-काल सदा एक से नही रहते। वे सामाजिक व्यवस्थाओ के

अनुसार भिन्नता को प्राप्त कर लिया करते है। यह हर एक अर्थशास्त्री और इतिहासज्ञ जानता है कि उत्पादन के लिये जितनी श्रम-शक्ति और जितना श्रम-काल गुलामी और सामन्तशाही समाज-व्यवस्थाओं के युगों मे लगा करते थे, उतने पूँजीवादी मशीन-युग के जमाने मे नही लगते, क्यों कि नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों की उत्तरोत्तर वृद्धि होते जाने के कारण श्रम-शक्ति और श्रम-काल दोनो की बचत होती है। इसलिये यह सिद्धात निकला कि 'कमोडिटी' के उत्पादन मे जो श्रम-शक्ति और श्रम-काल लगते हैं, वे वही होते है, जो तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अनुसार उन का उत्पादन करने मे आवश्यक हो। इसी सामाजिक आवश्यक श्रम (socially necessary labour) के आधार पर 'कमोडिटी' का परिमाण-मूल्य आँका जाता है।[१३]

उपरोक्त विवरण मे निम्नलिखित नियम निकलते हैं—

(१) कोई भी 'कमोडिटी', किसी भी रूप मे, किसी के द्वारा, किसी भी देश-काल मे उत्पन्न क्यो न की जाय, पर हर हालत मे हम यह देखते हैं कि "उत्पादक-शक्ति यथार्थ मे मानुषिक-श्रम-शक्ति का व्यय है।"[१४]

(२) "कोई भी 'कमोडिटी' क्यो न हो, उस का मूल्य निर्विशिष्ट अथवा सामान्य मानुषिक श्रम का रूप होता है।"[१५]

(३) यद्यपि साधारण औसतन श्रम देश-देश और युग-युग मे एक-सा नही रहता, तथापि वह किसी खास समाज-काल मे एक-सा ही रहता है, इसलिये उस समाज मे कार्यान्वित होनेवाला हर प्रकार का श्रम इस साधारण औसत श्रम के अंकों मे आँका जा सकता है। इस दृष्टि से मार्क्स का कहना है कि "यह अनुभव-सिद्ध बात है कि नैपुण्य-श्रम (skilled-labour) चाहे जिस क्षेत्र का क्यो न हो, साधारण श्रम के अंकों मे व्यक्त किया जा सकता है।" जब साधारण श्रम और नैपुण्य-श्रम का अनुपात जम जाता है, तब उन के द्वारा उत्पाद्य पदार्थों

---

१३ "The magnitude of value is determined by the amount of socially nacessary labour, or by the labour time that is socially necessary for the production of the given commodity of the given use value" ('Karl Marx) p 32

१४ "The essence of productive activity is an expenditure of human labour power" (Capital, Bk I, p B)

१५ "The value of any commodity represents generalise human labour" (Capital, Bk I, p 13)

('कमोडिटीज') का मूल्य भी उसी अनुपात से प्रकट किया जाने लगता है। यह मूल्यानुपात उत्पादकों की दृष्टि में तो नहीं आता, पर वह सामाजिक क्रिया के द्वारा, रिवाज के रूप मे, उन के अनजाने ही निश्चित होता रहता है।[१६] इसी को दूसरे शब्दो मे यह कह सकते है कि "जब कभी हम अपने उत्पाद्य पदार्थों के मूल्यों का, विनिमय के द्वारा समीकरण करते है, तो उसी के साथ ही हम उन भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमों का भी समीकरण कर डालते है, जिन का व्यय उन के उत्पादन करने मे होता है।[१७]

(४) श्रम के दो रूप है—व्यक्त (concrete) और अव्यक्त (abstract)। व्यक्त रूप यूज-वेल्यूज अर्थात् उपयोगिता का जन्मदाता होता है, और अव्यक्त रूप परिमाण-मूल्य अथवा विनिमय-मूल्य (या केवल मूल्य) का जन्म-दाता होता है।[१८] इसी व्यक्त रूप को हम गुणवाची (qualitative) और अव्यक्त-रूप को सख्या या परिमाण-वाची (quantitative) ऊपर कह आये है।

(५) यदि समाज के समस्त उत्पादन और श्रम-व्यय का विचार किया जाय, तो यह कह सकते है कि अमुक कमोडिटी के उत्पादन मे सामाजिक-श्रम व्यय का अमुक अग लगा है।[१९]

मूल्य अर्थात् विनिमय-मूल्य का बहिरग रूप (The form of value or exchange-value)—

यूज-वेल्यू (उपयोग-मूल्य) और वेल्यू (मूल्य) मे जो भेद है, वह हम पहले देख चुके। हमे यह भी मालूम हो गया कि 'कमोडिटी' की सुषुप्त उपयोगिता को कार्य-रूप मे परिणत करने का श्रेय मानुषिक श्रम को है। श्रम ही यूज-वेल्यूज और वेल्यू का जन्म-दाता अथवा प्रकट-कर्त्ता होता है। इस का तात्पर्य यह है कि मानुषिक श्रम ही वस्तुरूपी शरीर का प्राण होता है।

---

१६ 'The varying ratios in accordance with which different kinds of labour are reduced to simple labour as their standard, are determined by a social process which goes on behind the backs of the producers, and to them, therefore seems to be established by custom' (Capital, Bk I, p 14)

१७ Cited in 'Karl Marx,' p 32

१८ 'Capital,' Bk I, p 16

१९ 'Karl Marx,' p 32

जीवन का यह सर्वमान्य नियम है कि हमारा रूप वही हो, जो हम भीतर हैं, अर्थात् आंतरिक और बाह्य दोनों स्वरूपों में समता हो। 'कमोडिटी' के विषय में भी मार्क्स का यही कहना है कि उस के बाह्य स्वरूप में वही यूज़-वेल्यूज और वेल्यू झलकना चाहिये, जो उस में श्रम के द्वारा जगाई जाती हो, अर्थात् जिस के उत्पादन में जितना श्रम लगा हो उतनी ही उसकी कीमत हो—उतना ही उसे पारितोषक मिलना चाहिये, क्यों कि न्याय भी यही कहता है कि जो जितना पैदा करे, उतना ही प्राप्त करने का उसे अधिकार हो। मार्क्स के पूर्वगामी 'वल्गर अर्थशास्त्री' (Vulgar economists) एवं 'क्लासिकल स्कूल' के अर्थशास्त्री इस बात को सिद्ध करने की चेष्टाएँ करते थे कि कमोडिटी की 'यूज-वेल्यूज' और 'वेल्यू' दोनों का बहिरंग रूप आंतरिक अवस्था के अनुसार रहता है, परन्तु मार्क्स ने अपनी तर्कबुद्धि के द्वारा इन अर्थशास्त्रियों की आलोचना करते हुए उनके विपरीत यह सिद्ध किया कि कमोडिटी के मूल्य (विनिमय-मूल्य) का रूप आंतरिक रूप में भिन्न बन जाता है। उपयोग-मूल्य अर्थात् यूज-वेल्यूज़ के बाह्य-स्वरूप में तो कोई भेद नहीं हो पाता, क्योंकि, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, जब तक 'कमोडिटी' विनिमय-क्षेत्र में नहीं उतरती तब तक उसका सम्बन्ध मनुष्य-विशेष की आवश्यकता ही को पूर्ण करने का रहता है। जब तक वह अपने कर्ता ही से सम्बन्धित रहती है तब तक उसे किसी प्रकार का बनावटी रूप बनाने से क्या प्रयोजन? धोखा-धड़ी अथवा बनावटीपन तो उसी समय अपनाया जाने लगता है, जब वह बाजारू बनने को तैयार हो जाती है। इस भाव को सरलता से समझने के लिये हम एक उक्ति आप के सामने पेश करते हैं। 'ब' नाम की स्त्री है। उस का 'अ' नाम का पति है। जब तक 'ब' अपना सम्बन्ध 'अ' से जोड़ रखती है, तब तक वह अपने साधारण स्वाभाविक रूप में ही 'अ' के साथ सहवास करती रहती है, परन्तु ज्यों ही उस ने सहवास का बाजारू पेशा स्वीकार किया, त्यों ही वह वेश्या-रूप हो, अपनी असलियत को छिपा कर बनावटी रूप—छब-टब—बनाने लगती है। उस के ये स्वांग आदि उसी समाज के अनुरूप होने लगते हैं, जिस में रह कर उसे अपना जीवन व्यतीत करना होता है। इसी तरह बुर्जुआ समाज के बाजार में उतर कर सौदा-बाजी में पड़ जाने वाली 'कमोडिटी' की असलियत को—उस के अन्तर्निहित मूल्य को मार्क्स ने बनावटी रूप में छिपा हुआ पाया। असलियत के छिपे रहने पर भी पूंजीवादी समाज के लोग 'कमोडिटी' में देव-मूर्ति जैसा पूज्य-भाव रखते हैं—उसी को सब कुछ समझते हैं। कमोडिटी में इस पूज्य भाव का 'आरोपण उस की यथार्थता में अनभिज्ञता होने के कारण किया जाता है। मार्क्स ने कमोडिटी' के इस बनावटी पूज्य-भाव के रहस्य का भंडा फोड़ किया और

उस के समर्थकों की आलोचनाएँ की। रिकार्डो आदि जिन लोगो ने यह कहा कि बाजार-क्षेत्र मे—विनिमय क्षेत्र मे—आ जाने पर भी 'कमोडिटी' का मूल्य श्रम के आधार पर ही कायम रहता है, उन की मार्क्स ने खूब खिल्लियाँ उडाई और बताया कि इन लोगों की नजरो मे केवल कला और प्रकृति ही सब कुछ करने वाली होती है। समाज-व्यवस्था की गति का क्या प्रभाव पडता है, इस का इन लोगो को कुछ ख्याल ही नही रहता। "अर्थशास्त्री", मार्क्स का कहना है, "बडे अजीब प्राणी होते है। उनकी दृष्टि मे केवल दो ही बाते होती है—कला के काम, और प्रकृति के काम। सामन्त सस्थाओ को तो वे कृत्रिम बताते है। परन्तु बुर्जुआ सस्थाओ को प्राकृतिक अर्थात् स्वाभाविक कहते है। (उन्हे यह नही मालूम है कि) आधुनिक दुनिया मे, जहाँ पर भौतिक लाभ ही सर्वोपरि है, जो कुछ मैने कहा है, वही पर्याप्त सत्य है। वर्तमान ससार मे समाज का आर्थिक स्वरूप ही एक ऐसा असली आधार है, जिस पर न्याय और राजनीति के भवन खडे किये गये है, और इसी के अनुरूप चेतना के विशिष्ट सामाजिक रूप भी रहते हैं। आजकल की दुनिया मे यह बात सत्य है कि जिस पद्धति के द्वारा जीवन की भौतिक आवश्यक सामग्रियाँ उत्पन्न की जाती है, वही सामाजिक, राजनैतिक और मानसिक जीवन के सामान्य गुणो का भी निर्माण करती है।[20] मार्क्स के कहने का साराश यह है कि जीवन के किसी भी पहलू की जाँच करने के लिये इतना ही आवश्यक नही होता कि हम कला (art) और प्रकृति (nature) पर विचार कर ले, बल्कि तत्कालीन समाज-पद्धति पर भी विचार करना चाहिये, क्यो कि उस का प्रभाव काफी पडता है। यही हाल 'कमोडिटी' के विषय मे समझना चाहिये।

विनिमय-क्षेत्र मे 'कमोडिटी' का असली रूप न दिखाई देने का क्या कारण है, यह बात समझने के लिये पिछले पन्नो को उलट कर देखना चाहिये कि कमोडिटी का परिमाण-मूल्य, जिस को विनिमय-मूल्य या केवल मूल्य भी कहा है, तैयार करने मे 'सामाजिक आवश्यक मानुषिक श्रम-शक्ति और श्रम-काल' (socially necessary labour power and labour time) का व्यय होता है। इसके साथ-साथ उस के उत्पादन मे श्रम-विभाग का जो हाथ रहता है, उसे भी नही भुलाना चाहिये। इन कारणो से यह समझ मे आ जाता है कि जब कभी श्रम से उत्पन्न की हुई कोई 'कमोडिटी' विनिमय-क्षेत्र मे पहुँचती है, तब उस के अतिम रूप तक पहुँचते-पहुँचते उसे अनेक रूपो के परिमाण-मूल्यो को पार करते हुए जाना पडता है। "ये परिमाण स्थिर नही रहते। ये सदा परिवर्तित होते रहते है।

---

२० Capital, Bk I, Footnote at page 56

उनकी परिवर्तनशीलता विनिमय करनेवाले लोगों की इच्छा, पूर्वज्ञान और गति से स्वतन्त्र रहती है। सच पूछा जाय, तो उन लोगों की सामाजिक गति वस्तुओं की ही गति प्रतीत होती है—"वे वस्तुओं को वश में नहीं रख पाते, बल्कि वस्तुएँ ही उन्हें वश में रखती हैं।"[२१] इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रम-काल के द्वारा निर्मित परिमाण-मूल्य उन व्यक्त विकल्पों के नीचे छिप जाता है, जो 'कमोडिटीज' के सम्बन्धित मूल्यों (relative values) में उठा करते हैं।"[२२] परन्तु, इस असलियत को सब से अधिक छिपा देने वाली एक और अत्यन्त प्रबल चीज़ है, और वह है मुद्रा (money)। प्रत्यक्ष में तो हमें यह मालूम पड़ता है कि हम इन मुद्रा के द्वारा वस्तुओं की कीमत (price) की जाँच कर लेते हैं और उस से हमें उन के परिमाण-मूल्यों का सही-सही ज्ञान हो जाता है, पर यथार्थ में "यह मुद्रा-रूप ही एक ऐसी चीज़ है, जो व्यक्तिगत या निजी श्रम के सामाजिक लक्षण को प्रकट करने के बजाय उस पर पर्दा डाल देता और इस तरह उत्पादन करनेवाले व्यक्तियों के बीच के सामाजिक सम्बन्धों को छिपा देता है।"[२३]

मूल्य के अथवा कमोडिटी के ये ही बाह्य रूप हैं, जो बुर्जुआ समाज के अर्थक्षेत्रीय आधार हैं। अर्थक्षेत्रीय ही क्यों, वे ही समाज की मानसिक गति—विचार-रूपों—का भी निरूपण करते हैं। वे ही समाज के उत्पादन-विषयक सम्बन्धों और पद्धति को प्रकट करने वाले होते हैं। गरज़ यह है कि हम कमोडिटी के असली मूल्य को—असली रूप को—भूल कर उस के बनावटी रूप में असलियत का आरोप करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि हम पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों की परवाह करना छोड़ बैठते हैं, और कमोडिटी के बनावटी रूपों के पीछे दौड़-दौड़ कर निरे पदार्थ-भोगी बन रहे हैं। हमारी नज़रों में मनुष्य तो दर किनार, 'कमोडिटी' ही सब कुछ हो गई है—सामाजिक सम्बन्ध तो दूर रहे, कमोडिटीज़-सम्बन्धों को सब

---

२१ 'Capital,' Bk I, p 48

२२ "Thus the determination of the magnitude of value by labour time is a secret hidden away beneath the manifest fluctuations in the relative values of commodities" (Capital Bk I, p 49)

23 "But this money form, is the very thing which veils instead of disclosing the social character of private or individual labour and therewith hides the social relations between the individual producers" (Capital, Bk I, p 49)

कुछ मान रखा है। यह दशा है पूंजीवादी समाज की। इसलिये मार्क्स ने इस समाज के इस दूषित मार्ग की वैज्ञानिक ढग से खूब छान-बीन की—पोल-पट्टी खोली, और कहा कि हमे उत्पादन की कोई ऐसी पद्धति ढूंढना चाहिये कि जिस के प्रचार से पूंजीवादी समाज की आधारभूत इस कमोडिटी-संसार की 'सारी जादूगरी' (sorcery), 'सारा बनावटी आकर्षण' (fetishistic charm) और 'सारा रहस्य' (mystery) की निवृत्ति हो तथा उत्पादन एव वितरण के क्षेत्रो के अन्तर्गत, एक ओर तो मनुष्यो के सामाजिक सम्बन्धो, और दूसरी ओर मानुषिक श्रम तथा उस श्रम से उत्पन्न किये गये पदार्थो के सम्बन्धो मे सरलता और स्पष्टता कार्यान्वित होने लगे। यह पद्धति वही हो सकती है, जिस के अनुसार 'कमोडिटीज' की यथार्थता प्रकट रहे, और उत्पादन-पद्धति पर मानुषिक सम्बन्धो का आधिपत्य हो, न कि मानुषिक सम्बन्धो और विचारो पर उत्पादन-पद्धति का। यह पद्धति वही हो सकती है, जिस से समाज-सम्बन्धो मे जो कृत्रिमता की बाढ आ गई है, उसका विनाश हो और उसके स्थान मे स्वाभाविकता का साम्राज्य हो। इस के विषय मे प्रसगानुसार आगे कहेगे। अभी तो हमे पूंजीवादी समाज की अर्थनीति पर ही आगे विचार करते चलना है, ताकि हम यह समझ ले कि शोषणकारी 'अतिरिक्त मूल्य' (surplus value) वाली क्रिया क्या है, और उस का अत कैसे हो।

विनिमय-सत्ता और उस का प्रारम्भ

यह देखा जा चुका है कि ज्यो ही वस्तु ने घरपन छोडा और बाजारू बनने की ठानी—ज्यो ही उस ने अपने स्वामी, श्रमिक की आवश्यकता-पूर्ति का खयाल छोड कर बाजारू आदमियो के रुख को पूरा करने का विचार किया त्यो ही उस मे कृत्रिम-रूप-धारण की चिन्ता उठी। इस सम्बन्ध मे मार्क्स के ही वाक्यो को उद्धृत किया जाय, तो अधिक उपयुक्त होगा। उन्होने बताया कि "अगर कमोडिटीज बोल सकती, तो वे यह कहती—'हमारा उपयोग-मूल्य (यूज-वेल्यू) मनुष्यो मे भले ही दिलचस्पी लाने वाला हो, पर (यथार्थ मे) वह, हम वस्तुओ की, उपाधि (attribute) नही है। हम वस्तुओ की जो उपाधि है, वह है हमारा मूल्य (वेल्यू)। कमोडिटीज की हैसियत से हमारे जो पारस्परिक सम्बन्ध है, वे इस बात को सिद्ध करते है।' अब इसी बात को अर्थशास्त्री यो कहता है। वह कहता है कि 'मूल्य' ('विनिमय-मूल्य') वस्तुओ का गुण (property) है, द्रव्य (उपयोग-मूल्य) मनुष्यो का। इस दृष्टि से 'मूल्य', निस्सन्देह, विनिमय का अर्थवाची है, 'द्रव्य' नही है।' 'मनुष्य या समाज ही द्रव्यवान होते है, और मोती या हीरा मूल्यवान्।' इन विचारो का तात्पर्य यह है कि वस्तुओ का 'उपयोग मूल्य' तो वस्तुओ और मनुष्यो के साक्षात्

सम्बन्ध द्वारा, बिना विनिमय-भावना के ही, सिद्ध हो जाता है, परन्तु मूल्य की सिद्धि केवल विनिमय में ही—केवल सामाजिक पद्धति (Social process) में ही —होती है।"[२४] "मनुष्यों की स्थिति एक दूसरे के लिये केवल इतनी ही समझिये कि वे केवल कमाडिटीज का प्रतिनिधित्व ही करते हैं, अर्थात् उन के मालिक बन कर रहते हैं। (बाजारू) कमोडिटीज का यह एक स्वाभाविक अंग है कि वे अपने मालिक के लिये यूज़-वेल्यूज़ (उपयोगिता) बन कर नहीं रहती, वरन् उन के लिये रहती है, जो उनके मालिक नहीं है। परिणामत वे हाथों-हाथ आती-जाती रहती है। इसी हाथों-हाथ चलने-फिरने में उनका विनिमय कहाता है। यही विनिमय उन्हे, मूल्य की दृष्टि से, एक दूसरे के सम्पर्क (relation) में ले आता है, और मूल्य की ही हैसियत में, वह उन के अस्तित्व को मानता है। इसलिये (यह निश्चय हुआ कि) कमोडिटीज़ अपना अस्तित्व 'मूल्य' (value) की दृष्टि से पहले देखती हैं और फिर उन के बाद उपयोग-मूल्य (यूज़-वेल्यूज) की दृष्टि से।"[२५] तात्पर्य यह है कि विनिमय-क्षेत्र में 'उपयोग-मूल्य' और 'मूल्य' का पासा पलट जाता है। अपनी वस्तु का उपभोग करने की लालसा मिटकर दूसरे की वस्तु का उपभोग करने की लालसा उठती है—अपनी वस्तु में मूल्य (विनिमय-मूल्य) की भावना प्रबल हो जाती है, अर्थात् यह भावना आ जाती है कि अन्य कोई दूसरा हो उस का उपभोगी

---

२४ "If Commodities could speak, they would say 'Our use-value may interest human beings, but it is not an attribute of ours, as things What is our attribute, as things, is our value Our own inter-relations as commodities proves it We are related to one another only as exchange-values" Now let us hear how the economist interprets the mind of the commodity He says 'Value (exchange-value) is a property of things, riches (use-value), of man Value, in this sense, necessarily implies exchanges, riches do not' 'A man or a community is rich, a pearl or a diamond is valuable ' What substantiates this view is the remarkable fact that the use-value of things is realised without exchange, by means of a direct relation between things and men, whereas their value is realised only in exchange, only in a social process ' (Capital, Bk I, p 58)

२५ Capital, Bk I, p 60

बने। इसी को हम साधारण सरल रूप मे कह दे, तो जल्दी समझ मे आ जायेगा। वस्तु तो मूक है, निर्जीव है, मनुष्य के अधीन है, वह खुद तो कुछ कर नही सकती। तब करने या कराने वाला वह मनुष्य ही होना चाहिये, जो उस का मालिक हो—जिस के वह अधीन हो। यदि मालिक लोभी हो, तो द्रव्य (riches) प्राप्ति ही उस का मूल लक्ष्य रहता है। इसीलिये ऊपर कहा गया है कि पूंजीवादी समाज मे द्रव्य मनुष्य की उपाधि (attribute) है। जिस की प्रवृत्ति द्रव्य-प्राप्ति की ओर ही रहती है, वह मानवता को धता बता कर द्रव्य-प्राप्त करने के उपाय ही ढूंढा करता है, और इसीलिये उस मे बेईमानी, धोखेबाजी, ठग-विद्या आदि दूषण आ जाते हैं। ये दूषण उसे इस बात के लिये बाध्य करते हैं कि बाजारू वस्तु कम से कम खर्च मे तैयार होकर अधिक से अधिक आकर्षक बने, ताकि वह मनुष्य जिसे उस की चाह है—जिस के लिये वह उपयोग-मूल्य बन कर उपस्थित रहती है—अच्छा मूल्य दे सके। इसीलिये ऊपर कहा है कि बाजारू वस्तु का प्रथम लक्ष्य रहता है, 'मूल्य'। मूल्य भर मिले, उपयोग-मूल्य उस मे हो या न हो, इस की परवाह नही। जब आदमी किसी के साथ ठगी या बेईमानी करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है तो वह अपना एंव अपनी तथा अपने चपरगट्टुओ द्वारा कही गई लच्छेदार बातो, तर्कों, आदि से ढांकता है। यही बात पूंजीवादी समाज मे पूंजीपतियो के सम्बन्ध मे देखने को आती है। यदि विनिमय के इतिहास को देखा जाय, तो यह सिद्ध होता है कि लोभ-प्रवृत्ति की धारा बढते-बढते पूंजीवादी समाज मे सब से अधिक वेगवान् हो गई है, और उसी मे उसे ढांकने की सब से अधिक चाले खेली जा रही हैं। इन चालो को पकडना उस समय बडा कठिन होता है, जब विद्वान् लोग जान बूझ कर या अनजान ही मे उन का समर्थन अपनी विद्वत्तापूर्ण तर्कों के द्वारा करने लगते है। मार्क्स का तत्कालीन अर्थशास्त्रियो के साथ इसी बात पर मतभेद था। उसने उनके तर्को—नहीं, कुतर्कों—को काटा, और यह सिद्ध किया कि वस्तुओ के मूल्य की तह मे लाभ-प्रवृत्ति है, उपयोगिता नही, और यह लोभ-प्रवृत्ति, जो दूषणो का घर है, अब असहनीय हो चुकी है। यह लोभ-प्रवृत्ति विनिमय-पद्धति के इतिहास से सबंधित है। इसलिये इस विनिमय-पद्धति की ही ऐतिहासिक जांच कर लेना अब उपयुक्त होगा।

ऐतिहासिक अर्थशास्त्रियो ने सर्वप्रथम उस काल की कल्पना की है, जब समाज का अस्तित्व नही था—मनुष्य अकेला रहता था। वह अपने ही लिये वस्तुओ का उपयोग-मूल्य तैयार कर लिया करता था। उस समय विनिमय की कोई आवश्यकता ही नही पडती थी। इस काल की आर्थिक गति का ज्ञान कराने के लिये अर्थशास्त्रियो ने रॉबिनसन क्रूसो की कथा की कल्पना की है, जिसमे यह बताया गया है कि रॉबिनसन समुद्रयात्रा कर रहा था। उस की नाव डूब गई। वह

तैरते-तैरते एक द्वीप के किनारे जा लगा। वहाँ कोई दूसरा मनुष्य नहीं रहता था। इसलिये जो-जो आवश्यकताएँ उस के मन में उठीं उनकी पूर्ति वह निजी श्रम से करने लगा। इस की एक झलक अभी कुछ देर पहले आपको इसी अध्याय में दिखाई दी होगी, जहाँ पर हमने 'अ' नाम के कल्पित व्यक्ति का उदाहरण देकर बताया था कि वह अकस्मात् एक निर्जन द्वीप में भटक पड़ा था। वस्तुओं के तैयार करने में रोबिन्सन को श्रमशक्ति खर्च करनी पड़ती थी, और श्रम-काल भी उसे व्यतीत करना पड़ता था। श्रम-शक्ति और श्रम-काल के अतिरिक्त उसे इस बात पर भी विचार रखना पड़ता था कि कौन-सी वस्तु को प्राप्त करना कितना अधिक आवश्यक और कठिन है, क्यों कि उन्हीं के अनुसार वह अपना कार्यक्रम बनाता था। कार्यक्रम को ही दूसरे शब्दों में श्रम-विभाग कह सकते हैं। गरज यह है कि इस नितान्त एकान्त-जीवन के युग में भी वस्तु-संचय अथवा द्रव्य-संचय की लालसा थी, और वस्तु-मूल्य का कारण-भूत श्रम भी अपने तीनों रूपों में—शक्ति, काल और विभाग में—व्यक्त होता था।

जीवन के इस अत्यन्त प्राचीनकाल के बाद वह युग आया जब मनुष्यों ने मिलकर रहना प्रारंभ किया और कोई किसी एक वस्तु को उपयोग में लाने-योग्य बनाने लगा, और कोई किसी दूसरी वस्तु को। इस तरह वे अपने द्वारा बनाई गई वस्तुओं की आपस में अदला-बदली कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे। यहीं से विनिमय की पद्धति अथवा विनिमय का स्वरूप प्रारम्भ हुआ। चूंकि 'विनिमय' और 'विनिमय-मूल्य' का गँठ-बंधन है, इसलिये मार्क्स ने विनिमय-मूल्य अर्थात् मूल्य के ही विकसित रूपों का वर्णन किया है। वे चार श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं। मूल्य के इन्हीं रूपों को विनिमय के विकसित रूप समझना चाहिये।

विनिमय-विकास अथवा मूल्य के रूपांतर

(१) आरम्भिक एकांतिक रूप—इस युग में जिस मनुष्य को जिस चीज की जरूरत होती थी, उस को प्राप्त करने के लिये वह अपने द्वारा उत्पन्न की हुई चीज को उस दूसरी चीज के साथ अदल-बदल करने के लिये उसको उत्पन्न करने वाले मनुष्य को ढूँढा करता था। मान लो एक कोरी या जुलाहा है, जिसे केवल कपड़ा बनाना आता है। उसे अनाज, पलंग और बर्तन चाहिये। इन चीजों को प्राप्त करने के लिये वह अपना कपड़ा लेकर किसान के पास गया और उससे पूछा कि क्या उसे कपड़े की जरूरत है। यदि उसने कहा 'हाँ', तो सौदा किया, और ठहराव होने पर दोनों ने अपनी चीजें एक दूसरे से बदल ली। यदि उसे कपड़े की जरूरत नहीं हुई, अथवा जरूरत होने पर सौदा नहीं पटा, तो उसे दूसरे किसान के पास जाना

पड़ा, और उससे सौदा निबटाया। और यदि वहाँ भी यही हाल हुआ, तो तीसरे के पास और फिर चौथे के पास गया, इत्यादि। इसी तरह उसे पलग और बर्तन को प्राप्त करने के लिये खटपट करनी पडी। इस तरह हर चीज का अलग-अलग फुटकर सौदा करना पड़ता था। इसीलिये मार्क्स ने इसे 'मूल्य' का आरम्भिक (elementary), एकातिक (isolated), और आकस्मिक (accidental) रूप कहा है। आकस्मिक कहने का तात्पर्य यह है कि खोजा-खाजी के पश्चात् बडी कठिनता से दो वस्तुओ का समीकरण अथवा सौदा हो पाता था, जैसा कि ऊपर कोष्टी और किसान के दृष्टान्त से मालूम हुआ होगा।

विनिमय मे जो मूल्य-सबधी कुछ सैद्धान्तिक विचित्रताएँ आज मौजूद हैं, वे इस प्रारम्भिक युग के 'विनिमय' मे भी विद्यमान थी। उन्हे जानने के लिये मान लो। कोष्टी को बीस गज कपडे के बदले मे एक पलँग मिला। कोष्टी कहेगा कि जब तक मेरा कपडा मेरे घर मे था, तब तक उस का सबध किसी दूसरी वस्तु से नही था, परन्तु विनिमय-क्षेत्र अथवा बाजार मे आने पर उस का सबध पलँग से जुड गया, इसलिये मेरे कपडे का मूल्य 'सबधित मूल्य' (relative value) कहलाया गया। फिर यह कहता है कि मेरे कपडे के इस 'सबधित मूल्य' ने समान मूल्य का एक पलँग पाया, इसलिये मेरी दृष्टि से अथवा मेरे कपडे के 'सबन्धित मूल्य' की दृष्टि से एक पलँग का 'मूल्य' 'समीकरण-मूल्य' (equivalent value) कहलायेगा। मूल्य-सूत्र की दृष्टि से, मार्क्स ने इन्ही को क्रमश 'सबधित-मूल्य-रूप' (relative value form) और 'समीकरण-मूल्य-रूप' (equivalent value form) कहा है। इसी तरह जब बढई कहेगा, तब वह अपनी दृष्टि से पलँग के 'मूल्य-रूप' को 'सबधित-मूल्य-रूप' और कपडे के 'मूल्य-रूप' को 'समीकरण मूल्य-रूप' कहेगा। इसी बात को गणित-सूत्र के रूप मे इस प्रकार बतायेंगे—

	सबधित-मूल्य-रूप	समीकरण-मूल्य-रूप
कोष्टी की दृष्टि से—	२० गज कपडा	१ पलँग
बढई की दृष्टि से—	१ पलँग	२० गज कपडा

विनिमय-क्षेत्र के इस समीकरण मे मार्क्स ने तीन प्रकार के विपरीताभासो का उल्लेख किया है, जिन्हे उसने विचित्रताएँ कही है। उन्हे सरलता से समझने के लिये कोष्टी के दृष्टिकोण वाले निम्न समीकरण-रूप का खयाल कीजिए—

२० गज कपडा = १ पलग

कपडा तैयार करने मे कोष्टी का व्यक्तिगत व्यक्त श्रम (individual concrete labour) खर्च हुआ, जिस के फलस्वरूप उस मे उसे उपयोग-मूल्य अर्थात् उपयोगिता प्राप्त हुई। इसी तरह पलँग के विषय मे बढई का व्यक्तिगत श्रम खर्च

हुआ, तब वह उसे उपयोग-मूल्य देने लायक बना सका, परन्तु विनिमय-क्षेत्र मे आ जाने पर जब कपडा और पलंग एक दूसरे के समक्ष समीकरण रूप मे उपस्थित होते है, तब कोप्टो के समक्ष कपडे के 'उपयोग-मूल्य' की बात नही सूझती। उसे 'मूल्य' की ही बात सूझती है। दूसरी बात हे व्यक्त श्रम खर्च होने की, सो उस का भी बाजार मे कुछ खयाल नही किया जाता। वहाँ तो केवल अव्यक्त अथवा अमूर्त (abstract) श्रम के द्वारा मूल्य आँका जाता है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं। रही तीसरी बात व्यक्तिगत श्रम खर्च होने की, सो, उस को भी कोई परवाह बाजार मे नही की जाती। वहाँ तो मूल्य-निर्धारण के लिये 'सामाजिक-आवश्यक-श्रम' का ही खयाल किया जाता हे। गरज यह कि हर समीकरण रूप मे निम्न तीन विचित्रताएँ उपस्थित हो जाती हैं—

(क) सबधित रूप का 'उपयोग-मूल्य' प्रत्यक्षत 'मूल्य' का रूप स्वीकार कर लेता है, जो यथार्थ मे समीकरण वाली वस्तु का गुण होता है।[२६]

(ख) सबधित रूप का व्यक्त श्रम प्रत्यक्षत अव्यक्त मानुषिक श्रम बन जाता है, जो यथार्थ मे समीकरण वाली वस्तु का गुण होता है।[२७]

(ग) सबधित रूप का व्यक्तिगत श्रम प्रत्यक्षत सामाजिक श्रम का रूप धारण कर लेता हे, जो यथार्थत समीकरण करनेवाली वस्तु का गुण होता है।[२८]

सम्भव है आप का मन इन क्लिष्टताओ के कारण ऊब उठा हो, और आप यह कहने लगे कि इन सब से क्या प्रयोजन! क्लिष्ट होते हुए भी हमने अधिक-से-अधिक सरल रूप मे उन्हे आप के सामने पेश किया है, क्यो कि उन का महत्त्व 'अतिरिक्त-मूल्य' (surplus value) के विवरण के समय आपको उस समय दिखाई देगा जब पूँजीपति श्रमिक के श्रम को खरीदता है। विनिमय अथवा मूल्य के इस पूर्वोक्त एकातिक रूप वाले युग के बाद वह युग आया, जिसे मार्क्स ने मूल्य का विस्तृत या परिवर्द्धित रूप कहा है।

(२) **मूल्य का विस्तृत या परिवर्द्धित रूप** (extended form)—पहले युग मे काप्टो के कपडे का मूल्य फुटकर-फुटकर, एक-एक वस्तु के साथ ढूंढ-ढूंढ कर तय करना पडता था। अब इस दूसरे युग मे कपडे के मूल्य मे इतनी स्थिरता आ गई कि उस के सबधित मूल्य का अनेक वस्तुओ से समीकरण होने लगा। पहले रूप का सूत्र इस प्रकार होगा—

---

२६ 'Capital, Bk I, P 27

२७ Capital, Bk I, P 30

२८ Capital, Bk. I, P 30

२० गज कपडा=१ पलग

२० गज कपडा=२ वर्तन

२० गज कपडा=२० सेर अनाज

दूसरे युग का सूत्र इस प्रकार होगा—

२० गज कपडा=१ पलग=२ वर्तन=२० सेर अनाज।

इस सूत्र से ज्ञात होगा कि अनेक वस्तुओ का समीकरण-क्षेत्र एक वस्तु २० गज कपडे के सवर्धित मूल्य के कारण वढ गया है, और उस मे पहले युग जैसी आकस्मिकता नही रह गई है। ध्यान से देखा जाय, तो मालूम पडेगा कि पहले युग मे विनिमय परिमाण-मूल्य का निर्धारण करता था, परन्तु इस दूसरे युग मे परिमाण-मूल्य ही वस्तु के विनिमय-सबधो का निर्धारण करता है।[२१] इस रूप मे एक खास कमी यह थी कि उस का क्षेत्र यद्यपि विस्तृत था तथापि व्यापक नही था, अर्थात् किसी एक वस्तु का सवधित रूप ऐसा नही था कि जो सभी वस्तुओ का समीकरण कर सकता हो।

उपरोक्त समीकरण-सूत्र से ऐसा न समझा जाय कि अमुक नाप के अमुक कपडे के द्वारा ही वस्तुओ का मूल्य आँका जाता था। वह तो एक कल्पना के रूप मे कहा गया है। मुख्य वात जो जानने योग्य है, वह केवल यही है कि अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के हेतु आवश्यक वस्तुओ को प्राप्त करने के लिये वस्तु-निर्माता को दर-दर भटकना पडता था और अपनी वस्तु के अशो मे दूसरी वस्तुओ के मूल्य आँक कर उन्हे प्राप्त करता था। उस समय ऐसी कोई वस्तु हासिल नही हो पाई थी, जो समाज मे इतनी लोकप्रिय हो गई हो कि उसी के अशो मे अन्य वस्तुओ का मूल्य निर्धारण हो सकता हो।

(३) **मूल्य का व्यापक रूप** (Generalised form)—जब कोई वस्तु अपनी उपयोगिता आदि के कारण किसी समाज मे व्यापक रूप से प्रचलित हो जाती है, तो वह लोकप्रिय वन जाती है। परिणाम यह होता है कि सभी लोग उसे हासिल करने की इच्छा करने लगते है। ऐसे काल मे उसी वस्तु के द्वारा अन्य सभी वस्तुओ के मूल्य का निर्धारण किया जाने लगता है। इस प्रकार की लोकप्रिय वस्तुओ का उपयोग भिन्न-भिन्न समाजो मे भिन्न-भिन्न समय पर होता रहा है। उदाहरणार्थ—एक समय था जब कि हिन्दुस्तानी अनाज को, जापानी चावल को, अफ्रिकावासी नीग्रो रगीन केलिको (कपडा) को, और कनाडावासी शिकारी लोमडी-चर्म या

२१ Capital, Bk I, P 35

ओटर-वर्म[30] को मूल्य जाँच के लिये कसौटी या स्टैण्डर्ड मानते थे।[31] परन्तु एक समय ऐसा आया कि जब लोगो ने धातुओ की उपयोगिता और उन के बहुकालीन अस्तित्व पर विचार कर के उन्ही को मूल्य-निर्धारण करने का साधन बनाना उपयुक्त समझा। इन धातुओ मे से सोना, चाँदी और तांबा ही अपने विशेष गुणो के कारण लोक-प्रिय बने और इसलिये प्राय सभी सभ्य देश व राज्यो ने उन्हे विनिमय-क्षेत्रीय मूल्य-निर्धारक मान लिया। धात्वाश जब मूल्याक के स्टैण्डर्ड बन गये, तब हम विनिमय-विकास की आधुनिक श्रेणी के प्रथम चरण पर आ पहुँचे।

(४) **मूल्य का मुद्रा रूप (Money form)**—धातुओ मे ऐसी क्या विशेषता है, जिस के कारण सभी देशो ने उन्हे सर्ववस्तुओ के मूल्याको का सामान्य साधन स्वीकार कर लिया ? एक तो उन मे उपयोग-मूल्य है ही, क्यो कि वे अपने चमकीले-पन, टिकाऊपन आदि के कारण मनुष्य के शरीर को आभूषित करनेवाली इच्छाओ को पूर्ण करते है। इसी उपयोग-मूल्य के कारण वे अन्य वस्तुओ के समान अदला-बदली मे आने-जाने लगे थे। इस तरह उन्होने कुछ काल तक उपरोक्त तीसरे प्रकार का व्यापक रूप धारण किया। इस प्रकार इस्तेमाल होते रहने पर मनुष्यो ने उन मे तीन प्रधान गुण विशेष रूप से देखे, जो अन्य मापक पदार्थो मे नही रहते। एक तो यह कि उनमे परिमाण-मूल्य काफी रहता है, क्यो कि उन्हे शुद्ध रूप मे प्राप्त करने के लिये काफी श्रम-शक्ति और श्रम-काल व्यतीत करना पड़ता है। दूसरा यह कि वे कई दिनो तक टिके रहने वाले होते है, क्यो कि उन मे ऐसे रासायनिक गुण रहते है कि उन पर क्षयकारी क्रियाओ का बहुत कम असर पड़ता है। और तीसरा यह कि बहुमूल्य होने के कारण वे अल्पस्वरूपी होकर सरलता से इधर-उधर ले जाने योग्य बन जाते हैं। जब धातुएँ विनिमय का साधन-रूप बन गईं, तब हर देश या राज्य ने मूल्य-जाँच के लिये किसी एक धातु का मूल्याक (unit) अपनाया। यह मूल्याक केवल काल्पनिक नही रहता था, वरन् यथार्थरूप से श्रम-माप का प्रतीक भी रहता था। उसी मूल्याक के अनुसार उक्त धातुओ के, राज्य-सरकार की ओर से टकसालो मे, छोटे-बड़े टुकड़े बनाये जाने लगे, जिन के नाम भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न रखे गये, जैसे हिन्दुस्तान मे पैसा, दुअन्नी, चवन्नी, रुपया आदि, इगलैण्ड मे पेंस, शिलिंग, पौंड आदि और अमेरिका मे डालर आदि। तांबा और चाँदी की अपेक्षा सोने मे उपरोक्त गुण और भी अधिक विशिष्ट रूप से विद्यमान

---

३० 'ओटर' एक प्रकार का खतरनाक वन-जन्तु होता है।

३१ Gide's 'Principles of Economics', p 65.

रहते है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो मे समानता लाने के लिये सभी देशो ने उसे ही स्टैण्डर्ड मान रखा है।

यह हुआ धातुओं का सिक्का या मुद्रा-निरूपण। जब मुद्राओ के द्वारा मूल्य-निर्धारण किया जाता है, तब उसे वस्तुओ की कीमत (price) कहते है। मुद्राओ का एक प्रधान लक्षण है सरलता से परिभ्रमण (circulation) करते रहना। जब समाज मे उत्पादन और वितरण क्रियाओ के आधिक्य के कारण वस्तु-विनिमय की बाढ आई, तब राज्याधिकारियो ने धातु-मुद्राओ के साथ कागजी नोटो का चलन चलाया, ताकि बाजार मे मूल्याकी साधनो की व्यावृत्ति (circulation) मे कमी न होने पाये। इस अभिप्राय से धातु-मुद्राएं और कागजी मुद्राएं दोनो विनिमय-क्षेत्र मे सहयोगी बन कर घूमने लगी। उक्त धातुओ की मुद्राओ और कागजी नोटो के अतिरिक्त, परिस्थितियो के कारण, कभी-कभी अन्य सस्ती धातुओ की मुद्राओ का भी प्रचार कर दिया जाता है, जैसे हिन्दुस्तानी वर्तमान रुपया, चवन्नी, दुअन्नी आदि, जिन मे चाँदी का अश या तो नामचार को रहता है, या बिल्कुल ही नही रखा जाता। इस मुद्रा-निरूपण का सर्वदेशीय बाजार तथा एकदेशीय बाजार मे क्या, कब और कैसा असर पडता है, इस के भीतर जाना यहाँ न सम्भव है और न आवश्यक ही। यहाँ तो हमे उसी बात का ध्यान रखना चाहिये, जैसा कि हम पहले कह आये है कि जब से मुद्रा श्रम-माप का साधन बन गई, तब से 'कमोडिटी' के यथार्थ अतरग मूल्य पर काला पर्दा विशेष रूप से पडने लगा, और हम सब उस के बहिरग रूप मे बहे जाते हैं।

मुद्रा के दो लक्षण

मार्क्स ने मुद्रा (money) के दो लक्षण बताये है। इन दोनो को उस ने सूत्रो के रूप मे दर्शाया है, परन्तु उन्हे समझने के लिये जरा बाजार क्षेत्र मे पहुँच जाइये। वहाँ देखिये, वस्त्र-उत्पादक कोष्टी अपना कपडा लेकर पहुँचा है, क्यो कि उसे बेच कर वह खाने के लिये अनाज खरीदेगा। उस ने अपनी 'कमोडिटी' बेची, बेच कर मुद्राएं हाथ मे ली और उन्ही मुद्राओ मे उस ने अनाज खरीदा। मार्क्स ने इस क्रिया को सूत्र के रूप मे इस तरह रखा है—

'कमोडिटी—मनी—कमोडिटी'

('Commodity—Money—Commodity')

इसी को सक्षिप्तत सी-एम-सी कहा है। हिंदी मे आप चाहे तो इसे 'वस्तु-मुद्रा-वस्तु' कह सकते हैं। यह मुद्रा का एक लक्षण हुआ।

अब देखिए उस का दूसरा लक्षण। एक बनिया मुद्राएं (द्रव्य) लेकर बाजार गया। उसे किसी चीज की जरूरत नही है। वह केवल द्रव्य बढाना चाहता है। उसने देखा कि गेहूँ की मांग समाज मे अधिक है। बाजार जाकर उसने गेहूँ खरीदा, और फिर उसी गेहूँ को मुनाफा लेकर बेच दिया, जिस से उस के पास मूल रकम से अधिक रकम आ गई। वह न उत्पादक है, और न उपभोगी (consumer)। वह केवल मध्यस्थ बन कर पैसे के बल से पैसे को बढाने वाला है। इस बनिये की क्रिया को मार्क्स ने "मनी-कमोडिटी-मनी" ("Money-Commodity-Money") अथवा सक्षिप्तत 'एम-सी-एम', सूत्र-रूप मे कहा है। इसी को हिन्दी मे हम 'मुद्रा-वस्तु-मुद्रा' कह सकते है।

अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) और पूंजी (Capital) का निरूपण— पूजी की गणना मे कौन सी सम्पत्ति रखी जाने योग्य है, इस विषय मे भी मार्क्स ने तत्कालीन विचारों का उसी प्रकार तख्ता पलटा, जिस तरह उसने मूल्य (value) के सम्बध मे काफी उखाड-पछाड की थी। और उस का मूल कारण वही है कि मार्क्स का आर्थिक अध्ययन, विवेक और विवरण पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को लेकर ही किया गया है, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, और जिसे पाठको को ध्यान से नही हटाना चाहिये, इसलिये वह 'क्लासिकल स्कूल' वाले अर्थशास्त्रियो की इस बात से सहमत नही था कि हर पदार्थ, जो साधन-रूप (instrument) होकर उत्पादन करने मे योग दे और स्वय प्रकृति एव श्रम के द्वारा उत्पन्न किया गया हो, पूंजी शब्द की परिभाषा मे आने योग्य है। मार्क्स का कहना है कि पूंजी की गणना मे केवल वही सम्पत्ति (wealth) आने योग्य होती है, जो बिना श्रम के ही आमदनी (income) दे। उत्पादन का साधन-मात्र 'पूंजी' इसलिये नही कहा जा सकता, क्योंकि वह उस मे बिना श्रम लगाये निरर्थक रहता है। रॉबिनसन क्रूसो के धनुष-बाण, किसान के हल-बखर, एव शिल्पज्ञ आदि के कल-पुर्जे, जिन्हे दूसरे लोग पूंजी कहते है, श्रम के बिना असहाय रहते हैं, इसलिये मार्क्सवाद यानी समाजवाद मे "उत्पादन का साधन होना ही पूंजी नही होता, वरन् वह सब सम्पत्ति पूंजी कहलाती है, "जो अपने अधिकारी (possessor) के श्रम के बिना ही उसे आमदनी देती है।"[१२] इस वाद-विवाद की जड क्या है, आपने सोचा ? इसकी जड यही है कि

---

१२ "Capital is not simply an instrument of production, but all wealth which serves to provide its possessor with an income independent of his labour"

Gide's 'Principles of Economics, P 118

मार्क्स पूंजीवादी पद्धति का विनाश करना चाहता था, इसलिये उस पूंजी को ही निकाल देना आवश्यक था, जिसके आधार पर पूंजीवादी पद्धति टिकी हुई है। इसीलिये उस ने यह सिद्ध किया कि जिस सम्पत्ति का स्रोत श्रम न हो, बल्कि निठल्लापन या अकर्त्तृत्व हो, वही पूंजी कहलाती है। पूर्व मे बताये हुए 'सी-एम-सी' और 'एम-सी-एम' सूत्रो को फिर से अपने सम्मुख ले आइये, तो मालूम होगा कि दूसरा सूत्र ही पूंजी की स्थापना करने वाला होता है। दोनो सूत्रो से ज्ञात होता है कि विनिमय-क्षेत्र मे दो प्रकार की व्यावर्त्त गतियां चलती है। एक का प्रारभ 'कमोडिटी' से होकर अत भी 'कमोडिटी' से हो जाता है। इस गति के अनुसार अत की 'कमोडिटी' आ जाने पर व्यावर्त्त गति का अत हो जाता है, और वह अतिम 'कमोडिटी' उपभोग-क्षेत्र मे (sphere of consumption) मे पहुँच जाती है। गरज यह कि इस चक्र या व्यावर्त का अतिम ध्येय होता है, 'उपभोग', अर्थात् मनुष्य की आवश्यकता को पूरी करना, यानी उपयोग-मूल्य का हासिल होना, परतु जब व्यावर्त्त का प्रारभ दाम-पैसे (money) से होकर अत भी दाम-पैसो से होता है, तब उस का मूल ध्येय रहता है--'विनिमय-मूल्य' का, न कि 'उपयोग-मूल्य' का। कोष्टी ने कपडा बेचकर गेहूँ लिया। उसे कपडे के उपयोग-मूल्य के बदले मे गेहूँ का उपयोग-मूल्य मिला, हाला कि कपडा तथा गेहूँ का परिमाण-मूल्य (magnitude of value) सामाजिक आवश्यक श्रम के मान से बराबर ही रहा। इस के विपरीत बनिये का दृष्टात लीजिये। प्रारभ मे जो मुद्रा थी, वह अत मे भी मुद्रा ही रही, यानी दोनो मे गुण-भेद कुछ नही हुआ। चूंकि मुद्रा उपयोग मूल्य वाली कोई 'कमोडिटी' नही, बल्कि विनिमय-क्षेत्र मे एक समीकरणधारी साधन-मात्र है, इसलिये अन्तिम मुद्रा मे उपयोग-मूल्य प्राप्त नही होता। इस के अतिरिक्त प्रारभ की मुद्रा घूमते-फिरते अत मे अधिक परिमाण-मूल्य वाली हो गई, हालां कि उसे बढाने के लिये कोई परिश्रम नही करना पडा, इसलिये साधारण बोलचाल मे यह कहेगे कि जितना द्रव्य प्रारभ मे लगाया था वही क्रय-विक्रय के क्षेत्र मे घूमते-फिरते बढता गया। इस तरह आपने देखा कि उपरोक्त दोनो गतियो मे जमीन-आसमान जैसा अतर है। एक मे उत्पादक श्रम का महत्त्व है, तो दूसरे मे मुद्रा का केवल चलते-फिरते रहने का महत्त्व है, एक मे उपयोग-मूल्य का महत्त्व है, तो दूसरे मे विनिमय-मूल्य का, एक मे उपभोग अर्थात् मानुषिक आवश्यकता-पूर्ति की बात है, तो दूसरे मे द्रव्य-सचय की, एक मे सामाजिक आवश्यक श्रम के आधार पर प्रारभिक और अतिम पदार्थ का परिमाण-मूल्य एक-सा होता है, तो दूसरे मे द्रव्य-सचय की लालसा से अतिम मुद्रा का परिमाण-मूल्य बढता जाता है। इस बढते हुए रूप को बतलाने के अभिप्राय से मार्क्स ने, उपरोक्त

मूत्र मे अतिम 'एम' को 'एम'' कहा है, अत अब वह मूत्र इस प्रकार हो जायगा—

एम-सी-एम'

जिम का हिंदी रूपातर हुआ—मुद्रा-वस्तु-मुद्रा'। **"प्रारम्भिक मूल्य मे जो यह वृद्धि या आधिक्य हो जाता है, उसी को"** मार्क्स का कहना है **"मै 'अतिरिक्त मूल्य'** (surplus-value) **कहता हूँ**, इसलिये शुरू मे जो मूल्य लगाया जाता है, वह परिभ्रमग करने मे न केवल ज्यो-का-त्यो बना रहता है, वरन् परिभ्रमण करते समय अपने-आप परिवर्द्धित होता हुआ अथवा अपने-आप मे अतिरिक्त-मूल्य को जोडता हुआ, अपने परिमाण-मूल्य मे परिवर्तन लाता जाता है। यही गति है, जो उसे **पूंजी-**रूप मे परिवर्तित कर देती है।"[३३] आप यह न भूले होगे कि जब वस्तु की व्यावृत्ति होती है, तब एक वस्तु का समीकरण दूमरी वस्तु के साथ सामाजिक आवश्यक श्रम के आधार पर होता रहता है, इसलिये मार्क्स ने यह निश्चय किया कि वस्तु-व्यावृत्ति मे, जहाँ समीकरण अथवा समता व्यवहृत होती है, अतिरिक्त मूल्य मिलने की बात ही नही उठती। कुछ लोग समझा करते है कि यदि 'अ' ने अपनी वस्तु बाजार-भाव से अधिक मे बेच दी, उदाहरणार्थ—उसे १० पौड के स्थान मे १२ पौड मिल गये, तो जो २ पौड की ज्यादा रकम उसे मिली, वही उस को अतिरिक्त मूल्य मिला, परतु इस तरह अधिक मूल्य (price) मिल जाना अतिरिक्त-मूल्य (surplus value) नही कहलाता। विनिमय क्षेत्र अथवा बाजार मे विक्रेता और खरीददार दोनो रहते है, इस बात को नही भुलाना चाहिये। जो विक्रेता होता है, उसे भी किसी-न-किसी वस्तु का खरीददार होना पडता है। यदि विक्रेता की हैसियत मे वह अपनी वस्तु की कीमत ज्यादा पा लेता है, तो क्रय-विक्रय के आर्थिक नियमो के अनुसार उसे उतनी ही ज्यादा कीमत दूसरो की वस्तु खरीदते समय चुकानी पडती है, इसलिये धन और ऋण होकर वह जहाँ-का-तहाँ हो जाता है। यदि यही मान लिया जाय कि 'अ' केवल बेचता-खरीदता नही, तो भी समाज

---

३३ "This increment of excess over the original value is what I call surplus value The value originally advanced, therefore, not only remains intact, while in circulation, but in the course of circulation undergoes a change in the magnitude of its value, adding to itself a Surplus-Value or expanding itself It is this movement that converts it into Capital"

(Capital, Bk I, p 136)

की दृष्टि से मूल सिद्धात की कोई क्षति नही होती, क्यो कि यदि 'अ' विक्रेता दो पौंड अधिक ले लेता है, तो 'व' खरीदार दो पौंड अधिक दे देता है। इस तरह सामाजिक सम्पत्ति की दृष्टि से समानता वनी रहती है, क्यो कि यदि दो पौंड 'व' के जेव से निकल गये तो वही दो पौंड 'अ' के जेव मे पहुँच गये। इस के अतिरिक्त यह सदा ध्यान मे रहना चाहिये कि मार्क्स के सिद्धान्तो का निर्धारण व्यक्तिगत वातो पर नही किया गया है। उन का निर्माण किया गया है समाज की सामूहिक सामान्य घटनात्मक गतियो के आधार पर।

तव फिर यह निश्चय हो जाता है कि मुद्रा-रूप द्रव्य ही मे कुछ करामात होना चाहिये, जो अपने-आप वढता हुआ अपने मालिक को फुलाता रहता है। यह करामात उसी व्यावृत्ति की है, जो पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के प्रसार के समय उस ने प्राप्त कर ली है। यदि हम मुद्रा-रूप द्रव्य के इतिहास को देखे, तो यह पता चल जाता है कि उस का उपयोग सदा एक ही रूप मे एक ही सीमा तक नही होता रहा है। किसी समय वह वस्तुओ का केवल समीकरण करता रहा, किसी समय उस का सग्रह ही दिया जाता रहा, किसी समय लेन-देन का साधन वना, किसी समय उस की परि-भ्रमण-क्रिया वढी, और किसी समय उस मे विश्व-व्यापकता आ गई। जिस समय समाज मे जिस प्रकार की उत्पादन-गति की प्रधानता रही, उस समय उसीके अनुकूल उस ने अपना रूप धारण किया। जव उत्पादन की गति-विधि ने पूंजी की उत्पत्ति करना प्रारभ की और नवीन आविष्कार आदि के कारण वस्तु-उत्पादन वढा तथा विनिमय-क्षेत्रो याने वाजारो का देश-देश के वीच फैलाव हुआ, तव उस के व्यावर्त्त का भी विस्तार होता गया। जव से मुद्रा-रूप द्रव्य ने परिभ्रमण के रूप को अपनाना प्रारभ किया तभी से वह अपने अधि-कारी मालिक को अपनी करामात के द्वारा यथार्थ मे अतिरिक्त मूल्य का भोक्ता वना सका, और अत मे उसे पूंजी-पतित्व के शिखर तक पहुँचा दिया।

अतिरिक्त-मूल्य और पूंजी के चार क्षेत्र—अतिरिक्त मूल्य और पूंजी का दौर-दौरा चार क्षेत्रो मे दिखाई देता हे। एक है वह क्षेत्र, जिस मे व्यापारी कम कीमत मे वस्तुएँ खरीद कर, मुनाफा ले कर ज्यादा कीमत मे वेच देता है। इस तरह व्यवसाय या व्यापार करने मे वार-वार धन की जो वृद्धि होती जाती है, उसे मार्क्स ने व्यावसायिक पूंजी (commercial capital) कहा है। दूसरा क्षेत्र है—औद्यो-गिक पूंजी (industrial capital) का। "यह औद्योगिक पूंजी भी, मुद्रा-रूप द्रव्य (money) ही होती है, जो पहले तो अपना स्वरूप वस्तुओ (कमोडिटीज) मे वदल लेती है, और फिर उन्ही वस्तुओ के विक जाने पर पुन अधिक द्रव्य के रूप

मे परिवर्त्तित हो जाती है।"[३४] तीसरा क्षेत्र कहलाता है, साहुकारी-पूजी (Banking Capital) का। इसी को मार्क्स ने सूदखोरी-पूँजी (Interest-bearing capital) भी कहा है। इसमे द्रव्य का परिभ्रमण लम्बे पैमाने पर न होकर, सकुचित रूप मे ही रह जाता है। इस सकुचित रूप मे रहते हुए भी कुछ निश्चित समय के पश्चात् वह व्याज समेत परिवर्द्धित रूप मे परिवर्तित होकर पुन वापिस आ जाता है। इस क्षेत्र मे भी द्रव्य की व्यावृत्ति से पूँजी की वृद्धि होती रहती है। इस का प्रचार प्राचीन काल से चला आता है। उसी समय से वह घृणित समझा जाता रहा है, यहाँ तक कि कई एक धार्मिक सस्थाओ ने उसे अधर्म और पाप कहा है। चौथा क्षेत्र है, जमीदारी-पूँजी (Landlord's Capital) का। जमीदार भूमिपति भी कहलाते हैं। भूमिपति दो प्रकार के होते हैं—एक मकान-मालिक, और दूसरे कृषि-भूमि-मालिक। इन दोनो प्रकार के भूमिपतियो के पास आवश्यकता से अधिक भूमि रहती है, जिसे वे किरायेदारो को देकर उन से किराया (rent) वसूल कर अपने द्रव्य को बढाया करते है, जब कि कई लोग निवासस्थान तथा कृषि-भूमि पाने से भी वचित रहते है। कृषि-भूमि के किरायेदारो को कही-कही काश्तकार, कृषक या किसान भी कहते है। कृषि-भूमिपति मजदूरो के द्वारा खुद के लिये कृषि की उपज तैयार करवाता है और मजदूरो को मुद्राओ अथवा अन्न आदि के रूप मे मजदूरी चुकाया करता है। जहाँ तक इन मजदूरो का प्रश्न है, वह अन्य और मजदूरो के ही समान है, जिस के विषय मे अभी हम आगे कहेगे। इस क्षेत्र के सबध मे किराया या लगान-विषयक कुछ आवश्यक प्रश्नो का, जैसे भूमि-सबधी लगान (ground-rent), भिन्नात्मक लगान (differential rent), क्रमानुगत ह्रास का नियम (Law of Diminishing Returns), और अनुपार्जित लगान का नियम (Law of Nnearned Increment) का, ऐतिहासिक दृष्टि से तात्त्विक विवेचन करना मार्क्स के लिये आवश्यक था। ऐसा करते समय उस ने रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियो के तत्सबधी विचारो से मतभेद प्रगट किया, जिन के भीतर घुसने की हमे आवश्यकता नही। इतना हमे अवश्य जान लेना चाहिये कि उक्त चारो क्षेत्रो को देखने से पता चल जाता है कि मुद्रा-द्रव्य-सचय-रूप पूँजी ने अपना काला पर्दा समस्त समाज पर फैला रक्खा है। इतना ही नही, उस ने अपनी रक्षा के लिये पूँजीपतियो की शासन-पद्धति (Capitalist State) भी कायम कर रखी है। आज की स्थिति की दृष्टि से न देखिये—मार्क्स के समय की दृष्टि से देखिये, तब आप को इस पूँजीपतित्व की भयकरता का पता ठीक लग सकेगा।

---

३४ Capital, Bk I, P 141

अथवा मजदूरी पर काम करनेवाला मजदूर (Wage-earner or wage-labourer)।

श्रम की वैतनिक पद्धति का इतिहास

मार्क्स की 'डायलेक्टिक्स' के द्वारा हम यह देख चुके है कि समाज मे द्विवर्गीय गति चला करती है, इसलिये यह कहा जा सकता है कि उत्पादन की जिस सामाजिक गति ने मजदूरी पर काम करानेवाले पूँजीपतियो को जन्म दिया, उसी ने उन्ही के साथ-साथ मजदूरी पर काम करनेवाले मजदूरो को भी पैदा किया। यदि हम उत्पादन-विकास अथवा उद्योग-विकास की ऐतिहासिक सीढियो की ओर चलती नजर फेर ले, तो मालूम होगा कि सर्वप्रथम समाज की व्यवस्था कौटुम्बिक आर्थिक स्थिति पर आधारित थी। उस समय समाज कुलपतियो के अधीनस्थ सघो मे विभक्त था, जिन्हे कुटुम्ब कहते थे। इन कुटुम्बो मे गुलाम भी शामिल रहते थे। उस समय ये कुटुम्ब अपनी-अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति अपने ही हाथो से अपना काम करके किया करते थे। इस तरह सभी कर्मचारी स्वतत्र (freemen) थे। हाँ, जब कभी किसी को दूसरे से सहयोग लेकर अपना काम करना पडता था, तब इन्ही स्वतत्र कर्त्ताओ से मदद ले ली जाती थी और उस के बदले मे उन्हें मेहनताना या मजदूरी (wage) दे देते थे। आज भी हिन्दुस्तान मे हम इस प्रथा को देखते है। बडे-बडे किसान अपने-अपने खेतो को जोतना-बोना ठीक समय पर करा लेने के लिये छोटे-छोटे किसानो के हल-बखर अपने खेतो मे चलवा लिया करते और इसके एवज मे उन्हे मिहनताना दे दिया करते हैं। इन स्वतत्र रोजगारियो को, जब वे किसी दूसरे का काम वेतन लेकर करते हैं, हम स्वतत्र 'वैतनिक-कर्मचारी' (freemen wage-workers) कह सकते हैं।

कौटुम्बिक पद्धति के पश्चात् माध्यमिक युग (३०० ई० से १५०० ई० तक) मे ससर्ग या सघ-पद्धति' (Corporate or guild-system) का उद्भव हुआ। उस समय कुछ लोगो ने अलग-अलग व्यापार, रोजगार-धधा करना शुरू किया, और कुछ समान रोजगारियो ने सहयोग भी प्रारभ कर दिया, जैसे लुहारी या बढई-गिरी का काम करनेवाले। ये हस्त-कर्मकार दूसरो के कहने के मुताबिक अथवा आर्डर देने पर उन्हे चीजें तैयार करके देते थे और उस के बदले मे मिहनताना लेते थे। वैतनिक पद्धति (Wage system) की यह दूसरी श्रेणी हुई, जिस मे स्वतत्र रोजगारी, वेतन या मजदूरी लेकर चीजे तैयार कर के दिया करते थे। इन का बाजार क्षेत्र केवल स्थानीय रहता था जैसे, शहर, कस्बा। इस का स्वरूप हिन्दुस्तान के ग्रामो मे अभी भी देखने को मिलता है जहाँ लुहार, बढई, कुम्हार आदि गाँव

के लोगो को अपने अपने धधे की चीजे वनाकर देते है। इस युग मे मजदूरी देने वालो और लेनेवालो मे सहयोग रहता था, विरोध नही।

परतु माध्यमिक युग के अन्तकाल के समय जव यूरोपवासियो ने नई-नई दुनियाएँ ढूंढो और उत्पादन-साधनो के नये-नये आविष्कार किये, तव वस्तु-उत्पादन और वाजार-क्षेत्र दोनो का विस्तार हुआ। परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिगत या साधिक रूप से रोजगार करनेवाले (guild-masters) इतना माल तैयार नही कर पाते थे, जितना कि वाजार-क्षेत्र चाहता था, इसलिये उत्पादन-क्रिया को दूसरा रुख अपनाना पडा। कुछ लोगो ने, जिन के पास कुछ सचित द्रव्य था, कुछ दूसरे लोगो को, जो स्वतत्र रूप से रोजगार न कर सकने के कारण वेरोजगार हो गये थे, मजदूरी पर काम करने के लिये लगाया और उन के द्वारा कुछ वडे पैमाने पर शिल्पागारो (factories) मे माल तैयार कराना शुरू किया। यही से शुरू हुआ वर्तमान पूंजीपति और श्रमिक का स्वरूप—वर्तमान मालिक और नौकर का रूप।

इस के वाद ज्यो-ज्यो आधुनिक युग आगे को वढा, त्यो-त्यो एक ओर पूंजीपतियो की सख्या वढी और दूसरी ओर मजदूरो की। उत्पादन की गति को वढाने के लिये यह आवश्यक हुआ कि गिल्ड-पद्धति के समय स्वतत्र रूप से ठहराव करने एव निज सम्पत्ति रखने के विषय मे जो कानूनी प्रतिवध थे, उन्हे ढीला किया जाने लगा, यहाँ तक कि धीरे-धीरे हर मनुष्य का अपनी सम्पत्ति तथा अपने शरीर पर पूर्ण अधिकार हो गया। इस स्वतत्रता के नाम पर, एक ओर वेरोजगार को अपनी श्रम-शक्ति वेरोकटोक कम-वढ कीमत मे वेच देने का अधिकारी वना दिया गया, और दूसरी ओर शिल्पागारो के मालिक या पूंजीपति को भी अधिकार मिल गया कि वह चाहे जिस कीमत और शर्त पर उस श्रम को खरीद सकता है। पुण्यरूप यह स्वतत्रता, अठारहवी सदी के अत से लेकर उन्नीसवी सदी के मध्यकाल तक इस तरह पाप-रूप वन उठी कि वेरोजगार मनुष्य, मनुष्य न रह कर भाडे का टट्टू वन गया। वह वाज़ार-क्षेत्र मे क्रय-विक्रय के लिये 'कमोडिटी' जैसा समझा जाने लगा, अर्थात् जो नियम 'कमोडिटी' के क्रय-विक्रय के लिये लागू होते थे, वे ही मजदूरो के लिये कसौटी रूप वने।

यह थी मजदूरो की गति और उन की वैतनिक पद्धति जव मार्क्स ने अपनी जवान और कलम को उन के कल्याणार्थ लाना प्रारभ किया था। मार्क्स की विद्वत्ता और चातुर्य इस मे है कि उस ने मानुषिक श्रम-शक्ति को ही 'कमोडिटी' मान कर यह सिद्ध किया कि उसे खरीदते समय क्रय-विक्रय सवधी उन्ही नियमो की अवहेलना की जाती है, जिन का प्रतिपालन अन्य कमोडिटीज़ के लिये किया जाता है। यह कैसे ? यही अव हम देखेंगे।

अतिरिक्त-मूल्य (Surplus Value) का हड़पना

पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि श्रम-शक्ति किसे कहते हैं। मार्क्स ने कहा है कि "श्रम-शक्ति अथवा श्रम-सामर्थ्य से मेरा अभिप्राय है, मनुष्य में स्थित उन सब शारीरिक और मानसिक शक्तियों के योग से, जिन का प्रयोग वह उस समय करता है, जब वह किसी प्रकार के उपयोग-मूल्य (Use-value) का उत्पादन करता है।"[३४]

विद्वानों ने बहुत पहले से यह निश्चय कर लिया है कि सृष्टि, जो कर्म-रूप है, शक्तिमय है। यदि शक्ति (energy or activity) न हो, तो कर्म (action) कहाँ से हो? भारतवर्ष में तो शक्ति का महत्त्व इतना माना गया कि उस के पुजारियों ने शाक्त-धर्म की ही स्थापना कर डाली। वह दुर्गा, काली आदि विभिन्न नामों से पुकारी जाने लगी। 'अनेक लक्षणों वाली होने के कारण वह विलक्षण भी कहलाती है। उस का एक प्रधान लक्षण है श्रम करना। मनुष्य में स्थित इस श्रम-शक्ति को मार्क्स ने 'कमोडिटी' कह कर अपने 'अतिरिक्त-मूल्य' के सिद्धांत का विवेचन किया है। जब श्रम-शक्ति 'कमोडिटी-रूप' है, तब उस का मालिक हुआ वह मनुष्य, जिस में वह स्थित है। वह उसे बेचने के लिये क्रय-विक्रय क्षेत्र में पहुँचता है। वहाँ उस का मुकाबला धन-सम्पन्न व्यक्ति से होता है, जो स्वयं पूंजीपति रहता है, अथवा उस का कोई प्रतिनिधि। एक श्रम-शक्ति रूप 'कमोडिटी' को बेचनेवाला है, और दूसरा उसे खरीदनेवाला। दोनों क्रय-विक्रय के सौदे को तय करने में पूर्ण स्वतंत्र है। जब यह कहा जाता है कि श्रम-शक्ति का बेचने वाला श्रमिक अपनी उक्त कमोडिटी' को बेचने में स्वतंत्र है, तब उस का अर्थ दो प्रकार की स्वतंत्रता से समझना चाहिये —एक तो यह कि उसे अपनी श्रम-शक्ति को अपने इच्छानुकूल बेच डालने में कोई रोक-टोक करने वाला नहीं, और दूसरा यह कि उस के पास सिवाय मजदूरी करने के कोई अन्य हाल-रोजगार नहीं, जिस में वह अपनी श्रम-शक्ति को लगा सके और उसे बेचने में कोई हील्ला-हवाला कर सके।[३५] ऐसा होने पर ही धनी खरीद-

---

३४ "I use the term *labour-power* or *capacity for labour*, to denote the aggregate of those bodily and mental capabilities existing in a human being, which he exercises whenever he produces a use-value of any kind"

(Capital, Bk I, P 154)

३५ "If then, the owner of money is to transform his money into capital he must find in the commodity market a free worker,

दार अपने वित्त को पूंजी के रूप मे परिवर्त्तित कर सकता है। यदि ऐसा न हो, तो श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति को दूसरे उत्पादन-क्षेत्र मे लगाकर उससे उत्पन्न समस्त 'वेल्यू' (मूल्य) का उपभोगी खुद ही वन जाय। चूंकि आधुनिक पूंजीवादी समाज मे उस के पास अपनी श्रम-शक्ति को अन्य क्षेत्रो मे लगाकर अन्य प्रकार के उपयोग-मूल्य उत्पादन करने का कोई साधन नही रहता इसलिये उस का पूरा लाभ वह खुद नही उठा सकता। इस परवशता ही के कारण उस का खरीददार उसका उपभोगी वन वैठता है। किस विधि से ? यह अव देखिये।

जव उपरोक्त शक्ति को 'कमोडिटी' कहा है, तव उस मे भी दूसरी कमोडिटी के समान यूज-वेल्यू अर्थात् 'उपयोग-मूल्य' और 'मूल्य' अर्थात् 'विनिमय-मूल्य' या 'परिमाण-मूल्य' होना चाहिये। उक्त शक्ति मे श्रम स्वाभाविक रूप से निहित रहता है। यही उस का स्वाभाविक सुषुप्त उपयोग-मूल्य है। उसे जागृत करने अथवा व्यवहृत रूप मे लाने के लिये उस शक्ति का यथोचित पोषण (Subsistence or maintenance) करना पडता है, अत उक्त उपयोग-मूल्य का जागरण इस पोषण के द्वारा होता है। अव यदि मनुष्य चाहे तो वह अपने इस श्रम-रूप उपयोग-मूल्य का उपयोग, अपनी खुद की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिये भिन्न-भिन्न धधो को करता हुआ कर सकता है, जैसे—कृषि, लुहारी, वढईगिरी आदि का काम अपने ही लिये करे अथवा उन के द्वारा 'कमोडिटीज' का उत्पादन कर तथा वाजार मे उन्हे वेच कर द्रव्य-सचय करता जाय। यदि वह उक्त प्रकार से अपनी श्रम-शक्ति का उपभोग न कर सका, तो उस के जीवन-निर्वाह के लिये केवल उसे वेच कर उस के दाम भँजा सकता है। ऐसा करने के लिये एक उपाय रह जाता है और वह यह है कि कमोडिटी-रूप श्रम-शक्ति मे 'मूल्य' होना चाहिये, अत अव हम देखेंगे कि यह मूल्य (परिमाण-मूल्य या विनिमय-मूल्य) उसी सामाजिक आवश्यक श्रम-काल (Socially necassary labour time) के द्वारा निर्मित होता है, जो अन्य 'कमोडिटीज' के मूल्य का निर्धारण करता है। इस 'कमोडिटी' मे एक और विशेषता यह है कि एक ओर उस के उपभोग के कारण उस मे क्षीणता आती है, तो दूसरी ओर उसी के साथ वह मूल्य का उत्पादन भी करती है। यह उस की द्विधा गति है,

---

free in a double sense The worker must be able to dispose of his labour power as his own commodity, and, on the other hand he must have no other commodities for sale, must be "free" from everything, that is essential for the realisation of his labour power "

(Capital, Bk. I, P 156)'

जो कुछ काल तक कायम रखी जा सकती है। उस की इस उत्पादन-पुनरोत्पादन की क्रिया को कायम रखे जाने के लिये यह आवश्यक होता है कि उस का समुचित रूप से पोषण किया जाता रहे, अर्थात् जिस मनुष्य की वह शक्ति है, उस मनुष्य का पोषण होता रहना चाहिये। यह पोषण तभी हो सकता है, जब उस के पास उस पोषण के हेतु कुछ आवश्यक साधन हो। **"इससे हमारा यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम-शक्ति का उत्पादन करने वाला आवश्यक काल वही होता है, जो पोषण अथवा उपजीविका के इन साधनो का उत्पादन करने के लिये जरूरी होता है, अथवा दूसरे शब्दो मे, श्रम-शक्ति का मूल्य वही होता है, जो श्रम-शक्ति के स्वामी (श्रमिक) को जीवित रखने वाले आवश्यक साधनों का होता है।"**[३६] श्रम-शक्ति श्रम के रूप मे प्रकट होती है, इसे हम जानते हैं। श्रम करते समय मनुष्य की मास-पेशियों, नाडियों, मस्तिष्क आदि अवयवो की कुछ-न-कुछ खपत (क्षति) होती है, इसलिये उन की पूर्ति करना जरूरी रहता है, अन्यथा श्रम-शक्ति का शीघ्र अत हो जाय। मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ, जैसे—भोजन, कपडा, निवासस्थान आदि तो स्वाभाविक होती हैं, जो देश-देश की आबहवा आदि पर निर्भर रहती हैं। कुछ ऐतिहासिक या वैज्ञानिक अथवा सामयिक आवश्यकताएँ होती हैं, जैसे—चायपीना, ब्रेक-फास्ट, टिफिन, साबुन, तेल आदि का सेवन करना, जो समाज की सभ्य-असभ्य स्थिति के अनुसार आदते बन जाती हैं। इस तरह श्रम-शक्ति के उत्पादन-पुनरोत्पादन के लिये इन दोनो प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना जरूरी हो जाता और इन्ही के आधार को लेकर श्रम-शक्ति का मूल्य निर्मित होता है। इस तरह हम देखते हैं कि श्रम-शक्ति के मूल्य-निर्माण मे हमे नैतिक और ऐतिहासिक आवश्यकताओ पर भी विचार करना पडता है, जो अन्य 'कमोडिटी' के मूल्य-निर्माण के समय जरूरी नही होता। इन विभिन्नताओं के रहते हुए भी, मार्क्स का कहना है कि "किसी खास देश के लिये, किसी खास काल मे, जीवन की आवश्यकताओ का सामान्य यौगिक रूप एक निश्चित अक मे माना जा सकता है।"[३७] अब यदि कोई श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति का पोषण रोज बादाम का हलुवा अथवा अन्य कोई कीमती पदार्थो का उपभोग करके करना चाहे, तो बाजार क्षेत्र मे उस असाधारणता का कोई महत्त्व नही रहता। इसीलिये यह कहा है कि

---

३६ 'Capital', Bk. I, P 158

३७ "Still, for any specific country, in any specific epoch, the average comprehensiveness of the necessaries of life may be regarded as a fixed quantity" (Capital, Bk I, P 159)

श्रम-शक्ति का मूल्य निर्धारण 'सामाजिक आवश्यक श्रम काल' पर निर्भर रहता है—व्यक्तिगत विशेषताओं का कोई खयाल नहीं किया जाता, अत श्रम-शक्ति के मूल्य-निर्माण का कारण वही होता है, जो अन्य 'कमोडिटीज़' का रहता है।

अब यदि किसी 'कमोडिटी' का बार-बार उत्पादन न किया जाय, तो बाज़ार क्षेत्र मे उस का आना बंद हो जाय, जिस से लोगो की आवश्यकता-पूर्ति मे बाधाएँ आने लग जायँ। यही बात श्रम-शक्ति के विषय मे कही जा सकती है। यदि श्रम-शक्ति यथोचित उपलब्ध न हो, तो उत्पादन मे कमी पड जायगी। मनुष्य मर्त्य है, इसलिये उस के रिक्त स्थान को भरने के लिये उस के कुटुम्बियो और बच्चो को श्रम करने के लिये तैयार करना जरूरी होता है। गरज़ यह कि श्रम-शक्ति का मूल्य-निर्माण करते समय जो 'सामाजिक आवश्यक श्रम-काल' का विचार किया जाता है, उसी के अंतर्गत कौटुम्बिक जीवन-निर्वाह का भी विचार रखा जाता है। दूसरे शब्दो मे, श्रमिक और उस के बच्चो का प्रतिपालन करने मे जो खर्च लगता है, उसी से श्रम-शक्ति का मूल्य-निर्धारण होता है।[३८] व्यक्तिगत और कौटुम्बिक खर्च के अतिरिक्त एक प्रकार का खर्च और है, जिसका विचार श्रम-शक्ति का मूल्य-निर्माण करते समय नही भुलाया जा सकता। वह है उद्योग आदि संबंधी विशेष विषयो की शिक्षा का खर्च। इस तरह यह निश्चय हो गया कि श्रम-शक्ति का मूल्य यथार्थ मे उपजीविका के साधनो का ही मूल्य होता है। "फलत उसका मूल्य उपजीविका के साधनो के मूल्य के अनुसार परिवर्तित होता रहता है, अर्थात् उस श्रम-काल के अनुसार परिवर्तित होता रहता है, जितना कि उन साधनो के उत्पादन मे खर्च होता है।"[३९]

अब मान लो कि अमुक समाज के अमुक काल मे एक श्रमिक को अपनी तथा अपने बच्चो की उपजीविका के लिये आवश्यक उत्पादन के हेतु दिन मे केवल ६ घंटे श्रम करना काफी होता है। छ घंटो से जितने घंटे अधिक वह काम करता है उतना ही अधिक मूल्य वह पैदा करता है। सामाजिक आवश्यक श्रम-काल के इस सिद्धान्त के अनुसार उस श्रमिक को केवल छ घंटो के उत्पादन के बराबर मज-

---

३८. "The owner of money buys labour power at its value, which, like the value of every other commodity, is determined by the socially necessary labour-time requisite for its production (i e, the cost of maintaining the worker and his family)"

(Lenin's Karl Marx, P 35)

३९ 'Capital', Bk I, P 160

दूरी दी जाती है। उसकी श्रम-शक्ति का खरीददार, मान लो, यदि उससे एक दिन मे बारह घंटे काम लेता है, तो छ घंटे अधिक काम लेने से जो अधिक मूल्य उस के द्वारा उत्पन्न कराया जाता है, वह सब-का-सब वह अपने पास रख लेता है—श्रमिक को उस मे से कुछ नही देता। परंतु कुछ अर्थशास्त्रियो का कहना था, और अब भी है, मार्क्स का यह कहना कि श्रमिकों का नियोजक (employer) श्रमिको को कम मजदूरी देकर वा उन से अधिक काम लेकर अधिक 'मूल्य' उत्पन्न करवाता और उसे खुद हड़प कर जाता है, यथार्थ नही है। इस प्रकार के अर्थशास्त्रियो के दो विभाग है। एक फ्रेंच स्कूल के और दूसरे इंगलिश स्कूल के। फ्रेंच अर्थशास्त्री कहते है कि जो कुछ अतिरिक्त या अधिक मूल्य अथवा मुनाफा होता है, वह यथार्थ मे 'नियोजक (employer) अथवा 'प्रबंधकर्ता" (manager or entrepreneur) के श्रम का फल होता है, न कि मजदूरो के श्रम का। यह नियोजक अपने चातुर्य और कार्य-कुशलता—व्यावसायिक तथा औद्योगिक नवीन आविष्कार, विमर्श एवं प्रबंधशीलता आदि—के कारण अधिक आमदनी प्राप्त करता है, इस मे सामान्य श्रमिको का कोई श्रेय नही। इंगलिश स्कूल के अर्थशास्त्रियो की दृष्टि मे साधारणत इस नियोजक अथवा प्रबंधकर्त्ता और पूंजीपति मे कोई भेद नही। वे पूंजी लगानेवाले को ही प्रबंधकर्त्ता समझकर इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि जो कुछ मुनाफा बचता है वह यथार्थ मे पूंजी का फल रहता है। यदि औद्योगिक अथवा व्यावसायिक कार्यनैपुण्य के साथ सम्पत्ति, मशीनरी, कच्चा माल (raw-material) और उत्पादन के अन्य साधनो का प्रयोग यथेष्ट रूप से न किया जाय, तो आमदनी या मुनाफा कदापि न हो, अत ये दोनो दल के अर्थशास्त्री इस बात को नही मानते कि मजदूरो के श्रम का अपहरण कर के मुनाफा उठाया जाता है। ऐसे ही लोगो को मार्क्स ने प्रतिक्रियावादी एवं 'पूंजीवादी के समर्थक' कह कर 'अतिरिक्त-मूल्य' वाले अपने उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उस ने इस बात से इन्कार नही किया कि उत्पादन मे श्रम के अतिरिक्त दूसरे साधनो का योग भी रहता है। यह हम पहले देख चुके हैं कि कच्चे माल, मशीनरी आदि उत्पादन के साधन बिना श्रम के निरर्थक होते है। फिर भी उत्पादन मे उन का महत्त्व है, यह मार्क्स ने अस्वीकार नही किया। यह बात इस से सिद्ध होती है कि उस ने पूंजी (द्रव्य का परिवर्द्धित रूप) के दो विभाग किये है—एक वह भाग, जो उत्पादन के साधन—मशीनरी, औजार, कच्चे माल आदि—पर खर्च की जाती है, और दूसरा वह भाग, जो श्रम-शक्ति (अर्थात् श्रमिको) पर खर्च होती है। जो मशीनरी, औजार आदि साधनो पर खर्च की जाती है, उसे 'अपरिवर्तनीय या स्थिर पूंजी (Constant Capital) कहा है, क्यो कि "उत्पादन-विधि के समय उस के कारण परिमाण-मूल्य मे कोई

परिवर्तन नही होता।"[४०] अर्थात् "उस का मूल्य विना किसी परिवर्तन के, या तो एकदम या क्रम-क्रम से तैयार माल का रूप धारण कर लेता है।"[४१] दृष्टात-स्वरूप कोप्टो का स्मरण कीजिये। मान लीजिए, उस के पास २५० पौड की पूंजी है। उस मे से उस ने ५० पौड का कपास खरीदा। कपास को औट कर उस की रुई बनाई, रुई से सूत काता और सूत से कपडा बुना। उत्पादन की इस गति मे कपास का केवल रूप-परिवर्तन होता गया और कपास सत्व ज्यो-का-त्यों बना रहा। यदि कपास के सत्व को उसकी आत्मा कहे, तो यह कहा जायगा कि कपास की आत्मा अपने पूर्व के शरीरो का अत होते जाने पर नये-नये शरीर धारण करती गई। इस दृष्टि से कोप्टी ने जो पचास पौड कपास के खरीदने मे खर्च किये, वे ज्यो-के-त्यो वने रहे, अर्थात् उस के मूल्य मे कोई वृद्धि नही हुई—उस का परिमाण अपरिवर्तित रहा। इसी तरह मशीन या औजारो पर जो पूंजी खर्च की जाती है, वह भी परिमाण-मूल्य की दृष्टि से अपरिवर्तित रहती है, क्यो कि मशीन, औजार आदि का जो घिसना-पिसना (Wear and tear) होता है, वह क्रम-क्रम से तैयार-शुदा भाव के रूप मे व्यक्त होता जाता है। यथार्थ मे पूछा जाय,' तो उत्पादक-साधनो के इस घिसने-पिसने के मूल्य को ही मार्क्स ने स्थिर पूंजी कहा है, क्यो कि उतना ही मूल्य तैयार-शुदा माल मे परिवर्तित होता है। घिसने-पिसने के बाद जो मशीनरी आदि साधनो मे उत्पादन-शक्ति बच जाती है, वह उसी तरह क्रम-क्रम से उत्पादन करती हुई घटती चली जाती है।[४२] जब ऐसी बात है, तो फिर कपास से रुई का, रुई से सूत का और सूत से कपडे का मूल्य या दाम क्यो बढता जाता है? यह आप पूछेगे।

---

४० "That part of capital, which is transformed into the means of production does not experience any change in magnitude of value during the process of production"
(Capital, Bk I, P 205)

४१ "The value of constant Capital without any change is transformed (all atonce or part by part) to the finished product'
(Karl Marx, P 35)

४२ "We shall, therefore, when we speak of constant capital advanced for the production of vlaue, always mean (unless the context shows otherwise) the value of the means of production actually consumed in the process, and that value alone"
(Capital, Bk I, P 2 9)

उत्तर यह है कि एक रूप से दूसरे रूप मे लाने के लिये श्रम-शक्ति का व्यय होता है और उसी के कारण मूल्य का परिमाण बढता जाता है। तब यह निश्चय हो गया, जैसा हम पहले भी देख चुके है कि परिमाण-मूल्य को परिवर्तित करने वाला श्रम ही होता है। अब यदि उपरोक्त दृष्टात मे यह मान लिया जाय कि कोष्टी ने मजदूरो के द्वारा कपास ओटवाया, फिर रुई धुनवाई और उन से सूत कतवाकर कपडा बुनवाया। इस तरह इन सब क्रियाओ के करने तथा उठाई-धराई आदि मे उस का कुल खर्च मजदूरी चुकाने मे मान लो ५० पौड लगे, और कपडे की बिक्री से उसे सौ पौंड मिले, तो यह कहेगे कि पूंजी का यह भाग परिवर्तनीय रहा, जिसके फलस्वरूप ५० पौंड (१००—५०=५०) कोष्टी को अतिरिक्त मूल्य प्राप्त हुआ, अर्थात् श्रम-शक्ति पर व्यय की हुई ५० पौंड की लागत अपने आप ५० पौंड अधिक बढ कर कोष्टी के जेब मे चली गई। यह आवश्यक नही है कि अतिरिक्त मूल्य सदा एक ही अनुपात से मिलता रहे। वह परिस्थितियो के अनुसार घटता-बढता रहता है। इन्ही कारणो से मार्क्स ने पूंजी के इस भाग को, जो श्रम-शक्ति पर व्यय किया जाता है, परिवर्तनीय अथवा अस्थिर पूंजी (variable capital) कहा है।

अब आप के ध्यान मे आ जायगा कि जब इस बात का अनुपात लगाना हो कि पूंजी श्रम-शक्ति का शोषण किस मात्रा मे—किस हद तक—करती है, तब अतिरिक्त मूल्य (Surplus Valuc)) की तुलना सम्पूर्ण पूजी से नही करना चाहिये, बल्कि उस के केवल उस अस्थिर भाग से करना चाहिये, जो श्रम-शक्ति ही पर व्यय किया जाता है। इस तरह यदि मार्क्स के उस ६ घटे और १२ घटे वाले दृष्टात का आधार लिया जाय, जिस के विषय मे पहले बताया जा चुका है, तो मार्क्स के कथनानुसार इस अतिरिक्त-मूल्य की आनुपातिक गति का सूत्र ६ ६ अर्थात् शतप्रतिशत कहा जायगा।"[४३] अतिरिक्त मूल्य के चार क्षेत्र है, यह हम पहले जान चुके है। इन क्षेत्रो मे वह मुनाफा, व्याज अथवा भूमि-कर के नाम से पुकारा जाता है। जब उस का अनुपात पूरी पूंजी से, न कि केवल अस्थिर भाग से, तुलना कर के निकाला जाता है, तब वह मुनाफा (profits) कहलाता है।[४४] यदि कोई यह कहे कि मार्क्स का यह सूत्र या सिद्धान्त काल्पनिक अको पर आधारित है, इसलिये मान्य नही हो सकता, क्यो कि उस मे वैज्ञानिक सत्य नही है, तो मार्क्स का कहना है कि अक भले ही आनुमानिक हो, पर इस सामान्य नियम मे तो कोई सदेह नही कि मनुष्य के श्रम से जो 'मूल्य' उत्पन्न [illegible] जाता है, वह उतने मूल्य से अधिक तो होता ही है, [illegible]नफा) पर खच [illegible] उसे 'अपरिव [illegible] विधि

४३ 'Karl M[illegible] 35

४४. 'Karl Marx', [illegible] '1

जो उनके पोषण के लिये आवश्यक होता है। यह बात प्राचीन काल से ही चली आ रही है। यदि ऐसा न होता, तो सम्पत्ति की वृद्धि न होती, सभ्यता का विकास न होता और न मनुष्य-संख्या ही बढ़ पाती। जब यह नियम उत्पादन की प्राचीन पद्धति में मौजूद था, तब आज मशीनरी, श्रम-विभाग, सयुक्त व्यवस्था आदि के युग में जब कि श्रम की उत्पादन-शक्ति कई गुनी बढ़ गई है, उस का मौजूद रहना इतना स्वाभाविक है कि उसे सिद्ध करने के लिये कोई तर्क की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।"[45]

अतिरिक्त मूल्य-वृद्धि के दो साधन

एक साधन तो है, मजदूरी के दिन-घंटों को बढ़ा कर काम लेना, और दूसरा है, मजदूरी के घंटों को घटा कर काम लेना। यद्यपि सुनने में दोनों विरुद्ध-फलप्रद प्रतीत होते हैं, पर है दोनों में यथार्थता। क्रमानुगत ह्रास के नियम का ध्यान रख कर यह कोई भी साधारण बुद्धि का मनुष्य कह सकता है कि हर श्रम-नियोजक यह चाहता है कि वह अपने मजदूर से दिन-रात के चौबीस घंटों में से अधिक-से-अधिक घंटों तक काम करवाता रहे और मजदूरी ज्यों-की-त्यों देना पड़े, ताकि अधिक घंटों तक काम करते रहने पर वह मजदूर अधिक अतिरिक्त-मूल्य दे सके। इस तरह की विधि से प्राप्त किये हुए अतिरिक्त-मूल्य को मार्क्स ने "एबसोल्यूट सरप्लस वेल्यू (Absolute Surplus Value) अर्थात् "असम्बद्ध अतिरिक्त-मूल्य" कहा है। मार्क्स ने इस विधि की ऐतिहासिक समीक्षा करते हुए यह बताया है कि इस का प्रसार चौदहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी तक रहा। उस काल में श्रम-नियोजक तो यह कोशिश करता रहा कि श्रम करने के दिन-घंटे बढ़ते जायँ, और श्रमिक का यह प्रयत्न रहा कि उसे कम घंटे काम करना पड़े। दोनों वर्ग तत्कालीन राज्याधिकारियों को अपने-अपने अनुकूल कानून बनाये जाने के लिये प्रभावित करते रहे। सत्रहवीं शताब्दी तक राज्यों की प्रवृत्ति कानून द्वारा कार्य-दिवस (Working day) की अवधि बढ़ाने की ओर रही और बाद में, विशेषकर उन्नीसवीं सदी में, उद्योग-गृह-सबधी कानून (factory laws) के द्वारा उस की अवधि घटाने की ओर। यह असबद्ध अतिरिक्त मूल्य इसलिये कहाता है कि उस समय उत्पादन की आर्थिक पद्धति में श्रमिक और नियोजक का सबध प्राय व्यक्तिगत स्वातंत्र्य पर निर्भर रहता था। जब अर्थ सबधी व्यवहारों में घनिष्ठता बढ़ी तब अतिरिक्त मूल्य-प्राप्ति का कार्य भी अन्य आर्थिक घटनाओं से सबद्ध होता गया। अन्य आर्थिक व्यवस्थाओं से सबधित

४५ Gide's 'Principles of Economics', P. 635

होने के कारण मार्क्स ने उसे, 'रिलेटिव सरप्लस वेल्यू' (Relative Surplus Value) अर्थात 'सवद्ध अतिरिक्त-मूल्य' कहा है। सवद्ध अतिरिक्त-मूल्य के उत्पादन के विषय मे विवेचन करते समय मार्क्स ने तीन मुख्य ऐतिहासिक क्रमो का निरूपण किया है, जिन के द्वारा पूंजीवाद ने श्रम की उत्पादन शक्ति को बढाया है —

(१) साधारण सहयोग (Simple Cooperation);

(२) श्रम-विभाग और शिल्प-निर्माण (Division of Labour and Manufacture),

(३) मशीनरी और विस्तृत उद्योग (Machinery and Large Scale Industry)।

उपरोक्त व्यवस्थाओ के कारण कार्य-दिवस की अवधि कम रहने पर भी उत्पादन मात्रा मे कमी नही आई, वरन् उस मे वृद्धि ही हुई है। समाज मे आर्थिक साम्य उस समय तक रहता है, जब तक उत्पादन और खपत (consumption) की मात्राएँ बराबर रहती है, इसलिये उपरोक्त मशीनरी वाले युग मे जब उत्पादन की मात्रा बढ जाती है, तब आर्थिक असाम्य अथवा आर्थिक सकट (economic crisis) का समय आ जाता है। इस असाम्य का असर श्रमिको पर भी होता है। एक तो मशीनरी आदि के कारण यथेष्ट उत्पादन के हेतु श्रमिक यो ही कम कर दिये जाते है, परन्तु जब उपरोक्त कारण से आर्थिक असाम्य का काल आता है, तब उन की सख्या और भी अधिक घटा दी जाती है, क्यो कि मिलो आदि के मालिक उत्पादन का कार्य या तो कुछ काल तक बद कर देते है, या उसे शिथिल कर देते हैं। बन्द हो या शिथिल हो, दोनों स्थितियो मे मजदूरो को काम से अलग कर दिया जाता है, जिस के फलस्वरूप उन्हे भूखो मरने की नौबत आ पहुँचती है। इसलिये यदि मजदूर-विशेष की दृष्टि से आप के मन मे यह शका उठे कि कार्य-दिवस की अवधि कम नही है, अर्थात् मजदूर के दिन-घटे पूर्ववत् ही हैं, तो आप सम्पूर्ण श्रमिक-समाज की दृष्टि से विचारिये। आप को मालूम होगा कि अमुक उत्पादन के हेतु जितना श्रम-काल पहले खर्च होता था, उतने ही के लिये अब मशीनरी आदि के कारण कम श्रम-काल लगता है। श्रम-काल की यह कमी दो रूपो मे प्रगट होती है। एक तो यह कि श्रमिको की सख्या ज्यो-की-त्यो काम करती रहे—केवल उन के काम करने के घटे कम कर दिये जायं। इस की सिद्धि सरकार के हस्तक्षेप से होती है, जो दिन-घटो को घटाने, बच्चो-स्त्रियो से काम लेने, जच्चा वा रुग्णावस्था मे वैतनिक छुट्टी देने, सप्ताहवार छुट्टी मनाने आदि के कानून बना कर काल के कुल योग मे कमी लाती है। और दूसरा रूप यह है कि काम करने

के घटे तो ज्यो-के-त्यो रहे, पर काम करने वालो की सख्या घटा दी जाय। पूंजीपति दूसरा रूप ही पसद करता है, क्योकि श्रमिको की ही सख्या घटा देने से उसे कम मिहनताना देना पडता है, जिस के फलस्वरूप अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होता है। यो तो यह भी कहा जा सकता है कि कार्य-दिवस की अवधि बढाने पर भी श्रमिको की सख्या मे कमी हो जाती है और इसलिये श्रम पर होनेवाला व्यय भी घट जाता है, परतु क्रमानुगत ह्रास के नियम के कारण कार्य-दिवस की अवधि अमुक मात्रा तक ही बढ सकती है। उस से अधिक बढाने मे लाभ-मात्रा मे क्षति पहुँचने लगती है।

बुर्जुआ-सम्पत्ति और व्यक्तिगत सम्पत्ति मे अभेद और उसे समाप्त करने का ध्येय

अब हमे ज्ञात हो गया कि उत्पादन अथवा पैदावार का यह अतिरिक्त मूल्य वाला भाग, जिसे मार्क्स ने 'अतिरिक्त-पैदावार' (Surplus product) भी कहा है, मजदूरो की शोषित श्रम-शक्ति का प्रतिरूप है। यही भाग उत्पादन-क्रिया मे लगाये जाने के कारण 'कमोडिटीज' का रूप धारण करता हुआ क्रमश पूंजी के रूप मे परिवर्तित होता जाता है। अत वही पूंजी का मूलाधार हुआ। इसीलिये मार्क्स ने 'केपिटल' ग्रथ के प्रारभ मे 'सम्पत्ति' (Wealth) की परिभाषा करते समय यह बताया है कि वह 'कमोडिटीज' का असीम पुञ्ज है, जिस की तह मे व्यक्तिगत 'कमोडिटीज' मूलाको के रूप मे रहती है।[४६] पैदावार के इसी भाग को —इसी जायदाद को—मार्क्स ने बुर्जुआ-सम्पत्ति (Bourgeois property) अथवा पूंजीपति-सम्पत्ति (Capitalist property) कहा है। इसी सम्पत्ति को वह दूषित कहता था, और जो उसे पैदा कराने वाली पद्धति थी, उसी को वह समाज से निकाल फेकना चाहता था। इस पद्धति के समर्थक क्लासिकल स्कूल के अर्थशास्त्री यह तर्क किया करते थे कि समस्त 'अतिरिक्त मूल्य' जो पूंजी मे परिवर्द्धित होता जाता है, आखिरकार मजदूरो की जेबो मे ही वेतन रूप होकर पहुँच जाता है। मार्क्स ने उन लोगो के इस तर्क को अपनी पूर्वोक्त तर्क-धारा के आधार पर निराधार सिद्ध किया।

---

४६ "The part of the product that represents the surplus value, I term *Surplus product* Inasmuch as, the production of Surplus product is the end and aim of capitalist production *Wealth* should be measured not by the absolute magnitude of the product, but by the relative magnitude of the surplus product"

(Capital, Bk I, P 228)

उस के मतानुसार 'अतिरिक्त-मूल्य' का कुछ भाग तो पूंजीपति के ऐश-आराम, मौज-मजे अथवा रंगरेलियों में व्यय हो जाता है, और जो शेष बचता है, वह पूंजी के रूप में इकट्ठा होता जाता है। पूंजी में परिवर्तित होने वाले भाग में से केवल एक भाग तो श्रमिकों के पास पहुँचता है और दूसरा भाग उत्पादन के साधनों पर व्यय किया जाता है। मजदूरी के रूप में व्यय होने वाले भाग को 'परिवर्तनीय पूंजी' (Variable Capital), और साधनों पर व्यय होने वाले भाग को 'अपरिवर्तनीय पूंजी' (Constant Capital) कहते हैं, जैसा कि हम पहले कह आये हैं। इस में भी रहस्य यह है कि मजदूरों पर व्यय किया जाने वाला भाग उत्तरोत्तर घटता जाता है, और साधनों पर व्यय होने वाला भाग उत्तरोत्तर बढता जाता है, क्योंकि मशीन आदि साधनों की प्रचुरता के कारण मजदूरों की आवश्यकता कम होती जाती है। यही एक रहस्य इस पूंजीवादी पद्धति में है, जिस के कारण पूंजीपतियों का एक दल और मजदूरों का दूसरा दल एक दूसरे के सम्मुख उपस्थित होता जाता है, और पूंजीवादी पद्धति समाजवादी पद्धति (Socialism) की ओर अपने-आप खिसकती जाती है।

जिस समय मार्क्स ने यह आवाज उठाई कि व्यक्तिगत सम्पत्ति मिटाई जाय और उसके स्थान में समाज ही सारी सम्पत्ति का मालिक बनाया जाय, अर्थात् पूंजीवादी पद्धति के स्थान में वह समाजवादी पद्धति कायम की जाय, जिसे साम्यवाद कहते हैं, उस समय लोगों ने यह तहलका मचा दिया कि मार्क्स व्यक्तिगत उत्पादन को तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति-प्राप्ति की स्वतंत्रता को छीन लेना चाहता है, परंतु मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो (Manifesto of the Communist Party) में इस गलत प्रचार को रोकने के लिए यह खुलासा कर दिया था कि "कम्युनिस्ट पार्टी का निकटतम उद्देश्य अन्य श्रमिक-पार्टियों (Proletarian Parties) के उद्देश्य से भिन्न नहीं है। वह है श्रमिकों का एक वर्ग बनाना, बुर्जुओं के आधिपत्य को उखाड़ फेंकना, और श्रमिकों के द्वारा राजनीतिक सत्ता पर विजय प्राप्त कर लेना। कम्युनिस्टों के सैद्धान्तिक निर्णय किसी भी प्रकार से उन विचारों या सिद्धान्तों पर आधारित नहीं हैं, जो किसी इस या उस विश्व-संशोधक ने ढूंढ निकाले हों। वे तो केवल, सामान्य शब्दों में, उन वास्तविक संबंधों को प्रगट करते हैं, जो वर्ग-संघर्ष से—जो अपनी आँखों के तले गुजरती हुई ऐतिहासिक गति से—उत्पन्न होते हैं। साम्यवाद का परिस्फुट लक्षण यह बिलकुल नहीं है कि वह वर्तमान साम्पत्तिक संबंधों को मिटा डाले। समस्त साम्पत्तिक संबंध लगातार ऐतिहासिक परिवर्तन के वशीभूत रहते हैं—ऐतिहासिक परिवर्त्तन, जो ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिवर्त्तन के कारण होता है। साम्यवाद का परिस्फुट लक्षण है, बुर्जुआ सम्पत्ति को

समाप्त कर देना, न कि सामान्यत सम्पत्ति को समाप्त करना। और यह वर्त्तमान कालीन वुर्जुओ की व्यक्तिगत सम्पत्ति क्या है ? यह है उस उत्पादन को करने वाली और उत्पाद्य को आत्मसात् करने वाली पद्धति का अतिम और सम्पूर्ण स्वरूप, जिस का आधार है, वर्गीय-विरोध, थोडो के द्वारा अनेको का शोषण। इस दृष्टि से साम्यवादियो का सिद्धान्त (theory), एक वाक्य मे कहा जा सकता है—**व्यक्तिगत सम्पत्ति का खातमा कर देना।**"[४७]

यह सुन कर कि साम्यवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति को ही मिटा डालना चाहते है, विरोधियो ने उथल-पुथल मचाई, जैसा कि मार्क्स ने स्वय 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' मे लिखा कि "हम साम्यवादियो पर यह दोष लगाया जाता है कि हमारी इच्छा मनुष्य के उस स्वत्व को ही मिटा डालने की है, जिस के कारण वह अपने परिश्रम के द्वारा **सम्पत्ति प्राप्त** कर सकता है—वह सम्पत्ति, जो व्यक्तिगत स्वातश्र्य, स्फूर्ति और स्वावलम्बन का आधार कही जाती है।"[४८] इस प्रकार के लाछन लगाने वाले लोगो को उसी मेनीफेस्टो मे आगे चल कर मार्क्स ने बताया कि साम्यवादियो का यह ध्येय कदापि नही है कि मनुष्य के निजी कठिन श्रम से उत्पन्न या प्राप्त की हुई सम्पत्ति का अत किया जाय।

छोटे-छोटे उद्योगियो (artisans) और छोटे-छोटे कृषको की सम्पत्ति को समाप्त कर देने की कोई आवश्यकता ही नही है। वह तो उद्योग-वृद्धि के कारण बहुत बडी मात्रा मे नष्ट हो ही चुकी है और अभी भी दिन प्रतिदिन नष्ट होती चली जा रही है , इसलिये साम्यवादियो का अभिप्राय केवल वुर्जुआ सम्पत्ति को समाप्त कर देने का है। जब साम्यवादी यह कहता है कि वुर्जुआ सम्पत्ति का अत किया जाय, तब "उस का उद्देश्य निस्सदेह यह रहता है कि वुर्जुआई व्यक्तित्व, वुर्जुआई स्वातश्र्य, वुर्जुआई स्वच्छदता को ही समाप्त कर दिया जाय।"[४९] यह क्यो ? इसलिये कि "सम्पत्ति, वर्तमान रूप मे, पूंजी और वैतनिक श्रम के विरोधत्व पर निर्भर है।" वैतनिक श्रम श्रमिक के लिये लेश-मात्र भी सम्पत्ति पैदा नही करता। वह पैदा करता है पूंजी, और पूंजी क्या है ? "पूंजी एक सयुक्त उपज है, और वह केवल समाज के अनेक जनो के सयुक्त कार्य द्वारा—नही, अन्तत केवल समाज

---

४७ Manifesto of the Communist Party—Chap II, P 60

४८ Manifesto of the Communist Party—Chap II, P 61

४९ "The abolition of bourgeois individuality, bourgeois independence, and bourgeois freedom is undoubtedly aimed at" (Com. Manifesto, Pp 62-63)

के सर्व जनों के संयुक्त कार्य द्वारा, गतिमान की जा सकती है। पूंजी, इसलिये, व्यक्तिगत शक्ति नहीं, वह है सामाजिक शक्ति। इसलिये जब पूंजी का परिवर्त्तन सामान्य सम्पत्ति में हो जाता है, अथवा जब वह समाज की सार्वजनिक सम्पत्ति में परिवर्तित हो जाती है, तब यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्तिगत सम्पत्ति सामाजिक सम्पत्ति में बदल दी गई। सम्पत्ति का जो सामाजिक लक्षण है, वही केवल प्रकट हो जाता है और उस का वर्गीय लक्षण मिट जाता है।"[५०]

इस तरह हम ने देख लिया, कि "पूंजीपति होने के लिये उत्पादन में केवल व्यक्तिगत स्थिति (Personal status) से काम नहीं चलता, वरन् सामाजिक स्थिति भी होनी चाहिये।"[५१] 'कम्यूनिस्ट-मेनीफेस्टो' में लिखी हुई इन्हीं बातों को मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध 'अतिरिक्त-मूल्य' के सिद्धान्त द्वारा 'केपिटल' पुस्तक में सिद्ध किया है। अत पूंजी को—जो उत्पादन का उतना ही आवश्यक अंग है, जितना कि श्रम—मिटा डालना मार्क्स का ध्येय नहीं। ध्येय है, पूंजी के व्यक्तिगत अथवा वर्गगत रूप को सामाजिक रूप में लाना। ऐसा करने के लिये मार्क्स का कहना है कि "हम उस व्यक्तिगत उपज या सम्पत्ति को कदापि नहीं मिटाना चाहते, जो श्रमिक पैदा करता है और जो उस के जीवन-निर्वाह एवं मानुषिक जीवन-पुनर्भव के लिये आवश्यक होती है, और जिस में इतनी अधिक मात्रा में बचत नहीं होती कि वह दूसरों के श्रम पर अधिकार जमा सकने योग्य हो, अर्थात् दूसरे श्रमिकों को मजदूरी देकर उस की एवज में उन से काम ले सके। हम तो केवल इतना ही चाहते हैं कि अतिरिक्त-मूल्य का वह हड़प कर जाने वाला दुर्भागी लक्षण मिटा दिया जाय, जिस के अधीन श्रमिक का जीवन केवल इसलिये रहता है कि वह पूंजी की वृद्धि करता रहे, और वह केवल उसी हद तक जीवित रखा जाय, जितना कि अधिकारी-वर्ग अपने हित के लिये जरूरी समझता हो।"[५२]

---

५० 'Communist Manifesto', Pp 61, 62

५१ Communist Manifesto, P 61

५२ "We by no means intend to abolish this personal appropriation of the products of labour, an appropriation that is made for the maintenance and reproduction of human life, and that leaves no surplus wherewith to command the labour of others All that we want to do away with is the miserable character of this appropriation, under which the labourer lives

जिस क्षण श्रम का पूंजी, द्रव्य या कर मे परिर्वातत किया जाना वद हो जाय, अर्थात् व्यक्तिगत सम्पत्ति का बुर्जुआई सम्पत्ति मे परिर्वातत होना वद हो जाय, मार्क्स का कहना है, उसी क्षण से, व्यक्तित्व-भाव का ही अत हो जायगा। इस तरह अब हमे विदित हो गया कि मार्क्सवाद मे व्यक्ति और बुर्जुआ (पूंजीपति) मे कोई भेद नही रखा गया है।[५३] ऐसे व्यक्ति का समाज मे रहना असम्भव कर देना मार्क्स का ध्येय था। उस का कहना है कि साम्यवाद यह कदापि नही चाहता कि कोई भी मनुष्य सामाजिक उपज के उपभोग से वचित रखा जाय। वह तो चाहता है, उस शक्ति या आत्मसात् का विनाश जो दूसरो के श्रम पर अधिकारी वन जाता है।

पूंजीवादी पद्धति को समाप्त करने के दो मूल उपाय

इससे यह स्पष्ट हो गया कि मार्क्सवाद यानी साम्यवाद वह क्राति है, जो परम्परा से प्रचलित साम्पत्तिक सवधो और विचारो मे अधिकतम स्फोट लाने के लिये उद्यत हो। इस उद्देश्य प्राप्ति के लिये, मार्क्स के आदेशानुसार सव देशो मे सर्वप्रथम कदम होना चाहिये, राजनीतिक सत्ता का श्रमिको के हाथ मे आ जाना। इसके विषय मे पहले काफी कहा जा चुका है। यहाँ पर फिर से इतना ही वताना आवश्यक है कि राजनीतिक सत्ता के हथिया लेने से बुर्जुओ की पूंजी का उन के हाथो से खीच लेना, और उत्पादन के साधनो का राज्य (state) के हाथो मे यानी राजकीय व्यवस्था चलाने वाले श्रमिक-वर्ग के हाथो मे केन्द्रित होना, एव समस्त उत्पादक शक्तियो की शीघ्रातिशीघ्र वृद्धि होना सरलतापूर्वक सम्भव हो सकेगा, परन्तु ये क्रातिमय परिवर्त्तन इतनी जल्दी तो हो नही सकते, जितनी जल्दी नाटकीय प्रदर्शन हुआ करते है, इसलिये पूंजीपतियो से राजनैतिक सत्ता को छीनने की क्रिया के साथ-ही-साथ समाज के अर्थ-क्षेत्र मे भी परिवर्त्तन लाने की क्रिया जारी रखने के लिये मार्क्स का आदेश था। यह अर्थ-क्षेत्रीय उपाय सव देशो मे एक ही तरीके से नही चलाया जा सकता था, इसलिये मार्क्स ने कहा कि परिस्थितियो के अनुसार देश-देश की अर्थनीति मे भिन्नता रहे, तो कोई हानि नही।

---

merely to increase capital, and is allowed to live only in so far as the interest of the ruling class requires it"

(Com Manifesto, P 62)

५३ "You must, therefore, confess that by 'individual' you mean no other person than the bourgeois"

(Com Manifesto, P 64)

मार्क्स की आर्थिक नीति के दस सूत्र—

मार्क्स ने 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' में सूत्र-रूप में दस धाराएँ सामान्य रूप में निर्धारित कर दी है कि जिन का प्रतिपालन हर देश में परिस्थितियों के अनुसार किया जा सकता है। वे ये हैं—

(१) भौतिक सम्पत्ति अथवा भूमि-मालिकी का खातमा कर देना और समस्त भूमि-करो को सार्वजनिक कामों में लगाना।

(२) उत्तरोत्तर प्रवृद्ध (progressive) अथवा आनुक्रमिक (graded) आय-कर को खूब कस कर लगाना।

(३) उत्तराधिकारी या दाय-भाग (inheritance) हक को मिटा देना।

(४) देश छोड कर चले जाने वालो और विद्रोहियों की जायदाद को जब्त कर लेना।

(५) सारी साख (Credit) का केन्द्रीकरण एक राष्ट्रीय बैंक के द्वारा राज्य के हाथ में होना। इस बैंक में राज्य ही की पूँजी लगी हो। और उसी अकेले को एकाधिकार (exclusive monopoly) प्राप्त हो।

(६) यातायात और संवहन (Communication and transport) के साधनों को राज्य के हाथों में केन्द्रित कर लेना।

(७) जिन शिल्प-कर्म-गृहों (factories) और उत्पादन के साधनों का मालिक राज्य हो, उन्हें बढाना, ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाना और सामान्य आयोजना के अनुसार साधारणत (Generally) जमीन की तरक्की करना।

(८) काम करने के लिये सभी पर एक समान भार होना। औद्योगिक दलों की, विशेषकर कृषि के लिये, स्थापना करना।

(९) कृषि के साथ शिल्प-निर्माणिक-उद्योगों (manufacturing industries) का योग करना, ग्रामीण भूमि-विभाग पर मनुष्य-संख्या का वितरण या फैलाव अधिकतर समता लाने की दृष्टि से किया जाना, ताकि शहर और देहात के बीच का भेद क्रमश मिट जाय।

(१०) सार्वजनिक पाठशालाओं में सब बालकों को नि शुल्क शिक्षा दी जाय। शिल्प-कर्म-गृहों में बालको से जो वर्तमान रूप में मजदूरी कराई जाती है उसे बंद कर देना। शिक्षा का औद्योगिक उत्पादन आदि के साथ योग किया जाय।[५४]

---

५४ Communist Manifesto, P 71, देखो परिशिष्ट न० ७।

वर्तमान प्रगति मे उक्त सूत्रो की झलक

उक्त सूत्रो को पढते समय पाठक यह न भूले कि वे एक सौ पाच वर्ष पहले सन् १८४७ मे लिखे गये थे। यदि इस वात पर ध्यान रखा जाय और तव से अभी तक की, विशेषकर प्रथम विश्वव्यापी युद्धकाल से अभी तक की ऐतिहासिक घटनाओ एव अत्यत तेजी से वहती हुई सामाजिक, आर्थिक और मानसिक रफ्तारो पर विवेकपूर्ण विचार किया जाय, तो मालूम पडेगा कि आज का समाज मार्क्स की उपरोक्त युक्तियो का ही एक उठता-चढता हुआ स्फूर्तियुक्त, प्रगतिमान दृश्य है। अखड हिन्दुस्तान के खड हिंदुस्तान (present India) को ही, जहाँ पर मार्क्सवाद के विरोधी गाधी-वाद का निवास है, ले लीजिये, और देखिये कि स्वतत्रता की गोद मे आते ही उसने थोडे से काल मे इतनी तेजी से दौड लगानी प्रारभ कर दी है कि उपरोक्त दस धाराओ मे से कदाचित् कोई एकाध धारा ऐसी निकले, जहाँ तक पहुँचने के लिये उस मे तिलमिलाहट शुरू न हुई हो। जमीदारी प्रथा का अत, भूमिहीनो को भूमि-वितरण करने की लहर, वेसिक शिक्षा का अर्थात् शिक्षा का औद्योगिक उत्पादन के साथ योग करने का प्रचार, रेल-तार-रेडियो आदि का राज्य के हाथ मे लेना, ग्रामीण उद्योग अथवा सर्वोदय के लिये छटपटाहट इत्यादि इत्यादि गतियो को देख कर ऐसा प्रतीत होता है, मानो गाधीवादी भी मार्क्सवादी वने जा रहे है। वात है भी सत्य कि गाधीवाद और मार्क्सवाद मे समाजोन्नति की दृष्टि से वाह्य कोई भेद नही है। जो कुछ भेद है, वह है केवल साधनो का—मार्ग का—जिसका अनुसरण करके उन्नति लाई जानी चाहिये। मार्क्सवाद और गाँधीवाद मे क्या भेद है, इसे टटालना अभी हमारा विषय नही हे, इसलिये इसे यही छोडकर अव हमे मार्क्स की मूल वात पर आ जाना हे कि पूँजी अर्थात् व्यक्तिगत सम्पत्ति का अत हो, यानी अतिरिक मूल्य को प्राप्त कराने वाली प्रथा का विनाश किया जाय। इस मकसद तक पहुँचने के लिये मार्क्सवादियो ने वितरण-सम्वधी जिन दो मजिलो की चर्चा की है, उन्ही पर अव हमे आगे विचार कर लेना जरूरी है।

साम्य-मार्ग की उत्पादन और वितरण सवधी दो मजिलें

उपरोक्त विवेचन से यह ज्ञात हो जाता है कि पूँजीवादी पद्धति का दूषण यह हे कि उस के कारण समाज मे साम्पत्तिक वितरण यथोचित नही हो पाता। इस तरह वेहद असमानता रहती है कि कोई तो भूखो मरते हे, और कोई ऐश-आराम की वशी वजाते हुए समाज मे भाररूप होकर निठल्ले वने रहते है, इसलिये मार्क्स जैसे विचारवान् पुरुषो के मन मे यह विचार आना स्वाभाविक था कि समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिये यह आवश्यक है कि समाज मे न तो वेकारी के कारण

उत्पादन की कमी रहे और न साम्पत्तिक वितरण मे असमानता ही रहे। मार्क्स के मतानुसार वितरण ही क्या, अन्य और सभी साम्पत्तिक सबंध उत्पादन पद्धति-पर निर्भर रहते है, इसलिये उस ने उत्पादन और विनिमय की ही विधियो पर विशेष ध्यान रखा है, जिन के विषय मे हम अभी ऊपर काफी कह आये है।

पूंजीपति को अतिरिक्त मूल्य न मिलने पाये, इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि हर मजदूर को, जो जितना काम अपनी योग्यता अर्थात् श्रम-शक्ति के अनुसार करे, उसे उतना ही वेतन दिया जाय। यह तभी सम्भव हो सकता है जब उत्पादन के सभी साधनो का स्वामित्व राज्य के हाथ मे आ जाय। राज्य जनता का प्रतिनिधि होता है, इसलिये जब उत्पादन का काम उस के हाथ मे आ जायेगा, तो उस के सम्मुख मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेद-भाव नही रहेगा। अत हर मजदूर को उतनी ही पूरी मजदूरी मिलेगी, जितनी कि वह उत्पत्ति करता है—केवल उस भाग को छोड कर, जो 'अपरिवर्त्तनीय पूंजी' (Constant capital) कहलाती है। इस स्थिति पर पहुँच जाने पर समाज की अर्थनीति का यह सूत्र हो जाता है **"व्यक्तिवार योग्यतानुसार कार्य किया जाय और व्यक्तिवार कार्यानुसार मजदूरी दी जाय"** (from each according to ability, to each according to work performed)। इस सूत्र के अनुसार मज़दूर को जो मज़दूरी मिलेगी, वह उस के काम की किस्म (quality) और मिकदार (quantity) के अनुपात से रहेगी। जब इस मजिल पर समाज पहुँच जायगा, तब कहा जायगा कि अर्थ-पथिक समाज पूंजी-पद से चलते-चलते समाज-पद (socialism) पर पहुँच गया है। इस मजिल पर पहुँच जाने से, हमे ऐसा कोई व्यक्ति दिखाई नही देगा, जो बेकार (unemployed) हो, या कि जितना वह काम करता है, उस का पूरा मिहनताना उसे न मिलता हो और बचत (Surplus Value) को मजदूरी पर लगाने वाला नियोजक (employer or capitalist) चाट जाता हो। पूंजीवादी अर्थ-पद्धति मे बेकारी और अतिरिक्त-मूल्य को हडप कर डालने की जो दो ज़बरदस्त शिकायते मौजूद है, वे समाजवादी पद्धति के समय शेष न रहेगी, क्यो कि न कम उत्पादन का और न अधिक उत्पादन का ऐसा बखेडा बढेगा कि जिस से पूर्ति और मांग (Supply and Demand) मे असाम्य हो सके, और न ऐसा ही समय उपस्थित हो सकेगा कि मज़दूर को काम मिलने की कमी रहे। उत्पादन की गति मे पूंजीपति जो झोक दिया करते है, जिस से आर्थिक सकट (economic crisis) हुआ करते हैं, वे भी मिट जायेंगे।

परन्तु समाज को समाजवादी पद पर पहुँच कर भी ठहरना नही है। उसे तो उस के आगे भी उस की त्रुटियो को पार करते-करते साम्यपद की आखिरी मजिल

तक पहुँचना होगा, जहाँ पर राज्य का अस्तित्व मिट जायगा और उस के स्थान मे सार्वजनिक व्यवस्थापक सस्था कार्य करने लगेगी। राज्य-प्रणाली के रहने तक शारीरिक वल और दड का प्रयोग, मालिक और मजदूर का भाव एव मुद्रा और वेतन का प्रचार नही मिटाया जा सकता, इसलिये साम्यपद तक पहुँचते-पहुँचते इन दूपणो का अन्त करते जाना होगा, ताकि अतिम मजिल पर पहुँच कर यह व्यवस्था वर्ती जाने लगे कि काम कर सकने वाला हर व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार काम कर के उत्पादन करने मे योग दे और हर शक्त-अशक्त व्यक्ति की जरूरी आवश्यकताओ की पूर्ति की जाय। इस स्थिति का प्रदर्शक सूत्र यह है—**"व्यक्तिवार योग्यतानुसार (शक्त्यनुसार) कार्य किया जाय, और व्यक्तिवार आवश्यकता पूरी की जाय"** (from each according to ability, to each according to need).

इस सूत्र का उत्तरार्द्ध पद है 'व्यक्तिवार आवश्यकता पूरी की जाय' अर्थात् 'हर एक को उस की आवश्यकताओ के अनुसार दिया जाय' (to each according to need)। इस पद मे 'हर एक' (each) शब्द आया है। 'हर एक' का क्या अर्थ है ? हर एक श्रमिक जो काम करे, या कि समाज का हर एक व्यक्ति जो काम करे और जो अयोग्यतावश काम न कर सकता हो। इस विषय मे हमे दो भिन्न विचार दिखाई दिये है। एक का अभिप्राय केवल काम करने वालो से है, और दूसरे का हर व्यक्ति से, यानी काम करने वाले और न करने वाले, दोनो से। पहला विचार स्टालिन का है, जो निम्न वाक्यों से स्पष्ट होता है—

"Marxism means the abolition of classes, i e (d) the equal duty of all to work according to their ability and the equal right of all working people to receive remuneration according to their needs (Communist Society) "

अर्थात् "(साम्य-समाज की दृष्टि से) मार्क्सवाद का अर्थ होता है वर्गों का अन्त कर देना, यानी (डी) अपनी योग्यतानुसार (शक्त्यनुसार) हर व्यक्ति का सामान्य रूप से कर्तव्य है काम करने का, और हर काम करने वाले (श्रमिक) का समान रूप से हक है, अपने आवश्यकतानुसार वेतन पाने का।"

---

५५ J V Stalin's 'Problems of Leninism', Moscow, 1947, pp 502-503, cited in Kammari's 'Socialism and the Individual', p 30

सम्भव है स्टालिन ने जानबूझकर केवल श्रमिको का ही उल्लेख किया हो, क्योकि जिस स्थान पर यह लिखा है वहा 'प्रसग था, पूंजीपति और श्रमिकवर्ग का अन्त करना। तीसरे प्रकार के लोगो के बीच वितरण सम्बन्धी प्रश्न नही था। किसी भी प्रसग मे कहा गया हो, पर जब यह स्वीकार कर लिया है कि यही साम्य-समाज (Communist Society) का लक्षण है तो स्टालिन का उपरोक्त वक्तव्य असगत प्रतीत होता है। इसलिये हमारी सम्मति मे 'हर-एक' का अर्थ काम करने और न करने वाले दोनो से है, जैसा कि सोमरविली ने लिखा है। वह इस प्रकार है—

"Communism, however, is expected to be further than Socialism . It is felt that it will become possible to apply the principle 'From each according to ability to each according to need ' In other words, when the level of productive power is sufficiently high, it is expected that the resultant quantities of goods will be great enough for any one to avail himself of anything he needs, anything he can properly use "[५६]

अर्थात् "समाजवाद से भी आगे साम्यवाद के जाने की आशा है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'व्यक्तिवार शक्त्यनुसार कार्य किया जाय और व्यक्तिवार आवश्यकता पूरी की जाय', इस सूत्र का प्रयोग किया जाना सभव हो सकेगा। दूसरे शब्दो मे, जब उत्पादन शक्ति का क्षितिज काफी ऊँचा होगा, तब यह आशा की जाती है कि उत्पाद्य माल इतना अधिक हो जायगा कि हर व्यक्ति हर चीज को, जिसकी उसे आवश्यकता हो, जिसे वह समुचित रूप से इस्तेमाल कर सके, प्राप्त कर सकेगा।"

उपरोक्त सूत्र मार्क्स की पुस्तक 'दी गोथा प्रोग्राम' (The Gothat Program) से लिया गया है। उसके उत्तरार्द्ध पद मे जो 'हर-एक' (each) शब्द आया है, उसके साथ कोई विशेष्य नही है, जिसे देखकर यह कहा जाय कि वह 'कार्य करने वाले' के लिये ही प्रयोग किया गया है, जैसा कि स्टालिन के उक्त कथन मे व्यक्त किया हुआ पाया जाता है। अत यह देखकर कि उक्त पद मे 'हर-एक' शब्द निर्विशेष्य है, यह देखकर कि कम्यूनिज्म, जिसका उद्देश्य साम्य-स्थापना का है, समाज के किसी भी व्यक्ति को भूखा रखना सहन न कर सकेगा, तथा यह भी देख कर कि असहाय आश्रितो के जीवन का भार समाज के योग्य व्यक्तियो की कमाई

५६ Somerville's 'Soviet Philosophy' p 36.

पर ही रखा जाना आवश्यक और न्याय्य है, हम सोमरविली के अर्थ को ही उपयुक्त समझते है। उस अर्थ मे व्यक्ति की न केवल आवश्यकता का विचार रखा है, वल्कि यह भी कहा है कि वह 'समुचित रूप से इस्तेमाल' करे, अर्थात् उस मे आवश्यकता (need) और मर्यादा (temperateness) दोनो भाव निहित है। इस प्रकार की स्थिति प्राप्त हो जाने पर मनुष्य मे इतनी नैतिकता और वुद्धिशीलता का अनुमान किया जाता है कि वह खुशी-खुशी अपनी शक्ति-भर उत्पादन का काम करेगा, और उत्पाद्य को खुद के लिये न वचा कर समाजार्पण करने मे आनाकानी न करेगा, ताकि काम करने योग्य और अयोग्य सव जनो की आवश्यकताएँ पूरी हो सके। उस समय शरीर-चल के प्रतिरूप राज्य, शोषण के प्रतिरूप मालिक-मजदूर का सम्वन्ध एव पूँजी के प्रतिरूप श्रम-वेतन के गठन का विच्छेद हो जायेगा। उस समय सार्वजनिक श्रम-शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग हो सकेगा, जिस के फल-स्वरूप उत्पादन की इतनी प्रचुरता हो जायगी—माल इतना इफरात हो जायगा कि हर व्यक्ति को उस की उपजीविका की आवश्यक सामग्री उपलव्घ रहेगी। गरज यह कि वह व्यक्तित्व के वजाय समाजत्व अथवा भ्रातृत्व की अर्थ-नीति का प्रसारण करेगा। यही इच्छा गांधी की भी है, परन्तु वे उस की पूर्ति दूसरे ढग से करना चाहते है, जो आगे वताया जायगा।

साम्यवादी समाज मे नारी और वाल-समाज की स्थिति

अर्थ-नीति मे इस भाँति परिवर्तन हो जाने पर समाज के सभी अगो का ढाँचा वदल जायगा, इस मे कोई सदेह नही। न तो किसी मे सास्कृतिक कमी रहेगी और न शिक्षा की, न कोई गरीव रहेगा और न कोई अमीर, न किसी मे नैतिक हीनता दिखेगी और न किसी मे चरित्र-हीनता, न ग्रामीणता का भेद रहेगा और न शहराती-पन का। तात्पर्य यह कि आधुनिक असाम्य-जीवन के स्थान मे साम्य-जीवन का आधिपत्य हो जायगा। समता की वात सुन कर कुछ लोगो ने घवडाना शुरू किया, और मार्क्सवाद के खिलाफ उन्होने यह कहकर हो-हल्ला मचाया कि मार्क्स न केवल व्यक्तिगत स्वातत्र्य या व्यक्तिगत उत्पादन को ही खत्म करना चाहता है, वल्कि वह कौटुम्विक जीवन की मिठास को भी कडवा कर देना चाहता है—नही, कौटु-म्विक जीवन को वरवाद कर देना चाहता है। पाश्चात्य विचार-धारा मे कुटुम्व का अर्थ वहुधा पुरुष-स्त्री-सन्तान से सीमित रहता है, जो भारतीय हिंदू-कुटुम्व के अर्थ से वहुत सकुचित होता है। पाश्चात्य विचार-धारा का ख्याल रखते हुए ही मार्क्स ने उपरोक्त आलोचको को 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' मे ही उत्तर दे दिया था। उस ने कहा कि यह कौटुम्विक जीवन कौन-सा है, जिसे रक्षित रखने के लिये

ये लोग तहलका मचाये हुए हैं। यह वही कौटुम्बिक जीवन है, उसने बताया, जो पूंजीवादी पद्धति पर निर्भर है। ऐसा कौटुम्बिक जीवन मार्क्स की दृष्टि मे समाज के लिये अहितकर था, इसलिये यदि उस का अन्त कर दिया जाय, तो अच्छा ही हो। पहले पति-पत्नी अथवा पुरुष-स्त्री के सबंध की दृष्टि से देखिये, तो विदित होगा कि वर्तमान पूंजीवादी पद्धति का समाज तीन प्रकार के कुटुम्बो का सयुक्त रूप है। तीनो एक दूसरे के पूरक हैं। गणित की रीति मे हम इस तरह कह सकते है—

समाज = पूंजीपतियो का कुटुम्ब + मजदूरो का कुटुम्ब + वेश्याओ का समूह। अब ज़रा देखिये इस युग मे विवाह-सबंध किस आधार पर निश्चित किया जाता है। कौन कितना धनी है, किन से कितनी सम्पत्ति मिलेगी, कहाँ कितना दहेज ठहराया जाय, आदि, ऐसी अनेक बाते हैं, जिन के आधार पर शादी तय की जाती है, न कि एक दूसरे के प्रति प्यार के आधार पर। गरज़ यह कि शादी-विवाहो के तय करने मे भी 'भज-कल्दारम्' वाली बात पीछा नही छोडती। परिणाम यह होता है कि शादी हो जाने के पश्चात् जहाँ दोनो पक्षो मे से किसी एक पक्ष की ओर से दूसरे के प्रति द्रव्य अथवा द्रव्य से मिलने वाले ऐश-आराम ने मुंह मोडना शुरु किया, वहां उभय-पक्ष मे विरोध बढा, और धोखे की टट्टी-रूप प्रेम टूटा। यह तो दशा है विवाह-सबंध की, परन्तु इस से भी अधिक भयकर दृश्य यह है कि पूंजीपति अथवा धनपति अपने धन के प्रलोभन से निर्धनो की पत्नी-पुत्री-माता-बहनो आदि पर आँखें गडाये रहते हैं और वे बेचारियाँ लोभ-वश अपना आत्म-समर्पण कर देती हैं। इतना ही नही, धनपति अपना मुंह वेश्याओं के दरवाजे पर भी मारा करता है, जिस से वेश्याओ का समूह बढ गया है। इस से भी अधिक शोचनीय बात यह है कि एक धनपति दूसरे धनपति की स्त्री से भी कुकर्म करने मे नही चूकता। यह है धन-माया जिस ने प्रेम को ठुकरा दिया है। यह है वर्तमान पुरुष-स्त्री का वैवाहिक सम्बन्ध—प्रेम का दृश्य—जिस की रक्षा के लिये पूंजीपति और उस के पिछलगुआ कम्युनिस्टो के माथे दोष मढा करते हैं। ऐसे लोग न तो स्त्रियो की सामूहिकता (Community of Women) को चाहते और न उनके स्वातंत्र्य को, क्यो कि दोनो प्रकार से उन की स्वच्छदता मे किरकिरापन आता है। एक बात और है, जिस के कारण ये लोग नारी-जाति की सामूहिकता और स्वतंत्रता की बात सुन कर डरा करते हैं एव कम्यूनिस्टो को दोष देते हैं। मार्क्स का कहना है कि पूंजीपति अपनी स्त्री को उत्पादन (अर्थात् सतानोत्पत्ति) का निरा साधन समझता है, और वह यह भी सुना करता है कि कम्युनिस्ट लोग उत्पादन के समस्त साधनो का प्रयोग (शोषण) सब इकट्ठे मिल कर करना चाहते

है, इसलिये उसे स्वाभाविकत यह डर उत्पन्न होता है कि कम्युनिस्ट नारी-जाति की उत्पादन-शक्ति का भी शोषण उसी प्रकार इकट्ठे रूप मे करने की इच्छा करते है, जैसी उत्पादन के अन्य साधनो के सबध मे रहती है। वह यह नही जानता कि कम्युनिस्ट इस भाव को ही मिटा डालना चाहते है कि स्त्री-जाति केवल उत्पादन (सतानोत्पत्ति) का साधन है। द्रव्य पर आधारित इस कौटुम्बिक जीवन अथवा पति-पत्नी-सबध का विच्छेद कर डालना मार्क्सवाद का ध्येय है। इसलिये मार्क्स ने कहा है कि जब पूंजीपतित्व की पद्धति मिट जायगी, तब इस प्रकार के कौटुम्बिक जीवन का भी अन्त हो जाना अवश्यम्भावी है, क्यो कि उस समय बेकारी मिट जायगी, वेश्याएँ काम मे लग जायेगी, तथा धनी-गरीब का वर्गीकरण मिट कर सब एक धरातल पर रहने लगेंगे, और पुरुष-स्त्री का सबध परस्पर मेल-मिलाप अथवा प्यार पर निर्भर रहा करेगा, जो जीवन को आनन्दमय और स्फूर्तिदायक बनानेवाला होता है। समानाधिकार-प्राप्ति के कारण पुरुष और स्त्री दोनो को शिक्षालयो मे प्रवेश करने का, कार्यालयो मे काम मांगने का, तथा वैवाहिक सबध की स्थापना और विच्छेद करने मे स्वतत्र विचार रखने का पूर्ण हक होगा। फलत पराधीनता मिटेगी और स्वावलम्बन-भाव की जागृति होगी।"[५७] प्रमाणस्वरूप सोवियत रूस के विधान की १२२वी धारा को देखिये, जिस के अनुसार स्त्रियो को पुरुषो के साथ आर्थिक, राजकीय, सास्कृतिक, सामाजिक एव राजनीतिक जीवन के समस्त क्षेत्रो मे समानाधिकार दिये गये है। मार्क्स के दाये हाथ एगिल्स ने इस विषय मे जो कुछ कहा है, वह सुनने योग्य है। उसने लिखा है—"विवाह करने की पूर्ण स्वतत्रता सामान्य रूप से तभी दिखाई दे सकती है, जब उन सब छोटे-छोटे आर्थिक निमित्तो का लोप कर दिया जाय, जिन का अभी भी बडा जबरदस्त प्रभाव जीवन के साथी को ढूंढने मे पडता है, और, यह तभी हो सकता है, जब पूंजीवादी-उत्पादन तथा उस से उत्पन्न साम्पत्तिक सबधो का खातमा हो जाय। ऐसा होने पर ही परस्पर चाह (mutual fondness) की धारणा को छोड कोई दूसरी धारणा न रहेगी उन आर्थिक निमित्तो को अलग कर दीजिये, जो स्त्री-जाति को पुरुष-जाति की रसूमी अभक्ति के प्रति आत्म-समर्पण के लिये बाध्य करती हैं, तब आप स्त्री-वर्ग को पुरुष-वर्ग की बराबरी पर ला सकेंगे।"[५८] परन्तु यह स्मरण

---

५७ Communist Manifesto, pp 65-67 के आधार पर। कोष्टक के भीतर 'सतानोत्पत्ति' शब्द मेरा है।

५८. 'Origin of the Family, Private Property and the State', p 98; cited in 'Soviet Philosophy', pp 59-60

रहे कि मनुष्य प्रकृति के वशीभूत होने के कारण व्यावहारिक क्षेत्र मे निम्न स्तर की ओर खिसकता ही पडता है, भले ही वह उच्च-से-उच्च सैद्धान्तिक रस्सी मे कस कर रखा गया हो। यही दशा मार्क्स और एंगिल्स द्वारा प्रणीत किये हुए पुरुष-स्त्री-सबधी प्यार-स्वातंत्र्य (freedom of affection) अथवा चाह-स्वातंत्र्य (freedom of fondness), वाले सिद्धान्त की रूस मे होती हुई देखी गई, जिस का उल्लेख लेनिन के वक्तव्यो मे मिलता है। जवान लडकियाँ एक प्रेमी को छोड दूसरे प्रेमियो के पीछे-पीछे दौडने-भटकने लगी और तलाको की इतनी भरमार हो गई कि 'पोस्टकार्डों तलाक' की उक्ति का प्रचार हो उठा, जिस के फलस्वरूप जहाँ देखो वहाँ गर्भपात, अनाथ-सतान, जनोत्पत्ति की कमी, अस्वास्थ्य और अमातृत्व के दृष्टात उपस्थित होते दिखाई देने लगे। तब लेनिन को आवाज़ उठानी पडी कि पुरुष-स्त्री-प्रसग का अभिप्राय यह नही कि मनुष्य व्यभिचारी बने, और चाहे जब किसी के भी साथ भोगासक्त हो तथा चाहे जब उस से सबध तोड दिया जाय। वह कुछ ऐसा व्यापार नही कि जो आया, उस ने 'पानी-भरा-जैसा गिलास' पिया और उँडेला। अतत लेनिन को यह कहना पडा कि यदि साम्यवादी क्राति को शक्तिमय बनाना हो, तो श्रमिक (प्रोलेटेरियेट) दल के लोगो मे "शुद्धता, शुद्धता और शुद्धता लाना चाहिये, और इसलिये मैं फिर कहता हूँ कि शक्तियाँ कमजोर न होने पायें, बरबाद न हो और न उन का विनाश हो। आत्म-नियत्रण—आत्म-सयम—मे दासत्व नही समझना चाहिये। प्रेम करने में भी आत्म-नियत्रण का अर्थ दासत्व नही हुआ करता है।"[५९] यदि यह कहा जाय कि यह दुर्गुण रूस ही मे साम्यवाद-प्रचार के कारण पैदा हुआ, सो ठीक नही। वह अमेरिका जैसे 'प्रजातत्रवादी' देश मे भी व्याप्त हुआ मिलता है। उन सब देशो मे भी उस का नग्न-नृत्य होता रहा है और होता रहेगा, जो उत्थान व उन्नति के प्रतीक अपने नवयुवको और नवयुवतियो को आत्म-सयम की लगाम लगाये बिना स्वच्छन्द छोडते रहे हैं अथवा छोड देंगे। इसीलिये जब गांधीजी ने देखा कि परिस्थितियो के वश आधुनिक भौतिकवाद हिन्दुस्तान को भी तीव्रता से निगले जा रहा है, तो

---

५९ "It needs clarity, clarity and again clarity And so I repeat, no weakening, no waste, no destruction of forces Selfcontrol, self-discipline is not slavery, not even in love"

['Reminiscences of Lenin' by Zetk in Clara, p 51, cited in Soviet Philosophy, pp 102-104]

उन्होंने अपने प्रोग्राम के हर विभाग मे आत्म-सयम पर सब से अधिक जोर दिया, जैसा कि हम पूर्व मे देख चुके है।

नारी-समाज के स्वातन्त्र्य-घोष के साथ ही मार्क्स ने बाल-समाज को परतंता से बचाने के लिये आवाज उठाई। जिस समाज मे बेकारी बढ जाती है, श्रमिक को काम नही मिलता, अथवा काम करने पर वह पूरा वेतन नही पाता, या दूसरे शब्दो मे यह कहिये कि जब पूंजीपति अतिरिक्त-मूल्य को हडप कर जाता है, तब उस समाज की जनता अपने बच्चो का पालन-पोषण, शिक्षण आदि अच्छी तरह से नही कर पाता , इसलिये माता-पिता अपने नन्हे-नन्हे बच्चो को भी मजदूरी करने के लिये भेजने लगते है। माता-पिता के—नही, पूंजीवादी समाज के—इस निर्दय काम की मार्क्स ने निन्दा की और जब उन्होंने बाल-समाज को उस से मुक्त करने के हेतु जोर लगाया, तब लोगो ने उन पर यह लाछन लगाना प्रारभ कर दिया कि मार्क्स माता-पिता के उस पवित्र अधिकार को ही छीन लेना चाहता है, जो उन की सतान पर रहता है। बालको को घर मे शिक्षा देने की जो प्रथा थी उस के भी विरुद्ध मार्क्स ने घोषणा की और यह भी बताया कि लडके-लडकियां सहपाठी बन कर सार्वजनिक शिक्षालयो मे शिक्षा पावे। इस का भी लोगो ने विरोध किया। इसलिये मार्क्स ने इन विरोधियो से कहा—"यदि तुम हमारे ऊपर यह अपराध लगाते हो कि हम चाहते है कि बच्चो के प्रति माता-पिता द्वारा किये जाने वाले अनर्थ (exploitation of children) बन्द कर दिये जाये, तो बेशक हम अपराध को स्वीकार कर लेते हे (क्यो कि बुर्जुआई पद्धति और) आधुनिक उद्योग-गति के कारण श्रमिको के समस्त कौटुम्बिक गॅठ-बन्धन छितर-बितर कर दिये गये हैं, और उन के बच्चे तो मानो व्यवसाय के निरे पदार्थ और श्रम के निरे साधन बना दिये गये हैं।"[६०] रही बात उन की शिक्षा के सम्बन्ध की, सो जो शिक्षा अभी दी जाती है वह भी आज का समाज पाठशालाओ आदि के द्वारा सामाजिक परिस्थितियो के अनुरूप, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप करके देती है। तब फिर यह सहज ही कहा जा सकता है कि "साम्यवादियो ने यह कोई नई बात तो नहीं निकाली कि शिक्षा देने मे समाज का हस्तक्षेप रहे, वे, निस्सदेह, इस हस्तक्षेप के लक्षण को बदल देना, और शिक्षा को अधिकारी वर्ग (ruling class) के प्रभाव से बचाना चाहते है।"[६१] साम्यवादियो का ध्येय है कि स्टेट सर्वजन-शक्ति का उत्पादन के कार्य मे पूरा-पूरा उपयोग करे और साथ-ही-साथ छोटे-बडे,

---

६० Communist Manifesto, p 66

६१ Communist Manifesto, p 66

बूढे-बालक सब के पालन-पोषण का अपने ऊपर भार ले। इस ध्येय की पूर्ति के लिये उन का एक प्रोग्राम यह रहता है, जैसा कि सोवियत रूस के विधान मे विहित है, कि मजदूरनी को प्रसूतिकाल मे वैतनिक छुट्टी दी जावे और उस का एव नवजात-शिशु का रक्षण स्टेट करे। गर्ज यह कि स्टेट बालक-बालिकाओ का उन के जन्म-काल ही से अपने अधिकार मे ले ले, ताकि उनके पालन-पोषण मे किसी प्रकार की त्रुटि न रहे और उन का शिक्षण उचित रूप से और विधि-पूर्वक हो सके। समाज के लिये यह नवीनता थी। मेकॉलि का कथन है—वृद्ध लोग नवीनता का सदा विरोध करते है, इसलिये जब सोवियत रूस ने अपने विधान मे यह नियम बनाया, तो माता-पिता तथा दर्शक-श्रोता सभी उसे स्टेट की धाधलेबाजी मे शुमार करने लगे। अनेक देशवासी और परदेशी उस पर जबरदस्ती करने, स्वाभाविक मातृ-स्नेह भग करने, एव कौटुम्बिक गठबधन को तोडने का अपराध लगाने लगे। परन्तु यह गलत-फहमी है। जिन्होने वहाँ की परिस्थितियो का अध्ययन विवेक-पूर्वक और निष्पक्ष भाव से किया है, वे कह सकते है कि लोगो के मन पर "यह एक निरा-धार छाप पड गई है कि सोवियत् यूनियन मे बच्चो को जबरन माता-पिता से ले लेते हैं और उन का पालन-पोषण राज्य-संस्थाओ मे किया जाने लगता है। यथार्थ बात यह है कि इस सम्बन्ध के नियम सहूलियत देने के लिये है, न कि बल-पूर्वक पालन कराये जाने के लिये।"[६२]

साम्य-मार्ग मे आर्थिक योजनाओ (Economic Plannings) का महत्त्व—

उपरोक्त विवरण से हमे ज्ञात हो चुका कि मार्क्स चाहता था कि हर देश व समाज मे अपनी-अपनी परिस्थितियो के अनुकूल ऐसी हलचल मचाई जाय कि जिस से पूँजीवादी पद्धति का शीघ्रातिशीघ्र अन्त हो जाय और सार्वभौम साम्य की स्थापना हो सके। उसे यह पसद नही था कि पहले मानसिक विचार-धाराओ को परिवर्तित करने की कोशिश की जाय, क्यो कि वह जानता था कि कोरे शिक्षण द्वारा या व्याख्यानबाजी आदि से स्वार्थरत विचारधारा मे परिवर्त्तन लाना न केवल कठिन ही होता है, वरन दीर्घ-सूत्री भी होता है। उस के मतानुसार मामले को वही पकड लेना चाहिये, जहाँ वह खटकता है। यह खटकने वाली—काटने वाली—चीज उसे दिखी, उत्पादन की उस कलुषित विधि मे जो श्रमिको के शोषण, श्रमिको की बेकारी और भुखमरी तथा अतिरिक्त मूल्य को हडपने की क्रिया को जारी रखे थी। यदि यह दूषित पद्धति उखाड दी जाय, तो मार्क्स का कहना है,

---

६२ 'Soviet Philosophy', pp 62-63

मनुष्यो के विचार अपने-आप ही अच्छे हो जायेगे, परन्तु यह तभी हो सकता है, जब समाज मे उस ओर जुटने वाले कार्यकर्त्ता हो। कार्य तभी सिद्ध होता हे, जब उसे करने का कार्यक्रम पहले से खूब सोच-विचार कर बना लिया जाय। यो तो जब से मनुष्य ने कर्म करना सीखा है, तभी से कार्य-क्रम का होना भी पाया जाता है, भले ही वह उस समय पढा-लिखा न हो, भले ही वह उस समय शिकार-युग या पाषाण-युग मे रहा हो , उस युग मे भी मनुष्य को सरल-से-सरल काम करने के पहले अपने मस्तिष्क मे तत्सम्बन्धी एक रूप-रेखा बनानी ही पडती थी। इसी तरह आज भी छोटे और बडे सभी को कोई-न-कोई रूपरेखा अपने दिमाग मे पहले बना लेनी पडती है, तब कही उस के शारीरिक अवयवो का हिलना-डुलना प्रारम्भ होता है, इसलिये यह निश्चय है कि कार्य के पहले कार्य-क्रम का रहना मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। मानसिक-विकास के अनुरूप कार्यक्रम होता है। इसी को मार्क्सवादी भाषा मे यह कहेगे कि उत्पादन के जिस पद्धति-काल मे मनुष्य रहता है, उसी के अनुसार उस के कार्य हुआ करते है और उन्ही के अनुरूप उस के कार्य-क्रम बनते रहते है। यह कहने की आवश्यकता नही कि व्यक्तिगत कार्य के लिये व्यक्तिगत-कार्यक्रम और सामाजिक कार्य के लिये सामाजिक कार्यक्रम हुआ करता है। यह सामाजिक कार्य-क्रम कभी एक ही व्यक्ति बना डालता है और कभी एक से अधिक मनुष्य एक-मत होकर या बहुमत से उस का निर्णय करते है। कार्य-क्रम का भी अपना इतिहास है। मनुष्य के बुद्धि-विकास और सामाजिक-विकास के साथ-साथ कार्य-क्रम बनाने का भी विकास होता गया है। यथार्थत भविष्य मे कार्य करने की रूपरेखा का नाम कार्य-क्रम होता है, और यही भावी कार्य-क्रम आजकल योजना या आयोजना (planning) के नाम से प्रसिद्ध हो रहा हे। योजनाएँ कई प्रकार की होती है, जैसे धर्म-क्षेत्र से सबध रखने वाली धार्मिक योजनाएँ, राजनीति से सबधित राजनीतिक योजनाएँ, तथा सग्राम-सबधी सैनिक योजनाएँ इत्यादि। परन्तु वर्तमान युग मे आर्थिक योजनाओ की ही विशिष्टता है, क्यो कि इस समय समाज अर्थसकट को ही अधिकतर महसूस कर रहा है।

योजना का उद्भव यो तो समाज-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था के उद्भव के समय से ही होना पाया जाता है, तथापि उसके आधुनिक स्वरूप का प्रारभकाल उस समय से कहा जाय, जब से प्रजातान्त्रिक चुनाव दलबन्दी के आधार पर लडे जाते है, तो अधिक उचित होगा, क्यो कि उस समय से हर दल अपना भावी कार्य-क्रम जनता के सम्मुख पेश करके मतदान की याचना किया करता है। इस प्रकार की योजनाएँ प्रस्तावना के रूप मे हुआ करती है। उन के पीछे जन-बल अथवा राज्य-बल नही रहता, और न उन मे वह यथार्थता एव स्थिरता पाई जाती हे, जो

उन आयोजनाओं में रहती है, जिन्हें चुनाव हो जाने के पश्चात् राज्य की बागडोर सँभालने वाला दल तैयार करता है। इसीलिये हिन्दुस्तान की कांग्रेस-पार्टी की आयोजना वाली डींग की समालोचना करते हुए श्री जे० बी० कृपलानी ने अपने पत्र—'विजिल' में लिखा था कि "आयोजना बनाना किसी ऐसी पार्टी के हाथ की बात नहीं रहती, जिस के हाथ में देश का शासन न हो (क्योंकि) किसी भी पार्टी के पास आयोजना हस्तगत करने के लिये सामग्री और शक्ति के स्रोत नहीं रहते।"[६३(क)] चुनाव के पश्चात् विजयी दल के द्वारा तैयार की गई योजनाओं का महत्त्व दो कारणों से होता है—एक तो उन का संस्करण सारी जनता के परामर्श, वाद-विवाद तथा आलोचनाओं के पश्चात् होता है, और दूसरे उन में कथित कार्य-क्रम को व्यवहार-रूप में लाने के लिये शासनाधिकार और जनमत का आश्रय मिल जाता है। इन का प्रधान उद्देश्य यह रहता है कि शासनाधिकारी दल, अथवा यह कहिये, राज्य-सरकार अमुक काल में देशोत्थान के हेतु अमुक कार्य-क्रम को पूरा करे। चूँकि आज हर देश में, चाहे वह मार्क्सवाद को मानता हो या गांधीवाद को, चाहे वह साम्यवादी बनने का दावा करता हो या प्रजातन्त्रवादी, यह हवा बह रही है कि समाज की उत्पादन-शक्ति की वृद्धि ही समाजोत्थान का आधार बन सकती है और वही बेकारी एवं भुखमरी का प्रश्न हल कर सकती है, इसलिये बहुधा यही आवाज सुनाई देती है कि अमुक स्थान में पंचवर्षीय योजना बनी, अमुक देश में दसवर्षीय योजना बनी, इत्यादि। ये योजनाएँ कभी और कहीं एकक्षेत्रीय रहती हैं, और कहीं बहुक्षेत्रीय। उन में वैज्ञानिक तरीके से कार्य करने की ऐसी धाराएँ बना ली जाती हैं कि जिस से निर्दिष्ट कार्य निश्चित समय के भीतर पूर्ण हो जाय। इन योजनाओं के कार्यक्रम में आवश्यकतानुसार बीच-बीच में कमी-बेशी भी कर ली जाती है, और यदि निश्चित अवधि के भीतर निर्दिष्ट काम पूरा नहीं हो पाता, तो उसे आगामी योजना के समय पूरा कर डालने का प्रोग्राम बनाया जाता है। भवि-ष्य-विषयक होने के कारण यद्यपि वे पूर्ण निश्चयात्मक तो नहीं कही जा सकतीं, तथापि उनके अनुपालन से कार्य की सफलता बहुत कुछ सुगम और असंदिग्ध हो जाती है। इन योजनाओं का ही कारण है कि आज हम थोड़े से ही काल में पिछड़े हुए गँवारू रूस को अग्रगण्य सभ्य श्रेणी के देशों में गिनने लगे हैं। इन्हीं के कारण उस ने अपने समाज का इतना अधिक आर्थिकोत्थान कर लिया है कि वह अमेरिका, इंग्लैंड आदि प्रथम श्रेणी की शक्तियों का मुकाबिला करने के लिये डटा रहता है।

---

६३ (क) 'Vigil', dt 15-12-51, p 5 (article headed "Parties and Planning")

वर्तमान सामाजिक-आर्थिक योजनाओ मे आज जो पारिभाषिक और वैज्ञानिक नवीनता (Technological and Scientific Novelty) दिखाई देती है, उस का श्रेय, हमारी समझ मे, रूस ही को है। वहाँ एक आई० व्ही० मिच्यूरिन (I V Michurin) नाम का एक बडा भारी पदार्थ-विज्ञानी हो गया है। उसने इस बात का आविष्कार किया कि मनुष्य उचित योजना (planning) के द्वारा पौधो की पारस्परिक गति को अथवा प्राकृतिक नस्ल को बदल कर एक नई उन्नत नस्ल बहुत जल्दी अपने लाभार्थ तैयार कर सकता है। इस आविष्कार से मनुष्य की यह धारणा हो गई कि उस मे प्रकृति को भी परिवर्तन कर डालने की शक्ति है। वह यदि चाहे तो मनुष्य-समाज के लाभार्थ प्रकृति को तबदील कर सकता है। इसीलिये मिच्यूरिन का कहना है कि "हम प्रकृति के अनुग्रहो के लिये ठहर नही सकते, हमे तो उन्हे उससे छीन लेना चाहिये" ("We cannot wait for favour from Nature, we must wrest them from her")[६४] इस आविष्कार ने रूसी समाजवादियो की अन्नोत्पादन-क्रिया को बहुत उन्नत किया, और अन्त मे उसी के आधार पर उन्होने इस नियम का निर्धारण किया कि "समाजवादी समाज अपने आप उन्नत नही होता। वह उन्नत होता है, आर्थिक आयोजित उन्नति के आधार पर (on the basis of a planned development of economics)—वह उन्नत होता है उस समय, जब सामाजिक उत्पादन की वृद्धि के लिये एव सामाजिक जीवन की व्यवस्था के हेतु विज्ञान का आयोजित (planned) प्रयोग किया जाय।"[६५] इससे यह प्रकट हो जाता है कि मिच्यूरिन ने डारविन के 'निश्चेष्ट प्राकृतिक विकासवाद' को मानुपिक रचनात्मक कार्यक्रम के रूप मे सचेष्ट बना दिया है, अर्थात् अब मनुष्य प्राकृतिक विकास को अपने बुद्धि-बल के द्वारा सुचारु रूप से जल्दी-जल्दी प्रत्यक्ष कर सकता है। जब मिच्यूरिन ने यह घोषणा की कि मनुष्य

---

६४ Cited in Kammar's 'Socialism and the Individual', p 67

६५ "The ability to combine theory and practice is an indispensable quality of every member of socialist society, for this society does not develop spontaneously but on the basis of a planned development of economics, on the basis of a planned application of science to the development of social production and to the organization of social life"

(Cited in Kammar's 'Socialism and the Individual', p 69-70)

प्रकृति से छीन लेने का बल रखता है, तो ईश्वरवादी एव प्रकृति के अध-भक्त दकियानूसो ने उसे भला-बुरा कहना शुरू किया, जैसा कि प्राय हर क्रातिकारी आविष्कार के समय हुआ करता है , परतु लेनिन, स्टालिन आदि मार्क्सवादियो ने उसके सिद्धात से जो लाभ उठाया वह आज ससार की दृष्टि मे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। उसी की बदौलत रूस ने आर्थिक आयोजनाओ का वैज्ञानिक विधि मे प्रयोग किया, जिस के फल-स्वरूप उस की आर्थिक स्थिति इतने उच्च-स्तर की हो गई कि अन्य देशो ने उस का अनुकरण करना प्रारभ कर दिया।

हिन्दुस्तान की राज्य-सरकार ने भी, स्वतत्र होने के पाँच साल बाद, अभी हाल ही मे पहले-पहल एक 'पचवर्षीय-योजना' की घोषणा की है। उसका ध्येय है कि आगामी पाँच वर्षो मे हिन्दुस्थान मे कृषि, नि शुल्क अनिवार्य शिक्षा, याता-यात, आरोग्य, निवास-गृह तथा अन्य सामाजिक कल्याण-सबधी कार्यक्रम इस दृष्टि से चलाया जायगा कि वह भविष्य मे किये जाने वाले उन्नत उत्पादन के लिये उत्तम आधार बन सके। यद्यपि गाधीजी के 'सर्वोदय' प्रोग्राम के अनुयायियो की दृष्टि मे इस पचवर्षीय योजना मे त्रुटियाँ है, तथापि हिन्दुस्तान सरकार का दावा है कि इस योजना मे राज्यत्व को नही, व्यक्तित्व को प्रधानता दी जाने के लिये कार्य-क्रम निश्चित किया गया है। जो राज्य समस्त कार्यो को अपने अधिकार मे रख कर समाजोन्नति करने की बात करता है, वह 'सर्वाधिकारी राज्य' (totalitarian state) कहलाता है, और जो समाज-कल्याण की दृष्टि से कार्य-सचालन की केवल नीति को अपने अधिकार मे रखता है एव कार्य करने मे जनता को स्वतन्त्रता देता तथा उन के व्यक्तिगत कार्यो मे सहायक बनता है, वह 'कल्याण कारी राज्य' (welfare state) कहलाता है। इस प्रकार राज्य-भेद को बता कर हिन्द सरकार ने अपनी योजना तैयार की है और जन-स्वातत्र्य तथा विकेन्द्रीकरण की ओर लक्ष्य रखा है। पाठको को समझना चाहिये कि रूस अथवा अन्य साम्यवादी कहलाने वाले मार्क्सवादी देशो की योजनाओ और हिन्दुस्तान की इस योजना मे यही मुख्य भेद है। यद्यपि गाधीमत के दृष्टि-कोण से उसमे बहुत कुछ सशोधन की आवश्यकता है, जैसा कि श्री विनोबा भावे ने कहा था, तथापि राज्य-सरकार की ओर से जो आश्वासन दिया गया है और जो कार्य-क्रम जिस तरह भाषा-बद्ध किया है, उन्हे देखते हुए अभी यह कहा जा सकता है कि वह अन्य 'सर्वाधिकारी राज्यो' की योजनाओ की अपेक्षा जन-स्वातत्र्य की (Democracy) की ओर बहुत कुछ आगे बढी हुई है। यो तो जनतत्र के सच्चे समीक्षक और प्रेमियो के मन मे सन्देह उत्पन्न हो रहा है कि जन-स्वातत्र्य की अर्थनीति और आयोजित समाज (planned society) की अर्थनीति मे भेद अवश्य रहेगा, भले ही राज्य

उसके समर्थन मे अपनी सफाई दे। अभी १० जनवरी सन् १९५३ की ही बात है कि श्री डाक्टर जान मथाई ने गुजरात कालेज, अहमदाबाद मे भाषण देते समय कहा था कि "यदि अनुभव से कोई निर्देश मिल सकता है और प्रत्यक्ष परिणामो को देख कर कोई अन्तिम निर्णय निकाला जा सकता है, तो जनतत्र और आयोजना (अर्थात् आयोजित समाज (Planned society) के बीच होने वाली मुठभेड (conflict) को रोकना बडा कठिन है, और हम, चाहे अथवा न चाहे, एक ऐसे काल मे प्रविष्ट होंगे, जहाँ बाह्य नियत्रण (controls) उत्तरोत्तर बढता जायगा। एव व्यक्तिगत निर्धारण (initiative) तथा उत्तरदायित्व (responsibility) उत्तरोत्तर घटता जायगा।"[६६(क)] कुछ भी हो, अभी एकाएक कुछ निर्णय कर बैठना न्यायसगत प्रतीत नही होता। उसका सच्चा निर्णय भविष्य का जन-मत ही उस समय कर सकने योग्य होगा, जब वह यह देख लेगा कि वह व्यावहारिक क्षेत्र मे आ उतरने पर कौन से गुल खिलाती है।

---

६६ (क), Free Press Journal, 12-1-1953.

भाग (व)

गाँधी की आर्थिक योजनाएँ

गाँधी के मूल सिद्धान्तों का पुन स्मरण

इस अध्याय के प्रारम्भ मे जिस प्रकार हमने मार्क्स के मूल-सिद्धातो का पुन-स्मरण किया था, उसी तरह गाँधी के मूल सिद्धातो को हमे फिर से स्मरण कर लेना चाहिये, जिस से उन की व्यावहारिक योजनाओ को हम ठीक तरह से समझ सकें। वे ये हैं—

(१) "जग भला ता आप भला" यह गाँधी का सब से प्रथम मूल सिद्धात है। यह उस निम्नतम "आप भला तो जग भला" सिद्धान्त का बिल्कुल उल्टा है। इस निम्नतम नियम को पार करने के लिये लोगो ने बहुतायत भलाई का नियम खोज निकाला, जिस के अनुसार "अधिक-से-अधिक जनसख्या का अधिक-से-अधिक लाभ" करना श्रेयस्कर माना गया। इस सिद्धात के आधार पर जब सारा ससार चल रहा था, तब गाँधी ने सार्वजनिक भलाई की दृष्टि से अपने उक्त सिद्धात "जग भला ता आप भला" का प्रचार किया, जो प्राचीन काल से सस्कृत-साहित्य मे "सर्व-भूतहितेरता" आदि पदो के द्वारा विख्यात था। जिस मनुष्य की यह धारणा रहती है कि ससार का हर व्यक्ति भला या सुखी रहे, उस का अथक प्रयत्न भी यही रहता है कि सब को सुखी बनाने के साधन जुटाये जायं। इसीलिये गाँधी ने सब को उन्नत स्थिति मे पहुँचाने वाली युक्ति ढूँढी, जिस का नाम उन्होंने 'सर्वोदय योजना' रखा। इस 'सर्वोदय' शब्द मे सर्व-जन के सर्वांगीण उदय का भाव निहित है, जिस के अतर्गत राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक चारो अगो का समावेश हो जाता है। यह 'सर्वोदय' शब्द रस्किन की पुस्तक के शीर्षक "अन टू दी लास्ट" (Unto the Last) का अनुवाद है, क्यो कि 'अन टू दी लास्ट' का अर्थ होता है—वह लाभ, जो अतिम व्यक्ति अर्थात् सब तक पहुँच सके।

(२) उपरोक्त सिद्धात को व्यावहारिक क्षेत्र मे कार्यान्वित करने के लिये गाँधी का दूसरा सिद्धात है "वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् ससार का सारा जन-समुदाय ही एक कुटुम्ब है। गाँधी की सामाजिक व्यवस्थाओ को, जिन मे आर्थिक योजनाएं भी शामिल हैं, समझने के लिये पाठकों को भारतीय हिन्दू सयुक्त कुटुम्ब का

ज्ञान होना आवश्यक है। यदि हिन्दू-कुटुम्ब की आदर्श जीवनचर्या का ज्ञान हो, तो गांधी के व्यवहार-क्षेत्रीय सभी सिद्धात सरलता से समझ मे आ जाते है, जैसा कि अव हम आगे देखेंगे।

(३) गांधी का तीसरा सिद्धात है 'स्वदेशी'। 'स्वदेशी', उन के शब्दो मे—"वह भावना है, जो हमे अपनी आसपास की परिस्थितियो का उपयोग करने एव उन की सेवा करने की प्रेरणा देती है, इसलिये स्वदेशी भावना वाला अपनी परवर्त्ती स्थितियो मे ही रह कर उनके दूषणो का—यदि उनमे कोई है तो—निराकरण करता है। उसे यह भला नही लगता कि वह इस देश की या उस देश की, इस धर्म की या उस धम की नकल करता हुआ तृपित मृग के समान मृग-जल के मोह मे इधर-उधर भटकता हुआ समय नष्ट करता फिरे। इसी भावना से प्रेरित होने के कारण, हमारी समझ मे, मार्क्स ने भी, अन्यान्य महापुरुषो के समान, यह आदेश दिया है कि हर स्थान मे वहाँ की परिस्थितियो के अनुकूल कार्य किया जाय। इसी सवव से उस हाजिर-जवाव, समाजवादी जार्ज वर्नार्ड शा ने किसी प्रश्नकर्त्ता के उत्तर मे, मुझे स्मरण हे, एक वार यह कहा था कि गांधी जो कुछ कर रहे है, वह सव उन के देश के अनुकूल और उचित है। यही कारण है कि गांधी ने अपने पूर्वजो ही के धर्म मे, पूर्वजो ही के कौटुम्विक जीवन मे कल्याण का मार्ग पाया।

(४) स्वराज्य या स्वावलम्बन उन का चौथा सिद्धात है। इस सिद्धात मे नैतिकता की दृष्टि से आत्म-नियत्रण और व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से अपने पैर पर खडे होने की शक्ति का अर्थ निहित है। आगे चल कर हम देखेंगे कि मार्क्सवाद मे इन दोनो वातो की कमी ही नही है, वरन् अवहेलना की गई है।

आदर्श हिन्दू-कुटुम्ब के प्रधान लक्षण—हम अभी यह कह चुके है कि भारतीय सयुक्त हिंदू कुटुम्ब की आदर्श जीवनचर्या का ज्ञान हो जाने पर गाँधी की व्यावहारिक नीति का समझना आसान हो जायगा, इसलिये हमे सक्षिप्तत आदर्श हिन्दू-कुटुम्ब के निम्न प्रमुख लक्षणो पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

(१) **वृहन् रूप**—पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण आजकल कुटुम्ब का अर्थ इतना सकुचित हो गया है कि जव कभी कोई यह कहता हे कि 'आजकल मैं घर मे अकेला हूँ, मेरे फेमिली-मेम्वर्स (कुटुम्वी) वाहर गये हुए है' तो उस का अर्थ यह समझा जाता है कि 'मेरी पत्नी घर पर नही है।' वहुत हुआ तो पति-पत्नी के साथ उन की अप्रौढ सन्तान को भी कुटुम्व शब्द के अन्तर्गत गिन लेते है, जैसा कि हम मार्क्सवाद के विवेचन के समय कह आये हैं, परन्तु हिंदू कुटुम्ब प्रपितामह-पितामह-पिता तथा उनकी पत्नियाँ, पुत्र-नाती-पोते तथा उनकी पत्नियाँ, अविवाहित पुत्रियाँ, अविवाहित वहनें और वुआएं, काका-वावा तथा उन की सतान

व पत्नियाँ इत्यादि अनेक सदस्यों का एक विस्तृत समूह होता है। इस विस्तृत समूह में रहने वाले सदस्य को अन्य छोटे-बड़े सहाय-असहाय सदस्यों की भीड़-भड़क्का को बरदाश्त करने का अभ्यास पड़ जाता है, अतः यह कुटुम्ब-प्रथा उसे सहिष्णुता, शान्ति और प्रेम का पाठ पढ़ाती है, जिस का व्यावहारिक अनुभव होना उन लोगों के लिये अत्यन्त आवश्यक है, जो बकते फिरते हैं कि लोक-संग्रह हो, राष्ट्रीय या एकीकरण हो, समाज में भाईचारा हो, इत्यादि।

(२) साम्पत्तिक ऐक्य—इस कुटुम्ब-प्रथा का आधार रहता है प्रेम, और उस प्रेम को अधिक-से-अधिक काल तक बनाये रखने के लिये असहयोग का प्रयोग किया जाता है, बल या जबरदस्ती का नहीं, यह हम किसी पूर्वाध्याय में कह आये हैं। इस का परिणाम यह होता है कि कुटुम्ब के समस्त सदस्यों की कमाई की सम्पत्ति एकत्र रहती है। जब किसी सदस्य का किसी दूसरे सदस्य से बच्चों या पत्नियों पर से मन-मुटाव हो जाता है, तो कुछ लोगों का रहना (residence) या भोजन (messing) या दोनों अलग-अलग हो जाते हैं, परन्तु सम्पत्ति तथा कमाई फिर भी शामलात में रही आती है। इतने पर भी यदि कोई अपनी सम्पत्ति का भाग लेकर अलग रहना चाहे, तो उसे इस हेतु अपनी इच्छा-मात्र प्रकट कर देनी पड़ती है—बल प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं। बटवारे की इच्छा-मात्र प्रकट कर देने से उस का जो कुछ भाग सम्पत्ति में शास्त्रानुसार होता है, वह उसे मिल जाता है। गरज यह कि इस कौटुम्बिक जीवन को कायम रखने वाले प्रेम का उल्लंघन अंत-अंत तक बलात्कार से न होने पाये, इस दृष्टि से शास्त्रकारों ने नियम बनाये हैं। इस प्रथा के साम्पत्तिक ऐक्य ही में गांधी की अर्थ नैतिक दो प्रधान योजनाएँ अन्तर्निहित हैं—एक निक्षिप्त, अथवा धरोहर या थाती (trust) वाली योजना और दूसरी उदर-पोषी श्रम (bread-labour) वाली योजना।

(३) शासन-सेवा का योग—हिन्दू-कुटुम्ब में जो सब से सयाना होता है, वही कुटुम्ब का मुखिया होता है। उसी पर कौटुम्बिक ऐक्य बनाये रखना का उत्तर-दायित्व रहता है। उसे यदि शासन करने का अधिकार होता है, तो उस का कर्तव्य भी यह होता है कि वह कुटुम्ब के सभी सदस्यों का यथाप्रकार से पालन-पोषण और संरक्षण करे। सम्पत्ति या खजाने का यदि वह मालिक होता है, तो उस का चौकीदार रखवाला और उस का समुचित रूप से उपभोग करने वाला सेवक भी वही होता है। पारस्परिक प्रेम-बन्धन के कारण आयु के अनुसार एक सदस्य दूसरे पर अनुशासन करता, एक दूसरे की आज्ञा का पालन करता तथा एक दूसरे की सहायता करता रहता है। इस तरह इस प्रथा में प्रेम पर आधारित शासन और सेवा, अधिकार और कर्तव्य के योग का वह समुचित अनुभव होता है, जिस की आवश्यकता

हर साम्यवादी या समाजवादी को पडती है। महान् सिद्धांती भी अनुभव-शून्य होने के कारण व्यावहारिक क्षेत्र मे फिसल कर गड्ढे मे पड जाता है।

(४) सयुक्त उत्पादन (Collective Production)—समाजवाद और साम्यवाद की उत्पादन-पद्धति मे पूंजीवादी उत्पादन (Capitalistic production) के स्थान पर सहकारी-उत्पादन (Cooperative production), सयुक्त उत्पादन (Collective production) को मान्यता दी जाती है, यह आप को विदित होगा। सहकारी उत्पादन मे व्यक्तिगत-स्वामित्व का भाव नही मिट पाता। अनेक लोगो के सहयोग की भावना उस मे रहती है, इसलिये उसे साम्यवादी पद्धति नही कह सकते, परन्तु जब अनेक का भाव मिट कर अभेद रूप से ऐक्य का भाव आ जाय, अर्थात् जब समस्त उत्पादक अभेद रूप से उत्पादन करने मे जुट जाये, तब सयुक्त उत्पादन की स्थिति आती है। सयुक्त-उत्पादन की स्थिति ही, हमारी समझ मे, साम्यवादी पद्धति कहलाई जाने योग्य हो सकती है, हालाँ कि अर्थशास्त्रियो ने सयुक्त समाजवादी उन लोगो से कहा है, जो केवल उत्पादन के साधनो से ही व्यक्तिगत स्वामित्व का भाव उडा देना चाहते है।[६७] अर्थशास्त्रियो ने भले ही उस को सीमित रूप दिया हो, पर उस का पूर्ण रूप हिन्दू-कुटुम्बी उद्योगो मे दिखाई देता है, जहाँ न केवल उत्पादन के साधनो पर, बल्कि समस्त उपज पर भी अभेद रूप से साम्पत्तिक व्यक्तित्व का अभाव रहता है। इस का महत्त्व ग्राम-निवासी उन हिन्दू-कुटुम्बो मे विशेष रूप से दिखाई देता है, जिन का धधा कृषि करना है। यदि सयुक्त-कृषि (Collective Farming) का जीता-जागता अनुभव प्राप्त करना हो, तो किसी गाँव मे किसी कृषक हिन्दू-कुटुम्ब को देख आइये।

(५) शक्त्यनुसार उत्पादन और आवश्यकतानुसार वितरण—हिन्दू-कुटुम्ब

---

६७ The socialist school maintains that "the source of these evils lies in free competition and in individual or private property .. ..Those who favour the entire suppression of private property in all kinds of wealth are called Communists, those who favour the suppression of property in the instruments of production are called Collectivists, those who favour the suppression of property in lands and buildings are called Nationalists"

(Gide's 'Principles of Economics', pp 29 & 30).

का हर व्यक्ति अपनी शक्ति भर प्रयत्न कर के अर्थोपार्जन करता है और जिस सदस्य का जितनी आवश्यकता पड़ती है, उतनी ही उस की पूर्ति की जाती है। किस को कितनी आवश्यकता है, इस का अर्थ यह नहीं कि उसे मुंह-मांगी हर चीज दी जाती है, वरन् घर की आर्थिक स्थिति, सदस्य की स्थिति आदि देख कर जीवन-सम्बन्धी जरूरतें पूरी की जाती हैं। यह वही अन्तिम स्थिति है, जिस पर साम्यवाद पहुँचना चाहता है।

गांधी की आर्थिक योजनाओं सम्बन्धी भूमिका—अब हम गांधी की आर्थिक योजनाओं पर विचार करेंगे और बताएंगे कि वे किस प्रकार हिन्दू-कौटुम्बिक-जीवन एवं हिन्दुस्थान के प्राचीन ग्राम-साम्य (village-communism) पर आधारित हैं, उन में किस तरह स्वावलम्बन का पाठ विद्यमान है, वे किस विधि से सर्वोदय करना चाहती हैं, और वे किस तरीके से विकेन्द्रीकरण कर के एक-एक आदमी को उत्पादन के काम में जुटाना आवश्यक समझती हैं। मार्क्स के समान गांधी भी वर्त्तमानकालीन आर्थिक पद्धति से असन्तुष्ट थे। वे भी यह जानते थे कि एक ओर पूंजीपति मौज-बहार उड़ाते हैं, तो दूसरी ओर मजदूर-वर्ग बेकारी और फाकाकशी से त्रस्त हैं, इसलिये वे भी चाहते थे कि एक ओर पूंजीपतित्व का और दूसरी ओर बेकारी और भुखमरी का खात्मा हो जाय, परन्तु उन्होंने यह नहीं चाहा कि समाज द्विवर्गीय बने और बलात्कारी द्वन्द्व-युद्ध छिड़े, क्यों कि बलात्कारी द्वन्द्व-युद्ध महाभारत के समान समाज के लिये अहितकर होगा। इसलिये उन्होंने बुर्जुआई अथवा पूंजीवादी सम्पत्ति के स्थान में निक्षिप्त सम्पत्ति (Trust Property) का और वैतनिक-श्रम (wage labour) के स्थान में उदर-पोषण-श्रम (bread labour) का सिद्धांत जनता के सम्मुख रखा। यदि इन दोनों सिद्धांतों का व्यावहारिक उपयोग हो गया, तो गांधी के मतानुसार, समाज में राम-राज्य की स्थापना हो जायगी। 'राम' कहने से हमें दशरथ के पुत्र ऐतिहासिक राम की याद आ जाती है, जिन की लोकप्रियता जगत्-प्रसिद्ध है, परन्तु गांधी का राम ऐतिहासिक 'राम' में सीमित नहीं है। जिन्हें शब्द-ज्ञान है अथवा वाणी के व्यापार का बोध है, वे जानते हैं कि 'राम' शब्द की रकार और मकार दोनों में सुख-शांति का अनुभव करा देने की शक्ति है। यदि हम इसे समझाने लगें, तो विषयांतर हो जायगा, इसलिये इस सम्बन्ध में गांधीजी के कथन को ही उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा। उन्होंने लिखा है कि "जब कभी मेरे राम नाम कहने पर कोई ऐतराज करता है, तो मुझे हँसी आ जाती है ... मेरा राम, हमारा प्रार्थनीय राम, दशरथ-पुत्र ऐतिहासिक राम नहीं है, जो अयोध्या का राजा था। वह सनातन है, अजन्मा है, अद्वितीय है। उस के अनन्त नाम हैं और हम उस का स्मरण

उसी नाम से करते है, जिस से हम चिर-परिचित है।"[६८] "गांधी का राम वही सत् है, जो सर्वोपरि विश्वव्यापी है।"[६९] इसलिये, गांधी-मत मे राम-राज्य एक आदर्श राज्य-व्यवस्था, अर्थात् समाज-व्यवस्था का नाम है, जिसमे हरेक व्यक्ति एक समान स्वतन्त्रता-पूर्वक सुख-भोगी होकर रहता है। उसी को जनता-जनार्दन का राज्य कहते है—यही सच्चा स्वराज्य या प्रजातान्त्रिक राज्य कहलाता है। उसी की स्थापना के लिये कहते-कहते गांधी स्वर्गधाम चले गये और अपने देशवासियो को सचेत कर गये कि कही वे स्वय ही गौरवर्ण वालो की दूषित पद्धति को न अपना बैठे। "मेरे लिये", गांधी का कहना है, "स्वराज्य का अर्थ होता है, अपने निम्न-से-निम्न देश-बन्धुओ को मुक्ति (स्वतन्त्रता) मिलना।"[७०] उन की दृष्टि मे "हिन्द-स्वराज्य का यह मतलब है कि अधिकार आखिरकार किसानो और श्रमिको के हाथ मे पहुँच जाय, केवल यह नही कि वह गौरवर्णीय नौकरशाही (bureaucracy) के हाथ से निकल कर श्यामवर्णीय नौकरशाही के हाथ मे दे दिया जाय।"[७१] यही बात तो मार्क्सवादी भी चाहता है, पर वह यह नही मानता कि श्रमिक केवल पेट भर भोजन पाकर शात रहे, और सम्पत्तिवान् अपनी सम्पत्ति को जनता की धरोहर समझकर जनता के लाभार्थ खर्च करे। ये दोनो बाते, विशेष कर धरोहर वाली बात मार्क्सवादियो की दृष्टि मे हास्यास्पद प्रतीत होती है, और उन की कडी आलोचना का विषय बन गई है। उन्हे यह असम्भव मालूम पडता है कि कभी भी कोई मनुष्य अपनी सम्पत्ति को अपने मन से दूसरो की धरोहर समझे। जो लोग इस प्रकार की शका करते है, उन की शका-समाधान के लिये उन की दृष्टि हम सब से पहले मार्क्स के उस तर्क की ओर आकर्षित कर देना चाहते है, जो वह अपने आलोचको के सम्मुख पेश करता था। उस का कहना था कि ऐतिहासिक गति से यह सिद्ध होता है कि पद्धतियाँ परिवर्तनशील है—आज जो नवीन होने के कारण आश्चर्यजनक और असम्भव मालूम पडती है, वही ऐतिहासिक गति के भँवर मे पड कर कल होकर रहती है। इसके बाद अब हम, कुछ दूसरे आधार लेकर थोडे विस्तार से यह देखेगे कि गांधीमत सम्पत्ति और श्रम की मुठभेड को किस प्रकार सुलझाना चाहता

---

६८ देखो 'हरिजन', २८-४-४६, २-६-४६, २४-११-४६ या (नवजीवन प्रकाशन गृह, अहमदाबाद की पुस्तक 'राम-नाम', पृष्ठ १४-१५)।

६९ W E Hocking in 'Mahatma Gandhi', (R K) p 119.

७० 'Young India', II, 602, cited in 'Political Philosophy of Mahatma Gandhi', p 321

७१ Speeches, pp 378-380, cited in Pol Phil. at p 330.

है। यह जानने के लिये हमें यह देखना आवश्यक होगा कि गांधीजी ने निक्षिप्त सम्पत्ति और उदरपूर्ति श्रम का निरूपण कैसा किया है।

निक्षिप्त सम्पत्ति अर्थात् ट्रस्ट-सम्पत्ति (Trust Property) का निरूपण—

'ट्रस्ट' की परिभाषा इन्डियन ट्रस्ट ऐक्ट (ऐक्ट नं० २ सन् १८८२) में इस प्रकार दी गई है—

"A 'trust' is an obligation annexed to the ownership of property and arising out of a confidence reposed in and accepted by the owner, or declared and accepted by him, for the benefit of another, or of another and the owner"

अर्थात् "ट्रस्ट (निक्षिप्ति) उस कर्तव्य-भार का नाम है, जो सम्पत्ति के स्वामित्व के साथ जुड़ा रहता है, और जिस की उत्पत्ति उस विश्वास पर निर्भर रहती है, जो (सम्पत्ति के) स्वामी ने, दूसरे के लाभ के हेतु, अथवा दूसरे के और स्वामी के लाभ के हेतु, स्थित किया जाता है, या जिसे वह स्वामी स्वीकार कर लेता है, अथवा जिसे वह ऐलान करता और स्वीकार कर लेता है।"

यह 'ट्रस्ट' की कानूनी परिभाषा है। इस में वहीं सब बातें है जिन का समावेश गांधीजी भी अपने 'ट्रस्ट' शब्द के अन्तर्गत करते है, परन्तु गांधी के 'ट्रस्ट' शब्द में दो विशिष्टताएँ और हैं। एक तो यह है कि वे 'सम्पत्ति' के अन्तर्गत भौतिक द्रव्य (Material wealth) के अतिरिक्त बुद्धि-कौशल अथवा आतरिक शक्तियों (talents) का भी समावेश करते है, जैसा कि नीचे के वाक्य से विदित होता है—

"Non-possession implies the ideal of trusteeship in relation to accumulated wealth, talents of people and their earnings beyond their immediate needs"[७२]

अर्थात्—अब सचित द्रव्य, आतरिक गुण (talents) और आवश्यकतापूर्ति के बाद जो बचे उस अतिरिक्त कमाई के सबंध में आदर्श धरोहर का भाव हो, तब गांधीजी के 'त्याग' शब्द का अर्थ प्रकट होता है।

दूसरी विशिष्टता यह है कि उक्त कर्तव्य-भार केवल प्रेममय सेवा-भाव से प्रेरित हो, न कि किसी अन्य स्वार्थमय लौकिक या पारलौकिक कामना से।

हम पहले बता चुके है कि मनुष्य की आतरिक शक्तियों या गुणों को प्राचीन काल से ही आर्यधर्म-शास्त्रों में 'सपदा' या 'सम्पत्ति' संज्ञा दी गई है। इसलिये यदि हम से गांधीमत के 'ट्रस्ट' शब्द की परिभाषा करने को कहा जाय, तो हम उस की

७२ Dhawan's Pol Phil of M Gandhi, p 94

परिभाषा संक्षिप्ततः इस तरह करेंगे। **जब साम्पत्तिक अधिकार मे अनधिकार और प्रेममयी सेवा का भाव या कर्त्तव्य-भार हो तब, गांधी के मतानुसार, ट्रस्ट बनता है।**

मार्क्स ने भी इन आतरिक अथवा विशिष्ट गुणो को नही भुलाया। उस ने उन्हे श्रमिको की दृष्टि से देखा और कहा कि वे श्रम के विशिष्ट अग है, जैसा कि हम इसी अध्याय मे कुछ पहले 'सरप्लस वेल्यू' अथवा अतिरिक्त-मूल्य की विवेचना के समय कह आये है।

गांधी जी मे ट्रस्ट-भावोत्पत्ति के कारण—ट्रस्ट की परिभाषा जानने के पश्चात् यदि कोई यह पूछे कि गांधीजी के मन मे प्रचलित सामाजिक अर्थनीति को उलट देने वाला यह एक नवीन भाव कैसे उठा, तो हम यह कहेगे कि सम्भवतः उस का एक कारण तो यह हो सकता है कि गांधीजी कानून के पडित (वैरिस्टर) थे, इसलिये उन्हे ट्रस्ट-सबधी बातो का ज्ञान था, उन्ही से सभवतः वे प्रभावित हुए हो, परन्तु कानून एक प्रकार का वह दर्पण है जिस मे समाज की प्रचलित विचार-धारा का दर्शन होता है, इसलिये 'ट्रस्ट' की कानूनी परिभाषा से गांधी को सतोष नही हो सकता था, क्यो कि वे प्रचलित विचार-धारा को ही बदल कर दूसरी विचार-धारा का समस्त समाज मे बहाना चाहते थे। कानूनी 'ट्रस्ट' मे प्रचलित लौकिक-पारलौकिक विचार-धारा से प्रेरित व्यक्ति-विशेष के भाव का निर्देश रहता है, इसलिये उस मे व्यक्त किया गया कर्त्तव्य-भार स्वार्थ-प्रधान रहता है, भले ही वह स्वार्थ पारलौकिक हो या उच्च श्रेणी का। फिर कानून के द्वारा सचालित कार्यों के सम्पन्न होने मे भय और परवशता का हाथ रहता है, प्रेम, स्वाधीनता, हर्ष और उत्साह का नही, जो गांधी-फिलासफी के सूत्रधार है। अतः हमारी समझ मे गांधीजी को हिन्दू-कौटुम्बिक जीवन के अनुभव से ही इस का प्रोत्साहन मिला होगा। हिन्दू-कुटुम्ब मे देखिये, किस उत्साह और प्रेम के साथ काम करने योग्य हर व्यक्ति अपनी-अपनी शारीरिक और बौद्धिक शक्ति के अनुसार, अपने-अपने काम मे, सुबह से शाम तक अथवा अन्य किसी उपयुक्त समय पर, मुस्तैदी और ईमानदारी के साथ जुटा रहता है, और यह सब इसलिये नही कि वह अपनी कमाई को आप खुद ही रखना चाहता है या कि उस का अधिकाश लेना चाहता है, वल्कि इसलिये कि उस का सारा कुटुम्ब उन्नत हो और सम्मान-पात्र बने, तथा उस के छोटे-बडे, लूले-अधे, बालक-बूढे, बहन-भतीजे आदि, आदि उस की कमाई से लाभ उठाएँ और वह खुद भी केवल उतना लाभ उठाए, जितना अत्यन्त आवश्यक हो। इस प्रकार सब सदस्यो की कमाई एकत्र रखी जाती है और उस सब का स्वामी घर का मुखिया होता है, जिस पर सब का विश्वास रहता है। यह मुखिया अपने अधिकार

का उत्तरदायित्व समझता है, एवं कर्तव्य-परायण रह कर, विराग और विवेक सहित सब की इकट्ठी कमाई का संरक्षण करता हुआ, जिस को जितनी जरूरत होती है उसके अनुसार, उस का वितरण करता है।[७३] इस तरह कुटुम्ब का हर व्यक्ति और मुखिया अपने को न केवल भौतिक द्रव्य का, बल्कि अपने-अपने विशिष्ट गुणों का भी कुटुम्ब-हित के लिये निक्षेपाधिकारी (Trustee) अर्थात् ट्रस्टी समझ कर श्रम करता रहता है। उसे न यह अपेक्षा रहती है कि कोई दूसरा सदस्य शाबाशी दे और न यह प्रलोभन रहता है कि उसे किसी कम कमाने वाले सदस्य से अधिक पुरस्कार मिले। मुखिया ही क्या, हर योग्य, बालिग (major) सदस्य का व्यवहार भी इसी तरह का हर निर्बल, असत्य, नाबालिग (minor) सदस्य के प्रति रहता है, इसलिये हम कहते है कि हिन्दू-कुटुम्ब मे जो आदर्श-ट्रस्टीशिप का लक्षण विद्यमान है, वह अन्यत्र नही। जब तक संसार इस आदर्श को नही अपनाएगा, अर्थात् जब तक वसुधा हिन्दू-कुटुम्बवत् (वसुधैव कुटुम्बक) नही होगी, तब तक साम्य-समाज का होना स्वप्नवत् ही रहेगा। इस प्रकार के कुटुम्ब को ही विनोबा भावे ने, साम्य-योग का प्रतीक कहा है। "साम्य-योग" मे उन का कहना है, "सब की समानता अन्दर से होती है जैसा कि कुटुम्ब मे होता है। वहाँ आत्मा और प्रेम की समानता होती है। प्रेम और आत्मा एक ही वस्तु है।"[७४]

गांवो के मन मे ट्रस्टीशिप का भाव जागृत करने वाला तीसरा कारण, हमारी समय मे, दान-प्रथा हो सकती है। हर देश वा समाज मे दान की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। इतिहास से पता चलता है कि दान देने की भावनाएँ प्रचलित जीवन-पद्धतियो के अनुकूल रहा करती है, और इसलिये वे समयानुसार परिवर्तित होती रहती है। प्राय यह देखा गया है कि प्राय ९०-९५ प्रतिशत दान स्वार्थमयी कामना से किया जाता है। एक स्वार्थ तो होता है लौकिक लाभ की कामना, जिस मे कीर्ति, सम्मान, उपाधि आदि सभी लौकिक बातें शामिल हैं। दूसरा स्वार्थ होता है, पारलौकिक लाभ की कामना, जैसे स्वर्ग पाने की, पुनर्जन्म होने पर पुण्य-फल मिलने की, मृत्यु होने पर तत्काल अथवा 'हुक्म सुनाने के दिन' (Judgement Day) पर ईश्वर द्वारा पारितोषिकादि प्राप्त होने की आशा

---

७३ मुखिया मुख सो चाहिये, खान-पान को एक।
पालै-पोसै सकल अंग, सहित विराग-विवेक।

[तुलसीकृत रामायण]

७४. दैनिक 'नवभारत' (जबलपुर), ता० १८ जनवरी १९५२ मे पीलीभीत से दिया हुआ भावेजी का वक्तव्य।

लगाये रहना। स्वार्थमयी इन कामनाओ से किया गया दान निम्न कोटि का होता है। उच्च कोटि का दान वह है, जो केवल कर्त्तव्य समझ कर प्रेममय सेवाभाव से पात्र को दिया जाता हे, यह हम यथा-स्थान बता चुके है। दान किसी भी भावना से दिया जाय, दानप्रथा यह सिद्ध करती हे कि मनुष्य मे अपनी सम्पत्ति को दूसरो के लाभार्थ वितरण करने की इच्छा और क्षमता रहती है, भले ही वह सीमित रूप मे प्रकट होती हो। इस दृष्टि से सम्पत्ति का स्वामी अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी ही हुआ। जब मनुष्य मे अपनी सम्पत्ति के कुछ अश को दूसरो के लाभार्थ देने की क्षमता रहती हे, तब क्या यह सम्भव नही कि वह सम्पत्तानुकूल दानाश को इतना बढा दे कि शेषाश इतना ही रहे कि जो उस को यथोचित रूप से जीवित रखने के लिये पर्याप्त हो। यदि कोई मार्क्सवादी यह उठा करे कि गाँधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धात अव्यावहारिक है, तो हमे यही कहना पडेगा कि वह अपने गुरु मार्क्स के ऐतिहासिक डायलेक्टिक्स के सिद्धात को ही ठुकरा देना चाहता हे। मनुष्य मे जो गुण आशिक रूप मे रहता हे, वही व्यवहृत किया जाय, तो समय पाकर धीरे-धीरे उन्नत हो जाता है, और उस मे शीघ्र परिवर्त्तन लाने के लिये विशेष प्रयत्न किये जायें, तो वह थोडे काल मे क्राति-रूप होकर प्रकट हो जाता है। मार्क्सवादी इस बात से इन्कार नही कर सकेगा। तब फिर यह क्यो कहा जाता है कि गाँधी की ट्रस्टीशिप वाली बात का समाज मे व्यावहारिक प्रचार शीघ्र होना असभव हे। ऐसे शका-ग्रस्त लोगो को चाहिये कि वे किसी भी देश या समाज के किसी भी युग का इतिहास उठा कर देखे। उन्हे इस बात की पुष्टि मे ऐसे अनेक लोगो के प्रमाण मिलेगे, जिन्होने अपने युग की प्रचलित विचार-धारा के अनुरूप अपनी सम्पत्ति का न केवल अल्पाश ही, बल्कि अधिकाश और सर्वांश भी दान दे डाला हे। हिन्दुस्थान का ही उदाहरण ले लीजिये। किसी एक युग मे साम्प्रदायिक मत के अनुसार स्वर्गादि की भावना से प्रेरित होकर मठ-मदिर-मसजिद आदि के लिये खुले हाथो दान दिया जाता था, तो किसी दूसरे युग मे जन-हित की भावना के कारण शिक्षालयो आदि के लिये दिया जाने लगा। कही पर धर्मशालाओ-सरायो पर खर्च किया गया, तो कही पर असहायो, या यात्री, साधुओ आदि को भोजन-वस्त्र वितरण के अभिप्राय से भोजन-वस्त्रागार खोले गये। जब समय ने पलटा खाया, तब पुण्य-भावनाओ ने सकुचित साम्प्रदायिक दायरे से, अथवा पारलौकिक स्वार्थ-क्षेत्र से उभरना और विस्तृत सार्वजनिक क्षेत्रो मे प्रवेश करना प्रारम्भ किया। फलत जमनालाल बजाज जैसे लोगो ने सत्याग्रह, खद्दर आदि के प्रचारार्थ प्राय सर्वस्व दे डाला। इसी सार्वजनिक भावना से प्रेरित होकर गाँधी ने, और उन की मृत्यु के बाद विनोबा भावे ने सम्पत्तिवानो के कान मे यह मत्र फूंका हे कि तुम अपने आप को अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी

समस्या, और उन में से उतना ही अपने लिये बचाओ, जितना जीवन के लिये आवश्यक है। बाकी सब बेकारी और भुखमरी को मिटाने के लिये दान दे डालो, चाहे वह दान-दाता के हाथ से जरूरत-मन्दों तक पहुँचा दिया जाय, या स्टेट अथवा अन्य किसी सार्वजनिक संस्था को इस हेतु अर्पण कर दिया जाय, क्यों कि दूसरों ने उन्हें बेकार और भुखमरा बनाया है। विनोबा भावे का वर्तमान भू-दान-यज्ञ का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया जा रहा है। उन [illegible] ने अपनी देश-व्यापी अहिंसक पद-यात्रा के समय भू-दान-यज्ञ में जो आश्चर्यजनक उत्तरोत्तर सफलता पाई है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि जिस लगन से साम्यवादी अपने हिंसात्मक प्रोग्राम को [illegible] वर्षों से चलाते जा रहे हैं, उसी लगन से यदि गांधीवादी अहिंसात्मक प्रोग्राम को चलाने लग जाएँ तो समाज में ट्रस्टी-शिप पद्धति का अविलम्ब शीघ्र कार्यान्वित हो जाना कोई कठिन बात नहीं है। विनोबाजी का कहना तो यह है कि वे अपने इस कार्य-क्रम के द्वारा जनता में वह विचार-मण्डल बना रहे हैं जिस से कि स्टेट सम-भाव से भूमि-विहीनों में भूमि-वितरण का काम आसानी से कर सके। यह है साम्य-योग की दान-क्रिया, अर्थात् सम्पत्ति-वितरण की पद्धति, जिस के अनुसार सम्पत्तिवान् स्वयं अपनी सम्पत्ति को, प्रेम-वश गरीब-बेकार-भूखे व्यक्तियों में हर्षपूर्वक बाँटने को अपना कर्तव्य समझने लगता है।

एक और कारण है, जिसे हम सर्वप्रधान कहें, तो उपयुक्त ही होगा। वह है गांधी की धार्मिक प्रवृत्ति, उन का सत्-असत् सम्बन्धी अथवा ईश्वर-सृष्टि सम्यक् ज्ञान और आत्मानुभव। जगत् का उत्पादक ईश्वर, कर्त्ता, भर्त्ता और दृष्टा के नाम से प्रख्यात है, न कि भोक्ता के नाम से। वह उत्पन्न करता है, इसलिये समर्थ है। समर्थ अर्थात् स्वामी होते हुए भी वह अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुओं को स्वयं न भोग कर दूसरों को यथावत् भोगने देता है। दूसरे उस की वस्तुओं के भोक्ता हैं। इसी में उसे आनन्द मिलता है और इसीलिये वह उन वस्तुओं को धारण किये रखता है, अतः वह कर्त्ता, भर्त्ता और दृष्टा उपाधियों से विभूषित है, न कि भोक्ता की उपाधि से। ये ही हैं ट्रस्टी के लक्षण। इन्हीं से विभूषित होने के लिये प्रयत्न करना मनुष्य का कर्तव्य है, क्यों कि वह अपने कर्त्ता ईश्वर का प्रतिरूप है। ऐसे ही लोग मनुष्य-समाज में ईश्वरीय सृष्टि के समान साम्य की स्थापना कर कल्याणकारी सिद्ध हो सकते हैं।

ट्रस्ट-सिद्धात के प्रचार के लिये अहिंसात्मक साधन—

इस तरह हमें ज्ञात हो गया कि ट्रस्ट-पद्धति को समाज में कायम करने के लिये गांधी सम्भवतः चार कारणों से प्रभावित हुए। वे चार हैं--ट्रस्ट का कानूनी पारि-

और साथ-ही-साथ उन अपराधी कहे जाने वाले पूंजीपतियो के विचारो को भी बदलने की चेष्टाएँ करते जाओ। इधर विचार-परिवर्तन की शिक्षा, उधर आत्मा-चरण का दृष्टान्त, यहाँ सिद्धान्त का प्रचार, वहाँ सिद्धान्त का आचार—जब ये दोनो कन्धे-से-कन्धा मिला कर समाज-क्षेत्र मे विचरते दिखाई देगे, तब पुज-पद्धति के स्थान मे ट्रस्ट-पद्धति का आ जाना निश्चय जानो, यह गाधी का निदान है। गाधी का यह तात्पर्य नही कि केवल समझाने-बुझाने से, विनम्र प्रार्थनाओ से अथवा व्यक्ति-गत इक्के-दुक्के आचारो से ही ट्रस्ट-पद्धति का शीघ्र सर्वत्र प्रचार हो जायगा। यह तो उन का मूल तरीका है ही, परन्तु इस के साथ ही उन्हे स्टेट की आवश्यक सहायता लेने मे भी कोई उजर नही है। यह सहायता ऐसे राज्य-कानून की हो जिस मे हिंसा न हो, इसलिये इस अभिप्राय से कि समाज पुज-पद्धति के दुर्गुणो मे दीर्घ-काल तक न उलझा रहे, गाधी ने यह स्वीकार किया कि यदि स्टेट साम्पत्तिक पुज-पद्धति को समाप्त कर देने मे योग देना चाहे, तो मृत्यु-कर, आय-कर अथवा अन्य ऐसे भारी कर लगाये, जिस से भविष्य मे साम्पत्तिक-पुजत्व को बढने का अवकाश न मिलने पाये। इसी तरह, यदि स्टेट वारसी-पन (heirship) और मुफ्ती आय को मिटाने के लिये कोई नवीन कानून बनाये, तो भी कोई हानि नही, क्यो कि इस प्रकार के बुद्धि-सगत कानून रोक के लिये होते है, इसलिये न उन मे अन्याय ही है और न हिंसा—वे विनाशक नही, प्रतिबंधक होते है। फिर भी गान्धीजी राज्य के हस्तक्षेप को अच्छा नही समझते। उन्हे तो अहिंसात्मक साधनाएँ ही मान्य है। किसी भी हालत मे वे उन कानूनो को सहन नही कर सकते, जिन के आधार पर किसी की न्यायपूर्ण प्राप्त की हुई जायदाद जब्त की जा सके, क्यो कि वे अन्याय-पूर्ण और हिंसात्मक होते है। इसलिये, अब हम इस निर्णय पर पहुँच गये कि पुज-पद्धति के स्थान मे ट्रस्ट-पद्धति को कायम करना आवश्यक है, और वह हिंसात्मक विधि से नही, अहिंसात्मक विधि से होना चाहिये। इस अहिंसात्मक विधि मे भी अहिंसात्मक असहयोग राम-बाण जैसा अचूक होता है। यदि हिंसात्मक साधनो का प्रयोग किया गया, तो गाधी का कहना है,—"मनुष्य उन दिव्य शक्तियो को खो बैठेगा, जिन के द्वारा उसे साम्पत्तिक सग्रह का हुनर मालूम रहता है। अहिंसात्मक असहयोग ही एक ऐसा अचूक साधन है, जो ट्रस्ट-पद्धति को ला सकता है, क्यो कि समाज मे धनवान बिना गरीब के सहयोग के धन-सग्रह नही कर सकता।"[७५]

ट्रस्ट-व्यवस्था सबधी कुछ प्रश्न और गांधी पर अर्द्ध-दिली हिंसा का आरोप—

"ट्रस्टीपन का मेरा सिद्धान्त", गाधी का कथन है, "कोई फिसलने वाली चीज

७५ 'हरिजन' २५-८-१९४०, पृ० २६०

नही है, और न वह कोई गाग्खवचा ही है। मुझे विश्वास है कि वह अन्य और सिद्धान्तो के बाद तक जीवित रहेगा, (क्योकि) वह तत्त्वदर्शन और धर्म के आधार पर स्थित है। यदि सम्पत्तिवानो ने अभी तक उस का अनुपालन नही किया, तो उस से यह सिद्ध नही होता कि सिद्धान्त ही असत्य है, उस से तो धनवानो की कमजोरी ही सिद्ध होती है। अहिंसा से मेल रखनेवाला अन्य दूसरा सिद्धान्त है ही नही।"[७६] ट्रस्ट के कायम हो जाने पर ट्रस्ट-सम्पत्ति और ट्रस्टी विषयक अनेक प्रश्न उठते है, जैसे ट्रस्टी का उत्तराधिकारी कौन हो सकेगा, ट्रस्टी को ट्रस्ट का भार संभालने के बदले मे क्या मिलेगा, ट्रस्ट-सम्पत्ति को सुरक्षित रखी जाने के लिये क्या साधन होंगे, स्टेट का कितना और किस प्रकार ट्रस्ट-सम्बन्धी कार्यों मे हस्तक्षेप रहेगा, इत्यादि। ये बातें भविष्य की है। भविष्य की बातें भविष्य ही कह सकता है, क्यो कि भविष्य मे न जाने क्या-क्या हो, फिर भी गांधी ने कुछ आवश्यक प्रश्नो पर सामान्य रूप से प्रकाश डाल दिया है। उन्होंने कहा है कि (१) ट्रस्टी के सिवाय जनता के और कोई उत्तराधिकारी नही,"[७७] और चूंकि राज्य जन-प्रतिनिधि कहलाता है, इसलिये राज्य ही, जब तक उस की स्थिति न मिट जाय, ट्रस्ट-सम्पत्ति को सम्हालनेवाला होगा। (२) ट्रस्टी को ट्रस्ट का कार्य-भार सम्हालने की एवज मे स्टेट से कमीशन मिला करेगा।[७८] (३) ट्रस्टी ट्रस्ट-सम्पत्ति की रक्षा अहिंसात्मक तरीके से करेगा। वह उस का समर्पण किसी भी आक्रमणकारी को नही करेगा, भले ही उस की जान चली जाय। उस के दिल मे बदला लेने का भाव कभी नही उठेगा।[७९] (५) यदि ट्रस्टी ट्रस्ट के कारोबार मे गफलत करे, तो स्टेट को अधिकार होगा कि ट्रस्ट-सम्पत्ति उस के अधिकार से ले ले। इस दृष्टि से यदि जमीदार या पूंजीपति ट्रस्टीशिप के आदर्श की अवहेलना करता पाया जाय और जनता की ओर से स्वतन्त्र प्रयत्न अपर्याप्त हो, तो स्टेट भिन्न-भिन्न प्रकार की जमीदारी प्रथाओ का खात्मा कर दे और मजदूरो के प्रतिनिधियो के साथ अनिवार्य केन्द्रित उत्पादन का स्वामित्व और प्रबंध ग्रहण करे।[८०] "सम्भव है, ऐसा करने मे स्टेट का अपहरण (जब्त) करने का किंचित

---

७६ Citations in Pol Phil of M Gandhi, p 96

७७ Pol Phil of M Gandhi, p 95

७८ Pol Phil of M Gandhi, p 95

७९ स्वयसेवक की प्रतिज्ञायें, सन् १९३० मे जोडे गये नियमो मे से नियम न० ५।

८०. 'हरिजन' २०-४-१९४०, cited in Pol Phil at p 355

का आश्रय अत्यन्त सूक्ष्म हिंसा के साथ लेना पड़े।' " इस वाक्य को पढ कर बहुत सभव है, बहुतेरा के मन मे गाधी के शुद्ध अहिंसात्मक भावाकाश मे हिंसा की काली रेखा प्रतीत होने लगे। श्री धवन ने इस सन्देह का निराकरण यह कह कर करना चाहा है कि "यद्यपि परिस्थितियो मे समानता लाने का जो कर्त्तव्य स्टेट का है, उन को पूर्ति करने के लिये गाधीजी ने स्टट को जब्त-क्रिया की अनुमति (concession) दे दी है, तथापि वह अनुमति आधे दिल मे दी हुई प्रतीत होती है, क्यो कि वे राज्य के हस्तक्षेप मे अविश्वास प्रकट करते है और ट्रस्टीपन के तथा ग्राम्य-जनसमूहो (village communities) अर्थात् ग्राम्य-पचायतो जैसे छोटे-छोटे खटो की मालिकी के अधिकतर हिमायती है। वे व्यक्तिगत मालिकी से सबधित हिंसा को स्टेट की हिंसा से कम हानिकारक मानते है।"८२ परन्तु हमे गाधी जैसे अटल अहिंसा के पुजारी के हेतु यह रक्षणकारी उत्तर निर्बल और फीका मालूम पडता है। गाधी जैसे दृढ निश्चयी के कार्य-कोष मे अर्द्ध-हृदयी बातो को कोई स्थान प्राप्त नही हो सका। उन के हृदय मे दृढ निश्चय का वास रहता था, और यदि उस निश्चय ही मे भूल पाई जाती, तो वे खुले आम उस से पीछे हट जाना श्रेयस्कर समझते थे। तब फिर कोई दूसरा ही कारण होना चाहिये, जिस ने उन्हे यह कहने के लिये बाध्य किया हो कि आवश्यकता होने पर स्टेट अत्यन्त सूक्ष्म-हिंसा के साथ जब्त-क्रिया को उपयोग मे ला सकती है। गाधी के उक्त कथन को, जिस मे जब्त कर लेने की अनुमति दी गई है, बारीकी से पढे, तो विदित होता है कि यह जब्त-क्रिया उस समय के लिये कही गई है, जब कि कोई जमीदार या पूंजीपति ट्रस्टीशिप के आदर्श की अवहेलना करे। इनसे यह सिद्ध होता है कि जब किसी स्टेट मे जनमत के आधार पर ट्रस्टीशिप का कानून बना लिया गया हो और जब वह कानून इस तरह से भग किया गया हो कि ट्रस्टीशिप के आदर्श को ही धक्का पहुँचे, तब स्टेट जब्त-क्रिया का उपयोग कर सकता है। गरज यह कि जब्त-क्रिया जन-प्रिय राज्य-कानून को भग करने वाले के लिये उसी प्रकार दड-स्वरूप है, जिस प्रकार चोर, कातिल या अन्य राजाज्ञा भग करने वाले दडित किये जाते है। इस जब्त-क्रिया का प्रयोग उस समय तक न हो सकेगा, जब तक ट्रस्टीशिप का कानून न बनाया गया हो। यो तो जहाँ तक गाधी जी का खुद का सबध है, वे हिंसात्मक उपायो से चोरो, कातिलो आदि को भी दण्ड नही देना चाहते, और स्टेट को भी यही सलाह देते है, परन्तु जनमत ने जब तक स्टेट को पूर्ण अहिंसात्मक नही बना पाया है, तब तक यदि उसे प्रबध के हेतु

---

८१ Pol Phil, p 356

८२ Pol Phil of M Gandhi, P 356

मानवकि -शक्ति मानव-समाज की अप्रत्यक्ष सम्पत्ति होती है, जो कर्मरूप होकर प्रत्यक्ष हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य को अपनी प्रत्यक्ष सम्पत्ति का ट्रस्टी वन कर रहना चाहिये, उसी प्रकार उसे अपनी अप्रत्यक्ष-सम्पत्ति-रूप आतरिक शक्तियो का भी ट्रस्टी होना चाहिये। यदि आन्तरिक शक्तियो का उपयोग उसने ट्रस्टी समझ-कर नही किया, तो वाह्य सम्पत्ति का ट्रस्टी वनना सम्भव न हो सकेगा, क्यो कि वाह्य साम्पत्तिक-रूप उन्ही आन्तरिक शक्तियो का फलरूप रहता है। यथार्थ मे शक्ति एक है। वही हर मनुष्य मे विद्यमान रहती है और वही भिन्न-भिन्न कर्मो या कर्म-फलो के रूप मे प्रकट होकर भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगती हे, इसलिये यदि समूची दृष्टि से इस शक्ति का वर्णन किया जाय, तो कह सकते हे कि यह वह शक्ति हे, जिस का स्वाभाविक गुण है, कर्म करने का, अथवा श्रम करने का, अत उसे हम श्रम-शक्ति कहे, तो उचित होगा। यह श्रम-शक्ति किसी मनुष्य मे किसी एक क्षेत्र मे, किसी एक अच्छे प्रकार से प्रकाशित हो उठती है, तो किसी दूसरे मे कुछ दूसरे प्रकार से असस्कृत रूप मे। श्रम-शक्ति के ज्वलत प्रकाश को वहुधा गुण या सद्गुण सज्ञा दी जाती हे और इन गुणो से सम्पन्न मनुष्य को गुण-सम्पन्न कहते ह, इसलिये गाधी का यह निर्णय है कि मनुष्य अपनी श्रम-शक्ति का उपयोग उस का ट्रस्टी ही वन कर किया करे, चाहे वह साधारण मजदूर की श्रम-शक्ति हो, या चतुर-प्रवीण इन्जीनियर की, चाहे वह भुखमरे या वेकार की हो, या पूंजीपति अथवा सलग्न कर्मचारी की। जव मनुष्य अपने-आप को अपनी श्रम-शक्ति का ट्रस्टी समझ कर उत्पादन करेगा, तव वह अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुओ का केवल उतना ही भाग अपने उपभोग मे लायगा, जितना उसे आवश्यक है। शेष वचे भाग को वह जनता मे वितरणार्थ छोड देगा। जव हर श्रमिक—हर मनुष्य श्रमिक ही होता है—अपने-आप को श्रम-शक्ति का ट्रस्टी समझ कर काम करेगा, तव उस मे दूसरो के हेतु प्रेम-पूर्वक कर्म करने का उत्साह वढेगा और स्वार्थ, लालच, असत्य की प्रवृत्तिया घटती जाएँगी। परिणाम यह होगा कि उत्पादन की वृद्धि होगी और वितरण मे ममता आने लगेगी। इसलिये गाधी का कथन है कि "श्रम और पूंजी दोनो आपस मे एक दूसरे के ट्रस्टी वन कर काम करे और दोनो उपभोगियो (consumers) के भी ट्रस्टी वने।"[८५]

वैतनिक श्रम और उदर-पोषी श्रम मे भेद

श्रमिक ट्रस्टी की भावना से प्रेरित होकर उत्पादन करे, यह वात तो, आप कहेगे, सही मान ली जा सकती है, पर सव से पहला और वडा प्रश्न तो यह ह कि

---

८५ 'हरिजन', २५-६-१९३८, पृ० १६२।

बेकार या भुखमरा या अधपेटा मजदूर कहाँ से इतनी शक्ति ला सकता है कि वह अपने गुजर-बसर के लिये पैदा कर ले और जो अधिक बचे उसे हर्ष-पूर्वक समाज में वितरण होने दे, इसलिये वह कौन सा उपाय है, जिससे गांधी सब को भर-पेट भोजन और काम देने का वायदा करते हैं। गांधी की वह योजना है, सर्वोदय की, जिसकी एक प्रधान झलक है—ग्रामोद्योग-साधना। इस साधना पर कहने के पूर्व हमें यह जानना जरूरी है कि गांधी के मन में श्रम-शक्ति को कायम बनाये रखने के लिये उसे कौन-सी और कितनी सामग्री चाहिये और उस का मार्क्स-मत से क्या भेद है। हम पहले जान चुके हैं कि मार्क्स की लड़ाई थी वैतनिक-श्रम (wage-labour) के लिये, अर्थात् उन श्रमिकों के लिये जो वेतन लेकर मजदूरी करते थे। जिस समय उसने श्रमिकों का प्रश्न उठाया था, उस समय पश्चिम के सभी देशों में घरू और ग्रामीण उद्योगों का अन्त हो चुका था और मशीन-युग आ गया था, जिसके कारण लोगों के व्यक्तिगत हाल-रोजगार मिट चुके थे। शहरों में उद्योगों का केन्द्रीकरण हो गया था और उसमें भी अधिक होता जाता था। उद्योग ही क्या, व्यापार, यातायात के साधन आदि भी पूंजीपतियों के हाथ में और भूमि जमींदारों के हाथ में थी। इस तरह सब ओर से वेतन पर गुजर-बसर करने वाले मजदूरों की संख्या बढ़ रही थी, जिन्हें समय-समय पर बेकारी का सामना करना पड़ता था, और बहुधा अधपेटा रह कर ही बैल-जैसा जुतना पड़ता था। बेकारी होना और पूरी मजदूरी न पाना, ये दो बातें श्रमिकों के संबंध में बड़ी खटकनेवाली थीं। मार्क्स को वे खटकीं। उसे मालूम हुआ कि इसके दोषी पूंजीपति और भूमिपति ही हैं, क्यों कि वे ही अपने-अपने नफ़ों के द्वारा सब अतिरिक्त मूल्य को चाट जाते थे, और मजदूर को, जितना वह पैदा करता था, नहीं देते थे; इसलिये मार्क्स के दिमाग में यह बात समाई कि मजदूर बेकार न रहने पावें और उस का वेतन भी बढ़वाया जाय। वेतन शब्द ही इस बात का द्योतक है कि एक मालिक है और दूसरा उस का नौकर—एक काम देनेवाला और दूसरा उस पर काम व दाम दोनों के लिये आश्रित रहनेवाला। इससे यह स्वयं-सिद्ध है कि मार्क्स ने परावलम्बी श्रमिक को परावलम्बी ही रखना चाहा है, वेतन वह भले ही लड़-भिड़ कर बढ़वा ले। आधुनिक ट्रेड-यूनियन्स, श्रमिक-संघ आदि चाहे वे एकदेशीय हों या सार्वदेशिक, सबके सब इन परावलम्बी श्रम को अधिक वेतन दिलाकर मुक्त कराने की सोचते रहते हैं। उन्हें यह ध्यान में नहीं आता कि परावलम्बी क्या कभी मुक्त हो सकता है, वह तो सदा मुँहताज ही बना रहेगा। आज पूंजीपति या भूमिपति है तो कल दूसरा 'पति' हो जायगा भले ही आप उसे स्टेट आदि किसी सुन्दर नाम से पुकारने लग जावें। आखिरकार इन लोगों का स्टेट भी तो बहुसंख्यक दल का रहेगा, भले ही वह श्रमिक-दल का क्यों न हो।

बहुसंख्यक दल सदैव ईमानदारी और निस्स्वार्थ भावना के साथ ही शासन करेगा और अल्पसंख्यकों पर अपना मत न ठूँसेगा, इस में सन्देह है। आज की परिस्थितियाँ और मार्क्स की शिक्षा तो यहाँ तक बताती है कि वर्तमान स्टेट नाममात्र का बहुसंख्यक श्रमिक दल का होता है, क्योंकि यथार्थता तो रहती है श्रमिकों की तानाशाही। तानाशाही का पक्ष-समर्थन मार्क्सवादी किसी भी आधार पर क्यों न करे, वह आखिरकार तानाशाही ही रहेगी। फिर क्या विश्वास कि उदार अकबर के बाद कट्टर औरंगजेब नहीं आयेगा। किसी भी दृष्टि से देखिये मार्क्सवाद ने श्रमिक को वैतनिक बना कर उसे परावलम्बी ही रखा है—स्वावलम्बी नहीं बनाया और न बनाने की कोई योजना बनाई। 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' को उठा कर पढ़ लीजिए, उस में एक ओर तो द्विवर्गीय संघर्ष और छीनछान करने की बात है और दूसरी ओर उत्पादन का केन्द्रीकरण करने की। तात्पर्य यह है कि मार्क्सवादी ही क्या, सारी "आधुनिक दुनिया 'प्राप्त' करने पर बहुत अधिक ध्यान केन्द्रित करती है, तथा 'बनने' पर बहुत कम, परन्तु महात्मा (गांधी) का मन्तव्य है—'रुको' और बनो।"[८६] 'बनने' में न तो कार-विरोध-संघर्ष का भाव है, और न परावलम्बन का। उस में स्वावलम्बन का ही भाव ओत-प्रोत है। गांधी ने चाहा कि श्रमिक स्वावलम्बी बने—न वह किसी से काम पाने की टोह में रहे, और न उसे किसी से वेतन लेने-देने का बखेड़ा उठाना पड़े, इसलिये उन्होंने 'भर-पेट भोजन' (Bread labour) की योजना निकाली। इस भर-पेट भोजन वाली बात को समझने के लिये संयुक्त हिन्दू-कौटुम्बिक जीवन को फिर से याद कीजिए। हर सदस्य अपनी शक्ति के अनुसार काम करता है। वह कितना ही अधिक क्यों न कमाए, उस का उद्देश्य यह कदापि नहीं रहता कि घर का मुखिया अथवा अन्य और कोई व्यक्ति उसे उस की कमाई का पूरा भाग दे, या कि कमाई के अनुपात में अधिक भाग दे। उस का एकमात्र ध्येय यह रहता है कि उसे भर-पेट भोजन मिलता जाय और उस की सारी कमाई का उपभोग कुटुम्ब के सभी नन्हे-बड़े सदस्य अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार करते रहें। अब यदि इस भर-पेट भोजन वाले श्रम-सिद्धान्त की तुलना वैतनिक श्रम-सिद्धान्त से करें, तो यह प्रकट हो जाता है कि इस में प्रेम, उत्साह एवं स्वावलम्बन है, जब कि दूसरे में विरोध, भाड़े के टट्टू-जैसा निरुत्साह और परावलम्बन रहता है।

उदर-पोषक श्रम (Bread labour) की व्युत्पत्ति

प्रश्न यह उठता है कि यह भर-पेट भोजन वाली बात गांधी के मन में कैसे उठी। यह उठी उस स्वदेश अथवा परिवर्ती स्थिति को देख कर, जहाँ उन्होंने अपना

---

८६ लुई फिशर कृत 'गांधी और स्टालिन' (हिन्दी) पृ० २०८

कार्य-क्षेत्र बनाया था। हिन्दुस्थान उन का कार्य-क्षेत्र था। वहाँ के भुखमरेपन से वे पहले ही परिचित थे, परन्तु विशेष मात्रा मे प्रभावित करने वाला उस का प्रत्यक्ष स्वरूप उन्हे हमारी समझ मे उस समय दिखा, जब सन् १९१८ मे अहमदाबाद के मजदूरो की हडताल हुई और मिल मालिको और मजदूरो के बीच वेतनसबधी समझौता हो जाने पर मिल-मालिको ने खुशी मे मिठाई वितरित कराई, जिस का वर्णन हम पहले भी कर आये है। उस समय की दशा को देख कर गांधी ने अपनी 'आत्मकथा' मे लिखा है कि "मिठाई बाटने की खबर पाकर अहमदाबाद के भिखारी वहाँ जा पहुँचे थे और उन्होने कतार तोड कर मिठाई छीनने के प्रयत्न किये। यह करुण-रस था। यह देश फाकेकशी से ऐसा पीडित है कि भिखारियो की सख्या बढती ही जाती है और वे खाने-पीने के लिये सामान्य मर्यादा लोप कर रहे है। धनिक लोग ऐसे भिखारियो के लिये काम ढूढ देने के बदले उन्हे भीख देकर पालते है।"[87] देश की यह दुर्दशा क्यो, कब और कैसे हुई, इस के विषय मे हम कुछ प्रकाश चौथे अध्याय मे डाल आये है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि मार्क्स के सम्मुख तो केवल पूँजीपतित्व से उत्पन्न दुर्दशाओ का प्रश्न था, परन्तु गांधी के सम्मुख पूँजीपतित्व के नगड-दादा विदेशी-पतित्व से उत्पन्न काले कारनामो का सवाल था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आने से पहले, हिन्दुस्थान की औद्योगिक और व्यापारिक स्थिति किस उन्नत दशा मे थी, इसे जानने के लिये किसी भी निष्पक्ष इतिहासज्ञ के ग्रन्थ को पढ लीजिए और नही तो अग्रेज लेखक सर विलियम हन्टर, एम० एच० विलसन, अथवा जेम्स मिल, कोल ब्रूक, लायल या फ्रेजर के ही 'ब्रिटिश-इडिया' पर लिखे ग्रन्थो को ही देख जाइये और फिर देखिये कि ईस्ट इडिया कम्पनी ने किस अधर्म के साथ उन का सर्वनाश कर दिया। ढाका की जगत्-प्रसिद्ध मलमल, काश्मीर के दुशाले, दिल्ली के काढे हुए रेशमी कपडे इत्यादि स्वप्न की बाते हो गई है। ईस्ट इडिया कम्पनी अपनी ब्रिटिश गवर्नमेन्ट की सहायता से आर्थिक बेईमानियो और धूर्तताओ मे इतनी रत रही कि उस ने न केवल उद्योगो और व्यापार को ही नष्ट कर दिया, बल्कि देश को आपस मे लडा-लडा कर तबाह कर डाला जिससे धनहानि हुई और बेकारी बढी। डॉक्टर रसेल ने ठीक ही लिखा है कि "ईस्ट इडिया कम्पनी का एकमात्र महान् लक्ष्य और उद्देश्य यह रहता था कि जितनी जल्दी हो सके और जितनी बडी-से-बडी धनराशि हो सके उस देश से निचोड ली जाय और फिर अपना मतलब पूरा करते ही सदा के लिए देश छोड दिया जाय।"[88] जब अग्रेज सरकार

---

८७ 'आत्म-कथा', खड २, पृ० ३८३

८८ 'भारत मे अग्रेजी राज्य', भाग १, पृ० ३९-४० पर उद्धृत।

ढकने का जरिया भिक्षा या दान हो। वे चाहते थे कि ये अपने पैरों के बल खड़े हों, अर्थात् काम करें और कमायें, परन्तु पराये काम को करावें और उन से वेतन ले कर उदर-पोषणादि कराना उन्हें पसन्द नहीं था, क्यों कि ऐसा करने में परावलम्बन तो बना ही रहता है, जो चाहे मजदूरों को ठुकरा सकता है। तब फिर इन्हें रोटी-भाजी स्वतन्त्र रूप से किस तरह मिले—इस बात का विचार गांधी के मन में उठा। उन्होंने इन सब को सब से पहले एक तरीक़ा बताया कि हर व्यक्ति हाथ से चरखा चला कर सूत काता करे और उस की आमदनी से अपना उदर-पोषण किया करे। यहाँ तक तो आप कहेंगे, ठीक है, क्यों कि शब्दार्थ की दृष्टि से 'ब्रेड-लेबर' उस शारीरिक श्रम का द्योतक है, जिस के द्वारा रोटी-भाजी अथवा उदर-पोषण की सामग्री मिल जाया करे, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से उस का अर्थ उन सब शारीरिक श्रम का होता है, जिस के द्वारा न केवल खाद्य पदार्थ ही प्राप्त हो सके, वरन् जीवन की अन्य और मूल आवश्यकताओं की भी सामग्री पैदा की जाती है।"[९१] यह विस्तृत शास्त्रीय भाव, आप पूछेंगे, गांधी ने कहाँ से पाया? सम्भव है, आप कहें कि यह भाव गांधी को टॉल्सटाय और रस्किन से मिला होगा, जैसा कि धवनजी के इस लेख से प्रकट होता है। उन्होंने "दी गीता अकार्डिंग टू गांधी" (The Gita According to Gandhi) का उद्धरण देकर लिखा है कि "सब से पहला मनुष्य, जिस ने ब्रेड-लेबर (Bread labour) शब्द का निर्माण किया, वह है एक रूसी लेखक, बान्डरिफ नाम का। बाद में उस भाव का अधिकतर प्रचार टॉल्सटाय और रस्किन ने किया, और गांधीजी इस सिद्धान्त के लिये इन दोनों महानुभावों के ऋणी हैं।"[९२] चूँ कि मूल में 'indebted' शब्द का प्रयोग किया है, इसलिये हम ने उस का अनुवाद 'ऋणी' करना ही उपयुक्त समझा, हालाँ कि उस का अनुवाद आभारी भी किया जा सकता है। ऋणी या आभारी कहने से सदा केवल यह अर्थ नहीं निकलता कि आभारी ने स्वयं दूसरे से कुछ पा लिया हो। साधुवृत्ति के पुरुष का स्वार्थ केवल व्यक्तिगत नहीं हुआ करता।

---

९१ " 'Bread' is symbolic of unavoidable primary necessities of life " अर्थात् रोटी जीवन की अनिवार्यमूल आवश्यकताओं का चिन्ह होती है। Pol Phil of Mahatma Gandhi', p 100

९२ "The first person to coin the term 'bread-labour' was the Russian writer Bonderff later the idea was given wider publicity by Tolstoy and Ruskin , and Gandhiji is indebted to these two for the Principle ,'

(Pol Phil of M Gandhi, F N P 100)

परार्थ ही उस का स्वार्थ होता है, इसलिये जो परार्थ की साधना करे, चाहे वह साधन आभारी के विचारानुकूल हो अथवा उससे भिन्न, दोनो स्थितियो मे साधु उस का उपकार मानता हुआ उस का ऋणी अथवा आभारी हर्ष-पूर्वक बन जाता है। सम्भव है, इसी दृष्टि से मूल लेखक ने यह लिखा हो कि "गाधीजी इस सिद्धात के लिये इन दोनो के ऋणी है। सिद्धात तो, हमारी समझ मे, गाधीजी के मन मे हिन्दुस्थान की भुखमरी और नगेपन ने, पहले ही उत्पन्न कर रखा था। नगापन भुखमरी का सहचर रहता है, इसलिये जनसेवक को जनता की भूख मिटाने की फिक्र के साथ तनाच्छादन की फिक्र रहती है। अत यह निश्चित है कि 'ब्रेड-लेबर' कहने से गाधी के मन मे केवल उदर-पोषक श्रम का ही विचार नही, तन ढाँकने का भी रहा होगा। इन के आगे जब हम हिन्दू कौटुम्बिक जीवन की कसौटी को हाथ मे लेकर गाधी के 'ब्रेड लेबर' को कसौटी पर कसने लगते हैं, तब तो इस मे सन्देह ही नही रहता कि वह न केवल उदर-पोषक और तनाच्छादक श्रम को, बल्कि समस्त मूल आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाले श्रम को भी पार कर जाता है और उस से भी अधिक व्यापक रूप धारण कर लेता है, अर्थात् हिन्दू कुटुम्ब मे कोई भी सदस्य अर्थ-हेतु कैसा भी शारीरिक श्रम क्यो न करे, उस सब मे उस का अभिप्राय केवल पेट-भर भोजन कर लेने और बाकी का वितरण कर देने का रहता है, जो ट्रस्टीशिप का द्योतक है। इसीलिये गाधी ने कहा है कि "यदि सब अपनी रोटी के लिये काम करने लग जायँ, तो वर्गीकरण के भेद समाप्त हो जायेंगे। फिर भी धनी रहेंगे अवश्य, परन्तु वे अपने-आप को अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी (निक्षेपधारी) समझने लगेंगे, और उस का प्रयोग प्रधानत जन-हित के लिये करेंगे।"[१३]

इसके बाद जब हम इस बात पर विचार करते है कि तत्कालीन परिस्थितियो मे मार्क्सवादी विचार-धारा की बाढ को रोकने के लिये गाँधी को अपने सिद्धातो के लिये प्रधानत अग्रेजी भाषा का साधन अपनाना पडा था, तब हमे यह प्रतीत होता है कि कदाचित् उन्होने 'ब्रेड-लेबर' शब्द का प्रयोग इसलिये किया हो क्यो कि उक्त महानुभावो के द्वारा उस का प्रचार अग्रेजी-भाषा-भाषियो मे प्रारम्भ हो चुका था। परतु, शब्द का ऋण ले लेने से हमे उस समय तक, जब तक कि गाँधी की स्पष्ट स्वीकृति न दिखाई जाय, यह विश्वास नही होता कि उन के द्वारा प्रयोग किये गये 'ब्रेड-लेबर' शब्द मे उन का जो ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त है, और अर्थोत्पादक और वितरण-सबधी समस्त शारीरिक श्रम का भाव निहित है, वह भी उन्होने उन्ही लोगो से पाया। गाधीजी टॉलसटाय और रसकिन के विचारो से प्रभावित हुए, इस मे सन्देह नही, क्यो कि

---

१३. Non-violent Socialism' (N P H Ahmedabad), p 15-16

शरीर-शून्य, अर्थात् प्रकृति-सुषुप्त सज्ञा है, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अहकार से लेकर स्थूलातिस्थूल शरीर पर्यन्त सभी कार्य शारीरिक श्रम की सज्ञा मे आ जाते है, और उन सब का समावेश लौकिक क्षेत्र मे किया जाता है। उस के परे जो होता है, वही पारलौकिक नाम से प्रसिद्ध है , परतु इस लौकिक क्षेत्र को भी दो विभागो मे विभक्त कर दिया है—एक जो सूक्ष्मता-प्रधान है, उसे मानसिक क्षेत्र कहते है, और जो स्थूलता-प्रधान है, केवल उसे ही शारीरिक क्षेत्र कहने लगे है। सच पूछा जाय, तो मानसिक क्षेत्र मे जो अहकार, मन, बुद्धि आदि का व्यापार चलता है, वह सब शारीरिक श्रम ही कहा जाने योग्य है, क्यो कि श्रम, कर्म अथवा कृति ही शरीर सज्ञा है। परतु, जब तक वह मानसिक व्यापार-लोक मे स्थूल रूप मे प्रकट नही हो जाता, तब तक उस की गणना लौकिक श्रम मे नही की जाती। इस 'अ' नाम के व्यक्ति को देखिये। वह कुछ सोच-विचार रहा है। उस की दृष्टि से उस मे मानसिक श्रम की क्रिया चल रही है, परतु समाज वा उस खुद की दृष्टि से वह शारीरिक श्रम-शून्य कहायेगा। यदि वही सोच-विचार कर लेने के पश्चात्, अथवा सोच-विचार करता हुआ कुदाली लेकर मिट्टी खोदने लगे, हल-बखर से कृषि करने लगे या शस्त्रादि लेकर युद्ध मे जूझ पडे, तो उस का मानसिक श्रम शारीरिक श्रम मे परिणत कहा जायगा, जिस का मूल्य लौकिक समाज मे किया जाता है। साराश यह कि मानसिक श्रम के भी दो भेद होते है—एक अप्रकट और दूसरा प्रकट। व्यावहारिक क्षेत्र मे अप्रकट मानसिक श्रम अर्थात् सकल्प, मननादि का कोई मूल्य नही, भले ही वह आत्मोन्नति की दृष्टि से लाभदायक हो। जो मानसिक श्रम प्रकट स्वरूप हो जाता है, उस मे भी उसी प्रकट स्वरूप का मूल्य गिना जाता है, जो केवल व्यक्तिगत अथवा सामाजिक व्यावहारिक क्षेत्र से सबधित हो। यदि 'अ' मनन करता हुआ तीर्थ-यात्रा करने के लिये चलता फिरे, या टुन टुन करता हुआ पूजा करने बैठे, अथवा उठ-झुककर नमाज पढे, तो इस प्रकार के शारीरिक श्रम का भी कोई मूल्य नही। मूल्य केवल उस श्रम का माना जाता है, जो लौकिक गति मे योग दे। जब 'अ' का मानसिक श्रम कृषि, युद्ध आदि के रूप मे प्रकट किया जाता है, तभी उस का मूल्य होता है। परतु, हमारे विषय का प्रयोजन सभी प्रकार के लौकिक श्रम से नही है। हमे केवल उतने ही शारीरिक श्रम से मतलब है, जो व्यक्तिगत और सामाजिक आर्थिक गति से सबधित रहता है , इसलिये 'ब्रेड-लेबर' अर्थात् उदर-पोषक श्रम मे केवल उतने ही शारीरिक श्रम का समावेश किया जाता है। जो समाज की उत्पादन, वितरणादि आर्थिक गतियो से सबधित हो, न कि राजनीतिक, यौद्धिक आदि अन्य गतियो से। गाधी का वाक्य है कि "निरा मानसिक श्रम आत्म-प्राप्ति के लिये होता है।" वह अपने-आप मे सतोष

विचार-पूर्वक देखने से समझ मे आ सकता है कि उत्पादन से वितरण का मामला कठिन है, हालाँ कि यह भी सत्य है, जैसा कि मार्क्स का कहना है, कि यदि उत्पादन पद्धति-सिद्धान्तानुकूल भली-भाँति साधी जा सके, तो वितरण के प्रश्न को हल करने मे कोई कठिनता नही रहती।[१०२] यदि हर व्यक्ति समाज को कुटुम्ब समझ कर काम करने लग जाय, तो वह अपने आवश्यक व्यय से बची हुई कुल अपनी रोजाना अथवा माहवारी या सालाना की कमाई किसी एक व्यक्ति के हाथ मे अपने-आप ही सौंप दिया करेगा, जिसे समाज ने वितरण-कर्ता मुखिया स्वीकार कर लिया हो। समाज-रूपी कुटुम्ब का यह मुखिया कोई ऐसी ही सर्व-प्रिय सस्था हो सकती है, जिस के हाथ मे वसूली और वितरण की व्यवस्था अच्छी तरह चल सके। इसी सस्था को बहुत प्राचीन काल से आज तक स्टेट या राज्य कहते चले आ रहे है, आगे वह जो कुछ भी कही जाय। परन्तु, इतिहास को जानने वाले कहते है कि ऐसा न कभी हुआ नही और न होने की सभावना ही है कि मनुष्य केवल उतना ही खर्च करे, जितना कि उस के जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है, और शेष को वह अपने-आप ही राज्य के हाथ मे निश्चित् समय पर सौंप दिया करे तथा सौंप देने पर राज्याधिकारी उस का यथावत् वितरण कर दे, इसलिये इन लोगो का कहना है कि स्टेट को बल का प्रयोग करना ही पडेगा। मनुष्य की इस स्वार्थमयी मनोवृत्ति से गाँधी अनभिज्ञ थे, यह बात तो कदापि नही कही जा सकती, परन्तु उन का कहना यही रहा कि स्टेट भी बल अर्थात् हिंसा का प्रयोग न करे। हर व्यक्ति के समान स्टेट को भी अहिंसा मे इतना अभ्यस्त होते जाना चाहिये कि अत मे हिंसा का नामोनिशान ही मिट जाय। तब तक स्टेट सर्जन के समान हिंसा का प्रयोग उसी समय करे, जब वह नितान्त आवश्यक हो, और वह भी इतनी थोडी मात्रा मे किया जाय कि जिस के बिना काम चल ही न सकता हो। यह हुई गाँधी के अहिंसात्मक राज्य की एक छोटी-सी झाँकी, जो कम-से-कम हिंसा का प्रयोग करके समाज की कमाई को बढवाये और उस कमाई का आवश्यक भाग छोड कर शेष को अपने अधिकार मे करके उसे पूरी सचाई और ईमानदारी के साथ जनता मे न्यायोचित रूप से वितरण करे। इस कमाई को वसूल करने के अनेक तरीके है, जैसे करो का लगाना, उत्तराधिकारत्व का अत करना, इत्यादि, परन्तु उन से हमारा यहा कोई प्रयोजन

---

१०२ "Karl Marx regards all systems of distribution, past or present, simply as the necessary out come of prevailing methods of production"

(Gide's Principles of Economics, p 454)

नही है और न हमे यह जानने की यहाँ जरूरत है कि सार्वदेशिक या सार्वजनिक सम्पत्ति का आँकडा किन-किन विभागो के कैसे-कैसे आँकडो के द्वारा जाना जाता है। यहाँ तो हमे गाँधो के उस वितरण-सिद्धात की ही जाँच करना है, जिसे वे न्याय्य समझते थे। गाँधी ने जब समाज का यह आर्थिक प्रश्न उठाया, उस समय न्याय्य वितरण सबधी नीचे लिखी भावनाओ का प्रचार था—

"(१) हर एक को सामाजिक सम्पत्ति का सम भाग या एक बराबर हिस्सा (equal distribution) मिले।

"(२) हर एक को उस की आवश्यकताओ (wants) के अनुसार मिले।

"(३) हर एक को उस की योग्यता (merits) के अनुसार मिले।

"(४) हर एक को उस के काम करने (work) के अनुसार मिले।"[१०३]

ये सभी भावनाएँ अब भी समाज मे विद्यमान है और उन्ही के आधार पर आज भी श्रमिक और पूँजीपतियो का सघर्ष चलता रहता है तथा श्रमिक-सघ एव राज्य उसे सुलझाने के प्रयत्न करते रहते है। इन मे से कौन-सी भावना समाज मे पहले उठी और फिर किस क्रम से अन्य भावनाओ का उद्भव हुआ, यह कहना कठिन प्रतीत होता है। यदि समाज-विस्तार की दृष्टि से देखा जाय, तो यह मालूम होता है कि जब समाज कुटुम्बादि के लघु रूपो मे विभक्त था, तब सम्पत्ति-विभ जन समान रूप से होता था, क्यो कि उस समय भूमि अधिक और मनुष्य कम थे, और भूमि ही उस समय प्रधान सम्पत्ति थी। परन्तु, जब मनुष्य-सख्या बढी, भूमि की कमी हुई, सामन्तशाही का विस्तार हुआ तथा पूँजीवाद ने जड जमाई, तब इस भावना ने जोर पकडा कि जो जितना सामाजिक उत्पादन मे योग दे, वह उतना ही उस मे से ले सकता है। इसी सिद्धात की उपशाखाएँ ऊपर न० ३ और ४ मे बताई गई भावनाएँ प्रतीत होती है। इस के बाद जब पूँजीवादी पद्धति ने लोगो को इतना मुहताज कर दिया कि उन्हे भूखो मरने और नगे रहने तक की नौबत आ पहुँची, तो यह स्वाभाविक था कि समाज-सेवियो के हृदय मे उन के प्रति दया उठा। उन्होने देखा कि इस तरह की बेकारी से व्यक्तिगत दुर्दशा होती ही है, पर समाज भी आर्थिक हानि काफी उठाता है, अत उन्होने यह सिद्धात निकाला कि हर मनुष्य को उस की आवश्यकतानुसार सामाजिक सम्पत्ति मे से लेने का अधिकार हो। इस के विपरीत यदि स्वार्थ या बाहुबल की दृष्टि से देखा जाय, तो उक्त भावनाओ के क्रम मे उलट-फेर हो जाता है, और ज्यो-ज्यो हमारा परार्थ-विकास हुआ, अर्थात् पाशविक सभ्यता से मानुषिक सभ्यता की ओर बढे, त्यो-त्यो हमने सम-भागीय वितरण की बात कही,

---

१०३ Gide's Principles of Economics, p 454 (Ed 1911)

और फिर उस को अड़चनें देख कर यह भी बताया कि जिस को जो आवश्यकता हो, उसे उतना ही दिया जाय। यह कौटुम्बिक न्याय है, जिसे गांधी ने अपनी आर्थिक योजनाओं में काफी स्थान दिया है। इस कौटुम्बिक नीति के अनुपालन की बात सब से पहले गांधी ने सुझाई, हमारा तात्पर्य यह कहने का नहीं है। कुटुम्ब की उपमा पहले ही समाजवाद में दी जाती थी। अर्थशास्त्री जीड ने लिखा है कि "हर निष्पक्ष विचारशील व्यक्ति को स्वीकार करना होगा कि वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों में सम-भागीय वितरण निरर्थक प्रलाप है। चूंकि हर प्रकार के वितरण से केवल नई-नई विषमताएँ पैदा होंगी, इसलिये यह क्यों न मान लिया जाय कि सम्पूर्ण सम्पत्ति हर व्यक्ति की है, और समाज का हर व्यक्ति एक ही कुटुम्ब का सदस्य है? जैसा कि कुटुम्ब में होता है, वैसा ही हर मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उपभोग करे। यह है हर प्रकार के समाजवाद का सब से सीधा-सच्चा और पुराना सिद्धांत।"[१०४] गरज यह कि उक्त भावनाएँ किसी भी क्रम से उत्पन्न हुई हों, पर उन में से किसी एक का भी लोप अर्थक्षेत्र में अभी तक नहीं हो पाया है। सब अपनी टाँग अड़ाई हुई हैं। कोई ऐसी नहीं, जो सर्वथा निर्दोष हो। किस में क्या दोष और क्या गुण हैं, इस पर विचार करने से अनावश्यक विस्तार बढ़ जायगा, इसलिये अब हमें गांधी के ही वितरण-सिद्धांत पर आ जाना चाहिये।

गांधीजी का वितरण-सम्बन्धी विचार जानने के लिये इस से अधिक स्पष्ट वक्तव्य और क्या हो सकता है, जो उन्हों ने कहा है, कि "मेरा आदर्श तो सम वितरण का है, परन्तु जहाँ तक मुझे दिखाई देता है, वह प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये मैं न्याय्य वितरण (equitable distribution) के लिये कार्य करता हूँ।"[१०५] उन का कहना है कि "आर्थिक समता का यह अर्थ कदापि न समझना चाहिये कि हर व्यक्ति को एक बराबर लौकिक पदार्थ मिलेंगे। हाँ, उस का यह अर्थ अवश्य होता है कि हर एक को रहने के लिये उचित मकान, खाने के लिये पर्याप्त और संतुलित भोजन, और पहनने और ओढ़ने के लिये काफी खादी मिलेगी। उस का यह भी अर्थ होता है कि आज-कल जो दुष्ट विषमता फैली हुई है, वह निष्कलंक अहिंसात्मक साधनों के द्वारा हटा दी जायगी।"[१०६] यह सब, उन का कथन था, केवल वाणी और कलम के बल पर नहीं हो सकता। "मैं", उन्होंने कहा, "लोगों को अपनी निजी विचार-धारा परिणत करके अहिंसा के द्वारा (इस) आर्थिक समता को ले

---

१०४ Gide's 'Principles of Economics', p 459

१०५ Young India, III, p 124 (cited in Pol Phil, on p 102)

१०६ 'हरिजन', १८-८-१९४०, पृ० २५३ (cited in Pol Phil p 221)

आऊगा ... मैं उस समय तक के लिये नही ठहरूगा, जब तक कि पूरा समाज मेरे विचार जैसा न हो जाय, वरन् फौरन अपने-आप प्रारम्भ कर दूंगा ... इस हेतु मुझे अपने-आप गरीब से भी गरीब की हालत को अपना लेना है।"[१०७]

समान स्वत्व की बात सुन कर धनी-मानो मे भय और निराशा के बादल छा जाया करते है, और दरिद्र-गरीब मे आशा-रश्मियें। वे साथ-साथ तेजोमय उद्दण्डता भी लहराने लगती है, इसलिये धनी तो उस की बुराइयां कर गरीब को बहकाना शुरू करता है, और गरीब उस का राग अलाप कर धनी को दहलाता है। इस का मूल कारण यह प्रतीत होता है कि दोनो समानत्व के यथार्थ भाव को समझते ही नही। वे यह समझते है कि स्त्रीत्व और पुरुषत्व मे, बालकपन और वृद्धपन मे, दो सेर आटा खाने वाले पहलवान और आध पाव दूध पाकर जीने वाले बच्चे अथवा बीमार मे कोई भेद नही रहेगा, क्यो कि सब का एक समान हक प्राप्त है—सब को एक समान सम्पत्ति सीधे-सीधे नही, तो टेढ़े-टेढ़े ले लेने का अधिकार है। समानत्व का यह कुतर्कपूर्ण स्वय लगा लेने से वातावरण दूषित हो जाता है। इस का उत्तरदायित्व हमारी अल्प-बुद्धि के अनुसार उन्ही महानुभावो पर होना चाहिये, जिन्होने शब्द-चयन किया है। सिद्धांत-सूचक शब्दो का चुनने मे विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। समानत्व (equality) का चुनाव हमारी समझ मे प्रशंसा की फुलझडियो अथवा सभ्यासभ्य के विचार से प्रभावित होने अथवा देखा-देखी के वशीभूत होने के कारण किया गया है, ताकि लोग उस की ओर आकर्षित हो। यदि ऐसा न होता, तो सम-वितरण या सम-स्वत्व न कह कर कोई ऐसा शब्द कहते, जिस मे न्याय्य, साम्य, समन्वय (harmony) या साम्य समत्व (harmonious equality) का भाव रहता। जो स्वर्थ केवल, 'समता' शब्द कहने मे लगा लिया जाता है, वह 'साम्य-समत्व' कहने मे नही लगाया जा सकता, क्यो कि साम्य या समत्व कहने मे उस समता का भाव रहता है, जो भिन्नता मे सट कर बैठाई जाती है अर्थात् हर चीज अपने स्थान पर सटा रहे, यह भाव उसमे रहता है। चूंकि इस सतर्कता से शब्द-चयन नहीं किया गया, इसलिये लोगो ने 'समता' का अनर्गल अर्थ लगाना प्रारम्भ किया, जिस का परिणाम गांधी, मार्क्स और उन के अनुयायियो को भुगतना पडा। दोनो को समझाना पडा कि हमारे 'समता' शब्द का अर्थ इतना व्यापक नहीं है, जितना कि लोग समझ बैठे है। दोनो को बताना पडा कि हम ने उस का प्रयोग साभिप्राय-गुण-प्रदर्शन के लिये किया है। दोनो को कहना पडा कि हमारा अभिप्राय केवल न्याय्य भाव (equatibility) प्रकट करने का है। गांधी ने जो कुछ

---

१०७ 'हरिजन', ३१-३-'४६ पृ० ६४ (Pol Phil पृ० २२१ पर उद्धृत)

इस विषय में कहा है, वह ऊपर दिये हुए उद्धरण से प्रकट हो जाता है। मार्क्सवाद के सम्मुख भी जब वही कठिनाई आई, अर्थात् जब लोगों ने यह कहना शुरू किया कि "साम्यवादी तो व्यक्तित्व को ही मिटा देना, हर एक को एक ही समतल पर ले आना, और प्रवृत्तियों, रुचियों, यहाँ तक कि शक्तियों को भी एक ही घाट उतारना चाहते हैं,"[१०८] तब उन्हें कहना पड़ा कि "मार्क्सवाद का अर्थ यह नहीं कि वह व्यक्तिगत आवश्यकताओं और व्यक्तिगत जीवन को ही एक समान कर देना, या कि प्रवृत्तियों और शक्तियों को एक धरातल पर ले आना चाहता है मार्क्सवाद तो इस आधार को लेकर चलता है कि मनुष्य की रुचियाँ और आवश्यकताएँ चाहे गुण-दृष्टि से देखिये, चाहे संख्या-दृष्टि से, न एक-सी हैं, न बराबर हैं, और न हो सकती हैं, चाहे समाजवाद का काल हो या साम्यवाद का काल।"[१०९] जब

---

१०८ M D Kammari's 'Socialism and the Individual' p 29

१०९ "Marxism means not equalization of individual requirements and individual life, and not a levelling of inclinations and capabilities, but the *abolition of classes*, i e (a) the equal emancipation of all working people from exploitation after the capitalists have been overthrown and expropriated, (b) the equal abolition for all of private property (अर्थात् बुर्जुआई सम्पत्ति—यह अंश मेरा है) in the means of production after they have been converted into the property of the whole of the society, (c) the equal duty of all to work according to their ability, and the equal right of all working people to receive remuneration according to the amount of work performed (*Socialist Society*), (d) the equal duty of all to work according to their ability, and the equal right of all working people to receive remuneration according to their needs (*Communist Society*) Further more Marxism proceeds from the assumption that people's tastes and requirements are not and cannot be, identical equal in quality or in quantity, either in the period of socialism or in the period of communism" [J V Stalin's 'Problems of Leninism', Moscow, 1947, pp 502-03, cited in 'Socialism & the Individual', p 31]

कला के कारण वह। समाज कह जाने योग्य है—की उन्नति होने पर व्यक्ति अपने-आप उन्नत हो जायगा। गांधी का उद्देश्य है कि रचना करना प्रारम्भ हो जायगा। तो उस के आड़े आने वाली परिस्थितियाँ अपने-आप विनाश को प्राप्त होती जायेंगी, और मार्क्स का उद्देश्य है कि पहले घातक स्थितियों का नाश करो, तो रचना आप-से-आप होती जायगी। इस के अतिरिक्त यह बात भी है कि न तो गांधीवाद करादि का आश्रय लेकर अहिंसात्मक तरीकों के द्वारा विरोधात्मक स्थितियों का विनाश करने के लिये मना करता, और न मार्क्सवाद ही रचना करने के लिये मना करता है। इसी तरह विकेन्द्रीकरण और स्वावलम्बन के विषय में समझना चाहिये। जब तक समाज राज्य-विहीन स्थिति पर न पहुँच जाय, तब तक कुछ उद्योगों एवं आवागमन के साधनों का बड़े पैमाने पर चलाया जाना न रोका जा सकेगा। गांधी चाहते यह हैं कि यदि ऐसे कुछ उद्योगों का चलना अनिवार्य हो, तो उन में मुनाफाखोरों का उद्देश्य न रहे और वे ग्रामोद्योगों के बाधक न बन सहयोगी बनें।[110] स्वावलम्बन अथवा स्वराज के विषय में भी गांधी का कहना है कि पूर्ण स्वावलम्बन प्राप्त करने के पहले कुछ-न-कुछ ऐसे कार्यों का रहना अनिवार्य होगा, जिन में राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता रहेगी, इसलिये सच्चे स्वराज या स्वावलम्बन का अर्थ वर्त्तमान परिस्थितियों में यही है कि राज्य-हस्तक्षेप की मात्रा घटाते जायँ। रही बात अहिंसा की, सो यह जान ही चुके हैं कि गांधी ने हिंसा को बिल्कुल स्थान नहीं देना चाहा। यदि आज हिन्दुस्थान में गांधी के नाम पर गांधीवाद की बार-बार दुहाई देकर अहिंसादि इन स्तम्भों के विरुद्ध कार्य करते हुए लोग देखे जा रहे हैं, तो उस में गांधीमत का दोष नहीं। यह ऐतिहासिक सत्य है कि सिद्धांत-प्रवर्त्तक के अनुयायी कहलाने वाले सत्ता-प्राप्त लोग ही प्रवर्त्तक के मत की यथार्थता का नाश करना प्रारम्भ कर देते हैं, और इसलिये ऐसे सत्ताधारी दल के विरुद्ध दूसरा दल खड़ा हो जाता है। यही कशमकश आज हिन्दुस्थान में चल रही है। यह दल है विनोबा भावे, मशरूवाला आदि के नेतृत्व में काम करने वाला सर्वोदय दल, जो सत्ताधारियों पर लगाम चढ़ाना चाहता है और गांधी की सर्वोदय नाम की आर्थिक योजना को पूर्णतः कार्यान्वित करने-कराने में जुटा है। गांधी की सर्वोदय-योजना क्या है? वह ऐसी ही योजना है, जिसमें उक्त पाँचों स्तम्भ लगे हुए हैं। उन में से यदि एक भी अलग किया कि गांधी-योजना से च्युत हुए। इस सर्वोदय-योजना की संक्षिप्त वार्ता पहले यथास्थान बताई जा चुकी है। अब यहाँ उस के मुख्य अंगों पर विचार करेंगे।

---

११० 'हरिजन', २७-१-१९४७, पृ० ४२८

(1) **सर्वत्र खादी प्रचार**—इस सर्वोदय की रूपरेखा गांधी ने उसी समय जनता के सम्मुख रख दी थी, जब दक्षिण अफ्रीका से लौट कर उन्होंने हिन्दुस्थान को अपना कार्य-क्षेत्र बना लिया था। कितनी कठिन समस्या थी उस समय की। सिर पर महान् ब्रिटिश साम्राज्य की तलवार, हिन्दू-मुसलिम अनैक्य, छुआछूत का भूत, अज्ञान की खाई, कुशिक्षा का कुमार्ग और भुखमरी की भरमार—ये सब गांधी की ओर आंखे तरेर कर देख रहे थे। पर गांधी उन की आंखो को देख कर डरा नही। उस दुबले-पतले मुट्ठी-भर के पुतले ने आत्म-बल की हुकार भर के सब से भिड जाने की ठान ली। सब से लडना शुरू कर दिया और जैसा कि ऊपर कह आये है, गरीब-से-गरीब बन लँगोटी लगा ली, झोपडी मे रहने लगा और रूखी-सूखी या फल-फूल खा या बकरी का दूध पीकर निर्वाह करने लगा, क्यो कि वह इसके लिये नही ठहर सकता था कि पहले सब उस के मत के हो जायँ। जो देश अन्य देशो को पहनने के लिये उत्तम से उत्तम कपडे भेजता था, वह विलायत के मेनचेस्टर आदि स्थानो के कपडो पर निर्भर हो जाय और गरीबो को तन ढांकने के लिये कपडा न दे सके—यह उससे न सहा गया, इसलिये उसने घर-घर चर्खा चला कर सूत कातने, बुनने और खादी पहनने का आदेश दिया। साथ-ही-साथ हाथ से कपास ओटने, रुई धुनने और धुनी हुई रुई की पौनी बना लेने का भी प्रचार किया, ताकि कपडा बनाने की कोई भी ऐसी क्रिया न रहे, जिस के लिये मशीन या विदेशियो पर निर्भर रहना पडे। अधकार से निकालने वाली, भूख और बेकारी से बचाने वाली, अतिरिक्त समय का सदुपयोग कराने वाली, रुपया-धेली की पूंजी से चल पडने वाली, जाति-भेद को मिटाने वाली, यह थी सर्वोदय की प्रथम रश्मि। मेनचेस्टर आदि के महीन कपडो से मुग्ध होने वालो और विशाल मशीनयुग मे पले हुओ ने ठठोली करना प्रारम्भ किया, जैसा कि हर नवीनता को भोगना पडता है, पर वह किरण डूब न सकी, प्रखर होती ही गई। परतु, सत्ताधारियो ने आखिरकार वैज्ञानिक युग और सभ्यता के ढिंढोरे पीट कर, और प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता की धुलेंडी मचा कर उसे फीकी कर डाला है, क्यो कि उन्होंने उस की कल्याणमयी प्रभा को विद्वत्ता की चकाचौंध मे परख नही पाया। यह चर्खा-खादी वाला उद्योग, गांधी की आर्थिक योजना का मुकुट है। उस मे स्वावलम्बन, अहिंसा, विकेन्द्रीकरण, रचना और व्यक्तित्व कूट-कूट कर भरे हुए है। वह भूखे को भोजन और नगे को कपडा देने वाला तो है ही, पर समाज को भी साथ-ही-साथ अर्थ-सम्पन्न करने वाला है। चर्खा और खादी की महत्त्वपूर्ण प्रशसा गांधीजी ने पग-पग पर की है। उन्होंने तो यहां तक कहा है कि यदि ग्रामीण आर्थिक स्थिति को सौर्यमण्डल की उपमा दी जाय, तो खादी सूर्यरूप है और अन्यान्य दस्तकारियां

तारागणरूप।[111] खादी भोलेपन और इसलिये जीवन की पवित्रता की प्रतीक है, और चर्खा अहिंसा का, क्यो कि उसमे दरिद्रनारायण का सेवा-भाव विद्यमान है।[112] इन्ही भावो मे प्रेरित होकर गांधीजी ने कहा कि "मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि चर्खा सयुक्त राज्य अमेरिका और सारे ससार के लिये सदेशवाहक है।"[113] इस खादी-प्रचार की योजना के अन्तर्गत कुछ काल पश्चात् सेवाग्राम (वर्धा) मे रेशमी वस्त्र बनाने की योजना भी शामिल की गई, जिस के हेतु रेशम के कीडो का पालन-पोषण भी सिखाया गया, जो ग्रामोद्योग योजना का एक शाखा-रूप है।

(11) **भूमि-वितरण और कृषि**—सम्भव है, आप कहे कि जब हिन्दुस्थान मे भुखमरी का सवाल था, तो गांधी को पहले अन्नोत्पत्ति की बात सुझानी चाहिये थी, न कि चर्खा चलाने, सूत कातने या खादी पहनने की। निश्चय ही पेट-भर भोजन मिलने का पहला सवाल था और वही आर्थिक गति का पहला सवाल बना रहेगा, परन्तु उस समय अन्नोत्पत्ति का इतना अधिक आवश्यक प्रश्न नही था, जितना कि अन्न-प्राप्ति का था, और इस अन्न को प्राप्त करने का जितना सुगम और व्यापक साधन चर्खा चला कर सूतादि कातने का था, उतना अन्य कोई दूसरा नही था। इसी-लिये आर्थिक आकाश-मण्डल मे चर्खा को सूर्य की उपमा दी गई है और कृषि को नक्षत्रमात्र की, क्यो कि कृषि मे खादी के समान वह सामर्थ्य नही थी कि वह मानसिक गुणो को जागृत कर सके।[114] इसके अतिरिक्त अन्नदायिनी भूमि भी भूखो के हाथ मे न थी, इसलिये भूमिहीन भूखो के लिये एक ऐसे साधन जुटाने की आवश्यकता थी कि जिस का आश्रय सरलतापूर्वक लिया जा सकता और जिस के द्वारा कपडा और कम-से-कम पेट पालने लायक आमदनी हर व्यक्ति पैदा कर सकता, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि गांधी की दृष्टि उस समय कृषि और अन्नोत्पत्ति के प्रश्न

---

१११ Young India, III, p 84

११२ Political Philosphy, पृ० २२४ पर दिये उद्धरणो के आधार पर।

११३ "I do feel that it (the spinning wheel) has a message for the U S A and the whole world" (cited in Pol Phil at p 225)

११४ "Agriculture is not the sun but one of the planets because agriculture as it cannot by itself develop the faculties of mind as Khadi can" 'New Horizons in Khadi Work' cited in Pol Phil, p 224

पर थी ही नही। उन्होंने उसी समय से लोगों को सचेत कर दिया था कि उन्हे शहरो की ओर न भाग कर ग्रामों मे बसना प्रारम्भ कर देना चाहिये और कृषि तथा अन्य ग्रामीण उद्योगों की ओर ध्यान देना चाहिये। "गाँव को वापिस जाओ" (back to village) का नारा प्रचलित हो चला था , परन्तु जब तक भूमिपतियो मे भूमि न मिले और उस मिली हुई भूमि का वितरण भूमि-हीनो मे न हो जाय, तब तक गाँव मे जाकर बसा जाने मे क्या लाभ ? इसलिये कुछ काल के पश्चात् गाँधी ने ट्रस्टीशिप का सिद्धात पेश किया और भूमि-विहीनो मे वितरण करने के हेतु भूमि-प्राप्त करने के लिये अन्य उपाय भी बताये। लेकिन ट्रस्टीशिप का सिद्धात केवल सिद्धात बन कर रह गया। कोई ऐसा भूमि-पति न निकला, जो अपनी भूमि के किसी भी भाग का खुशी-खुशी त्यागने को तैयार हो, अत जब हिन्दुस्थान विदेशी राज्य से मुक्त हुआ, तब विशेषकर गाँधी की मृत्यु के बाद, जनतान्त्रिक शासन ने भिन्न-भिन्न प्रातो मे भूमि-पतित्व मिटाने के लिये यथोचित कानून बनाना प्रारम्भ कर दिया। इस कार्य के प्रति जन-रुचि उत्पन्न हो, उस मे व्यापकता आ जाय एव राज्य-सरकार के सम्मुख उस हेतु उपयुक्त वायुमण्डल तैयार हो जाय इस अभिप्राय से विनोबा भावेजी ने अद्वितीय पद-यात्रा आरम्भ कर दी, जो अभी चल रही है, और जिस के कारण हजारो आदमियो ने सहस्रो एकड भूमि का दान भूमि-हीनो मे वितरणार्थ भावेजी का दे दिया है।

भूमि-हीनो मे भूमि-वितरण का कौन-सा तरीका और सिद्धात स्वीकार किया जायगा और कौन-सा यूनिट रखा जायगा, यह जहाँ तक हमे मालूम है, गाँधीजी ने कही खोला नही। अभी तो यह खबर फैल रही है कि एक यूनिट ३० एकड या २० एकड का होगा। एक व्यक्ति को या निश्चित् सदस्य-सख्या के एक कुटुम्ब को उक्त परिमाण से भूमि मिलेगी, या उससे कम-बढ, अभी कुछ नही कहा जा सकता, पर हवा को देखते हुए हमे डर है कि हवा के प्रवाह मे बह कर एक व्यक्ति या एक कुटुम्ब केवल एक एकड अथवा एकड का चतुर्थांश, पचमांश या अष्टाश आदि ही पा सके जैसा कि अभी कम्यूनिस्ट चीन मे चल रहा है और जिस की प्रशसा की जा रही है।[११५] अत्यन्त छोटे-छोटे टुकडो से लाभदायक उत्पादन न हो सकेगा और सामाजिक उत्पादन की मात्रा मे कमी आ जायेगी, इसलिये सहकारी पद्धति (Co operative system) का आश्रय लेना पडेगा, जैसा कि चीन मे प्रयोग किया जा रहा है। भूमि-वितरण का यूनिट क्या होगा, यह तो गाँधी ने नही बताया, पर वे यह अवश्य कह गये है कि समाज मे उत्पादन का काम सहकारिता से किया जाना लाभदायक होगा,

---

११५ A B Patrika (All), August 1952 (?)

क्यो कि वही एक माध्यमिक सीढी है, जिस पर से होते हुए समाज सयुक्त उत्पादन की स्थिति पर पहुँच सकेगा—सयुक्त उत्पादन, जिस मे व्यक्तित्व अथवा भिन्नत्व का लोप हो जायगा, पर अभेद रूप से एकत्व का प्रसार हो उठेगा।

भूमि-वितरण का महत्त्व केवल इसलिये है कि अन्नोत्पत्ति यथाविधि काफी हो और समाज मे अन्न की कमी के कारण कोई भूखा न रहने पाये। कोई भूखा न रहे, इसीलिये कृषि की प्रधानता और अन्नदान की श्रेष्ठता प्राचीन काल से ही मानी जा रही है। हिन्दुस्थान मे तो हमेशा से गली-गली मे "उत्तम खेती, मध्यम वान, निकृष्ट चाकरी भीख निदान" कहा-सुना जाता रहा है। तब फिर अन्नोत्पत्ति की ओर गाँवो का ध्यान न जाय, यह कैसे हो सकता था!

(iii) ग्रामोद्योग (Village industries)—गाली खाना, ठट्ठा सहना, मार-पीट या जेलादि भोगना और बहुधा पराये हाथ प्राणान्त हो जाना—ये चार यत्रणाएँ महान् क्रातिकारी को पहिचान के चिन्ह है। गाँधी को इन चार गतियो से गुजरना पडा, क्यो कि वे समाज मे चतुर्दिक महान् क्राति लाना चाहते थे। जब राजनीति मे उन्होने खुले-आम सत्य व्यवहार की बात कही, तो कुछ राजनीतिज्ञो ने उन्हे राजनीतिक क्षेत्र का नवजात शिशु (a child in politics) कहा, जब अहिंसात्मक सत्याग्रह के द्वारा दुश्मन के हाथ से कुतर जाने तक के लिये तैयार रहने पर उफ तक न करने की बात की, तो पिटना-घिसटना सहा, जब वर्ग या जाति-भेद तथा छुआछूत को जड से खोदने के लिये अग्रसर हुए, तब तिरस्कार की बौछार पडी। जब लकडी के एक छोटे-से चर्खे के द्वारा ब्रिटिश-साम्राज्य को उडा देने की आवाज उठाई, तो व्यग-पूर्ण हँसी-मजाक सहा , और इसी प्रकार जब यह जोर लगाया कि गाँव मे बसो, हाथ से आटा पीसो, चाँवल कूटो, बडी-बडी मशीनो से पिण्ड छुडाओ, आपस मे या ग्राम-पचायतो द्वारा झगडे निबटाओ इत्यादि, और जब ग्रामीण जीवन की बातें दिखाई, तो सभ्यता की छाप लगे, असम्भव कहने वाले लोगो की तानाबाजी बरदाश्त की। कहा गया कि गाँधी कितना नासमझ है कि चलती हुई सभ्यता की घडी का काँटा पीछे को हटा कर प्राचीन असभ्य जीवन को अपनाने के लिये बकता फिरता है , परन्तु गाँधी ने अपने जीवन-काल के ३०-४० वर्षो मे जो कुछ परिवर्त्तन कर दिखाया, वह किसी से छिपा नही है। वही मजाक उडाने वाले, मार-पीट करने को उद्यत रहने वाले लोग आज उन की सराहना करते हुए पाये जाते हैं। हिन्दुस्थान ही नही, अन्य देशो के विद्वान् लोग भी इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि समाज का उद्धार शहर मे वास करने और बडे-बडे कल-कारखानो मे काम करने से नही होगा। जहाँ तक हिन्दुस्थान का प्रश्न है, वहाँ तक तो गाँधी की ग्रामोद्योग की नीति सर्वमान्य हो चुकी है और उस को व्यवहार मे

लाने के लिये कुछ प्रयत्न भी किये जा रहे है , परन्तु जो कुछ प्रयत्न हो रहे है, वे अभी शिथिल ही है, क्यो कि कार्यकर्त्ताओ का मन अभी केन्द्रीकरण-पद्धति मे अटका हुआ हे और ग्रामोद्योग पद्धति की ओर सदिग्धतावश झुका नही है। सदिग्धता सदैव से विनाशमूलक मानी गई है, इसलिये भविष्य ही बता सकेगा कि हिन्दुस्थान ने गाँधी की ग्रामोद्योग-नीति का कहाँ तक पालन किया। ग्रामोद्योग को गाँधी ने कही कुटीरोद्योग (cottage industries) और कही दस्तकारी (handicrafts) भी कहा है। चूँ कि प्रधानता-उप-प्रधानता की दृष्टि से ग्रामोद्योगो की सख्या अधिक है, और आगे बढाई भी जा सकती है, इसलिये उन सब उद्योगो का नाम गिनाते बैठना, समय को बरबाद करना ही होगा, अत ग्रामोद्योग के विषय को निम्न विभागो मे विभक्त करके ही हमने तत्सम्बन्धी गाँधीनीति का अध्ययन करना-कराना उपयुक्त समझा है—

(क) **ग्राम-निवास**—यह तो हम देख ही चुके है कि गाँधी जन-समाज मे समता की स्थापना करना चाहते है, और उन्होने उस समता की व्याख्या करते समय यह आश्वासन दिया है कि हर व्यक्ति को रहने के लिये स्थान, खाने के लिये भोजन और पहनने के लिये कपडे मिलना ही चाहिये। वस्त्र और भोजन-सबधी योजनाओ के विषय मे अभी हम ऊपर कह ही आये है। अब निवास-स्थान के विषय मे चर्चा करना जरूरी है। ग्राम-निवास गाँधी की आर्थिक योजना का एक प्रधान विषय है। इस के दो कारण है। एक तो, मशीन-युग की केन्द्रीकरण पद्धति के कारण शहरो मे जन-सख्या अधिक हो रही थी, जिस के फलस्वरूप लोगो को रहने के लिये पर्याप्त स्थान की कमी हुई, तथा आबहवा, सफाई, स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडा, और दूसरे, ग्रामोद्योग को सफल बनाने के लिये ग्राम-निवास पहले होना ही चाहिये। इन ग्राम-निवासियो मे दो प्रकार के आदमी होंगे—एक वे, जो शहरो से जाकर किसी ग्राम मे बसे, और दूसरे वे जो पहले ही से वही के निवासी हो। इन दोनो प्रकार के आदमियो के रहने के लिये कुछ नये मकान बनाने पडेगे। जो नये मकान बने, वे सुढगे, कम कीमती, हवा-प्रकाशदार, कुछ दूर-दूर, सिलसिलेवार, प्राय एक नाप-तौल के हो, ताकि वे सफाई, हवा और स्वास्थ्य-प्रद हो। गली और रास्ते बीच-बीच मे काफी चौडे छोडे जाय। गरज यह कि हर घर सुन्दरता और शुद्धता का प्रतीक हो। इसी तरह बने-बनाये मकानो या झोपडियो का बेतुकापन, मैला-कुचैलापन आदि भी मिटाया जायँ। धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार ग्रामवासियो के लिये प्रकाश, पानी आदि की सुविधा ग्राम-पचायतो आदि के द्वारा कराई जाय। कालान्तर से पाठशालाएँ, वाचनालय आदि खोले जायँ। सक्षिप्तत गाँधी हर ग्राम को आदर्श ग्राम (model village) बनाना चाहते थे। आदर्शपूर्ण

जीवन-सचार करने के लिये गांधी चाहते थे कि हर ग्राम मे कुछ सेवा-भाव-ग्राही स्वयसेवक या सत्याग्रही जाकर बसें, जो अपनी शिक्षा और कर्तव्य-परायणता के द्वारा ग्रामवासियों को योग्य और ईमानदार नागरिक बनायें। यदि आवश्यकता हो, तो इन स्वयसेवकों मे से जो गरीब हो, उन्हे कुछ काल तक अन्न या मुद्रा के रूप मे उतना वेतन भी दिया जाय, जितना उन के लिये नितात आवश्यक हो, और बाद मे जब वे ग्रामोद्योगो के द्वारा पर्याप्त कमाने लग जायें अथवा जब ग्राम-निवासी खुद सहायता देने लग जायें, तब वेतन बन्द कर दिया जाय।[116] यह रूपक है गांधी के ग्राम-निवास की, जिस मे लौकिक वृद्धि और व्यवस्था के साथ-ही-साथ नैतिकता और धार्मिकता का सयोग मिलता है।

(ख) स्वच्छता, स्वास्थ्य और चिकित्सा—पुस्तक के अन्त मे परिशिष्ट सूची न० ४ को देखिये। उन मे आप को विदित होगा कि गांधी के रचनात्मक कार्यों मे ग्राम की सफाई, स्वास्थ्य तथा स्वच्छता सबधी शिक्षा एव प्राकृतिक चिकित्सा का भी समावेश किया गया है। इन्हे भी आर्थिक योजना के आवश्यक अग समझना चाहिये। जब तक ग्राम-वासी स्वच्छ न रहेगे, तब तक स्वस्थ न हो सकेंगे। यदि स्वस्थ न हुए, तो उत्पादन के हेतु श्रम-शक्ति का यथोचित उपयोग न हो सकेगा। फलत समाज के अर्थोत्पादन का ह्रास होगा। जहां तक प्राकृतिक चिकित्सा का विषय है, गांधीजी ने स्वय अपने ऊपर प्राकृतिक उपचारो का प्रयोग कर के उन के लाभ-प्रद प्रभावो को सिद्ध कर दिखाया है। मिट्टी का प्रयोग, सूर्य-किरणो का प्रयोग आदि दृष्टात रूप जानिये। यो तो सभी चिकित्साएँ प्राकृतिक होती है, क्यो कि ससार ही प्रकृतिमय है। यदि प्राकृतिक वस्तुओं के प्राकृतिक गुणो का सयोग न किया जाय, तो किसी प्रकार भी औषधि ही तैयार न हो, और इसलिये कोई चिकित्सा भी न हो सके , परन्तु व्यवहार मे प्राकृतिक चिकित्सा कहने से यह व्यापक अर्थ नही समझा जाता। उस का अस्तित्व एलापैथी, यूनानी, आयुर्वेदिक, होमियापैथी इत्यादि औषधि-पद्धतियो के समान सीमित अर्थ मे माना जाता है। उस की विशेषता यह है कि किसी वैद्य, डॉक्टर, हकीम या अन्य रसायन-शास्त्री के नैपुण्य की आवश्यकता नही। गांधी-योजना मे प्राकृतिक चिकित्सा का ठीक अर्थ जानने के लिये आप 'हिन्द-स्वराज्य' (Indian Home Rule) के बारहवें अध्याय को पढ लीजिये, जहां पर गांधी ने बताया है कि डॉक्टरी या वैद्यकी धधा समाज के लिये हानिकारक है। डॉक्टर आप के शरीर को नीरोग कर देता है , पर उस मन को

---

११६ सन् १९४५ मे A I S A का वेतन देने का प्रस्ताव था। गांधीजी ने उस की स्वीकृति दे दी थी। देखो Pol Phil , p 202

नही सुधार सकता, जिस को चचलता के कारण आप अपनी आतरिक प्राकृतिक व्यवस्था को तोड-मरोड डालते है और फलत रोग-ग्रस्त हो जाते है। शरीर के नीरोग हो जाने पर आप पुन पुन प्राकृतिक व्यवस्था की अवहेलना करने लग जाते है, क्यो कि बाहरी उपचार से आप अपने मन को तो काबू मे कर ही नही पाते। स्वस्थ शरीर-क्षेत्र पाया कि मन महाराज ने फिर ऊधम मचाया।" ये है गांधी के शब्द। उन्होने कहा कि मानो "मैने दुराचार किया, मुझे बीमारी हुई। डॉक्टर मुझे नीरोग कर देता है, ज्यादा सम्भव है कि मै उसी दुराचार को फिर दुहराऊँ। यदि डॉक्टर बीच मे न पडता, तो **प्रकृति अपना काम अपने-आप कर लेती,** और मैं अपने ऊपर अपने-आप स्वामित्व प्राप्त कर लेता, दुराचार से मुक्त हो जाता और सुखी बन जाता।"[११७] कभी ऐसे मौके भी आ जाते है, जब हम अनभिज्ञतावश प्राकृतिक नियमो की अवहेलना कर बैठते है, क्यो कि हमारा तत्सबधी ज्ञान अपूर्ण है, और इसलिये हम अनजान ही मे बीमार पड जाते है। बीमार पडने पर यदि शरीर-रक्षा न की जाय और शरीरान्त होने दिया जाय, तो आत्म-घात के दोषी होगे, एव सामाजिक श्रम-शक्ति और अर्थोत्पत्ति की भी घटी होगी , अत गांधी ने रोग-निवारण के लिये उन प्रयोगो का प्रचार किया, जो रोगी खुद सरलता-पूर्वक मुफ्त मे या नाममात्र कीमत मे बिना किसी वैद्य-डॉक्टर की सहायता के कर सके। हमने स्वय देखा है कि चालीस-पचास वर्ष पहले हिन्दुस्थान मे रोगोपचार की क्रियाएँ इतनी लोभमय, कठिन और मँहगी नही थी, जितनी आज हैं। साधारण रोगो की चिकित्सा घर के बूढे-सयाने खुद ही कर लिया करते थे। वैद्य-हकीम दो-चार पैसे का अनुपान बना देते थे और ताजी दवा तैयार करा देते थे। साराश यह कि गांधी हर व्यक्ति को सरल-से-सरल और कम-से-कम खर्च मे स्वाभाविक नियमो का आश्रय लेकर स्वस्थ रखना चाहते थे, ताकि शरीर और मन दोनो सुव्यवस्थित बने रहे और सामाजिक उन्नति हो।

(ग) पुराने और नये उद्योग—जो लोग यह दोष लगाते है कि गांधी फिर से पुरानी दुनिया बसाना चाहते है, वे भूल करते है। गांधी-योजना मे पुराने उद्योगो का पुनरुत्थान और नवीनो का प्रचार है , और वह भी निरे पुराने तरीको पर नही, वरन् परिवर्त्तित समयानुकूल साधनो के आधार पर। गांधी निस्सदेह चाहते है कि हर ग्राम मे खेती-किसानी हो, चर्खे चले, कपडे बुने जाये, लोहारी-बढईगिरी का कार्य हो, तेल पेरा जाय आदि जैसा कि पहले होता था, परन्तु इस के साथ ही उन की यह भी योजना है कि हर उपयुक्त ग्राम मे कागज बनाया जाय, मधु-मक्खियाँ

---

११७. Indian Home Rule, p 41 (निम्नाकित रेखाएँ मेरी है)

पाली जायें और उन के द्वारा शहद उत्पन्न कराई जाय, रेशम के कीड़ो के द्वारा रेशम का उद्योग सँभाला जाय, चमड़ा पकाया जाय, खिलौने आदि बनाये जायें तथा अन्य और भी रोजगार-धन्धे खोले जायें, जो समाज के लिये लाभकारी हो और जिन की समाज में माँग उठ चली हो। इस के अतिरिक्त गाँधी का यह ध्येय कदापि नहीं रहा कि पुराने लकीर ही के फकीर बने रहे। उन्होंने उत्पादन के नये साधनों का विरोध केवल इतना ही किया है कि व सामूहिक उत्पादन (mass production) के साधन बने हुए हैं। जब कभी उन्हे कोई ऐसी तरकीब हाथ लग जाती थी कि जिन से व्यक्तिगत उत्पादन की मात्रा बढ़ती थी, तो उन्होंने सदैव उस तरकीब को अपनाया है, उसे ठुकराया कभी नही, बल्कि वे सदा इसी प्रयत्न मे रहते थे कि ऐसे यन्त्रो का आविष्कार किया जाय, जिनका प्रयोग हर व्यक्ति कर सके; ताकि वह थोड़े-से-थोड़े समय मे कम-से-कम द्रव्य खर्च और शक्ति व्यय करके ही अधिक-से-अधिक उत्पादन कर सके। परन्तु, इस बात का सदैव ध्यान रहे कि गाँधी की आर्थिक योजना इस बात की साक्षी नही है कि मनुष्य की श्रम-शक्ति का व्यय अनर्गल विषय-सुखो की पूर्ति करने मे किया जाय। उन की योजना को समझने के लिये विलासिता (luxuries) और आवश्यकताओ (necessities) के भेद को अवश्य ध्यान मे रखना चाहिये।

(घ) प्रधान, सम्बन्धित और आश्रित उद्योग (Principal, allied and dependent industries)—उद्योग अनेक हैं। वे एक दूसरे से सबधित रहते हैं, इसलिये जब किसी देश या समाज-विशेष के औद्योगिक जीवन की परिभाषा करने को कहा जाय तो उस के समग्र उद्योगो को सग्रह-रूप मे बताना पड़ेगा। यही कारण है कि जब हम गाँधी की आर्थिक योजना पर विचार करने जाते हैं, तब हमारी दृष्टि पहले उन के बताये कुछ मूल उद्योगो पर जाती है, और फिर उन से सबधित तथा उन पर आश्रित उद्योगो पर। यो तो गाँधी की योजना मे तीन ही मूल उद्योग कहे जा सकते हैं, यथा भोजन, वस्त्र और निवास-प्राप्ति के उद्योग, परन्तु गाँधी का मनुष्य केवल अस्थि-चर्म वाला शरीर रूप ही नही है, वरन् वह आत्मा-मन-शरीर का सग्रहरूप है, अत गाँधी की औद्योगिक योजना में केवल उन्ही उद्योगो पर विचार रखा गया है, जो तीनो के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी प्रकार बाधक न बन पायें। एक उद्योग दूसरे उद्योग मे किस तरह संबधित रहता है, इसे जानने के लिये भोजन-प्रद कृषि का ही दृष्टात ले लीजिये। किसान को हल-बखर चाहिये, लोहे का सामान चाहिये, खाद्य चाहिये, गाय-बैल चाहिये, इत्यादि। इन्हे प्राप्त करने के लिये या तो किसान स्वय बढ़ई-गिरी, लोहारी करने, खाद्य बनाने, गाय-बैल पालने का उद्योग करे, या कोई दूसरे उन

उद्योगों को अपनायें और कृषक उन में उन्हें सहायक लिया करें। दूसरी क्रिया में अन्य लोगों के सहयोग की आवश्यकता होती है, और पहली क्रिया में एक ही कर्ता को समय और श्रम-शक्ति का व्यय आवश्यकतानुसार निश्चित करना पड़ता है। समाज में एक ही कर्ता काम के सब अंगों को स्वयं नहीं सँभाल सकता, इसलिये गांधी ने भी अन्य अर्थ-शास्त्रियों के समान श्रम-विभाग को अपनी योजना में काफी स्थान दिया है, परन्तु उन्होंने श्रम-विभाग को इतना विशिष्ट नहीं बनाया, जितना कि वर्तमान मशीनरी युग ने बना दिया है। दृष्टान्त-स्वरूप एक रेल-इंजिन बनाने वाले कार-खाने में पहुँच जाइये और देखिये कि उस में कितने कल-पुर्जे लगाये जाते हैं। उस में काम करने वाले मजदूरों का यह हाल रहता है कि कोई एक पुर्जा लगाता है, तो दूसरा कोई दूसरा पुर्जा। वे विचार तक न करें कि उन का पुर्जा किस तरह लगाया जाता है, दूसरा और कुछ काम जानते ही नहीं, अर्थात् उन का काम ही मशीनवत् हो जाता है। गांधी चाहते हैं कि श्रम इतने मशीन-प्रिय न हो जायें कि उन की निर्माण-शक्ति (creative power) मुर्दा होकर पड़ी रहे, और न वे इतने परावलम्बी हो जायें कि अपना निश्चित उद्योग को चलाने में दूसरों का मुंह ताकते रहें। जहाँ तक सम्भव हो, हर रोजगारी को अपने रोजगार के पूरे कारोबार को इतना जानना और करना चाहिये कि कभी ऐसा मौका न आये कि उस को हाथ-पर-हाथ रखे बैठे रहना पड़े। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी धंधे हैं, जो मूल धंधे के अंग तो नहीं रहते, पर उसी के बहुत कुछ समान रहते हैं, इसलिये यदि वे भी सीख लिये जायें, तो कोई हानि नहीं, बल्कि लाभ ही होता है। कुछ ऐसे भी होते हैं, जिन का अस्तित्व उसी समय तक रहता है, जब तक कि उन की जरूरत हो। यदि लोहे का सामान बनना बन्द हो जाय, तो लोहे की खदानों में कच्चा लोहा निकालना भी आप-से-आप बन्द हो जायगा। सारांश यह है कि गांधी की औद्योगिक योजना मनुष्य के शारीरिक श्रम पर आधारित है न कि मशीनरी पर। वह श्रम-विभाग को उसी हद तक मान्यता देती है, जब तक कि उस से श्रमिक के स्वावलम्बन में बाधा न आये। वह सहयोग इतना ही चाहती है कि वह परावलम्बी न बना दे। उस का मूल ध्येय यह है कि मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति एक ही साथ चलती जायें।

(इ) आत्म-पर्याप्ति (Self-sufficiency)—व्यक्तिगत स्वावलम्बन गांधी का मूल-मन्त्र है। इसी मन्त्र का प्रयोग करने के लिये उन्होंने हर गांव के विषय में कहा है। उन की अर्थनीति यह है कि हर गांव में ऐसे सब उद्योग-धंधे होने लगें, जो उस गांव के समस्त निवासियों की जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताएं पूरी कर सकें। हर गांव में खेती-किसानी हो, बढ़ई हों, कुम्हार हों, सूत कातनेवाले हों, जुलाहे हों,

दर्जी हो, तेल पेरने वाला हो, ताकि ग्राम-वासियो को अपनी जरूरत की वस्तुएँ लेने के लिये बाहर न जाना पडे। यदि कोई गाँव कम आबादी के कारण अथवा अन्य कारणो से सब रोजगारियो का धंधा यथेष्ट रूप से चलाने मे असमर्थ हो, तो उस के आस-पास के दो-दो, चार-चार गाँवो का एक ऐसा समुदाय बने कि वह ग्राम-समुदाय यूनिट-रूप होकर समुदाय के सभी गाँवो की आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। जिन्हे सौ-सवा-सौ या कम-से-कम साठ-सत्तर वर्ष के पूर्व की हिन्दुस्तानी ग्रामीण स्थिति का अनुभव हो, उन्हे गांधी की उक्त विधि को समझने मे कोई कठिनता नही हो सकती, क्यो कि उस समय की स्थिति बहुत कुछ इसी प्रकार की थी, और अब भी उस के कुछ चिन्ह दिखाई देते है। बडे-बडे गाँवो मे साप्ताहिक या अर्द्ध-साप्ताहिक बाजार भरने की प्रथा इस ग्राम-सामुदायिक पद्धति की एक अस्पष्ट झाँकी अभी तक दिखाई देती है।

(च) ग्राम-व्यवस्थाएँ (Village organizations)—यह एक बडी मोटी बात है कि जब तक ग्रामो मे प्रबन्ध-कारिणी व्यवस्थाएँ न होगी, तब तक न तो अर्थोत्पत्ति ही ठीक हो सकेगी और न सामाजिक अन्य कार्य भी उचित प्रकार से चल सकेंगे, इसलिये गाँवो का आत्म-पर्याप्ति वाला सिद्धात केवल आर्थिक पर्याप्ति से सीमित नही रखा गया है। उन का कहना है कि हर गाँव मे पचायती राज्य हो, अर्थात् पचायतो के द्वारा गाँव का प्रबध, न्याय-दान, तथा ग्राम-रक्षण का कार्य-भार गाँव ही की स्वय-सेवक सस्थाएँ सँभाला करें। गाँव की जनता मे सहयोग की भावनाएँ जागृत की जाये, ताकि वे गाँव-सबधी सफाई, प्रकाश, पानी आदि आवश्यकताओ की पूर्ति सामूहिक रूप से करें, आपसी मामलो का निबटारा कर लिया करें एव आवश्यकता होने पर आक्रमणकारो के विरुद्ध उसी प्रकार प्राण-त्याग करने के लिये तत्पर रहे, जिस प्रकार एक सच्चा सत्याग्रही रहता है। गाँधी नही चाहते कि लोगो को दूर-दूर अदालतो मे अपने मामलो का इन्साफ कराने के लिये मारे-मारे फिरना पडे, या वकोलो का आश्रय लेना पडे। गाँधी ने जिस प्रकार डॉक्टरी धधे का तिरस्कार किया है, उसी प्रकार वकीलो और न्यायाधीशो के विषय मे भी कहा है—"मेरा अभिप्राय", गाँधी का कथन है, "केवल यही बताने का है कि यह (वकालत का) धधा अनैतिकता की शिक्षा देता है, उस मे ऐसे-ऐसे प्रलोभन आते है कि जिन मे विरले ही बच पाते हैं। मनुष्य इस धधे को इसलिये नही करते कि दूसरो को उन की विपत्तियो से निकालने मे सहायता पहुँचाये, वरन् खुद धनवान होना चाहते है। जब लोगो मे लडाइयाँ होती हैं, तब उन्हे इस बात मे खुशी होता है। छोटे-छोटे वकील तो साक्षात् उन्हे गढा करते हैं इन्ही लोगो की बदौलत हम पर यह दोषारोपण किया जाता है कि हम लडना

और अदालतो मे आना इस तरह पसन्द करते है, जिस तरह मछली पानी को पसन्द करती हे। जो कुछ मैने वकीलो के विषय मे कहा हे, वही निस्सदेह जजो के बारे मे सही है , ये निकटतम चचेरे भाई है और एक दूसरे को बल पहुँचाते है।"[११८] ये उद्गार सन् १९०८ के है, जब कि गाँधी अफ्रिका मे थे। सन् १९२० मे भी उन्होने हिन्दुस्थान मे आकर वही कहा और अदालतो का बहिष्कार कराया। लोगो का खयाल था, और सम्भव है अब भी हो, कि वकील और जज अग्रेजी राज्य को कायम रखने मे सहायक का काम करते थे, इसीलिये गाँधी ने उन की बुराई की और अदालतो का बहिष्कार कराया। बहिष्कार की घोषणा करते समय गाँधी ने यही कहा भी था, और उसके पूर्व भी यही कहा करते थे, पर बात केवल इतनी ही नही है। जो उन्होने सन् १९०८ मे कहा, वह आज भी सत्य है, भले ही हिन्दुस्थान अग्रेजो के पजे से निकल गया हो, और स्वतत्र कहा जाने लगा हो। यह कोई एकदेशीय सत्य नही हे। यह आधुनिक कालीन सर्वव्याप्त दूषित पद्धति के विरुद्ध उठाई हुई आवाज है, जो उस समय तक अमिट रहेगी, जब तक कि लोग आपस मे लडते रहेगे और दूसरो के बल पर न्याय कराते रहेगे। गाँधी को तो समाज को उस मजिल तक पहुँचाना है, जहाँ कि आपसी लडाई-झगडो का नाम नही रहेगा, और कही कुछ झगडा हो भी गया, तो लोग उन्हे खुद सुलझा लिया करेगे अथवा पचायत के द्वारा निबटवा लिया करेंगे। इसलिये, आप देखेंगे कि इस बुराई मे भावी स्वावलम्बन की ओर ले जाने का निर्देश है, ताकि राज्य-विहीन समाज वाला अन्तिम ध्येय प्राप्त होने की सम्भावना होती जाय। जिस प्रकार ग्राम-प्रबन्ध और न्याय-वितरण मे स्वावलम्बन का निर्देश है, उसी प्रकार ग्राम-रक्षण के विषय मे भी गाँधीजी ने कहा हे कि "मेरे ध्यान मे इस प्रकार की ग्राम-इकाई (village unit) है, जो बलवानो का भी बलवान हो,"[११९] अर्थात् "अहिंसात्मक राज्य मे, मै चाहता हूँ आक्रमण तथा अन्याय के विरुद्ध सरक्षण-क्रिया का नितान्त विकेन्द्रीकरण हो जाय। ग्रामो और नागरिको मे भी वह योग्यता आ जाय कि हर एक सारे ससार के विरुद्ध भी अपने स्वातत्र्य का रक्षण कर सके।"[१२०] इस तरह "हर गाँव इस तरह शिक्षित और तैयार किया जायगा कि वह हर बाह्य आक्रमण का मुकाबला करने के प्रयत्न मे मर मिट सके। इस तरह अन्तत व्यक्ति ही इकाई रहता है, (परन्तु) इस का यह अर्थ नही कि अगर कोई पडोसी या ससार को कोई सहायता देना चाहे,

---

११८ Indian Home Rule, pp 37-41

११९. हरिजन, ४-८-४६ पृ० २५२.

१२० Young India, २४-९-२५, पृ० ३४१

तो वह छोड दी जाय, या कि उन पर किसी भी प्रकार का अवलम्बन न रखा जाय।"[१२१]

(छ) ग्रामोद्योग के साथ अन्य रचनात्मक क्रियाओ का सयोग—ग्रामोद्योग कहने से गाधी का अभिप्राय केवल अर्थोत्पत्ति के उद्योगो ही से नही है। उनका उद्देश्य है हर गाव को यथार्थ स्वराज्य का अनुभव कराना, इसलिये जितना उनका रचनात्मक कार्यक्रम है, उस सब का प्रयोग वे यथाविधि हर गाव मे कराना चाहते थे, जैसा कि श्री धवन ने कहा है कि "हिन्दुस्थान मे होनेवाला रचनात्मक कार्यक्रम प्रधानत ग्राम-कार्य है।"[१२२] गाधी ने रचनात्मक कार्य-क्रम के १८ विषय बताये हैं, जो पुस्तक के अन्त मे सूची न० ४ मे आप को मिलेगे। उन से आप को पता लगेगा कि ग्रामो मे आर्थिक उद्योगो के साथ-साथ अन्य ऐसे उद्योग या उपायो का करना भी आवश्यक है, जिन से वहाँ की जनता सब ओर से उन्नत हो। साम्प्रदायिक एकत्व, शिक्षा का प्रबध, मादक द्रव्यो का निषेध, अछूतपन का त्याग, स्त्रियो का उत्थान, कृषको और मजदूरो का सगठन तथा आर्थिक समता की विधियां और स्वच्छता एव स्वास्थ्य विभाग—ये है रचनात्मक कार्य-क्रम के प्रधान अग, जिन का प्रयोग हर गाव मे आर्थिक उद्योगो के साथ-साथ चलाया जाना आवश्यक है, अन्यथा समाज-शरीर एक अगीय हो कर कुडोल बन जायेगा और दु ख से मुक्त न हो सकेगा।

(ज) समाज की भावी प्रतिमा—यह हुई ग्राम-व्यवस्था की वह तसवीर, जिस मे भावी समाज की प्रतिमा छापी गई है। हर व्यक्ति और हर गाव एव व्यक्तियो और गावो के छोटे-बडे समूह स्वावलम्बी बने हुए चलते-फिरते नजर आ रहे हैं। जहाँ देखो वहाँ हर व्यक्ति आनन्द-पूर्वक अपने काम मे सलग्न दिखाई दे रहा है। स्वार्थ और परार्थ एक दूसरे से गला मिलाए हुए भेट कर रहे है। कही किसी से लडाई-भिडाई का काम नही। जहाँ कही खटपट हुई, तो आपस मे समझौता कर लेते हैं, या पच बीच मे पडकर समझौता कर देते हैं। घर-घर, गाव-गाव मे साम्पत्तिक उद्योग, स्वच्छता, स्वास्थ्य, शिक्षा, नैतिकता, और अध्यात्म का रग भरा हुआ चमक रहा है। यह देख कर अब हम यह कह सकते है कि गाधी के ग्रामोद्योग की बात सुन कर जिन लोगो का मन केवल अर्थोत्पत्ति और अर्थ-वितरण सबधी कार्यक्रम मे अटक कर रह जाता है, वे गाधी की आर्थिक योजना के रहस्य को अधूरा ही जानते है। उसे पूरा जानने वाला ही कह सकता है कि वह एक ऐसा पथ है, जिस पर हो चलने से पथिक सच्चे स्वराज्य—सच्ची प्रजातत्रात्मक व्यवस्था

---

१२१. हरिजन, २८-७-४६, पृ० २३६

१२२ Pol Phil p ३२०

की ओर बढ सकता है। वही गाधी के स्वर से स्वर मिलाकर कह सकता है कि "अहिंसा पर आधारित सभ्यता का निकटतम स्वरूप भारत का ग्राम-जन-तंत्र ही है, जो अभी कुछ काल पहले तक था। मै स्वीकार करता हूँ कि वह बहुत ही असस्कृत था। मै जानता हूँ कि उस मे मेरे विचार और परिभाषा के अनुसार अहिंसा का वास नही था, परतु उस मे अकुर जरूर था।"[123] "स्वदेशी भावना का अनुसरण करने के कारण स्थानीय सस्थाओ ओर ग्राम-पचायतो ने गिरफ्तार कर लिया है। हिन्दुस्थान सचमुच ही जनतत्र देश है, और चूंकि वह ऐसा था, इसलिये अभी तक जितने धक्के उसे लगे, उन सब को वह पार करता गया।"[124]

---

१२३ हरिजन, १३-१-४०, पृ० ४११.

१२४ मद्रास की मिशनरी कान्फ्रेंस मे सन् १९१६ मे गांधी का व्याख्यान (उद्धृत Pol Phil मे पृ० ३२५ पर)। See Speeches, p 276

हिंसा-अहिंसा का मध्यवर्ती संघर्षमय युग

मार्क्स और गांधी का एक ध्येय, पर दो मार्ग

गत अध्याय में पाठक देख चुके हैं कि मार्क्स और गांधी दोनों का एक ही स्थान पर पहुँचने का ध्येय था। मार्क्स ने सोचा था कि समाज ऐसी स्थिति में पहुँचाया जाय, जहाँ हर मनुष्य इतना स्वतन्त्र हो कि उस के मार्ग में कोई रुकावट डालने वाला न हो, और इतना नैतिक हो, कि एक भी दूसरे पर किसी प्रकार के दबाव डालने की जरूरत न पड़े। दूसरे शब्दों में, दोनों अहिंसात्मक स्वतन्त्रता की स्थिति तक समाज को पहुँचाना चाहते थे, जहाँ पर कोई राज-व्यवस्था की आवश्यकता नहीं रह जाती। दोनों ने विचार किया कि उस स्थिति तक पहुँचने के लिये जन-तन्त्र मार्ग (Democracy) के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं। यहाँ तक तो दोनों सहमत थे। इस के बाद दोनों में मतभेद शुरू हो गया।

दोनों से पूछा गया कि भाई! यह तो बताओ, जब आप की कल्पना पूरी हो जायगी, अर्थात् जब समाज उस विशेष स्थिति पर पहुँच जायगा, तब भी तो आखिरकार उसके सामूहिक और पारस्परिक सम्बन्धों की गाड़ी को ठेलने वाली कोई-न-कोई व्यवस्था रखनी ही पड़ेगी। वह कौन-सी व्यवस्था होगी? मार्क्स ने कहा कि वह व्यवस्था बहुत-कुछ आज-कल-जैसी प्रतिनिधि-रूप सभा-सोसायटियों सरीखी रहेगी, जो नियम-निर्धारण करेंगी, और हर व्यक्ति उन नियमों का प्रतिपालन सहर्ष करता रहेगा, क्यों कि उस समय तक वह नैतिकता के उच्चतम स्तर पर पहुँच जायगा। गांधी ने कहा कि भाई यह तो एक पूर्ण अहिंसात्मक पूर्ण आदर्श है—वहाँ तक शरीरधारी का पहुँचना असम्भव है, पर हाँ, उस का कर्त्तव्य है कि वह उस ओर सचाई और ईमानदारी से बढ़ता ही चला जाय। ऐसा प्रयत्न करते-करते जब समाज पूर्णादर्श के निकट तक पहुँच जायगा, तब हर व्यक्ति को चलाने वाला नियम-निर्धारक उसकी आत्मा ही रहा करेगी। उसे किसी बाह्य व्यवस्था की जरूरत नहीं रहेगी, परन्तु उन का कहना था, कि अभी से क्या कहा जा सकता है कि कैसी व्यवस्था रहेगी। इस की सोचा-विचारी में समय क्यों बरबाद किया जाय। जब

जैसे परिस्थितियाँ आती जायँगी, तब तैसी व्यवस्थाएँ लोग अपने-आप बनाते चले जायँगे। हमारा कर्त्तव्य तो इस समय केवल उस पथिक के समान इतना ही है जो सर्वज्ञाता तेजोमय प्रकाशपुंज से प्रार्थना करता था "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान" अर्थात् "हे श्रेष्ठ अग्नि ! हमे सुपथ से ले चल"[1], उस पथिक के समान है, जो कहता—

"Lead kindly light
Lead thou me on
I do not ask to see
The distant scene one step enough for me"[2]

अर्थात् "हे दयामय प्रकाश ! मेरे आगे आगे चल मुझे यह ख्वाहिश नही कि दूर का दृश्य दिखा दिया जाय, **मुझे तो एक कदम ही काफी है**"

अन्तिम भविष्य की व्यवस्था के ही संबंध मे यदि मत-भेद होकर रह जाता, तब तो कोई हानि नहीं थी। परन्तु इस से भी आगे इस बात पर वह मत-भेद बढा कि वह कौन-सा जनतंत्र-मार्ग (Democracy) है, जिस पर चल कर समाज अहिंसात्मक आदर्श राज्य-विहीन अवस्था को पा सकता है। मार्क्स ने कहा—यह वही हिंसात्मक जनतंत्र है, जो आज प्रचलित है। उस मे केवल यही परिवर्तन रहेगा कि पूँजीपति-वर्ग के स्थान मे मजदूर-वर्ग का आधिपत्य हो जायगा, क्यो कि वही बहुसंख्यक वर्ग है, और बहुसंख्या को अधिकाधिक भलाई का नाम ही जनतंत्र कहलाता है, परन्तु गांधीजी ने मार्क्स की बात काट दी। उन्हो ने कहा कि एक प्रकार की हिंसा-पद्धति के बदले मे दूसरे प्रकार की हिंसा को स्थान देने से अहिंसा भला कैसे मिल सकती है ? उस का मिलना तो तभी सम्भव होगा, जब अभी से हिंसा का क्रम घटता हुआ चला जाय। इस के अतिरिक्त सच्चा जनतंत्र वही है, जिस मे न व्यक्तिगत भेद-भाव हो, और न अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक की भलाई का बखेडा हो। वर्गीकरण को अपनाना, मानो जनतंत्र के स्थान मे परतंत्र को ही लाना है। इस मत-भेद के कारण अन्तिम ध्येय तक पहुँचाने वाली बीच की मंजिले मार्क्स और गांधी दोनो की अलग-अलग हो गई। मार्क्स तो चल पडे उसी हिंसात्मक पद्धति (Violent system) को पकड कर, जिस पर पूँजीपति ही जा रहे थे, और गांधी ने उसे छोड दूसरा ही पथ ग्रहण किया, जो अहिंसात्मक पद्धति (non-violent sys-

---

१ ईशा० उप० मंत्र १८

२ Christian Hymn (underline is mine)—**यह गांधीजी का प्रिय गीत था।**

tem) के नाम से प्रसिद्ध है, जिस में हिंसा और अहिंसा का घमासान संघर्ष होता है तथा अहिंसा क्रमश: विजयी होती हुई बलवान होती जाती है। जब हम किसी सामाजिक पद्धति की चर्चा करते है, तब हमारे सामने दो प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओ का दृश्य उठ खड़ा होता है—एक वह जो राज्य से सम्बद्ध रहती है, और दूसरी वह, जो राज्य से असम्बद्ध। राज्य से सम्बद्ध व्यवस्था मे कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ होती है, जिसमे हिंसात्मक वृत्ति की प्रधानता रहती है, और कुछ दूसरी ऐसी होती है जिनमे हिंसा की मात्रा कम रहती है। इसी दृष्टि-भेद को समक्ष रख अब हम इस अध्याय के विषय का अध्ययन करेंगे, परन्तु राज्य से सम्बद्ध और असम्बद्ध इन व्यवस्थाओ का विवरण देने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम सामान्य दृष्टि से यह देख ले कि हिंसा-अहिंसा के संघर्षमय मध्यवर्ती युग मे राजकीय हस्तक्षेप तथा राज्य का रूप और संचालन किस ढग का होगा।

राजकीय हस्तक्षेप (State interference))—जब हमारे विचारो या कार्यों मे कोई दूसरा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करता है, तब हम स्वतंत्र न कहलाकर परतंत्र कहलाते है, इसलिये स्वतंत्र या जनतंत्र होने के लिये यह आवश्यक है कि पराया हस्तक्षेप मिटाया जाय, परन्तु जब तक हम मे अपने-आप को नियन्त्रित कर के समाज मे रहने की योग्यता नही हो जाती तब तक किसी-न-किसी प्रकार का पराया हस्तक्षेप हमे सन्मार्ग पर रखने के लिये आवश्यक रहेगा। इसलिये जितना हम अपना नियन्त्रण करके सन्मार्गी बनते है, उसी अनुपात से हस्तक्षेप घटाया जा सकता है। हस्तक्षेप कई एक का होता है, और वह भी कई प्रकार का जैसे—माता-पिता या बूढे-स्यानो का, जाति या समाज का, राजकीय या अन्तर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप।

हमे यहाँ केवल राजकीय हस्तक्षेप से प्रयोजन है, अन्य हस्तक्षेप से नही। हमे देखना है कि राजकीय हस्तक्षेप को घटाने के पक्ष मे कौन है, मार्क्स या गांधी? आप को गत पृष्ठो मे पता लग गया होगा कि मार्क्सवाद चाहता है कि पूँजीपतियो के जमाने मे जो कुछ कार्य-क्षेत्र स्टेट अपने हाथ मे रखे था, उन से भी अधिक सामाजिक कार्य वह अपने काबू मे रखे, जैसे अर्थोत्पत्ति के साधन, अर्थोत्पत्ति और अर्थ-वितरण, उद्योगो और व्यवसायो का राष्ट्रीयकरण, बालको का पालन-पोषण और शिक्षण आदि। यद्यपि मार्क्सवाद कहता है कि यह हस्तक्षेप पूँजीपतियो के नमूने के स्टेट का नही होगा—मजदूर वर्ग के नमूने के स्टेट का होगा—तथापि रहेगा तो वह आखिरकार स्टेट का, और वह स्टेट भी ऐसा, जो एक तानाशाही का काम करने को उद्यत हो। जीवन के समस्त या अधिक-से-अधिक कार्य-क्षेत्रो मे हस्तक्षेप करने वाली इस प्रथा को मार्क्सवाद भले ही पूँजीपतियो का स्टेट (Capitalist

State) न कह कर कुछ दूसरा सुन्दर आकर्षक नाम दे ले—भले ही वह उसे समाजवाद (Socialism), समाजवादी राज्य (Socialist State), राजकीय समाजवाद (State Socialism), समाजवादी प्रजातन्त्र (Social Democracy) या राष्ट्रीयतावाद (Nationalism) कहे, पर है वह वही हस्तक्षेप करने वाली संस्था। परन्तु, गांधी का कहना है कि इस तरह हस्तक्षेप को बढ़ाते जाना, तो उल्टे पैर चलना है। वह अहिंसा की ओर न ले जाकर हिंसा की ओर ले जाने वाला होता है, इसलिये उन का आदेश है कि अहिंसात्मक समाज-व्यवस्था तक पहुँचने के लिये अभी से यह प्रयत्न हो जाना चाहिये कि वर्तमान राज्य-प्रथा के हस्तक्षेप को क्रमश घटाते चलो, ताकि अन्त मे वह शून्य रह जाय। यही कारण है कि गांधी ने कहा है कि राज्य जितना कम हस्तक्षेप कर सके, उतना ही अच्छा है। तात्पर्य यह है कि मार्क्सवाद राजकीय हस्तक्षेप के द्वारा—जो जब्र (Force) या हिंसा (Violence) का प्रतीक होता है—अहिंसा लाना चाहता है, परन्तु गांधीवाद हिंसात्मक हस्तक्षेप को क्रमश कम कराता हुआ अहिंसा तक पहुँचाना चाहता है। मार्क्सवाद गृहो और कुटुम्बो मे, खाने और पीने आदि तक मे हाथ डालना पसन्द करता है, ना गांधीवाद उन्हे व्यवस्थित रूप से कायम रखना चाहता है। मार्क्सवाद सामूहिकता के नाम पर हस्तक्षेप कर के व्यक्तित्व को खो देने की ओर जा रहा है, तो गांधीवाद कम-से-कम हस्तक्षेप करके व्यक्तित्व को कायम रखना चाहता है। अब पाठक स्वय विचारे कि किस का मार्ग सही है, मार्क्स का या गांधी का ?

राज्य का स्वरूप और संचालन (Formation and working of state)—राज्य (स्टेट) मनुष्यो के उस समूह को कहते है, जो अपनी शक्ति के आधार पर समाज मे व्यवस्था कायम रखे, और जनतन्त्र राज्य, मनुष्यो का वह समूह होता है, जो जनता का प्रतिनिधित्व करता हुआ जन-शक्ति के आधार पर समाज मे व्यवस्था कायम रखे। मार्क्स और गांधी दोनो ने बताया कि अहिंसात्मक समाज-व्यवस्था तक पहुँचाने वाला राज्य प्रजातन्त्र राज्य (Democracy) ही हो सकता है। तब फिर यह देखना चाहिये कि यह प्रजातन्त्र राज्य किस नमूने का हो, जो उक्त उद्देश्य तक पहुँचा सके। मार्क्स और गांधी ने अपने-अपने नमूने अलग-अलग पेश किये है। उन दोनो को यह तो मान्य है कि प्रजातन्त्र राज्य के लिये प्रजा अथवा जनता की ओर से प्रतिनिधि होना चाहिये, और प्रतिनिधियो को प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है जनता के द्वारा चुनाव करा लेना, परन्तु यह चुनाव कैसा हो, जिससे सच्चा प्रतिनिधित्व हो सके और राज्य का कार्य-भार भी उत्तम प्रकार से चल सके ? इसके विषय मे मार्क्स और गाँधी के विचार भिन्न हैं। मार्क्स ने निर्वाचन की

प्रचलित पद्धति ही को अपनाएँ, परन्तु गांधी ने उसे त्याग करने के लिये जोर दिया है।

निर्वाचन की प्रचलित पद्धति का महत्त्व इस बात में बताया जाता है कि उस के द्वारा जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व (direct representation) होता है। देश की समस्त जनता को नियमित रूप से क्षेत्रों में विभक्त कर दिया जाता है। फिर हर क्षेत्र की जनता अपने बहुमत के द्वारा उम्मीदवारों का निश्चित संख्या में निर्वाचन कर के उन्हें राज्य का काम-काज सम्भालने के लिये भेजती है। उम्मीदवार बहुधा टोली बना-बना कर चुनाव लड़ा करते हैं। मार्क्स ने इस टोलीपन को अपनाया, और मजदूरों की एक बृहत् टोली बनाने को सुझाई। टोलियाँ छोटी हों या बड़ी, वे चाहे जिस नाम से क्यों न कही जायें और चाहे जिस प्रोग्राम को लेकर उम्मीदवार क्यों न भेजें, पर वे रहती हैं आखिर जन-विभाजन की प्रचंड रूप। प्रचलित चुनाव चाहे स्वतन्त्र रूप से लड़ा जाय, या पार्टियाँ बना कर, दोनों दशाओं में अनाटनीय है, क्यों कि उस में जनता और राज्य का बहुत-सा द्रव्य, समय और शक्ति निरर्थक खर्च होती है, इतना ही नहीं, वह मनोमालिन्य की वृद्धि करने और तानाशाही प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिये उपयुक्त वातावरण तैयार करता है। इतना अगर-मगर के बाद जब कोई किसी देश की इस प्रकार से निर्वाचित व्यवस्था-सभा या पार्लियामेन्ट में पहुँचता है, तब उसे एक ऐसा बहुसंख्यक जन-समूह दिखाई देता है, जो राज्य के खजाने पर भार रूप होकर बहुधा परस्पर विरोधात्मक लम्बी-चौड़ी वार्ता का तांता लगाता रहता है। जहाँ देखो वहाँ, सत्य के गले में फाँसी, ईमान का क्रय-विक्रय, कपट-दम्भादि का बोल बाला दिखाई देता है। एक वाक्य में यदि कहा जाय, तो कहेंगे कि यह जनतन्त्र का ढकोसला है, यथार्थ में वह परतन्त्र की भट्टी है, अथवा विषरस से भरा हुआ कनकघट। इसीलिये हम पहले कह आये हैं, कि गांधी ने सन् १९०८ में विलायत की पार्लियामेन्ट को बाँझ स्त्री की उपमा दी थी। जो पचास वर्ष पहले स्थिति थी, वह आज भी दिखाई दे रही है, बल्कि हमारी समझ में तो उस समय की दशा से आज की दशा और भी अधिक सोचनीय हो गई है। यदि यह गति बढ़ती गई, तो हमारा विश्वास है कि समाज को प्रतिनिधित्व का दूसरा ही कोई कम खर्चीला, कम मनोमालिन्य वाला, कम बातूनी अधिक सत्य और सेवा वाला तरीका शीघ्र ही निकालना पड़ेगा। यदि ऐसा न किया गया, तो निश्चय है, समाज उस अहिंसात्मक व्यवस्था को, जिस के लिये मार्क्स और गांधी दोनों लालायित थे, पीठ बताता हुआ हिंसा की ओर ही भागता जायगा। सुदूरदर्शी गांधी ने इस अनर्थ को देखा और उसे मिटाने का मार्ग सुझाया। उन का आदेश है, अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व (Indirect representation) का। उन का कहना है—"यह आवश्यक नहीं है

जनतंत्र की सच्ची कसौटी प्रतिनिधियों की अधिक संख्या ही हो। थोड़े ही मनुष्यों से सच्चा जनतंत्र हो सकता है। केवल बात इतनी है कि वे उन लोगों की आत्मा, आशा और आकांक्षा का सचमुच ही प्रतिनिधित्व करें, जिनके प्रतिनिधि बनने का वे दावा करते हैं। मेरा यह निश्चय है कि जनतंत्र का विकास जब्र करने के तरीके से नहीं हो सकता। जनतंत्रीय आत्मा बाहर से नहीं ठूंसी जा सकती। उसे तो भीतर से ही उपजाना होगा।"[3] इसके लिये उन्होंने अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Indirect election) का उपाय बताया है। यह तो हम जानते ही हैं कि वे सामाजिक व्यवस्था को विकेन्द्रीकरण पर खड़ी करना चाहते हैं, अर्थात् हर गाँव एक यूनिट, अर्थात् इकाई माना जाय और उस को आत्म-पर्याप्त (Self-sufficient) बनाया जाय। उस का काम-काज सम्हालने वाली एक पंचायत हो, जिस के सदस्य ग्राम-निवासियों द्वारा निर्वाचित हों। मतदाता और सदस्य वही हो सकेगा, जो शारीरिक श्रम करके समाज की सेवा करता हो। निर्वाचन-क्षेत्र छोटा रहने के कारण उम्मीदवार की योग्यता सब मतदाताओं की नजर में रहेगी, और निर्वाचन व्यय भी कम होगा। न तो अपरिचितता, और न आँखों में धूल झोंकने वाले लम्बे-चौड़े वक्तव्य भ्रम में डाल सकेंगे। इस प्रकार पंचायती गाँवों का एक परगना, परगनों की एक तहसील तथा तहसीलों का एक जिला रहेगा। गाँववार पंचायत एक एक प्रतिनिधि परगना पंचायत को भेजेगी, परगना पंचायतें तहसीली पंचायत को, और तहसील पंचायतें जिला पंचायत को भेजेंगी। इसी तरह जिला पंचायतों का प्रतिनिधित्व प्रान्त-पंचायत में, और प्रांत-पंचायतों का प्रतिनिधित्व स्टेट-पंचायत में होगा, तथा वे एक प्रेसीडेन्ट को भी चुनेंगी, जो राष्ट्र का प्रधान अधिशासक (Chief Executive) होगा। इस तरह शक्ति का वितरण गाँवों में हो जायगा, और साथ-ही-साथ उन का परस्पर सहयोग भी रहेगा। "इस अप्रत्यक्ष निर्वाचन पर जनतंत्र-विहीनता की छाप नहीं लगाई जाना चाहिये। उस से हमें ऐसे प्रतिनिधि मिलेंगे, जो सामूहिक जीवन में तपे-तपाये और कसौटी पर चढ़े हुए रहेंगे, और वह वर्तमान निर्जीव या अक्रिय (passive) प्रतिनिधित्व के स्थान में सजीव या सक्रिय (active) प्रतिनिधित्व को ले आयगी।"[4] इससे निर्वाचन-संबंधी उत्ताप, घूसखोरी, भ्रष्टता और हिंसा घटेगी"।[5] "जब अनगिनत गाँवों की इस प्रकार की व्यवस्था पूर्ण हो जायगी, तो जीवन-गति ऐसी न होगी, जैसे अधोभाग

---

३. सन् १९३४ में दिया हुआ गांधीजी का वक्तव्य।

४ The Nation's Voice, pp 19-20 (*cited in Pol Phil p 336*)

५ Pol Phil of Mahatma Gandhi, p 336

(bottom) पर टिके हुए सूच्यग्र स्तम्भ (Pyramid) में शिखाग्र (apex) की होती है, (बल्कि) वह उदधि-तरंग के समान होगी, जिसका केन्द्र रहेगा, व्यक्ति जो गांव के लिये मर-मिटने को तैयार रहेगा, और गांव गांव-समूह के लिये, यहां तक कि अन्ततः सम्पूर्ण जीवन व्यक्तियों का सामूहिक रूप बन जायगा ... बाहरी परिधि भीतरी वृत्त का ध्वंस करने के हेतु शक्ति नहीं लगायगी, बल्कि जो कुछ अवस्थित है, उन सब को बल पहुँचायेगी, और स्वयं उन से अपना बल प्राप्त करेगी।

इस तरह के जनतंत्र के कार्य-सञ्चालन में बहुमत का महत्त्व यह नहीं रहता कि जो कुछ वह निश्चय करे वही पत्थर की लकीर हो जाय—वहीं अल्प मतावलम्बियों पर जबर्दस्ती ठूंसा जाय। इस में चाहे बहुमत वाले हों या अल्पमत वाले, सब में एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता रहती है इसलिये जब किसी सैद्धान्तिक बात का निर्णय करना हो, तब बहुमत वाले अपने ही मत का समर्थन करने के लिये हठ नहीं करेंगे बल्कि अल्पमतवालों के विचारों को भी अच्छी तरह से समझेंगे और उन्हें मान देंगे। अल्पसंख्यकों का मत ही क्यों, व्यक्तिगत मत भी इस डेमो-क्रेसी में पूर्ण सम्मान पाने का अधिकारी होता है। इस का मूल कारण यह है कि हर प्रकार के राज्य में कोई दल-विशेष हो या व्यक्ति-विशेष, यह दावा नहीं कर सकता कि उन का विचार या कार्य ही निर्दोष और सर्वोत्तम है। मनुष्य अपूर्ण है, इसलिये सम्भव है कि बहुसंख्यक लोग ही गलत रास्ते पर हों। यदि गांधीजी ही के शब्द दुहरा दिये जायें, तो अच्छा हो। उन्होंने कहा है कि "जहाँ विवेक-बुद्धि (Conscience) का मामला रहता है, वहाँ पर बहुमत के नियम को कोई स्थान नहीं है।"[7] परन्तु 'जब विवरण (details) के मामले आयें, तो बहुमत के नियम को स्वीकार कर लेना चाहिये, अर्थात् बहुमत के नियम का उपयोग सीमित रहता है। बहुमत जो कुछ भी निश्चय करे उस सब को सिर झुकाते रहना तो गुलामी होती है। जनतंत्र ऐसा राज्य नहीं होता, जिस में मनुष्य भेड़-बकरियों के समान काम करते रहें। जनतंत्र में व्यक्तिगत विचारों और कार्यों का सावधानीपूर्वक संरक्षण किया जाता है। इसलिये मेरा विश्वास है, कि अल्पसंख्यकों को बहु-संख्यकों से भिन्नता रखते हुए कार्य करने का पूर्ण अधिकार है"[8] "बहुमत के नियम का यह अर्थ नहीं है कि यदि किसी व्यक्ति का विचार बिल्कुल निरामय हो, तो भी

६ हरिजन, २८-७-१९४६ पृ० २३६ (Cited in Pol Phil. p 319)

७ Young India I, p 860

८ Young India I, pp 864-865

वह दवा दिया जाय। यदि किसी व्यक्ति का विचार निरामय है, तो बहुतो के विचार से उसे वजनी समझना चाहिये—यह है सच्चे जनतन्त्र के विषय मे मेरा विचार।"[१] यह है अहिंसात्मक जनतन्त्र अथवा आध्यात्मिक जनतन्त्र, जिस की ओर गांधीवाद ले जाना चाहता है। यह उस जनतन्त्र से भिन्न है, जिस मे बहुमत ही क्या, तानाशाही (डिक्टेटरशिप) ही सब कुछ है, और जिसे मार्क्सवाद मे मान्यता दी गई है।

राज्य से सम्बद्ध व्यवस्थाओ मे संघर्ष का दृश्य—

(१) हिंसा-प्रधान राजकीय प्रबन्धक और संरक्षक संस्थाएं (Major-Violent state-institutions of administration and defence)—

मार्क्स चाहते थे कि राज्य-पद्धति शुष्क या जीर्ण कर डाली जाय (withering away), और गांधी चाहते थे कि वह शून्यवत् (Zero) की जाय, इसलिये लक्ष्य दोनो का एक ही था। दोनो इस लक्ष्य को जनतन्त्र (democracy) वाण के द्वारा वेधना चाहते थे, परंतु देखना यह है कि दोनो मे से किसने किस जनतन्त्र-वाण को किस विधि से पकड़ा कि जिस से वह लक्ष्य-वेध करने मे समर्थ सिद्ध हो सके।

(क) बनावटी-स्वतन्त्रता—मार्क्सवाद के जनतन्त्र-वाण मे वह सामर्थ्य नही कि वह राज्य-पद्धति को सुखा सके, क्यो कि वह बनावटी है—नकली है, असली नही। उस मे उल्टे वे गुण है, जिन से राज्य-पद्धति हरी-भरी ही बनी रहेगी, भले ही उस का नाम और रूप कुछ और ही हो जाय। यह बात हमे मार्क्सवाद की डायलेक्टिक्स के द्वारा ही दिखाई देती है। डायलेक्टिक्स से मार्क्स ने यह बात तो सिद्ध कर ही दी है कि जब जैसी पद्धति होती है, तब तैसी नैतिक व्यवस्था और विचार-धारा का निर्माण समाज कर लिया करता है। इतिहासज्ञ इस बात से भली-भाँति परिचित होगे कि जब-जब जो राज्य-पद्धति रही है, तब-तब वह कुछ हेर-फेर से विचार-वाणी-कर्म की स्वतन्त्रता की घोषणा करती ही रही है। वही बात वर्तमान पूँजीपति-युग मे भी विद्यमान है, परन्तु इस घोषित स्वतन्त्रता को उसी राज्य-पद्धति की पोशाक पहनाई जाती है, जो उस की घोषणा करती है। दूसरे शब्दो मे, इस घोषित स्वतन्त्रता की दौड़ केवल उसी चक्र की परिधि के भीतर रहती है, जिस चक्र मे उस का जन्म होता है। यही कारण है कि हर देश के दण्ड-विधान मे राज्य-विद्रोह (State treason) नाम का एक अपराध रखा जाता है, जिस के अपराधी

---

१ Gandhi,s Statement, Sep 28, 1944 (Cited in Pol Phil, p 339)

को प्राण-दण्ड तक दिया जा सकता है। यदि कोई नागरिक ईमानदारी और सचाई के साथ अपनी राज्य-प्रथा या राज्याधिकारियों की कार्य-पद्धति के दूपणो को बताये या उनके प्रति विरोध प्रदर्शन करे, और उसे प्राण-दण्ड अथवा अन्य दण्ड ही दिया जाय, तो क्या यह स्वतत्रता कहलाई जा सकती है? दण्ड-विधान मे इस अपराध का कायम रहना ही इस बात को सिद्ध करता है कि वहाँ स्वतत्रता नही, परतत्रता है। इतना ही नही, यदि प्रचलित आर्थिक अथवा सामाजिक गति-विधि के ही दायरे के बाहर कोई किसी प्रकार का कदम उठाता है, तो उस की जबान बन्द कर दी जाती है, और शरीर को कडी-से-कडी यातना भोगनी पडती है। इस ऐतिहासिक सत्य को ध्यान मे रख कर आप यह शीघ्र समझ जायेंगे कि मार्क्सवाद मे जिस वाणी, प्रेम और कर्म की स्वतत्रता का गुण गान किया है वह मार्क्सवादी पद्धति ने अपनी रक्षा ही के लिये ढूँढ निकाली है। मार्क्सवादी समाज-पद्धति, हम जानते है, पूँजीपति वर्ग को नीचे खीच कर समाप्त करने और मजदूर-वर्ग को ऊँचा उठा कर शक्तिशाली बनाने की है, इसलिये इन्ही दुतरफी धारो को तेज बनाये रखने वाली ही स्वतत्रता मार्क्सवाद मे कही गई है। मार्क्सवादी साहित्य इसी भावना से भरा पडा हुआ है। दृष्टात की आवश्यकता हो, तो मार्क्सवाद के जबरदस्त, अनुयायी सोवियत रूस के विधान अथवा स्टालिन के कारनामो को ध्यान से देख जाइये। वहाँ पर आप को नकाब-पोश परतत्रता का भीषण दृश्य दिखाई देगा।[10] सोमर विली ने ठीक कहा है कि सोवियत रूस ने "अपनी कई एक बातो को चलाने के लिये आवश्यकता से बहुत अधिक जब्र और हिंसा का उपयोग किया है।"[11] उन्होने आगे चल कर यह भी बताया है कि "यदि कोई यह सोचे कि समाजवादी का सिद्धान्त यह है कि वह अपने राज्य से स्वतत्र होना चाहता है, तो आयोजित अर्थनीति (planned economy) तथा सामान्य समाजवाद की दृष्टि से वह बिल्कुल ही भूल कर बैठेगा। × × × सोवियट व्यक्ति सम्भव होने पर भी यह नही चाहता कि वह अपने उस समाज से मुक्त हो जाय, जिस मे कि वह रहता है, क्यो कि समाज क्या है और कैसा होना चाहिये, इस के विषय मे उस का अपना एक अलग मत है। वह नही चाहता कि राज्य उस को मुक्त कर दे, बल्कि इस के विपरीत वह इस बात पर जोर देता है कि राज्य उस प्रकार के कर्म को करे, जो सर्वसामान्य सामाजिक निर्देश की अनुभूति करा सकता है, क्यो कि वही उसे करने योग्य होता है। × × × (सोवियट रूस के विधान की

---

१०. पुस्तक के अन्त मे, परिशिष्ट न० ८ को देखिये, जो लुई फिशर कृत 'गाधी और स्टालिन' नाम की पुस्तक से उद्धृत किया गया है।

११ Soviet Philosophy, p 52

१२५ वी धारा को पढने मे) यह पता लगता है कि उस धारा मे जनता को जो स्वातत्र्य दिया गया है, वह समाजवादी पद्धति की आवश्यकताओ को ही मद्दे-नजर रखते हुए दिया गया है, क्योकि वही, ऐसा विश्वास किया जाता है, **श्रमिको के हितो** का रक्षण कर सकता है।"[१२] यह हुई मजदूर-वर्ग-रत राज्य-पद्धति की स्वतत्रता, जो सिद्धान्त की दृष्टि से उसी प्रकार दोष की भागी है, जिस प्रकार पूँजीपति-वर्ग-रत राज्य-पद्धति की स्वतत्रता बताई जाती है। इस के विपरीत गाधीवाद है, जिस मे हर व्यक्ति को न केवल अपने सिद्धान्त और विचार को प्रकट करने का, बल्कि उनके अनुसार कर्म करने का पूर्णाधिकार स्वीकार किया गया है। उसमे यह मान लिया जाता है कि सब मनुष्य एक समान है, सब भूलकर सकते है—बहुमत भी भूल कर सकता है। हर एक को अधिकार है कि वह अपने बौद्धिकबल के आधार पर दूसरो की बुद्धि मे परिवर्तन कराने की कोशिश करे और दूषित पद्धति को बदल दे। यही कारण है कि गाधीवादीय समाज मे किसी के भी हाथ मे राज्य-सत्ता क्यो न हो, हर मनुष्य को उस की खुले दिल से आलोचना करने का अधिकार है, और यदि उस का विचार अविकल-निरामय है,तो बहुतमत को भी उस के सम्मुख झुक जाने के लिये कहा गया है। यह क्यो ? इसीलिये कि गाधी के सम्मुख कोई ऐसी वर्ग-विशेष या हित -विशेष वाली राज्य-पद्धति नही थी, जिस की रक्षा करने के लिये किसी विशेष प्रकार की स्वतत्रता को गढना पडे। वे चाहते थे, उस स्वतत्रता का सर्वत्र जागरण, जो हर व्यक्ति को राज्य-पद्धति के चुगल से दिन-प्रति-दिन मुक्त करती चली जाय और अन्ततोगत्वा राज्य का अन्त हो जाय। दूसरे शब्दो मे वे चाहते थे कि ऐसी स्वतत्रता हो, जिस से मन-वाणी-कर्म पर बाहरी नियत्रण कम होता जाय और आत्म-नियत्रण स्थान लेता जाय, ताकि अन्त मे बाह्य नियत्रण बिलकुल ही मिट जाय।

(ख) **पुलिस, न्यायालय, जेल और सेना-विभाग**—यह सर्व-साधारण नियम है कि हर एक आदमी अपनी वस्तु की रक्षा करता है। इस नियम की कसौटी को लेकर हम मार्क्सवाद और गाधीवाद के स्वातत्र्य-सिद्धान्त को पहले कस कर देख चुके है। अब यदि उसी कसौटी पर हम राजकीय प्रबन्धक और सरक्षक विभागो को कसे, तो वही निष्कर्ष निकलेगा कि मार्क्सवाद अपने समाजवाद (साम्यवाद) की पुष्टि और रक्षा करने के लिये उन्हे कायम रखना अनिवार्य समझता है, और गाधीवाद अपने सिद्धान्त की पुष्टि और रक्षा के लिये उन्हे अनावश्यक ही नही समझता, बल्कि उन का बडे जोरो से तिरस्कार भी करता है। साधारणत पुलिस, न्याय और

---

१२ Soviet Philosophy, pp 68, 69, 71 (**निम्न रेखाएँ मेरी हैं**)

जेल विभाग, राज्य प्रबन्धक संस्थाएँ मानी जाती हैं, और सेना विभाग राज्य-संरक्षक संस्थाएँ मानी जाती हैं। प्रश्न यह उठता है कि मार्क्सवाद इन्हें क्यों ग्रहण करता, और गांधीवाद इनका क्यों त्याग करता है। कारण स्पष्ट है। मार्क्सवाद सशंकित रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि उसकी पैदा की हुई चीज का कोई खात्मा ही कर डाले, परन्तु गांधीवाद को किसी का भय नहीं रहता। वह अपने सिद्धान्त की यथार्थता को ही उसका बल समझता है। गांधीवाद के कोश में भय शब्द ही नहीं है यह आप पहले जान चुके हैं। इस भेद को जान लेने पर यह भी समझ में आ जाता है कि मार्क्सवादीय समाज-पद्धति में पुलिस और सेना की संख्या में कमी होती नहीं सुनाई पड़ती। यदि कोई समाजवादी या साम्यवादी देश यह घोषणा करता है कि उसने पुलिस और सेना की संख्या में कमी कर दी है, तो साधारणतः वह विश्वास-प्रद बात नहीं मानी जाती। यह दोष केवल समाजवादी या साम्यवादी शासन वाले देशों ही में नहीं रहता, बल्कि उन सब प्रजातन्त्रवादी कहलाने वाले देशों में भी पाया जाता है, जो प्रजातन्त्र के भेष में, अथवा प्रजातन्त्र के नाम की आड़ में स्वतन्त्र बनते हैं, और एक दूसरे पर कुत्ते जैसे गुर्राते हुए छापा मारने की तैयारी में रहते हैं।

राज्य-पद्धतियों का दो प्रकार का भय रहता है। एक तो देशवासियों की ओर से, और दूसरे विदेशियों की ओर से। पुलिस-विभाग देश के अन्दर होने वाले जुर्मों एवं उपद्रवों को दबाने के लिये रहता है, और सेना-विभाग विदेशों पर आक्रमण करने अथवा उनसे संरक्षण करने के लिये रखा जाता है। अन्दरूनी बात कुछ भी हो, पर आधुनिक काल में कोई भी देश या राज्य यह नहीं कहता कि हम अपना सेना-विभाग अन्य देशों पर आक्रमण करने के लिये रखते हैं। वे सब यही कहते हैं कि यदि आत्म-संरक्षण के लिये आवश्यक होता है, तभी आक्रमण किया जाता है। देश के अन्तर्गत जुर्म या उपद्रवों को दबाने के लिये भी पुलिस के अतिरिक्त सेना का कभी-कभी उपयोग करना पड़ता है।

देश के भीतर से या बाहर से समाजवाद (साम्यवाद) पर कोई आँच न आने पाये, इसी दृष्टि से मार्क्सवादियों को अपना पाशविक बल बढ़ा कर रखना पड़ता है। संरक्षण करने के लिये, आतंक फैलाने के लिये और अपने मत के प्रचार के लिये, वे इस बल पर अवलम्बित रहते हैं। जहाँ कोई राज्य-पद्धति तलवार की धार पर जीवित रहना चाहे, और जो पद्धति वर्ग-तन्त्र अथवा तानाशाही को मान्यता दे, वहाँ की भयंकरता का क्या ठिकाना ! "अपनी प्रजा और संसार के सम्मुख अपनी लोकप्रियता सिद्ध करने के लिये तानाशाही चुनावों का नाटक रचती है।
तानाशाही में आतंक और भय निश्चय कराने वाली वस्तु होती है। इसे शत्रुओं की भी आवश्यकता होती है, क्योंकि तनाव और आतंक के लिये शत्रु एक

बहाना होते हैं। यदि शत्रुओं का अभाव हो, तो वह उन्हे पैदा करती है और बढाती है। (यही कारण है) कि रूसी राज्य मुरझाने के स्थान पर और भी अधिक शक्तिशाली और प्रत्येक स्थान मे विद्यमान बन गया है।"[13]

पुलिस का काम है, अपराधियो और विद्रोहियो को ढूंढ निकाले और पकड कर न्यायालयो के सामने पेश करे। न्यायालय उन्हे दण्डनीय घोषित कर वन्दीगृह अथवा जेल मे ठूंसे और फिर जेलदार उन्हे अनेक प्रकार की शारीरिक यन्त्रणाएँ दे। इस तरह पुलिस, न्यायालयो और जेलो का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है जो राज्यकीय प्रबन्ध के नाम पर हिंसात्मक विधि से यथार्थ जन-स्वातन्त्र्य के घातक होते है। पुलिस का एक गुप्त विभाग रहता है, जिसे खुफिया पुलिस (Detective police) कहते है। यह विभाग जनता की स्वतन्त्रता की दृष्टि मे अत्यन्त घृणित माना जाता है, क्यो कि इसके सबब जनता का स्वतन्त्रतापूर्वक खाना-पीना, उठना-बैठना तक कठिन हो जाता है। जो राज्य जितना अधिक भय-ग्रसित रहता है, उतना ही अधिक वह खुफिया पुलिस का आश्रय लेता है। यही कारण है कि तानाशाहो के समय उस का और भी अधिक जोर रहता है। इसीलिये लुइ फिशर ने तानाशाही राज्य-प्रथा की विशेषताओ का उल्लेख करते समय एक विशेषता यह भी लिखी है कि उस मे "तानाशाह और खुफिया-पुलिस के अतिरिक्त शेष सब लोगो को राजनैतिक नपुंसकता और व्यक्तिगत अरक्षितता या संकट का भाव रहता है।"[14] हमारे कहने का यह प्रयोजन नही कि पुलिस और न्याय-विभाग का रहना ही दूषित है। संस्थाएँ दूषित नही है, पर उन का दुरुपयोग किया जाना ही वर्जनीय है। स्वतन्त्रता की दुर्दशा पर विचार कीजिये, तो मालूम होगा कि एक तो सर्वप्रथम राज्य-विधान ही उसे भाषा के चक्र-व्यूह मे गिरफ्त कर लेता है, फिर उस को व्यवस्थापक सभाएँ (Legislative assemblies) कठघरे मे डाल देती और फिर अन्त मे वह पुलिस एव न्यायालयो के हाथ मे पड कर बेरहमी से पीटी जाती है। जब राज्य-सरकार और किसी स्वतन्त्र-विचारक के बीच का मामला किसी न्यायालय मे पहुँचता है, तब न्यायदान की कलई खुलती है। दक्षिण अफ्रिका के डॉ० मलान का अभी ताजा दृष्टान्त इस बात को सिद्ध करता है कि यदि उच्च से उच्च न्यायालय राज्य के विरुद्ध आवाज उठाने का दम भरे तो उस का भी मुह नया न्यायालय बनाकर बन्द कर देने की चेष्टा की जाती है। यह है तानाशाही का एक नया नमूना।

---

१३ लूई फिशर कृत 'गाधी और स्टालिन, (हिन्दी) पृ० ५६, ५७, ५९

१४ " " पृष्ठ ५८

वर्ग-भेद के उदर से उत्पन्न और वर्गीय तानाशाही से परिपोषित मार्क्सवाद जब यह कहता है कि मैं राज्य-पद्धति को मुरझा डालने के लिये अवतरित हुआ हूँ, तो प्रहसन-सा प्रतीत होता है। जन-भेदी और तानाशाही-भावना राज्य-पद्धति को प्रबल बनाने मे लगी रहती है, न कि उसे दुर्बल बनाने मे। इन दोनो का सग रहना, इतना अनहोना मालूम होता है, जितना कि हँसना और गाल फुलाने का एक साथ रहना, जैसा कि तुलसीकृत रामायण मे कहा है "दुइ कि होय इक सग भुआलू। हँसब ठठाइ फुलाउब गालू।"[१५] सम्भव है कोई मार्क्सवादी यह कहे कि मार्क्सवाद ने पूँजीपतियो की राज्य-पद्धति को मुरझा डालने की बात कही है न कि मार्क्सवादीय राज्यपद्धति की, परन्तु यह तर्क गलत है। जब मार्क्स का यह कहना है कि जब स्टेट मुरझा जायगा, तब समाज का कार्य-भार सामाजिक सभाओ आदि द्वारा चलता रहेगा। तब इसका अर्थ सिवाय इसके दूसरा नही होता कि मार्क्स का ध्येय सभी प्रकार का दबाव (coercion)) या हिंसा (violence) वाली राज्य-पद्धतियो का अन्त करने का था। फिर मार्क्सवादी कदाचित् यह कहे कि मार्क्सवादीय राज्य-पद्धति मे न दबाव है और न किसी दूसरे प्रकार की हिंसा, वह तो बढ़ते-बढ़ते अपने-आप ही अन्त मे अहिंसामयी सभा के रूप मे परिणित हो जायगी, तब तो हम यह कहेगे कि इस दलील मे उतनी ही सत्यता है, जितनी आकाश-बेधक बाण की कथा मे हो सकती है। यहाँ मार्क्सवादी साहित्य और तथ्यो तक को हनन कर डालने वाली है।

इसके विपरीत गाधी-मत को देखिये। कई लोगो को गाधी की बातें बडी अटपटी, अव्यावहारिक और परस्पर विरोधात्मक प्रतीत होती है, परन्तु जो यह जान लेता है कि गाधी सत्य के भूखे थे, वे सचमुच ही जन-स्वातन्त्र्य के प्रेमी थे, और उन्होने उसे प्राप्त करने के लिये दुनियावी ढोग को ठुकरा कर विचार-वाणी-कर्म की एकता को अपनाकर अपना सर्वस्व उस के लिये न्योछावर कर दिया था, उसे उन की बातो को समझने मे कोई अटपटापन या विरोधाभास नही दिखाई देता। जो मनुष्य अपना ध्येय स्थिर कर लेता है, फिर यह भी स्वीकार कर लेता है कि वह स्वय अपूर्ण है, जिस के कारण वह भूल कर सकता है, और फिर यह जानता है कि वह समर्थ भी है, जिस के कारण वह सुधार भी कर सकता है, उस का कार्य सदैव अपने निश्चित लक्ष्य की ओर बढता जाता है, भले ही बीच मे कुछ भूलें होती जाती हो। गाधी का ध्येय था सत् या सत्य, जो पूर्ण स्वतन्त्रता के भेष मे आलोकित होना है। इसी पूर्ण स्वतन्त्रता को उन्होने स्वराज्य अथवा स्वनियन्त्रण भी कहा है।

तक आ।

१५ रामायण (अयोध्या काण्ड)

उसमे वाधा डालनेवाली मानुषिक कमजोरियाँ होती है। ये कमजोरियाँ व्यक्तिगत तो होती ही हैं, पर वे सामूहिक रूप मे भी आडे आती है। हिंसात्मक राज्य-पद्धति सामूहिक कमजोरी का नमूना है, इसलिये उसे हिंसात्मक रास्ते से हटा कर अहिंसात्मक रास्ते पर लाना गाधी ने अपना कर्त्तव्य वना रखा था। वे व्यवहार-चतुर थे, सासारिक घटनाओ की ओर से कभी आख नही मीचते थे और न उनका मुकावला करने मे उन्हे कभी भय रहता था। लोग समझा करते थे कि आदर्श और व्यवहार दो भिन्न वाते है, परन्तु गाधी ने अपने चरित्र से यह सिद्ध कर दिखाया कि वे दोनो एक ही वस्तु की दो वाजुएँ है, इसलिये वे व्यवहार-कुशल आदर्शवादी कहे जाने योग्य है। व जानते थे कि राज्य-विहीन समाज की कल्पना कर लेना सहज वात है, पर उस का पूर्ण रूप से आ जाना प्राय असम्भव है। समाज-व्यवस्था के लिये किसी-न-किसी प्रकार के नियत्रण या नियमितता की आवश्यकता रहेगी ही और जो पद्धति इस नियमितता को कार्यान्वित करेगी, वही राज्य सज्ञा कहलायगी, इसलिये उन का कहना यह नही था कि वर्तमान राज्य-पद्धति या किसी भी अन्य राज्य-पद्धति की सभी प्रकार की क्रियाएँ अस्वीकार की जाय, केवल वे ही अस्वीकृत हो, जिन मे स्वतत्रता का घातकपन है, अर्थात् हिंसा है। जिन राजकीय कार्यों मे शुद्ध सेवा-भाव न हो, अथवा सेवा-भाव का आवरण ढाँक कर हिंसा का नृत्य कराया जाता हो, उन्ही को तवदील कराने का उद्देश्य गाधीजी का रहता था, अत उन्होंने कहा कि हिंसात्मक राज्य को अहिंसात्मक राज्य वनाना चाहिये, और इस के लिये अभी से प्रयत्न करते जाना चाहिये, क्यो कि वृक्ष की चोटी पर पहुँचने का इरादा रखने वाला निरन्तर ऊपर को ही सरकता जाता है, न तो उसे विश्राम है, और न नीचे खिसलने को गुजाइश।

इस सिद्धान्त को लेकर ही पुलिस, न्याय, जेल, और सेना-विभाग को मिटाने के लिये गाधी ने व्यावहारिक साधनाओ के द्वारा मार्ग वताया है। चूँकि वे जानते थे कि सव एक ही श्रेणी के तपस्वी नही होते, इसलिये जब कभी सिद्धान्त की वात आती थी, तव वे पूर्ण अहिंसा का स्वरूप वताते थे। यहाँ तक कि राष्ट्र-के-राष्ट्र को आक्रमण-कारी के सम्मुख कट जाने के लिये उद्यत हो जाने की वात कह डालते थे। उन का यह सिद्धान्त केवल मौखिक गर्जना ही नही रहती थी, वरन् अपने व्यक्तिगत आचार से वे उस का सदा साक्षात्कार कराते रहे है। इस व्यक्तिगत आचार का ही गाधी-मत मे महत्व है, जैसा कि कहावत है 'दृष्टान्त शिक्षा की अपेक्षा वेहतर होता है (example is better than precept)। यह तो हुई जन-समाज मे मौखिक रूप से और आत्म-दृष्टात के द्वारा सिद्धान्तो को पेश करने की वात। अव देखिये जनसाधारण के व्यावहारिक क्षेत्र की वात। जब जनसाधारण की वात आती थी, तव वे व्याव-

हारिक सुझाव ही देते थे, पर उस व्यावहारिक सुझाव मे भी सिद्धान्त की अवहेलना कभी नही की जाती थी। वही अब हम उन्ही के कतिपय वाक्यो का उल्लेख कर के बताते हैं।

उन्होने कहा था कि 'स्वतत्र भारत-राज्य हर एक को उसकी व्यक्तिगत और नागरिक स्वतत्रता की गारन्टी देगा सही, पर उसे यह स्वतत्रता कदापि न रहेगी कि जिस विधान को हिन्दुस्थान-वासी विधान-सभा के द्वारा बनाएँगे, वही हिंसा के द्वारा उखाड कर फेक दिया जाय।'[१६] इससे स्पष्ट है कि गाधीजी उस स्वतत्रता को स्वतत्रता नही कहते, जिस मे हिंसा का आश्रय लिया जाता है। विधान को उखाड-फेकना उन की दृष्टि मे राज्य-विद्रोह नामक अपराध नही है। आवश्यक हो, तो हर एक को विधान के विरुद्ध भी आवाज बुलन्द करने और कदम उठाने का अधिकार है, परन्तु यह सब इसे अहिंसात्मक तरीको पर ही करना होगा। नियत्रण-कारी नियम व विधान क्यो न बना लिया जाय, अथवा अहिंसात्मक राज्य-व्यवस्था भी क्यो न चल निकले, एक बात अवश्य दिखती है, जैसा कि गाधीजी ने कहा है कि "कुछ-न-कुछ जुर्म तो कयामत के दिन तक भी चलते रहेगे, जैसे—चोरी करना"[१७] क्या कि, 'अहिंसात्मक राज्य मे भी सभी आदर्श पुरुष तो रहेगे नही—कोई समाज विरोधी होगा, कोई परपीडिन, और कोई सामाजिक व्याधियो की बलि बन कर आत्म-नियत्रण की कमी के कारण हिंसा का आसरा लेगा और कानून-भग करेगा।'[१८] इसलिये जब कोई जुर्म या उपद्रव देखे जायेगे, या किसी समय कोई सैनिक दल ही उठ खडा होगा, तो गाधीजी का कहना है "कोई भी राज्य सरकार क्यो न हो जिस मे थोडा भी गायत्व है, इस प्रकार की अराजकता को न होने देगा।"[१९] इससे सिद्ध होता है कि गाधी के मन्तव्यानुसार भी अहिंसात्मक राज्य को अधिकार है कि वह भी अराजकता को दबाव, परन्तु इस का अर्थ यह नही कि, गाधीजी का आदेश है, हिंसा का ही प्रयोग कर के इन जुर्मो या उपद्रवो आदि को रोका जाय। उन्होने इस सम्बन्ध मे एक बार यह लिखा था कि "मुझे स्वय अभी तक कोई ऐसा मार्ग नही मिल पाया है कि जिस मे विचार मे आने वाले हर प्रकार के मामलो को दण्ड मे तथा दण्डयुक्त प्रतिबन्धो मे छुटकारा मिल जाय। (किसी भी हालत मे) दण्ड

---

१६ हरिजन २०-४-१९४० पृ० ९६

१७ हरिजन ३१-७-१९३७ पृ० ८६ (पाठक चोरी के उस व्यापक अर्थ का खयाल रखें, जिस की व्याख्या गाधीवाद मे की गई है)

१८ Pol Phil of Mahatma Gandhi, pp 342-343

१९ हरिजन ९-३-१९४०, पृ० ३१

अहिंसात्मक ही होना चाहिये, बशर्ते यह कि उस सम्बन्ध मे इस प्रकार के कथन का प्रयोग किया जा सकता हो।"[२०] इस तरह जहाँ तक सम्भव हो, अहिंसा-पालक राज्य दण्ड देना कम करेगा। जहाँ दण्ड देना अनिवार्य हो, वहाँ उसे यथासम्भव अहिंसात्मक बनायेगा। प्राण-दण्ड तो वह किसी भी दशा मे न देगा। प्राण-दण्ड का विरोध गाधीजी ने दो कारणो से किया है। एक तो सम्भव है कि न्यायकर्त्ता ही भूल करता हो। ऐसी हालत मे जब मनुष्य का प्राणान्त हो जाता है, तब भूल सुधारी जाने के लिये कोई अवकाश हाथ मे नही रह पाता। दूसरे अपराध करने का दोषी न तो शरीर रहता है और न प्राण। दोषी होता है मन, और मन को दोषी बनाने वाली वह समाज-व्यवस्था रहती है, जिस मे उस ने जन्म पाया और जिसने पाला-पोसा है। यदि अपराधी को प्राण-दण्ड न दिया जाय और उस के बदले मे वह किसी ऐसे स्थान मे रखा जाय, जहाँ उसकी बुद्धि प्रकाशित की जा सके, तो उसकी तथा समाज की दृष्टि से अति उत्तम हो। व्यक्ति विशेषो के प्राण-दण्ड से, जो केवल भयोत्पादक क्रिया है—समाज की दूषित प्रवृत्ति नही सुधरती, यह दुनिया के प्राण-दण्ड भोगियो की संख्या के आँकडो से पता चल सकता है। इसीलिये गाधीजी ने कहा है कि "उस राज्य मे, जिस का कार्य अहिंसा के सिद्धान्तो के अनुसार चलता हो, प्राण-दण्ड पाये व्यक्ति को किसी प्रायश्चित्त-कारागार मे भेजा जाय और वहाँ उसे अपने संशोधन का अवकाश दिया जाय।"[२१] इसी तरह गाधीजी के जेल सम्बन्धी विचार पठनीय है। वे जानते थे, क्यो कि उन्हे स्वयं भोगना पडा था, कि जेलखानो मे वन्दीजनो को कठिन-से-कठिन यन्त्रणाएँ दी जाती थी और खराब-से-खराब भोजन दिया जाता था। उन्हे मालूम था कि उन मे आमदनी की अपेक्षा खर्च अधिक होता था, जिस से वे राज्य के खजाने पर भार-रूप थे। वे यह भी जानते थे कि जेल से मुक्त होने पर कैदी कुछ अच्छा नागरिक नही बन जाता था, बल्कि और भी अधिक खतरनाक अपराध करने लगता था। इन सब दुर्गुणो को देख, उन्होने हिन्दुस्थान सरकार को सुझाया कि जेलखाने, बजाय यन्त्रणा-गृह के संशोधक-गृहो का काम करें। बजाय अधिक खर्च के अधिक आयप्रद हो, इसलिये उन्होने लिखा कि जेलखाने मे कराये जाने वाले "उन सब उद्योगो को बन्द कर दिया जाय, जिन मे खर्च अधिक और आमदनी कम होती है। सब जेलो मे हाथ से सूत कातने और बुनने का काम कराया जाय। जहाँ सम्भव हो, वहाँ कपास भी बोया जाय और उत्तम-से-उत्तम कपडे बनाये जायँ कैदियो को हिकारत की दृष्टि से न देखा जाय, और न उन के साथ अपराधियो जैसा व्यव-

२० हरिजन २३-१०-१९३७ पृ० ३०८·

२१ हरिजन २७-४-१९४० पृ० १०१।

हार किया जाय, वल्कि यह समझा जाय कि उन मे कुछ कमी (defect) है। जेल के वार्डर्स (पहरेदार) कैदियो को त्रास-दायक न हो, वल्कि सभी अफसर उन के मित्र और शिक्षक वन कर रहे।"[२२]

इसी विषय पर उन्होने सन् १९४७ मे कहा था कि "सव अपराधी रोगी के समान माने जाकर जेल-रूपी अस्पताल में दवा-दारू करायें और नीरोग वनाये जाने के लिये भरती किये जायें। कोई आदमी तमाशा दिखाने के लिये जुर्म नही करता। यह (जुर्म करना) रोग-ग्रस्त मन का लक्षण है। अमुक रोग के क्या कारण हैं, उनकी जाच की जाय और वे हटाये जावें। जव जेल अस्पतालो के रूप मे हो जावेंगे तव फिर उन्हें महल सरीखी इमारतो की जरूरत ही न रहेगी।   जेल के कुल कारकून ऐसे दिखाई देने लगे, मानो वे किसी अस्पताल के डाक्टर-वैद्य-और नर्स हैं। कैदियो के मन मे यह भाव उत्पन्न हो उठे कि सव अफसर उन के मित्र है—सव उनके मानसिक स्वास्थ्य को पुन लाने के लिये मददगार है, न कि उन्हे किसी प्रकार से त्रास देने के लिये।"[२३] जव गाधीजी यह कहते हैं कि जेलखानो मे यह सुधार हो, वह सुधार हो, तो इस का अर्थ यह नहीं है कि वे जेल की सजा देने के पक्ष मे हैं। वे तो जेल-सजा (imprison-ment) को जवरन (Coercion) ही समझते हैं, और इसलिये वह "अहिंसा के शुद्ध सिद्धान्त से नीचे गिराने वाली ही होती है।"[२४] अत उन का आदेश सदा यही रहता था कि अहिंसात्मक राज्य मे अधिक-से-अधिक अहिंसा ही वर्ती जाय।

यही कारण है कि वे पुलिस-विभाग का रखना आववश्यक तो समझते हैं, पर साथ-ही-साथ वे यह भी चाहते हैं कि पुलिस शान्ति-स्थापक स्वयं-सेवकों-जैसी सस्था हो। इसी को ध्यान मे रख कर उन्होने लिखा है कि "मेरे विचारानुसार पुलिस आधुनिक पुलिस-दल मे भिन्न प्रकार की रहेगी। उस की श्रेणी उन्हीं लोगो की वनाई जायेगी, जो अहिंसा पर विश्वास करते है। वे जनता के नौकर वन कर रहेंगे न कि मालिक वन कर। जनता अपने-आप स्वभाववश उन की सहायता करेगी, और दोनो पारस्परिक सहयोग से सदा घटते जाते हुए उपद्रवो का आसानी से मुकावला करते रहेंगे। यद्यपि पुलिस के पास कुछ शस्त्र रहेंगे, तथापि उन का प्रयोग वहुत ही क्वचित किया जायेगा। सच पूछा जाय, तो पुलिस के जवान सशोधको का काम करेंगे।"[२५] जुर्मो को रोकना और जुर्म करने वालो को पकडना, दो काम पुलिस की

---

२२ हरिजन १७-७-१९३७ पृ० १८०

२३ हरिजन २-११-१९४७ पृ० ३९५-३९६

२४ Young India II, P 862

२५ हरिजन १-९-१९४० पृ० २६५

जिम्मेदारी के है, और दोनो मे गाधी जी के आदेशानुसार जहाँ तक हो अहिंसात्मक तरीके ही इस्तेमाल मे लाये जायँ। हिंसात्मक तरीका जव कभी अनिवार्य हो, तव वह भी अत्यन्त हल्के रूप का होना चाहिये।

जव गाधीजी ने पुलिस के हस्तक्षेप पर इतना अधिक प्रतिवन्ध लगा दिया है तव भला सेना पर कितना और अधिक न होगा? "सच्चा प्रजातन्त्र तभी कहा जा सकता है, जव वह किसी भी वात के लिये सेना पर भरोसा करना छोड दे। जिस प्रजातन्त्र का अस्तित्व सैनिक सहायता पर निर्भर हो, वह एक दरिद्र प्रजातन्त्र ही होगा। सैनिक वल मन की स्वतत्र वाढ मे वाधा डालता है। वह मनुष्य की आत्मा को कुचल डालता है।"[२६] इसलिये "नागरिक स्वतत्रता और देश के अन्दर शान्ति वनाये रखने के लिये सेना का उपयोग करना गाधीजी वुरा समझते थे।"[२७] इतना ही क्यो, वे विदेशी आक्रमणो से वचने के लिये भी सेना-वल को प्रयोग मे लाने के विरुद्ध थे। विदेशी आक्रमणो का मुकावला करने के लिये गाधीजी की ओर से चार सुझाव मिलते है। एक तो यह कि अहिंसात्मक राज्य अपनी शक्ति को गाँव गाँव मे विभक्त कर देगा, अर्थात् समाज का सारा जीवन वडे-वडे स्थानो या कल-कारखानो मे सिमटकर नहीं रहेगा। केन्द्रीयकरण का ही कारण है कि आज हम राजधानियो, वडे-वडे शहरो, वडे-वडे कारखानो पर शत्रुओ के गोला-वारूद, एटम वम आदि वरसते हुए देखा करते है। प्रत्येक गाँव विकेन्द्रीकरण-नीति के कारण सम्भवत विदेशी आक्रमणो से वचा रहेगा। फिर भी उसे हर प्रकार के दुश्मनो का मुकावला करने के लिये योग्य वनाया जायगा। हर स्थान मे अहिंसा के सच्चे पुजारी सत्याग्रही वन कर हर प्रकार के अन्यायो का मुकावला करने के लिये उपस्थित रहेगे, चाहे वह अन्याय—विदेशियो के द्वारा किया जाय, चाहे देश-वासियो ही के द्वारा। इसीलिये यह कहा गया है कि "गाँवो और व्यक्तिगत नागरिको को सारी दुनिया के खिलाफ भी अपनी स्वतत्रता की रक्षा करने का सामर्थ्य होना चाहिये।"[२८] दूसरा उपाय है, सत्याग्रहियो की सेना का तैयार करना जो मरना जानती हो, न कि मारना। "मुझे इस वात मे किसी भी प्रकार का सन्देह नही है" गाधीजी का कहना है "कि जव हिंसा की काली कला मे लाखो का शिक्षित किया जाना सम्भव है, जो कि पशुओ का नियम है, तो उन्हे अहिंसा की धवल कला मे, जो उद्धरित (regenerate) मनुष्य का नियम है, शिक्षित

---

२६ हरिजन ९-६-१९४६ पृ० १६९

२७ हरिजन २३-१०-१९३७ पृ० ३०८

२८ Young India 24-9-1925 p 341

करना और भी अधिक सम्भव है।"[२९] "इस तरह शिक्षित किये गये नि.शस्त्र लोग आक्रमणकारी की तोपो के सामने घास के समान (जलने के लिये) अपने आप समर्पण करने को तैयार हो जायेंगे।"[३०] तीसरा उपाय है, "आक्रमणकारी को कब्जा छोड देना, परन्तु उससे असहयोग करना। मान लो, कोई नवीन युग का नीरो हिन्दुस्थान पर चढ आया, तो राज्य-प्रतिनिधि उस को आ जाने देगा, लेकिन उसे यह चेतावनी दे देगा कि उसे जनता से कोई सहायता न मिलेगी। वह आत्म-समर्पण की बजाय मौत पसन्द करेगा।"[३१] चौथा सुझाव है कि देश इतना नि शस्त्र, शान्तिप्रिय हो कि सारा ससार उस की चाह करने लगे, जैसा कि गाधीजी के ता० १०-२-१९४० के वक्तव्य मे मिलता है। उन्होंने कहा कि "जहाँ तक सरक्षण का प्रश्न है, वह निस्सन्देह स्वतत्र भारत का प्रमुख काम होगा कि वह अपना प्रबन्ध खुद करे।—— व्यक्तिगत रूप से मुझे उससे कोई वास्ता नही, क्यो कि अगर मैं हिन्दुस्थान को अपने साथ ले चल सका, तो मुझे और कुछ न चाहिये सिवाय इस के कि डाकुओ वगैरह से बचने के लिये पुलिस का बल हो, परन्तु जहाँ तक सरक्षण का सम्बन्ध है, नि शस्त्र शान्तिप्रिय हिन्दुस्थान सारे ससार की सदृष्टि पर निर्भर रहेगा, परन्तु मै जानता हूँ कि अभी यह केवल एक स्वप्न है।"[३२]

जहाँ तक न्यायालयो और न्याय-पद्धति का सवाल है, हम जानते हैं कि न्यायालयो मे दो प्रकार के मामलो का निपटारा किया जाता है, एक फौजदारी (Criminal) और दूसरे दीवानी (Civil) मामले। गाधीजी का कहना है कि ये न्यायालय स्टेट के हाथ मजबूत करने के साधन हैं, और वकील तथा न्यायाधीश, दोनो चचेरे भाईयो के समान मिल-जुलकर उस मे योग देते है। इसलिये गाधी जी का कथन है कि जिन न्यायालयो के द्वारा अनर्थकारी स्टेट को बल मिलता है वे "राष्ट्र की स्वतत्रता के सरक्षक नही", वरन् "राष्ट्र की आत्मा को कुचलने के लिये कुचलने वाले ग्रह है।"[३३]

जिन्हे न्याय-दान की वर्तमान पद्धति का अनुभव है, वे जानते है कि ग्राम-निवा

---

२९ Gandhi's Statement, 30-9-1939 (Cited in 'Gandhi's Beads of Wisdom, p 74)

३० " " 13-4-1940 (" " p 76)

३१ " " " (" p 76)

३२ Gandhi's Statement Dt 10-2-40 (cited in Gandhi's Beads of Wisdom, p 75)

३३ Young India I, p 35

सियो को कोसो दूर से अदालतो मे आना पडता है, और कई वार पेशियाँ वढ जाने से कई दिनो तक उन्हे घिसटना पडता है। फलत मुवक्किलो को असुविधा, अधिक खर्च, गृह कार्यो की हानियाँ आदि सहनी पडती है, और यदि राज्य कर्मचारियो मे भ्रष्टता हुई, तो फिर मुसीवतो का क्या ठिकाना! इन सब प्रकार की कठिनाइयो का हल, गाधीजी का कहना है, उस समय हो सकता है, जव मनुष्यो को न्याय उन के ग्रामो मे ही ग्राम-पचायतो, अथवा वादी-प्रतिवादी के द्वारा मुकर्रर किये गये पचो ही के द्वारा मिल जाया करे, या जब कि वादी और प्रतिवादी दोनो विना किसी पच को वीच मे डाले स्वय ही आपस मे अपने झगडे निपटा लिया करे। यही कारण है, आप को स्मरण होगा, गाधीजी ने सन् १९२० मे अदालतो के वायकाट (बहिष्कार) का प्रोग्राम हिन्दुस्थान की जनता के समाने पेश किया था। वर्तमान न्याय-पद्धति के दूषणो पर विचार करने के पश्चात् श्री धावनजी ने साराश रूप मे यह लिखा है कि "इस प्रकार गाधीजी राज्य के न्याय-विभागीय काम को कम-से-कम कर देना चाहते है। नये राज्य मे जुर्म और उपद्रव कम हो जायेगे। साधारणत लोग अदालतो को त्याग देंगे और आपसी मतभेदो को स्वय समझौता करके या अपने पचो के द्वारा तय कर लिया करेंगे। थोडे-वहुत जो मुकदमे राज्य के न्यायालयो मे पहुँचेगे, उन मे न्याय सस्ता, जल्दी और नैपुण्य-पूर्ण मिलेगा।"[३४]

इस तरह जब हम अहिंसात्मक राज्य की चर्चा करते है, तव मार्क्सवाद और गाधीवाद दोनो के दृष्टि कोणो से उसे देखना पडता है। मार्क्सवाद मे केवल उस स्थिति का दर्शन पाया जाता है, जो अन्त मे आने वाली है, अर्थात् उस के मतानुसार हिंसा करते रहने पर भी अन्त मे एकाएक अहिंसामय समाज की स्थापना हो जायगी, परन्तु गाधीवाद मे इस के विपरीत, दो स्थितियो पर ध्यान रखा है। एक तो अन्त मे आने वाली स्थिति, और दूसरी वीच की स्थिति। वीच की स्थिति मे सशोधन की गति इस क्रम से चलती रहती है कि एक ओर हिंसात्मक साधनो का प्रयोग घटता जाता है, और दूसरी ओर अहिंसात्मक साधनो की प्रधानता होती जाती है, इसलिये जव गाधीजी अहिंसात्मक राज्य की वात करते हुए पाये जाते है, तो हमे उन के दो प्रकार के विचार मिलते हैं। एक तो, अन्तिम स्थिति को प्रदर्शित करने वाले पूर्ण, अथवा पूर्णप्राय आदर्श युक्त विचार, और दूसरे उस आदर्श की ओर ले जाने वाले व्यवहार से भरे विचार। इन भेदो को ध्यान मे न रखने के कारण पाठक वहुधा गाधी के वचनो मे द्विभावात्मक विरोधाभास का दोषारोपण करते दिखाई देते है। यह पाठको का ही दृष्टि-दोष है, न कि गाधी के वचनो का। वात यथार्थ यह है कि गाधीजी कभी

---

३४ Pol Phil of Mahatma Gandhi p 351

अन्तिम पूर्णादर्श की बात करते थे, और कभी मध्यस्थ व्यावहारिक आदर्श की। व्यावहारिक आदर्श का वर्णन भी आप को दो दृष्टि-कोणो से किया हुआ मिलेगा—एक अपने व्यक्तिगत दृष्टि-कोण से, और दूसरा जन-साधारण दृष्टि-कोण से, क्यो कि मानसिक और आध्यात्मिक विकास सभी लोगो का एक-सा नही होता है। फिर उन का व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी दो प्रकार से प्रकट होता था—वक्तव्यो के द्वारा और कर्म के द्वारा। वे केवल वक्तव्यो मे उलझ कर नही रह जाते थे, वरन् कर्म-क्षेत्र मे आ उतर कर जन-साधारण के समक्ष प्रमाणभूत होकर प्रकट होते थे, ता कि वे मन-वचन-कर्म से सत्य सिद्ध हो और सर्वसाधारण भी उस ओर अग्रसर हो। इस तरह हमे स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर तो मार्क्स उस राज्य-मार्ग पर चल पडे, जिस मे पूर्व स्थित हिंसा केवल भेष बदल कर नृत्य करती चली जाती है और दूसरी ओर गाधी ने उस राज्य-मार्ग को पकडा, जिस मे अहिंसा विकसित होने के लिये हिंसा से सघर्ष करती हुई आगे बढती चली जाती है।

(२) राज्य से सम्बद्ध अशत: हिंसात्मक व्यवस्थाएँ—अभी तक हमने राज्य के उन व्यवस्थापक विभागो पर विचार किया है, जो हिंसा-प्रवृत्ति के प्रतीक कहे जाते है। इन के अतिरिक्त कुछ प्रबन्धक व्यवस्थाऐं ऐसी भी है, जिन मे हिंसक-प्रवृत्ति अल्प-रूपेण रहती है, और कुछ ऐसी हैं, जिन मे वह बिलकुल ही नहीं रहती। यो तो उत्तम से-उत्तम सस्था तत्सम्बन्धी कर्मचारियो के द्वारा दूषित और हिंसात्मक बनाई जा सकती है, पर हमे अपना ध्यान सस्था की सामान्य स्थिति पर ही देना है, न कि कर्मचारियो के दूषणो पर। उपरोक्त पुलिस, न्यायालय, जेल और सेना-विभागो के अतिरिक्त जिन विभागो के विषय मे हमे यहाँ विचार करना है, वे अनेक हैं। इस-लिये उन सब का उल्लेख करना कठिन है, और वह निरर्थक भी होगा। चूंकि हमे केवल सैद्धान्तिक निर्णय पर पहुँचना है, इसलिये दृष्टान्त-स्वरूप केवल निम्नांकित विभागो का ही हमने उल्लेख किया है।

मार्क्सवाद की दृष्टि से इन सभी विभागो के विषय मे हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि वह उन पर इस दृष्टि से विचारता ही नही है कि वे हिंसात्मक हैं या अहिंसात्मक। उस का सिद्धान्त और मार्ग केवल एक है कि पूंजीपति-वर्ग मिटाया जाय, क्यो कि वही राज्याधिकारियो के द्वारा सर्वप्रकार की व्यवस्थाओ या राज्य विभागों को अपने मन के मुताबिक नाच नचाता रहता है। मार्क्स का कहना है कि "वे (सस्थाएँ) चाहे जिस रूप मे प्रकट हो, पर एक बात, जो समस्त भूतकालीन युगो मे समान रूप से घटित होती है, निश्चित है—वह है, समाज के एक भाग का दूसरे भाग के द्वारा शोषण ? फिर इस मे कोई आश्चर्य नही कि भूतकालीन युगों की चेतना कुछ निश्चित सामान्य रूपो या सार्वत्रिक विचारो के भीतर ही चलती

रहती है, जिसका पूर्णत अन्त उस समय तक नही हो सकता, जब तक वर्गीय विरोधत्व का सम्पूर्णत अन्त न हो जाय।"[३५]

मार्क्स के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वह व्यक्तिगत व्यवस्थाओ का बदलना या सशोधन करना इतना आवश्यक नही समझता था, जितना वर्ग का अन्त कर देना। इसी कारण मार्क्स ने भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओ के विषय को अलग-अलग नही पकडा है। जहाँ तक हुआ उस ने उन मे उतना ही परिवर्तन करने के लिये कहा है, जितने से पूंजीपति वर्ग को आघात पहुँचे। रही गाधीजी की बात, सो उन्होने अहिंसा को ही प्रधानता देकर चतुर्दिक सशोधन करना उचित समझा। उसी दृष्टि से राज्य की समस्त व्यवस्थाओ की समीक्षा करना गाधी का मुख्य कार्य था। जिन-जिन क्षेत्रो मे, जहाँ-जहाँ और जितनी-जितनी उन्हे हिंसा दिखी, वहाँ-वहाँ से उन्होने उसे निकाल बाहर कराने का आदेश दिया है। ये है दृष्टान्त स्वरूप वे विभाग, जहाँ से हिंसा का डेरा कूच करने के लिये गाधी का आदेश है।

(क) **कर-विभाग**—इस विभाग मे हिंसा-प्रवृत्ति का अधिक जोर रहता है, क्योकि एक ओर तो कर देना सर्वसाधारण को अखरता है, और दूसरी ओर राज्य बल-पूर्वक उन्हे वसूल करता है, इसलिये जो कर जन-स्वातन्त्र्य को हरण करने वाले—अनावश्यक पुलिस-सेना-विभागादि एव राजकीय ऐश आरामो पर खर्च करने के लिये वसूल किया जाय, वह बिलकुल वर्जनीय है। इस के विपरीत जनता की आवश्यकताओ को पूरा करने वाली बातो पर, जो कर उतना ही वसूल किया जाय, जितने की कि जरूरत है, तो वह न्याय्य और अहिंसात्मक है। मार्क्स ने, हम पहले बता चुके है, खूब कस कर उत्तरोत्तर प्रवृद्ध और आनुक्रमिक आय-कर को वसूल करने और उत्तराधिकारित्व का अन्त कर देने के लिये आदेश दिया है।[३६] इसके मूल मे वही उद्देश्य था कि पूजीपति वर्ग का अन्त हो जाय, परन्तु गाधीजी का ध्येय था कि कर-आय जन-सेवार्थ व्यय की जाय। उन का कहना था कि "स्वस्थ कर वही हो सकता है, जो कर-दाता की कम-से-कम दसगुनी आवश्यक सेवा कर सके। अफीम आदि मादक द्रव्यो पर, घुड-दौड तथा अन्य प्रकार के जुआडीपन पर तथा वेश्यादि के कुकर्मों पर कर लेकर खजाना भरना गाधी-मत मे महान् पाप है। इस का अर्थ यह नही कि गाधी कर-मुक्त कर के दुर्व्यसनो को प्रोत्साहन देना चाहते थे। प्रोत्साहन और प्रसार की बात नही थी, बल्कि वे उन का अन्त करना चाहते थे। इस प्रकार के व्यसन या पापकर्म जनता की शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक गति

---

३५ Communist Manifesto pp 69-70

३६ देखो अ० ११ (अ), पृ० ५३३ पर दिया हुआ सूत्र स० २.

के विनाशक होते हैं, इसलिये जो राज्य उन से कर वसूल कर के उन्हे चलने देने की अनुमति देता, या पनपने देता है, वह गांधी-मत मे महान् भ्रष्टाचारी और हिंसात्मक राज्य होता है। गांधीजी का यह भी मन्तव्य नहीं, कि धनी व्यक्तियो पर कम कर टैक्स न लगाया जाय। उन का कहना है कि न तो वह गरीबो पर इतना अधिक हो, कि वे उस के भार को न सह सकें, और न वह धनिको पर ही इतना अधिक हो कि वे सम्पत्ति उत्पादन करने मे उत्साहहीन हो जायें। इसी को लक्ष्य करके उनका ध्यान था कि गरीब-अमीरो के लिये उचित उपान्त (margin) छोड कर उन पर कर लगाया जाय। इसी कारण से वे मृत्यु-कर के भी विरुद्ध नहीं थे, क्यो कि जनता मे आर्थिक समानता रखने का वह एक साधन है। टैक्स किस रूप मे वसूल किया जाय, इस के विषय मे गांधीजी का विचार था कि यदि वह मुद्रा के रूप मे वसूल न किया जाकर सेवा अथवा श्रम के रूप मे लिया जाय, तो उत्तम हो, क्यो कि "श्रम के रूप मे चुकाने से राष्ट्र की उत्साहपूर्ण पुष्टि होती है। जहा पर समाज सेवा के लिये मनुष्य अपने-आप श्रम करते है, वहाँ मुद्रा-विनिमय की आवश्यकता ही नही रह जाती।"[३७] इन वाक्यों के अन्तर्गत गांधी की वही राज्य-विहीनता की अन्तिम भावना झलक रही है, जिस मे हर मनुष्य प्रेम-वश समाज सेवा से प्रेरित होकर अपने-आप कर्तव्य-कर्म मे लगा रहता है। आवश्यकतानुसार कर वस्तुओं के रूप मे भी वसूल किया जाकर स्थानीय निवासियो के ही लाभार्थ खर्च किया जाय, तो कोई हानि नहीं। साराश यह कि कर वसूल करने का तरीका चाहे प्रत्यक्ष (direct) या अप्रत्यक्ष (indirect) हो, मुद्रा-रूप मे ही अथवा वस्तु-रूप में या श्रम रूप मे, हर हालत मे वह इस तरह व्यय किया जाय कि जनता को कम-से-कम दस गुना, अर्थात् अधिक-से-अधिक गुणदायक सिद्ध हो।

(ख) शिक्षा-विभाग—सार्वभौम ऐक्य की भावना से जिस शिक्षा-पद्धति का संचालन होता है, वही अहिंसात्मक पद-प्राप्ति की अधिकारिणी बन सकती है। जिस देश की शिक्षा सकीर्ण राष्ट्र-भावना की रज्जू से कस ली जाती है, वही हिंसात्मक रूप होती है। इस के अतिरिक्त जो राज्य अपनी शिक्षण-पद्धति के द्वारा ऐसे नागरिक उत्पन्न करे, जो परावलम्बी बने, राज्य-पद्धति के चपरासी टट्टू हो, स्वावलम्बनशून्य रहे, स्वराज्य अर्थात् नियमित जीवन को न पा सकें, तो वह राज्य अत्यन्त घातक और हिंसात्मक होता है। इसीलिये गांधी ने सन् १९२० मे अंग्रेज-शासन-कालीन विद्यालयो का बायकाट करने के लिये घोषणा की थी। वे समाज के स्तम्भ बालक-बालिकाओ को निरे पुस्तको के कीडे या मस्तिक के धुरन्धर विद्वान् बनाने मे कल्याण

---

३७ हरिजन २५-३-१९३९, पृ० ६५.

नही समझते थे। उन्हे चाहिये थे, व्यावहारिक जीवन वाले नागरिक, जिन मे शरीर, मस्तिष्क और अध्यात्म का यथावत् सयोग रहे, इसलिये उन्होने नई तालीम अथवा वेसिक एजूकेशन (Basic education) की तजवीज हिन्दुस्थानियो के सामने पेश की। इस मे मानसिक और औद्योगिक शिक्षा-क्रम का सयोग रखा गया है, ता कि भावी नागरिको का ध्यान वाल्यकाल से ही आर्थिक उत्पत्ति और मानसिक विकास की ओर लगाया जा सके। गाधीजी का विचार था कि इन शिक्षालयो मे शिक्षार्थियो द्वारा इतनी अर्थिक आय होने लगे कि उनका खर्च उसी से चल निकले अर्थात् यह शिक्षा-पद्धति स्वावलम्वी वने। "मेरी नई तालीम" उन्होने कहा था "पैसे के ऊपर निर्भर नही है। इस शिक्षा का दौरान-खर्च शिक्षा-व्यवस्था से ही आना चाहिये। इस की कुछ भी आलोचनाएँ क्यो न की जायें, पर मै जानता हूँ कि सच्ची शिक्षा वही है, जो आत्म-पोषक (Self-supporting) हो।"[३८] अत उन की धारणा है कि "आत्म-पोषक आधार के विना नई तालीम मृत्य शरीर के समान होगी।"[३९] अव यदि मार्क्स के केवल शिक्षा-सम्वन्धी दृष्टिकोण को देखे, तो यह प्रतीत होता है कि उन का भी वही ध्येय है, जो गाधी जी का था। इस पुस्तक के पृष्ठ ५३४ पर दी हुई सूची के १०वे नम्वर को देखिये। उस मे उन का मन्तव्य यह लिखा है कि "सार्वजनिक पाठशालाओ मे वालको को नि शुल्क शिक्षा दी जाय। शिक्षा का औद्योगिक उत्पादन आदि के साथ योग किया जाय।" परन्तु विचारपूर्वक देखिये, तो दोनो के दृष्टिकोणो मे भेद भी प्रकट होने लगता है। मार्क्स-मत मे शिक्षालयो को स्वावलम्वी, अर्थात् आत्म-पोषक वनाने की वात नहीं पाई जाती। इस का कारण है। मार्क्स का सिद्धान्त ही यह नही कहता कि प्रजा आत्मावलम्वी वने। यदि आत्मावलम्वन उनके मत मे है, तो यही है कि राज्य ही सव प्रकार का भार सँभाले।

(ग) चिकित्सालय विभाग—हर समय राज्य पद्धति मे प्रजा-गण की चिकित्सा का थोडा या अधिक प्रवन्ध अवश्य किया जाता है, क्यो कि रोग-निवारण कर जन-शक्ति का वढाना हर व्यक्ति का, विशेष कर हर राज्य का, परम्परा से अनिवार्य कर्तव्य कहा जाता है। जव यह कर्त्तव्य फलासक्ति से रहित, केवल पर-हित की भावना को लेकर किया जाता है, तव वह पूर्ण अहिंसात्मक होता है। गाधीजी ने इस विभाग मे भी हिंसा का अश देखा, क्यो कि इस विभाग के वैतनिक या अवैतनिक प्राय सभी कर्मचारियो मे लोभ-वृत्ति अधिकतर रहती है। इसीलिये उन्होंने वकीलो के साथ-साथ सन् १९०८ ही मे डॉक्टरो और हकीमो को भी समाज-

---

३८-३९. हरिजन २५-८-१९४६, पृ० २८३

द्रोही कहा था। दोनो जनता को परावलम्बी बनाये रखने तथा उन का शोषण (exploitation) करने मे अनुरक्त पाये जाते है। हिन्दुस्थान की निर्धनता और और डॉक्टर-हकीमो की लोभ-वृत्ति को देख गांधीजी ने प्राकृतिक चिकित्सा (Nature Cure) पर बहुत जोर दिया। किसी-किसी रोग पर उन्होने स्वय ही मिट्टी आदि पदार्थों के द्वारा अपनी तथा अन्य लोगो की सफलतापूर्वक चिकित्सा की। कई एक डॉक्टर-वैद्यादि भी प्राकृतिक उपचार के बडे समर्थक हैं। गांधीजी की जिस क्षेत्र मे जो योजना रहती थी, हम देख चुके है, वह स्वदेशी अर्थात् स्थानीय परिस्थितियो के अनुकूल बनाई जाती थी, और उस मे स्वावलम्बन का लक्ष्य रखा जाता था। प्राकृतिक उपचार मे एक तो हर एक खुद अपना वैद्य-डाक्टर बन कर रोग-निवारण कर सकता है, जिसे और नहीं तो प्राथमिक इलाज (First aid) कह सकते हैं। दूसरे वह इतना सस्ता है कि हिन्दुस्थान की गरीब जनता उन का बोझ सरलता से सह सकती है। तीसरे, वह प्राकृतिक खामियो को प्रकृति से ही पूरा करना चाहता है, और चौथे, कुछ काल ही पूर्व हर माता-पिता, घर का बूढा-स्याना उससे कुछ-न-कुछ जानकारी रखता था। मार्क्स के विचार इस सम्बन्ध मे क्या थे, वे हमे उपलब्ध नही हो सके। सम्भव है, उन्होने इस विषय को छुआ भी न हो, क्यो कि उनके सिद्धान्त के अनुसार यह कुछ आवश्यक विषय भी नही था।

(घ) लोक-कर्म-विभाग—(Public Works Department)—चिकित्सा-विभाग के समान यह विभाग भी पूर्ण अहिंसात्मक कहा जाने योग्य है, क्यो कि उसमे भी जन-सेवा का भाव मूलत विद्यमान है, परन्तु इस विभाग के अन्तर्गत अनेक कार्यों मे, विशेष कर बडी-बडी इमारतें बनवाने मे, बहुत-सा द्रव्य व्यर्थ खर्च किया जाता है। इस प्रकार अनावश्यक ढग से जो द्रव्य खर्च किया जाता है, उस नीति के गाँधीजी बडे विरोधी थे। शिक्षालयो, चिकित्सालयो अथवा अन्य जन-हितैषी इमारतो के बनवाने मे लाखो-करोडो रुपये व्यय किये जायें, क्यो कि गाँधीजी का कहना है काम तो शिक्षा देने, चिकित्सा करने आदि से है, न कि बडे-बडे विशाल महल खडे करने से। वे चाहते थे कि जनता का द्रव्य, जो कर रूप मे एकत्र किया जाता है, नहरो के बनवाने आदि ऐसे कार्यों मे खर्च किया जाय, जो जनता की आर्थिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति करने मे सहायक हो, और देश को धन-धान्य से सम्पन्न एव शुद्धात्म-चरित्रो से विभूषित कर, यथार्थ सुखी बना सके। व्यर्थ खर्च करने की इच्छा से जनता का जो द्रव्य कर आदि रूप मे वसूल किया जाता है, अथवा उत्तम भावना से प्रेरित होकर वसूल कर लेने के पश्चात् जब वह व्यर्थ खर्च किया जाता है, तब वह हिंसा-दोष से दूषित रहता

है, ऐसा हमारा विचार है। इस दृष्टि से आधुनिककालीन यह विभाग भी हिंसा-दोष से मुक्त नही कहा जा सकता।

(ह) यातायात और सवहन के साधन—(Means of transportation and communications)—उपरोक्त प्रधान विभागो के साथ यातायात और सवहन के साधनो का विभाग भी उल्लेखनीय है। इन साधनो की वृद्धि इस वैज्ञानिक युग मे प्रचुर-मात्रा मे हो गई है, और नित्य-प्रति होती जा रही है। मार्क्स ने इन सब को राज्य के अधीन केन्द्रित कर लेने के लिये कहा है।[४०] जब तक इन साधनो का प्रयोग जन-सेवा, अर्थात् जन-हित के लिये किया जाय, तब तक तो वे उचित ही हैं, परन्तु जब राज्य उन्हे अपना प्रभुत्व एव आतक-प्रसार के लिये काम मे लाना प्रारम्भ कर देता है, तब वे हिंसात्मक हो जाते हैं। गाँधीजी का मत इस सम्बन्ध मे भी वही समझना चाहिये, जैसा कि उन्होने मशीनरी के विरुद्ध व्यक्त किया है। आज का युग, जो इन साधनो की उत्तरोत्तर वृद्धि पर सभ्यता की कलई चढा कर फूल रहा है, गाँधी-मत को स्वीकार करने को तैयार नही। स्वीकार करना न करना आप के अधीन है, पर वह मत क्या है और वह उल्टी धारा मे बहता क्यो प्रतीत हो रहा है, यह बताना इस पुस्तक के लेखक का काम अवश्य है। गाँधीजी का ध्येय क्या है, इसे न भूलिये। वह है, मनुष्य की आन्तरिक और बाह्य वृद्धि का सामञ्जस्य रखना। बाह्य ऐश-आराम को वे सुख नही, दुखदायी समझते है। स्वावलम्बन और विकेन्द्रीकरण के बिना मनुष्य सुखी नही हो सकता। ये विचार उन के हृदय मे आज से पचास वर्ष पूर्व ही अकुरित हो चुके थे, जब न वायु-यान थे, न रेडियो या टेलीविजन आदि। उस समय पोस्ट, तार, जहाज और रेल ही यातायात और सवहन के उत्तम साधन माने जाते थे। रेल के सम्बन्ध मे उन्होने जो विचार सन् १९०८ मे अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' (Indian Home Rule) मे व्यक्त किये थे, वे बताते है कि वे मशीनरी के क्यो खिलाफ थे। मशीनरी मनुष्य को अभिमान की ओर खीचती है, जो हिंसा का घर होता है। रेल सचालन से तत्कालीन हिन्दुस्थान को क्या हानियाँ थी, यह बताने के बाद उन्होने कहा है—"मै यह और कह देना चाहता हूँ कि मनुष्य प्रकृति से ही ऐसा बना है कि उसे अपने हाथ-पावो की चलायमान गति को रोक-थाम कर के रखना आवश्यक होता है।
हम आप ही अपनी मुसीबतो को गढते है। ईश्वर ने शरीर को बनाते समय मनुष्य की गतिमान स्पृहा को सीमा-बद्ध करके रखा है। मनुष्य उस सीमा का उल्लघन करने के साधनो को ढूंढने के लिये फौरन बढा। ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि

---

४० Communist Manifesto p 71 (item No 6)

दी, ताकि वह अपने बनाने वाले को जान सके। मनुष्य ने उस का दुरुपयोग किया, ताकि वह अपने बनानेवाले को भूल जाय। मेरी बनावट ही ऐसी है कि मै केवल अपने निकटतम पडोसी की ही सेवा कर सकता हूँ, परन्तु अभिमान मे आकर मै यह बताता हूँ कि मैने अपने शरीर के द्वारा विश्व के सभी व्यक्तियो की सेवा करना खोज लिया है। इस तरह असम्भव को प्राप्त करने की कोशिश मे मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकार की प्रकृतियों से, भिन्न-भिन्न धर्मों से टकराता है और बिलकुल भ्रम मे पड जाता है।"[41] इस तर्क का निष्कर्ष यह हुआ कि इस प्रकार के नवीन आविष्कार यदि अभिमान की ओर घसीट कर ले गये, तो मनुष्य भ्रातिवश 'किम्कर्त्तव्यविमूढ' बन जाता है, जिस से न तो वह स्वय सुखी हो पाता और न समाज ही को सुखी बना पाता है। यदि मनुष्य इन आविष्कारो से अभिमानी न बने और शुद्ध बुद्धि बनाये रख कर केवल जन-सुख की भावना से प्रेरित होकर उन का प्रयोग इस प्रकार करे कि व्यक्तिगत स्वावलम्बन मे बाधा न आये, तो हमारी समझ मे गाधीजी मशीनरी के विरुद्ध अपने विचारो को फौरन बदल देने के लिये तत्पर हो जाते। गाधीजी के उपरोक्त उद्धृत कथन से यह भी ज्ञात होता है कि मनुष्य यदि अपने पडोसी की सेवा अच्छी तरह से कर लिया करे, तो उतना ही उसके लिये श्रेयस्कर है, बनिस्बत इसके कि वह झूठ डींग मारता फिरे कि मै विश्व का सेवक हूँ।

राज्य से असम्बद्ध व्यवस्थाओ मे संघर्ष का दृश्य—सभी अनारकिस्ट्स (Anarchists) अर्थात् राज्य-विहीन पद्धति मे विश्वास करने वाले लोग वर्तमान राज्य-पद्धति को हिसा का प्रतीक कहते है—भले ही उन की हिसा-सज्ञा गाधी नमूने की न हो। पाश्चात्य देशो मे भी गाधी के पहले अनारकिस्ट लोग थे, जो अहिसावादी थे, परन्तु उन की अहिसा इतनी सूक्ष्म और व्यापक नहीं रहती थी, जितनी गाधीजी की थी। यद्यपि इस सम्बन्ध मे हम पहले कुछ विचार प्रकट कर आये है तथापि यहाँ इतना स्मरण दिलाना आवश्यक है कि गाधी का अहिसा-सम्बन्धी दृष्टिकोण वेदान्त-दर्शन पर आधारित है, जिसके अनुसार आत्मा सर्वत्र एक है। उस मे मै-तू-वह की भावना नहीं रहती। उपनिषद्, गीतादि मे 'एकत्वमनुपश्यत' (एकत्व को बारबार देखना) पाठ बारम्बार आया है, इसलिये गाधी-मत मे हिसा वह है, जो आत्मा को क्लेशदायनी हो। जो आत्मा का हनन करता है (ये के च आत्महनोजना) वह असुर-लोक का गामी होता है।[42] मुझ मे स्थित आत्मा हो या पर मे स्थित, कहीं भी उसे जरा धक्का लगा, कहीं भी

---

४१ Indian Home Rule, pp 30-31.

४२. ईशा० उप० मत्र ३.

उसका हनन हुआ कि हिसा हुई। बस ! हिसा की इस परिभाषा पर ध्यान रख कर उसके विपरीत अहिसा-भाव परही गाधी ने अपने कर्म-क्षेत्र को खडा किया है, जब कि अन्य लोगो ने अपने और पराये मे भेद रखा है।

इस दृष्टि से यदि देखा जाय, तो हिसा का एक रूप तो वह होता है, जब कोई किसी के स्वातत्र्य मे घातक या बाधक हो। राज्य इसी प्रकार की हिसा का दोषी होता है। राज्य के अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से भी इसी प्रकार की हिसा देखी-सुनी जाती है। दूसरा वह रूप है, जिस का अब हम यहाँ बयान करना चाहते हैं। कुछ ऐसी व्यवस्थाएं है, जिन मे न राज्य हस्तक्षेप करने का अधिकारी है और न कोई अन्य व्यक्ति ही, तथापि वे हिसात्मक रहती हैं,। हर मनुष्य उन के प्रतिपालन करने मे स्वतत्र रहते हुए भी स्वात्मा का हनन करता रहता है।

मनुष्य की ये व्यवस्थाएँ स्वतत्र अवश्य मानी जाती है, पर व्यवहार मे वे सच-मुच स्वतत्र नहीं रहती, इसलिए आप देखेंगे कि इन के सचालन मे एक ओर तो अनधिकारी लोग बाधक बन हिसा करते हुए पाये जाते है, और दूसरी ओर स्वतत्रता-भुक्त स्वय अज्ञानतावश स्वात्मा पर आघात पहुँचाता हुआ हिसा का दोषी होता है। आधिक्य के कारण इस प्रकार की व्यवस्थाओ का भी उल्लेख केवल दृष्टात के रूप मे किया जा सकता है, न कि पूर्ण रूप से। उन का वर्णन हम इन चार विभागो के अन्तर्गत करना उपयुक्त समझते है, यथा—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक। यो तो पिछले पाठो मे इन चारो के, विशेष कर प्रथम दो के विषय मे पर्याप्त कहा जा चुका है, फिर भी प्रसगानुसार यथेष्ट रूप से उन की सक्षिप्तत चर्चा करना अवश्यक हो गया है।

(क) राजनीतिक स्वतत्रता—सदियो से इतिहास जन-तत्र (डेमोक्रेसी) का ढोल पीटता आ रहा है। आज-कल भी सभी ओर से उस की प्रसशा के बाजो का नाद गुंजाया जाता है। सभी कहते है हम स्वतत्र है—अपना राज्य हमी चला रहे है, इत्यादि, परन्तु यदि किसी क्षेत्र मे मक्कारी, धूर्तता, बेईमानी, असत्यता आदि हैं, तो वह यहा है। एक दूसरे पर आघात कर हिसा का दोषी होता है, सो तो सही है ही, पर यह भी निस्सदेह है कि राजनीतिक क्षेत्र के मतदान आदि स्वत्वो मे स्वतत्र होते हुए भी मनुष्य अपने-आप उपरोक्त दूषणो के कारण स्वात्मा का हनन नित्य-प्रति करता रहता है, इसलिये यह क्षेत्र अहिसा के रास्ते मे रोडे अटकाने वाला शत्रु नम्बर एक है। इस मे पवित्रता लाने का सगठित रूप मे सब से ठोस काम सर्वप्रथम गाधीजी ने ही किया, इस मे कोई सन्देह नहीं है। यदि, मार्क्सवादी हो या गाँधीवादी, कोई भी राज्य-विहीन व्यवस्था को सच-मुच ही लाने के इच्छुक हो, तो सब से पहिले इस क्षेत्र से मक्कारी को भगाये। प्रजा-

जन को मोहित करने के लिये व्यर्थ की राग-रागनी छेड कर मनुष्य बहेलिया न बनें। यदि मतदाता किसी के बहकाने में न आकर अपनी आत्मा को पवित्र रखने लगें और निर्वाचन निष्कलंक होने लग जाय तथा प्रतिनिधियो पर मतदाता-सघों आदि के द्वारा नियत्रण की लगाम चढी रहे, तो अहिंसात्मक गति की प्रधानता सर्वत्र दिखाई देने लगे।

(ख) आर्थिक स्वतत्रता—गत अध्याय मे तुलनात्मक दृष्टि से मार्क्सवाद और गांधीवाद की आर्थिक योजनाओ पर विचार किया जा चुका है। यह भी बता चुके हैं कि गांधीजी ने कृषि, उद्योग, व्यवसाय आदि आर्थिक गतियो का विकेन्द्रीकरण करके स्वावलम्बन और अहिंसा का बीज हिन्दुस्थान मे बोना प्रारम्भ कर दिया था। वे नही चाहते थे कि अर्थोत्पादन और वितरण मे राज्य अथवा अन्य कोई समूह या व्यक्ति हस्तक्षेप करके व्यक्तिगत स्वतत्रता मे बाधक बनें। वे केवल उतना ही हस्तक्षेप सह सकते थे, जितना कि व्यक्तिगत आर्थिक स्वतत्रता को नियमित करने मे सहायक हो, जैसे—कृषि-वृद्धि आदि के लिये कर्ज देना, कृषि, उद्योगादि सम्बन्धी शिक्षा देना इत्यादि। वे न तो यह चाहते थे कि राज्य अपने वश मे कृषि या उद्योगादि को कर ले और न यह ही चाहते थे कि उद्योगादि का केन्द्रीकरण हो, जैसा कि मार्क्सवाद का सिद्धात है। व्यक्ति और ग्राम ही उन की आर्थिक योजना के स्वतत्र यूनिट हैं।

परन्तु हम सब जानते हैं कि मनुष्य सयोग से अपने स्वभाव को निर्बल बना लेता है। जिस का फल यह होता है कि स्वार्थ उस पर सवार होकर उसे हिंसा-मार्ग पर दौडाने लगता है। मार्क्स ने इसे रोकने के लिये राज्य-हस्तक्षेप को अपनाया, परन्तु गाधी ने इस के विपरीत राज्य-हस्तक्षेप का निराकरण करने और आत्म-नियत्रण का मार्ग बताया। सयोगो को अनुकूल बनाने का सामर्थ्य मनुष्य ही मे रहता है, इसलिये गाधी का आदेश यह है कि हिंसा से बच कर अहिंसा की ओर बढते जाने का एकमात्र उपाय यही है कि हर व्यक्ति आत्म-नियत्रण अथवा आत्म-तप करे। गरज यह कि अर्थक्षेत्रीय समस्त कार्यों मे भी मनुष्य स्वार्थ-भावना को त्याग सेवा-भाव को ही महत्त्व दे। ज्यो-ज्यो सेवा-भाव प्रखर होता जायगा, त्यो-त्यो हिंसा-भाव पीछे हटेगा और अहिंसा अग्रसर होगा। जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि हर मनुष्य को अधिकार है कि वह बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के आर्थिक साधनाएं करने मे स्वतत्र है और फिर भी वह उन्हे आत्मघाती, अर्थात सर्वक्यात्म-घाती बना लेता है, तो उस का दोषी वह ही हुआ।

(ग) सामाजिक स्वतत्रता—साधारणत मनुष्य अपने मन का स्वामी होता है। वह चाहे जो कुछ सोचे-विचारे, उस का कोई बाधक नहीं होता, परन्तु ज्यो ही

उसके मानसिक विचार शरीर के द्वारा व्यक्त होना प्रारम्भ होने लगते है, त्यो ही उस की शारीरिक गतियो पर समाज की ओर से रोक-थाम भी लगना शुरू हो जाता है, इसलिये यद्यपि समाज में मानव-जीवन सामान्यत स्वतत्र माना जाता है, तथापि उस की गतियाँ अनेक प्रकार से अवरुद्ध की जाती है। उन्ही मे से कुछ गतियो पर हमे यहाँ विचार कर लेना है—

(१) वर्णाश्रम (समाज-विभाग)--यह हम पहले देख चुके है कि स्वभावानुसार मनुष्य-जाति के चार विभाग होते है, जिनकी स्वीकृति हिन्दू धर्म-शास्त्रो मे मिलती है। वे है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, परन्तु इस स्वभावानुसार भेद पर लोगो ने कालान्तर से कृत्रिमता का रग चढाया। एक ओर तो कुछ लोगो ने जन्म-भेद और कर्म-भेद को प्रधानता देकर सैकडो जातियो–उपजातियो के सकीर्ण खण्ड बना डाले, यहाँ तक कि छुआछूत की कालिमा से उसे पोत दिया। और दूसरी ओर कुछ विदेशियो ने अनभिज्ञता-वश उन के सम्बन्ध मे यहाँ तक कह डाला कि वे ऐक्य-विभाजन के प्रधान कारण हैं। परिणाम यह हो रहा है कि ऐक्य-स्थापना के नाम पर स्वाभाविक वर्ण-भेद की तोड-मरोड की जाने लगी और समता प्राप्ति की होड मच रही है। गाधीजी समत्व लाने के लिये किसी से पीछे नही थे, परन्तु उन का समत्व समन्वय का द्योतक है, न कि 'सब धान बाईस पसेरी का'। जिस प्रकार स्वभावत शरीराग भिन्न-भिन्न रूप-नाम के होते है और फिर भी उन मे एक दूसरे के प्रति प्रेम-सम्बन्ध तथा सगठन रहता है, उसी प्रकार उक्त चारो विभागो का सामञ्जस्य रखना समाज के लिये लाभकारी होता है। जब कोई राज्य अथवा सस्था ऐक्य के नाम पर उस स्वाभाविक व्यवस्था का अन्त करना चाहती है, तो वह इस बात को भूल जाती है कि एक तो वह केवल नामो को मिटा सकता है, यथार्थता को नही , और दूसरे उसके मिटाने मे वह जन-साधारण मे कर्त्तव्य की भावना को एक तरफ फेंकवा कर केवल स्वत्वो का फाग खिलवाने लगता है। जाति या वर्ग-भेद मिटाना तो परमावश्यक है, परन्तु वर्ण-भेद मिटाये मिट ही नही सकता। यदि वह शुद्ध रूप होकर बरता जाने लगे, तो सामाजिक जीवन श्रेयस्कर हो उठे। वर्णाश्रम धर्म मे, गाधीजी का कहना है, छोटे-बडे अथवा नीच-ऊँच का कोई स्थान नही है। "मेरा विश्वास है" उन्होने कहा है "कि समाज की आदर्श व्यवस्था केवल उसी समय विकसित हो सकेगी, जब इस वर्णाश्रम का नियम भली भाँति समझ लिया जायगा और कार्यरूप मे परिणित किया जायगा।"[४३] इस आदर्श युक्त समाज मे हर वर्ग का व्यक्ति अपने उदर पोषण के लिये यथावश्यक शारीरिक

---

४३ Cited in 'Studies in Gandhism, p 205

श्रम तो करेगा ही, परन्तु जो कुछ अतिरिक्त उपज वह करेगा, वह भी समाज में प्रेम-वश वितरण होने देगा। गरज यह कि "गांधीजी के इस सामाजिक आदर्श में हर व्यक्ति को अपनी-अपनी रुचि (स्वभाव) के अनुसार समाज-सेवा में लग जाने के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता का भाव निहित है।"[४४] इसलिये ऊँच-नीच, धनी-गरीब, अथवा पूंजीपति-श्रमिक वर्गों को मिटाने वाली इस स्वाभाविक वर्ण-भेदीय व्यवस्था को न तोड़ें-मरोड़ें, अन्यथा आप की समाज-व्यवस्था हिंसा से कभी उद्धार न पा सकेगी, चाहे आप वर्षों-पर्यन्त समता के ढोल भले ही पीटते रहें। जिन लोगों के मन में यह बात समा गई है कि वर्ण-धर्म श्रम-धर्म को आघात पहुँचाता है, अथवा वे दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं, वे लोग भूल में हैं। गांधीजी ने इन दोनों के विषय में पर्याप्त विवरण देते हुए यह बताया है कि वे "दोनों सहवर्ती और आवश्यक हैं। वर्णधर्म सामाजिक धर्म है, और श्रम धर्म वैयक्तिक। वर्ण-धर्म के यह माने कभी नहीं है कि कोई वर्ण वैयक्तिक श्रम-धर्म से मुक्त है। श्रम-धर्म किसी भी वर्ण के सब व्यक्तियों के लिये है। वर्ण-धर्म में प्रत्येक वर्ण का धर्म समाज-हित के लिये एक कर्तव्य था और आजीविका उस में हेतु नहीं थी।"[४५] आजीविका तो श्रम-धर्म का हेतु होता है।

(II) जीवनाश्रम (जीवन विभाग)—जिस प्रकार स्वाभाविक लक्षणों के आधार पर प्राचीन ऋषि-मुनियों ने मनुष्य-समाज को ब्राह्मणादि चार विभागों में विभक्त किया था, उसी प्रकार उन्होंने व्यक्तिगत जीवन-काल के भी चार विभाग किये थे, यथा—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास, परन्तु इस जीवन-विभाग में भी कालान्तरवश बहुत से दोष प्रवेश कर चुके थे, बल्कि यह कहिये कि ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण साधारणतः सभी लोग उन के यथार्थ रूप या गुणों से मुख मोड़ चुके थे। कुछ लोग ही शेष रहे थे, जो उन का अनुपालन येन-केन प्रकारेण करते हुए दिखाई पड़ते थे। इस पुनर्जीवन लाने का श्रेय श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायियों को है, जिन के परिश्रम से कई स्थानों पर बालक और बालिकाओं के लिये गुरुकुलों की स्थापनाएँ की गईं, जहाँ पर ब्रह्म-चारी और ब्रह्मचारिणियों को शिक्षा दी जाती है। गृहस्थाश्रम के पश्चात् कुछ लोग वानप्रस्थी हुए और कई लोगों ने सन्यास धारण किया। इस सम्बन्ध में लाला

---

४४ Pol Phil of Mahatma Gandhi, p 321

४५ हिन्दी-नवजीवन, १३-२-१९३०, पृ० २०४ (जो इस विषय का पूरा विवरण देखना चाहें, वे कृपया हिन्दी-नवजीवन ६, १३, २० और २७ फरवरी सन् १९३० के अंकों को पढ़ें।

मुन्शीरामजी का नाम, जिन्हे लोग स्वामी श्रद्धानन्दजी के नाम से अधिकतर जानते हैं, विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन की कृपा का फल है कि आज भी गुरुकुल कागडी (हरिद्वार) सफलतापूर्वक चल रहा है। जब गाधीजी ने दक्षिण-अफ्रिका से लौट-कर हिन्दुस्थान को अपना कर्म-क्षेत्र बनाया तब लोगो की कुछ ऐसी भावना थी कि गृहस्थाश्रम को छोडने के पश्चात् मनुष्य का लौकिक जीवन समाप्त हो जाता है। कुछ काल तक देशाटन करने के पश्चात् भगवा वस्त्र धारण करके सन्यासी बन जाना और दुनियादारी से सब नाते तोड लेना चाहिये—यह बहुतेरो के मन मे समाई हुई थी, परन्तु गाधीजी ने यह भावना अपने जीवन-चरित्र के द्वारा गलत सिद्ध की। उन्होने सिद्ध किया कि उपरोक्त चारो चरण एक ही जीवन के विभाग मात्र हैं। जीवन अखण्ड होता है और उसके ये विभाग एक दूसरे से इस तरह सम्बन्धित रहते है, जैसे सीढियो का परस्पर सम्बन्ध रहता है। जीवनकाल की प्रथम तीन श्रेणियो का अनुभव-प्राप्त मनुष्य ही सन्यास नाम्नी चौथी श्रेणी पर पहुँचता है। सन्यास, त्याग का द्योतक होता है। गांधी के मत मे त्याग (non-possession) का बडा महत्त्व है, यह हम देख ही चुके है। उन का जीवन-चरित्र यह बता रहा है कि हर मनुष्य को लौकिक जीवन मे अथवा व्यावहारिक क्षेत्र मे रह कर ही उपरोक्त चारो आश्रमो के सामञ्जस्य को घटित करते रहना चाहिये। जो सच्चा सन्यासी है, उसे सच्चा ब्रह्मचारी होना ही चाहिये। आदि और अन्त के इन दोनो छोरों का सयोग हर मनुष्य को अपने जीवन मे वर्तना चाहिये, यही गाधी के वाक्यो और चरित्रो से प्रकट होता है। हम यह भी पहले बता चुके है कि ब्रह्मचारी का अर्थ केवल विद्योपार्जन करने वाला ही नही होता है, वरन् ब्रह्म-सज्ञा मे जो गुण आरोपित किये जाते है, उन सब का आचरण करने वाला ब्रह्मचारी कहलाने का अधिकारी बन सकता है। जिस जीवन-व्यवस्था मे योग्यता, अनुभूति और त्याग के सामञ्जस्य को ओत-प्रोत किया गया हो, अर्थात् जिस मे योग्यता-अनुभूति-त्याग-मयी समाज-सेवा का भाव कूट-कूट भरा गया हो, उस की ओर से दृष्टि हटा लेना, मानो अपने हाथ अपने पैर को काटने का अनाडीपन है। जब तक समाज इस जीवन-व्यवस्था का अनुपालन करने मे रच-पच नही जायगा, तब तक वह हिंसा का त्यागी बन ही नही सकता, इसलिये यदि, राज्य-विहीन (stateless) समाज-व्यवस्था देखने की लालसा हो, तो इस जीवन-व्यवस्था को अपना कर, हिंसा को त्याग कर, अहिंसा-प्राप्ति के लिये आगे बढना चाहिये।

(iii) **विवाह-सस्कार**—उपरोक्त जीवन-आश्रमो मे से एक गृहस्थाश्रम भी है। जीवन का यह मध्य भाग है और इसलिये व्यावहारिकता की दृष्टि से वह

अत्यन्त मूल्यवान माना जाता है। समाज की दृष्टि मे तो वह सर्वश्रेष्ठ कहा जाय, तो अतिशयोक्ति न होगी।

यह स्वयसिद्ध है कि विवाह गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार है। इसलिये नीतिज्ञो और तत्त्वज्ञानियो ने पाशविक काम-भोग की इच्छा को नियमित कर विवाह-प्रथा का निर्माण किया। सब ने विचार किया कि पुरुष-स्त्री का सम्बन्ध क्षणिक न रह कर स्थिर रहे। इस स्थिरता को कायम करने वालो के दो दल प्रकट हुए। एक ने कहा—विवाह सौदेबाजी (Contract) जैसा समझा जाय। दो मे से जब जिस एक का जी चाहे, तब वह उस को भग कर दे, परन्तु इसी दल मे-से कुछ विशेष विचारवान् निकले और उन्होने यह देखा कि सम्बन्ध-विच्छेद की पूर्ण स्वतन्त्रता (स्वच्छदता) देने से स्थिरता न रह पायेगी, इसलिये उन्होने कुछ प्रतिबन्ध लगाये। जब तक इन प्रतिबन्धो का उल्लघन न हो, तब तक सम्बन्ध-विच्छेद न हो सके, परन्तु इस के विपरीत कुछ ऐसे अगशोची, भविष्यदर्शी और धर्मज्ञाता थे, जिन्होने समाज के आधार गृहस्थ-जीवन को सुदृढ और सुडौल बनाये रखने की दृष्टि से विवाह-सम्बन्ध को अविच्छेद्य करने का आग्रह किया। उन्होने उसे सौदा' सज्ञा न देकर 'सस्कार' सज्ञा (act of purification) दी।

भारतीय तत्त्वदर्शियो ने जीवन की पवित्रता ही पर विशेष ध्यान रखा है। पवित्र जीवन-रूपी दर्पण मे ही मूल सत् प्रतिबिम्बित होकर दिखाई दे सकता है। मूलसत् सर्वत्र और सदा एक है, अत उक्त तत्त्ववेत्ताओ का लक्ष्य सदा यह रहा कि समाज का हर व्यक्ति अपने जीवन-काल मे जो कुछ कर्म करे, वह इस जीवन ऐक्य की भावना को ही लेकर करे। इसीलिये जन्म-काल से लेकर मृत्युपर्यन्त जीवन-सम्बन्धी जो कुछ प्रचलित रीतियाँ रहती थी, उन सब को उन्होने सस्कार नाम ही दिया है। यहाँ तक कि जन्म-सस्कार और मृत्यु-सस्कार भी होते है। जीवन-ऐक्य की स्थापना करने वाले इन अनेक सस्कारो मे से यह विवाह-सस्कार भी एक है।

काम-लिप्सा को नियमित करना, दो असमताओ को चिरस्थायी प्रेम-बन्धन से जोड देना, और जीवन-ऐक्य का पाठ सिखाना विवाह-सस्कार के प्रधान लक्षण है। वह एक ऐसी प्रवेशिका सीढी है, जिस पर चढ कर पति-पत्नी न केवल लौकिक सुख ही पा सकते है, वरन् पारलौकिक सुख का भी अनुभव कर सकते है। वह प्रेम का स्वरूप है न कि मोह का, और प्रेम कभी बदला नहीं जाता। उस को तोडने वाला न कोई कानून हो सकता है और न कोई यत्रणा या प्रलोभन। यद्यपि विवाह-सस्कार का जन्म प्रेम-गर्भ से हुआ, तथापि उसमे भी मानुषिक कमजोरियो के कारण दूषण आ घुसे। इन दूषणो को देख लोग मूर्खतावश व्यवस्था ही को दोषयुक्त कहने लगे, और उसी को मिटाने के लिये भिड गये है। राज्य ने भी हस्त-

क्षेप करना प्रारम्भ कर दिया है। इस तरह के कानून बनाये जाने लगे हैं कि जब जी चाहे तब पति-पत्नी का नाता जोड लिया जाय और जी चाहे तब तोड दिया जाय , क्यो कि यही आधुनिक काल मे सभ्यता कही जाने लगी है। केवल शरीर का नाता रहे, और भाड मे जाय प्रेम की अलौकिकता, सन्तान सुख की भावना तथा कौटुम्बिक शाति। इस विकासोत्पादक पवित्र व्यवस्था के विनाशको ने यह उपद्रव केवल एक बात को लेकर उठाया है। वह है उन का नारा 'सब स्वतत्र है', 'सब एक समान है,' 'पति क्यों स्वामी ?' 'पत्नी क्यो सेविका ?' इत्यादि। यदि मनुष्य की कमजोरियो के कारण किसी सस्था मे दोष आ जाय और इसलिये सस्था ही तोडी जाने का नारा लगाया जाना न्याय हो, तो हम भी कह सकते है कि ईसाई-मुसलिमादि धर्म, बौद्ध-जैनादि मत, मार्क्स-गाध्यादिवाद सभी को अथाह समुद्र मे डुबा देना चाहिये। क्या यह बात विचारणीय नही है कि जिस साहित्य मे पति को देव अथवा स्वामी कहा है, वही साहित्य तो पत्नी को देवी या लक्ष्मी की उपाधि से विभूषित करता है, वही साहित्य तो पति को अर्द्धांग और पत्नी को अर्द्धांगिनी कहता है, वही साहित्य तो पत्नी को पति के वामाग मे बैठने वाली बताता है। इस सस्कृति को समाप्त करने के लिये कमर कसना, चाहे वह राज्य की ओर से हो अथवा अन्य और किसी की ओर से, मानो अहिंसा को निर्बल कर हिंसा को बलवती बनाने का मार्ग खोलना है। हम पहले समझ चुके है कि जहाँ अटल प्रेम, सेवा और ऐक्य की भावना रहती है, वही अहिंसा का वास रहता है, और जहाँ इन मे सदिग्धता एव चचलता आई वही हिंसा का अड्डा जमा। भारतीय विवाह-सिद्धात का निर्माण इन्ही भावनाओ को प्रखर, विस्तृत और चिरस्थायी करने के हेतु हुआ है। यदि उसके व्यवहार मे दोष है, तो उन्ही दोषो को निकाल फेंकने के उपाय करना चाहिये न कि व्यवस्था ही को उखाड डालने का। टॉल्सटाय-जैसे विद्वानो ने न्याय, कानून या नीति पर आधारित पुरुष-स्त्री के सम्बन्ध तक को 'घरू शरीराग-भजन' (domestic Prostitution) कहा है, क्यो कि उस मे भाई-बहन-जैसा शुद्ध प्रेम नही रहता।[४६] पति-पत्नी के बीच भाई-बहिन-जैसा सम्बन्ध सुन कर पाठको को

---

४६ "Tolstoy is also against legitimate marriage which he calls 'domestic prostitution' In the Kreutzar Sonata he maintains that sexual love is the worst of sins and pleads that the relation between man and wife should be transformed into brotherly and sisterly affection" See Pol Phil. of Mahatma Gandhi p 35

न केवल आश्चर्य ही होगा, वरन् वह कथन असम्भव कहकर टाल दिया जायगा। परन्तु, अभी कुछ काल पहले ही गांधी और कस्तूरबा गांधी का सम्बन्ध हमारे सामने गुजर चुका है। ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के बाद मे गांधी ने कस्तूरबा के साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध न रखकर मित्र-जैसा सम्बन्ध रखा था। ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है—ब्रह्म स्थिति के अनुरूप आचरण करना। ब्रह्म स्थिति शरीर से—अह से भी परे होती है, अर्थात् ब्रह्म का शरीर-सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिये गांधीजी ने कहा है कि पूर्ण ब्रह्मचारी के लिये विवाह-सम्बन्ध का कोई अस्तित्व नहीं।

मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हो सकता, फिर भी वह अपने जीवन को पूर्णता की ओर ले जा सकता है, इसलिये गांधीजी ने कहा है कि पुरुष-स्त्रियों को सन्तानादि की दृष्टि से यदि शरीर-सम्बन्ध की आवश्यकता हो, तो वह अत्यन्त नियन्त्रित रूप से किया जाय। "विवाह" उन का कहना है "जिस आदर्श को लक्ष्य बनाता है, वह है शरीर के द्वारा आध्यात्मिक ऐक्य। जिस मानसिक प्रेम का वह अवतरण करता है, उसका उद्देश्य यह रहता है कि वह ईश्वरीय या विश्व-प्रेम तक पहुँचाने के लिये सीढी का काम दे।"[४७] यह है गांधी का वैवाहिक ब्रह्मचर्य, जिस मे आत्म-स्वातन्त्र्य, आत्म-नियन्त्रण, प्रेम, सेवा और ऐक्य को स्थान है, जो अहिंसात्मक गति के प्रतीक होते है। विवाह का इतना उच्चादर्श हमारी समझ मे भारतवर्ष के साहित्य और संस्कृति को छोड अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। मार्क्स ने इस के विपरीत का ही मार्ग पकडा। उन्हे सब ओर पूंजीपतियों का ही भूत दिखाई दिया। इन सबकार पूंजीपतियों ने घर और बाहर स्त्रियों को बच्चे पैदा करने की मशीन बना रखा था और जिस प्रकार वे सब मिलाकर उत्पादन के साधनो को कम कर निचोड डालते थे, उसी प्रकार स्त्री-समाज को सब मिला कर निचोड डालने मे लगे रहते थे। उन्होने यहां तक कह डाला कि "पूंजीपतियों का विवाह, यथार्थ पूछा जाय, तो वह पद्धति है, जिसमे पत्नियाँ सब की बन कर रहती हैं।"[४८] जब ऐसी बात है, तो मार्क्स ने पूंजीपतियों को ललकार कर कहा कि जब तुम गुप्त रूप से स्त्रियों से वेश्यापन कराते हो, तो हम उन्हें खुलासा ही उसी काम को करने के लिये छुट्टी क्यो न छोड दें? तुम्हारी उत्पादन-पद्धति का अन्त होने पर उन का वह वेश्यापन का पेशा आप ही बन्द हो जायगा।[४९] इससे

---

४७ Young India, 21-5-1931 p 115

४८-४९ "Bourgeois marriage is in reality a system of wives in common and thus at the most, what the communists might possibly be reproached with is that they desire to introduce,

स्पष्ट है कि पूंजीपतियो के विनाश कर डालने की दुर्भावना ने मार्क्स को यहाँ तक निम्न स्तर पर उतार दिया कि उन्होंने स्त्री-समाज को पुरुष-प्रसग करने के लिये छूट देने मे कोई हानि नही समझी। परिणाम यह होने लगा कि जब जैसी जिस की जिस के साथ प्रसग करने-कराने की रुचि (Fondness) हुई, तब वैसे समत्व की दुहाई देकर (on equal footing with men) होने लगा। और फिर क्या है, 'पोस्टकार्डी' तलाको की भरमार बढी और जिस का जब जी चाहा तैसा पानी के ग्लास-जैसा पिया और उंडेला।[50] कहाँ है भला वह प्रेम, सेवा और ऐक्य इस मार्ग मे! कहाँ है इस स्वच्छदता मे वह स्वातन्त्र्य और समत्व!! और कहाँ है इस उच्छृखलता मे वह आत्म-नियन्त्रण!!! इस मार्ग को बदलना होगा, तब कही अहिंसात्मक राज्य-विहीन समाज के स्वप्न को यथार्थ होने की सम्भावना दिखाई दे सकेगी।

(iv) **कौटुम्बिक जीवन**—मार्क्सवाद ने जिस प्रकार विवाह-सस्कार मे तोड-मरोड की है, उसी प्रकार कौटुम्बिक जीवन को भी छिन्न-भिन्न कर डाला है। कौटुम्बिक जीवन मे जो व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और पारस्परिक प्रेम वा सेवा की भावना रहती है, उसे मिटा कर राज्य पर लाद दी है। यह केन्द्रीकरण आप गाधी-वाद मे नही पाते, क्यो कि केन्द्रीकरण परावलम्बन और हिंसा का प्रतीक है। गाधी-मत मे सामाजिक उद्धार का क्रम यह है, जिसे हम बार-बार कह चुके है, कि सब से पहले व्यक्ति, व्यक्ति से कुटुम्ब, कुटुम्ब से ग्राम, ग्राम से प्रान्त, प्रान्त से स्वदेश, फिर स्वदेश से ससार, परन्तु यह क्रमिक नाता सर्वजगत् के एकत्व से नथा हुआ ही चलाया जाना चाहिये, यह गाधी का अहिंसात्मक सिद्धात है।

(v) **ग्राम्य-जीवन**—केन्द्रीकरण नीति के कारण परोक्ष या अपरोक्ष विधि से ग्राम्य-जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर डालना मार्क्सवाद की गति है, और उसे कायम रख कर उस मे उन्नति लाना गाधीवाद की गति है। ग्राम्य-जीवन का चतुर्दिक उन्नति की ओर प्रयत्न करना ही अहिंसात्मक आदर्श की ओर बढते जाना है, और

---

in substitution for a hypocritically concealed, an openly legalised community of woman It is self-evident that the abolition of the present system of production must bring with it the abolition of the community of women springing from that system, i e of prostitution, both public and private" Communist manifesto, pp 66-67

५० Soviet Philosophy, pp 60, 102, 105 के आधार पर

उसे नष्ट-भ्रष्ट करने वाली जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब हिंसा की ओर ले जाने वाली अथवा हिंसा मे ही फँसाकर रखने वाली है।

(घ) धार्मिक स्वतत्रता—मार्क्स की दृष्टि मे, हम देख चुके हैं, आत्मा और धर्म कोरी गपोडेबाजी है, परन्तु गाधी की दृष्टि मे ये ही सर्वोपरि है, इसलिये आत्म-धर्म की स्थापना और रक्षा करना गाधीजी के परम कर्त्तव्य भी हैं। आत्म-स्वातन्त्र्य ही आत्म-धर्म है। आत्मा को रुढि-विशेषो के कटघरे मे घेर कर रखना धर्म नही कहाता। नियन्त्रित आत्मावलम्बन को ही गाधी ने आत्म-स्वातन्त्र्य कहा है। चूँ कि आत्मा सर्वत्र एक है, इसलिये आत्म-धर्म भी सार्वदेशिक होकर विचरता है। आत्मा और धर्म की इस व्याख्या को देख कर कोई भी कह सकता है, कि गाधीजी का स्वधर्म कर्म का ही पर्यायवाची है। केवल तत्त्वज्ञान की लहरो पर उतराना या उन मे गोते लगाते रहना गाधीवाद का 'धर्म' नही। निर्भीकतापूर्ण अपने आत्म-धर्म, अर्थात् आत्म-स्वातन्त्र्य को व्यावहारिक क्षेत्र मे निबाहने के लिये गाधी का आग्रह है। यही उस की नीति है। इसी के बल पर वे सामाजिक गति का निर्माण करना चाहते थे, क्यो कि यही अहिंसा मार्ग है। जो इस मे बाधाएँ उपस्थित करते हैं, वे हिंसक हैं। इस मे जितने रोडे अटकाये जायँगे, उतना ही विलम्ब समाज को निर्दिष्ट राज्य-विहीन स्थिति तक पहुँचने मे होगा। रूढियो मे फँसे हुए धर्म-विचार इस धर्म-स्वातन्त्र्य मे बाधा डालने वाले पहले नम्बर के हिंसक कहे जायँ तो ठीक होगा। रुढि-प्रधान धार्मिक सस्थाओ के हर प्रकार के सहायक भी, चाहे वे राज्य-विशेष हो या व्यक्ति-विशेष, हिंसा-प्रवर्त्तक होते हैं, क्यो कि वे समाज मे सकीर्णता, द्वेष-भाव, मनोमालिन्य, अनेकत्व आदि दुर्गुणो का प्रसार कर अहिंसात्मक एकत्व का विकास होने मे रुकावट डालते हैं, इसलिए यद्यपि गाधीजी ईसाई, मुस-लिम धर्मादि के प्रति आदर-भाव रखते थे, तथापि वे उन मे छिछली हुई वैमनस्यो-त्पादक रूढियो एव उन के अनुयायियो की कुकृतियो का उसी प्रकार घोर विरोध करते थे, जिस तरह हिंदू-धर्म की रूढियो और हिन्दू-धर्मावलम्बियो की कुकृतियो का करते थे। इस धर्म-स्वातन्त्र्य के वे लोग भी हिंस्र बाधक होते है, जो केन्द्रीकरण-पद्धति को प्रोत्साहन देते है और विकेन्द्रीकरण वाली योजनाओ की ओर लक्ष्य नही देते। इस दृष्टि से हिन्दुस्थान की काग्रेस-सरकार ने अभी तक जो कुछ कार्य किया है, वह सतोषजनक नही, तथापि जनता की आवाज को सुन कर उस के कान खडे रहते है और गाधी की विकेन्द्रीकरण वाली नीति को भुला नही सकते है। यो तो चीन के माविज्म (Maoism) की ग्रामोद्धारक योजना, हाल ही मे इजिप्ट मे जनरल नगीब द्वारा लाई हुई क्राति, ईरान मे मुसद्दिक सरकार की घोषणा, तथा अन्य और मध्य-एशिया-स्थित राज्यो मे उठी हुई राजनैतिक गतियो के देखने

से यह प्रतीत हो रहा है कि गाधी-मत को मान्यता देते हुए ग्रामजीवनोद्धार की
ओर राज्य-सरकारो का ध्यान जाना प्रारम्भ हो गया है, जो अहिंसा-विकास की
सीढियो मे से एक प्रधान सीढी है, परन्तु सब ओर से यही देखा जा रहा है कि
जिस अहिंसात्मक तरीके से गाधीजी समाजोद्धारक विकास लाना चाहते थे, वह
प्रयोग मे नही लाया जा रहा है। प्राय हर जगह तानाशाही अथवा जबरन (Coer-
cion) का तरीका अपनाया जा रहा है, जो अल्पाशत या अधिकाशत साम्य-
वादी (मार्क्सवादी) चीन की तानाशाही जैसा ही है, वल्कि यह कहिये कि राजा-
शाही पद्धति का अपनाये रहने के कारण उन्हे अधिक आतककारी कहे, तो कोई
हानि नही। कुछ भी हो, गाधीवाद के प्रति, जो अहिंसात्मक प्रजातत्र का ही
दूसरा नाम है, ससार के लोगो की वढती हुई श्रद्धा देख कर यह कहा जा सकता है
कि अहिंसा ने हिंसा के साथ सघर्ष करने मे जोर पकडना प्रारम्भ कर दिया है।

(ङ) **व्यक्तिगत स्वतत्रता**—उपरोक्त विवरण मे यह व्यक्त किया जा चुका
है कि हर व्यक्ति अपने कार्य करने मे स्वतत्र है। चाहे उसका कार्य अर्थ-सम्वन्धी
हो, या धर्म-सम्वन्धी, अथवा अन्य कोई। इसीलिये किसी को यह अधिकार नही
है कि उस के कार्य मे वाधा डाले , क्यो कि वह हिंसा की परिभाषा के अन्तर्गत
आता है। परन्तु, इसे सदा स्मरण रखना चाहिये कि गाधी का स्वातत्र्य, स्वनियत्रण
का द्योतक होता है , इसलिये यदि विवेक-रहित और नियत्रण-शून्य कार्य हुआ, तो
उस पर राज्य, समाज आदि की ओर से प्रतिवन्ध लगाये जाने के लिये गाधी-
मत मे न केवल निषेध नही है, वल्कि वे आवश्यक ही वताये गये है। केवल एक
आदेश यह अवश्य है कि जब कभी स्वच्छन्दता को स्वतत्रता की ओर लाने के लिये
प्रतिवन्धनो की आवश्यकता हो, तव वे यथासम्भव अहिंसात्मक ही हो, ता कि हिंसा
का ह्रास होता जाय। हिंसा को यदि उदर-गामी अथवा अन्य शरीर-अगो मे स्थित
उस जहरीले वर्ग का कीटाणु कहे, जो समय पाते ही फौरन वलवान होकर प्राणघातक
वन जाता है, तो कदाचित् गाधीजी की उपरोक्त वात जल्दी समझ मे आ जायगी।

अध्यायान्त—उपरोक्त विवेचन से आप को विदित हुआ होगा कि सारा समाज
हिंसा और अहिंसा के लडने का एक प्रकार का युद्ध-क्षेत्र है। उस मे अनेक व्यक्ति-
गत और सामूहिक सस्थाएँ है। वे ही मानो उस युद्ध-क्षेत्र के भिन्न-भिन्न युद्ध-
स्थल (मोर्चे) है। कुछ ऐसी सस्थाएँ है जिन मे वाह्य हस्तक्षेप की प्रधानता रहती
है, इसलिये वे हिंसा के गढ कहे जा सकते हैं। कुछ ऐसी सस्थाएँ है, जिन मे वाह्य
हस्तक्षेप नही रहता, अर्थात् वे स्वतत्रता-प्रधान है, इसलिये वे अहिंसा के गढ हुए।
हिंसा रावण जैसा मायावी राक्षस है। उस की सेवा मे मायावी सैनिक भी हैं।
मायावी कहने का तात्पर्य यह है कि वे कभी तो भयकर भेष वना कर शत्रु-सेना को

भयभीत करते हैं, कभी अन्तर्ध्यान होकर परेशान करते, अथवा कभी शत्रु-जैसा ही भेष बना कर शत्रु-सेना में घुस जाते, तथा मित्र-भेष में शत्रुओं को भगाने का प्रयत्न करते हैं। गरज यह कि हिंसा कभी तो साम-दाम-दण्ड-भेद के द्वारा अहिंसा को दबाती है, और कभी अहिंसा भयभीत होती हुई उन सन्धानों में भी प्रवेश कर जाती है, जिन्हें हमने अहिंसा का गढ़ कहा है, परन्तु अहिंसा राम जैसी छल-छद्म-विहीन सीधी सरल स्वभाव वाली है, और वैसी ही उन की सेना। वह सत्य-प्रकाश के द्वारा हिंसा की कपटता को पहचान लेती है, और जनम त-स्पी सैनिक-स्पी की बहुलता के साथ उसे अपने गढ़ से निकाल भगाने में प्रयत्नशील है, एवं उन के गढ़ों में प्रवेश कर वे वहां से भी उसे निकाल भगाने के लिये युक्तियां लगा रही है, परन्तु जन्म-जन्मान्तर से पाली-पोषी हुई हिंसा को इस विस्तीर्ण युद्ध-क्षेत्र से भगाना कोई नानी-दादी का खेल थोड़े ही है। युग व्यतीत करने पड़ेंगे, तब कहीं उन का दबाया जाना सम्भव हो सकेगा। ऐसा समय कभी आयगा या नहीं और आयगा, तो कब, इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु जो दृश्य दोनों के बीच के युद्ध का इस समय चल रहा है और आगे चलने की सम्भावना है, उसी को इस अध्याय में आप के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

(१३)

भविष्य-दर्शन

भविष्य-ज्ञान सम्बन्धी तीन मत—

विद्वज्जनो से जब यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या आप भविष्य को जानते हैं, तो तीन प्रकार के उत्तर मिलते है। कोई कहते है–'हा, वह गम्य है', कोई कहते है—वह 'दुर्गम्य' है, अर्थात् कठिनाई से जाना जाता है, और कोई कहते हैं—'नहीं, वह अगम्य है, उसका जानना असम्भव है। जो उसे दुर्गम्य या अगम्य कहते हैं, वे अधिकतर ईश्वरवादी होते है। सुनने मे यह अयुक्ताभास (paradoxical) प्रतीत होता है, पर वह सत्य है, क्यो कि वे जानते है कि मनुष्य जब तक अह रूप शरीरधारी होने के कारण अपूर्ण सज्ञा है, तब तक वह न तो भविष्य को पूर्ण रूप से जान सकता है और न उसे वह होने से रोक सकता है। ऐसे लोग होनहार या भावी को अगम्य और प्रबल कह कर उस का आरोपण मानुषिक शक्ति से परे दूसरी शक्ति पर करते है। इसी पर—शक्ति अथवा परा-शक्ति को कोई ईश्वर, कोई ब्रह्मा, कोई विधाता, कोई विधि-अक, और कोई भाग्य नाम देकर पुकारते हैं। जब ये लोग कहते है—'होइ है सोई जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढावहि शाखा', अथवा 'विधि के अक मिटे न मिटाये', या 'होगा वही जो लिखा लिलार' इत्यादि तब व्यावहारिकता का बाना पहने कर्मवीर उन पर बुरी तरह से बिगड़ पड़ते हैं, और कहते हैं कि इन भाग्य के पुजारी, ईश्वर के भिखारी, दकियानूसी अकर्मण्यो ने मनुष्य-जीवन का सत्यानाश कर डाला है। वे उन्ही भाग्य-भिखारियो के सम्मुख कर्मण्यता का पाठ पढ़ कर सुनाने लगते है। वही तुलसीदासजी, जिन्होने 'होइ है सोई जो राम रचि राखा' आदि कहा है, यह कहते हुए सुनाई देते है 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करे सो तस फल चाखा', अर्थात् 'कादर मनकर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा'। रामायण ही क्यो, गीता, उपनिषदादि ग्रन्थो मे तथा हर जाति और देश के साहित्य-ग्रन्थो मे कर्म-महत्त्व की चर्चा उपलब्ध होती है। तब फिर ये ईश्वरवादी भविष्य को अगम्य कह कर क्या सचमुच ही अकर्मण्यता का विष-बीज बोते हैं या कि यथार्थ का शुभ-सन्देश सुना कर मनुष्य-मात्र को कर्त्तव्य-निष्ठता का निर्देश देते है। यह प्रश्न हमारे मन मे उठ बैठता है।

अगम्यवादियो की महत्ता—

इस प्रकार के मनुष्य न तो कादर होते, और न कायर, न आलसी होते है और न अकर्मण्य। वे उन भाग्यवादियो के समान नही होते हैं, जो अकर्मण्यता मे जकड रहते हैं। कर्मण्यता तो इन का प्राण है—कर्मण्यता ही इन का जीवन होता है। वे ही है, जो जीवन और कर्म के सचमुच पारखी होते हैं। वे जानते है कि सृष्टि मे अथवा जीवन मे, यद्यपि कर्म की प्रधानता रहती है और कर्म प्राय निष्फल नहीं जाता, तथापि फल का मिलना न मिलना अनेक परावर्ती गतियो और घटनाओ पर निर्भर रहता है और जिन पर उन का पूरा-पूरा वश नहीं चलता, इसलिये वे कहते हैं कि भविष्य का जानना अपने हाथ की वात नही है। भविष्य की वात तो भविष्य ही जाने। इसीलिये गीता का आदेश है कि मनुष्य का अधिकार तो केवल कर्म करने का है, फल पर नही, और यही कारण है कि सास्य-दर्शन मे कर्म का पाँचवाँ हेतु दैव कहा है।[1] इसी सवव से ये लोग कहा करते हे 'कर्त्तव्य-कार्त्तव्य के लिये किया जाय' (Duty for duty's saLe) 'मुझे दूर की वात जानने की जरूरत नही, मुझे तो एक कदम चलना भर मिल जाय' (One step enough for me) इत्यादि। इन लोगो की दृष्टि मे जीवन न तो केवल वाह्य अथवा लौकिक गतियो का ही वना होता है और न ही केवल आन्तरिक अथवा पारलौकिक गतियो का। आदर्श और व्यवहार दोनो का यथावत सयोग ही उन की दृष्टि मे जीवन की परिभाषा होती है, इसलिये वे जानते ह कि भविष्य का निर्माण इन वाहरी और भीतरी, निकट वर्ती और दूरवर्ती, अपनी और पराई, भूत और वर्तमान, प्राकृतिक और अकस्मात-गतियो के द्वारा होता है। जव वे यह जान लेते हैं, तव भविष्य-ज्ञान के सम्वन्ध मे उन का अपना अत्यन्त क्षुद्र भाग दिखाई देने लगता है। यदि केवल व्यक्तिगत वाह्य कर्म ही पर विचार किया जाय, तव भी हम को मानना पडता है कि भावी प्रवल और अगम्य है। कृपक ने अनाज वोया, खूव पैदा हुआ, फसल कटने वाली ही थी कि अचानक आधे घण्टे मे काले-काले वादल उठ आये और ओले वरस पडे। दस-पन्द्रह मिनट के वाद आकाश साफ हो गया, पर विचारे किसान की कर्म-फल रूपी सारी उपज नष्ट-भ्रष्ट हो गई। इधर एक मजदूर ने दिन-भर कठिन परिश्रम किया। सध्या समय वह थाली परोस कर भोजन करने वैठा ही था कि एकाएक छिपकली ने ऊपर से अपना मल भोजन पर गिरा दिया। वेचारा मजदूर भूखा ही उठ वैठा, उस का सारा श्रम दिन-भर का व्यर्थ गया। वह नहीं जानता था कि भविष्य इस प्रकार होने वाला था। भूकम्प, विजली, तूफान, आदि के कारण हजारो-लाखो

---

१ गीता १८।१४

का गड-धँस जाना या जल-भुन जाना क्या किसी को पहले से विदित रहता है ? विज्ञान का दम भरने वाला मनुष्य इस प्रकार की प्राकृतिक गतियो का कुछ हद तक अनुमान निस्सन्देह लगा लेता है, फिर भी वह अनुमान पर आधारित ज्ञान एक तो अपूर्ण रहता हे, और दूसरे सर्वसाधारण की दृष्टि से वह न जानने के ही बराबर होता है। ईश्वरवादी यदि इस प्रकार की भविष्य मे होने वाली घटनाओ को ब्रह्मा या विधाता की करतूत, विधि के अक या विधि की गतियाँ कहे, अथवा यह ही कहे कि यह तो भाग्य या किस्मत का खेल है, तो चिढना नही चाहिये। आप भी तो उन्हे आकस्मिक घटनाएँ कह कर उसी भाव का प्रदर्शन करते है, जिस का वे करते हे, केवल शब्द-रचना का ही भेद रहता है। यदि आप ब्रह्मा, विधाता, विधि, भाग्य, आदि शब्दो के मूलार्थो का मनन करें, तो हमारी समझ मे, आप को यह मानना पडेगा कि 'अकस्मात्' शब्द की अपेक्षा उक्त शब्द अधिक वैज्ञानिक हे, क्यो कि वे विज्ञान के समान कारण-कार्य (cause and effect) के सम्बन्ध की स्थापना करते है, और 'अकस्मात्' (accident) केवल कार्य का बोधक होता है, न कि कार्य और कारण दोनो का। ब्रह्मा, विधाता आदि उपरोक्त शब्दो से किसी साक्षात् मूर्तित्व का बोध नही होता, जैसा कि लोग बहुधा अज्ञानवश समझा करते हे।

भविष्य की अगम्यता के तीन कारण—भविष्य की अनभिज्ञता का यह तो हुआ वह एक कारण जो यह प्रकट करता है कि मनुष्य का ज्ञान बाह्य प्राकृतिक गतियो के सम्बन्ध मे सीमित रहता है और यदि वह उनके विषय मे थोडा-बहुत अब जानता भी हो, तो वह अपनी निर्बलता के कारण उन्हे वश मे नही कर सकता। अपनी आन्तरिक गतियो पर विचार कीजिये। भविष्य-प्रकाशक बुद्धि-तत्त्व को ढाँक देने वाली हर्ष-विषाद, काम-क्रोध इत्यादि कितनी ही गतियाँ हमारे अन्दर चला करती है। इन गतियो के उठने-बैठने मे एक तो हमारे पूर्व और वर्तमान सस्कारो का हाथ रहता है, और दूसरे वे तत्कालीन बाह्य और भीतरी अनेक घटनाओ से प्रभावित होती रहती है। वे स्वय कभी आपस मे हिली-मिली रहती है और कभी घमासान सघर्ष करती है। इन सभी गतियो की हमे पूरी-पूरी जानकारी नही रहती फिर भी उन सब का भविष्य-निर्माण मे प्रभाव पडता है। जब हमे अपनी आन्तरिक गतियो का ही ज्ञान नही, तो भला उन से बनने वाले भविष्य का ज्ञान कैसे हो सकता है। अपनी आन्तरिक गतियो का नियत्रणण करना, इसमे सन्देह नही, हमारे वश की बात कही जा सकती हे, परन्तु इधर भी तो हम निर्बल ही सिद्ध होते है। भविष्य हमारी अज्ञानता और निर्बलता का लाभ उठा कर हमारी दृष्टि के ओझल बना रहता है।

अभी तक हमने केवल व्यक्तिगत कर्म को ही दृष्टि मे रखकर बताया कि भविष्य

का जानना कितना कठिन होता है, परन्तु जब हम अपना दृष्टिकोण उन कर्मों की ओर फैलाते हैं, जिनका सम्बन्ध समाज से रहता है, तब तो भविष्य-दर्शन की अनिश्चितता और भी अधिक बढ़ जाती है। ज्यों-ज्यों हमारे कर्म का विचरण-क्षेत्र समाज में विस्तृत होता जाता है, त्यों-त्यों वह अनिश्चितता बढ़ती चली जाती है, यहां तक कि जब वह अपना सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से जोड़ लेता है, तब तो भावी फल का जान लेना मानो आकाश का पकड़ लेना ही कहायेगा। विकसित-अविकसित अगणित मनुष्यों की बाहरी और भीतरी अर्थात् सम्पूर्ण समाज की भली बुरी सभी प्रकार की सामाजिक, मानसिक और शारीरिक गतियों का विचार कीजिये और देखिये कि वे किस तरह एक दूसरे से प्रभावित होती हुई आगे-पीछे, नीचे-ऊपर चलती हैं कि ज्ञान का विस्तार कल के विषय में प्राय कुछ भी नहीं रह सकता। निकटवर्ती सामाजिक भविष्य के विषय में, सम्भव है, अनुमान ठीक निकल आये, परन्तु दूरवर्ती भविष्य का अनुमान, हमारी अल्पमति के अनुसार निरा कल्पना-मात्र ही रहता है। यही कारण है कि जब कोई समाज सुधारक कर्म-क्षेत्र में पदार्पण करता है तब वह किसी [illegible] कल्पना को लेकर चलता है। उस कल्पना में, यद्यपि भावी निश्चितता नहीं रहती तथापि निश्चित् सामर्थ्य कूट-कूटकर भरा रहता है। मार्क्स और गांधी के दोनों सामाजिक भविष्य-स्थिति का चित्रण भी जनता के सम्मुख रखा और बताया कि एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा, जब हर मनुष्य नैतिकता के इतने ऊँचे स्तर पर पहुँच जायगा कि समाज का सारा कार्य बिना राज्य-दण्ड के चलता जायेगा, अर्थात् उस समय हर तरफ सम्पन्नता होगी और फलत उन्नति या सुख की नदियां घर-घर और गली-गली में बहने लगेंगी।

भविष्य का निर्माणकर्ता

नही हुआ करता। निर्माणकर्त्ता तो कर्म ही होता है, इसलिये इच्छानुकूल भविष्य निर्माण के लिये उपयुक्त निःसंशयात्मक कर्म करना आवश्यक होता है, जिस की उत्पत्ति निस्संशयात्मक संकल्प से ही होती है। यह भी निश्चय है कि व्यक्ति विशेष अपने कर्मो के द्वारा अपने भविष्य का निर्माता भले ही बन जाय, पर समाज के भविष्य का निर्माण वह अकेला कदापि नही कर सकता। वह केवल नायक या सेनानी के रूप मे समाज को अधिक-से-अधिक योग अवश्य दे सकता है। उसका कर्त्तव्य यही तक रहता है कि वह दृढ निश्चयी होकर स्वय तदनुकूल कर्म करे, और जन-शक्ति को जागृत कर उसी मार्ग पर लगा दे। इसी जन-शक्ति के भरोसे पर ही गाधी आवाज उठा सकते थे कि मैं एक दिन मे स्वराज्य दे सकता हूँ। नैपोलियन दम भर सकते थे कि असम्भव शब्द ही कोश से निकाल देना चाहिये, और मार्क्स चाहते तो कह सकते थे कि मैं घडी-भर मे पूंजीपति-पद्धति का तख्ता पलट दूंगा, इसलिये अभी तक हमने जो राज्य-विहीन भावी समाज की चर्चा की है, वह केवल मार्क्स और गाधी की कल्पनाओ की छाया रूप है। परन्तु अब इस अध्याय मे हमे इस बात पर भी विचार करना जरूरी है कि मार्क्स और गाधी की मृत्यु के पश्चात् जनता उनके बताये हुए मार्गो का अनुसरण किस हद तक कर रही है, और समाज क्या सचमुच ही उस ओर जा रहा है, जिस ओर जाने के लिये उन का सकेत था, या कोई दूसरी करवट बदलने की सभावना है।

भविष्य-दर्शन का आधार

यद्यपि हम यह कह चुके है कि दूरवर्ती भविष्य का जानना असम्भव होता है, तथापि हम यत्र-तत्र भविष्य वाणियाँ सुना ही करते है और उन मे से कुछ सही भी निकल आती है। हिन्दुस्थानियो ने तो भविष्य के सम्बन्ध मे भविष्य-पुराण ही रच डाला था, जिस मे कथित कुछ भविष्य-वाणियाँ आज सहस्रो वर्षो के बाद भी सही उतरती जाती है। जब भविष्य अगम्य है, तब फिर आप पूंछेगे कि ये भविष्य-वाणियाँ सत्य क्यो निकलती है? इससे तो यही सिद्ध होता है कि भविष्य अगम्य नही गम्य होता है, यदि गम्य न कहा जाय, तो दुर्गम्य ही कहना चाहिये। भविष्य-वाणियाँ किस की सत्य निकला करती है? केवल उन्ही की, जिन मे सत्यसम्बन्धी विषय को प्रकाशमान शुद्ध अन्तरात्मा के द्वारा देखने की क्षमता आ गई हो। उन महान् आत्माओ को तीनो काल का दर्शन हो जाना सरल होता है, इसलिये वे त्रिकाल-दर्शी कहाते है। उनकी इस त्रिकालदर्शक शक्ति को देखकर हम तुम जैसे साधारण दृष्टा अपनी बौद्धिक मलिनता के कारण अद्भुत या चमत्कार समझने लगते है। यो तो साधारण व्यक्ति भी त्रिकालदर्शी कहाने योग्य होता है, पर उसका त्रिकाल-दर्शन

अत्यन्त सकुचित रहता है। काल अविभक्त है, फिर भी मनुष्य अपनी सुविधा के हेतु उसे क्षण और क्षणाशो मे विभक्त कर लेता है, यह हम सभी जानते हैं। जिस को यह अविभक्त काल ज्यो का-त्यो जितनी दूर तक दिखाई दे सकता है, उतने ही दूरवर्ती भविष्य के विषय मे उसकी वाणी मे सत्यता सिद्ध होती है। जिस तरह 'अ' अपने कमरे मे बैठा हुआ व्यतीत कल की, आज की और भविष्य कल की बात को बडी आसानी से जान रहा है, उसी तरह ध्यानावस्थित निर्विकल्प योगी अपनी आन्तरिक दृष्टि से बहुत पीछे और बहुत आगे की बात को जान लेता है, परन्तु फिर भी वह योगी यह समझता है कि मैं सर्वव्याप्त पूर्णता का केवल अश-मात्र ही हूँ, इसलिये वह दम्भ और अभिमान से दूर रह कर नम्रता से झुका हुआ भविष्य का जानना उस पूर्णता पर ही छोड देता है, जिसे लोग ईश्वर आदि कह कर जानते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भविष्य अगम्य होने पर भी शुद्ध अन्तरात्मा मे प्रकाशित हो उठता है, इसलिये यदि हमे दूरवर्ती भविष्य की झाँकी देखनी है, तो हम मे निर्विकल्पता होनी चाहिए, ताकि हम निष्पक्ष भाव से अपनी विचारधारा को स्थिर कर सके, परन्तु हम मे वह योगाभ्यास कहाँ, जिस से हमारी अन्तरात्मा निर्विकल्प हो जाय। तब फिर हमारे पास केवल एक साधन रह जाता है, और वह है भला-बुरा तर्क, जिसे शास्त्रीय भाषा मे योग-भ्रष्ट तर्क कहना उपयुक्त होगा। पर हाँ, इस योग-भ्रष्ट तर्क मे निष्पक्ष ज्योति ही अधिष्ठित रह कर हमे भविष्य का दर्शन कराने मे योग देगी।

भविष्य-दर्शन का आश्रय (जनतन्त्र) और उसकी जाँच—तर्क के लिये कोई आश्रय होना चाहिये, और यह आश्रय हमारा भी वही होगा, जो अन्य लोगो ने अपना बना रखा है। वह है 'जन-तन्त्र' नाम का आश्रय। हम किसी गत अध्याय मे बता चुके है कि यह 'जनतन्त्र' नाम अत्यन्त भ्रमोत्पादक होता है। जिस प्रकार हर नाई के पास आप की आकृति दिखाने के लिए दर्पण रहता है, उसी प्रकार समाज का हर आलोचक अपने हाथ मे जनतन्त्र नाम का आइना रख आप के सामने पेश किया करता है, ताकि आप उस मे समाज की आकृति देख सके। यदि नाई का दर्पण दूषित हुआ, या अदूषित दर्पण को नाई ठीक प्रकार से पकडकर न रख सका तो दोनो दिशाओ मे आप की आकृति विकृत दिखाई देगी, यह हम सभी जानते हैं। इसी प्रकार यदि जनतन्त्र की व्याख्या गलत की गई, या सही व्याख्या का दुरुपयोग किया गया, तो दोनो स्थितियो मे समाज की वर्तमान आकृति मे विषमताएँ प्रतीत होने लगेंगी, और भविष्य का दर्शन भी यथाविधि होना असम्भव हो जायगा, इसलिये यदि हम यथार्थ भविष्य-दर्शन करना चाहते है, तो हमारी दृष्टि दो बातो पर केन्द्रित रहनी चाहिये। एक तो हम यह देखें कि जनतन्त्र की व्याख्या उचित है या नहीं,

और दूसरी यह देखें कि उस का यथा विधि पालन किया जाता है, या नही ।

(१) **जनतत्र की व्याख्या**—जहाँ तक 'जनतत्र' शब्द की व्याख्या का प्रश्न है, वहाँ तक तो आज वीसवी सदी के मध्यकाल मे सभी शिक्षित समाज मे एक मत है। सबो के द्वारा स्वीकार की गई 'जनतत्र' की सरल-सीधी परिभाषा यह है—"जनता का वह तत्र, जिसे जनता जनता के लिये चलाये ।" इस परिभाषा का पदच्छेद किया जाय, तो उस के तीन अग दिखाई देते हैं, यथा—(१) वह तत्र, जो जनता का बना हो, (२) वह तत्र, जिस का सचालन जनता के द्वारा हो, और (३) वह तत्र, जिस का सचालन जनता के लिये किया जाय।

इस मे जनता और तत्र केवल इन्ही दो शब्दो की प्रधानता है। अर्थ और व्यवहार दोनो दृष्टियो मे इन दोनो के विषय मे हमेशा से मतभेद चला आ रहा है, और विभिन्न सामाजिक पद्धतियो के रूप मे समय-समय पर प्रकट होता रहा है। पहले हम इनके अर्थ पर विचार करेंगे और फिर उन के व्यवहार पर।

जनता का अर्थ यद्यपि स्पष्ट है, तथापि लोगो ने अपने स्वार्थ और बल से प्रभावित होने के कारण उस का सर्वव्याप्त अर्थ न लेकर सकुचित अर्थ ही समय-समय पर देश-देश मे किया है। किसी ने केवल राष्ट्र या स्वदेश की जनसख्या से उसे बाँध दिया, किसी ने धर्म अथवा सम्प्रदाय-विशेष की सीमा से उसे घेर दिया, और किसी ने बहुमत के आधार पर स्थित दल-विशेष ही के कठघरे मे उसे कस दिया। जनता शब्द का यह परिमित अर्थ, परिमित व्यवहार से विशेष सम्बन्ध रखता है। इसलिये हम उस का उल्लेख अब विशेष रूप से आगे ही करेंगे।

जब जनता का अर्थ ही गलत लगाया जाने लगा है, तब उस से बनाये हुए तत्र का अर्थ भी गलत होना निश्चित है। 'तत्र' शब्द मे दो पद हैं—एक 'तन्' और दूसरा 'त्र'। 'तन् (तनोति)' धातु का अर्थ होता है 'विस्तार होना' (to stretch), और 'त्र' 'तृ' धातु का रूपान्तर है, जिस का अर्थ होता है 'पार करना' (to cross over) या तैर जाना' (to swim or sail across)। इसलिये 'तन्' कहने से स्थूलता, शरीर, या सृष्टि विस्तार का ज्ञान होता है, और 'त्र' कहने से उस स्थूल-विस्तार को समुचित विधि से पार लगाते जाने का बोध होता है। दूसरे शब्दो मे, तत्र विस्तृत तन का पार कराने वाला वह साधन होता है, जिस के द्वारा 'तन' वश (Control) मे किया जा सके। इसी को दूसरे शब्दो मे नियत्रण कहते हैं। जिस तरह विस्तृत तन का नियत्रण रूप साधन तत्र होता है, उसी प्रकार विस्तृत मन का मत्र, और विस्तृत यम (अर्थात् काल) का यत्र (यम्+त्र) कहा जाता है। तत्र सामान्य अर्थवाची है। जब उस का प्रयोग किसी विशेष-

अर्थ-प्रकाशन के लिये करते हैं, तब उसके पहले उस विशेष अर्थवाची शब्द को जोड देते हैं, जैसे जनतन्त्र, स्वतन्त्र, परतन्त्र इत्यादि। इस तरह अब हम यह कह सकते हैं कि जनतन्त्र जनता की उस व्यवस्था का नाम है, जो जनसमाज को नियन्त्रण मे रखती है। नियन्त्रण से बल, दबाव या जबरदस्तीपन का बोध नही होता। वह उन आत्म-बन्धनो का द्योतक होता है, जिन का प्रतिपालन करने से मनुष्य उन्नत अवस्था को पा सकता है।

चूंकि समाज-जीवन प्रधानत चार क्षेत्रो मे विभाजित रहता है, इसलिये जनतन्त्र भी उन उन क्षेत्रो के अनुरूप हुआ करता है, जैसे--राजकीय जनतन्त्र, सामाजिक जनतन्त्र, आर्थिक जनतन्त्र और धार्मिक जनतन्त्र। इन के और भी उपभेद किये जा सकते हैं, जैसे---शिक्षण जनतन्त्र, औद्योगिक जनतन्त्र इत्यादि। इस भेद को न जानने के कारण लोग बहुधा जनतन्त्र कहने मे राजकीय जनतन्त्र का अर्थ लगा लेते हैं। हिन्दुस्तानियो मे इस भ्रम का एक मूल कारण हमे यह प्रतीत होता है, कि उन की शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी साहित्य से गठित है। अंग्रेजी मे जनतन्त्र को डेमोक्रेसी (Democracy) कहते हैं, और डेमोक्रेसी की परिभाषा करते समय उसे गवर्नमेन्ट (government) शब्द से सम्बन्धित करते हैं।[२] चूंकि हमे गवर्नमेन्ट शब्द के मूलार्थ मे जाने की आदत नहीं है, इसलिये उसे सुन कर हमारा ध्यान केवल राजकीय संस्था मे उलझ कर रह जाता है, हालाँकि गवर्नमेन्ट शब्द जनता की हर प्रकार की नियंत्रणकारिणी व्यवस्थाओ का बोधक होता है।

(ii) जनतन्त्र का राजकीय व्यवहार --अब यदि हम जनतन्त्र की उपरोक्त परिभाषा को व्यवहृत रूप मे देखने की चेष्टा करते हैं, तो और भी अधिक घपला दिखाई देता है। यह घपला राज्यकीय जनतन्त्र मे विशेष रूप से पाया जाता है, इसलिये उसी पर अब हमे अपनी दृष्टि स्थिर कर लेना उपयुक्त होगा। यह घपला केवल आज-कल ही नही, वरन् हमेशा से चला आ रहा है। यह जनता को धोखे मे डालने के लिये मकडी-जैसा पूरा हुआ जाल, अथवा आँख-मिचौनी जैसा गोरखधन्धा रहता है। राज्य-व्यवस्था की जड जब से जमी है, तभी से वह जन-प्रतिनिधित्व और जनहित की बात को वाणी मे ग्रहण किये हुए है। यह तो निश्चित है कि सारी जनता राज्य-प्रबन्ध मे भाग नही ले सकती, चाहे वे प्राचीनकालीन ग्रीस (यूनान) के शहर राज्य (city state) हो या हिन्दुस्थान की ग्राम-पंचायतें, (village communities), चाहे वे मध्यकालीन विशालकाय साम्राज्य रहे हो

---

२ "Democracy is the government of the people by the people, for the people"

ही निर्वाचन का आधार बन गई है। मतदाता की शिक्षा, जनसेवा, आचार और अनुभव को कोई स्थान नहीं दिया गया। मतदाता ही क्यों, चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों के लिये भी इन बातों की कैद नहीं रखी गई। आप को सुन कर आश्चर्य होगा कि हिन्दुस्तान की पार्लमेन्ट में कुछ ऐसे सदस्य चुन कर पहुँचाये गये हैं, जो अपने हस्ताक्षर तक करना नहीं जानते। प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार से चुने गये सदस्य क्या जनता का सच्चा और पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं, और क्या उन के द्वारा बना हुआ राज्य यथार्थ जनता का राज्य कहा जा सकता है। हम कहेंगे नहीं। हमें कहने की जरूरत नहीं कि जनसंख्या का वह भाग, जो अप्राप्त-वयस्क (minor) रहता है, बिना प्रतिनिधित्व के रह जाता है। तब फिर आप पूछेंगे कि उन का प्रतिनिधित्व हो ही कैसे सकता है? उन का प्रतिनिधित्व कैसे हो, यह सवाल अभी हमारे सामने पेश नहीं है। सवाल तो इस बात का है कि क्या वर्तमान तन्त्र, पूर्ण जनता का प्रतिनिधि रूप होता है? सम्भव है, आप कहें उन का प्रतिनिधित्व भी वही लोग करते हैं, जिन्हें प्राप्त-वयस्क (major) चयन करके भेजते हैं, परन्तु हम इस तर्क से सहमत नहीं। इस प्रकार के चुने हुए लोग उन के संरक्षक या हितचिन्तक के रूप में भले ही हों, पर वे उन के प्रतिनिधि नहीं कहलाये जा सकते। प्रतिनिधि तो वही हो सकता है, जिसे लोग स्वयं चुनें, चुनने का तरीका चाहे कोई दूसरा ही रखा जाय। यदि हम इस प्रकार के चुने हुए लोगों को ही नाबालिगान के प्रतिनिधि कहने लगें, तो फिर हमें किसी भी ऐसे व्यक्ति को जनता का प्रतिनिधि मानना पड़ेगा जिसे जनता ने चुना न हो, पर वह उन का सच्चा हितैषी और सेवक हो, पर आज की डेमोक्रेसी के रंग में रंगे आप भला ऐसे व्यक्ति को प्रतिनिधि मानने कब चले हैं, क्यों कि आप तो आंख बन्द कर चाहे जहां यह पाठ रटा करते हैं कि आत्म-राज्य का स्थान अच्छा राज्य नहीं ले सकता (A good government is no substitute for self-government)। एक बात और इस सम्बन्ध में विचारणीय है और वह यह है— हमने वर्तमान सभ्यता की हदों में रहने वाले लोगों को यह कहते सुना है कि समाज की गति उत्तरोत्तर वृद्धि करती जा रही है। इस का परिणाम यह हुआ है कि जितना ज्ञान पूर्वकाल के प्रौढ़ लोगों को रहता था उतना आज के बालकों को रहता है।[३] यदि बात ऐसी है, तो प्राप्त-वयस्क के लिये आयु क्यों कम नहीं कर दी जाती। आज प्राप्त-वयस्क बहुधा १८ वर्ष या उससे अधिक आयु वाला कानून की दृष्टि में माना जाता है, परन्तु उपरोक्त दृष्टि में बालिग होने के लिये १८ वर्ष के स्थान में १२-१३ वर्ष से लेकर सत्रह तक का लड़का प्राप्त वयस्क क्यों न समझा जाय?

---

३ देखो राहुल साकृत्यायन कृत 'साम्यवाद ही क्यों' पृ० २५

नावालगान की वात को छोड दीजिये। वालगान की ही वात लीजिये। सच्चा प्रतिनिधित्व जानने के लिये यह देखना आवश्यक होता है कि प्रतिशत कितने मत-दाताओ ने मतदान दिया। जव शत-प्रतिशत उपस्थिति हो तव समझना चाहिये कि प्रतिनिधित्व पूर्ण-जनता का हुआ, परन्तु यह सम्भव नही। इसलिये, अधिक-से-अधिक औसत मतदान की होना आवश्यक है। फिर एक वात और विशेष ध्यान देने योग्य है। मान लो, चुनाव पाँच दलो के उम्मीदवारो ने लडा और मतदान देने के लिये कुल ७० प्रतिशत मतदाता आये। इन मे से (अ) दल के उम्मीदवारो को ३० प्रतिशत मत प्राप्त हुए और वाकी ४० प्रतिशत मत शेप चार दलो के उम्मीद-वारो को वँट गये, परन्तु (अ) दल को छोड हर दूसरे दल को ३० प्रतिशत से कम मत मिले। परिणाम यह हुआ कि (अ) दल के विजयी उम्मीदवारो ने तत्र वनाया। ऐसी दशा मे क्या (अ) दल के विजयी उम्मीदवार जनता के सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते है? नही, क्यो कि मददाताओ की अधिक सख्या ने उन्हे मत नही दिया। यह दशा हिन्दुस्तान के सन् १९५२ के गत चुनावो मे काग्रेस-दल की हुई, जिस के कारण काग्रेस-गवर्नमेण्ट को जन-आलोचना की वडी सरगर्मी की मार सहनी पडी।

अव थोडा और आगे वढिये और देखिये कि चुनाव के समय कितने मतदाता अपना मतदान पूर्ण स्वतत्र होकर देते है, हिन्दुस्थान की वात जाने दीजिये, जहां यह वहाना है कि यहाँ के निवासी अभी अपढ और मूर्ख हैं तथा उसे स्वतन्त्र हुए अभी जुम्मा-जुम्मा सिर्फ आठ रोज हुए हैं। तो फिर शिक्षित-से-शिक्षित देश को ही ले लीजिए। आप को पता लगेगा कि वहाँ का मतदान भी अधिकतर वाह्य कारणो से प्रभावित किया जाता है। परिणाम यह होता है कि चुने गये सभी सदस्य सच्चे प्रतिनिधि कहे जाने योग्य नही होते।

अभी और आगे चलिये और देखिये कि यदि मतदाता अशिक्षित, मूर्ख, अन्ध-विश्वासी आदि हो, तो उन के द्वारा चुना हुआ सदस्य मूर्खो का प्रतिनिधि मूर्ख होगा। इसके पश्चात् जव हम तत्र शब्द के मूलार्थ और मूल-भाव पर विचार करते हैं, तव तो हमारा यह निर्णय कि आधुनिक राज-तात्रिक युग मे जनता का यथार्थ प्रतिनि-धित्व नही होता और भी अधिक दृढ हो जाता है। तत्र उन लोगो का वना हुआ हो, जो नियत्रण करने के योग्य हो। उचित नियत्रण करने का अधिकारी वही हो सकता है, जो आत्म-नियत्रण करने वाला हो। आत्म-नियत्रण वाला पुरुष सदाचार, सेवा, प्रेम, तपादि गुणो से युक्त होता है, परन्तु आधुनिक निर्वाचन पद्धति मे प्राप्त-वयस्क के प्रश्न को छोड इन सव वातो को कोई स्थान नहीं दिया गया, जैसा कि हम अभी ऊपर कह आये है।

वाह्याकृति का प्रतिरूप होता है, अर्थात् उस मे अभी वह शक्ति नही है, जिस के द्वारा मतदाता की समस्त 'निधि' ज्यो-की-त्यो प्रतिविम्वित हो सके। जब मतदाता की हर्ष, शोकादि पूर्ण भावनाएँ ज्यो-की-त्यो प्रतिविम्वित होने लगेगी, तभी सच्चा प्रतिनिधित्व कहा जा सकेगा , अत प्रत्यात्मा ही प्रतिनिधि कहलाने का अधिकारी हो सकता है, और यह तभी सम्भव होगा, जब हमारे उम्मीदवार, मतदाता, निर्वाचन-पद्धति एव परावृत्त परिस्थितिया, पारस्परिक प्रेम और सेवा-भाव से इतनी उज्ज्वल और शुद्ध हो जायँ कि स्वभाविक एकात्मीयता का सम्वन्ध स्थापित हो उठे।

ये है कुछ ऐसे व्यावहारिक और तात्त्विक कारण, जिन के आधार पर हम कह सकते है कि वर्तमान राजकीय जनतन्त्र न तो जनता के यथार्थ प्रतिनिधियो से वनता है, और न उस का सचालन ही जनता के द्वारा होता है।

यह समझ लेने के पश्चात् कि आधुनिक राजतन्त्र न तो जनता के वने कहे जा सकते हैं और न उन का सचालन ही जनता के द्वारा कहे जाने योग्य होता है। हमे अव यह देखना चाहिये कि क्या उन का सचालन जनता के लिये अथवा जनहित के लिए ही किया जाता है? जनतन्त्र की उपरोक्त पारिभाषिक दृष्टि से विचार करने पर, कोई भी कह सकता है कि जब सच्चा जन-प्रतिनिधित्व ही नही, तो जनहित के कार्य भी कौन करेगा ? यह सुन कर आलोचक दो प्रश्नो को उठा सकता है। वह कह सकता है कि हमारा यह दोपारोपण निर्मूल है कि आधुनिक निर्वाचन-पद्धति के द्वारा निर्वाचित सदस्य जनता के सच्चे प्रतिनिधि नही होते। वह यह भी कह सकता है कि सच्चे प्रतिनिधि न होते हुए भी वे समाज-सेवा की भावना से प्रेरित होकर जनहित के कार्य क्यो नही कर सकते, जव कि अनेक समाज-सेवी अपने-आप ही लोक-हितार्थ कर्म करने मे सलग्न रहते है। आलोचक की इन दोनो तर्को को मान लेने पर भी वास्तविक घटनाओ को देखते हुए कोई भी निष्पक्ष द्रष्टा इस वात को मानने के लिए तैयार न होगा कि आधुनिक जनतन्त्रो का समस्त कार्य जनता के लाभार्थ ही किया जाता है। हमारा तो निश्चय है कि वारीकी से निरीक्षण करने वाले को यह वात स्पष्ट दीख पडेगी कि वर्तमान राजतन्त्र निरर्थक, अधिक खर्चीला, और इसलिये कर-भार से जनता की कमर तोड देने वाला, वकवादी दलो के दलदल मे फँसा, समय को नष्ट करता हुआ जनता के नाम पर जनता की ही टाँग तोडने मे लगा रहता है। प्रतिनिधियो की जनसेवा प्राय' वचन-भग, पद-लोलुपता, चाटुकारिता और दल-समर्थन मे ही दिखाई देती है। जहाँ देखो वहाँ नाम तो जनतन्त्र का है, पर राज्य है तानाशाही का। हर देश मे प्रधान मन्त्रित्व का इतना वोलवाला हो रहा है कि वही सव कुछ कर्त्ता-धर्त्ता वना हुआ वीसवी सदी का नया शाह कहा जाय, तो गलत न होगा।

यदि ट्रूमेन, स्टालिन और माओ (Mao) को तानाशाह कहता है, तो स्टालिन और मावो ट्रूमेन को उसी उपाधि से विभूषित करने मे नही चूकते। दुनिया के कोने-कोने मे सघर्ष चल रहा है, अपनी राजनैतिक शक्ति (PowerPolitics) की धाक जमाने के लिये, न कि जनहित के लिये। इससे हमारा यह प्रयोजन नही कि जन-हित के कोई कार्य ही नहीं होते। हमारा प्रयोजन केवल इतना है कि जो कुछ कार्य होता है, वह सभी जनता के लाभार्थ नहीं किया जाता, जैसा कि जनतत्र का अभि-प्राय वताया जाता है। हम तो यहा तक कहेगे कि अधिकाश कार्य जन-अहित के ही होते है। जिन कार्यों मे जनहित दिखाया जाता है और जिन्हे जनता भी मोह-वश हितकर समझती है, वे यथार्थ मे सुख की दृष्टि से अहितकर ही होते है। क्या लाभ ऐसे जनतत्रो से, जो एक दूसरे के विरुद्ध दॉत पीसने मे लगे हो और जनता की गाढी कमाई को सेनादि युद्ध सामग्री मे खर्च करते हो? क्या लाभ ऐसे जनतत्र से जो इस वहाने को लेकर कि जनसख्या वढ गई है, जनता के पेट का प्रश्न हल न कर सके? क्या लाभ उन आविष्कारो से जो जनता को सुखी न कर सकें, वरन् तृष्णाओ और प्रलोभनो मे फँसाकर दुखी वनायें? क्या लाभ उन राजतत्र नामधारी राज्य-व्यवस्थाओ मे, जो मादक पदार्थों का निषेध इस कारण से न कर सकें कि उन की आय मे कमी पड जायगी, और जीवन-मनोरजन के नाम पर सिनेमा-गृहो मे दुष्परिणामकारक के तसवीरो को वन्द न करना चाहे? साराश यह है कि जनतत्र का उद्देश्य, जो जन-सुख प्राप्ति का है, जनतत्र ही पोछता जा रहा है।

(iii) **राजकीय जनतत्र की वर्तमान असफलता**—इसी प्रकार के सव कारणो को देखते हुए हम प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ एम० एन० राय के स्वर मे स्वर मिलाकर कह सकते हैं कि "यह स्वीकृत वात है कि सारे ससार में ससदीय जन-तान्त्रिक व्यावहारिकता असफल सिद्ध हुई है"[८] (the admitted failure of the parliamentary democratic practice throughout the world) इस असफलता के दो कारण हैं। एक तो दूषित निर्वाचन पद्धति से दूषित प्रतिनिधित्व का उत्पन्न होना, और दूसरे जनता की मूर्खता और कमजोरी जो अपने प्रतिनिधियो को अपने अधीन (control) मे नहीं रख सकती। एम० एन० राय का कथन है कि एक समय ऐसा था, जव मनुष्य अपने-आप और ससार को ईश्वर अथवा विधाता के अधीन समझा करता था, परन्तु समय ने पलटा खाया और इस सिद्धान्त के विरुद्ध मानवी सिद्धान्त उठा कि मनुष्य किसी के अधीन नही है, वह स्वय अपने भाग्य

८ 'Future of Democracy in India' article by M N Roy Published in A B Patrika (Alld) pp 9 and 11

का निर्माण करने वाला होता है। मानवी जीवन ही अन्तिम उद्देश्य है, और चूंकि मनुष्य ही सब वस्तुओं के नाप-जोख का प्रमाण है, इसलिये सभी मूल्यो का निर्धारण उसी प्रमाण से किया जाना चाहिये। मानवता के इस तत्त्व ज्ञान ने जनतान्त्रिक व्यवहार को जन्म दिया, परन्तु कालान्तर से वह अपनी मूल-प्रेरणा से खिसक गया। आखिरकार वही मनुष्य जो अधिपति (sovereign) था, ससदीय पद्धति मे एक अणुरूप व्यक्ति की असहाय स्थिति पर पहुँचा दिया गया है और राज्य की वागडोर कुछ थोड़े-से आदमियो का दल अपने हाथ मे रखे रहता है। ससदीय जनतत्र के आलोचक उस की असफलता और दुरोपयोग के ये कारण बतलाते है—तत्सम्बन्धी गुण-विभाग (subjective factors), पद की दुर्वासना (lust for power) तथा राजनीतिज्ञो और सामाजिक वर्गों की लालसा या लाभ-प्राप्ति (greed or gain of individual politicians and social classes)। श्री राय का मत है कि यद्यपि सामाजिक घटनाओ का निर्धारण अधिकतर मनुष्यो पर निर्भर रहता है, तथापि कुछ ऐसी भी वास्तविक गतियाँ (objective forces) होती है, जो राजनीतिज्ञो और दलो की इच्छाओ से असम्बन्धित रह कर स्वतत्र रूप से कार्य करती है। इन गतियो का भी हमे लेखा लेना चाहिये, ताकि उपरोक्त ससदीय जनतान्त्रिक असफलता के सभी कारणो को देख कर हम उचित सबक सीख सकें। श्री राय ने उपरोक्त विचारधारा को प्रकट करने के पश्चात् यह कह कर सचेत किया है कि मनुष्य इतना नीचे न गिरे कि वह अपने-आप को किसी उद्देश्य विशेष का—चाहे वह मानव श्रेष्ठ(Super-human) के रूप मे हो या प्राकृत श्रेष्ठ (Super-natural) के रूप मे—साधनमात्र समझने लगे। ऐसी मानसिक भावना के विद्यमान रहने से, उस मे अधीनता का भाव बना रहता है, जो तानाशाही के पैरो को मजबूत करता है और जनतन्त्रता के बदले व्याख्यान झाड़ने वाले नायको (demagogues) की वृद्धि करता है। परिणाम यह होता है कि फिर ये तानाशाही और प्रजानायक जनता की ओर से राज्य नही करते, वरन् जनता पर राज्य करने वाले बन जाते है। इस तरह मनुष्य जब नपुसक बन जाता है, तब देश की राजनीति इस अधोगति को पहुँच जाती है कि जनसमूह, जो पार्टियो के नाम से प्रसिद्ध किये जाते है, प्रभाव या पद (power) के लिये लड़ते-मरते रहते है। इतने पर भी यह विश्वास किया जाता है कि पार्टी-पद्धति ही जनतत्र की आत्मा है, परन्तु सच पूछा जाय, तो इस पार्टी-पद्धति ने जनतत्र को इतनी अधिक हानि पहुँचाई है जितनी और किसी ने नही पहुँचाई। उसने जनतत्र को जननायकत्व बना डाला है।[९] यह

---

९ उपरोक्त नोट न० ८ मे कहे हुए लेख के आधार पर।

दलबन्दी न केवल हर देश की प्रजा के बीच रहती, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी कुछ राज्य मिलकर अपना एक गुट बना लेते हैं, और कुछ दूसरे अपना दूसरा गुट, जो एक दूसरे के प्रति न केवल गुर्राते हैं, बल्कि चपेट कर एक दूसरे का खात्मा करने की ताक में लगे रहते हैं। एक ओर अमेरिका, इंग्लैण्ड फ्रान्सादि का गुट है, तो दूसरी ओर रूस-जैकोस्लेविया-चीनादि का, जो इजिप्त, ईरानादि को किसी-न-किसी बहाने से अपने-अपने गुट की ओर खींच कर अपनी अपनी ताकत बढ़ाने की फिकर में है। इतिहास का पन्ना-पन्ना सिवाय इसके और क्या बताता है कि अमुक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, अमुक गुट बना अमुक ने अमुक को जीता। जनतन्त्र की भावना को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो संयुक्त राष्ट्रीय व्यवस्था (United Nations Organization) और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court) की स्थापना की गई थी, उन की गति भी इन गुटबन्दियों के कारण वैसी ही दुष्परिणामकारक हो रही है जैसी हम ऊपर संसदीय जनतंत्र की देख चुके हैं। संयुक्त राष्ट्रीय व्यवस्था बातूनी जमा-खर्च का घर बन गई है और वह भी इस प्रकार की जैसे—कोई बनिया अपनी ठग-विद्या चलाने के लिये झूटे-झूठे जमा-खर्च दिखाकर अपने खाते-बही तैयार करता है।

गरज कहने की यह है कि यह पार्टी-पद्धति, चाहे वह किसी देश-विशेष के अन्दर हो या दुनिया के देशों के अन्दर, जनतन्त्र की प्राणघातिनी सिद्ध होती है। एम० एन० राय ने इस के जो कुछ दूषण बताये हैं, वे कुछ नवीन आविष्कार-रूप नहीं है। भाषा भेद चाहे जितना कुछ रहा हो, पर गुटबाजी तो प्राचीन काल से ही दूषित मानी चली आ रही है। इसी तरह जब से मानवता का उदय हुआ है, तभी से स्वतन्त्रता (जननता) सुख-प्रसवनी, और परतन्त्रता दुःखदायिनी कही जाने लगी है। यह दूसरी बात है कि हमारी नजर पश्चिम से उठी हुई आँधी ने धुँधली कर दी हो और उस में उड़ते हुए भावों और शब्दों से प्रभावित हो हम अपनी पूर्व संस्कृति को खो बैठे हों। दल या गुट को पार्टी कहने से हमें मजा आने लगा और उस का हम स्वागत भी करतल-ध्वनि के साथ करने लगे, क्यों कि हमें बताया गया कि संसदीय जनतंत्र का आधार वार्तालाप होता है, और पार्टियों के द्वारा वार्तालाप निश्चित उद्देशों और भावों को लेकर विधिपूर्वक हो सकता है, परन्तु इस प्रकार के वार्तालाप में जो एक विष भरा रहता है, उस ओर से हमने अपनी आँख मींच ली। व्यक्ति-विशेष अपना मन्तव्य उसके आन्तरिक मूल्य के आधार पर ही स्वीकृत करा सकता है, पर पार्टी-विशेष उसके पक्ष में केवल बहु-संख्यक हाथ उठवाकर जनता पर उसे ठूँस देता है। जनतन्त्र की विशेषता यही है कि एक दूसरे के विचार को निष्पक्ष भाव से सुने और जाने और जो जितना मूल्यवान हो, उसे उतना स्वीकार करे। यह

बात पार्टी के आधार पर चलनेवाली व्यवस्था मे अभी तक तो सिद्ध होती नही दिखाई दी है—भविष्य की भविष्य जाने। जो बात एम० एन० राय ने सन् १९४२ मे कही है, वही आर्यावर्त्त के ऋषियो और मुनियो ने उस समय कही थी, जब पश्चिम, जिस की नकल करना ही आजकल श्रेयस्कर हो गया है, असभ्य और असास्कृत्य जीवन को पार कर रहा था। गाधी भी इसी बात को सन् १९०८ मे 'हिन्द-स्वराज्य' मे व्यक्त कर चुके थे। यदि यहाँ पर यह भी कह दिया जाय कि स्वय इस लेखक को सन् १९१७-१८ मे, जब वह कॉलेज मे इतिहास के विद्यार्थी के नाते इस पार्टी-पद्धति की प्रशसा के विषय मे सुना या पढा करता था, तब उस के प्रति न केवल आश्चर्य-सा होता था, बल्कि घृणा भी आती थी। यह आश्चर्य और घृणा कुछ इसलिये नही उठती थी कि वह उस समय प्रबुद्ध तर्कशील या विशेष अध्ययनशील था, बल्कि इसलिये कि वह स्वभाव और सस्कृतिवश दलो के आधार पर जनहित की आकाक्षा करने वाली बात को असम्भव ही समझता था।

जब वर्तमान राजकीय जनतन्त्र का नक्शा खिच गया, तब वैसा ही नक्शा वर्तमान समाज की अन्य व्यवस्थाओ का समझना चाहिये, क्यो कि राज्य व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओ की प्रतिच्छाया ही हुआ करती है, जैसा कि हम पिछले पृष्ठो पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से भिन्न-भिन्न स्थानो पर यथावकाश, यथाविधि कह चुके है। उन्ही बातो का पुन उल्लेख करना निरर्थक है। केवल प्रसगानुसार जो उन के सम्बन्ध मे आवश्यक है, उसी पर अब दृष्टिपात किया जायगा।

निकटस्थ भविष्य का धुंधलापन—

(1) साम्य-योग की दृष्टि से (अध्यात्महीनता)—राज्य के दो अग होते है—व्यवस्थापक (Legislative) और विधायक (Executive)। एक का सम्बन्ध वाणी और वार्तालाप से रहता है, और दूसरे का कार्य या व्यवहार से। दोनो दृष्टियो से राज्य ध्येय का साधनमात्र है। ध्येय है जनतान्त्रिक जीवन का असली या व्यावहारिक रूप। यह व्यावहारिक रूप तभी कहा जा सकता है, जब कमाने-भोगने, अर्थात आर्थिक क्षेत्र मे, खाने-पीने, उठने-बैठने, अर्थात् सामाजिक क्षेत्र मे, सोचने-विचारने, बोलने-चालने, अर्थात् मानसिक क्षेत्र मे, एव श्रद्धा वा भावनाओ, अर्थात् धार्मिक क्षेत्र मे हर एक मनुष्य वर्गभेद को या जाति-भेद को त्यागकर अथवा एकात्मीयता को लक्ष्य करके नियन्त्रित विधि से जीवन-चर्या को अपनाये। हमने जो कुछ वर्तमान राजकीय जनतान्त्रिक वार्ताओ और व्यवहारो के विषय मे ऊपर कहा है, उस दृष्टि से पाठको को यह सहज ही समझ मे आ गया होगा कि यदि उपरोक्त गति ही चलती रही, तो यथार्थ जनतान्त्रिक जीवनचर्या का भविष्य

अंधकारमय है, और यदि अंधकारमय नही, तो कम-से-कम धुंधला अवश्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु पूर्वोक्त प्रकार की दिनचर्या लाने के लिये केवल राज्य को ही साधन नही मान बैठना चाहिये। मूल साधन तो है जनता का निजी सामर्थ्य है। जनता ही अपने इस सामर्थ्य को उपरोक्त चारो क्षेत्रो मे यथाविधि व्यक्त कर सकती है, परन्तु जब हम यह देखते है कि एक ओर तो जनता अपने इस सामर्थ्य को व्यक्त करने मे पिछडी हुई है, और दूसरी ओर समाज-संशोधक एव जननायक (demagogues) अपने-अपने आदर्शों (idealogies) और मार्गों की तसवीरो को दिखा कर उसे दुविधा मे डाले हुए है, तब हमे उक्त जनतानिक दिनचर्या का निकटतर भविष्य और भी अधिक मलीन दिखाई देने लगता है। जनता को भ्रम मे डाल कर उसकी शक्ति को विभक्त करनेवाली एक और खतरनाक चीज है। वह यह है कि जब कोई महान् आत्मा किसी मत की प्रतिष्ठा करके मृत्यु के गाल मे समा जाती है तब देखिये उस मत के उत्तराधिकारी बनने का दावा करनेवाले कितने पन्थ उसके इर्द-गिर्द चील-से मडराने लगते है। कटु भाषा के लिये क्षमा करे, तो उन मे से कई एक वर्णसकर (bastards) अथवा कुकरमुत्ता (mushrooms) सज्ञा से सम्बोधित किये जाते है, और यह उचित ही है। मार्जित भाषा मे उन्हे प्रतिक्रियावादी (reactionaries) अथवा अडगानीति वाले (obstructionists) कहना उपयुक्त है, जैसा मार्क्स कहा करते थे। मार्क्स को क्या मालूम था कि उन के पश्चात उन के मत के अनुयायी भी सैकडो नाम और भेषभूषा धारी उठ खडे होगे, जैसा कि-जेम्स बर्नहम ने कहा है—"The Marxist movement is subdivided into many groups countless additional parties, groups and sects each claiming descent in its own way from Marx"[१०]

अर्थात् "मार्क्सवाद की प्रगति अनेक दलो मे विभक्त हो गई है। अनगिनत पार्टिया, दल और वर्ग, सब अपना उद्भव मार्क्स से बताते हुए एकत्र हो गये है।" उधर मार्क्सवाद का यह हाल है, तो इधर गाधीवाद के भी उसी प्रकार के कच्चे-बच्चे उत्पन्न होना शुरू हो गये है। इस तरह जब हम जनता को खीचातानी मे फंसकर लडखडाती हुई देखते है, तब हमे और भी अधिक जोर देकर कहने का अवकाश मिलता है कि निकटतर भविष्य विशेष आशाजनक नही।

अब यदि मूल मार्क्सवाद और मूल गाधीवाद पर ही विचार किया जाय, तो भी हमे निकट भविष्य कुछ उज्ज्वल-सा नही दिखाई देता। एक ओर मार्क्स का साम्यवाद है, जिस मे काचनयुक्त बाह्य जीवन मन को मोहित करता है, और दूसरी

---

१० Managerial Revolution, p 40

ओर गाधी का जनतान्त्रिक सर्वोदय है, जिसे विनोबा भावे ने साम्ययोग कहा है, जो काचनमुक्त श्रमिक तप की ओर इशारा करके बुलाता है।"तप अर्थात् आन्तरिक शुद्धि की बात सुनने मे भले ही प्रिय लगे, पर जब उसे अमल मे लाने बैठते है, तब अप्रिय लगने लगती है और मन बाह्य चमचमाहट की ओर खीच ले जाता है। हिन्दुस्थान की सरकार और जनता के वर्तमान कार्यो मे इसी प्रकार का दृश्य दिखाई दे रहा है, यहाँ तक कि श्री जे० सी० कुमारप्पा जैसे गाधीजी के तपे-तपाये परम भक्तो मे भी स्टालिन के रूस और माओ से तुग के चीन की ओर झुकाव हो चला है। श्री कुमारप्पा ने अपने एक वक्तव्य मे यह कहा कि "हिन्दुस्थान को चाहिये कि वह आर्थिक समता, आत्म-पर्याप्ति (self-sufficiency), और स्वदेशी-खरीद के विषय मे रूस और चीन का अनुकरण करे। यदि उसने ऐसा न किया और भूल की, तो उस का भविष्य अन्धकारमय है।"[१२] हमे जहाँ तक स्मरण है श्री कि० घ० मश्रूवाला ने इस बात से अपनी असहमति प्रकट की थी। उन का कहना था, और यदि उन का कहना न पाया जाय, तो मेरा कहना है, कि गाधीमत मे ध्येय से अधिक महत्व साधना का है, इसलिये यदि रूस और चीन ने हिंसात्मक तरीको से उपरोक्त सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हो, तो वे हिन्दुस्थान के लिये अनुकरणीय नही हो सकती। यदि इतिहास का आश्रय लेकर हम बोले, तो हमे भय है कि कही ऐसा न हो कि इस काचनयुग की भूल-भुलैयो मे पडकर गाधी का साम्ययोग भी ईसामसीह की ईसाइयत और गौतमबुद्ध के बौद्धिक तत्त्वो की तरह काल के गाल मे पड कर भुला दिया जाय। बहुत आगे क्या होगा, इसे अभी छोडिये, क्यो कि प्रसग निकटस्थ भविष्य का है, जो वर्तमान गति पर निर्भर है। वर्तमान मे दो आदर्शो का द्वन्द्व युद्ध छिडा हुआ है। यह द्वन्द्व युद्ध आदर्शो (idealogics) का है, या कि राज्य-शक्तियो (Power-Politics) का, इस के विषय मे दो मत है। कुछ लोग उसे आदर्शो का युद्ध कहते है, जैसा कि श्री सी० पी० रामास्वामी अय्यर ने कहा है कि "वर्तमान लौकिक (Secular) सघर्ष की समता तो कौमी या राष्ट्रीय आकाक्षाओ के कारण किये गये पुराने युद्धो और उन अन्तर्निहित कारणो या प्रयोजनो (motives) से है, जिन के सबब पिछले दो विश्वव्यापी सग्राम छिडे थे। यदि अभाग्यवश तीसरा विश्वव्यापी युद्ध छिडा, तो उस मे अणु और हाइड्रोजन बमो का व्यापक प्रयोग किया जाय या न किया जाय, परन्तु यह निस्सन्देह है कि इन से बहुत ही अधिक

---

११. दैनिक 'नवभारत' (जबलपुर) ता० १८-१-१९५२ मे 'आचार्य विनोबा भावे के उद्गार' शीर्षक लेख से, पृ० २

१२ Reported in A B Patrika (Alld) Dt 18-8-52, p 5

विस्फोटक ये (मार्क्सवादी और जनतान्त्रिक) विचारधाराएँ हैं, वे एक दूसरे के प्रति युद्ध करेंगी, और उन के बीच कदाचित ही देने-लेने की बात उठ कर समझौता हो सके।"[13]

परन्तु दूसरे आलोचकों का मत है कि वर्तमान संघर्ष दरअसल आदर्श या विचारधाराओं का नहीं है। वह है राज्य-शक्तियों का, जैसा कि एडिनबरा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मॉरविक ने सन् १९५१ के शुरू में 'संयुक्त परित्राण' (Collective Security) पर व्याख्यान देते समय सुझाया था, और जिसे अब बहुतेरे लोग भी जानने लग गये हैं। उक्त प्रोफेसर का कथन था कि "यदि रूस में जार की ही राज्य-पद्धति चली आई होती, तो भी यू० एस०ए० (अमेरिका) और यू०एस०एस० आर० (रूस) के बीच बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होती, जैसी कि आज उपस्थित है, क्यों कि विरोध मूलतः राज्य-शक्तियों का है न कि आदर्शों का। यदि कोई कहे कि वर्तमान संकट की जड मार्क्स के आदेशों के कारण है, तो ऐसा कहना, पूर्णतः इतिहास सम्बन्धी अज्ञानता प्रकट करना है। जिस प्रकार मुझे यह विश्वास नहीं कि स्टालिन अपने निर्णयों पर पहुँचने के पहले 'डासकेपिटल' के उपयुक्त लेखों को देख लेता है, उसी प्रकार न मैं विश्वास करता हूँ कि अमेरिका के राजनीतिज्ञ न्यूटेस्टामेन्ट' (बाइबिल) के वक्तव्यों को देख लेते हैं। सार तो यह है कि संघर्ष दो साम्राज्य शक्तियों के बीच का है। सारा इतिहास हमें यह बताता है कि जहाँ तक राजनैतिक शक्तियों का बोलबाला रहता है, वहाँ तक हमें बडी-छोटी शक्तियों के बीच संघर्ष होता हुआ मिलता है, चाहे ये शक्तियाँ साम्राज्यवादियों या जनतान्त्रिकों की हों अथवा पूँजीपतियों या साम्यवादियों की।" कोरिया की स्थिति पर आलोचना करते हुए प्रो० मारविक ने बताया कि "एक ओर तो जनतन्त्र की हवा फैलाने वाले अमेरिकनों का 'संयुक्त परित्राण' वाला सिद्धान्त पोच और भ्रमोत्पादक है, और दूसरी ओर मार्क्स और एंगिल्स का राज्यशोषण वाला सिद्धान्त हास्यास्पद है, क्यों कि जीर्णता आने के बजाय राज्य अधिक आतंककारी और व्यक्तियों का स्वतन्त्रताहारी होता जा रहा है।" मॉरविक के शब्दों में यह एक प्रकार का हरामजादा समाजवाद है—वह समाजवाद, जिस की समता अधिकारपूर्ण अधीनता में होती है" (a sort of bastard socialism an identification of socialism with authoritarian control)।"[14] मॉरविक के उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शों

---

१३ A B Patrika (Alld) 4-2-1951 (article headed 'Titanic Struggle of Conflicting Idealogies)

१४ A. B Patrika (Alld) 6-6-51 (Communism *vs* Capitalism)

के बहाने न केवल राष्ट्र-विशेष के अन्दर, स्वदेश-वासियों के बीच, वरन् दुनिया के अन्दर राज्यों के बीच भी राजनीतिक शक्ति-प्राप्ति के लिये ही एक दूसरे के प्रति उखाड़-पछाड़ चलती रहती है, जिस में बेचारा जनतन्त्र चक्की के दो पत्थरों के बीच पिसता रहता है।

यह हुई वर्तमान समाज की द्वन्द्वात्मक संघर्षमयी स्थिति, जो अनिश्चितता के बादलों में ढँकी हुई दिखाई दे रही है। अब जब हम भूतकाल के इतिहास पर नजर डालते हैं और देखते हैं कि अच्छे से-अच्छे सिद्धान्त या आदर्श आये, कुछ दिन ठहरे, और कालान्तर से विस्मृति-भँवर में डूब गये अथवा व्यवहार-चक्र में चकनाचूर हो गये, तब हमारे इन ऐतिहासिक चक्षुओं का आधुनिक समाज की यह संघर्षमयी अनिश्चित गति और भी अधिक निराशाजनक प्रतीत होने लगती है, यहाँ तक कि हमारा मन शिथिल हो जाता और हाथ-पैर ठंडे पड़ जाते हैं। समाज का भविष्य इसलिये उज्ज्वल नहीं दिखाई पड़ता, कि मनुष्य मानवी तरीकों को भुला कर जंगली तरीकों को अपनाता रहा है, और आज भी अत्यन्त तर्क-तक के बाद उन से चूकता नहीं, बल्कि यह कहना चाहिये कि वर्तमान समाज-सम्बन्धों की घनिष्ठता और जटिलता नये-नये तरीकों को सिखा कर मानवता को और भी अधिक निम्नस्तर पर ले जा रही है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य की जानकारी पहले से कम हो रही है। लौकिक जानकारी को यदि ज्ञान कहा जाय, तो हम इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि मनुष्य का ज्ञान उन्नतावस्था को पहुँचा हुआ है। परन्तु, यह भी कहने में सन्देह नहीं कि लौकिक ज्ञान का आधिक्य ही मानवता को निम्नकोटि पर ले जाने के लिये उत्तरदायी है। लौकिक ज्ञान के साथ नैतिक ज्ञान तो हो जाता है, पर धर्म-ज्ञान अर्थात् आत्म ज्ञान का आ जाना निश्चित नहीं रहता। व्यावहारिक-पारलौकिक ज्ञानी विनोबाजी ने अपने भूदान-यज्ञ की यात्रा के समय बहराइच मुकाम पर इस सम्बन्ध में वक्तव्य दिया था। उस को जल्दी में पढ़ने से प्रतीत तो यह होता है कि उन का विचार हमारे उक्त विचारों से जोड़ नहीं खाता, परन्तु दरअसल बात ऐसी नहीं है। उनका कथन था कि "जो यह मानते हैं कि कदीम जमाने में मानव समाज में जो ज्ञान था, वह आज की अपेक्षा श्रेष्ठ था, वे गलती पर हैं। सामुदायिक दृष्टि से उस समय के समाज से आज के समाज के पास ज्ञान अधिक है और उस समय के ऋषि की अपेक्षा आज का ऋषि भी अधिक ज्ञानी है। आज के ऋषियों के सामने सारे विश्व की समस्याएं हैं। परन्तु प्राचीन ऋषियों के सामने जो प्रत्यक्ष समस्याएँ थीं, वे सीमित थीं। आज के ऋषि के सामने वे व्यापक हैं। आज हमारे नीति-विषयक विचार आगे बढ़े हुए हैं। और जैसे समाज आगे जायगा, नीति-शास्त्र और भी प्रगति करता

रहेगा।"[१५] इस के आगे विनोबाजी के वाक्यो मे यह ध्वनि निकलती है कि लौकिक और नैतिक ज्ञान धर्म या आध्यात्मिक ज्ञान से भिन्न है, हालांकि वे एक दूसरे के पूरक है, न कि विरोधी। इसीलिये उन्होने कहा है कि "जो लोग यह समझते है कि विज्ञान और धर्म मे विरोध है, वे गलती करते है। विज्ञान मे धर्म को कोई हानि नही पहुँचती है। एक ओर आध्यात्मिक विचार, दूसरी ओर से सृष्टि-विज्ञान, दोनो मानव जीवन पर प्रकाश डालते है। आध्यात्मिक विचार मे अन्तर का प्रकाश बढता है। सृष्टि-विज्ञान से बाहर का प्रकाश बढता है। दोनो प्रकाश परस्पर विरुद्ध नही, बल्कि पूरक है। जिस क्षेत्र मे विज्ञान नही प्रवेश कर सकता, वहाँ आध्यात्मिक ज्ञान प्रवेश करता है, और जहाँ आध्यात्मिक ज्ञान प्रवेश नहीं करता, वहाँ विज्ञान प्रवेश करता है, जैसे—पक्षी दो पखो से उडता है, जैसे मानव का धर्म-रूपी कर्त्तव्य भी दो पखो पर निर्भर रहता है।"[१६] हमारे कहने का भी यही मतलब था कि आधुनिक काल मे लौकिकता और नैतिकता की लोग बहुत बाते करते है, परन्तु अध्यात्म रूपी दूसरे पखे की बात तो अनावश्यक कहकर टाल देते हैं, जिससे मानव-कर्त्तव्य रूपी पक्षी यथाविधि उडने मे असमर्थ हो रहा है। इसलिये हमारा भी विनोबा जी के साथ ही-साथ यह कहना है कि जो नास्तिकता, सशय और श्रद्धा सम्बन्धी "मसले मानव के सामने पहले थे, उनसे कठिन, सूक्ष्म और व्यापक मसले आज उसके सामने उपस्थित है। उनके लिये नये उपाय सोचने की आज जरूरत नही। इसलिये आज जो विज्ञान और समाज-शास्त्र आगे बढा है, उस की सहायता से हमे नये हल ढूँढने चाहिये।"[१७] परन्तु इस का अर्थ यह नही कि निरा विज्ञान और समाज-शास्त्र ही सर्वस्व समझा जाय। यदि समाज ने अध्यात्म को भुला दिया—जैसा कि वर्तमान लक्षणो से प्रतीत हो रहा है—तो निश्चय जानिये कि वह एक पख के पक्षी के समान ऊपर को उडान न भर सकेगा, और इसलिये उस का भविष्य अधकारमय ही रहेगा।

(ii) साम्यवाद की दृष्टि से (नवीन वर्ग की उत्पत्ति)—यदि कोई यह कहे कि हमे समाज के भविष्य का अनुसन्धान उस आदर्श के आधार पर नहीं करना चाहिये, जिसमे अध्यात्म की प्रधानता हो, और जिसे साम्य-योग कहते है, बल्कि उस आदर्श के आधार पर करना चाहिये, जिस मे भौतिक समता की प्रधानता हो, और जिसे

---

१५ 'नव भारत' (जबलपुर), ५-३-५३ ('मानव को मानवीय, तरीको की जरूरत है, न कि पाशविक शीर्षक लेख)

१६ देखो फु० नो० न० १५ (निम्नांकित रेखाएँ मेरी हैं)

१७ देखो फु० नो० न० १५.

साम्यवाद कहते हैं, तो हम उससे सहमत नही है, जैसा कि गत अध्यायो मे तत्सम्बन्धी लेखो से पाठको को विदित हो गया होगा। तथापि, अब हम भौतिक दृष्टि मे ही यह जानने की चेष्टा करेंगे कि समाज किस ओर जा रहा है और उस का भविष्य क्या होनेवाला है। पहले हम निकट भविष्य पर ही प्रकाश डालेंगे क्योकि एक तो सुदूर भविष्य का जानना ही कठिन है और दूसरे यदि उसे जानने की कुछ कोशिश की भी जाय, तो वह तभी हो सकती है, जब हम पहले निकट भविष्य को जान ले।

साम्यवाद क्या चाहता है ? यही न कि मानव समाज से वर्गीकरण (भेद भाव) उठ जाय। इतिहास से विदित होता है कि यह वर्गीकरण समाज के उद्भव काल से किसी-न-किसी रूप मे प्रकट होता रहा है। किसी युग मे कुलो या वंशो के आधार पर जाति-वर्ग या रंग-वर्ग, किसी मे धर्मो के आधार पर धर्म-वर्ग या साम्प्रदायिक वर्ग, किसी मे देशो अथवा भूमि-खण्डो के आधार पर स्वदेश-वर्ग या राष्ट्र-वर्ग, और किसी मे सम्पत्ति के आधार पर अमीर-गरीब वर्ग रहे आये है, जिनका सम्मिश्रण आज भी समाज मे यत्र-तत्र कुछ हेर-फेर से दिखाई दे रहा है।

सम्पत्ति के आधार पर अमीर-वर्ग और गरीब वर्ग के स्वरूपो में भी उत्पादन पद्धतियो के अनुकूल युग-युग मे भिन्नता रही है, यह पूर्व पृष्ठो से मालूम हो गया होगा। मार्क्सवाद ने जब कदम उठाया, तब जो पद्धति चल रही थी, वह पूंजीपति-पद्धति के नाम से विख्यात थी और उस से उत्पन्न वर्गो के नाम हुए, पूंजीपति-वर्ग तथा श्रमिक-वर्ग। इन्ही दोनो वर्गो को साम्यवाद एक करना चाहता है, और ऐसा करने के लिये यह आवश्यक है कि पूंजी-वर्ग नीचे को खिसकाया जाय और श्रमिक-वर्ग ऊपर को उठाया जाय, यह भी हम देख चुके हैं, पर हमें अब देखना है कि यह क्रम बराबर ध्येय की ओर बढ रहा है या कि कोई दूसरे वर्ग ही उन के स्थान मे अपना घर बना रहे है।

पूंजीपति-पद्धति क्यो बुरी है ? इसलिये कि पूंजीपति बुरा है। और पूंजीपति क्यो बुरा है ? इसलिये कि वह निज सम्पत्ति (Private property) और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य (Freedom of individuality) की आड मे अर्थोत्पादन को अपने अधीन किये रहता है। मार्क्सवाद ने यह सिद्ध किया है कि जिस युग मे जैसी अर्थोत्पत्ति की प्रथा समाज मे रहती है, उसी के अनुसार सामाजिक सम्बन्ध बना-मिटा करते है। वही समाज की विचारधारा अथवा नीति का निर्माण करती है। ऐसा क्यो होता है ? इसलिये कि जिसके हाथ मे उत्पादन रहता है, वही समाज मे वितरण (distribution) की कुंजी घुमानेवाला होता है। जो वर्ग समाज के उत्पादन और वितरण दोनो को अपनी बगल मे दबाकर बैठा हो उसी के हाथ मे समाज की नकेल रहती है। उत्पादन करना तो कोई बुरा काम

नही है, वह तो आवश्यक ही है। अगर वह न हो, तो समाज ही कैसे चले, यह आप अवश्य कहेगे। निस्सन्देह उत्पादन ही समाज का आधार है। उचित उत्पादन ही समाज व्यवस्थाओ को समुचित रूप मे कायम रख सकता है, परन्तु उत्पादन क्रिया मे, हम जानते है, श्रम और पूंजी की आवश्यकता होती है, इसलिये उचित उत्पादन-पद्धति वह है, जिस मे श्रमिक जो कुछ पैदा करे, उस का भोक्ता भी अपनी आवश्यकतानुसार वही हो, परन्तु पूंजीपति-पद्धति मे यह बात नही रही। उस मे श्रम और पूंजी दोनो एक के हाथ मे न रह सके—पूंजी तो, एक वर्ग के हाथ मे सिमटती गई और श्रम दूसरे वर्ग से चिपकता गया। पूंजी और श्रम का इन दो वर्गों मे विभक्त हो जाना ही अनर्थ का मूल हो गया। इससे श्रमिको का शोषण, अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) का हडपना आदि जो दुष्परिणाम हुए है, उन के विषय मे हम जान ही चुके है, इसलिये अब हम यह कह सकते है कि इस पूंजीपति-पद्धति मे जो मूल दुर्गुण है, वह यह है कि एक मनुष्य सम्पत्ति का मालिक होकर उसके बल पर अन्य लोगो के श्रम को खरीद लेता है और खुद बिना श्रम किये हुए दूसरे के श्रम का लाभ उठा कर भोग-विलास करता है, जब कि श्रमिक बेकारी और भुखमरेपन मे पिसता जाता है। इसलिये, साम्यवाद चाहता है कि पूंजीपति के नीचे खिसकाने के क्रम मे मूलत यह बात नही होनी चाहिये कि उससे सम्पत्ति का स्वामित्व छीन लिया जाय। जहाँ सम्पत्ति पर स्वामित्व न रहा, वहाँ न वह श्रम को खरीद सकेगा, न श्रमिक का शोषण कर सकेगा और न उत्पादन-पद्धति पर ही उस का कोई बल चल सकेगा और न वितरण ही पर।

सम्पत्ति मे यह स्वामित्व किस प्रकार निकाला जाय? इस की केवल दो विधियाँ हो सकती है। एक तो यह कि सब की सम्पत्ति जबरन छीन ली जाय, और दूसरी यह कि ऐसा क्रम जारी किया जाय कि जिस से जबरन न मालूम हो और स्वामित्व घटता जाय। सामाजिक प्रथाओ का परिवर्तन करने के लिये बहुधा यह दूसरी विधि ही उपयुक्त होती है, क्यो कि पहली विधि मे रक्त-प्रवाहक क्रान्तियो का होना और अराजकता फैलना अनिवार्य-सा रहता है। जिन्होने गत सौ वर्ष की ऐतिहासिक आर्थिक गति का अध्ययन विचारपूर्वक किया हो, उन्हे यह शीघ्र ही समझ मे आ जायेगा कि समाज मे उपरोक्त दूसरी विधि का क्रम पूंजीपतित्व को समाप्त कर देने के लिये चल रहा है और यह क्रम पूंजीपति-वर्ग के स्थान पर एक दूसरे वर्ग को जन्म देता जा रहा है। वह कौन-सा वर्ग है? इसी की अब समीक्षा की जाय। इसे हम दो विभागो मे विभक्त करके बतायेगे।

पहले राज्य-सत्ता को ही लीजिये। प्राचीन काल मे, जिसे हम निरा गाथाकाल कहकर उडा देते है, राजा एक जनसेवक आदर्श पुरुष रहता था। उसे काल्पनिक

काल समझ कर छोड दीजिये, और उस ऐतिहासिक मध्य-काल तथा आधुनिक काल पर आ जाइये, जब राजा सारी राज्य-सम्पत्ति का अबाध्य स्वामी (absolute owner) कहलाता था। इग्लैंड के आठवे हेनरी, फ्रान्स के चौदहवें लुई, रूस के पीटर दी ग्रेट, अनेक दृष्टान्तो मे से कुछ दृष्टान्त है, जिनका स्मरण कीजिये। इनके निरकुश अबाध्य स्वामित्व को मिटाने के लिये कही वैधानिक कार्य उठा, जैसे—इग्लैंड मे आठवे हेनरी के विरुद्ध, कही क्राति उठी, जैसे—फ्रास मे लुई के विरुद्ध। इत्यादि। इस तरह कही और कभी क्रान्ति ने, कही और कभी वैधानिक क्रिया ने, एव कही और कभी दोनो के मिश्रण ने अबाध्य स्वामित्व के अगो को जनता की दुहाई दे-देकर मिटाना शुरू किया। इस का परिणाम आज हम सब को यह दिखाई दे रहा है कि राजाशाही विश्व से उठ गई। आप कहेगे, अभी राजा लोगो का स्वामित्व कही-कही पर कायम है, परन्तु यह कहना गलत है। एक तो कई देशो मे राजा का नाम निशान ही मिट गया है और उन की कुल सत्ता रिपब्लिक आदि नाम की व्यवस्थाओ के हाथ मे चली गई, जिन का कार्य-भार उस के प्रधान और मत्रि-मण्डल पर रहता है। दूसरे, जहाँ कही कोई राजा बच गये है, जैसे—इग्लैण्ड मे, वहा उन के स्वामित्व के समस्त अधिकार छिन चुके है—केवल मिट्टी-जैसा पुतला, बरायनाम राजा रह गया है, जो सिर्फ तनख्वाह पाता है और मत्रि-मण्डल की हाँ मे हाँ मिला देता है। मध्य-एशिया मे भी जो कुछ राजा बचे आ रहे थे वे भी इसी तरह मिटे जा रहे है और उन का स्वामित्व मत्रि-मण्डल के हाथ मे खिसकता जा रहा है। गरज यह है कि जहाँ कही राजा का नाम बच गया है, वहाँ भी वह राज्य-सम्पत्ति के स्वामित्व का भोक्ता नही रहा। स्वामित्व का आधार अधिकार (control) होता है, अर्थात् जब कोई अपनी सम्पत्ति पर इतना अधिकार रखता हो कि वह उसको चाहे जिस तरह से भोगे, और उस का प्रबन्ध चाहे जिस तरह से करे। इस तरह हम देखते है कि राज्य-सम्पत्ति का स्वामित्व राज्य-पति के हाथ से निकलकर मत्रि-मण्डल के हाथ मे चला गया है। राजा पूँजी-पति वर्ग का एक अग था। उस के स्थान मे अब मत्रि-मण्डल स्वामित्व का भोक्ता हो गया है। चाहे राज्य-व्यवस्था जनतान्त्रिक रिपब्लिक नाम से चलती हो, या चाहे साम्राज्य या राजशाही नाम से, हर हालत मे मत्रि-मण्डल वर्ग राज्य-सम्पत्ति का स्वामी इस दृष्टि से बन गया है कि उस के हाथ ही मे अधिकार सिमट गया है, और जहाँ अधिकार है, वहाँ सम्पत्ति का प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से कब्जा (possession) भी रहता है। इस कब्जा और अधिकार के कारण ही वह जनता के दूसरे भाग की अपेक्षा सम्पत्ति के विशेष भाग का भोक्ता उसी तरह बन बैठा है जिस तरह एक पूँजीपति पर लाछन लगाया जाता है। जरा खयाल कीजिये, एक ओर, राज्य-सम्पत्ति पर भार रूप उस के वेतन पर, भत्ते पर, अर्दली और नौकरो पर, निवासस्थान पर, आवागमन

के साधनों पर, और एक शब्द में, उनकी ज्ञान-शक्ति पर, और दूसरी ओर, ख्याल कीजिये, उसके उन अधिकार पर, जिनके द्वारा नियमों की लम्बी-चौडी नियमावली का जाल बिछाकर वह कितनों को नौकरी पर लगाता और कितनों को निकालता है। गरज यह कि यह मंत्रि-मण्डल वह वर्ग है, जो दूसरों के श्रम को अपनी शर्तों के मुताबिक खरीदता है और उनके द्वारा एकत्र और व्यवस्थित की हुई राज्य-सम्पत्ति के विशेष भाग का खुद भोक्ता बनता है। यदि मंत्रि-मण्डल यह कहकर अपनी रक्षा करे कि मैं जनता का विश्वसनीय प्रतिनिधि हूँ, मैं विशेष श्रम करता हूँ, मेरा मानसिक श्रम और त्याग विशिष्ट रूप का है, तो संक्षेप में यही कहा जाता है कि पूँजीपति-वर्ग भी—नहीं, नहीं, शैतान भी—इससे अधिक जोरदार तर्क और धर्मोक्तियाँ अपने पक्ष-समर्थन के हेतु पेश कर दिया करता है।

अब यदि एक कदम और आगे बढ़ा जाय तो हम यह देखते हैं कि मंत्रि-मण्डल का निर्माता प्रधान मंत्री होता है, इसलिये प्रधान मंत्री ही सर्वेसर्वा हुआ। इस से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि राज्य-सम्पत्ति के स्वामित्व का आरोप कहीं तो निष्प्राण-प्राय नामधारी राजा पर किया जाता है, कहीं जनता पर और कहीं रिपब्लिक के प्रधान पर, तथापि यथार्थ अधिकार प्रधान मंत्री के हाथ ही में रहता है। अत, प्रधान मंत्री ही राज्य-सम्पत्ति का यथार्थ स्वामी हुआ। एक देश का प्रधान मंत्री दूसरे देश के प्रधान मंत्री पर छींटाकशी करने में संलग्न दिखाई देता है, और अपने अपने दोषों को ढाँकने के लिये एक दूसरे का तानाशाह, जनतन्त्र-विरोधी आदि कहता रहता है।

इसी तरह जब हम समाज की आर्थिक गति-विधि की ओर झुक कर देखते हैं, तब वहाँ भी यही दिखाई देता है कि साम्पत्तिक कब्जा और अधिकार यथार्थ मालिकों के हाथ से निकल कर प्रबन्धकों के हाथ में आ गया है और जो कुछ शेष रह गया है, वह भी आता जा रहा है। क्षेत्रानुसार इन प्रबन्धों के नाम और कार्य अलग-अलग रहते हैं, परन्तु उन सब को एक ही वर्ग के चट्टे-बट्टे समझना चाहिये। प्रबन्ध की दृष्टि से उसे हम प्रबन्धकारी वर्ग कह सकते हैं। जिस प्रकार पूँजीपति-वर्ग के लोग भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न विधियों से कार्य करते हुए भिन्न-भिन्न नाम धारण कर—जमींदार या भूमिपति, साहूकार या सूदखोर, उद्योगपति, व्यवसायपति इत्यादि—पूँजीपति-पद्धति के निर्माता और पोषक होते हैं, उसी प्रकार यह प्रबन्धकर्ताओं का वर्ग धीरे-धीरे विविध प्रकार से साम्पत्तिक स्वामित्व को पूँजीपति वर्ग के हाथ से खींचता जा रहा है, जिससे समाज में एक नवीन प्रबन्धक-पद्धति उत्पन्न हो रही है। यद्यपि इस पद्धति के उद्भव के चिन्ह उसी समय से दिखाई देना प्रारम्भ हो गये थे। जब से पूँजीपतियों ने अपने उद्योग-व्यवसाय आदि को बड़े पैमानेपर करना शुरू कर

दिया था, तथापि प्रथम विश्व-युद्ध-काल को उस का प्रारम्भ काल स्थिर कर लेना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है. जैसा कि जेम्स बर्नहम ने लिखा है कि "आर्थिक गति पर जो पूंजीपतित्व अधिकार था, उस का परिवर्तनिक बिन्दु (turning point) प्रथम विश्व-युद्ध के समय मे आ पहुँचा था। यही कारण है कि मैने सन् १९१४ को चुना है कि वहाँ से पूंजीपति-समाज के स्थान पर प्रबन्धक समाज का आना प्रारम्भ हुआ।"[१८] यो तो उन्नीसवी शताब्दी के प्राय मध्यकाल से ही बडी-बडी तनख्वाह-भत्ता पाने वाले कार्य-निर्वाहक (executives), यन्त्र कला विशारद (*engineers*), अनुशासक (directors), प्रबन्धक (managers) इत्यादि दिखाई देने लगे थे, जिन का एक ऐसा नया मध्यवर्ग बन रहा था कि वह न तो मजदूर-वर्ग ही कहा जा सकता था और न पूंजीपति-वर्ग ही। परन्तु, प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात्, विशेष करके द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ काल सन् १९३९ से, तो उस की इस तरह बाढ आई कि कोई भी साधारण दृष्टा उसे देख सकता है। इस वर्ग मे उन सब लोगो की गणना हो जाती है, जिन के हाथ मे उन की विशिष्ट शिक्षा और कार्य-नैपुण्य के कारण समाज की विभिन्न व्यवस्थाओ का वैज्ञानिक और वैशेषिक (technical) सचालन सौंपा हुआ है, और जो अपने-अपने क्षेत्रो मे कार्य करते हुए सामाजिक उत्पादनगति के सयोजक है। इस तरह बैंक सस्थाएँ, वैज्ञानिक सस्थाएँ, बीमा कम्पनियाँ, सहकारी सस्थाएँ, इजीनियरिंग इत्यादि विभागो का इस मे समावेश हो जाता है। इन सचालको और सयोजको को नाम कुछ भी दिया जाय, पर यह बात स्पष्ट है कि यह वर्ग अपनी स्थिति बनाये रखने के लिये, एक ओर तो पूंजीपतियो से सघर्ष छेडे हुए है, ताकि वे साम्पत्तिक स्वामित्व को पुन प्राप्त न कर सकें, और दूसरी ओर श्रमिको से भिडा हुआ है, ताकि वे उस के समानाधिकारी न हो बैठे। इसके अतिरिक्त इस वर्ग के अन्तगत भी होडा-होड मे परस्पर सघर्ष हो रहा है, जैसा कि अभी हम राज्य के प्रधानो के बीच चलती हुई प्रतिस्पर्धा के विषय मे कह आये है, और जैसा कि योग्य ही जीवित रहता है। (Survival of the fittest) इस उक्ति के अनुसार हुआ करता है। बर्नहम ने इस सघर्ष का वर्णन किया है। यदि इसी को हम मार्क्स के द्विधा सघर्ष के रूप मे बताना चाहे, तो हमे उन सब लोगो को प्रतिक्रियावादी पक्ष मे लेना होगा, जो इस नवीन मध्य वर्ग के अस्तित्व को मिटाने की फिकर मे हो। ऐसा करते समय इस वर्ग के वे लोग भी प्रतिक्रियावादी कहे जायेंगे जो जान मे या अनजान मे, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, उन कार्यो को करते हो, जिन से उसके जीवन और पोषण पर आघात पहुँचता है। इस तरह एक दल

---

१८ The Managerial Revolution, *p* 86

हो जाता है प्रबन्धकारी समाज (managerial society) का, और दूसरा सम्मिश्रित दल हो जाता है पूंजीपति वर्ग, श्रमिक-वर्ग एवं अन्य प्रतिक्रियावादी लोगों का। एक बात ध्यान रखने योग्य यह है कि किसी पद्धति के निर्माण को समझने के लिये व्यक्ति-विशेषों के कार्यों और गुणों ही में हो न उलझ बैठना चाहिये। व्यक्ति-विशेष बनते-मिटते हैं, हारते-जीतते हैं, पर वे उस बनने-मिटने, हारने-जीतने की गति में विचार-धारा एवं कर्म-धारा का अनजान में ही निर्माण करते चले जाते हैं। वर्तमान समाज में जो विचार और कर्म-धारा दृष्टि पड़ती जाती है वह है, यही प्रबन्धकारी समाज की। यह बात क्या है? वह यह है कि जो सम्पत्तिवान है, वह अपनी सम्पत्ति को शेयर्स (shares) आदि खरीद कर, सहकारी संस्थाओं में लगाकर अथवा अन्य और किसी प्रकार में निविष्ट (invest) करके घर बैठता है, और उसमें जो मुनाफा प्राप्त होता है उसी से सन्तुष्ट रहता है। उन को उस सम्पत्ति का प्रबन्ध उसके हाथ में नहीं रहता, और न वह इस बात को देखने की विशेष चिन्ता करता है कि उस का प्रबन्ध कौन कैसे कर रहा है। इस तरह सामाजिक स्वामित्व के दो प्रधान अंग, यानी आमद (income) और अधिकार (Power or control) विभक्त हो गये हैं और हो रहे हैं। यह हम पहले कह चुके हैं कि जो सम्पत्ति का मालिक होता है, उसे अपनी सम्पत्ति पर दो प्रकार के अधिकार रहते हैं एक यह कि वह चाहे जिस उत्पादन-पद्धति के अनुसार उसकी वृद्धि करे, और दूसरा यह कि वह उसका चाहे जैसा प्रबन्ध कर उसे चाहे जिस तरह खर्च करे। दूसरे शब्दों में, उसे उत्पादन और वितरण दोनों पर अधिकार होता है, परन्तु वर्तमान उठती हुई इस नवीन पद्धति में उसे केवल आमद लेने का अधिकार रह गया है, उत्पादन करने पर नहीं। गरज यह कि आज के समाज में सम्पत्ति के मालिक का हाथ केवल आमदनी-विषयक वितरण सम्बन्ध में रहा हुआ दिखाई दे रहा है, उत्पादन-सम्बन्ध में नहीं। अब यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो मालूम होगा कि अधिकार के इन दो अंगों का विभक्त हो जाना केवल एक माध्यमिक गति है, जैसा कि बर्नहम ने कहा है कि "ऐतिहासिक अनुभव हमें यह बताता है कि इन दो प्रकार के अधिकारों के पारस्परिक सम्बन्ध का (जो सम्पत्ति के दो आधारभूत स्वरूप हैं) विच्छेद लम्बे अरसे तक न टिक सकेगा। उत्पादन के साधनों पर अधिकार होना निर्णयात्मक होता है, और जब वह संगठित हो जायगा तब वह अपने साथ पक्षपात-पूर्ण वितरणाधिकार को भी ले निकलेगा, अर्थात् बिना किसी सन्देह के स्वामित्व नवीन अधिकारी वर्ग—नवीन प्रबल वर्ग—के हाथमें पहुँच जायेगा।"[१९] बर्नहम ने

---

१९ The Managerial Revolution p 83

अपना यह नया दृष्टिकोण सन् १९४० मे अपनी पुस्तक मैनेजेरियल क्रान्ति (The Managerial Revolution) मे व्यक्त किया था। उस समय जर्मनी मे हिटलर, इटली मे मुसोलनी और रूस मे स्टालिन की शासनात्मक पद्धतियो को इस उठते हुए प्रवल वर्ग की ही अनेक रश्मियो मे से कुछ रश्मियाँ समझना चाहिये। हिटलर और मुसोलनी भले ही क्षेत्र मे न रहे हो, पर जिस प्रथा के वे दृष्टान्त थे, वह अभी कायम है और वृद्धि को प्राप्त होती जाती है। जनतान्त्रिक देशो तक मे जनतत्र की चिल्लाहट के भीतर इधर तानाशाही छिपी दिख रही है, तो उधर इस नवीन प्रवल दल की जनतत्र-नाशक भयकर प्रगति जनतत्र-विज्ञो के मन मे खलवली मचा रही है। अभी हाल मे हिन्दुस्थान की पार्लमिन्ट के प्रवक्ता महोदय (Speaker) जी० व्ही० मावल-कर ने इस भयकरता से वचने के लिये ससार को सचेत किया है। उन्होने दी ईस्ट इन्डिया असोसिएशन एन्ड दी ओवरसीज लीग (The East India Association and the Overseas League) की सम्मिलित सभा मे व्याख्यान देते हुए वताया है कि "सवहन के साधनो (means of communications) तथा वैज्ञानिक प्रगति के सवव वहुत अधिक सम्पर्क वढ जाने से अनेक प्रकार की ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो गई है, जिन के कारण गवर्नमेन्ट के कृत्यो मे और इसलिये उन की गतियो मे भी महान् परिवर्तन हो गये है। इन पर दृष्टि रखते हुए, यह प्रतीत होता है कि न केवल ये कृत्य ही, वरन् नागरिक-जीवन के विविध रूप भी, जिन का सम्बन्ध गवर्नमेन्ट से रहता है, दिन-प्रति-दिन पारिभाषिक अथवा विशिष्ट (technical) होते जा रहे और विचक्षणो (experts) के हाथ के मामले वनते जा रहे है। यह कुछ हद तक भले ही अच्छा हो, परन्तु मुझे तो भय है कि जनसाधारण की गति पर गवर्नमेन्ट के द्वारा उत्तरोत्तर अधिकाधिक आतक (Control) वढता जा रहा है, और खुद गवर्नमेन्टो का यह हाल है कि उन का मार्ग-निर्देशन तथा अभिसधान विचक्षणो के हाथ मे रहता है (Governments in turn are guided and directed by experts)। भावी-निर्माण के हेतु मनुष्य की अभिमन्त्रणा (initiative) विलीन होती जा रही है और यह कदाचित् मशीन-जैसा प्राणी वनाया जा रहा है। अगर यह सचमुच हुआ, तो यह निश्चय जानिए कि जनतत्र के उत्तरोत्तर ह्रास का भय उपस्थित हो गया है, क्यो कि शासन की मशीन उन थोडे-से आदमियो के हाथ मे रह रही है, जो कहेगे कि समाज के हर यूनिट (व्यक्तित्व) के भविष्य का निर्माण करना हमारा हक है।"[२०] यह कथन वर्नहम की उस वात की पुष्टि कर रहा है, जो उन्होने यह कह कर दर्शाई है कि "पूँजीपति समाज मे तो

---

२० Speech reported in A. B. Patrika (All) 15-10-52

पूंजीपति राज्य पर अप्रत्यक्ष रूप से अपना अधिकार इस तरह रखते है, कि जब कभी आवश्यकता होती है, तब खानगी (private) अर्थ-गति पर आधिपत्य करके पूंजीदार-अर्थगति को कायम कर लेते है, परन्तु मैनेजेरियल (प्रबन्धकारियो के) समाज मे मैनेजर लोग ही राज्य बन जाते है। यह कहना शासक-वर्ग मैनेजरो का है, और यह कहना कि नौकरशाही अथवा जी-हुजूरी राज्य (state bureaucracy) है, दोनो प्राय एक ही बात है। दोनो बहुत कुछ मिलजुल गये है (The two have, by and large, coalesced)"[२१] यही बात इस साम्यवाद के शैशवकाल मे, जो समाजवाद के नाम से विख्यात किया जा रहा है, देख रहे है। जीवन की हर व्यवस्था राज्य के हाथ मे—हर व्यवस्था पर राज्य का कर्मचारी स्थित हो कर उस का कर्ता-धर्ता बना हुआ है।

मावलाकर के उपरोक्त वक्तव्य मे विचक्षणो के द्वारा जनतत्र को खतरा बताया गया है। ये विचक्षण ही है, जिन्हे बर्नहम ने मैनेजर शब्द के द्वारा इगित किया है। मावलकर ने केवल राजकीय क्षेत्र की गति पर अपनी दृष्टि सीमित रख कर उक्त खतरे का वर्णन किया है, और बर्नहम ने राजकीय तथा आर्थिक दोनो क्षेत्रो पर दृष्टि रख के व्यापक रूप से इस खतरे की ओर सकेत किया है। मावलकर ने, सम्भव है, प्रसगवश केवल राजकीय जनतात्रिक पद्धति को खतरे मे कहा हो, परन्तु जैसा कि हम पहले कह आये है, जनतत्र का अर्थ केवल राज्य-क्षेत्र मे परिमित नही रहता, वरन् समाज की समस्त व्यवस्थाओ से सम्बन्धित रहता है, इसलिये जब यह कहा गया है कि जनतत्र (Democracy) खतरे मे है, तब यही समझना चाहिये कि समस्त समाज की जनतात्रिक व्यवस्था ह्रास की ओर बढ रही और खतरे मे पडती जा रही है, परन्तु मजा यह कि हम समझ रहे है, हमारे कदम जनतत्र की ओर ही बढ रहे है। मजदूर-वर्ग समझता है कि हम पूंजीपति-वर्ग से छुटकारा पाकर स्वतत्र हो रहे है, पर वह यह नही जानता कि दूसरी ओर से उन को ऑख बचाकर कोई एक दूसरा ही वर्ग उस के पैरो मे बेडियॉ पहना रहा है। वह यह नही जानता कि उसे बडे-बडे शहरो म बडे-बडे कल-कारखानो आदि मे दो-चार टको के पीछे पराश्रित रहना सिखाया जा रहा है, और वह इन विचक्षणो या मैनेजरो के हाथ की कठपुतली बन रहा है। वह बेचारा क्या जाने कि जिस साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी) का निनाद सुन-सुन कर वह नाच-नाच उठता है, वही अपने कार्य-कर्ताओ के विषय मे क्या कहता है। अभी अक्टूबर सन् १९५२ ही की बात है कि मास्को मे १९वी सोवियट कम्यूनिस्ट पार्टी काग्रेस का अधिवेशन हुआ था। उसी के सिलसिले

---

२१ The Managerial Revolution, p 135

सेयू० एस० एस० आर० (रूस) की आल-यूनियन कम्यूनिस्ट पार्टी की केन्द्र समिति के मत्री, ख्रुश्चेव (Kruschev) ने जो मार्शल स्टालिन के हाथ के नीचे काम करता था, उक्त पार्टी के तीन मुख्य दुर्गुणो का उल्लेख कर यह माँग की थी कि वे तत्काल बन्द किये जायें। उन का तात्पर्य यह है कि पार्टी मे असत्य और अनेक त्रुटियाँ घुस गई है और उन को खुलने नही दिया जाता, और कुछ नेता लोग यह आवाज लगा कर कि हर चीज कन्ट्रोल के अन्तर्गत हे (everything under control) आलोचनाओ का खातमा कर देना चाहते है।"[२२] द्वितीय विश्व-युद्ध के समय से इस 'कन्ट्रोल' की ऐसी वला सारे विश्व मे फैल गई है कि उसका पिंड छुटाये नहीं छूटता दिखाई देता। जनता स्वय—कुछ खुशी से, कुछ नाखुशी से— इस कन्ट्रोल की रस्सी के द्वारा राज्य-स्तम्भ से जकडी रहना चाहती है। पद्धतियो की भूल-भुलैयों का खेल ऐसा ही हुआ करता है।

दूरस्थ भविष्य की उज्ज्वलता—

यह है निकटवर्ती भविष्य की तस्वीर। और आप यह जानते है कि वह अभी बन ही रही है। यदि वह कही पूरी बन पाई, तो फिर न जाने कितना काल लगेगा उसके मिटाने मे। इतिहास तो हमे यही कह रहा है कि सामाजिक पद्धतियो को परिवर्त्तित करने मे सैकडो और कभी सहस्रो वर्ष व्यतीत करने पडते है। अब यदि दूरस्थ भविष्य के विषय मे पूछा जाय, तो यही उत्तर उचित प्रतीत होता है कि हमारी दृष्टि से बहुत दूर होने के कारण उसका जानना प्राय असम्भव ही है। यदि निकटस्थ भविष्य के आधार पर अभिसधान किया जाता है, तो वह अधकारमय ही है। इसके सिवा जब तक दूर शब्द का परिमाण निश्चित न कर दिया जाय, तब तक दूरस्थ-भविष्य के विषय मे कुछ भी कहना व्यर्थ होगा। पूर्वकाल मे, इतिहास के आधार पर, यह अनुमान लगाना सम्भव हो सकता था कि अमुक सामाजिक क्रान्तिकारी व्यवस्था अमुक काल तक जीवित रहेगी, या कि उस का परिवर्तन अमुक काल के

---

२२ (1) The hushing up of mistakes and short-comings in the work of party organisations

(2) The frustration of criticism, specially from below the tendency of some party leaders to give the appearance of 'everything under control' and to boost up successes

(3) "Hushing up of truth from the party" (Moscow Radio News in A B Patrika (All) 15-10-52

वाद हो सकेगा। परन्तु आज यह अनुमान लगाना भी असम्भव है, क्यों कि आज का समाज-चक्र जिस तेजी से नवीन-नवीन विविध घटनाओ के साथ घूम रहा है, वैसा पहले कभी नही घूमा। फिर भी हमने उचित समझा है कि निकटस्थ भविष्य के बाद भविष्य को दो विभागो मे 'विभक्त' कर दिया जाय। एक 'मध्यस्थ भविष्य', और दूसरा 'सुदूर भविष्य'।

(१) योगदृष्टि की आवश्यकता—जब हम देख चुके कि निकटस्थ भविष्य जनतन्त्र की दृष्टि से अन्धकारमय है, तब यह कैसे माना जाय कि दूरस्थ भविष्य उज्ज्वल हो सकेगा। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब दृष्टा योग-दृष्टि अथवा दिव्य चक्षुओ से इस तरह युक्त हो जाय कि उस की ज्योति वर्तमान और निकटस्थ भविष्य की अन्धकारमय घटनाओ को चीरती हुई इतनी अन्तस्थ तक पहुँच जाय कि समाज के आन्तरिक प्रवाहो को देख सके। हताश अर्जुन को कृष्ण ने इन्हीं दिव्य चक्षुओ से ससार-रहस्य को देखने के लिये कहा था। (दिव्य ददामिते चक्षु),[२३] क्यो कि जो दिव्य-चक्षु वाला होता है, अर्थात् जिस मे अन्तर्दृष्टि रहती है, वह सयमी मनुष्य अन्य साधारण जनो को दिखाई देने वाले अधकार मे भी प्रकाश देखा करता है (या निशा सर्वभूताना तस्याजाग्रति सयमी)।[२४] योग-दृष्टि की यही खूबी है। योगी कभी निराश नहीं होता। यदि उसे कभी हताशारूपी अन्धकार घेर लेता है, तो वह चन्द्रमा जैसे साधारण प्रकाश का आश्रय लेकर फिर से दिन-जैसी शुद्ध स्थिति की ओर लौट पड़ता है (तत्र चान्द्रमसम् ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते)[२५] इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह हर समय अन्तर्दृष्टा होकर अन्धकारमय परिस्थितियो मे भी उज्ज्वल प्रकाश को ढूंढे, जैसा कि कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि तू हर काल मे योग-युक्त होकर रह (तस्मात् सर्वेपु कालेपु योगयुक्तो भवार्जुन)।[२६]

यद्यपि हम योगी नहीं, और न हम मे दिव्य-दृष्टि ही है, तथापि कुछ अधिक मानसिक स्थिरता और गहराई से विचार करने पर यह प्रकाश हो उठता है कि सघर्ष मे विनाशकारी क्रिया कितनी ही प्रबल क्यो न हो, अन्त मे एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब उससे कुछ-न-कुछ नवीन सत्य रूपी अमृत निकलकर ही रहता है। इस सघर्ष का रहस्य समझाने के लिये ही आर्यग्रन्थो मे समुद्र-मथन की गाथा को धर्म का रूप देकर यह बताया गया है कि मथन के परिणाम-स्वरूप अन्तत उस से अमृत

---

२३ गीता ११।८.

२४ ,, २।६९

२५ ,, ८।२५

२६ ,, ८।२७.

निकला जिसे देवो ने पान किया , और इसीलिये, हमारी समझ मे, दधि-विलोडन के परिणाम को 'नवनीत' सज्ञा दी गई है। यह 'नवनीत' शब्द 'नवनीति' जैसा ही है। इस नवनीति (ननीननीति) को प्रकट होने मे समय चाहे जितना लग जाय, पर यथाविधि मथन अर्थात् आन्दोलन या सघर्ष चलते रहने पर वह विविध रूप-क्रमा को पार करती हुई अन्त मे प्रकट होकर ही रहती है, क्यो कि वह सत्य है। यदि यह न माना जाय, तो वह प्राकृतिक नियम, ऐतिहासिक सत्य और कल्याण-भावना के विरुद्ध होगा। जहाँ कल्याण-भावना होती है--चाहे आत्म-कल्याण की हो या जन-कल्याण की—वहाँ निराशा और निरुत्साह का होना पाप होता है। यदि पाप[27] का अर्थ न जानने के कारण आप को उस शब्द से यह कह कर घृणा होती हो कि वह धर्म-कोश अथवा ईश्वर-भाव-वाची कोश का शब्द है, जिस से आप को चिढ है, तो आप 'पतन' ही कहिये, जिस का अर्थ होता है 'गिरना', या 'पातक' ही कहिये, जिस का अर्थ होता है 'गिराने वाला', अत इसी कल्याण-भावना को लेकर, हम समाज की गतियो को देखेंगे और बतायेंगे कि समाज का दूरस्थ भविष्य किन कारणो से किस हद तक उज्ज्वल प्रतीत हो रहा है।

दर्शन दो प्रकार की वस्तुओ के हुआ करते है—एक वाह्य अथवा प्रकट पदार्थों का और दूसरा आन्तरिक अथवा गुप्त रहस्यात्मक तत्त्वो का। दोनो प्रकार के दृष्टाओ के तीन-तीन भेद होते हैं। एक वे, जो केवल निकटवर्ती वस्तु को देख सकने के कारण निकटदर्शी कहाते हैं। दूसरे वे, जो केवल दूरस्थ वस्तु को देख सकने के कारण दूरदर्शी कहलाते है। और तीसरे वे, जो निकटवर्ती और दूरवर्ती दोनो वास्तविकताओं को देख सकने के कारण उभयदर्शी या समदर्शी कहे जाते है। जो उभयदर्शी नहीं होते, उन मे दृष्टि-दोष रहता है। जब हमे वाह्य पदार्थों को देखना होता है, तब उपरोक्त दृष्टिदोषो के निवारणार्थ हमे चश्मा खरीदने की जरूरत पडती है, और जिस प्रकार का दृष्टि-दोष हमारे नेत्रो मे पाया जाता है, उसी के उपयुक्त लेन्सवाला चश्मा हम मोल लेते है। जिन लोगो के नेत्रो मे दोनो प्रकार के दृष्टिदोष होते है, उन्हे डबल लेन्स का चश्मा लगाना पडता है, ताकि वे निकट और दूर के पदार्थ देखकर समदर्शन का अनुभव कर सके। इसी प्रकार जब हम समाज की आन्तरिक गतियो के प्रवाहो को देखने के लिये चल पडे है, तो हमारे अन्तर्चक्षुओ पर भी ऐसा ही डबल लेन्सवाला अन्तर्चश्मा चाहिये, क्यो कि योग-दृष्टि प्राप्त न हो सकने के

---

२७. पाप=प+आप=पतन+प्राप्त, अर्थात् जो पतन को प्राप्त कराये वही पाप होता है।

कारण हम मे दृष्टि-दोष रह गया है, जिस के फलस्वरूप हम समदर्शन करने से वचित हो रहे है।

यह डबल लेन्सवाली काल्पनिक युक्ति सर्वसाधारण मे प्रचलित निम्न दो हास्यमय उक्तियो पर घटित कीजिये। एक उक्ति है "नई आई पुरानी को दूर करो" और दूसरी है "नई छोड पुरानी को ग्रहण करो"। यही मानो आपके पास निकट-दर्शक और दूरदर्शक दो प्रकार के लेन्स बेचने के लिये है। इन्ही लेन्स रूपी उक्तियो को लेकर किन्ही समाज सेवको के पास पहुँच जाइये और उनसे पूछिये कि आप को इन मे से कौन-सी उक्ति प्रिय है। प्रश्न करते ही एक ओर तो मार्क्सवादी सज्जन, हमारी समझ मे कह उठेगे कि हम प्रगतिशील है, इसलिये हमे तो नई चाहिये, पुरानी से कोई प्रयोजन नही, और दूसरी ओर गाधीवादी महाशय सम्भवत यह कहे कि हम सनातन सत्यवादी है, हमे तो पुरानी चाहिये, नई से क्या प्रयोजन। इन उत्तरो को सुन कर हमारी सलाह दोनो के लिये यह होगी कि वे दोनो उक्तिरूपी लेन्सो को अपने-अपने चश्मा पर चढाएँ, क्यो कि वे दोनो अपने-अपने स्थान के लिये आवश्यक है। उन दोनो के आश्रय से यथार्थ-भविष्य-दर्शन का होना सम्भव होगा, अन्यथा वही एक बाजू दिखेगी, जिसके विषय मे अभी विनोबाजी के कथन-द्वारा बताया गया था।

उपरोक्त कहावतो मे दो शब्दो की प्रधानता है—'नई' और 'पुरानी'। पुल्लिग भेद से वे ही 'नया' और 'पुराना' हो जाते है। 'पुराना' 'पुराण' का रूपान्तर अथवा अपभ्रश है। आर्य-धर्म-ग्रन्थो मे 'पुराण' अनादि-अनन्त-सनातन-शाश्वत शक्ति का द्योतक कहा गया है, जैसे 'अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो'।[२८] इसलिये उनके अनुसार 'पुराण' का अर्थ निकला 'प्राचीनतम शक्ति'। अब यदि 'पुराण' शब्द का पृथक्करण किया जाय, तो वह दो प्रकार से होता है—(१) पुर+आन, (२) पुरा+आन। 'पुर' के माने होते है 'गाँव' या 'शरीर', और 'पुरा' का अर्थ होता है 'गाँव' 'मुहल्ला' या 'किला'। 'आन' का अर्थ होता है 'भिन्न'।[२९] इसलिये जो 'पुर' से या 'पुरा' से भिन्न हो वह 'पुरान' हुआ। चूँकि 'पुर' और 'पुरा' दोनो बाह्य पदार्थो के द्योतक है, इसलिये 'पुरान' उन की अन्तर्स्थिति का अर्थवादी होता है, अर्थात् वह शरीरान्तगत गति का प्रतीक है, अत शास्त्र और व्याकरण, दोनो दृष्टियो से 'पुराण' (पुराना)

---

२८. कठोपनिषद् अ० १ व २ म० १८; गीता २।२०.

२९. 'पुर', 'पुरा' और 'आन' शब्दो का शब्दार्थ जानने के लिये चतुर्वेदी द्वारका-प्रसाद शर्मा कृत 'शब्द-पारिजात' (कोश) और भिडे का सस्कृत-इंग्लिश कोश देखिये।

शब्द सनातन, शाश्वत, अपरिवर्तनीय शक्ति (Eternal, Immutable force) का द्योतक है। इसके विपरीत जो शाश्वत नहीं, वह परिवर्तनीय होता है, और जो परिवर्तनीय है, वही लोक-दृष्टि से नया-पुराना होता रहता है। तात्पर्य यह है कि यदि मार्क्सवादी यह कहे कि मुझे केवल 'नई' से मतलब है 'पुरानी' से नहीं, तो उस का यह अर्थ हुआ कि वह केवल 'परिवर्तनीय पदार्थ (changeable matter) का उपासक है न कि शाश्वत शक्ति (eternal force) का। ऐसा उस का कहना मार्क्स-सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा, क्यों कि मार्क्स के ग्रन्थों में जीवनोन्नति के लिये शाश्वत शक्ति का आधार भूरि-भूरि माना गया है। भेद केवल इतना ही है कि वेदान्त-दर्शन की शाश्वत-शक्ति द्विभाव वाली होती है। एक अव्यक्त प्रकृति (non-transmuted physical force) और दूसरी उस अव्यक्त प्रकृति में पुरुष रूप अधिष्ठित शक्ति (Atma or soul force)। यद्यपि मार्क्स ने आत्म-शक्ति को अपने वैज्ञानिक विवेक में स्थान नहीं दिया है, तथापि सर्वव्याप्त शाश्वत प्राकृतिक शक्ति से इन्कार नहीं किया है, इसलिये कोई भी मार्क्सवादी यह कहने का अधिकारी नहीं कि उसे 'पुरानी' से कोई प्रयोजन नहीं, अतः मार्क्सवाद 'नया' और 'पुराना' दोनों का उपासक है। 'नया' को न माने तो पार्थिव विकास हाथ से निकल जाय, और 'पुराना' को ना माने तो जीवनोन्नति-विकास का आधार ही मिट जाय। इसी तरह गांधी भी केवल दूसरी उक्ति का ही उपासक बन कर नहीं रह सकता है। इस की सिद्धि के लिये तर्क की आवश्यकता नहीं, क्यों कि गांधी के आचार और उपदेश सदा हमारी स्मृति में प्रमाण-रूप विद्यमान है, अतः यह निश्चय हुआ कि चाहे आप मार्क्सवादी हों या गांधीवादी, आप को उपयुक्त दोनों उक्ति रूप लेन्सदार चश्मा अन्तर्नेत्रों पर चढ़ाना होगा, तब कहीं भविष्य की प्रतिमा का आप समदर्शी होकर यहां-वहां देख सकेंगे।

कल्याण-भावना से प्रेरित हो, जब हम अन्तर्नेत्रों पर उपर्युक्त चश्मे को लगा लेते हैं, तो हमें तुलसीदास की उक्ति के अनुसार कल्याणमय प्रभु की मूर्ति दिखाई देने लगती है।[20] प्रभु का नाम सुन कर आप को, विशेष कर मार्क्सवादी (साम्यवादी) भाइयों को बुरा न लगे, क्यों कि वह ईश्वरवाची है। ईश्वर-सत्ता का आप के जीवन-कोश में स्थान देना मानो पाप है क्यों कि उसे आपने स्वतन्त्रता का घातक समझ रखा है। विचारपूर्वक मूलार्थों को देखिये, तो जितने ईश्वरवाची शब्द आप के सिद्धान्त में हैं वे सब स्वाभाविक शक्ति (natural forces) के वाचक होते हैं। यदि हम

---

२० जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी। (तुलसी-कृत रामायण)

उन्हीं का फोर्सेस (forces) के भिन्न-भिन्न रूप (different aspects) कह दें, तो आप को उन मे फौरन विश्वास हो उठेगा। 'प्रभु' शब्द में 'भु' मूल पद है। वह 'भू' (भव) क्रिया का द्योतक है, जिस का अर्थ होता है 'होना'। 'भु' के पहले 'प्र' उपसर्ग है, जिस मे 'आगे बढना' (forward) अथवा विकास का भाव रहता है। इसलिये 'प्रभु' या 'प्रभू' शब्द की रचना, विकासमान गति (dynamic force) के भाव को प्रदर्शित करने के हेतु हुई है। जिस प्रकार 'प्रभु' या 'प्रभू' शब्द विकासमान गति का प्रतीक होता है, उसी प्रकार 'वि' उपसर्ग के साथ 'विभू' सज्ञा से सर्वव्याप्त शक्ति (all pervading force) का बोध होता है, क्यो कि 'वि' उपसर्ग 'विस्तार' या 'व्यापक' भाव का अर्थवाची होता है। अब यदि हम 'प्रभु' के बदले 'विकासमान गति' कहे, तो आप को यह समझने मे कोई कठिनाई न होगी कि जिस प्रकार आप की भावना होगी, उसी प्रकार आप के अन्तर्नेत्रो के सम्मुख भविष्य की झाँकी प्रतीत होने लगेगी, क्यो कि 'विकास' और 'भविष्य' दोनो शब्दो मे अग्रगति (forward force) का भाव विद्यमान रहता है। यही कारण है कि मार्क्स ने अपनी भावना के अनुरूप और गाधी ने अपनी भावना के अनुरूप भावी समाज को देखा था। इसी कारण हमने ऊपर यह कहा है कि यदि आप उपरोक्त उक्तियो मे से केवल एक उक्ति-रूप लेन्स का चश्मा लगायेंगे, तो आप भविष्य-सृष्टि का दर्शन, काने आदमी के समान गलत तरीके पर करेंगे। यह हमारे जीवन मे रोज-मर्रा की बात है, पर जब उसकी सिद्धान्त रूप मे वार्ता चलती है, तो हम उसे भूल जाते हैं।

अब जब हमारे पास दोनो बाजुओ को देखने का चश्मा हो गया, तो पहले हम भूत और वर्तमान दोनो को उससे देखे और उन कारणो को जानें, जिन के सबब मार्क्सवाद और गाधीवाद के दृष्टि-कोणो को किसी एक स्थान पर वर्तमान या निकट भविष्य मे मिलने की आशा नहीं दिखाई दे रही है। उन कारणो पर पिछले पृष्ठो मे विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ पर उन्हे सूत्र-रूप से बता देना काफी है। ये सूत्र केवल दो है—एक है सिद्धान्त विषयक, और दूसरा साधन विषयक। सिद्धान्त विषयक यह है कि मार्क्सवाद, यद्यपि लोक-नीति (ethics) को मानता है, अध्यात्मवाद (morals or soul) को नही मानता। अध्यात्मवाद को न मानने के कारण वह एकात्मीयता मे विश्वास नहीं करता। वह जीवात्मा के दृष्टि-भेद से भिन्नत्व का परिपोषक है। गाधीवाद मे इसके विपरीत एकात्मीयता की प्रधानता है। लोक-नीति उसी के अनुरूप होनी चाहिये। वह वेदान्त तत्त्व-ज्ञान के अनुसार भिन्नत्व मे एकत्व का उपासक है, जो यह कह कर सम्बोधन करता है कि "जब सब प्राणी मेरी आत्मा मे और 'मैं' सब की आत्माओ मे दिखाई देने लगता है, अर्थात् जब सब एकात्मक हो जाता है, तब फिर कौन किसका शत्रु और कौन किसका मित्र कहाएगा,

यह कहे कि आजकल राज-धर्म जैसी कोई चीज नहीं, जनतन्त्र ही सब कुछ है, इसलिये हर देश की अलग-अलग जनता का ही विचार किया जाय और यह जाना जाय कि कितनी जनसंख्या मार्क्स-पक्ष में है और कितनी गांधी-पक्ष में। चूँकि गांधीजी जनतन्त्रवादी थे, इसलिये सम्भव है कि जनतन्त्रवादी, एक ओर, और मार्क्सवादी (साम्यवादी) दूसरी ओर यह होड़ लगा बैठें कि संसार में दोनों के अनुयायियों की संख्या निकाली जाय और जिस के पक्ष में बहुसंख्या हो, वहीं संसार का मत स्वीकार कर लिया जाय। परन्तु, इस प्रकार की किसी भी विधि से जनता का न तो वर्तमानकालीन सच्चा रुख प्रकट हो सकेगा और न यह भी मालूम हो सकेगा कि वह भविष्य में किस ओर झुकने वाला है। बहुमत प्राप्त करने की होड़ के कारण जनतन्त्रवादी कहे जाने वाले राज्य या देश अपनी ओर चाबी घुमायेंगे, और साम्यवादी कहे जाने वाले अपनी ओर। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में प्रायः सभी देशों में बर्ती जानेवाली जनतन्त्रता, गांधी-मत की जनतन्त्रता से सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियों से भिन्न है, इसलिये लोगों का रुख गांधी-मत की ओर है या मार्क्स मत की ओर—यह हम उपरोक्त किसी भी प्रकार से नहीं जान सकते। उपरोक्त दोनों प्रकार की विधियों में से किसी के द्वारा जन-मत देखने में एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि यदि हम मार्क्सवाद का कार्य-प्रारम्भ सन् १८४७ और गांधीवाद का सन् १९२० नियत कर लें, तो मार्क्स-मत गांधी-मत से कम-से-कम पौन सौ वर्ष जेठा कहाया।

इस तरह आजकल मार्क्सवाद को अमल में आये हुए लगभग सौ वर्ष हो जाते हैं और गांधीवाद को केवल ३५ वर्षों के लगभग। आयु-भेद के अतिरिक्त यह जानना भी महत्त्वपूर्ण है कि गांधीवाद के प्रचार का तरीका लोगों को बिलकुल नये ढंग का अजीब-सा प्रतीत होता रहा है, जिसके फलस्वरूप उसके कार्य-क्षेत्र बनाने में काफी समय लगा, परन्तु मार्क्सवाद का प्रचार-तरीका वही छल-बल-कल नीति वाला, हिंसात्मक, पुराने ढंग का रहा है, जिसमें लोग रचे-पचे थे, जिसके फल-स्वरूप रुकावटें आने के बावजूद भी उसे थोड़े ही काल में इस प्रकार बढ़ने का अवकाश मिला, जैसे किसी जल-धार को बहने के लिये मानो समतल जमीन मिल गई हो। यदि सम न कही जाय, तो असम ही सही, पर पहाड़ी जैसी तो नहीं कही जा सकती है। मार डालने वाली नीति को निकाल कर, खुद मर जाने वाली नीति का प्रवेश करना, क्या कोई ठट्ठा था। इन सब बातों पर विचार करने से मालूम होगा कि उपरोक्त विधि से जनमत जानना ऐसा ही अन्याय होगा, जैसे कोई पहलवान और बालक की तुलना करने बैठ जाय, या बहुत आगे पहुँचे हुए दौड़ने वाले के साथ दौड़ लगाने की होड़ लगाने के लिये कहा जाय।

(ब) मध्यस्थ भविष्य मे प्रसर होनेवाली कुछ प्रदीप्त स्वाभाविक वास्तविकताएं—जनमत जानने के उपरोक्त साधन कृत्रिम है। कृत्रिम साधनो मे जन-रुख नही जाना जा सकता। रुख या रुचि स्वाभाविक होती है, और आदत (habit) कृत्रिम, इसलिये जन-रुख जानने के लिये हमे कुछ ऐसी वर्तमान वास्तविकताओं पर ध्यान देना होगा, जिन मे जनमत प्रतिबिम्बित हो रहा हो। इन वास्तविकताओ को हम दो दृष्टि-कोणो से देखेंगे। एक वे, जो संग्रह (integration) और दूसरी वे जो विग्रह (disintegration) की ओर ले जाने वाली प्रतीत हो रही है। तब तो आप इसे सुनते ही सम्भवत यह कह बैठे कि चूं कि मार्क्सवाद गांधीवाद की अपेक्षा अधिक फैला हुआ है, इसलिये उसी मे संग्रह की मात्रा अधिक समझना चाहिये, परन्तु हम प्राकृतिक नियम और इतिहास की साक्षी के आधार पर यह बात मानने के लिये तैयार नहीं है कि किसी वस्तु-विशेष या व्यवस्था-विशेष के निरे जीवनकाल और विस्तार को देखकर ही यह निर्णय कर लिया जाय कि उस मे संग्रह क्रिया की मात्रा बढ रही है, वरन् इसके विपरीत हम यह देखते है कि कालान्तर मे विस्तार के साथ-ही-साथ विग्रह-क्रिया की प्रधानता आने लगती है। यह जानने के लिये राज्य-दृष्टि मे रोम, मुगल, अंग्रेज बादशाहतो का, एवं धर्म-दृष्टि से ईसाई, बौद्ध आदि मतो का स्मरण कर लीजिए, तो पता लगेगा कि उन का विस्तार और अधिक काल ही विग्रह के कारण बन गये थे। तब आप कहेगे कि यदि पतन होना है, तो मध्याह्न काल के बाद ही। मध्याह्न काल तक संग्रह क्रिया ही की प्रधानता रहती है, और चूं कि मार्क्सवाद अभी मध्याह्न-काल तक नही पहुँचा है, इसलिये उस मे विग्रह आने की बात सोचना निरर्थक ही होगी। इस तर्क मे सत्यता अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु प्राकृतिक और सामाजिक प्रत्यक्ष प्रमाणो को देखते हुए ऐसा कहना अटल सत्य नही कहा जा सकता। हम ऐसी अनेक प्राकृतिक वस्तुओ और सामाजिक व्यवस्थाओ को देखते है कि उन का मध्याह्न-काल आ ही नही पाता, क्यो कि वे कारण-वश जन्म-काल से ही नही पनपने पाती और इसलिये उन का अन्त भी शीघ्र ही हो जाता है। कुछ ऐसी होती है, जो कुछ काल तक तो लोगो को मोह मे डाले रहती है, और थोडे दिनो मे ही मोह छूट जाने पर चल बसती है, अत हमे देखना है कि मार्क्सवाद का फैलाव मोहवश हो रहा है, या कि रुख या रुचिवश। इस का निर्णय हम आप ही से कराना चाहते है, जिस के हेतु कुछ नीचे लिखी वास्तविक घटनाओ को आप के सामने पेश कर देते है, ता कि उन की सहायता से आप अपना कर्त्तव्य स्वय निश्चित कर सकें।

(१) मार्क्सवादी यह स्वीकार करते हैं कि अन्त मे अहिंसात्मक समाज-व्यवस्था ही आ जाना चाहिये, परन्तु उसे लाने के लिये हिंसात्मक उपायो का अवलम्बन किया

जाय, तो कोई हानि नही। यह एक ऐसी साधारण-सी बात हुई कि 'अ' नाम का व्यक्ति यह कहे कि 'मेरा काम ठीक है', और 'ब' नाम का व्यक्ति उसे स्वीकार कर ले और कहे—'हा, ठीक तो है, पर अभी मैं उस के विरुद्ध ही करूँगा।' इस प्रकार स्वीकार कर लेने से 'ब' का पक्ष निर्बल हो जाता है, और निर्बलता का बीज ही विग्रह-रूप होकर उगने लगता है, इसलिये हमारा कहना है कि मार्क्सवाद के सिद्धान्त ही मे विग्रह-बीज अन्तर्निहित है, जो मार्क्सवाद को उखाड़ फेंकेगा।

(२) भविष्य की बात जाने दीजिये। किसी समाजवादी या साम्यवादी से पूछिये—"क्या तुम चाहते हो कि कोई युद्ध हो ?" तो निश्चय ही उत्तर मिलेगा—"नहीं, हर्गिज नहीं, पर कहीं किसी ने जबरन युद्ध छेड ही दिया, तो अवश्य लड़ेंगे।" फिर पूछिये—"युद्ध क्यो नहीं चाहते ?" तो कहा जायगा कि "उस से मनुष्य-जाति की खून-खराबी होती है, अर्थात् युद्ध हिंसक कर्म होता है।" फिर आगे और पूछिये कि क्या आप चाहते हैं कि किसी की सम्पत्ति जबरन ले ली जाय या कि किसी पर अपना विचार जबरन ठूंसा जाय ?" तो उत्तर मिलेगा—"नहीं, पर अमुक बेईमान है, मूर्ख है इत्यादि, वे हमारी सुनते ही नहीं, इससे लाचारी दर्जा हम उन की सम्पत्ति जबरन ले लेने मे कोई हानि नही समझते और न इसी मे कोई अपराध मानते हैं कि अपना विचार दूसरो पर जबरन लाद दिया जाय, क्यो कि वे दूसरे लोग अपना हित नहीं समझते, अथवा हमारी बात नही मानते।" उपरोक्त उत्तर या तो हृदय से निकली सत्य भावना ही हो सकती है, या फिर लोक-लाज के खयाल से वे केवल ऊपरी आडम्बर ही हो सकते हैं। किसी भी विचार से प्रेरित होकर वे कहे गये हो, एक बात उन से निश्चयपूर्वक सिद्ध हो जाती है कि साम्यवाद और समाजवाद अर्थात् मार्क्सवाद अहिंसा के सिद्धान्त को हिंसा के सिद्धान्त से ऊँचा मानता है, केवल परिस्थिति-वश उसे हिंसा करनी पड़ती है। यदि ऐसा न होता, तो वह केवल हिंसा की बात करता। इस तरह जब कोई पक्ष वाला विरोधी पक्ष वाले के सिद्धान्त को मान लेता है, तो उस से यही सिद्ध होता है कि उन की अपेक्षा विरोधी पक्ष मे सैद्धान्तिक सामर्थ्य अधिक है। यही उस का विग्रह-मूल बन जाता है।

(३) मार्क्सवादी एक वर्ग के लिए दूसरे को मारकर लडता है, क्यो कि दूसरा वर्ग उसका शत्रु है। परन्तु, गाधीवादी खुद मरकर सर्वजन के लिये लडता है, क्यो कि उस का कोई शत्रु नहीं, इसलिये मार्क्सवाद को केवल एक वर्गीय (अर्थात् श्रमिक वर्ग की) सकाम सहानुभूति प्राप्त होती है, परन्तु गाधीवाद सार्वजनिक निष्काम सहानुभूति को प्राप्त करता है। तब फिर आप ही बताइये, सग्रह-रूपी बल का प्रचार किस ओर अधिक होने जा रहा है ?

(४) मार्क्सवादियो (साम्यवादियो) मे स्वय मत-भेद हो उठा है, जिस के

फलस्वरूप वे अधिक सघ या दलो मे विभक्त हो गये है, जैसे कि हम इसी अध्याय मे पहले कह आये है। दलो के अतिरिक्त साम्यवादी राज्यो मे भी परस्पर खिचाव हो उठा है। एक ओर रूस स्टालिन के मत की बात चला रहा है, तो दूसरी ओर चीन माक्से तुग की ओर यूगोस्लाविया मार्शल टिटो की बात मान रहा है। रूस औद्योगिक केन्द्रीकरण को प्रधानता दे रहा है, तो यूगोस्लाविया इस केन्द्रीकरण से छुटकारा पाने के लिये विकेन्द्रीकरण की ओर भागने का प्रयत्न कर रहा है। मार्शल टिटो ने यूगोस्लेव कम्यूनिस्ट पार्टी की छठवी काग्रेस के समय जगरेव (यूगोस्लाविया) मे व्याख्यान देते हुए सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष स्टालिन की राजनीति की गहरी आलोचना की और कहा कि स्टालिन की वैदेशिक नीति का ही मुख्य कारण है कि विश्व मे बडी खीचातानी मच रही है (Soviet foreign policy was a prime factor contributing to the present tension in the world)[३२] रूस श्रमिक वर्ग की तानाशाही का पक्षपाती है, तो चीन ने अपनी राज्य-पद्धति को "जनता की जनतान्त्रिक तानाशाही" (People's democratic dictatorship) नाम दे रखा है, क्यो कि उस मे न केवल श्रमिक वर्ग ही, बल्कि अन्य तीन वर्ग और शामिल रहते है। वे तीन है—कृषक-वर्ग, छोटे-छोटे बुरजुआ और राष्ट्रीय पूंजीपति।[३३] दूर क्यो जाते है? हिन्दुस्थान ही मे अनेक लोगो ने, जो किसी समय मार्क्सवादी विचारो के थे, मार्क्सवाद को छोडा और अपनी एक नई पार्टी सामाजिक जनतन्त्र (Social Democracy) नाम की बनाई, जिसने गाधीवाद को विकेन्द्रीकरण नीति तथा सत्याग्रही साधन को अपने कार्य-क्रम मे प्रधानता देना स्वीकार कर लिया है। इतना ही नही, गाधी के सर्वोदय-कार्य-क्रम को ही अपना ध्येय बना लिया है। न केवल इतना ही, बल्कि अब तो मजदूर-प्रजा-पार्टी और सामाजिक-जनतन्त्र-पार्टी का सम्मिश्रण हो जाने पर, जिस का सयुक्त नाम प्रजा-सोशलिस्ट-पार्टी (P S P) रखा गया है, यह सिद्ध होता है कि वे लोग मूल मे गाधीवाद को ही स्वीकार कर चुके है। इसके अतिरिक्त जब हम उसी मजदूर वर्ग की ओर दृष्टि डालते है, जिस के लिये मार्क्सवाद का जन्म हुआ था और जिस के लिए वह जीवित रहना चाहता है, तब भी हमे यही कहने की गुजाइश मिल जाती है कि

---

३२ A. B Patrika (All) 4-11-52, और A B Patrika (All) 8-11-52 मे सम्पादकीय लेख (Stalinism vs Titoism) देखिये।

३३ A B Patrika (All), 17-8-62 (Sunday, Magazine Section, Article headed "Social equality has nearly been achieved in New China" by Vidya Prakash Dutt)

का रूप लिया न था। ईजिप्ट में रिपब्लिक स्थापित किया, वरन् अरब-राज्य-संघ की नींव भी डाल दी है। ईजिप्ट का यह एक दृष्टान्त इसने यह बताने के लिये दिया है कि सैनिकों में भी, जिन का मत सदा बल से भरा रहता है, अहिंसा-बल के महत्त्व ने अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया है। ईजिप्ट की रक्तहीन क्रान्ति लाने में गांधीजी द्वारा निर्धारित अहिंसा-सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कहा जाता है, यह तो हाल-फिलहाल नहीं कहा जा सकता, पर यह निश्चय ही, कि उस का प्रयोग हुआ। प्रयोग किस मात्रा में पूर्ण अथवा सफल हुआ या नहीं इस बात का प्रश्न हमारे सामने नहीं है। प्रश्न तो है उस ओर प्रवृत्ति का। प्रगति में, विशेष कर प्रारम्भिक काल में, भूलें या त्रुटियां हुआ ही करती हैं। ईजिप्ट क्या, किसी भी देश में जाइये—चाहे वहां राजा का राज्य हो अथवा गण-तन्त्र का, हर जगह लोग से यही कहा जायेगा कि भाई, हम तो लड़ना नहीं चाहते, पर यदि परवश लड़ना पड़ा, तो लड़ेंगे। इससे तो सिद्ध यही होता है कि रुचि न लड़ने ही की है। रुचि होना और आदत पड़ जाना ये दो भिन्न बातें हैं। रुचि स्वाभाविक होती है, आदत अभ्यासिक। अधिक अभ्यस्त हो जाने के कारण जो आदत पड़ जाती है, उस को ही मनुष्य भ्रम-वश रुचि समझने लगता है, इसलिये यदि कुछ लोग लड़ने की बात करते हैं, तो वह केवल उन की पुरानी आदत के कारण ही कहना है, स्वाभाविक रुचि के वश नहीं।

(८) विश्व के प्राय हर एक कोने में अहिंसा (non-violence) की ही मांग सुनाई पड़ती है, भले ही यह भावना अभी उतनी सम्पूर्ण न हो, जितनी गांधीजी चाहते थे। भले ही उसका अर्थ अभी लोग केवल अस्त्र-शस्त्र-युक्त अथवा पाशविक शारीरिक बल से सीमित करते हों, परन्तु रुख तो उसी ओर है, इस में सन्देह नहीं। अहिंसा ही क्या, उपवास के प्रयोग की ओर भी विश्व के लोगों में रुचि बढ़ती हुई दिखाई दे रही है। उपवास आत्म-तप का एक अंग है। उस का प्रयोग गांधीजी अन्याय-निवारण और आत्म-शुद्धि के लिये करते थे। अभी लोगों का पहुँच-उपवास के सम्बन्ध में, उतनी उच्चस्तर तक नहीं हो पाई है। अभी वह बहुधा अन्याय-निवारण का ही साधन बनाया जाता है, और विरोधी पक्ष की सहानुभूति प्राप्त करने के अभिप्राय से दवा के रूप में काम में लाया जाता है, परन्तु हर काम प्रारम्भ काल में असंस्कृत ही इस प्रकार रहता है, जैसे अग्नि-प्रकाश के पूर्व धूम्राच्छादन दिखाई देता है। प्रश्न असंस्कृत या संस्कृत का नहीं है। प्रश्न है, यह देखना कि जनता का स्वाभाविक रुख किस ओर है।

उपवास के अतिरिक्त आत्म-तप के अन्य रूपों का प्रयास भी आफ्रिका जैसे देशों में होता सुनाई दे रहा है। आत्म-तप अथवा आत्म-त्याग का महत्त्व इसी में है कि श्रोता और दृष्टा के मन में आत्म-तपस्वी के प्रति सहानुभूति होती है और आत्म-तप की

ओर रुचि उत्पन्न होती है। दक्षिण अफ्रिका निवासी यदि शस्त्र-बल के द्वारा मलान की रंग-भेद वाली नीति का विरोध करते, तो उन की ओर विश्व की सहानुभूति उतनी नहीं होती, जितनी आज दिखाई दे रही है। और फिर इस के लिये सब से जबरदस्त प्रमाण-इतिहास में हिन्दुस्थान का जो मौजूद है। कहने की गरज यह कि जन-रुचि का प्रसार गांधीवाद के अहिंसात्मक आत्म-तप-प्रयोगों की ओर हो रहा है।

(९) इतना ही नहीं कि जन-रुचि अहिंसात्मक आत्म-तप अथवा आत्म-त्याग की ओर बढ़ रहा है, वरन् विश्व की दृष्टि गांधीवाद की ग्राम अर्थ-नीति (Village Economy) की ओर भी फैल रही है। साम्यवादी चीन, यूगोस्लेविया आदि देशों में भी उस का प्रभाव प्रकट हो रहा है। देश-विशेष ही क्यों, वर्तमान समय में साधारणतया शहरी अर्थ-नीति, केन्द्रीकरणीय उद्योग-नीति, वैतनिक मजदूर-नीति आदि की ओर से लोगों का मन उचाट हो रहा है, और गांव को लौटो (Back to Villages) के नारे लगाना शुरू हो गये हैं। इस का कारण है। एक समय था, जब लोग ग्रामों में रह कर कृषि-प्रधान नीति का अनुपालन करते थे। फिर कार्यतत्पर मृग से मोहित होकर शहरों की ओर उसके पीछे-पीछे भागे, क्योंकि वहाँ बड़े-बड़े कल-कारखाने खुले, व्यावसायिक संस्थाएँ चल निकलीं, कचहरी अदालतें चमकीं—जहाँ पराई चाकरी करके वे सोना लूटना चाहते थे। परन्तु जब देखा कि वहाँ का जीवन सुखप्रद नहीं है और सभी को वैतनिक काम मिलने में भी कठिनता हो रही है, तो फिर गांवों की ओर लौटने की आवाज उठने लगी है।

गांधीवाद की ग्राम-अर्थ-नीति की ओर ही नहीं, वरन् बुनियादी शिक्षा-नीति (Policy of basic education) की ओर भी कुछ-कुछ लोगों का झुकाव हो चला है। सब ओर से यह आवाज आती सुनाई पड़ती है कि उस शिक्षा से क्या लाभ, जो केवल मानसिक दानव तैयार करे, शारीरिक परिश्रम की ओर अरुचि उत्पन्न करे, रोजी के लिये पराये मुंह ताकते हुए, गली-गली फिराया करे, अथवा एटम-बम, हाइड्रोजन-बम आदि ही बनाने में समाज-विनाश के लिये समाज शक्ति का ह्रास कराया करे!

(१०) इस समय विश्व-सम्पर्क की जो बाढ़ उठी है, वह मानुषिक मूल्य (Human values) की दृष्टि से शुभ चिन्ह है। यदि पन्द्रहवीं शताब्दी ने अपने आविष्कारों और खोजों के कारण मुद्रा-मूल्य का बाजारी क्षेत्र बढ़ा कर पूंजीपति-पद्धति का प्रारम्भ किया, तो बीसवीं शताब्दी के वर्तमान चरण को विश्व-सम्पर्क की ओर अधिक रुचि बढ़ाने के कारण ऐक्यप्रद नैतिक पद्धति का प्रारम्भ काल कहा जाय, तो उचित ही होगा। यह स्वयसिद्ध है कि जब तक हम एक दूसरे से अपरिचित रहते हैं, तब तक हम में मेल-जोल की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। यों तो जब से

आवागमन के साधनों का आविष्कार हुआ है, तभी से दूर-दूर के लोगों में सम्पर्क हो चला था, परन्तु आज जिस प्रकार और जिस मात्रा में हम मानुषिक सम्पर्क देख रहे हैं, वह पूर्वकालीन सम्पर्क से भिन्न है। पहले के सम्पर्क का क्षेत्र सीमित रहता था और उसका आधार भी स्वार्थ-प्रधान होता था। सम्पर्क-सीमा का सकोच दो प्रकार से दिखाई देता था—एक तो यह था कि आने-जाने के साधनों की कठिनता के कारण बहुत दूर देशों को जाना आना दुःखदायी और विशेष खर्चीला हुआ करता था, और दूसरा यह था कि वह लौकिक जीवनचर्या के कुछ ही इने-गिने क्षेत्रों से बँधा रहता था, जैसे-व्यापार, शिक्षा-प्राप्ति अथवा रोजगार धन्धा के लिये आना-जाना। गरज यह कि उस समय प्राय हर मनुष्य अपने स्वार्थ को ही लेकर देशाटन करने के लिये उद्यत होता था। इस तरह साधनों की कठिनाई, सामाजिक बन्धन, द्रव्य की कमी, वैदेशिक भय कौमी विद्वेष आदि के सबब मनुष्य-सम्पर्क केवल इतना ही दिखाई देता था कि कुछ इने-गिने सम्पत्तिवान व्यक्ति मजा-मौज, ऐश-आराम अथवा हाल रोजगार के लिये इधर-उधर घूम आया करते थे। इस प्रकार के सम्पर्क में यह विष-मूल था कि ये लोग अपना सम्बन्ध सम्पत्तिवानों से ही रखते थे। सर्वसाधारण में मेल मिलाप करना तत्कालीन विचार-धारा के विरुद्ध होता था और इसलिये वह उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के विग्रहकारी दोष से परिपूर्ण था।

परन्तु वर्तमान शताब्दी के द्वितीय चरण में, विशेष कर द्वितीय विश्व-युद्ध काल से, विचार-धारा ने पलटा खाया और सवहन के साधनों में भी आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। वायुयानों, रेडियो और टेलीविजन के यत्रों की प्रचुरता ने सम्पर्क को बहुत ही सरल कर दिया है। यदि द्रव्य का साधन हो, तो मनुष्य बड़ी आसानी से थोड़े समय में दुनिया भर घूम-फिर सकता है। वर्तमान देशाटन का प्रधान आधार साधारणतया साम्पत्तिक कमाई नहीं रहा। साम्पत्तिक स्वार्थ के स्थान में कुछ ऐसे भाव आ गये है, जिन्हें देख कर प्रतीत होता है कि मनुष्य उच्च और निम्न वर्ग वाली भावनाओं को त्याग कर विश्व-ऐक्य का निर्माण कर रहा है। दुनिया के पैमाने पर कहीं हम क्रिकेट मैच का समाचार पढ़ते हैं, तो कहीं फुटबाल, हाकी, वालीबाल, या टेनिस आदि का, कहीं सगीत-निपुण बुलाये जाते हैं, तो कहीं तैराक, पहलवान, ड्यूअल (duel) वाले। कहीं विश्व के विद्यार्थी एकत्र होते हैं, तो कहीं एक देश से मैत्री-सन्देश-वाहक सघ (Good-will Mission) दूसरे देश को प्रतिनिधि के रूप में भेजे जाते हैं। कहीं विश्व-भर के और कहीं केवल पूर्वीय अथवा पश्चिमीय देशों के वैज्ञानिकों का सम्मेलन होता हुआ रेडियो सुनाता है, और टेलीविजन घर बैठे दिखाता है, कहीं शिक्षा-मन्त्रियों, खाद्य-मन्त्रियों आदि की सभाएँ विश्व-सम्बन्धी प्रश्नों पर वार्तालाप करती हुई देखी जाती हैं। तात्पर्य यह है कि इस युग का जन-सम्पर्क

सामाजिक वर्गीकरण को मिटाने वाला तथा विश्व-प्रेम को उत्पन्न कर विश्व-ऐक्य की ओर ले जाने वाला विदित हो रहा है।

जनता के इस रुख मे सहयोग देने वाले राज्य-विभाग भी है। प्राय हर देश का राज्य अपने खर्चे से उपरोक्त प्रकार के सार्वभौम सम्मेलनो मे सम्मिलित होने के लिये अपने प्रतिनिधि भेजा करता है, जिस से वैदेशिक परिचय बढता है और विचार विनिमय से लाभ होता है। प्राय हर राज्य दूसरे राज्य के विद्यार्थियो को अपने देश मे शिक्षा-प्राप्ति के लिये अथवा विशेषज्ञ तैयार करने के लिये छात्र-वृत्तियाँ भी देता है, एव अपने ही विद्यार्थियो को छात्र-वृत्तियाँ देकर अन्य देशो मे विद्योपार्जन के हेतु भेजा करता है। इस तरह के विद्यार्थियो के द्वारा पारस्परिक सस्कृति के सम्मिलन और प्रेम की वृद्धि के लिये मार्ग खोले जाते है।

इतना ही नही, विश्व के राज्यो या जनता ने विश्व मे ऐक्य लाने के लिये विश्व-सम्बन्धी कुछ सस्थाएँ भी बना रखी है, जैसे—'यू० एन० ओ०' (United Nations Organization) और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court) तथा उन के अन्तर्गत ट्रस्टी कमेटी आदि-जैसी अन्य उप-सस्थाएँ। प्रथम विश्व-युद्ध से यह प्रकट हो चुका था कि विश्व मे जनतान्त्रिक तरीके से अथवा पारस्परिक वार्तालाप के द्वारा शान्ति कायम रखने के हेतु कुछ-न-कुछ उपाय किया जाय। परिणाम यह हुआ कि लीग आफ नेशन्स (League of Nations) का जन्म हुआ, परन्तु वह असफल सिद्ध हुई और दूसरे युद्ध को न रोक सकी। तब फिर द्वितीय युद्ध के समाप्त होने के बाद 'यू० एन० ओ०' की रचना हुई। यद्यपि यह सस्था भी दूध की धुली हुई नही है, तथापि उस से और उस के अन्तर्गत काम करने वाली उपसस्थाओ से यह अवश्य प्रतीत होता है कि जनरुख शान्ति, प्रेम, अहिंसा, ऐक्य की ओर है, न कि वर्गीकरण और सघर्ष की ओर। दलबन्दियो के कारण मन मे कुछ भी हो, पर मुँह से तो यू०एन० ओ० का हर सदस्य यह अवश्य ही कहता है कि मार्क्सवादियो (साम्यवादियो) का सघर्षमय जबरदस्ती का तरीका अच्छा नही, क्यो कि वह शान्ति, प्रेमादि का विच्छेदक होता है। जहाँ सिद्धान्त स्वीकार हो जाता है, तब वह कभी-न-कभी कार्यान्वित होता ही है। यही कारण है कि अहिंसा और प्रेम के सिद्धान्त को मान्यता देने वाले हिन्दुस्थान के प्रसिद्ध वर्तमान प्रधान मत्री नेहरू यू० एन० ओ० के दोषो को जानते हुए भी एक से अधिक बार उसपर अपना विश्वास प्रकट कर चुके है, बावजूद इसके कि हिन्दुस्थान के कुछ नेता लोग उन को उसका सग छोडने के लिये कई बार कह चुके है।

(११) एक ओर मार्क्सवाद के सिद्धान्त मे 'अप्रिय शत्रुत्व' का विग्रह-बीज है जैसा कि उपरोक्त न० १ मे बताया है, तो उसके विपरीत दूसरी ओर गाधीवाद के सिद्धान्त मे 'प्रिय शत्रुत्व' का सग्रह-बीज अन्तर्निहित है। गाधीवाद भारतीय सस्कृति

(८२) पिछले पाठों में दी हुई द्वन्द्वात्मक संघर्ष की बात का स्मरण कीजिये, और उसके फलस्वरूप मार्क्स के इस निर्णय पर विशेष ध्यान दीजिये कि पूँजीवाद ने स्वयं अपनी कब्र खोदना शुरू कर दी है। मार्क्स के कथन में वैज्ञानिक सत्यता है। इसी सत्य के अनुसार हमें यह प्रतीत हो रहा है कि हिंसा ने अपनी कब्र खोदना शुरू कर दी है, और अन्त में अहिंसा की ही विजय होकर रहेगी। यदि साम्यवादियों को साम्यवाद ही के प्रणेता मार्क्स के उपरोक्त निर्णय पर सन्देह हो, तो आइये एक दृष्टि इतिहास पर डाल लीजिये और देखिये, जन-रुख की धारा धीरे-धीरे किस ओर बढ़ती जा रही है। प्राचीन काल में आपसी मामलों को सुलझाने के लिये शरीर-बल का उद्भव हुआ, जो पशु-पक्षियों का आज भी साधन बना चला आ रहा है। मल्लयुद्ध, डुएल (Duel) आदि इस के ऐतिहासिक प्रमाण हैं। शरीर-बल के उदय के बाद वह ऊपर को मध्याह्न तपन की ओर बढ़ता गया और इस गति के समय अनेक छलों और कलों का आविष्कार हुआ। अस्त्र-शस्त्र-गोला-बारूद, एटम, हाइड्रोजन-बम, सैनिक-संगठन, जलयान, वायुयान, भूमि-जल-आकाश में पैशाचिक युद्ध-विद्या का विकास, इस गति के कुछ प्रमाण हैं। इसी दरम्यान जब हिंसा का ताप विकराल रूप धारण कर रहा था, तब जन-रुख के द्वारा अहिंसा ने उसके विरुद्ध अपना सिर उठाया। सब से पहले-पहल हिंसा के विरुद्ध चीखना-चिल्लाना आरम्भ हुआ, जिसे मार्जित भाषा में 'मौखिक आन्दोलन' कहते हैं। जब मौखिक आन्दोलन से कुछ होता हुआ न दिखाई दिया, तो जन-रुख ने सामूहिक रूप से प्रभाव डालने के लिये ट्रेड-यूनियन्स आदि का संगठन किया, तथा बायकाट-स्ट्राइक, पिकेटिंग आदि शारीरिक आन्दोलनों के द्वारा उसे योग दिया। इसके पश्चात् जब गांधी ने देखा कि इस प्रकार के आन्दोलन भी हिंसा को दबाने में असमर्थ होते हैं, तो उन्होंने उसका कारण ढूंढा और यह पाया कि वे देखने भर में अहिंसक प्रतीत होते हैं, पर यथार्थतः होते हैं हिंसक ही। तभी उन्होंने यह निर्णय किया कि ये हिंसात्मक आन्दोलन उनसे अधिक सबल हिंसा शक्तियों को कभी नहीं हरा सकते। हिंसा को हिंसा से दबाने के लिये हिंसा की उत्तरोत्तर वृद्धि करना अनिवार्य होता है, और यदि इसी पूर्व नीति को ही अपनाकर हिंसा दबाई जाती रही, तो संसार कभी सुखी नहीं हो सकेगा। क्यों कि हिंसा की मात्रा बढ़ती ही जायगी। अतः उन्होंने हिंसा को निष्फल बनाने के लिये नवीन शस्त्र 'शुद्ध अहिंसा' को प्रयोग में लाने की बात सुझाई और जनरुख को उस ओर खींचा। जब हिंसा को यह मालूम हुआ कि उसके विरुद्ध एक नवीन अचूक शस्त्र ढूंढा गया है, तो वह व्याकुलतावश अपनी छल-बल-कल युक्त पूर्व अनुभूतियों तथा नवीन आविष्कारों से सम्पन्न होकर अहिंसा को मार गिराने के लिये तैयार हुई, और यह निश्चय जानिए कि वह अन्त तक उसे क्षेत्र से भगाने में किसी प्रकार की कसर न उठा रखेगी। परन्तु मार्क्स के

द्वारा निर्धारित उपरोक्त प्राकृतिक विकास सिद्धान्त पर विचार करने मे हमे वा आप को यह मानना ही पडेगा कि हिंसा का अन्त हुए विना न रह सकेगा, समय उस मे चाहे जितना लग जाय और रुकावटे उस मे चाहे जितनी क्यो न आये। जव यह निश्चय है कि अहिंसा की विजय होने वाली है और जन रुख उस ओर ऐतिहासिक दृष्टि से और प्रत्यक्ष मे भी सगठित होता जा रहा है, तो फिर साम्यवादी (मार्क्सवादी) अपने आचार्यों की शीघ्र फल देनेवाली प्लेनिंग नीति का अनुपालन इस सम्बन्ध मे भी क्यो नही करते, कि अहिंसा की शीघ्र विजय हो जाय ?

(१३) यह एक साधारण ऐतिहासिक सत्य है कि जब कोई विशिष्ट नवीनता समाज मे प्रकट की जाती है, तो पहले तो लोग उस का मजाक उडाते हैं और फिर वही जन-प्रिय होने लगती हैं। गाधीजी का अहिंसात्मक सत्याग्रही तरीका एक अद्वितीय विशेषता है, यह हमारी समझ मे सभी लोग मानते हैं, चाहे वे पक्ष के हो या चाहे विपक्ष के। उसके विरोधी केवल अव्यावहारिक कह कर उसे उडा देना चाहते है, परन्तु गाधीजी ने अपने प्रयोगो द्वारा उसकी व्यावहारिकता अपने जीवन-काल मे सिद्ध करके वता दी है, और यही कारण है कि जन-रुख उस ओर वढ रहा है। गाधीजी ने हिन्दुस्थान को अपना प्रयोग-क्षेत्र वनाया था, इसलिये अव हिन्दुस्थान का उत्तरदायित्व है कि वह उस विशिष्टता को वेदाग रखे और उस का सचाई या ईमानदारी के साथ अनुपालन करता रहे। यदि ऐसा किया गया, तो यह निश्चय है कि जनता का खिचाव उस ओर अधिकाधिक वढेगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे हिन्दुस्थान आखिरकार आज इतना महत्त्व का स्थान क्यो पा रहा है, जव कि वह अन्य राष्ट्रो के सम्मुख अभी कल ही का वच्चा है। यह उस की वही मैत्रीपूर्ण अहिंसात्मक विशिष्टता है, जिस के कारण वह ख्याति-गगन मे ऊँचा उठ रहा है। गाधी से सीखी हुई उस की इस विशिष्ट नीति की ओर जन-रुचि की वढती धारा के कारण हम हिन्दुस्थान मे स्थित यूनाइटेड किंगडम के हाई कमिश्नर सर अलेक्जेन्डर क्लटरवक जैसे व्यक्ति को यह कहते सुनते है कि "दुनिया की आँखे हिन्दुस्थान पर लगी है, और वहुत-से देश कदाचित इतने ज्यादा हिन्दुस्थान के उस मार्ग से प्रोत्साहन और विश्वास प्राप्त कर रहे हैं, कि तुम सोच भी न पाये हो, जिस के द्वारा वह अपने मामलो का निपटारा कर रहा है।"[३६] यह कथन १० वर्ष पूर्व का है। तव से अव तक विश्व के इतिहास मे

---

३६ A B Patrika (All), 4-11-52 ("The eyes of the world are on India, and many countries—perhaps many more than you realise—are drawing inspiration and confidence from the way India is tackling her problems")

उसकी सत्यता अधिकाधिक प्रमाणित होती चली जा रही है। यदि हिन्दुस्थान के पचशील सिद्धान्त न अपनाये गये होते, तो विना रक्त-पात के न तो स्वेज-नहर-काड समाप्त होता न बर्लिन-समस्या ढीली पडती जाती, न शान्ति-सम्मेलनो (Peace Conventions) मे वृद्धि होती और न रूस अणुशक्ति मे प्रवल होने पर भी क्यूबा-सकट को टालने की सोचता। यदि हिन्दुस्थान की तटस्थ (Non-alignment) नीति निरर्थक सिद्ध होती, तो न साम्यवादी देश और न अन्यवादी देश चीन-हिन्दुस्थान-सघर्ष मे हिन्दुस्थान का साथ देते, और न जीतता हुआ कट्टर साम्यवादी चीन स्वत पीछे हटने का घोष करता।

हिन्दुस्थान के प्रति जो आशा सर अलेक्जेन्डर ने सन् १९५२ मे व्यक्त की थी, वह निरन्तर उत्तरोत्तर सत्य उतरती जा रही है। तव से अभी तक नौ-दस वर्षो का जो काल व्यतीत हुआ है, उस मे कुछ ऐसी विशिष्ट घटनाएँ घटी है, जिन के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के दोनो, साम्यवादी और जनतन्त्रवादी दलो मे शान्ति-प्रियता की दृष्टि से हिन्दुस्थान की ख्याति वढती जा रही है तथा दोनो दल उस की मैत्रीपूर्ण अहिंसात्मक नीति की ओर क्रमश आकृष्ट होते जाते है। नेटो (North Atlantic Treaty Organization), सीटो (South East Treaty Organization) तथा वगदाद आदि मे निर्मित गुटवन्दियो से अलग रह कर उसने जो तटस्थता की नीति अपनाई है, एव पचशील की नीति का विश्व के अनेक राष्ट्रो मे अलग-अलग, तथा वाण्डुग सम्मेलन (अप्रेल १९५५) के द्वारा प्रसार करके सशस्त्र युद्ध तथा (क्रोध-विद्वेषादि पर आधारित पारस्परिक गुर्राहट रूपी शीत-युद्ध की रोक-थाम करने मे जो योग दिया है, वह ससार की दृष्टि मे अत्यन्त सराहनीय सिद्ध हुआ है। स्टालीन कालिन लोह-आयरणी (Iron curtained) रूसी नीति को समाप्त कर सम्पर्क-वर्द्धन वाली नीति का रुस द्वारा अपनाये जाने का श्रेय यदि किसी वाहरी नीति को दिया जा सकता हे तो वह है, नेहरू की उपरोक्त वैदेशिक नीति। एक ओर साम्यवादियो की कट्टरता मे ढिलाव लाने का तथा दूसरी ओर जनतन्त्रवादियो की सकुचित उदारता मे हृदय-विशालता की प्रचुरता लाने का जो प्रयत्न हिन्दुस्थान कर रहा हे, वह किसी से छिपा हुआ नही हे। जव तक दोनो शक्तियो मे एकसमान स्तर पर खडी होकर एक दूसरे को परखने की क्षमता नही आयेगी, तव तक विश्व मे शान्ति की स्थापना होना सम्भव नही। यही हिन्दुस्थान अपने विचार और आचारो द्वारा कर रहा है। एक ओर यू० एन० ओ० के प्लेटफार्म पर अथवा अन्यत्र वह अपनी मैत्रीपूर्ण अहिंसात्मक नीति का तर्कों द्वारा समर्थन करता हे, तो दूसरी ओर कोरिया, कागो आदि मे जहाँ-जहाँ यू० एन० ओ० ने उस की सेना को शान्ति कायम रखने के लिये भेजा है, वहाँ-वहाँ अपनी अहिंसात्मक नीति का

प्रतिपालन करने मे सैनिको ने जो व्यवहार-कुशलता दिखाई है उस की प्रशंसा भी चहुँ-ओर से आई है। इसी नीति का परिणाम है कि पूर्वीय और पश्चिमी बर्लिन के कारण जो रूस और अमेरिका आदि पश्चिमीय तीन प्रधान शक्तियो के बीच जो कशमकश चल रही है, उसे शान्त करने के लिये दुनिया की दृष्टि नेहरू की मध्यस्थता की ओर लगी है।

ये हैं कुछ थोड़े से दृष्टान्त, जिन से हमे ज्ञात हो जाता है कि जनता की आन्तरिक गति किधर को झुक रही है। जब हम इन पर विचार करते है, तो हमारे सम्मुख वह दृश्य आ जाता है, जो एक रास्ता बन जाने के पूर्व हुआ करता है। रास्ता बन चुकने के पहले मार्गगामी अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर सीध बांधते हैं और कोई इधर से तो कोई उधर से चलता जाता है। अन्त मे पूर्वगामियो के ये ही गुप्त-प्रकट पद-चिन्ह एक निश्चित् प्रकट मार्ग को बना लेने मे समर्थ सिद्ध हो जाते है। यही मध्यस्थ भविष्य का दृश्य हमे दिखाई दे रहा है। प्रकाश-रश्मियां जो अभी अप्रकट हैं—छिपी हैं—बिखरी हैं—कभी गुप्त और कभी प्रकट रूप में संग्रह होती हुई निकटस्थ भविष्य के धुंधले बादलो को चीरती नजर आ रही है।

सुदूर भविष्य मे अहिंसक प्रधानात्मक पद्धति (Non-Violent Presidentships) का प्रखर प्रकाश—

जब हमने मध्यस्थ भविष्य का अनुमान लगा लिया तब उससे लगे हुए सुदूर भविष्य का अनुमान लगाना कुछ कठिन नहीं रह जाता। फिर भी एक कठिनता रह ही जाती है। समाज-जीवन अनेक युगो की परम्पराओ तथा अनेक गति-विधियों के प्रतिबिम्बो का सम्मिश्रित रूप रहता है, इसलिये किसी भी काल के सामाजिक जीवन के विषय मे यह कदापि नही कहा जा सकता कि वह अमुक काल केवल अमुक प्रकार की खालिस (अमिश्रित) पद्धति अपनाये हुए था। तब फिर गुण-विशेष की प्रधानता देखकर ही उसी के अनुरूप यह घोषित किया जाने लगता है कि अमुक काल मे अमुक पद्धति प्रचलित थी, या कि आधुनिक काल में प्रचलित है। इस बात को ध्यान मे रखकर ही पाठक हमारे इस अनुमान को पढे-समझे कि एक दिन ऐसा अवश्य आनेवाला है, जब समाज मे अहिंसात्मक प्रधानों (non-violent Presidents) की पद्धति का प्रसार होगा; क्यो कि वर्तमान समय मे जनता का रुख उस ओर झुका हुआ दिखाई दे रहा है और यह रुख निरा हाव-भाव वाला, निरा मनवाणी वाला ही नही है, वरन् अभ्यास रूप से यत्र-तत्र कार्यान्वित होता हुआ ठुमक-ठुमक संग्रह-पथ पर भविष्य की ओर जा रहा है।

अहिंसात्मक पद्धति का प्रसार होने मे अभी बहुत काल लगेगा। वह कोई ऐसी

निरी बाह्य घटनात्मक क्रिया तो है नहीं, जो बलाधिकार या शीघ्रगामी क्रान्ति के द्वारा अल्पकाल मे आ जाये। उस मे व्यक्तिवार मानसिक और हार्दिक परिवर्तन की आवश्यकता रहती है, जो किसी के दवाव से नही हो सकता। अपने आप को अपने ही नियंत्रण मे रख कर वह प्राप्त हो सकती है, जिस का अर्थ यह होता है कि हमारी यह आदत, जिस के कारण दूसरे के हुक्म को अपने आन्तरिक हुक्म की अपेक्षा अधिक मानते है, निकाल फेंकी जाय। यह अपनीवाली स्वनियंत्रित बात जब तक जीवन के हर क्षेत्र मे प्रकाशित न हो उठेगी, तब तक यह न कहा जा सकेगा कि समाज मे अहिंसात्मक स्वराज अथवा अहिंसात्मक जीवन-पद्धति है। इसमे पर्याप्त समय लगेगा और फिर भी कुछ-न-कुछ कहीं-न-कहीं खामियां रहेंगी। खामियां रहे और पद्धति सर्वव्याप्त भी न हो, तब भी जब कभी सामाजिक जीवन मे उस की प्रधानता आ गई, तो उसी को जनता अहिंसात्मक पद्धति कहने की अधिकारिणी हो जायेगी।

जब हम यह कहते है कि सुदूर भविष्य मे अहिंसा का राज्य होगा, तब उस का यह अर्थ नहीं होता कि संसार मे हिंसा ही न रहेगी। यह संसार द्वन्द्वात्मक है, इसलिये जब तक संसार अथवा सृष्टि है—और वह तो अनन्त ही है, तब तक यह तो कभी हो ही नही सकता कि संसार-क्षेत्र से हिंसा का सर्वनाश हो जाये। तब फिर अहिंसात्मक राज्य या पद्धति का इतना ही अर्थ हुआ कि अहिंसा हिंसा को अपने अधीन इस तरह बना कर रखेगी कि वह मानुषिक जीवन को विकारमय करने के लिये सू-चपेड न मार सकेगी। यही विजय का अर्थ होता है। जब कोई पक्ष अपनी सबलता के द्वारा विरोधी पक्ष को दवा देता है, तभी उसकी विजय हो जाती है। जिस प्रकार आज के समाज मे अहिंसा विद्यमान है, उसी प्रकार सुदूर भविष्य के समाज मे हिंसा रहेगी। केवल दोनो की स्थिति का तल्ला पलट जायेगा। आज जो हिंसा अहिंसा को दवा कर रखे है, वही जब केवल अहिंसा के द्वारा दवा दी जायगी, तब अहिंसात्मक पद्धति का साम्राज्य कहा जाने लगेगा। यही सुदूर भविष्य का दृश्य है, जो पूर्वोक्त 'डवल लैन्सवाले' आन्तरिक चश्मे के द्वारा हमारे आन्तरिक चक्षुओ मे प्रतिबिम्बित हो रहा है।

जो लोग परम्परागत हिंसात्मक पद्धति मे रचे-पचे है—और ऐसे ही लोगो की इस समय संख्या अधिकाधिक है—वे हमारे इस अनुमान को सुन कर सम्भवतः विश्वास न करे, परन्तु उन के सम्मुख पूर्व इतिहास पडा हुआ है। वे उसे उठा कर देखे, तो पता लग जायेगा कि वे भ्रम मे है। पद्धतियां बनाने मिटाने वाला तो समाज ही होता है। ऐसी पद्धतियां समाज मे बनती और मिटती रही है। तब फिर अहिंसात्मक पद्धति के आने मे अविश्वास क्यो हो? सन्देह पतन का मूल होता

है, और प्रयास उत्थान का, इसलिये कहा गया है "क्षुद्र हृदय दौर्बल्य त्यक्त्वोत्तिष्ठ परतप" अर्थात् हे परम तपस्वी कर्मवीर! अपने इस हृदय की निकृष्ट दुर्बलता को छोड और उठ।[३७]

अहिंसात्मक पद्धति का प्रचार हो जाने पर क्या समाज-व्यवस्था सचमुच ही ऐसी हो जायगी कि वह ट्रेड यूनियन्स जैसी समिति-सभाओ के रूप मे चलती रहेगी, जैसा कि मार्क्सवाद का कहना है, या कि वह ऐसी हो जायगी कि हर व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से इतना स्वनियन्त्रित हो जायगा कि विना किसी वाह्य हस्तक्षेप के समाज-सचालन होता रहेगा, जैसा कि गाधीवाद का कहना है? हमारे सामने सुदूर भविष्य का जो चित्र है, उस मे इन दोनो भावनाओ को स्थान दिया हुआ प्रतीत नही होता। व्यावहारिक दुनिया तथा सिद्धान्त दोनो को देखते हुए हमे उपरोक्त भावनाएं केवल काल्पनिक आदर्श दिखाई दे रही है। जब हम यह जान चुके कि सृष्टि मे, जिस का कभी अन्त होनेवाला नही है, सर्वत्र पूर्ण अहिंसा हो ही नही सकती, अर्थात् हिंसा भी किसी-न-किसी रूप मे अवश्य रहेगी, तब यह निश्चय ही है कि किसी-न-किसी को किसी प्रकार से हिंसा को दवा कर रखना पडेगा। यदि यह कहा जाय कि हर व्यक्ति मे उसे दवा कर रखने का सामर्थ्य रहेगा, तब तो हमारी समझ मे मार्क्स और गान्धी दोनो के विकास-सिद्धान्तो को ठेस पहुँचती है। मनुष्य-वर्ग ही की वात को ले लीजिये, तो आप को मालूम होगा कि उसी के अन्तर्गत विकास-मात्राएं भिन्न-भिन्न श्रेणी की रहती हैं, और सम्भवत आगे भी वनी रहेगी, इसलिए इन दृष्टि से ही वाह्य नियत्रण की आवश्यकता रहेगी, भले ही वह माता-पिता की प्रेम-मय यत्रणा के समान क्यो न हो। यदि यह मानने के लिये कहा जाय कि सर्वजन एक ही श्रेणी पर पहुँच जायेंगे, तो यह सृष्टि-विकास के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। सृष्टि-विकास का सिद्धान्त हमे यह वताता है कि जड पदार्थ से क्रमश चेतन पदार्थ वनते हैं, और फिर कोटि-कोटि श्रेणियो को पार करते हुए चेतन पदार्थ ही अन्त मे मनुष्य-योनि को प्राप्त कर सकते हैं। गौ को इसीलये गाधीजी ने मनुष्य-वर्ग की पूर्वगामिनी श्रेणी अथवा उपमानुषिक जगत् (Sub-human World)[३८] का प्रतीक कहा है और यह वताया है कि इसी सिद्धान्त पर प्रत्यक्षत पुनर्जन्म का महान् सिद्धान्त निर्भर है।[३९] ऐसी स्थिति मे मनुष्य-वर्ग मे सर्वप्रथम प्रविष्ट होने वाली कम विकसित जीवश्रेणी का विचार कीजिये और फिर उस के आगे होते जाने वाले

---

३७ गीता २।३

३८ Young India, 6-10-1921

३९ Young India, 20-10-1927

विकास-क्रम पर भी विचार कीजिये, तो स्पष्ट हो जायगा कि समाज को व्यवस्थित रखने के लिये कुछ-न-कुछ वाह्य नियन्त्रण हर समय रखना आवश्यक होगा। हाँ, समाज के विकासानुसार नियन्त्रण की मात्रा मे भेद अवश्य रहेगा।

यदि यही वात है, तो मन मे स्वाभाविकत यह प्रश्न उठता है कि अहिंसा-प्रधान सामाजिक पद्धति के काल मे समाज को चलाने के लिये सुदूर भविष्य मे किस प्रकार का वाह्य नियन्त्रण रहेगा। यह नियन्त्रण, हमारी अल्प मति के अनुसार, हर व्यवस्था मे—चाहे वह राजकीय हो या आर्थिक अथवा सामाजिक—कौटुम्बिक नियन्त्रण के समान होगा। कुटुम्ब का प्रधान जिस प्रकार सेवा, त्याग और प्रेम की भावनाओ से प्रेरित होकर कुटुम्ब का कार्य-भार सम्हालता है, उसी प्रकार समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो की व्यवस्थाएँ प्रधानो के हाथ मे होने जा रही है, ऐसा हमारी दृष्टि के सामने झूल रहा है। वर्तमान जन-मत और जन-कार्यो का वहाव इसी ओर है। जहाँ-जहाँ जनतन्त्रात्मक व्यवस्थाएँ चल रही है, वे इसी आधार पर आश्रित है, और जहाँ कही जनतन्त्रात्मक पद्धतिया नही है, वहाँ भी थोडी वहुत कमी-वेशी से इसी 'प्रधानवाली' प्रथा का आदर है, यह हम पूर्व पृष्ठो मे देख चुके है। यह प्रधान, प्रधान मन्त्री होगा या महासभाओ (पार्लमिन्ट, रिपब्लिक आदि) का प्रधान, इसके विषय मे भविष्य ही ठीक-ठीक वता सकेगा। आज तो यही दिखाई देता है कि यद्यपि व्यावहारिक समस्त कार्यो का उत्तरदायित्व प्रधान मन्त्री के हाथ मे रहता है, तथापि आरोप उस का अन्यत्र ही पार्लमिन्ट आदि के प्रधान पर दिया जाता है।

परन्तु आज के जो प्रधान है, वे यथार्थत कुटुम्ब के प्रधानो से वहुत भिन्न है। अभी उन मे न तो उस प्रेम की भावना आई है, और न उस सेवा, त्याग या समद्रष्टा की जो कुटुम्ब के मुखिया मे रहती है, इसलिये सुदूर-भविष्य तक पहुँचते-पहुँचते इस प्रधान पद की इस ओर विकसित होने की सम्भावना है। एक कमी इस प्रधान पद मे और है। विधान और सिद्धान्त की दृष्टि से जो प्रधान जनता का अहितकर हो, वह अपने प्रधानपद से चाहे जव हटाया जा सकता है, और रिक्त स्थान पर दूसरा प्रधान आरूढ किया जा सकता है, परन्तु व्यवहार मे वह पूर्णत जन-मत के अधीन नही रहता। इसके विपरीत कुटुम्ब का प्रधान यदि अयोग्य सिद्ध होता है, तो उसके हाथ से कार्य-भार लेकर कुटुम्ब के किसी दूसरे योग्य व्यक्ति के हाथ मे दे देते है, इसलिये वहाँ व्यावहारिक दृष्टि की ही प्रधानता रहती है और यहाँ सामाजिक व्यवस्थाओ मे विधान और सिद्धान्त पर ही लडा-भिडा करते है। चाहिये यह कि हमारे समाज के प्रधान, कौटुम्बिक प्रधान के समान ऐसे वूढे-स्याने हो, जिन्हे दुनियादारी का अनुभव हो और जिन मे यह क्षमता हो कि अपने सुख-भोग का त्याग जन-सुख-भोग के हेतु सहर्ष और सप्रेम करते हुए गाधी या विनोवा-जैसा

जीवन व्यतीत करें। जीवन की वर्तमान भौतिक प्रधानता पर भी यदि दृष्टि डाली जाय, तो भी यही प्रतीत होता है कि समाज कुछ काल तक अध्यात्मगति अथवा नीति-प्रधान-गति की ओर अवश्य बढेगा, जिसमे उक्त प्रकार का विकास होना कोई असम्भव नहीं है। जब मुद्रा-मूल्य (money-value) या अधिकार-मूल्य (power-value) के स्थान में सेवा-मूल्य (service-value) के आधार पर समाज का संचालन होने लगेगा, तभी हम आदर्श प्रधान मिल सकेंगे।

इसके लिये सुदूर भविष्य के नेत्र हिन्दुस्थान पर गड़े हुए हैं। वहाँ से कुछ-कुछ आशा-किरणें चमकती हुई दिखाई दे रही हैं। उसकी पूर्व संस्कृति ही ऐसी है कि सेवा-मूल्य पर आधारित समाज बनाया जा सकता है। वह गांधी की प्रयोग-शाला और तप-भूमि भी है, जहाँ पर अभी तक उन्होंने अपने विशिष्ट कारनामों के द्वारा वहाँ की जनता को सेवा-भाव पर जीना सिखाया है। वह अभी भी गांधी के तपे हुए कुछ सेवकों के हाथ मे है, जो प्रेम, अहिंसा और सेवा-भाव की नीति को पकड़े हुए समाज के विभिन्न विभागों मे व्यवहार-रूप से उस का प्रसार करने में लगे हैं, हालाँ कि वे उस नीति का प्रतिपालन करने मे गांधी से बहुत पीछे हैं। इन सब बातों को देख कर हमें दिखता है कि हिन्दुस्थान, यदि संसार के लड़ाकू कुचक्र से अपने-आप को बचा कर रख सका, तो विकास-गति को सुदूर भविष्य तक बढ़ायेगा और जग-समाज के अन्य विभागों अथवा राज्यों या राष्ट्रों में मान पायेगा। हमें दिखता है कि वह भविष्य का कर्णधार होगा और दुनिया की दृष्टि को पश्चिम से पूर्व की ओर आकर्षित कर अपने वक्षस्थल मे केन्द्रित करेगा। यह सब इस कारण नहीं कि वह प्रचलित जंगली तरीकों को अपना कर सबल बन रहा है, बल्कि इसलिये कि उस के हृदय में सब परतन्त्रों वा पद-दलितों के लिये दर्द है, और उस ने भौतिक मामलों को भी निबटाने के लिये विनम्र अहिंसात्मक साधनों के मार्ग को ग्रहण कर रखा है; जिस के कारण उस के प्रति जगत् के जनसाधारण का स्नेह बढ़ रहा है। इस सम्बन्ध मे दृष्टान्त-स्वरूप अध्यात्म-पुनर्गठन-गति (Moral Rearmament Movement) के प्रवर्त्तक, कोलम्बो के ७३ वर्षीय अनुभवी डा० फ्रेंक बुचमैन के अभी हाल मे कहे हुए वे शब्द उल्लेखनीय हैं, जिन का तात्पर्य यह है कि दुनिया की वर्तमान मुठभेड़ को सुलझानेवाला हिन्दुस्थान ही होगा।

यदि हम यह कहें कि यह प्रधान-पद्धति वही पद्धति है, जिस का प्रतिपादन भरतखण्ड (हिन्दुस्थान) के निवासियों ने वैदिककाल ही में कर डाला था और जिस का सम्बोधन वे राजा अथवा धर्मराज आदि शब्दों के द्वारा करते थे, तो आप

---

४०. A B Patrika (All), 10-11-52

हम से, यह कह कर नाराज हो उठेंगे कि बडी कठिनाई से तो राज्य-पद्धति और राज्य का पिंड छुड़ाया जा रहा है और आप फिर उसी की तान छेड़ने लगे। नाराज होने की इस मे कोई बात नहीं है। आप शब्द से प्रभावित होकर उखाड़-पछाड़ करते है, हम भाव को लेकर चर्चा करते है। आप ऐतिहासिक तथा परम्परागत परिवर्तनो के कारण राजा की बढ़ी हुई निरकुशता (absolutism) और पुश्तैनी राज-गद्दी (heredity) का खयाल करके उस प्रथा को विषमूल-सी देखते है; हम उस का निर्माण करने वाले मूल-भाव को ही ग्रहण कर उस की प्रशंसा करते है। इसी विचार से हमारी समझ मे गाधीजी ने परहितेच्छु राजा (benevolent ruler) को राज्य करने मे कोई हानि नही समझी, क्योकि जो परहितेच्छु होता है, वह दयालु, प्रेमी, और सेवक भी होता है। यदि पूर्वकालीन आदर्श का प्रमाण-सिद्ध परहितेच्छु पुरुष राज्याधिकारी बनाया जाय, और वह जनमत के वशीभूत रहकर चाहे जब अधिकार-च्युत किया जा सके, एव राज्याधिकार पुश्तैनी (heredity) पर आधारित न रहे, तो फिर चाहे वह राजा कहावे या प्रधान, उससे कुछ बिगड़ता नही; परन्तु जब राजा शब्द कलंकित दुर्गुणो का प्रतीक बन गया है, तो हम भी आप के साथ ऐसे दुर्गुण-स्मारक शब्द को तिलांजलि देकर उसी जनतन्त्र-स्मारक और लोकप्रिय 'प्रधान' शब्द का प्रयोग क्यो न करे, जो मत्स्यादि भारतीय दर्शनो मे प्राचीनकाल से ही उस त्रिगुणात्मक सर्वव्यापक प्राकृतिक अभिव्यक्त शक्ति का द्योतक रहा है, जो सृष्टि के अनेकत्व को एकत्व से बाँधकर रखती है।

इन प्रधानात्मक समाज मे, जहाँ देखो वहाँ हर व्यवस्था का सचालन उसके प्रधान के हाथ मे रहेगा। कही विश्वसघ (World Federation) की दृष्टि से 'महामहाप्रधान', कही राष्ट्र की दृष्टि से 'राष्ट्र-प्रधान', कही राज्य-सघ (States Union) की दृष्टि से 'सघ-प्रधान', और उस के अवयव राज्य की दृष्टि से 'राज्य-प्रधान' और कही 'सर्व प्रधान' कही 'उप प्रधान' आदि उपाधियो से विभूपित अनेक की सख्या से सारे विश्व का समाज भर उठेगा। चूं कि मत्री केवल कार्य-सचालक होता है, न कि अधिपति, इसलिये सारी सत्ता, हमारी समझ मे क्रमश प्रधान मन्त्रियो के हाथ से खिचकर नेशनल असेम्बली, रिपब्लिक आदि के प्रधानो के हाथ मे सिमट आयेगी, जिस का एक नवीन दृष्टान्त हमे आज ही के समाचार-पत्र मे, जब कि हम इस लेख को लिख रहे है, पढने को मिल गया। यूगोस्लाविया मे एक नया राज्य-विधान तैयार किया गया है, जो इसी वर्ष सन् १९५२ के समाप्त होने के पूर्व नेशनल असेम्बली के सामने पेश किया जानेवाला है। उसके अनुसार यद्यपि समस्त शासन-सत्ता (administrative authority) का आरोप युगोस्लेव नेशनल असेम्बली पर रहेगा, तथापि रिपब्लिक का प्रेसिडेन्ट और नेशनल

असेम्बली की 'प्रेसीडियम' का प्रेसीडेन्ट, अर्थात् प्रधान सर्वोच्च कार्य-निर्वाहक (Executive Heads) रहेंगे। राज्य-मंत्री और उपमंत्री लोग राज्य के स्थिर कर्मचारी (Permanent Officials) होंगे और वे पार्लिमेन्ट की सदस्यता के लिये चुनाव न लड सकेंगे।"[४१] यह प्रधानात्मक प्रथा उस लता के समान है, जो किसी वृक्ष का आश्रय लेकर पनपती है। वह जनतंत्र का आश्रय लेकर उत्पन्न हुई, और उसी के आधार पर पुष्पित होकर अपनी लोक-प्रियता बनाये रखती है। तभी तो उस की ओर से पार्लिमेन्ट, नेशनल असेम्बली, रिपब्लिक, जन-महासभा, संसद आदि की दुहाई दी जाती है और उस दुहाई की ओट लेकर ही वह जीवित रहती है, इसलिये आधुनिक दृष्टिकोण से जब से जनतन्त्र ने साम्राज्य के विरुद्ध सिर ऊँचा किया है, तब से प्रधान प्रथा का उत्पत्ति काल माना जाय, तो अनुचित न होगा। इस दृष्टि से हमारी अल्पमति के अनुसार इस का उदयकाल १८वी शताब्दी का अन्तिम चरण—जब कि फ्रांस की क्रान्ति सन् १७८९ मे प्रारम्भ हुई—कहा जा सकता है, परन्तु उस समय वह केवल राजकीय क्षेत्र की एक अल्प-जीवित चिनगारी मात्र थी। उसके बाद अनेक चिनगारियाँ उठी और बुझी। क्रमश उन का रूप बढा और उस के क्षेत्रों का भी विस्तार हुआ। पूंजीपति-प्रथा के साथ ही उसने भी चुपके-चुपके अपना घर अर्थ-क्षेत्र मे बनाना प्रारम्भ किया। अन्त मे मैनेजेरियल (प्रबन्धक) पद्धति के काल से वह अपना उत्साह और प्रभाव स्पष्ट करने मे लगी है, और यह विश्वास है कि वह इसी व्यूह-चक्र के अन्दर सुरक्षित रह कर सारी शक्ति अपने-आप मे केन्द्रित रखेगी।

---

४१ A. B Patrika, (All) 8-11-52

दसवें अध्याय का

परिशिष्ट (१)

*"Testimonies by Eminent men"

"The following extracts from Mr Alfred Webb's valuable collection, if the testimony given therein be true, show that the ancient Indian civilisation has little to learn from the modern -

Victor Cousin

(1792-1867) *Founder of Systematic Electicism in Philosophy*

"On the other hand when we read with attention the poetical and philosophical movements of the East, above all, those of India, which are beginning to spread in Europe, we discover there so many truths, and truths so profound, and which make such a contrast with the meanness of the results at which the European genius has sometimes stopped, that we are constrained to bend the knee before that of the East, and to see in the cradle of the human race the native land of the highest philosophy "

J. Seymour Keay' M. P.

Banker in India and India Agent

(*Writing in* 1883)

"It cannot be too well understood that our position in India has never been in any degree that of civilians bringing civilisation to savage races When we landed in India we found there a hoary civilisation, which during the progress of thousands of years, had fitted itself into the character and

adjusted itself to the wants of highly intellectual races The civilisation was not perfunctory, but universal and all-pervading—furnishing the country not only with Political systems but with social and domestic institutions of the most ramified description The beneficient nature of these institutions as a whole may be judged of from their effects on the character of the Hindu race Perhaps there are no other people in the world who (have) so much in their characters the advantageous effects of their own civilisation They are shrewd in business, acute in reasoning, thrifty, religious, sober, charitable, obedient to parents, reverential to old age, amiable, law-abiding, compassionate towards the helpless, and patient under suffering"

Friedrich Max Muelier' L L D

"If I was to ask myself from what literature we here in Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans, and of one semetic race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact more truly human, a life not for this life only, but a transfigured and eternal life—again I should point to India"

Colonel Thomas Munro

Thirty-two years service in India

"If a good system of agriculture, unrivalled manufacturing skill, a capacity to produce whatever can contribute to convenience or luxury, schools established in every village, for teaching, reading, writing and arithmetic, the general practice of hospitality and charity among each other, and, above all a treatment of the female sex, full of confidence, respect and delicacy, are among the signs which denote a civilised people, then the Hindoos are

not inferior to the Nations of Europe, and if civilisation is to become an article of trade between the two countries, I am convinced that this country (England) will gain by the import cargo"

Frederick Von Schlegel

"It cannot be denied that the early Indians possessed a knowledge of the true God, all their writings are replete with sentiments and expressions, noble, clear and severely grand, as deeply conceived and reverently expressed as in any human language in which men have spoken of their God Among nations possessing indigenous philosophy and metaphysics, together with an innate relish for these pursuits, such as at present charactecterises Germany, and in, olden times, was the proud distinction of Greace Hindustan holds the first rank in point of time"

Sir William Wedderburn' Bart

"The Indian village has thus for centuries remained a bulwark against political disorder, and the home of the simple domestic and social virtues No wonder, therefore, that philosophers and historians have always dwelt lovingly on this ancient institution which is the natural social unit and the best type of rural life, self-contained, industrious, peace-loving, conservative in the best sense of the word I think you will agree with me that there is much that is both picturesque and attractive in this glimpse of social and domestic life in an Indian village It is a harmless and happy form of human existence Moreover, it is not without good practical outcome"

J J Young

Secretary, Saxon Mechanics Institutes

(Within recent years)

"Those races (the Indian viewed from a moral aspect) are

perhaps the most remarkable people in the world They breath an atmosphere of moral purity, which cannot but excite admiration, and this is especially the case with the poorer classes, who not withstanding the privations of their humble lot, appear to be happy and contented True children of Nature, they live on from day to day, taking no thought of to-morrow and thankful for the simple fare which Providence has provided for them It is curious to witness the spectacle of coolies of both sexes returning home at night-fall after a hard day's work often lasting from sunrise to sunset In spite of fatigue from the effects of the unremitting toil, they are, for the most part, gay and animated, conversing cheerfylly together and occasionally breaking into snatches of light-hearted song Yet what awaits them on their return to the hovels which they call home ? A dish of rice for food, and the floor for a bed Domestic felicity appears to be the rule among the Natives, and this is the more strange when the customs of marriage are taken into account, parents arranging all such matters Many Indian households afford examples of the married state in its highest degree of perfection This may be due to the teachings of the Shastras, and to the strict injunctions which they inculcate with regard to marital obligations, but it is no exaggeration to say that husbands are generally devotedly attached to their wives, and in many instances the latter have the most exalted conception of their duties towards their husbands"

Abbe J A Dubois

Missionary in Mysore, Extracts from letter dated Seringapatam
15*th December,* 1820

"The authority married women (have) within their houses is chiefly exerted in preserving good order and peace among the person who compose their families, and a great many among them discharge this important duty with a prudence and a discretion

"Mr Gandhi then quoted Shelley's great lines from the 'Mask of Anarchy', lines which should be far better known than they are

"Stand ye calm and resolute,
Like a forest close and mute,
With folded arms and looks which are
Weapons of unvanquished War
"And if then the tyrants dare,
Let them ride among you there,
Slash, and stab, and maim and hew—
What they like, that let them do
With folded arms and steady eyes,
And little fear, and less surprise,
Look upon them as they slay,
Till their rage has died away
"Then they will return with shame
To the place from which they came,
And the blood thus shed will speak
In hot blushes on their cheek
"Rise like lions after slumber
In unvanquishable number—
Shake your chains to earth, like dew
Which in sleep has fallen on you—
Ye are many, they are few,"

From Mahatma Gandhi (edited by Sir Radha Krishnan) P 146

दसवें अध्याय का

परिशिष्ट (२)

आश्रमवासियो के मूल नियम

गान्धीजी द्वारा स्थापित आश्रमो के कार्यक्रमो एव उन के द्वारा कथित

तत्सम्बन्धी विवरणो के आधार पर लेखक ने स्वय निम्नलिखित नियमो को अपनी भाषा मे बद्ध किया है। समस्त आश्रमो के कार्य-क्रमो मे मूलत समयानुकूल यही नियम अन्तर्निहित थे।

(१) **शारीरिक श्रम की प्रधानता**—हर आश्रमवासी को नियमित शारीरिक श्रम करना अनिवार्य था। अपनी रोजी उपार्जन करना और सफाई रखना हर एक का कर्त्तव्य था। भोजन बनाने से लेकर पाखाना सफाई तक सब को अपने हाथ से करना पडता था। व्यावसायिक श्रम, जैसे चमारी, बढईगीरी, कृषि, बागबानी इत्यादि इसी शारीरिक श्रम के अन्तर्गत आ जाते है। बौद्धिक या आत्मिक क्षेत्र मे पारागत लोग भी इस शारीरिक श्रम से बरी नही रह सकते थे।

(२) **सादा जीवन**—हर एक आश्रमवासी को सादा रहन-सहन और खाना-पीना रखना पडता था।

(३) **आश्रमवासियो मे अभेद**—आश्रम के ध्येय को पालन करने वाला कोई भी मनुष्य आश्रमवासी बन सकता था। कोई आश्रमवासी किसी दूसरे के प्रति भेद-भाव नही रख सकता था। रग-भेद, देश-भेद, कौम-भेद, जाति-भेद, सम्प्रदाय या धर्म-भेद अथवा छुआछूत भेद—किसी भी प्रकार का भेद-भाव किसी भी आश्रम-वासी के पास नही खटक पा सकता था।

(४) **प्रेम और सहयोग**—हर प्रकार की दिनचर्या मे हर आश्रमवासी को एक दूसरे के प्रति वही प्रेम और सहयोग वर्तना आवश्यक था, जो किसी कुटुम्ब या परिवार के लोगो मे पाया जाता है।

(५) **शिक्षण**—शिक्षक का प्रेम और आचार ही, न कि भय और पुस्तकीय ज्ञान, शिष्यो के शिक्षण का आधार बना कर रखा था, जिस से न केवल अक्षर-ज्ञान अथवा बौद्धिक वृद्धि ही होती थी, वरन् शारीरिक-शिक्षा और आत्मिक-विकास, *अर्थात् चरित्र-निर्माण भी होता था।* शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत शारीरिक श्रम और शारीरिक व्यवसायो का भी समावेश हो जाता है। टाल्सटाय-आश्रम मे बालक-बालिकाओ को शिक्षा देने का भार गाधीजी ने स्वय अपने ऊपर, कुटुम्ब के एक पिता की नाईं ले रखा था।

(६) **स्वदेशी और स्वराज पर जोर**—हर आश्रमवासी को ऐसे साधनो पर ध्यान रखना आवश्यक था, जिन से मशीनरी की ओर अरुचि, और स्वदेशी की ओर रुचि की वृद्धि हो, एव आत्म-नियत्रण के द्वारा स्वराज-स्थापना के लिये मार्ग खुलता जाय।

(७) **रचनात्मक कार्य**—समाज के समस्त अगो को सम्पन्न बनाने के लिये हर आश्रमवासी को रचनात्मक योजनाओ के कार्य-श्रम मे भाग-लेना आवश्यक था।

दसवें अध्याय का

परिशिष्ट (३)

सत्याग्रही की नियमावली (सन् १९३० मे बनाई गई)

"सत्याग्रह का अर्थ है—सत्य का आग्रह। इस तरह के व्यापक आग्रह के समय स्वजन या परजन, बालक या बूढे, स्त्री या पुरुष का कोई भेद नही रहता। यानी किसी के सामने 'शारीरिक बल' का प्रयोग किया ही नही जा सकता। अतएव, जो बल बाकी बचा रहता है वह—अहिंसा का—प्रेम का बल ही हो सकता है। इस बल का दूसरा नाम आत्मबल है। इसी विचार-श्रेणी मे से असहयोग, सविनय आज्ञा-भग इत्यादि उत्पन्न हुए है।

जो लोग सत्याग्रह की इस उत्पत्ति को याद रखेंगे, वे सहज ही नीचे लिखे नियमो को समझ सकेंगे—

१ सत्याग्रही किसी पर गुस्सा न होगा।

२ वह विरोधी का गुस्सा सह लेगा।

३ गुस्सा सहने के साथ ही वह विरोधी की मार भी सह लेगा, पर उसे कभी नही मारेगा, और गुस्से मे वह जो उचित या अनुचित आज्ञा करेगा, उसका भी मारपीट के या किसी दूसरे डर से पालन नही करेगा।

४ सिपाही जब गिरफ्तार करने आये, तो खुशी-खुशी गिरफ्तार हो जायेगा। अपनी जायदाद जब्त करने आये, तो खुशी-खुशी उसे दे डालेगा।

५. दूसरे की जायदाद अगर अपनी हिफाजत मे होगी, तो मरते दम तक उस की रक्षा करेगा, मगर कब्जा करने के लिये आने वाले को नही मारेगा।

६ नही मारने का मतलब गाली भी नही देना है।

७. फलत सत्याग्रही विरोधी का अपमान नही करेगा। आजकल के अनेक प्रचलित नारे या आवाजे हिंसक है, अत सत्याग्रही के लिये वे सर्वथा त्याज्य है।

८ सत्याग्रही अग्रेजी झडे (यूनियन जैक) की सलामी नही उतारेगा, पर उस का अपमान भी नही करेगा। अधिकारी का या किसी अग्रेज का भी वह अपमान नही करेगा।

९ लडाई के समय यदि कोई किसी अग्रेज का या सरकारी अधिकारी का अपमान करे या उस पर हमला करे, तो सत्याग्रही अपनी जान को खतरे मे डालकर भी उस की रक्षा करेगा।

जेल जीवन के बारे मे

१० कैद होने पर सत्याग्रही जेल के उन सब नियमो का पालन करेगा, जिन से उस के स्वाभिमान को धक्का नही पहुँचता। वह अधिकारियो के प्रति भी विवेक-पूर्ण वर्ताव रखेगा। मसलन, साधारणत वह अधिकारी को सलाम करेगा, लेकिन अगर नाक रगडने को कहा जायगा, तो नही रगडेगा। वह 'सरकार की जय बोलो' नही कहेगा। वह जेल मे ऐसा भोजन करेगा, जो अच्छा हो और जिस मे उसे कोई धार्मिक आपत्ति भी न हो, पर कचरेवाला, सडा हुआ, मैले बरतन मे परोसा हुआ या अपमानपूर्वक दिया हुआ भोजन वह नही करेगा।

११ सत्याग्रही खूनी कैदी के और अपने बीच मे कोई भेद-भाव नही पैदा करेगा, इसलिये वह अपने को उससे उच्च समझकर या कह कर अपने लिये खास सहूलियते नही चाहेगा, पर शरीर या आत्मा की आवश्यकता के लिये जरूरी सहूलियते मागने का उसे अधिकार होगा।

१२ जिन सहूलियतो के न मिलने से स्वाभिमान को धक्का नही पहुँचता है, उन के लिये सत्याग्रही उपवास वगैरह नही करेगा।

दल के बारे मे

१३ सत्याग्रही अपने दल के सरदार की तमाम आज्ञाओ का, चाहे वे उसे पसन्द हो या न हो, खुशी-खुशी पालन करेगा।

१४ हुक्म के अपमानजनक, द्वेप-पूर्ण अथवा मूर्खता-पूर्ण प्रतीत होने पर भी उसका पालन करने के बाद ही वह सरदार से उसकी शिकायत करेगा। सत्याग्रही को दल मे शामिल होने से पहले शामिल होने की योग्यता का विचार कर लेने का अधिकार है। एक बार शामिल हो जाने पर दल के कडुए और मीठे, सख्त और नरम सब नियमो का तथा उस के अनुशासन का पालन करना धर्म हो पडता है। दल के समग्र व्यवहार मे अनीति मालूम हो, तो सत्याग्रही दल से इस्तीफा दे सकता है, किन्तु दल मे रह कर नियम तोडने का उसे अधिकार नही है।

१५ किसी भी सत्याग्रही को किसी की तरफ से अपने ऊपर आधार रखने-वालो के भरण-पोषण की आशा नही रखनी चाहिये। अगर किसी के लिये कोई इन्तजाम हो सके, तो उसे अनायास प्राप्त बात समझना चाहिये, अन्यथा सत्याग्रही तो अपने को और अपने आश्रितो को ईश्वर की शरण मे छोड देगा। शरीर-बल या हथियारो से लडे जाने वाले युद्ध मे भी, जहाँ लाखो एक साथ लडते है, कोई किसी के ऊपर आधार नही रखता, तो फिर सत्याग्रही युद्ध के बारे मे तो पूछना ही क्या

था ? सार्वभौम यानी सारे ससार का अब तक यही अनुभव है कि ऐसो को ईश्वर ने भूखो नही मरने दिया है।

कौमी लडाई के बारे मे

१६ सत्याग्रही जान-बूझ कर कौमी कलह या लडाई का कारण कभी नही बनेगा।

१७ कौमी लडाई के छिडने पर वह किसी कौम की तरफदारी नही करेगा। न्याय जिस की ओर होगा, वह उसी की मदद करेगा। अगर स्वय हिन्दू होगा, तो मुसलमान वगैरह कौमो के प्रति वह उदारता से पेश आयेगा और हिन्दुओ के आक्रमण से उन की रक्षा करते हुए मर मिटेगा। अगर मुसलमान वगैरह हिन्दू पर हमला करते होगे, तो उस से हिन्दू की रक्षा करते हुए वह अपनी जान दे डालेगा, लेकिन विरोध मे किये गये हमले मे कभी शामिल नही होगा।

१८ कौमी झगडो को पैदा करने वाले अवसरो से वह जहाँ तक हो सकेगा, बचेगा।

१९ अगर सत्याग्रही कोई जुलूस निकालेगा, तो ऐसा कोई काम न होने देगा, जिस से किसी भी कौम के धार्मिक-भावो को चोट पहुँचे। और वह दूसरो के जुलूस मे शामिल नही होगा, जिस से किसी कौम के धार्मिक भावो पर आघात पहुँचता हो।

(नवजीवन) मोहनदास करमचन्द गाधी"

हिन्दी नवजीवन ता० २७-२-१९३० पृ० २२४ से उद्धृत यह नोट पाठक यह ध्यान मे रखकर पढे कि सन् १९३० मे जब यह नियमावली तैयार की गई थी, तब हिन्दुस्तान अंग्रेज सरकार के अधीन था और हिन्दू-मुसलिम के बीच कौमी प्रश्नो का झगडा रहता था।

दसवे अध्याय का

परिशिष्ट (४)

हिन्दुस्तान का रचनात्मक कार्यक्रम

"The constructive programme in India is essentially village work The eighteen items which Gandhiji included in the programme were indispensable for the emancipation of the nation through non-violence These items are

1 Communal unity, (साम्प्रदायिक एकत्व)
2 Removal of untouchability, (छुआछूत का मिटाना)
3 Prohibition, (मादक पदार्थों का निषेध)
4 Khadi, (खादी)
5 Other village industries, (अन्य ग्रामोद्योग)
6 New or basic education, (नई या बुनियादी शिक्षा)
7 Adult education, (प्रौढ शिक्षा)
8 Village sanitation, (ग्रामो की स्वच्छता)
9 Service of backward tribes, (पिछडी हुई जातियो की सेवा)
10 Uplift of women, (नारी वर्ग का उत्थान)
11 Education in hygiene and health, (स्वच्छता और स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा)
12 Propagation of Rashtrabhasha, (राष्ट्रभाषा का प्रचार)
13 Love of one's language, (मातृ-भाषाओ का प्रेम)
14 Working for economic equality, (आर्थिक साम्य के हेतु कार्य करना)
15-17 Organization of Kisans, labour and students, (किसान, श्रमिक और विद्यार्थियो का सगठन)
18 Nature Cure (प्राकृतिक चिकित्सा)

From the Political Philosophy of Mahatma Gandhi by Gopinath Dhawan, P 220 (Navajivan Publishing House, Ahmedabad, Second edition, 1951)

[हिन्दी-अनुवाद मेरा है—लेखक]

दसवे अध्याय का

परिशिष्ट (५)

सन् १९२१ मे गाधीजी द्वारा तैयार किया हुआ स्वय-सेवक का प्रतिज्ञापत्र (Volunteer's Pledge)

"ईश्वर को साक्षी करके दृढ-सकल्प हो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि,

(१) मै राष्ट्रीय स्वयसेवक-दल का सदस्य होना चाहता हूँ।

(२) जब तक दल का सदस्य रहूँगा, तब तक मैं वचन और कर्म से अहिंसक

(Non-violent) रहूँगा और मन से अहिंसक होने के लिये लगनपूर्वक प्रयत्न करूँगा, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जिन परिस्थितियों में हिन्दुस्थान है, केवल अहिंसा ही खिलाफत और पंजाब को सहायता पहुँचा सकती है और स्वराज्य-प्राप्ति एवं हिन्दुस्तान की समस्त कौमों और जातियों (races and communities) में, चाहे हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख, पारसी, ईसाई या यहूदी हों, एकत्व का गठबन्धन करा सकती है।

(३) मुझे ऐसे एकत्व में विश्वास है, और उसे बढ़ाने के लिये सदा प्रयत्न करूँगा।

(४) मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान के आर्थिक, राजनैतिक और आत्मिक उद्धार के लिये 'स्वदेशी' आवश्यक है, और सब प्रकार के कपड़ों को त्याग कर हाथ के बने खद्दर का उपयोग करूँगा।

(५) हिन्दू के नाते मेरा विश्वास है कि अस्पृश्यता का दोष-निवारण न्याय्य और आवश्यक है और हर सम्भावित अवसरों पर मैं डूबे हुए (Submerged) वर्गों के साथ व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क करने की तलाश में रहूँगा और उनकी सेवा करने के लिये चेष्टाएं करूँगा।

(६) मैं अपने उच्चाधिकारियों (Superior officers) की आज्ञाओं तथा उन सब नियमों का पालन करूँगा, जिन का स्वयं-सेवक-बोर्ड या कार्य-कारिणी समिति अथवा कांग्रेस द्वारा स्थापित अन्य कोई दूसरी संस्था (agency) इस दृष्टि से निर्माण करे कि वे इस प्रतिज्ञा के मर्म (spirit) के प्रतिकूल न हों।

(७) मैं अपने धर्म तथा देश के हेतु बिना क्रोध लाये (without resentment) जेल जाने तथा आघात और मृत्यु तक को भोगने के लिये तत्पर हूँ।

(८) मेरे जेल जाने की हालत में मैं अपने कुटुम्ब और आश्रितों के लिये कांग्रेस से कोई सहायता नहीं मांगूगा।

(श्री जी० धवन कृत The Political Philosophy of Mahatma Gandhi के पृ० २३७ पर अंग्रेजी में दिये प्रतिज्ञा-पत्र का यह हिन्दी अनुवाद मैंने किया है—लेखक।)

दसवें अध्याय का

परिशिष्ट (६)

कांग्रेस के विधान का नया मसविदा जो गांधीजी का आखिरी वसीयतनामा कहा जाता है।

"देश का बटवारा होते हुए भी, हिन्दी (Indian) राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा

तैयार किये गये साधनों के जरिये हिन्दुस्तान को आजादी मिलने के कारण मौजूदा स्वरूप वाली कांग्रेस का काम जब खत्म हुआ, यानी प्रचार के वाहन और धारा-सभा की प्रवृत्ति चलाने वाले तंत्र के नाते उस की उपयोगिता अब समाप्त हो गई है। शहरों और कस्बों से भिन्न उस के सात लाख गांवों की दृष्टि से हिन्दुस्तान की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है। लोकशाही मकसद की तरफ हिन्दुस्तान की प्रगति के दरमियान फौजी सत्ता पर मुल्की सत्ता को प्रधानता देने की लड़ाई अनिवार्य है। (The struggle for the ascendency of civil over military power is bound to take place in India's progress towards its democratic goal) कांग्रेस को हमें सियासी (Political) पार्टियों और साम्प्रदायिक संस्थाओं के साथ की गन्दी होड़ से बचाना चाहिये। इन और ऐसे ही दूसरे कारणों से अखिल भारत कांग्रेस कमेटी नीचे दिये हुए नियमों के मुताबिक अपनी मौजूदा संस्था को तोड़ने और लोक-सेवक-संघ के रूप में प्रकट होने का निश्चय करे। जरूरत के मुताबिक इन नियमों में फेर-फार करने का इस संघ को अधिकार रहेगा।

गांव वाले या गांव वालों जैसी मनोवृत्तिवाले पांच बालिग मर्दों या औरतों की बनी हुई हर एक पंचायत एक इकाई बनेगी।

पास-पास की ऐसी हर दो पंचायतों की, उन्हीं में से चुने हुए एक नेता की रहनुमाई में, एक काम करने वाली पार्टी बनेगी।

जब ऐसी १०० पंचायतें बन जायं, तब पहले दर्जे के पचास नेता अपने में से दूसरे दरजे का एक नेता चुनें और इस तरह पहले दरजे के नेता दूसरे दरजे के नेता के मातहत काम करें। दो सौ पंचायतों के ऐसे जोड़ कायम करना तब तक जारी रखा जाय, जब तक कि वे पूरे हिन्दुस्तान को न ढक लें। और बाद में की गई पंचायतों का हर एक समूह पहले की तरह दूसरे दरजे का नेता चुनता जाय। दूसरे दरजे के नेता सारे हिन्दुस्तान के लिये सम्मिलित रीति से काम करें और अपने-अपने प्रदेशों में अलग-अलग काम करें। जब जरूरत महसूस हो, तब दूसरे दरजे के नेता अपने में से एक मुखिया चुनें, जो चुनने वाले चाहें तब तक, सब समूहों को व्यवस्थित कर के उन की रहनुमाई करे।

(प्रान्तों या जिलों की अन्तिम रचना अभी तय न होने से सेवकों के इस समूह को प्रान्तीय या जिला समितियों में बांटने की कोशिश नहीं की गई। और किसी भी वक्त बनाये हुए समूह या समूहों को सारे हिन्दुस्तान में काम करने का अधिकार रहेगा। सेवकों के इस समुदाय को अधिकार या सत्ता अपने उन

सघ अपना मकसद पूरा करने के लिये गाव वालो से और दूसरो से चदा लेगा। गरीब लोगों का पैसा इक्ट्ठा करने पर खास जोर दिया जायगा।

नई दिल्ली, २९-१-४८ मो० क० गाधी

(अग्रेजी मे)

हरिजन सेवक, २२-२-४८ पृ० ४९-५० मे उद्धृत

(नोट—बीच-बीच मे कही अग्रेजी लिखी हुई मेरी है, जो मूल लेख मे से स्पष्टीकरण के अभिप्राय मे लिख दी गई है। नवीन रीति के अनुसार 'इ' 'ए' 'उ' को मैने नही लिखा—पुरानी रीति के अनुसार लिखा है। जिसे मूल भाषा मे देखना हो, वह 'हरिजन' तारीख १५-२-४८ का अक देखें।)

ग्यारहवें अध्याय का

परिशिष्ट (७)

मार्क्स के कार्यक्रमिक दस सूत्र अग्रेजी भाषा मे—

"These measures will of course be different in different countries

Nevertheless in the most advanced countries, the following will be pretty generally applicable

1 Abolition of property in land and application of all rents of land to public purposes

2 A heavy progressive or graduated income tax

3 Abolition of all rights of inheritance

4 Confiscation of the property of all emigrants and rebels

5 Centralization of credit in the hands of the state by means of a national bank with state capital and an exclusive monopoly

6 Centralization of the means of communication and transport in the hands of the state

7 Extension of factories and instruments of production owned by the state, the bringing into cultivation of waste-lands, and the improvement of the soil generally in accordance with a common plan

8 Equal liability of all to work Establishment of industrial armies, especially for agriculture

9 Combination of agriculture with manufacturing industries, gradual abolition of the distinction between town and country, by a more equable distribution of the population over the country

10 Free education for all children in public schools Abolition of children's factory labour in its present form Combination of education with industrial production etc "

From K Marx and Engels' Manifesto of the Communist party chapter II, Page 71 (Published in 1948 by Foreign Languages Publishing House Moscow)

बारहवें अध्याय का

परिशिष्ट (८)

नकाबपोश परतन्त्रता अर्थात् तानाशाही की विशेषताएं

"——प्रजातन्त्रो को पत्थर के स्तूपो पर तानाशाही की विशेषताओ की एक सूची खुदवा लेनी चाहिये और इसके अन्त मे यह जोड देना चाहिये—'तू इन बातो के जाल मे नही फसेगा'।

१—अचूक नेता के सरकारी रूप मे गुण-गान ("हिटलर जिन्दाबाद", "स्टालिन महान्", "ड्यूस, ड्यूस, ड्यूस", "फान्को, फान्को, फान्को", "टिटो, टिटो, टिटो"।)

२—राजनैतिक विरोध को सहन करने की असमर्थता।

३—दण्ड देने और आतंकित करने के लिये शक्ति का बार-बार प्रयोग।

४—स्वतन्त्र विचार या कार्य करने की प्रवृत्ति को निरुत्साहित करना। सादृश्यता पर बल देना।

५—आपस मे विश्वास-घातकता।

६—राज्य के प्रति निकृष्ट भक्ति पर बल।

७—विचारो के प्रति पूर्ण विश्वास (अपना ढग कभी भी गलत नही हो सकता और दूसरो का भी ठीक नही हो सकता।)

८—जीवनो, सुख और चरित्रो की राज्य के लिये कितनी बलि चढाई जाती है,

इस बात के प्रति उपेक्षा। अर्थात् एक लक्ष्य तक पहुँचने के लिये अच्छे और बुरे के विचार का नितान्त अभाव।

९—पागलपन।

१०—इतिहास की उखेड़-पुखेड़।

११—देश और विदेश मे अपनी पद्धति के गुणो का निरन्तर प्रचार।

१२—बाहर वालो और शासन के ढग मे विश्वास न रखने वालो पर बिना किसी प्रकार का सोच किये हमले।

१३—विदेशी आलोचनाओ पर बेचैनी।

१४—साधारण लोगो की कठोर सरकारी आलोचनाएँ। लेकिन सरकार, तानाशाह या उसके प्रिय महल के रक्षक लोगो की, यदि वे शुद्धि के शिकार न हो गये हो, तो किसी प्रकार की आलोचना न करना।

१५—गुप्तता।

१६—नेताओ की जनता तक पहुँच न होना।

१७—बडे-बडे धनी परिवारो को आगे बढाना और उन्हें उत्साह प्रदान करना।

१८—बडी सख्या मे सशस्त्र सेनाएँ रखना।

१९—विजय और विस्तार की इच्छा रखना।

२०—दुर्बल प्रतीत होने का भय।

२१—घरेलू देश-भक्ति को और भी दृढ बनाने के लिये विदेशी आक्रमण के भय को बढा-बढा कर लोगो के सम्मुख उपस्थित करना।

२२—राजनीतिक पद्धति मे परिवर्तन करने के समय इस का विरोध।

२३—अधिकारियो का बार-बार परिवर्तन।

२४—व्यक्तिगत स्वतत्रता की सीमाओ मे निरन्तर कमी करते जाना।

२५—ट्रेड-यूनियनो को राज्य के अधीन ले आने की प्रवृत्ति।

२६—तानाशाह और खुफिया पुलिस के अतिरिक्त शेष सब लोगो की राजनीतिक नपुसकता। व्यक्तिगत अरक्षितता या सकट का भाव।

२७—न्याय-विभाग और कानून बनाने वाली धारा को—राज्याधिकारियो के अधीन करना।

२८—विचारो और कानूनो की अवहेलना।

२९—जनता के ध्यान को दूसरी ओर मोडने के लिए सरकसो, कवायदो उत्सवो, यात्राओ, आक्रमणो आदि का उपयोग।

३०—राज्य पर व्यक्ति को पूर्णतया निर्भर बना देना।

३१—राज्य की कृपा-प्राप्ति के लिये व्यक्ति मे अत्यधिक उत्साह का होना। भले ही यह कृपा अपने हृदय को बलि चढाकर प्राप्त हो।

३२—अन्ततोगत्वा हृदय की चेतनता मे कमी होते जाना और इस के साथ ही समस्त समाज की चेतनता मे कमी होना।

तानाशाही की ये समस्त विशेषताएँ सरकार की शक्ति मे और भी वृद्धि करने वाली होती है और साथ ही व्यक्ति की लाचारी को और भी बढा देती हैं।—गाधी के उपदेश इनसे सर्वथा विपरीत है।

लुई फिशर कृत 'गाधी और स्टालिन' के हिन्दी-अनुवाद (अनुवादक श्री लेख राम), पृ० ५२ से ५४ तक से उद्धृत।